CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGan

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्पादक : शिवदानसिंह चौहान

आलोचना

इतिहास विशेषांक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नवकमल प्रकाशन

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष २ अंक १ पूर्णांक ५ अक्टूबर १९५२

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३) इस विशेषांक का ५)

सूची

▲सम्पादकीय

—साहित्य के इतिहास की समस्या : १

▲निबन्ध

—इतिहास का नया दृष्टिकोण :
नामवरसिंह --- ९

—हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ और आचार्य शुक्ल की देन :
बाबू गुलाबराय --- २४

—आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण :
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ३०

—सन्त काव्य की परम्परा :
परशुराम चतुर्वेदी --- ४२

—भक्ति-काव्य
डॉ० श्री कृष्णलाल --- ५०

—रीति-काव्य
डॉ० भगीरथ मिश्र --- ६२

—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास :
प्रकाशचन्द्र गुप्त --- ७१

—आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध :
डॉ० रघुवंश --- ९३

—दो महायुद्धों के बीच हिन्दी कविता :
नरेन्द्र शर्मा --- १०२

—हिन्दी उपन्यास :
नलिन विलोचन शर्मा --- १११

—ऐतिहासिक उपन्यास :
प्रभाकर माचवे --- १२०

—हिन्दी कहानी :
ठाकुरप्रसादसिंह --- १३२

—आधुनिक हिन्दी कहानी :
देवराज उपाध्याय --- १४४

—हिन्दी नाटकों का विकास :
बच्चनसिंह --- १५०

—हिन्दी का निबन्ध-साहित्य :
एक सर्वेक्षण :
विजय शंकर मल्ल --- १६१

—हिन्दी आलोचना :
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - १७४

—पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव :
डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी १८२

—सूरसागर :
डॉ० सत्येन्द्र --- १९७

—रामचरितमानस :
डॉ० रांगेय राघव --- २०६

—बिहारी सतसई :
विश्वम्भर 'मानव' --- २१७

—कामायनी :
गजानन माधव मुक्तिबोध --- २२४

—कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
विजयेन्द्र स्नातक --- २२९

—गोदान :
गोपालकृष्ण कौल --- २३७

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

साहित्य के इतिहास की समस्या

हर नई परिस्थिति में, जब पुराने समाज-सम्बन्ध और विचार समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने लगते हैं और भावी विकास की सम्भावनाएँ समाज के गर्भ में परिपक्व होकर नये जीवन-लक्ष्यों की चेतना जगाने और नये मानव-उद्योग और संघर्ष का आवाहन करने लगती हैं, उस समय मनुष्य परिस्थितियों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न समस्याओं को समग्र रूप में समझने-सुलझाने और नई प्रेरणा और अन्तर्दृष्टि पाने के लिए मानव-इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है। यह अध्ययन कभी निरुद्देश्य नहीं होता। जो प्रगति के आकांक्षी हैं वे इस अध्ययन द्वारा सत्य का अन्वेषण करते हैं, अर्थात् इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए वे उसके विकास-नियमों और विकास-धाराओं का उद्घाटन करके एक सजीव, गत्यात्मक समाज-सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं। और जो प्रगति-विरोधी हैं वे इतिहास को असम्बद्ध, कारणहीन, स्वयंभू घटनाओं का पुञ्ज सिद्ध करके उसकी भावी प्रगति की दिशा पर परदा डालते हैं। इस प्रकार वर्ग-समाज के अन्तर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रति भी परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का जन्म हुआ है।

यह स्थिति साधारण इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं है बल्कि मनुष्य-रचित हर भौतिक अथवा विचारगत क्रिया-कलाप के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन-क्षेत्रों में भी है। अर्थात् नृशास्त्र, शिल्प-विज्ञान, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पुरातत्त्व, राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में इतिहास के अध्ययन के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दोनों दृष्टिकोण प्रचलित हैं। अवैज्ञानिक दृष्टिकोण तो अनेक हैं। कुछ प्राचीन काल से ही चले आते हैं, कुछ नई-नई परिस्थितियों में प्रभु-वर्ग की स्थिति के अनुकूल विकास पाते रहे हैं।

वर्ग-समाज से पहले आदिम युग में भी मनुष्य ने इतिहास को समझने की चेष्टा की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

थी। उस समय की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) इस बात का प्रमाण हैं कि देवमाला और प्रलय के बाद पंचभूतों से जगत् की उत्पत्ति की कल्पना करके आदिम मनुष्य ने एक ऐसे ऐहिक सिद्धान्त की उद्भावना की थी जिसके द्वारा उसने प्रकृति को स्वयं अपनी सफलताओं की छवियों (इमेज) में अंकित करके देखा था और सामाजिक उत्पादन की अपनी प्रयोगशील चेष्टाओं में प्रकृति को भी मानवीय धातु से गढ़ डाला था। आदिम मानव की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) चाहे कोरी कल्पनाएँ ही क्यों न हों, किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य निहित है। जीवन और जगत् का जो प्रतिविम्ब संघर्षशील आदिम मनुष्य के मानस पर पड़ा, उसकी चेतना से उसने विश्व का एक सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक विवरण देने का प्रथम प्रयास किया था। सभी देशों की पुराण-कथाओं में भगवान् को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। लेकिन आदिम मनुष्य ने इस सृष्टि को तो है ही, स्वयं भगवान् को भी मनुष्य की छवि (इमेज) में ही ढाला है। इस प्रकार इस परिकल्पना में भगवान् तो केवल कार्य-कारण-शृङ्खला की प्रथम कड़ी था। किन्तु बाद में, वर्ग-समाज के पैदा होने पर, इतिहास एक भिन्न चीज बन गया। इतिहासकारों ने आदिम मानव की परिकल्पना को उलट दिया। दावा किया गया कि मनुष्य ने अपनी छवि में भगवान् को नहीं, बल्कि भगवान् ने अपनी छवि में मनुष्य को बनाया है, और इतिहास मनुष्य द्वारा भगवान् के ही आदेशों-उद्देश्यों के पालन और पूर्ति का वृत्त है। अर्थात् इतिहासकार ने इतिहास की वस्तु और सामग्री में से किसी पैटर्न, व्यवस्था, नियम की खोज बन्द करके केवल अदृष्ट द्वारा आरोपित नियमों और व्यवस्थाओं को ही स्वीकार कर लिया। यह जगत् भगवान् की लीलाभूमि समझा गया और प्रत्येक महाप्रलय के बाद सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की पुनरावृत्ति होते जाना, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति के लिए कर्मानुसार चौरासी लाख योनियों में भटकना या मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इस जीवन और जगत् का रहस्य और उद्देश्य माना गया।

किन्तु इसके भी बाद जब मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देता हुआ पूँजीवादी वर्ग उठा तो उस प्रारम्भिक उत्थान के चेतना-विकासी जागरण-युग में मनुष्य और व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की जाने लगी। फलतः इतिहास का केन्द्र स्वर्ग से उतारकर पृथ्वी पर ले आया गया और नरेशों के अन्तःपुरों और दरबारों से हटाकर सामान्य जीवन में और समरभूमि के रक्त-सिंचित मैदान से अलग करके मनुष्य की सभ्यता के विकास-पथ के बीच स्थापित किया गया। और यह समझने के लिए कि मनुष्य आदिम युग की वहशी और बर्बर अवस्थाओं से निकलकर 'सभ्यता' के युग में कैसे आया, उस युग के सद्यःविकसित समाज-शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर इतिहास के नियामक कारणों की खोज आरम्भ हुई। किसी ने सिद्ध किया कि महान् व्यक्तियों की प्रतिभा ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, महान् व्यक्ति ही इतिहास के निर्माता हैं, अतः उनकी जीवनियों का अध्ययन ही इतिहास का अध्ययन है। किसी ने दावा किया कि मनुष्य का संचित ज्ञान ही ऐतिहासिक विकास का मूल कारण है। किसी ने वैज्ञानिकों के अन्वेषणों और शिल्पियों के शिल्पज्ञान को ही मूल कारण बताया। किसी ने भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा भूमि की विशेषताओं को ही इतिहास का नियामक माना। और किसी ने नये पूँजीवादी साम्राज्यों का एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में विस्तार होते देखकर जातिगत (रेशियल) विशेषताओं और रक्त की शुद्धता को ही तमाम ऐतिहासिक विकास और मानव-जीवन की समृद्धियों का उपभोग करने का अधिकारी होने का मूल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण ठहराया। कहने का तात्पर्य यह कि नई पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न यान्त्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इतिहास के अनेक एकांगी सिद्धान्त समय-समय पर यूरोपीय रिनेसाँ (सांस्कृतिक नवजागरण) के बाद सामने आए, जिन्होंने ऐतिहासिक वास्तविकता को केवल ऊपरी सतहों पर ही जाँचा-परखा। ये सिद्धान्त इतिहास की गति को समग्र रूप से देखने-समझने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि न दे पाए। अवसरानुकूल इन दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर जहाँ विकासशील पूँजीवाद ने मानव-प्रगति में योग दिया, वहाँ अपने ह्रासकाल में उसने सारी मानव-जाति को महायुद्धों की आग में झोंकने का औचित्य भी मनवाना चाहा। आज पूँजीवादी समाज की आन्तरिक असंगतियाँ इतनी तीव्र हो गई हैं कि उसकी व्यवस्थित अव्यवस्था व्यापक अराजकता में परिणत हो चुकी है। ऐसे में इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने और उसके विकास-नियमों का उद्घाटन करने के लिए करना प्रभुवर्ग के लिए निरापद नहीं रहा। इसीलिए सब सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों को पूर्वग्रह घोषित करके यह सिद्ध करने की कोशिश हो रही है कि इतिहास में किसी पैटर्न या विकास-धारा की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि इतिहास असंबद्ध घटनाओं और अदृष्ट कारणों का ही पुञ्ज है। या फिर वैज्ञानिकता का और सूक्ष्म उपक्रम करके यह सिद्ध किया जा रहा है कि इतिहास अनेक कारणों और तथ्यों से मिलकर बनता है। उनमें से किसी को कम या अधिक महत्त्व का कहना असम्भव है, इसलिए इतिहासकार का कार्य केवल इतना है कि वह इन तथ्यों के कार्य-कारण-सम्बन्धों का निर्धारण किये बिना ही, निरपेक्ष भाव से केवल एक के बाद दूसरे तथ्य को ज्यों-का-त्यों दर्ज करता जाय।

परन्तु मनुष्य का इतिहास कोई असम्बद्ध घटना-पुञ्ज नहीं, एक रचनात्मक प्रक्रिया (प्रोसेस) है, और इतिहास की दृष्टि में केवल उन घटनाओं, तथ्यों और कार्यों का ही महत्त्व है जो सामाजिक जीवन के लिए अर्थवान् हैं, जो सामाजिक जीवन को और इस प्रकार व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य यदि वास्तविकता—जीवन और प्रकृति—के सत्य का बोध प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विज्ञान द्वारा उसने किया है और करता जा रहा है, तो वह इतिहास द्वारा सामाजिक जीवन के सत्य का बोध भी प्राप्त कर सकता है। और मनुष्य ने ठोस ऐतिहासिक तथ्यों और विकास-धारा का अध्ययन करके इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास भी कर लिया है जो धार्मिक और यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से भिन्न है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास में परिवर्तन की गति न आवृत्तिमूलक है न भगवान् या महान् व्यक्तियों की इच्छा से संचालित है और न भौगोलिक परिस्थितियों या जातीय (रेशियल) विशेषताओं से नियमित है। वास्तव में जीवन की परिस्थितियाँ ही इतिहास की ऊर्ध्वोन्मुखी गति-विधियों का नियमन करती हैं। इनमें भौगोलिक परिस्थितियों का महत्त्व आनुषंगिक ही है, क्योंकि वे समाज के विकास में केवल सहायक या बाधक हो सकती हैं, उसका मूल कारण नहीं बन सकतीं। जीवन की परिस्थितियों में भौतिक मूल्यों को पैदा करने वाली, मनुष्य की 'उत्पादन प्रणाली' ही ऐतिहासिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कारण है। 'उत्पादन-प्रणाली' के अन्तर्गत 'उत्पादन की शक्तियाँ' भी आती हैं और 'उत्पादन-सम्बन्ध' भी, अर्थात् इसमें उत्पादन-यन्त्र और अपने अनुभव और श्रम-कौशल से इन उत्पादन-यन्त्रों को बनाने और प्रयोग में लाने वाले मनुष्य भी शामिल हैं और उत्पादन-सम्बन्ध भी, अर्थात् मनुष्य का यह सामाजिक जीवन, जिसके पारस्परिक सहयोग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या वर्ग-शोषण पर आधारित समाज-सम्बन्धों में एक-दूसरे से बँधकर मनुष्य भौतिक मूल्यों के उत्पादन-कार्य में अनिवार्यतः संगठित होते हैं।

इस सतत परिवर्तनशील उत्पादन-क्रिया और समाज-संबन्धों में पड़कर ही मनुष्य वास्तविकता के सत्य का बोध करने वाली ऐन्द्रिक चेतना का विकास करता है और राजनीतिक संगठनों, विचार-धाराओं, सिद्धान्तों, कलाओं, साहित्यों और संस्कृतियों को जन्म देता है। जीवन की परिस्थितियाँ ही विचारों को जन्म देती हैं, लेकिन इससे विचारों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। 'विचार' चाहे इतिहास की गतिविधि के निर्णयकारी तत्त्व न हों, किन्तु अपनी प्रचण्ड शक्ति से उसकी प्रगति में साधक या बाधक बन सकते हैं और बनते हैं। इस प्रकार समाज का इतिहास उत्पादन-प्रणाली के विकास का इतिहास है, श्रम में लगे मनुष्य या जन-समूह का इतिहास है; क्योंकि वही भौतिक-मूल्यों का निर्माण करता है, और अन्त में, जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में अविराम होते आने वाले परिस्थिति-जन्य-वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसके माध्यम से ही अब तक इतिहास का ऊर्ध्वोन्मुखी विकास संभव हुआ है और उत्पादन की शक्तियों ने इतनी उन्नति कर ली है कि एक ओर यदि वर्ग-समाज के उत्पादन-सम्बन्ध और उसके पोषक विचार अब इतिहास की प्रगति के मार्ग में बाधक बन गए हैं,तो दूसरी ओर एक ऐसे वर्गहीन, शोषणहीन समाज की स्थापना हकीकत बन गई है जो मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण कर सके। मनुष्य का इतिहास अब तक मानव-मुक्ति के इस लक्ष्य की ओर ही ऊर्ध्वोन्मुखी विकास करता आया है, और कर रहा है।

साहित्य के इतिहास की समस्या के प्रसंग में इस भूमिका की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि सामान्य इतिहास-सम्बन्धी धारणाएँ और दृष्टिकोण साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन को भी प्रभावित करते हैं। और यदि प्रचलित दृष्टिकोण एकांगी हो तो उस दृष्टि से लिखा गया साहित्य का इतिहास भी एकांगी होगा—वह न साहित्यिक आन्दोलनों और प्रवृत्तियों का ही सही विवेचन कर पायगा और न प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का वैज्ञानिक मूल्यांकन ही कर सकेगा। किन्तु साहित्य के इतिहास के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं कि ऐतिहासिक तथ्यों को किसी पूर्व-निर्धारित योजना या विचार-सूत्रों की परिधि के भीतर ठूँस-ठाँसकर भर दिया जाय। या समाज और साहित्य का सीधा सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए यह सिद्ध किया जाय कि समाज का सामान्य आर्थिक-राजनीतिक विकास जिस स्तर तक हो चुका होता है, साहित्य और कला का विकास भी उसी स्तर का होता है। या साहित्य के वर्ग-आधार को उद्घाटित करने के लिए प्राचीन काल के या आधुनिक काल के श्रेष्ठ लेखकों को शोषक वर्गों की विचार-धारा का ही प्रतिबिम्बन करने वाला सिद्ध किया जाय, या अवसर के अनुकूल उनकी साधारण जन की आर्थिक समस्याओं या विषमताओं से सम्बन्ध रखने वाली इक्की-दुक्की उक्तियों के उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ठहराया जाय। इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता आज इसलिए पैदा हो गई है कि हिन्दी में अधिकतर एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ही प्रचलित हैं। शुद्ध कला-वादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गए, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाए जाते रहे हैं, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचार-धारा से प्रेरित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हों या मार्क्सवादी विचार-धारा से। हर्ष की बात है कि हमारे सुयोग्य सहयोगी और हिन्दी के उदीयमान आलोचक श्री नामवरसिंह ने अपने निबन्ध 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' में हिन्दी-साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों की खूबियों और खामियों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की समस्याओं का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से निदर्शन कराया है। हमें उनके तर्कों को दुहराने की जरूरत नहीं।

समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणों के अपनाये जाने के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों ने ही अब तक इन दृष्टिकोणों को औचित्य प्रदान किया है। सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में 'भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण' (रिनेसाँ) की अन्तःप्रेरणा बना है। हिन्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर भारतेन्दु के समय से ही वास्तविक रूप में शुरू हुई। तभी से नई राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप साहित्य के इतिहास की खोज और लेखन का कार्य शुरू हुआ। इतिहास की यह खोज कभी निरुद्देश्य नहीं रही। साधारण जनता को ही अपने देश की गौरवशाली तथा जीवन्त 'सांस्कृतिक विरासत' का वास्तविक उत्तराधिकारी होने की घोषणा चाहे पहले-पहल प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन ने ही की हो और इस विरासत की रक्षा करने का बीड़ा भी उठाया हो, लेकिन यदि देखा जाय तो भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी के देशभक्त लेखक अपनी-अपनी समझ-बूझ के अनुसार इस कार्य को इतने स्पष्ट शब्दों में घोषित किये बिना ही करते आ रहे थे। राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने तथा उसे जन-साधारण तक पहुँचाने की क्रिया अधिक व्यापक आधार खोजती गई। शिवसिंह 'सरोज' से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने चाहे मध्ययुगीन हिन्दी कवियों के वृत्त एकत्र किये हों, चाहे अतीत के रत्नों को खोजकर उन्हें पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों से अधिक महान् और गौरवशाली सिद्ध किया हो, चाहे साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण करके इतिहास को व्यवस्था और नियम देकर उन प्रवृत्तियों की कारणभूत सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन किया हो, चाहे 'लोक-मंगल' की कसौटी पर साहित्य की प्रवृत्तियों और कवियों को परखा हो, या चाहे हिन्दी-साहित्य के विकास की भूमिका की खोज में वैदिक-काल से लेकर अपभ्रंश-काल तक की सम्पूर्ण भारतीय चिन्ता-धारा के विविध प्रभावों के ताने-बाने का उद्घाटन किया हो, अन्ततः इन सभी विचारकों का व्यक्त या अव्यक्त उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत पर स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वाली जागरूक भारतीय जनता के उत्तराधिकार को प्रमाणित करना ही था। यह दूसरी बात है कि वर्ग-चेतना के अभाव में, इस विरासत में कौनसे तत्व प्राणवन्त और प्रगतिशील हैं और कौनसे अपनी उपयोगिता खोकर निर्जीव और प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं, उनको एक-दूसरे से विलगाने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि इन देशभक्त इतिहासकारों के पास नहीं रही। अतीत के भण्डार में जो-कुछ था वह सब उन्होंने सहेजकर जमा कर लेना चाहा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी इन तथ्यों से परिचित हैं कि स्वयं शुक्लजी ने भी चाहे प्राचीन लेखकों के काव्य-तत्व का विवेचन क्यों न किया हो, पर उनके काव्य की विचार-वस्तु को वास्तविकता की कसौटी पर नहीं परखा। इसीलिए प्राचीन लेखकों का सम्यक् मूल्यांकन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं हुआ; केवल उनकी काव्य-शक्ति का विवेचन और अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार उनकी भक्ति-भावना की प्रभाववादी ढंग से प्रशंसा ही की गई। अधिक-से-अधिक इतना अवश्य स्वीकार किया गया कि मध्ययुग में सामन्ती वर्ग की नैतिकता और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध जन-चेतना धार्मिक आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ी थी, और भक्ति-काव्य इसी लोक-चेतना का परिणाम था।

इसीलिए, आज भी मनुष्य के सामान्य इतिहास के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास की दृष्टि से और विशेषकर अपने देश के राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित 'सांस्कृतिक नवनिर्माण' की दृष्टि से जिसकी प्रक्रिया को अभी पूरा होना निःशेष है, स्थायी विश्व-शान्ति, जनवादी समाज और मुक्त-जीवन के लिए संघर्ष करने वाले सर्व-साधारण के हित में अतीत से प्राप्त 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने का प्रश्न हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, ताकि जनता इस स्फूर्तिदायी और चेतना-विकासी विरासत से वंचित न रहे। अतः सांस्कृतिक विरासत के प्रश्न को पूरी गम्भीरता से यहाँ उठाना ही हमारा उद्देश्य है, क्योंकि इस प्रश्न का समाधान करके ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। अन्य प्रश्न, जैसे काल-विभाजन की समस्या या हिन्दी में खोज-कार्य की समस्या आदि, महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी गौण हैं।

अपनी पुस्तक 'A Contribution to the Critique of Political Economy' में यूनान की देवमाला या पुराण-कथाओं पर टिप्पणी देते हुए कार्लमार्क्स ने 'सांस्कृतिक विरासत' का प्रश्न उठाया था। यह बताते हुए कि कला के कई सर्वोच्च विकास-कालों का सीधा सम्बन्ध न समाज के सामान्य विकास के साथ रहा है और न उसके भौतिक आधार और ऊपरी ढाँचे के संगठन के साथ, मार्क्स ने ग्रीक (यूनानी) कला का उदाहरण दिया था। और यह स्पष्ट करते हुए कि चूँकि ग्रीक-कला की विचार-वस्तु ग्रीक-जीवन से ही ली गई थी और वह सीधी उस जीवन की ही पैदावार थी, इस-लिए पौराणिक विचारों पर आधारित कला की आवृत्ति इस औद्योगिक युग में निश्चय ही नहीं हो सकती, मार्क्स ने प्रश्न उठाया था, "इस विचार को समझने में कठिनाई नहीं है कि ग्रीक-कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के एक विशेष युग की पैदावार हैं और उसी से बँधे हैं। कठिनाई तो यह समझने में आती है कि वह आज भी हमारे अन्दर सौन्दर्य-बोध कराके आनन्द देने में क्यों समर्थ हैं और कई अर्थों में उन्होंने कला के ऐसे प्रतिमान और नमूने पेश किये हैं जिनकी श्रेष्ठता को पा लेना अस-म्भव है।"

यह निश्चित है कि मनुष्य के भावों की चिरन्तन सत्ता का दावा करके इस प्रश्न का वैज्ञा-निक या इतिहास-संगत उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर पाने के लिए हमें, 'कला क्या है' इस प्रश्न को समझना होगा और सामा-जिक जीवन से कला के सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालना होगा। तभी विगत युगों की श्रेष्ठ कलाकृतियों की चिरन्तन महानता का रहस्य उद्घाटित हो सकेगा और सांस्कृतिक विरासत का प्रश्न अपने सही रूप में समझा जा सकेगा। इस प्रकार यदि देखें तो साहित्य के इतिहास की समस्या बहुत-कुछ साहित्य के समीक्षा-शास्त्र की ही समस्या है।

साहित्य और कला वस्तु-चित्रों तथा मानव-चरित्रों की भाषा में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रति-बिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसका परिणाम होती हैं। जगत् और जीवन के सत्य को जिस प्रकार विज्ञान 'विचारों' के माध्यम से सिद्ध और प्रमाणित करता है, कला वास्तविकता, सत्य या अन्तर्द्वन्द्व को रूप-चित्रों (इमेज) के माध्यम से दर्शनीय बनाकर इन्द्रियगम्य बनाती है। इस प्रकार वर्ग-समाज की कला या साहित्य और अब तक की कला और साहित्य का निर्माण वर्ग-समाजों में ही हुआ है—सत्ताधारी वर्गों की चेतना-मात्र का प्रतिबिम्बन नहीं है, जिसके कारण कला-साहित्य का वर्ग-आधार खोजने के लिए कलाकारों-साहित्यकारों को शोषक वर्गों की विचार-धारा का प्रतिनिधि सिद्ध किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि एक वर्ग-समाज की समाज-व्यवस्था शोषक-शोषित के सम्बन्धों से नियमित होती है। फलतः शोषक-वर्ग की विचार-धारा ही ऐसे समाज में न्याय-सम्मत विचार-धारा होती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शोषित वर्गों की अपनी विचार-धारा होती ही नहीं। इन दोनों विचार-धाराओं के निरन्तर संघर्ष और सम्पर्क तथा विगत के संचित ज्ञान से मिलकर ही किसी वर्ग-समाज की जीवन-परिस्थितियों के अनुसार सोचने-विचारने की पद्धतियाँ बनती हैं। कलाकार या साहित्यकार को भी अन्य लोगों की ही तरह जन्म के साथ ही समाज की प्रचलित वर्ग-विचार-धारा और अतीत के संचित ज्ञान का कोष उपलब्ध होता है। परन्तु सच्चा कलाकार या साहित्यकार अपनी वस्तुनिष्ठा और संवेदना के सहारे समाज-लब्ध वर्ग-विचार-धारा और विचार-सूत्रों के ही माध्यम से सामाजिक और व्यक्ति-जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्ति दे देता है, और इस प्रकार सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास के लिए तत्कालीन समाज में प्रचलित सामन्ती दृष्टिकोण के कारण नारी चाहे 'सहज अपावन' और 'ताड़न की अधिकारी' ही क्यों न रही हो, किन्तु उन्होंने 'रामचरितमानस' में या अन्यत्र नारी के जो मूर्त्त चित्र खींचे हैं, उनमें नारी का चरित्र अपनी पूर्ण मानवीय गरिमा के साथ उभरकर सामने आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वर्ग-समाजों के बन्धनों में जकड़ी रहने पर भी श्रमिक जनता ही वास्तव में भौतिक मूल्यों का उत्पादन करती आई है और इस प्रकार अपना रक्त-स्वेद बहाकर समूचे मानव-समाज को वर्ग-हीन समाज के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाती लाई है, उसी प्रकार वर्ग-समाजों की परिस्थितियों से उत्पन्न विचार-शृङ्खलाओं या जीवन-जगत् को देखने की दृष्टि-सीमाओं से आबद्ध कलाकार और साहित्यकार भी वास्तविकता के सत्य को रूपायित करते आए हैं। नये मानव-मूल्यों की सृष्टि करते हुए मनुष्य के सांस्कृतिक अथवा कहें मानवीय आध्यात्मिक विकास को पग-पग आगे बढ़ाते आए हैं तथा मनुष्य के हृदय में वर्ग-समाज के शोषण-सम्बन्धों का अन्त करके मानवीय समाज-सम्बन्धों की स्थापना करने की मुक्ति-कामी आकांक्षा जगाते आए हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में मानवीय हृदय का स्पन्दन और श्वास की गरमाई है, जो सहज ही मनुष्य के भविष्य में विश्वास जगाती है और विगत और वर्तमान की समस्याओं को उनके वास्तविक रूप में समझने की अन्तर्दृष्टि देती है। उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार-सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने एक सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तु-निष्ठा से अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त्त चित्रण किया। अर्थात् उन्होंने अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निर्णयकारी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामाजिक समस्याओं को और उनके प्रति समाज के सभी वर्गों की स्थिति को खुली आँखों से देखकर कहाँ तक एक कलाकार के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से, व्यक्ति-चित्रों के माध्यम से, समाज के सभी वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को चित्रित किया है। साहित्य-कला की यह कसौटी साहित्य-कला के इतिहासों, महान् साहित्यकारों-कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों की परम्परा से निर्धारित है। कला चूँकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सचाई वास्तविकता से तुलना करके ही जाँची जा सकती है।

इतिहास की यह वस्तुवादी दृष्टि ही सांस्कृतिक विरासत का सही मूल्यांकन कर सकती है और शोषक समाज में 'प्रगति' के सही अर्थ से हमें परिचित करा सकती है। जिस तरह प्राचीन काल के लेखक अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न व्यापक सामाजिक जीवन के सत्-असत् और मंगल-अमंगल पक्षों से तटस्थ नहीं रहे, बल्कि उन्होंने अपने हृदय की पूरी करुणा और समवेदना से शोषित जनता की जीवन-परिस्थितियों का चित्रण किया और सत्य और न्याय का पक्ष लिया, उसी प्रकार आज का इतिहासकार भी समाज के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास के प्रति तटस्थ नहीं हो सकता। तटस्थ होकर वह न प्राचीन लेखकों की महान् कृतियों का मूल्यांकन कर सकता है और न 'सांस्कृतिक विरासत' की रक्षा ही। इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि केवल भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रखकर जाँचे, जिन्होंने इन धाराओं को जन्म दिया तथा जिन्हें इन धाराओं ने प्रतिबिम्बित करके प्रभावित किया, बल्कि उसके सामने यह समस्या भी है कि वह—यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में ही रहें तो—चन्द, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी देव, पद्माकर, घनानन्द, मतिराम, भूषण आदि मध्य-युग के प्रमुख भक्त और रीतिवादी कवियों तथा राष्ट्रीय जागरण-युग के भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त आदि साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करे कि किस प्रकार वर्ग-समाज के इन प्रहरियों ने वर्ग-समाज की विशिष्ट परिस्थितिजन्य विचार-सीमाओं में आवद्ध रहते हुए भी अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या वर्तमान जीवन के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनका कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गाम्भीर्य और उदात्त मानववादी नैतिक अन्तःस्वर वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं से संघर्ष करने वाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।

—शिवदानसिंह चौहान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्ध

नामवरसिंह

इतिहास का नया दृष्टिकोण

मनुष्य अपने इतिहास का ही नहीं, इतिहास-विधायक दृष्टिकोण का भी निर्माण करता है और 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' जीवन-जगत् के प्रति ऐसा ही सर्वव्यापी दृष्टिकोण है जिसे आधुनिक युग की इतिहास-शिल्पी शक्तियों ने गढ़कर अस्त्र के रूप में अपनाया है। परन्तु अभी तक इसे सम्पूर्ण मानव जाति नहीं अपना सकी है; कुछ इतिहास-विरोधी शक्तियाँ इसकी प्रगति में बाधा डालने के लिए नित्य नये शिगूफे छोड़ रही हैं—कभी खण्डन तो कभी संशोधन; कभी परम्परा के नाम पर उसका बहिष्कार तो कभी उसके पुराना पड़ जाने की शिकायत, आदि आदि। इस तरह के प्रयत्न दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि अन्य विचार-प्रणालियों की तरह साहित्य में भी हो रहे हैं। तैयार तो हर क्षेत्र में हर पहलू से भ्रान्ति-निवारण के लिए रहना है, परन्तु इस समय मानव-आत्मा के शिल्पी साहित्यकारों के लिए आवश्यक हो उठा है कि साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में भी उस ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्वचन करें। इतिहास का वह दृष्टिकोण लोगों के लिए अब अपरिचित नहीं रहा कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को दुहराया जाय; प्रत्येक आवश्यकता के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना ही प्रयत्न की नवीनता है। आज ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता है।

परन्तु इतिहास-लेखन का कार्य एकदम नये सिरे से नहीं शुरू करना है। ऐतिहासिक अध्ययन की हमारी अपनी परम्परा है। जब तक हम उस परम्परा का विश्लेषण नहीं कर लेते, हमारा नया प्रयत्न अपूर्ण होगा। नई परिस्थिति में इतिहास का उपयोग करते समय पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

पिछले सौ वर्षों से हिन्दी-साहित्य के तथा कथित इतिहास-ग्रन्थ निकलते आ रहे हैं और समयानुसार उनके दृष्टिकोणों तथा प्रणालियों में विभिन्नता रही है। उन्नीसवीं सदी के प्रायः सभी इतिहास-ग्रन्थ संग्रह हैं। ये संग्रह भी तरह-तरह से किये गए हैं। फ्रांसीसी लेखक गार्सो द तासी ने 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' (१८३९ और १८४६ ई०) में ७० कवियों का संग्रह वर्णानुक्रम से किया है तो शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' (१८७७ ई०) में यों ही एक सहस्र कवियों का वृत्त एकत्र कर दिया है जिसमें जीवनी के साथ कविताओं के उदाहरण भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नॉर्दर्न हिन्दोस्तान' (१८८६ ई०) में शिवसिंह सरोज की ही सामग्री को कालक्रम से इतिहास का रूप देने की चेष्टा की। इन संग्रहों का प्रयोजन शायद हिन्दी-साहित्य का केवल परिचय देना था और जैसा प्रयोजन वैसा निर्वचन। उन्होंने कुछ प्रसिद्ध और ज्ञात कवियों की सूची छाप दी। यह प्रवृत्ति साहित्य के इतिहास में ही नहीं थी बल्कि उस युग के समस्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक अंग-मात्र थी। इतिहास का अर्थ था व्यक्तियों की सूची और उसका उपयोग था कोरी जानकारी प्राप्त करना अथवा अधिक-से-अधिक काव्य के उदाहरणों का रसास्वादन।

आज ऐसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के उपयोग का सवाल उठाना तो दूर उसके कुछ दिनों बाद ही समाज ने उसे छोड़ दिया। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर ने हमारे देश में नई चेतना ला दी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना उमड़ी। विदेशियों के विरुद्ध अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा हुई। वर्तमान तो उनका दास था, इसलिए अतीत का सहारा लिया गया। स्वतन्त्रता के संग्राम में इतिहास का उपयोग पहली बार करने की चेष्टा की गई। इस प्रवृत्ति ने एक ओर अतीत के छिपे रत्नों को खोजने के लिए प्रेरित किया तो दूसरी ओर उन रत्नों को पुराने-से-पुराना सिद्ध करने तथा विदेशी प्रतिभाओं की तुलना में गौरवशाली दिखाने का प्रोत्साहन दिया। इस भावना ने पूर्ववर्ती इतिहासों के तथ्यपरक कंकाल को त्वचा से ढककर आकार प्रदान किया। उस युग के साहित्य ही नहीं, सभी विषयों के इतिहासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। नागरी प्रचारिणी सभा ने व्यापक रूप से (१९००–१९११ ई०) कवियों की खोज का काम शुरू किया और उसके द्वारा आठ जिल्दों में प्रकाशित रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने लगभग ५००० कवियों का विशाल वृत्त-संग्रह 'मिश्रबन्धु विनोद' तीन भागों में (१९१३ ई०) लिख डाला। 'हिन्दी नवरत्न' इसी का सार तथा पूरक बनकर सामने आया। इन प्रयत्नों ने ढंग तो पुराना ही रखा, परन्तु यह दिखा दिया कि कवि-संख्या की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का इतिहास किसी साहित्य से हीन नहीं है और इसमें ऐसे नवरत्न भी हैं जो ऊँचाई में उन्नीस नहीं हैं।

शीघ्र ही पुनर्जागरण की भावना वैयक्तिक धरातल से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक क्षेत्र के रूप में उतरी और गांधीजी के साथ राष्ट्रीयता की भावना ने विकास का नया चरण रखा। विचारों में सामाजिक चेतना आई। इतिहास में व्यक्तियों के सहारे समूची जाति का कार्य-कलाप दिखाने की चेष्टा होने लगी। व्यक्ति अपनी समस्त परिस्थितियों के साथ वर्णित हुआ। साहित्य; जो इतिहास के अलग-अलग कवियों की समीक्षाओं का संग्रह था, भिन्न-भिन्न युगों की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन से भी संवलित हो उठा। एक युग तथा एक प्रकार की रचना करने वाले कवियों की सामान्य विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया गया और इन साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) और डा० श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई०) इस युग के प्रतिनिधि इतिहास हैं। इन दोनों में भी शुक्लजी के इतिहास को अग्रणी तथा पथप्रदर्शक मानना चाहिए।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के जिस कंकाल को आकार भर दिया था उसमें शुक्लजी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ने रक्त-संचार किया और साथ ही उसे मांसल भी बनाया। ढाँचा 'मिश्रबन्धु विनोद' का ही था; सामग्री भी वही थी। शुक्लजी ने उस संग्रह से संकलन किया; खोज से प्राप्त नई सामग्री के अनुसार यत्र-तत्र तिथि, स्थान तथा ग्रन्थ-संख्या सम्बन्धी संशोधन और विचार भी किया, लेकिन उनका मन तथ्यों की छानबीन की ओर उतना नहीं रमा। उनकी रस-दृष्टि तथा विवेचनशील प्रतिभा कवियों के मूल्यांकन में अधिक खुली। कवियों के जीवनवृत्त ग्रन्थ-सूची आदि से आगे बढ़कर उन्होंने कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्घाटन किया। सबकी रचना का नमूना देने का ढंग तो ज्यों-का-त्यों रहने दिया, परन्तु नमूनों को अधिक प्रतिनिधि तथा उत्कृष्ट बनाने की चेष्टा की। कवियों के नाम के पहले क्रम-संख्या देने का ढंग भी वही रहने दिया, परन्तु प्रवृत्ति-साम्य और युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने सामूहिक प्रभाव डालने की ओर ध्यान रखा। इसीलिए कुछ प्रवाह-पतित विशिष्ट कवियों को भी फुटकल खाते डाल देना पड़ा। इस तरह इतिहास के आदि, मध्य आधुनिक जैसे कोरे कालपरक विभाजन को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति, रीति और गद्य-काल की भावपरक क्यारियों में पुनः रोपने का उद्योग किया; साथ ही इन सबका सामान्य परिचय देकर एक ऐतिहासिक प्रवाह दिखाना चाहा। उन्होंने प्रवाह की गति का उत्थान-पतन भी दिखाया और 'लोक-संग्रह' की कसौटी पर इतिहास के समाजोन्मुख और समाज-पराङ्मुख युगों में अन्तर बतलाया। कुल मिलाकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि शुक्लजी को जो इतिहास पंचांग के रूप में प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने मानवीय शक्ति से अनुप्राणित कर साहित्य बना दिया।

बाबू साहब वह गहराई और बारीकी तो न निभा सके, लेकिन उन्होंने शुक्लजी के इतिहास के विच्छिन्न प्रवाह को क्रम-संख्या, रचनाओं का नमूना आदि बातें घटाकर अविच्छिन्न-सा दिखलाना चाहा। हाँ, उन्होंने शुक्लजी की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का खाता और लम्बा कर दिया।

फिर तो इन इतिहासों के पीछे लगी संक्षिप्त, मध्यम, सरल और सुबोध अनेक छात्रोपयोगी इतिहास-पुस्तकें आईं जिनमें नकल छिपाने के लिए यत्किंचित् शुक्लजी की तथ्य-सम्बन्धी भूलों का सुधार और अधिक-से-अधिक कालों के नाम-परिवर्तन का सुझाव मिलता है। ये सभी प्रयत्न उसी सीमा में हुए, क्योंकि वह सीमा ऐतिहासिक और युगीन थी।

युग-परिवर्तन के साथ ही शुक्लजी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा पद्धति की सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। वस्तुतः इतिहास की वह प्रणाली उनके जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही निर्धारित हुई थी। उनके बाद वाली पीढ़ी को 'शुक्ल-इतिहास' में सामाजिक परिस्थितियों, साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा साहित्यिक व्यक्तियों के बीच जो कार्य-कारण-सम्बन्धी असंगति दिखाई पड़ने लगी वह उनके और उनके युग के जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण की असंगति थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधी-युग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। मध्यवर्गीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के पीछे शेष जन-समूह नत्थी-भर था। विचार व्यापक जन-समाज से छिन्न थे। यही कारण है कि शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थितियों से उत्पन्न बताये जाते हैं वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन की दासताजन्य निराशा से उत्पन्न बताना। युग-विभाजन करने में उनका 'औसतवाद' वाला

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्धान्त भी इसी अलगाव का परिणाम है और उनके दृष्टिकोण की असंगति को और भी उभारकर रखता है। एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलने वाली परस्पर-विरोधी विविध सामाजिक शक्तियों के अन्तर्विरोध का पता न था। इसीलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकल खाता खोलना पड़ा। दृष्टिकोण की इसी सीमा के कारण उनके मूल्यांकन की पदावली भी सीमित अथच अवृत्तिमयी रही। इसीलिए अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी शुक्लजी का इतिहास आगामी युग के लिए अपूर्ण प्रतीत हुआ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४० ई०) ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आई। पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास-प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी-पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सरणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया। हिन्दी जाति तथा हिन्दी-साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिए आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी-साहित्य का निरूपण किया। परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी-साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था। इस नैरंतर्य-निरूपण में समाज-साहित्यकार तथा साहित्य की परस्पर सम्बद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और अंगांगिभाव से निभाई गई कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया। यहाँ सामाजिक परिस्थितियाँ घटनाओं के द्वारा सतही ढंग से वर्णित न थीं, बल्कि सजीव सामाजिक शक्तियों के क्रियाकलापों के माध्यम से अभिव्यक्त की गईं। इसीलिए समाज और साहित्यकार में कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित करने में चूक नहीं हुई। हिन्दी-साहित्य को संस्कृत और अपभ्रंश के ह्रासशील रूढ़ साहित्य के गर्भ से उत्पन्न लोकशक्ति की नवीन आकांक्षा कहना इसी सामाजिक दृष्टिकोण का परिणाम था। जो लोग केवल ऊपरी राजनीतिक परिवर्तनों के प्रभाव के अनुसार हिन्दी के भक्ति-काव्य को निराशा से उत्पन्न कहते थे उनके लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। इतना ही नहीं, सन्त और भक्ति-काव्य को जाति-विरोधी तथा वर्ण-विरोधी दिखलाकर आचार्य द्विवेदी ने वस्तुतः अपने युग में प्रचलित प्राचीन सामन्ती जीवन-मूल्यों पर प्रहार किया। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के उद्गम-स्थलों का पता देते हुए रूढ़ि और नवीनता के ह्रास विकास का संक्षिप्त रचनात्मक कोश है। आधुनिक युग के साहित्य की विधायक शक्तियों को पहचानते हुए भी 'भूमिका'-लेखक ने केवल गतिविधि का संकेत करके सन्तोष किया है। निस्सन्देह, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नवीन युग और साहित्य के नवीन इतिहास की भूमिका है।

असंगतियाँ तो यहाँ भी हैं जैसे सामाजिक ढाँचे के विवेचन में आर्य-अनार्य मूलक जातिगत (रेशल) सिद्धान्तों का सहारा, जो १९वीं सदी के यूरोप का आदर्शवादी दृष्टिकोण था और जिसके कारण आगे चलकर 'फासिज्म' का उदय हुआ। किन्तु उक्त ग्रन्थ से यह युक्ति हटा देने पर भी मूल स्थापना में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी तरह, परम्परा-निर्वाह पर सम्भवतः अधिक बल प्रतीत होता है। इन कारणों से नवीन इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में इसे स्वीकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते हुए भी हम इसके आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा प्रणाली को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

अब तक इतिहास के जिन दृष्टिकोणों और प्रणालियों की चर्चा हुई उनसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हर नये युग में भारतीय समाज ने सामूहिक रूप से एक ही दृष्टिकोण का अवलम्बन किया। यह प्रतीति प्रायः उचित और सत्य है। इस बीच थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी स्वतन्त्रता के संघर्ष में भारतीय समाज के सभी स्तर प्रायः संयुक्त से थे। इसलिए इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण और प्रणाली में भी आधारभूत मतभेद न था। परन्तु पाँचवें दशक से उक्त संयुक्त मोर्चे के स्तरों में मतभेद प्रकट होने लगा और यहीं से इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा प्रणालियाँ भी परस्पर-विरोधी आने लगीं। ऐसे दृष्टिकोणों में सबसे पहले जो सामने आया वह यह है कि इतिहास में 'दृष्टिकोण' के लिए कोई स्थान नहीं है; घटनाओं की खोज ही इतिहास है। इतिहास के इस तथ्यपरक दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिकता' के नाम पर प्रचारित किया गया। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी कुछ खोज-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। कुछ विश्वविद्यालयों ने इसी प्रणाली को शिक्षोपयोगी (ऐकैडेमिक) कहकर खोज का अधिकांश कार्य करवाया है।

इतिहास के प्रति ऐसा तथ्यपरक और नकारात्मक दृष्टिकोण अपने साहित्य का नया अनुसन्धान नहीं है; यूरोप में पिछले कई दशकों से बुर्जुआ इतिहासकार इस मत का प्रचार कर रहे हैं। वहाँ जब दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर पर 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का विरोध करते न बना तो बुर्जुआ इतिहासकारों ने इतिहास की प्रणाली को सर्वथा दृष्टिकोणरहित करने का नारा लगाया और तर्क दिया कि दृष्टिकोण-विशेष से इतिहास लिखने के कारण वह पूर्वग्रह-ग्रस्त अथच विकृत हो जाता है। कहना न होगा कि यह भी एक दृष्टिकोण है। ऊपर से दृष्टिकोण का निषेध करते हुए भी दृष्टिकोण अपनाने की यह चाल आत्म-निषेध द्वारा अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न जैसा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि अपने यहाँ भी इतिहास का यह 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण उसी उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ, (क्योंकि यूरोप के हर नये विचार को बिना परख के अनजान भाव से अपनाना 'शुद्ध' विद्या-व्यसन भी तो हो सकता है) फिर भी यह दृष्टिकोण नकारात्मक तो है ही। तथ्य और विचार को एकदम अलग नहीं किया जा सकता। जिस तथ्य-संग्रह में हम किसी योजना अथवा दृष्टिकोण का अभाव देखते हैं, वस्तुतः वह भी एक दृष्टिकोण ही है। 'हम किसी सामाजिक प्रयोजन के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग न करेंगे', यह 'शुद्ध' उद्देश्य समाज-निरपेक्षता तथा पराङ्मुखीणता का ही परिणाम है। आँकड़ों और घटनाओं को ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सामाजिक शक्तियों के प्रयत्नों के रूप में व्याख्या न कर सकना असमर्थता भी हो सकती है, लेकिन व्याख्या करने से इन्कार करना शरारत है अथवा अपनी कमजोरी छिपाने का स्वाँग। तटस्थता और निष्पक्षता का अभिनय पर-प्रवंचना ही नहीं आत्म-प्रवंचना भी है। मानव-इतिहास की प्रवाहमान धारा में धारा और किनारा सब-कुछ मनुष्य ही है; तटस्थ कोई नहीं। जो विरोधी धाराओं के संघर्ष से घबड़ाकर निष्पक्षता में विश्राम करना चाहता है वह प्रवाह-पतित अनजाने ही इतिहास-विरोधी धारा में जा पड़ता है। यद्यपि इन विद्वानों के तथ्य-संग्रह नये इतिहास के लिए उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी आज ऐसे नकारात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब तक की समूची इतिहास-सम्पदा—खोज, मूल्यांकन आदि—को हम उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने पूर्ववर्ती इतिहास-शिल्पियों के ऋणी हैं कि उन्होंने हमारा भार बहुत-कुछ हल्का कर दिया है। हमारे लिए उनके तथ्य ही उपयोगी नहीं हैं, बल्कि उनका वह उत्साह भी प्रेरणादायक है जिससे उन्होंने साम्राज्यी शक्तियों से संघर्ष करने में इतिहास का उपयोग किया और मानव-मुक्ति के अन्तिम लक्ष्य को निकट लाने में यथाशक्ति योग दिया। पिछली पीढ़ियों के निरन्तर प्रयत्न ने ही हमें इस ऐतिहासिक भूमिका में पहुँचाया है और अब हमारा कर्तव्य है कि आवश्यकता के वास्तविक रूप को पहचानकर इतिहास की व्याख्या और परिवर्तन का विधान करें। सौभाग्य से इसी आवश्यकता से उत्पन्न और साथ ही इसकी पूर्ति करने वाला वैज्ञानिक जीवन-दर्शन हमें उपलब्ध है। यह जीवन-दर्शन है : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यानी भौतिकवादी दृष्टिकोण और द्वन्द्वात्मक प्रणाली। सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए इसका विस्तार किया गया है और उसी विस्तार को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं।

हमें यह उपलब्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि 'रेडीमेड' की तरह इस्तेमाल करें। उपलब्ध वस्तु या विचार को भी प्राप्त करना पड़ता है और उसे हर आदमी स्वयं अपने लिए प्राप्त करता है। प्राप्त करने के लिए अध्ययन-मनन ही काफी नहीं है, बल्कि उसे जीवन-संघर्ष के हर क्षेत्र में कार्य-निर्देशक तथा अस्त्र के रूप में इस्तेमाल भी करना पड़ता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रवर्तकों और योग्य अनुयायियों के साहित्य-विषयक बिखरे हुए विचारों को सी-तांगकर सुथना तैयार करने से हिन्दी-साहित्य का इतिहास नहीं ढँक सकता। हमें उन सूत्रों को केवल पथ-निर्देशक के रूप में सामने रखना चाहिए। ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह पहली सीख है। अस्तु,

सबसे पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता है—किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य प्रसंग में देखना। हिन्दी-साहित्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र, विच्छिन्न और असंबद्ध इकाई नहीं है। वह अन्य विचार-प्रणालियों, साहित्यों और परिस्थितियों से परस्पर सम्बद्ध है। यह सम्बन्ध सजीव है, मशीन के पुर्जों की तरह एक जगह फिट किया हुआ नहीं है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य को पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य तथा सम-सामयिक अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अलग करके देखने में भूल की थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी भूल-सुधार के लिए मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य का पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य तथा समसामयिक अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के परिवेश में अध्ययन किया। इसी तरह प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति के साथ राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए भी पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का सजीव सम्बन्ध नहीं दिखलाया। ये सभी भूलें आध्यात्मिक प्रणाली के कारण हुईं।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दूसरी विशेषता है—वस्तुओं व्यक्तियों घटनाओं और विचारों को गतिशील परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना। घटनाओं के सजीव सम्बन्ध का अर्थ ही यह है कि यह सम्बन्ध स्थिर नहीं है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युग और व्यक्तियों के सम्बन्धों में एक क्रम है; यह क्रम केवल कालानुक्रम ही नहीं है। इस क्रम में आन्तरिक विकास की गति का पता चलता है। क्रम गति से ही सम्भव है और गति का स्पष्ट अर्थ है उद्भव और नाश की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कड़ी। एक साहित्यिक प्रवृत्ति के अन्त से ही दूसरी साहित्यिक प्रवृत्ति की उत्पत्ति जुड़ी हुई है। कुछ पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास बतलाते समय इस सिद्धान्त को भुलाकर एक ही प्रवृत्ति को शाश्वत और सनातन रूप में दिखलाने की चेष्टा की है। जैसे सन्त परम्परा को उठाया तो जयदेव से लेकर गाँधी तक पहुँचा दिया और दिखलाया कि एक ही प्रवृत्ति शताब्दियों से अविकल रूप में चली आ रही है। हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों का इतिहास लिखने वालों ने प्रायः इस उत्थान-पतन के गतिशील क्रम को भुला दिया है। बाबू साहब ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में वीरगाथाओं की परम्परा दिखाते समय यही भूल की है। यह भी आध्यात्मिक प्रणाली का दोष है।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की तीसरी विशेषता है—विकास-क्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना। विकास का अर्थ पुनरावृत्ति अथवा वृत्ताकार परिक्रमा नहीं है। पुनरुत्थान युग के इतिहासकारों ने बहुत सी वर्तमान प्रवृत्तियों को ज्यों-का-त्यों अतीत में खोज दिखाया और अतीत के स्वर्ण-युग के पुनरागमन की कल्पना की। छायावादी कविता की 'रोमाण्टिक भावना' को कुछ विचक्षणों ने रीति-काल के घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियों पर आरोपित कर दिया। इसी तरह 'बिहारी सतसई' को 'शादा सत्तसई' के नजदीक बैठाया गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्वच्छ दृष्टि ने इस तरह के भ्रमों का उच्छेद 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में किया है। इतिहास में कोई प्रवृत्ति दुहराई जाने पर उपहासास्पद हो जाती है जैसे 'रामायण' के वजन पर आधुनिक युग में लिखा हुआ 'कृष्णायण'। यह ऊर्ध्वोन्मुख विकास-क्रम सोद्देश्य है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। यदि इस बात को भुला दिया जायगा तो फिर इतिहास के अध्ययन और निर्माण का प्रयोजन ही क्या होगा? पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने इसे लक्षित नहीं किया था, इसीलिए वे इतिहास के केवल स्याहानवीस बने रहे।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की चौथी विशेषता है—वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अन्तर्विरोध को पहचानना। उदाहरणस्वरूप भक्ति-काव्य के लोकोन्मुखी यथार्थ और अलौकिकता में आश्रय लेने वाले आदर्श में अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध के समझने पर ही स्पष्ट हो सकता है कि किस प्रकार उनके अलौकिक तत्त्वों को लेकर पीछे सम्प्रदाय और मठ खड़े हो गए और लोकोन्मुखी यथार्थ ने १६वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण को बल दिया। इसी तरह नायिका भेद-परक रीतिवादी काव्य का उद्गम समझने के लिए कृष्ण-काव्य के अन्तर्विरोधों का ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक युग में छायावाद के अन्तर्विरोधों ने ही प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ भावना को जन्म दिया। असंगतियों अथवा अन्तर्विरोधों के सहारे ही एक युग में पाई जाने वाली अनेक प्रवृत्तियों का कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रणाली के अभाव में शुक्लजी को अपने इतिहास में 'औसतवाद' का सहारा लेना पड़ा। युग-विशेष की प्रवृत्ति ही नहीं बल्कि प्रत्येक साहित्यकार तथा साहित्यिक कृति में यह असंगति मिलती है, क्योंकि वह असंगति वाले समाज की उपज है। कभी-कभी लेखक के राजनीतिक-सामाजिक दृष्टिकोण तथा साहित्यिक चित्रण में असंगति दिखाई पड़ती है। इसलिए इन बातों को ध्यान में रखने पर ही इतिहास का सम्यक् अध्ययन तथा साहित्यकारों का सही मूल्यांकन सम्भव है।

ऐसी ऐतिहासिक प्रणाली का सही उपयोग भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही हो सकता है, क्योंकि साहित्य के इतिहास को परस्पर-सम्बद्ध, क्रमबद्ध, गतिशील, आवृत्तिहीन ऊर्ध्वमुख ढंग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से वही देख सकता है जो उसे मूर्त और ठोस रूप में देखे। मनोलोकवासी आदर्शवादी विचारक इसे उक्त ढंग से नहीं देख सकते। यदि देखने की चेष्टा भी करें तो तस्वीर उन्हें उल्टी दिखाई पड़ेगी। इसलिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली भौतिकवादी दृष्टिकोण का अनिवार्य अंग है।

साहित्य के इतिहास में भौतिकवाद का प्रयोग करते समय 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' की पहली चेतावनी यह है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला आदि की भाँति साहित्य के भी अपने नियम हैं इसलिए उन नियमों की जानकारी पहले होनी चाहिए। यदि हम साहित्य की रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ नहीं जानते, तो भौतिकवाद के सामान्य सिद्धान्त इस दिशा में कोई सहायता नहीं कर सकते। साहित्य का भी अपना शास्त्र है और उस शास्त्र की महान् परम्परा है—रस-विवेक, अलंकार विधान, पदचयन, छन्दोज्ञान, शैली-सिद्धि, नाट्य-विधान, औपन्यासिक कला, कहानी कौशल आदि उसके विविध अवयव हैं। साहित्य के इतिहासकार के लिए इनकी बारीकियों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन इन बारीकियों का जानना अपने-आप में साध्य नहीं है। इन नियमों की जानकारी साधन ही हो सकती है—रचयिता के लिए भी और पाठक के लिए भी। केवल इसी हद तक साहित्य तथा उसके नियमों की सत्ता स्वतन्त्र है।

इसके अतिरिक्त साहित्य तथा उसके नियम अन्य वस्तुओं और विचारों से सम्बद्ध हैं। इसलिए साहित्य तथा उसके नियमों की जड़ें स्वयं साहित्य में ही नहीं हैं, बल्कि उसके बाहर हैं; बाहर का अर्थ है वातावरण, परिस्थिति और समाज। यहीं आदर्शवाद और भौतिकवाद में मतभेद है। आदर्शवादी विचारक साहित्य की जड़ें व्यक्ति-साहित्यकार के मन में खोजते हैं जब कि भौतिकवाद उन जड़ों को उस समाज और परिस्थिति में खोजता है जिससे स्वयं व्यक्तिमन भी विकसित और निर्धारित हुआ है। समाज ने साहित्य को उत्पन्न किया है, साहित्य ने समाज को नहीं। इसलिए साहित्य का इतिहास समझने के लिए समाज के विकास का ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि समाज से एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद साहित्य स्वयं सामाजिक शक्ति बन जाता है और समाज के विकास में योग देता है। यदि ऐसा न हो तो फिर साहित्य की उपयोगिता ही क्या रहे। इसलिए मुख्य समस्या यही है कि कोई साहित्यिक कृति प्रभावशाली होने से पूर्व उत्पन्न कैसे हुई। इसके लिए हमें समाजिक नियमों की ओर जाना होगा। किन्तु यहाँ भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सामाजिक पृष्ठभूमि का अनुसन्धान साहित्य के अध्ययन का साधन मात्र है, साध्य नहीं। साहित्यिक विवेचन को समाज-शास्त्रीय विवेचन बना देना अवैज्ञानिक है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग साहित्यिक समस्याओं को समझने की कुंजी के रूप में होना चाहिए; इससे अधिक जोर देना गलत है।

आदर्शवादी इतिहासकारों ने भी हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय भक्ति-काव्य, रीति-काव्य, छायावाद आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि दी है और उससे उन काव्य-धाराओं की उत्पत्ति अथवा प्रभावित होना भी दिखलाया है। किन्तु उनका सारा प्रयत्न चौखट में 'फिट' करने जैसा लगता है। वे ऐतिहासिक घटनाओं का हवाला देकर सीधे-सीधे लेखक तथा उसकी कृतियों को उसमें ला बिठाते हैं। कहना न होगा कि इस साँचेबाजी में लेखक और कृति की दुर्गति हो जाती है। यदि वह साँचे से बड़ा हुआ तो उसके अंग काट दिए जाते हैं और यदि छोटा पड़ा तो खींचकर बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। अक्सर महान् साहित्यकार अपने युग के घटना-लेखकों के आँकड़ों से अधिक व्यापक और गहरे यथार्थ का अंकन करते हैं। वे उन घटनाओं के मूल तत्त्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को पकड़कर वास्तविकता की अभिव्यंजना करते हैं। इसलिए घटनाओं में 'फिट' करने पर प्रायः उनका कटा-छँटा और एकांगी रूप ही सामने आता है। तुलसीदास को डॉ० ईश्वरीप्रसाद के इतिहास में वर्णित घटनाओं के अनुसार देखने पर उनकी यही दशा हुई है। दूसरी ओर कभी-कभी ठुटपुँजिए साहित्यकारों को घटनाओं के अनुसार दिखाने में बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित किया जाता है। छोटे साहित्यकारों की ही नहीं बड़े साहित्यकारों को भी खींचतान की दुर्दशा सहनी पड़ती है। ऐसा तब होता है जब समीक्षक इतिहास में स्वयं अपने स्थान तथा आलोच्य साहित्यकार के स्थान में अन्तर करना भूल जाता है। फलतः वह उक्त साहित्यकार को उसके युग में 'फिट' करने के बदले अपने ही युग में 'फिट' करने लगता है। तुलसीदास को शाश्वत और युग-युग का सिद्ध करने के लिए आदर्शवादी इतिहासकारों ने प्रत्येक आधुनिक समस्या के चौखटे में उन्हें कसा है और उनके मुँह से अपने युग की—अपने पक्ष की—बातें कहलाई हैं। यह कार्य पुनरुत्थानवादी सुधारकों ने तो किया ही, आरम्भिक प्रगतिशील समीक्षकों ने भी किया। अपने वर्तमान से अत्यधिक ग्रस्त होने पर अतीत भी उसी रंग में रँगा दिखता है और काल-विवेक मिट जाता है। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' इस भ्रम को दूर करता है।

वस्तुतः साहित्य का इतिहास लिखते समय ये समीक्षक भूल बैठते हैं कि वे साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं। आलोच्य वस्तु साहित्यिक कृति और उसमें अंकित सामाजिक यथार्थ है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग उस सामाजिक यथार्थ को समझने तथा परखने के लिए होना चाहिए। किन्तु वहाँ तो दूसरे साधनों से जुटाई हुई सामाजिक सामग्री ही प्रधान हो जाती है और साहित्यिक कृति का उपयोग उक्त सामग्री के समर्थन के लिए होने लगता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन करने से पूर्व वे लोग सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक आदि परिस्थितियों का खाता एक बार लिख जाते हैं, फिर उक्त साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन करते हैं। जिस तरह अधपकी दाल में दाल अलग और पानी अलग रहता है उसी तरह एक पुस्तक में साथ-साथ छपने के अतिरिक्त इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सही तरीका यह है कि साहित्यिक कृति के सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण के सिलसिले में यथास्थान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त सामाजिक सामग्री का उपयोग किया जाय। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' यही सिखलाता है।

साहित्य और समाज को इस तरह अलग-अलग रखकर देखने का मूल कारण यही है कि ये आदर्शवादी इतिहासकार समाज और साहित्य का ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं समझ पाते। वे शुद्ध साहित्यवादी होते हुए भी साहित्य को सामाजिक घटनाओं के अनुवाद रूप में देखते हैं। यह उनकी असंगति है। मूलतः तो वे आदर्शवादी हैं लेकिन भौतिकवाद के दबाव के कारण समाज की उपेक्षा करने में असमर्थ हैं। इसलिए जिस तरह उनके दिमाग में आदर्शवाद और भौतिकवाद अलग-अलग पड़े हैं, उसी तरह उनकी समीक्षा में भी साहित्य और समाज परस्पर विच्छिन्न हैं। विवेचन का सारा ढाँचा भौतिकवादी-सा प्रतीत होते हुए भी उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। फिर चाहे वे आर्यसमाजी हों, चाहे किताबी मार्क्सवादी। साहित्य अनुकृति नहीं, रचनात्मक कृति है। सामाजिक सत्य को साहित्यकार नवीन चित्रों, मूर्तियों और मर्मछवियों में गढ़ता है; मृत व्यक्तियों और घटनाओं को भी पुनर्जीवित करता है; जड़-पदार्थों को भी सजीव करता है, पेड़ के पत्तों को जवान बना देता है और स्थिर पत्थर को भी स्पन्दनशील। इसलिए जितनी बड़ी साहि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्मिक कृति होती है, उसमें वास्तविकता की रचनात्मक शक्ति भी उतनी अधिक होती है तथा अनुकृति उतनी ही कम। श्रेष्ठ राष्ट्रगीत वे नहीं हैं जो राष्ट्रीय संग्राम की घटनाओं की सूची बनाते हैं, बल्कि वे हैं जो उस संघर्ष की आग को देश-प्रेम की स्निग्धता से दीप्त करते हैं। ऐसी दशा में श्रेष्ठ कृतियों में अन्तर्निहित सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करना मुश्किल हो जाता है। जिस रचना में वास्तविकता तथा प्रतिकृति का सामंजस्य जितना ही प्रगाढ़ होता है, उसके प्रति समीक्षक का उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ जाता है। 'रामचरितमानस' के कलिकाल वर्णन के आधार पर तत्कालीन सामाजिक दशा का खाता खड़ा करना आसान है, किन्तु भरत की भक्ति में व्यंजित होने वाले सामाजिक सत्य का विश्लेषण कितने लोग कर पाते हैं? वहाँ तो बस सेवक-सेव्य भाव की शास्त्रीय चर्चा तक ही पण्डित लोग हाथ-पाँव मारते रहते हैं। 'कवितावली' उत्तरकांड के 'महामारी-वर्णन' का यथार्थ तो शब्दार्थ करने वाला भी बता सकता है, किन्तु 'विनय-पत्रिका' की मार्मिक वेदना का यथार्थ आधार कौन ढूँढ़ने की चेष्टा करता है? तुलसी के 'लोक-संग्रह' की लम्बी-चौड़ी चर्चा करने वाले भी बस उनके वर्णाश्रम-सम्बन्धी विचारों को ही उछालते रह जाते हैं, लेकिन क्या कभी उन्होंने तुलसी के अन्तर्विरोधों की ओर भी ध्यान दिया है; उनके शूद्र-विरोधी विचारों और निषाद, गुह, शबरी आदि के मार्मिक चित्रणों का अन्तर्विरोध तथा उसके कारणों की खोज हुई है? तुलसीदास में तो फिर भी सामाजिक आधार अपेक्षाकृत सहज ही मिल सकता है, परन्तु 'सूरदास' के लीला-पदों में जहाँ वास्तविकता का चित्रण और भी गहरे स्तर पर हुआ है, ये समाजशास्त्री खूब गोता खाते हैं और इस तरह का फतवा देते हैं कि उन्होंने केवल मनोरंजन किया, समाज का मन बहलाया। ये हैं सूर को हिन्दी-साहित्य के आकाश का सूर्य कहने वाले! इनका 'सूर्य' केवल बच्चा बहलाने का कार्य करता है। श्रद्धा और युक्ति में यह सम्बन्ध है। कस्तूरी की गन्ध शपथ द्वारा नहीं बताई जा सकती, फिर मूल्य तो और भी नहीं।

समाज से साहित्य का सम्बन्ध बहुत-कुछ वही है जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल, पात, पंखड़ी, वर्ण, गन्ध आदि मिट्टी के हैं, कि उससे मिट्टी की-सी ही सोंधी गन्ध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रूप-रस फूल में नया वर्ण, गन्ध उत्पन्न करता है। इसी तरह साहित्य में भी समाज ज्यों-का-त्यों नहीं झलकता, बल्कि रूपान्तरित रूप में अन्तर्निहित रहता है।

साहित्य और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को न समझ सकने का मूल कारण है समाज के नियमों को ठीक-ठीक न समझना। आदर्शवादी इतिहासकार साहित्य में या तो केवल विचार-ही-विचार ढूँढ़ते हैं या फिर हवाई ढंग से समाज और परिस्थिति। इसी तरह साहित्य को भी बड़े अस्पष्ट और खयाली समाज में टटोलते हैं। समाज में साहित्य का स्रोत खोजने का मतलब है मनुष्य के मूर्त पारस्परिक सम्बन्धों में उसकी जड़ें खोजना। मनुष्य ही साहित्य का रचयिता भी है और वर्ण्य वस्तु भी। मनुष्य का मतलब कोई अस्पष्ट 'मनुष्य' नहीं है, बल्कि वह क्रियाशील प्राणी जो परिवार, राज्य, धर्म, विद्यालय आदि संस्थाओं के रूप में शतधा-सहस्रधा अभिव्यक्त है। साहित्य में यही मूर्त मनुष्य एक व्यक्ति-पात्र के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों के साथ आता है। साहित्यिक कृति में सामाजिक सम्बन्धों को बहुत सरल बनाकर देखना गलत होगा। जो लोग 'रामचरितमानस' के राम-रावण युद्ध को तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में चित्रित करते हैं तथा सीता-हरण को हिन्दुस्तान की धरती का अपहरण बतलाते हैं वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'मानस' में बिम्बित सामाजिक सम्बन्धों को गहराई से नहीं देखते। मानस के राम, भरत, कैकयी, वशिष्ट आदि उस युग की पारिवारिक, धार्मिक आदि अनेक संस्थाओं के गूढ़ सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं।

परन्तु विविध संस्थाओं में बिखरे हुए सामाजिक सम्बन्धों का भी निश्चित आधार है। इसी आधार को आदर्शवादी विचारक नहीं समझ पाते और तरह-तरह के खयाली कानूनों का सहारा लेते हैं। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' इस आधार को बहुत ठोस रूप में समझता है। इन संस्थाओं के पीछे अलग-अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि एक प्रकार के व्यक्ति काम करते हैं और इस तरह सामाजिक शक्तियों के रूप में कार्यरत दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक शक्तियाँ ठोस विश्लेषण करने पर 'उत्पादन की शक्तियों' पर आधारित मालूम होती हैं—उत्पादन की शक्तियाँ यानी यन्त्र-प्रणाली, मनुष्य और उसका श्रम। इस तरह सामाजिक सम्बन्ध मूलतः उत्पादन-सम्बन्ध हैं। उत्पादन—भौतिक या आध्यात्मिक—जब तक मनुष्य समभाव और सहभाव से करता है, सामाजिक सम्बन्ध भी समता और सहकारिता के होते हैं, परन्तु ज्यों ही मनुष्य अपने बन्धुओं को उत्पादन-शक्ति के रूप में इस्तेमाल करने लगता है, सम्बन्ध विषम अर्थात् शासक और शासित, स्वामी और दास, के हो जाते हैं। यह मौलिक उत्पादन-सम्बन्ध समस्त सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे को निर्धारित करता है। उसी मौलिक सम्बन्ध को जानना समाज के मौलिक नियम को जानना है और उसे जानकर इतिहास की व्याख्या तथा परिवर्तन का विधान करना इतिहासकार का मुख्य कर्तव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में मनुष्य व्यक्ति ही नहीं बल्कि वर्ग भी है। व्यक्ति-साहित्यकार के भी यही दो रूप हैं और उसकी कृति में अभिव्यक्त पात्रों के भी यही दोनों रूप आते हैं। इसी को 'विशेष' और 'सामान्य' (टाइप) का सिद्धान्त कहा जाता है। 'होरी' व्यक्ति के साथ ही भारतीय किसान का प्रतिनिधि भी है; वह 'विशेष' होने के साथ 'सामान्य' भी है। उसकी 'विशेषता' में सजीवता है और सामान्यता में व्यापक अपील। 'होरी' के इन दोनों रूपों को समझना ही 'गोदान' की सच्ची आत्मा को समझना है।

जहाँ तक साहित्यकार के वर्ग-प्रतिनिधि तथा व्यक्ति-विशेष रूपों का सम्बन्ध है, बड़ा ही जटिल है। प्रायः कहा जाता है कि सत्ताधारी वर्ग ही उस युग की विचार-प्रणालियों का नियामक होता है और साहित्यकार उसका गायक। परन्तु यह बात विश्लेषण-सापेक्ष्य है। सत्ताधारी वर्ग की शक्ति के घटाव-बढ़ाव के अनुसार ही विचार-प्रणालियों पर उसके प्रभाव का विचार हो सकता है। समाज में केवल प्रभुवर्ग ही नहीं रहता जो मनमाना किया करे; प्रभुवर्ग की आकांक्षाएँ सामान्य जन-समूह द्वारा बाधित होती रहती हैं और आकांक्षाओं के इस संघर्ष से प्रायः ऐसा नया परिणाम निकल जाया करता है जो दोनों शक्तियों के लिए अचिन्त्य था। इस तरह वर्ग-समाज में साहित्य का नियमन प्रभुवर्ग ही नहीं करता, बल्कि सामान्य जन भी करते हैं। सामान्य जन प्रभुवर्ग की आकांक्षाओं में जिस हद तक बाधा डालते हैं अर्थात् अपनी मुक्ति के लिए लड़ते हैं, साहित्य का उत्थान भी उसी हद तक होता है और साहित्यकार का पक्ष—घर पक्ष—भी उसी के अनुसार बढ़ता-घटता रहता है। प्रायः साहित्य के महान् युगों में सामान्य जन का जागरण भी महान् रहा है। हिन्दी के भक्ति-काव्य के पीछे सामान्य जन का यही जागरण था। रीति-काव्य के पीछे जनसाधारण का यह सहयोग न्यूनातिन्यून था। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि साहित्यकार किस वर्ग का प्राणी है और न तो उसे रँगे हाथों पकड़ने में ही कोई साहस है। मुख्य प्रश्न है उसकी सहानु-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूति को तत्कालीन जन-जागरण के परिदृश्य में परखने का।

महान् साहित्यकार को किसी वर्ग-विशेष का गायक कहने पर प्रायः आदर्शवादी विचारक बिगड़ खड़े होते हैं। यदि वे यह समझकर बिगड़ते हैं कि उसे शासकवर्ग का गायक कहा जा रहा है तो उनका बिगड़ना वाजिब है। लेकिन बात कुछ और है। वर्ग-विशेष का गायक कहने का यही मतलब है कि उसका काव्य उसके पाठकों और श्रोताओं द्वारा निर्धारित होता है; जिनके लिए वह लिखता है उनसे परोक्षतः प्रभावित भी होता है। तुलसी ने साधारण जनों के लिए लिखा, इसलिए उनके काव्य में ग्रामीण व्यापकता, सहजता, संवेदनशीलता तथा उत्फुल्लता आई; इसके विपरीत बिहारी ने दरबार के शिष्ट लोगों के लिए लिखा, इसलिए उनमें दरबारी कीमियागीरी, चटक-मटक, चमत्कार आदि खुल पड़ा। इसके सिवा प्रयोजन से भी साहित्य निर्धारित होता है। रोजी के लिए लिखा साहित्य रोजी चलाने वाले के अनुसार होगा और 'स्वान्तःसुखाय' लिखा साहित्य अपने आदर्शों के अनुसार। रोजी के लिए लिखने में भी फ़र्क है। गरीब कलाकार जब रोजी के लिए भी कलम चलाता है तो अपनी आत्मा नहीं बेच देता; लेकिन दरबारों से महज़ खिलअत की उम्मीद में लिखने वाला खुशनसीब कलाकार अपनी आत्मा पहले ही गिरवी रख चुका होता है। मध्ययुग की उर्दू शायरी के इतिहास में दोनों तरह के नमूने ढेरों मिलेंगे। यहाँ पुराने बादशाहों के संरक्षण और आज के महाजनों की छत्रछाया का अन्तर समझने की जरूरत है। पुराना सामन्त अपने कवि से अधिक-से-अधिक कुछ विरुद्ध सुन लेता था; उसके शेष काव्य के विषय में वह सावधान न था। लेकिन नया महाजन अपने पत्रों और प्रकाशनों से लेखक की समूची कलम पर हावी रहता है। पुराना छत्रसाल अपने कवि की पालकी में कन्धा भी लगा सकता था, लेकिन नया व्यवसायी केवल चाँदी की जूतियाँ लगाना जानता है। यह सब कहने का मतलब इतना ही है कि रीति-काव्य के कृतिकारों की परख करते समय सामन्ती अर्थव्यवस्था को ही ध्यान में रखना चाहिए। उन्हें दरबारी कहने का मतलब बिलकुल खरीदा हुआ नहीं होता। वे दरबार के गुलाम नहीं, अलंकार थे; उनकी भी शान थी।

इससे स्पष्ट होता है कि उत्पादन-सम्बन्ध भी बदलते रहे हैं। साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इन्हीं सम्बन्धों के परिवर्तन के अनुसार होना चाहिए। अनुसार का मतलब दो त्रिभुजों की अनुरूपता नहीं, बल्कि उसे पथ-निर्देशक रेखा के रूप में इस्तेमाल करना। उत्पादन-सम्बन्ध बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदल जाती। साहित्य में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होता है और साहित्य के रूप-विधान में तो और भी धीरे-धीरे। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों के नामकरण का सवाल है, कोई जरूरी नहीं कि उन्हें उत्पादन-सम्बन्धों के सामन्ती और पूँजीवादी कालों के अनुसार ढाला जाय। नाम तो साहित्य की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही होना चाहिए; लेकिन उन प्रवृत्तियों के पीछे उक्त सामाजिक ढाँचे और काल-विभाजन का स्पष्ट आधार अवश्य हो। काल-विभाजन अध्ययन की सुविधा-मात्र है। काल-विभाजन से साहित्य की अखण्ड धारा बाधित न होनी चाहिए। नैरन्तर्य में कालान्तर और कालान्तर में नैरन्तर्य देखना तथा उसका निर्वाह करना इतिहासकार का कर्तव्य होना चाहिए।

परन्तु नैरन्तर्य किस बात का? साहित्यकार के बाद साहित्यकार उत्पन्न होते रहे और एक पुस्तक के बाद दूसरी पुस्तक निकलती गई—यह दिखाना ही नैरन्तर्य नहीं है। नैरन्तर्य उस मूल मानवतावादी धारा का दिखाना चाहिए जो यत्र-तत्र यदा-कदा क्षीण स्रोत होने पर भी प्रधान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप से स्रोतस्विनी रही। जिस प्रकार सामाजिक इतिहास में विविध सत्ताधारी वर्गों का उत्थान-पतन होता गया, लेकिन आधारभूत जनता कभी खुले रूप में और कुछ चुपचाप अपने अधिकारों के लिए लड़ती चली आ रही है, उसी तरह हिन्दी-साहित्य की मूल धारा हिन्दी-जनता के सतत संघर्ष की कहानी है। भावी इतिहास के निर्माता को साहित्यिक इतिहास के इस जीवन्त नैरन्तर्य पर काफी जोर देने की जरूरत है, साथ ही यह भी बताने की जरूरत है कि यह अनन्त और निरुद्देश्य नहीं है।

इतिहास का यह नैरन्तर्य 'आवृत्ति' के साथ गड्डमड्ड न कर दिया जाय, इसके लिए कालान्तर का बोध कराना आवश्यक है। इतिहास के काल-विभाजन की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। काल-विभाजन में मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच विभाजक-रेखा खींचना ही काफी नहीं है, बल्कि उत्पादन-शक्तियों के आधार पर इनमें से प्रत्येक युग के उत्थान-पतन का भी निदर्शन होना चाहिए। एक प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी भक्ति-काव्य क्यों उत्थान का प्रतीक है और रीति-काव्य पतन का। इसी प्रकार छायावादी काव्य और प्रेमचन्द-साहित्य में मध्यवर्गीय राष्ट्रीय जागरण की जो उत्थान-भावना व्यक्त हुई है वह परवर्ती काव्य और उपन्यास में ह्रास की दशा पर पहुँची लगती है। जनसाधारण के धरातल पर उठने-गिरने वाले ऊपरी वर्ग साहित्य के उत्थान-पतन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह बतलाना उतना ही आवश्यक है जितना यह बताना कि जनसाधारण साहित्य के उत्थान-पतन में कितना योग देता है। एक युग के पतन और दूसरे युग के उत्थान के साथ पूर्ववर्ती युग की सभी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। होता इतना ही है कि उनकी प्रधानता समाप्त हो जाती है, जैसे ब्रजभाषा की पुराने ढंग की रचनाएँ छायावाद-युग में भी होती रहीं और रत्नाकरजी जैसे सिद्ध कवि इसी युग में हुए। कारण स्पष्ट है—ब्रजभाषा-काव्य जिस पुराने सामन्ती ढाँचे से सम्बद्ध था वह ढाँचा आधुनिक समाज-व्यवस्था में भी कुछ-न-कुछ बना हुआ था। इसी तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में भी यह अन्तर्विरोध मिलता है। भारतेन्दु एक ओर तो आधुनिक युग के प्रतीक खड़ी बोली हिन्दी-गद्य को स्थापित कर रहे थे और दूसरी ओर मध्ययुग के प्रतीक ब्रजभाषा-पद्य भी लिखते रहे।

जिस तरह एक युग के पतन के साथ पुरानी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं, उसी तरह नये युग के आरम्भ के साथ ही नई साहित्यिक प्रवृत्ति भी आकार ग्रहण नहीं कर पाती। उत्पादन का ढंग बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदलती। हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग का आरम्भ दिखलाते समय यह चूक प्रायः होती है। लोग सोचते हैं कि जिस दिन से भारत में प्रेस की मशीन आई, साहित्य का नया ढाँचा भी शुरू हो गया। पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। प्रेस के आगमन और नागरी टाइपों के ढलाव (१७८७ ई०) के बहुत दिनों बाद हिन्दी-साहित्य में आधुनिकता आई। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' यहाँ स्पष्ट कहता है कि 'प्रेस' मूलतः पुनरुत्पादक (री-प्रोडक्टिव) शक्ति है, उत्पादक-शक्ति नहीं। इसलिए यन्त्र-प्रणाली उत्पादन के समूचे ढाँचे के सजीव सम्बन्ध से ही साहित्य का इतिहास बदलने में कारगर होती है, अकेली नहीं। उदाहरण-स्वरूप चीन में अत्यन्त प्राचीन युग से प्रेस था, फिर भी चीनी साहित्य में आधुनिकता यूरोप में प्रेस आविष्कृत होने के बहुत बाद आई। जब चीन में यूरोपीयता तथा आधुनिक ढंग की यन्त्र-प्रणाली का आगमन हुआ, तब नई साहित्यिक प्रवृत्ति उगी।

'ऐतिहासिक भौतिकवाद' साहित्य के इतिहास में विषय-वस्तु के ही परिवर्तन की कुञ्जी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं देता, बल्कि 'रूपतत्त्व' के विकास का भी सूत्र बताता है। एक ओर यदि वह हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग से आज तक की बदलती हुई 'प्रेम-भावना' के क्रमिक सोपानों को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर स्वयं उस भाव का वहन करने वाली भाषा, अलंकार-विधान, शैली-शिल्प, छन्द आदि के विकास की भी व्याख्या करता है। इस क्षेत्र में उसकी पहली चेतावनी यह है कि विषय-वस्तु के साथ ही रूप-तत्त्व नहीं बदलता चलता।

रूप-तत्त्व का पहला और प्रधान अवयव है भाषा। स्पष्ट है कि सूर-तुलसी की भाषा से भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद की भाषा *तत्त्वतः* भिन्न नहीं है। हिन्दी दोनों ही हैं, क्योंकि 'आधारभूत शब्द-समूह' और 'व्याकरणिक गठन' दोनों का लगभग एक है। परिवर्तन उसमें अवश्य हुआ है और परिस्थितियों के कारण हुआ है, परन्तु उसका आधार वही है। १९वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पुरानी हिन्दी में अनेक तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्द भर दिए। १६वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण ने भी कुछ हद तक यही कार्य किया था। इधर बीसवीं सदी के तीसरे दशक से जनतान्त्रिक आन्दोलन ने पुनः ग्रामीण तद्भव शब्दों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया और प्रेमचन्द ने उसका उत्कृष्ट रूप दिखलाया। नित्य व्यवहार की नवीन वस्तुओं के आगमन से अनेक नये शब्द साहित्य की भाषा में आये। छायावाद तथा उसके बाद के कवियों ने नये ऐन्द्रिय बोधों तथा अनुभूतियों के लिए नई पदावली अपनाई। इसी तरह मध्ययुग की साहित्यिक भाषा का वाक्य-गठन भी आधुनिक युग में कुछ हद तक बदल गया। नवीन परसर्गों और पदमात्रों के अतिरिक्त क्रियापदों में भी खड़ी बोली का रंग आया। इधर बीसवीं सदी के चौथे दशक से चिन्तन-क्रिया की गूढ़ता के साथ 'अंग्रेजी ढंग की 'पैरेंथीसिस' का भी प्रवेश वाक्य-विन्यास में हो चला। फिर भी मूलतः यह भाषा हिन्दी ही रही—वह हिन्दी जिसका आरम्भ भक्ति-भावना की जनवादी प्रेरणा से हुआ था। भक्तों ने संस्कृत के विरुद्ध जो 'भाषा'-आन्दोलन किया था वह पण्डितों द्वारा पोषित रूढ़िवादी भावना के विरुद्ध नवीन जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति थी।

आदर्शवादी समीक्षक अलंकार-विधान में परिवर्तन लक्षित नहीं कर पाते। फलतः छायावाद तथा उसके बाद की नई कविताओं को भी पण्डितों ने उपमा-रूपकादि प्राचीन अलंकारों के मानदण्ड पर परखा है। अलंकारों का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दर्य-भावना से है और कहना न होगा कि यह भावना परिस्थितियों के अनुसार कुछ-न-कुछ बदलती चलती है। मध्ययुग के नारी-पुरुषों का प्रसाधन और शृंगार आधुनिक युग में नहीं रहा। प्रकृति-सम्बन्धी रुचियाँ बदल गईं, रंग और गन्ध-सम्बन्धी ऐन्द्रिय बोध परिवर्तित हो गए, फूलों की पसन्द और हो गई। इन तमाम बातों ने काव्य के अलंकार-विधान को प्रभावित किया है। छायावाद की कल्पना-समृद्धि को मध्ययुगीन उपमा-रूपकादि के साँचे में बैठाना अवैज्ञानिक है। अलंकार-क्षेत्र में औपम्य या साम्य-विधान की आधारभूत विशेषता सभी युगों में सामान्य होते हुए भी युग-युग में कवियों ने 'विशेष' प्रयोग किये हैं, इसका ध्यान रखना चाहिए।

इसी तरह छन्दों में जो परिवर्तन हुए हैं उनको भी आदर्शवादी समीक्षक या तो कवि की केवल व्यक्तिगत रुचि का परिणाम बताते हैं या हवाई ढंग से युग-परिवर्तन के कारण मान लेते हैं। आवश्यकता है उस यन्त्रगर्भी लय को ढूँढ़ने की जो मध्ययुग में और थी तथा आधुनिक युग में और हो गई। पता लगाना चाहिए कि दोहा, छप्पय, घनाक्षरी और सवैया के मूल में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह कौन सी लयात्मक इकाई है जिसका सम्बन्ध, मध्ययुगीन लोकचित्त से था और आधुनिक युग में वह इकाई विविध गीतों के रूप में क्यों बदल गई ? इसी तरह 'मुक्तछन्द' में पुराने छन्दो-विधान के चरण-साम्य तथा तुक की रूढ़ि के विरुद्ध जो वेग है वह किस यन्त्र-प्रणाली, किस चित-गति के कारण सम्भव हुआ ? वस्तुतः प्रत्येक साहित्य की तरह हिन्दी के भी रूप-तत्त्व की अपनी विशेष परम्परा है और उसकी बारीकियों का सम्यक् विश्लेषण सविस्तर होना चाहिए। प्रस्तुत निबन्ध में यह सब सम्भव नहीं।

इस प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद साहित्यिक इतिहास में रूप-विधान-सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं तथा परम्परा-पालन को समझने के लिए ठोस आधार प्रदान करता है जो इतिहास-लेखक के लिए बहुत आवश्यक है।

संक्षेप में यही है इतिहास के अध्ययन के नये दृष्टिकोण की मोटी रूपरेखा। हिन्दी-साहित्य क्या, किसी भी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए 'दृष्टिकोण' निर्धारित करते समय केवल निर्देशक-सूत्र देना ही सम्भव है। इतिहास-लेखक के सामने कदम-कदम पर जो अनेक बारीक सवाल उठते हैं उनका आकलन यहाँ नहीं हो सकता। निस्सन्देह साहित्य-सृष्टि अनेक जटिल प्रभावों तथा तत्त्वों का घात-प्रतिघात है और उसका कतिपय नियमों द्वारा अति सरलीकरण करना गलत है। किन्तु उन जटिल तत्त्वों को एक-एक कर विलगाना असम्भव है, यह धारणा और भी गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के इस अन्तिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्य उद्घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद से ही सम्भव है। यदि ऐसा नहीं है तो इतिहास के आर्यसमाजी व्याख्याकारों और ऐतिहासिक भौतिकवादियों में क्या फर्क रहेगा ? अपने अतीत के जय-पराजय, हर्ष-शोक, आशा-निराशा का यथार्थ चित्रण ही हमें आज विजय के लिए प्रेरणा दे सकेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाबू गुलाबराय

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ और आचार्य शुक्ल की देन

जब कोई भाषा समुन्नत हो जाती है तब उसके साहित्य का भी इतिहास लिखा जाने लगता है। अपने पूर्ववर्ती कवियों की परम्परा बतलाने की प्रवृत्ति प्राचीन कवियों में भी रही है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है। जायसी ने प्रेममार्गी कवियों की परम्परा अपनी पद्मावत के आरम्भ में दी है। नाभादासजी ने भक्तमाल में भक्तों का यशगान किया है। गोस्वामी गोकुलनाथजी ने अष्टछाप के कवियों तथा अन्य वैष्णवों के चरित्र का वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्यकला पर पुस्तक लिखकर उसमें नाटकों की परम्परा का उल्लेख किया है। किन्तु इन प्रयत्नों को हम इतिहास नहीं कह सकते हैं। ये इतिहास के पूर्वरूप अवश्य कहे जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास कहे जाने वाला ग्रन्थ लिखने का श्रेय सबसे पहला ग्रन्थ गार्सां द तासी नाम के फारसी विद्वान् को है। उसकी पुस्तक का नाम 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐन्दुस्तानी' है; यह फ्रांसीसी भाषा में लिखी हुई है। किन्तु यह भी वास्तव में इतिहास नहीं है। इसमें अंग्रेजी वर्णमाला के वर्णक्रम से कवियों का नाम और विवरण दिया गया है। इतिहास के लिए वर्णक्रम तो बड़ा ही अस्वाभाविक और कृत्रिम विधान है। इतिहास में तो कालक्रम की प्रधानता रहती है।

यह ग्रन्थ दो खण्डों में निकला था—प्रथम खण्ड संवत् १८९६ और दूसरा संवत् १९०३ में निकला। फिर इसके तीन भाग हो गए। इसमें यद्यपि कालक्रम नहीं है तथापि कवियों के नाम, विवरण और उदाहरण एकत्र मिल जाते हैं। विवरण के अनुसार कुछ अनुपूर्वी भी लगाई जा सकती है।

इसके पश्चात् दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज'। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई। यह ग्रन्थ गार्सां द तासी के ग्रन्थ के ढंग का है। कवियों की नामावली के साथ उनका विवरण उदाहरण सहित दिया गया है, किन्तु इसकी नामावली एक सहस्र तक पहुँच गई है जब कि गार्सां द तासी की पुस्तक में हिन्दी कवियों की संख्या सत्तर ही है। शिवसिंह सरोज बहुत दिनों तक इतिहासकारों का आधार-स्तम्भ रहा। संवत् १९४६ में ग्रियर्सन महोदय का 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' निकला। यद्यपि यह शिवसिंह सरोज पर ही आधारित है तथापि इसमें काल विभाजन और प्रवृत्तियों के निर्देश की ओर भी प्रवृत्ति थी। इसमें कवियों की संख्या ९५२ है। इसमें सेंगर जी की सामग्री को अधिक व्यवस्था और विवेचन के साथ रखा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्रियर्सन के पश्चात् जो इतिहास-लेखन का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास हुआ वह मिश्र-बन्धुओं का था। वह पहले तीन भागों में संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ। उसका चौथा भाग जो आधुनिक काल से सम्बन्धित है, संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ था। मिश्रबन्धु विनोद में यद्यपि साहित्याङ्गों पर प्रकाश डालते हुए आलोचना की ओर प्रवृत्ति है तथापि उसका मूल उद्देश्य अधिक-से-अधिक कवियों को प्रकाश में लाना था। उसके द्वारा हिन्दी के छोटे-बड़े प्रायः पाँच हजार कवि प्रकाश में आये। प्रथम तीन भागों में प्राचीन काल के कवियों की नामावली परिगणन में उनको एक बड़े अन्वेषक और किसी अंश में आलोचक का भी श्रेय दिया जा सकता है, किन्तु उनका चौथा भाग अत्यन्त अव्यवस्थापूर्ण निकला। उसके सम्बन्ध में मैंने उनसे स्वयं कहा था कि मिश्रजी यह ब्राह्मण का कच्चा-सीधा हो सकता है इसको पक्वान्न नहीं कह सकते। उसमें प्रायः कवियों के ही भेजे हुए विवरण बिना किसी गारा-चूना या सीमेण्ट के ईंटों का चट्टा भी नहीं, ढेर हैं। मिश्रबन्धुओं का काल-विभाजन अधिकांश में काल-विभाजन ही है अर्थात् उसमें प्रवृत्तियों की अपेक्षा समय को अधिक महत्त्व दिया गया है। कवियों की नामावली को ही महत्त्व देने के कारण उनको एक अज्ञातकाल भी रखना पड़ा। उसमें उन कवियों का वर्णन है जिनके नाम और कृतियों के अतिरिक्त उनका कुछ अता-पता नहीं है। वास्तव में मिश्रबन्धु विनोद में काल-विभाजन के आधारों का संकर है। आदि प्रकरण में वीरगाथा-काल के साथ और सभी प्रकार की रचनाएँ रख दी हैं जिनमें कुछ पीछे की भी हैं। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी व्यंग करते हैं :—

जो वीर रस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्त देखकर प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर अवधी या वैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को Thought और विचार को Feeling कहते हैं वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या संवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत् सूचक-पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिए काफ़ी है। 'सहस्र सो संपूरन जाना' प्रौढ़ माध्यमिक काल में रचना की प्रौढ़ता का आधार है तो पूर्व और उत्तर अलंकृत काल में रीतिकाल भी अलंकृत प्रवृत्ति का आधार है। इसके अतिरिक्त पूर्व और उत्तर में केवल काल का ही अन्तर है। मिश्रबन्धुओं ने कुछ कवियों को प्रधानता देने के लिए तुलसी, सेनापति, बिहारी आदि के नामों पर कालों को अभिहित किया है। किन्तु किसी एक को मुख्यता देना दूसरों के साथ अन्याय है। केवल तुलसी और सूर ही अपने वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इस पर भी शुक्ल जी ने करारा व्यंग किया है। भिन्न-भिन्न शाखाओं के कवियों की केवल काल-क्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं? सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व-उत्तर इत्यादि खण्डों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता, यद्यपि आचार्य शुक्ल जी के व्यंग्य कुछ तीखे अवश्य हैं तथापि वे इस बात के द्योतक हैं कि आचार्य शुक्लजी प्रवृत्तियों को ही महत्त्व देते थे। एक काल के भीतर भी जहाँ उनको प्रवृत्तियों के सूत्र मिले हैं वहाँ उन्होंने उनको स्पष्ट कर दिया है, जैसे भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा। आचार्य शुक्लजी का काल-विभाजन इस प्रकार है :—

आदिकाल (वीरगाथा-काल, संवत् १०५०—१३७५)

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५—१७००)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००—१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल १९००—)

इसमें काल-विभाजन के साथ प्रवृत्ति भी आ गई है। यद्यपि साहित्य के इतिहास में काल-श्रेणियाँ टकसाली रुपयों की भांति बिलकुल कटी-छँटी नहीं होतीं और न प्रवृत्तियाँ ही काल-चक्र के निश्चित पदों से बँधी हुई हैं तथापि यह विभाजन व्यावहारिक है। एक काल में जिस विषय के अधिकांश ग्रन्थ मिले हैं उसी के नाम से काल का नामकरण कर दिया गया है। सभी प्रवृत्तियाँ आधुनिक काल तक चली आती हैं, किन्तु उनका अब बाहुल्य नहीं है। रीतिकालीन प्रवृत्ति का उपाध्यायजी का 'रसकलश' तो इसी युग में लिखा गया था, किन्तु वह प्रवृत्ति नहीं, अपवाद स्वरूप ही कहा जा सकता है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी ने इसीलिए अपने इतिहास में प्रवृत्तियों को काल के बन्धन में नहीं बाँधा है, वरन् प्रवृत्तियों के आधुनिक काल तक भी जो भूले-भटके उदाहरण मिलते हैं उनको दे दिया है। वीरगाथा काल के ही अन्तर्गत उन्होंने लाल और भूषण को भी ले लिया है। आदिकाल की तिथि के सम्बन्ध में भी इतिहासों में थोड़ा हेर-फेर है ? शुक्लजी के मत से वीरगाथा काल जहाँ १०५० से संवत् १३७५ तक है वहाँ डाक्टर रामकुमार वर्मा के मत से यह संवत् १००० से ही प्रारम्भ हो जाता है। श्यामसुन्दरदासजी की पुस्तक में वीरगाथाकाल पूरे १४०० तक खिंच जाता है। फलतः भक्तिकाल का प्रारम्भ भी १४०० तक आगे बढ़ जाता है। काल-निर्णय में जबकि वह विशेषकर प्रवृत्तियों का हो २५ वर्ष इधर या उधर कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। साहित्य के काल सरकारी अधिकारियों की भाँति निश्चित तिथि पर अपना चार्ज सौंपकर रंगस्थली से हट नहीं जाते। वीरगाथाओं से पूर्व जिसको आचार्य शुक्लजी ने अपभ्रंश काल कहा उसे डाक्टर रामकुमार वर्मा ने सन्धिकाल कहा। मिश्रबन्धुओं के आदि प्रकरण में हिन्दी एम० ए० के Ancient Texts की भांति जायसी कबीर आदि भी शामिल हो जाते हैं।

काल-विभाजन की कठिनाई और पारस्परिक मिश्रण की ओर श्यामसुन्दरदासजी का ध्यान पूरी तौर से गया है—'राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ धीरे-धीरे बदलती हैं, एक ही दिन में वे परिवर्तित नहीं हो जातीं। इसी प्रकार काव्य-धारा भी धीरे-धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती है तथा नवीन रूप धारण करती है; वह कभी एकदम से नया मार्ग नहीं ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यान्त्रिक-क्रिया नहीं है कि सामाजिक आदि स्थितियों के बदलते ही तुरन्त बदल जाय।'

आचार्य शुक्लजी ने वर्तमान गद्यकाल के अन्तर्विभागों का अलग नामकरण नहीं किया है। वर्तमान युग को उन्होंने गद्ययुग इसलिए कहा कि उसमें गद्य का प्राधान्य रहा है और शायद इसलिए भी कि उनके अवचेतन में वर्तमान युग की कविता के प्रति वह आदर नहीं था जो प्राचीन कविता के प्रति था। इस सम्बन्ध में इदं इत्थं कहना वैज्ञानिक की सीमा का उल्लंघन होगा, किन्तु ऐसा अनुमान किया जा सकता है। शुक्लजी ने आधुनिक काल को हरिश्चन्द्र या द्विवेदी युग के नाम से भी नहीं बाँटा है। आधुनिक युग की शुक्लजी ने गद्य और पद्य की अलग-अलग धाराएँ कर दी हैं और उनका अन्तर्विभाजन पच्चीस-पच्चीस वर्ष के उत्थानों से किया है। इस गद्य-साहित्य की प्रत्येक विद्या—जैसे नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी, निबन्ध आदि—का अलग-अलग उत्थानों के अनुकूल किया है। इसमें साधारण पढ़ने वाले के लिए शृङ्खला

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

टूट जाती है। एक विद्या का पूरा ही विकास दे देते तो अच्छा होता। कम-से-कम पाठ को इस प्रकार पढ़ना चाहिए कि एक उत्थान से उस विद्या के दूसरे, तीसरे उत्थान तक पहुँच जाय। इन उत्थानों का भी यदि व्यक्तियों के नाम पर नामकरण न होता तो प्रवृत्तियों के अनुकूल हो सकता था। व्यक्तियों के आधार पर नामकरण शुक्लजी के प्रवृत्ति वाले सिद्धान्त के प्रतिकूल होता और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति स्वयं युग-प्रवर्तक हो वह सहज में दूसरे को युग-प्रवर्तक कहने को तैयार नहीं होता। यह भी एक विचारमात्र है, इसको तथ्य न समझा जाय।

शुक्लजी के इतिहास की और भी विशेषताएँ हैं किन्तु उनके उद्घाटन के पूर्व अन्य प्रमुख इतिहासों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

शुक्लजी के इतिहास के पश्चात् दूसरा उल्लेखनीय इतिहास बाबू श्यामसुन्दरदास जी का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम का ग्रन्थ है। उसमें भाषा और साहित्य दोनों का ही विकास दिया गया है। साहित्यालोचन के अनुकूल बाबूजी ने साहित्य और काव्य को भी एक कला माना है। उस इतिहास की यह विशेषता है कि उसमें साहित्य और कला का विकास एक ही प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित दिखाया गया है। श्यामसुन्दरदासजी के इतिहास में शुक्लजी के इतिहास की अपेक्षा ब्यौरे की कमी है। उदाहरण भी इने-गिने ही दिये गए हैं।

उसका ऐतिहासिक विवेचन कुछ अच्छा है। उनका ध्यान व्यापकता की ओर अधिक है। बाबू जी ने आधुनिक वादों की इतनी क्षुद्र आलोचना भी नहीं की है और न सन्त साहित्य और नाथ पंथियों के विरुद्ध जहाद की आवाज उठाई है। इतिहास में शुक्लजी भी संयत रहे हैं। वास्तव में सन्त साहित्य के सम्बन्ध में इन दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण का अन्तर रहा है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी सन्त साहित्य के पोषक रहे हैं। उन्होंने स्वयं कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन किया है और उनके निरीक्षण में डाक्टर पीताम्बरदत्त, बडथ्वाल की सन्त साहित्य पर थीसिस लिखी गई। इन दोनों आचार्यों में पर्याप्त साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता रही। श्यामसुन्दरदास जी के इतिहास के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का एक व्यंग्य देखिए—

"शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—भाषा-विज्ञान, हिन्दी-भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन भी आपने लिखीं या सम्पादित कीं।" डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने भी शुक्लजी के इतिहास के सम्बन्ध में लिखा है कि यह इतिहास वे उनके साथ लिखना चाहते थे, किन्तु शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में विश्वासघात किया। ये बातें दोनों ही महापुरुषों के गौरव के विरुद्ध हैं।

डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी के इतिहास के पश्चात् और भी कई इतिहास निकले। उनमें डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का विकास तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास प्रमुख हैं। डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री के इतिहास में अंग्रेजी साहित्य से तुलना की प्रवृत्ति अधिक है, उसमें भावुकता के साथ भाषा का अलंकरण भी कुछ अधिक है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है डाक्टर रामकुमार वर्मा का। इस ग्रन्थ का पहला खण्ड ही प्रकाशित हुआ है। इसमें आदिकाल और भक्तिकाल का विवेचन है। इसमें रिसर्च के विद्यार्थी की थीसिस की-सी शैली है। सभी उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है; भाव विश्लेषण की अपेक्षा आकार के विश्लेषण की ओर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अधिक प्रवृत्ति है। इसकी महत्ता इसी बात में है कि एक बड़े व्यवस्थित ढंग से शुरू किया गया है, निर्णयों की आधारभूत सामग्री सब एक स्थान में एकत्रित की गई है और निर्णय भी संतुलित है। इन सब इतिहासों को देखते हुए विषय की पूर्णता और भाव-विश्लेषण की गहराई की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। इसके पहले संस्करणों में जो नवीन कविता की उपेक्षा थी उसकी पूर्ति नवीन संस्करण में कर दी गई है। यद्यपि शुक्लजी के अपने पूर्वाग्रह और प्रिय विश्वास सूत्र हैं जिनसे वे ऊपर नहीं उठ सके हैं फिर भी उन्होंने अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण में छायावाद के विश्लेषण में काफी ईमानदारी से काम लिया है; छायावाद के शिल्प-विधान की व्याख्या भी की है और थोड़ा-बहुत रसास्वाद करने का भी प्रयत्न किया है। इतिहास में वे कबीर आदि के प्रति भी अपेक्षाकृत मुलायम रहे हैं।

यद्यपि आचार्य शुक्लजी पर अंग्रेजी का प्रभाव काफी है तथापि उनकी कवियों की कृतियों की रसास्वादन पद्धति पूर्णतया नहीं तो अधिकांशतः भारतीय है। हिन्दी गद्य के अन्तर्गत आचार्य शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रभाववादी सम्प्रदाय, कलावाद, आदि की निर्भीक आलोचना की है। इस इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उस काल के कवियों का केवल जीवनवृत्त और ऐतिहासिक विवरण ही नहीं दिया है वरन् उनकी भाषा के गुण-दोष, उनकी सूक्तियाँ और उनके भाव माधुर्य का भी उल्लेख किया है। जहाँ उन्होंने मिश्रबन्धुओं पर व्यंग्य किये हैं वहाँ अधिकांश में उनका नाम नहीं दिया है, किन्तु उनके अज्ञान के उद्घाटन में आनन्द-सा लिया है। "जो यह भी नहीं जानते कि क्रान्ति को संक्रमण (अभसक्रोन) भी कहते हैं, अच्छा साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है, मिलान पड़ाव या काम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती व्रज-भाषा में पिछानना रूप ही आता है, खटकति का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा—यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आए तो बेचारे बिहारी का क्या दोष?"

कवियों की व्यावहारिक आलोचना के साथ सैद्धान्तिक तथ्यकथन भी चलता गया है। बिहारी की विवेचना करते हुए आचार्यजी लिखते हैं—'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस-धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिसमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। स्वयं शुक्लजी प्रबन्ध-काव्य की ओर अधिक झुके हैं, अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।'

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल तथ्यकथन में कुशल तार्किक हैं और व्यंग्य बाणों की वर्षा करने में बड़े घोर-कठोर शिकारी बन जाते हैं उसी प्रकार रसास्वादन में वे कोमल-हृदय और सरस हैं। इतिहास में स्थल-स्थल पर उनकी सरसता के उदाहरण मिलेंगे। देखिए—

'कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होने वाले रस की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिए सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनन्द

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छटा अपने बन्द नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरह-सागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता।'

यद्यपि शुक्ल जी का तुलसी के प्रति अधिक आकर्षण रहा है तथापि सूर के गुणों को भी बड़ी सहृदयता के साथ देखा है। वे सूर के गुणगान में तुलसी को नहीं भूलते, किन्तु उन्होंने सूर की भी विशेषताएँ सामने लाने में कोर-कसर नहीं छोड़ी है। देखिए—

'यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।'

यद्यपि आचार्य शुक्लजी के निर्णय अधिकांश में पक्षपातशून्य हैं तथापि कहीं-कहीं वे निजी प्रभावों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। तुलसी के राजापुर के होने को सिद्ध करने में वे वकील से बन गए हैं। उनकी वकालत उनके विश्वासों की दृढ़ता की सूचक है। शुक्लजी की यही कम-जोरी है और यही सबलता कि जिस बात को वे कहते हैं लगाव-लेस के साथ नहीं कहते। बेपेन्दी के लोटे की तरह न हिलते-डुलते हैं और न 'गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास' की बात करते हैं। वे ध्रुव की तरह अटल रहते हैं चाहे दूसरे पक्ष की अवहेलना का दोष उन पर लागू हो जाय। शुक्लजी ने जो इतिहास के तथ्य दिये हैं उनकी परम्परा बहुत दिनों तक चलती रहेगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्यरूपों' के उद्भव और विकास की कहानी नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में इस साहित्य के वास्तविक रूप का अन्दाजा लगाने में सहायता करने योग्य बहुत-सी नई सामग्री प्रकाशित हुई है और अब आशा की जानी चाहिए कि हमारे साहित्य का रूप अधिक साफ और सुदृश्य हो सकेगा। इस विषय पर मैंने जो कुछ थोड़ा सोचा-समझा है उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ढोलामारू के दोहों के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

लेकिन राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से है तो दूसरी ओर उसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन-कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में अनेक जैन लेखकों का उल्लेख किया है।

जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा का साहित्य लिखा गया उनमें बसने-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे इस बात का कोई प्रामाणिक मूल हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा, यह तो निश्चित है। परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अन्दाजा लगाया जा सके। परम्पराक्रम से कुछ कवियों के नाम प्राप्त अवश्य होते हैं और क्वचित्-कदाचित् उनके नाम पर चलनेवाली पुस्तकें भी मिल जाती हैं। परन्तु बहुत कम स्थलों पर उनकी प्रामाणिकता विश्वास-योग्य होती है। इसीलिए व्रजभाषा और अवधी, भोजपुरी आदि के पूर्ववर्ती साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिए हमें बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। इस विषय में संस्कृत के चरित-काव्य, कथा, आख्यायिका और चंपू रूप में लिखित रोमांस और निजन्धरी कथाएँ और ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा हमारी सहायता कर सकती हैं।

साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ९८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए। शुक्लजी ने इस काल के अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचनायोग्य समझी थीं। इनके नाम हैं—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता और (४) कीर्तिपताका, तथा (५) खुमान रासो, (६) बीसलदेव रासो, (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचन्द्र प्रकाश (९) जयमयंक जस चन्द्रिका, (१०) परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप), (११) खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति-पदावली। "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"

अपभ्रंश की कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं जिनको साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। संदेश-रासक ऐसी ही सुन्दर रचना है। प्राकृत पिंगल-सूत्रों में आये हुए कई कवियों की रचनाएँ निश्चय ही साहित्य के इतिहास में विवेच्य हैं। मिश्रबन्धु-विनोद में कुछ जैन-ग्रंथों को इस काल में रखा गया था। शुक्लजी ने उनमें से बहुत-सी पुस्तकों को विवेचनयोग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि इन पुस्तकों में से (१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, (२) कुछ नोटिस-मात्र हैं और (३) कुछ जैन-धर्म के उपदेश-विषयक हैं।

इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।

उपदेश-विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश-मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है। परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल रासो और हम्मीर रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। अस्तु।

इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की। हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म-भावनाओं को उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है। जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधानरूप से धर्म-बुद्धि ही रही है। काव्य-रस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं जिनमें किसी-न-किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गए हैं। यदि मंगोलिया के रेगिस्तानों ने कुछ पन्ने बचा न रखे होते तो अश्वघोष के नाटकों का हमें पता भी न चलता। निस्सन्देह ग्रन्थ-संग्रह-कर्ताओं के उत्साह से भी कुछ पुस्तकों की रक्षा हुई है। 'सन्देशरासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है और ये सब मिलाकर केवल इस श्रेणी के विशाल साहित्य की सम्भावना की ओर इशारा-भर करती हैं। इनसे हम सिर्फ यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी समय इस श्रेणी का साहित्य प्रचुर मात्रा में वर्तमान था जो उनके उत्साही संरक्षकों और कद्रदानों के अभाव में लुप्त हो गया है। एक दूसरे प्रकार का लौकिक रस का साहित्य भी बचा जरूर है, लेकिन उसमें निरन्तर परि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्तन होता रहा है और आज जिस रूप में वह उपलब्ध है उसकी प्रामाणिकता के विषय में सब समय आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्यकाल में यह प्रथा खूब बढ़ गई थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित लिखते समय भी उसे कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासो में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यश-वर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भगवान् का यश गाना कहीं अच्छा है। इस पर कवि ने विस्तार से दशावतारचरित का वर्णन किया। जिस आकार में यह दशावतारचरित है वह सम्भवतः परवर्ती रचना है। अपने इस विश्वास का कारण मैं फिर कहीं बताऊँगा। परन्तु ऐसा लगता है कि रासोकार ने पृथ्वीराज को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में धार्मिकता का थोड़ा-सा रंग देना चाहा था। कीर्तिलता के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यलाभ का प्रलोभन दिया था—"पुरुष कहाणी हौं कहौं जसु पत्थावै पुन्नु।" इसका कारण यही था कि काल को रूप और गति देने वाली शक्ति धर्म-भावना ही थी। धार्मिक समझे जाने वाले साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था, इसलिए वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। 'भविसयत्त कहा' धार्मिक कथा है, पर इतना सुन्दर काव्य उस युग के साहित्य में कहाँ मिलेगा। श्री राहुल सांकृत्यायन ने उच्छ्वसित भाव से घोषित किया है कि 'स्वयंभू का रामायण हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है।' रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं? राजशेखर सूरि जैनमत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्ददास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नैमिनाथ का चरित वर्णन करते हुए 'नैमिनाथ फागु' लिखा था और नन्ददास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए रास-पंचाध्यायी। दोनों में ही धर्मभाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधा-सुधानिधि' में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य-बुद्धि से चलित है उसी प्रकार 'राजल देवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य बुद्धि से चलित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा-वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नहीं है —

किम-किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइगोरी अइभोई अंगि चन्दनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिन्दूररेह मोतीसरि सारी॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय विंवालिय कर जाले॥
नरतिय कज्जल रेह नयणि मुँहकमलि तंबोलो।
नागोदर कण्ठलउ कण्ठि अनुहार विरोलो॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला।
करे कंकण मणि-वलय चूड खलकावइ बाला॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुणएँ कडि घाघरियाली।
रिमझिमि रिमझिमि रिमिझिमिएँ पयनेउर जुयली॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि।
अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि॥

इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य ही नहीं मानना चाहिए। परन्तु जो पुस्तकें पीछे की रचना हों या नोटिस-मात्र हों उन पर विचार ही क्या हो सकता है! शुक्लजी ने जिन पुस्तकों को प्रामाणिक रचना समझकर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा था, उनमें सबसे पहली खुमान रासो है जिसके कवि का नाम है दलपति विजय। तीन खुम्माण राजाओं की चर्चा करने के पश्चात् शुक्लजी इस नतीजे पर पहुँचे थे कि दलपति कवि द्वितीय खुम्माण (सम्वत् ८७० से ९०० विक्रम तक) का समसामयिक रहा होगा। यद्यपि प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने यह तो अनुमान कर ही लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा," अर्थात् यह भी सन्देहास्पद रचना है। शुक्लजी के मन में यह विश्वास था कि इसका मूलरूप पुराना होगा; परन्तु इधर पता चला है कि दलपति वस्तुतः तपागच्छीय जैन साधु शान्ति विजय के शिष्य थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में इन्हें परवर्ती कवि सिद्ध किया है। इधर श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (पृष्ठ ८७) में लिखा है कि "हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल सम्वत् १७३० और १७६० के मध्य में है।"[१]

इसी प्रकार नरपति नाल्ह के 'वीसलदेव रासो' के बारे में भी सन्देह प्रकट किया गया है। मैनारियाजी ने इन्हें १६वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और दोनों नरपतियों की रचनाओं की एकरूपता दिखाने के लिए उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं वे हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं हैं।

शुक्लजी ने भी लिखा था कि "नाल्ह के 'वीसलदेव रासो' में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (वीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषित-पतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को वीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं है, केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।" इस प्रकार शुक्लजी को यह ग्रन्थ बहुत अधिक ग्रहणीय नहीं मालूम हुआ था। पुराना होने का गौरव पाने के कारण ही यह उनकी विवेचना का विषय बन सका था। अब इसका यह गौरव भी छिन गया है। इसकी "भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में बहुत कुछ फेर-फार होता आया

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४, अंक ४, पृष्ठ ३८१—३९८

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, पर लिखित रूप में सुरक्षित रहने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत-कुछ बना हुआ है," यह शुक्ल जी का विचार है; पर अब उलटी बात मालूम हुई है। भाषा में, प्रचलित चारणरीति के अनुसार, कुछ पुरानापन देने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार हम्मीर रासो को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में चन्द कवि के प्रसंग में कहा गया था कि "इन्हीं की (चन्द की) औलाद में शार्ङ्गधर कवि थे जिन्होंने हम्मीर गयरा (रासो ?) और हम्मीर-काव्य भाषा में बनाया है।" (शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३५०) सम्भवतः इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस काव्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान किया था। प्राकृत-पैंगलम् उलटते-पलटते उन्हें कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले, फिर तो उन्हें "पूरा निश्चय हो गया कि ये पद्य असली हम्मीर रासो के ही हैं।" क्यों और कैसे यह निश्चय हुआ, इसका कोई कारण शुक्लजी ने नहीं बताया। तब से अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन छन्दों को निश्चित रूप से असली हम्मीर रासो के छन्द माना जाने लगा है। मजेदार बात यह है कि पं० राहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं को अपनी 'काव्य-धारा' में जज्जल कवि-लिखित माना है। कुछ पद्यों में स्पष्ट रूप से 'जज्जल भणइ' अर्थात् 'जज्जल कहता है' की भणिति है।

राहुलजी का यह मत प्राकृत-पैंगलम् (बिब्लियोथिका इण्डिका) में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है अर्थात् 'कवि-निबद्ध वक्तृ-प्रौढ़ोक्ति' है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं, किसी और कवि की होगी; परन्तु वह और कवि शार्ङ्गधर ही हैं, इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि प्राकृत-पिंगलम् के एक कवि के ग्रन्थ को वीरगाथाकाल का ग्रन्थ समझा जाय तो उसी ग्रन्थ में से बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय ? प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिन्दी से सम्बद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि या तो हम्मीर रासो को 'नोटिस' मात्र समझा जाय या प्राकृत-पिंगलम् में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रन्थ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय। इसके अतिरिक्त एक और बात भी विचारणीय है। 'हम्मीर' नाम इस देश में किसी एक ही राजा के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। गजनी के तुर्क शासकों को 'अमीर' कहा जाता था। इस देश में 'हम्मीर' इसी 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है। बुखारा का प्रथम अमीर उन्सद नवीं शताब्दी में हुआ। जब से इन अमीरों ने गजनी के ब्राह्मण राजा शाहियों को हराकर गजनी पर अधिकार किया तभी से इस देश में हम्मीर शब्द प्रचलित हो गया। गोविन्दचन्द्र ने अपनी प्रशस्तियों में 'हम्मीरं न्यस्तवैरं मुहुरथ समरक्रीड़या यो विधत्ते' कहा है और उसके पुत्र विजयचन्द्र ने भी सन् ११६८ के एक दानपत्र में गर्वपूर्वक घोषणा की है कि 'हम्मीर' अर्थात् गजनी के अमीर के त्रास से समूचा भुवन दुःख की ज्वाला से जल रहा था उसे मैंने उसी की हरम की बेगमों के नयनरूपी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेघों की धारा से शान्त किया है—'भुवन-दहन लेहा-हर्म्य-हम्मीर-नारी-नयन-जलद-धारा-धौ॰ भूतोपतापः।' सो, हम्मीर शब्द को किसी पद्य में आया देखकर ही यह नहीं मान लिया जा सकता कि वह चित्तौरवाले हिन्दू राजा 'हम्मीर' की ओर इशारा कर रहा है।

"भट्ट केदार ने जयचन्द-प्रकाश नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास-कृत 'राठौडां री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है।" (पृ० ५०) अर्थात् ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। इन दोनों कवियों के विषय में कुछ अधिक चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ इतना कह रखना ही उचित जान पड़ता है कि इनकी चर्चा रासो में भी मिलती है और हिन्दी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है। ये गोरी के दरबार के कवि बताये गए हैं। इसी प्रकार "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं।"[1] (पृ० ५१) सो यह भी नोटिस मात्र से कुछ अधिक दाम का नहीं। चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है। इसके विषय में विस्तार से हम फिर विचार करेंगे। अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीर-गाथाकाल रखा गया है उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ है या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है। राजस्थानी साहित्य के विद्वान् विवेचक श्री मोतीलाल मैनारिया ने कुछ झुँझलाकर लिखा है कि "इन ग्रन्थों को प्राचीन बतलाते समय एक दलील यह दी जाती है कि इनके रचयिताओं ने इनमें सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, और इससे उनका अपने चरित्र-नायकों का समकालीन होना सिद्ध होता है। परन्तु यह भी एक भ्रान्ति है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करने वाले कवि समसामयिक ही हों। यह तो काव्यरचना की एक शैली मात्र है। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य का रूप देने के लिए कवि प्रायः ऐसा किया करते हैं। अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके कर्त्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीनकाल के वीर-पुरुषों पर ग्रन्थ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। बारहठ केसरिसिंह-कृत 'प्रताप-चरित्र' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जो सं० १९९२ में लिखा गया है।"[2]

---

१. यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आल्हाखण्ड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुन्देलखण्ड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घकाल तक अपरिचित रही। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इस अत्यन्त लोकप्रिय गीतपद्धति को राममय करने का प्रयास क्यों नहीं किया। लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य (पृष्ठ ८१)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आज से कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्य-ग्रन्थों के आधार पर इस काल का कोई भी नामकरण उचित नहीं है। उस समय मेरा विश्वास था कि जिन ग्रन्थों के आधार पर उक्त काल का नामकरण किया गया है वे अधिकांश प्रामाणिक हैं। आज लग रहा है कि इनमें से कई की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और कई नोटिस मात्र हैं। रही राजपूताने के साहित्य की बात, सो उसके विषय में मैनारिया जी का यह मत उल्लेख योग्य है—"इसके अतिरिक्त ये रासो-ग्रन्थ जिनको वीर-गाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीर-गाथाकाल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है, और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर गाथाकाल राजस्थान में आज भी ज्यों-का-त्यों बना है। क्योंकि राजा-महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति के ग्रन्थ आदि लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहले किया करते थे। परन्तु राजस्थान के वातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों का यह बात समझ लेना कुछ कठिन है।" ('राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृ० ८१)

स्पष्ट ही हमारे आलोच्यकाल के आरम्भ में इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य वर्तमान था। साधारणतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना जाता है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १०५० से १३७५ तक के काल को इस काल की सीमा मानी थी। जब तक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती तब तक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते। केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न बहुत उचित है और न बहुत हितकर।

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और ब्रजभाषा-क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलनेवाले लोगों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी जिसका परवर्ती विकास अवधी और ब्रजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं। हमें पार्श्ववर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक सामग्री के आधार पर तथा पूर्ववर्ती रचनाओं के काव्य-रूपों को देखकर अनुमान द्वारा उस साहित्य-रूप का अन्दाजा लगाना पड़ता है। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह अन्दाजा यथासम्भव ठीक हो। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हिन्दी का साहित्य ही इस काल में इस प्रकार के दुर्भाग्य का शिकार बना। केवल गुजराती और राजस्थानी इस विषय में कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी हैं, नहीं तो लगभग सभी प्रान्तीय साहित्यों की यह कहानी है। जब तक प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त सामग्री का व्यापक अध्ययन नहीं किया जाता तब तक सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप अस्पष्ट ही बने रहेंगे। इसीलिए इस काल के साहित्य-रूप के अध्ययन के लिए प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, माहात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य सहायता पहुँचायगी। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासम्भव व्यापक बनाकर देखना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यहाँ तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलने वाली और परवर्ती काल में निरन्तर प्रक्षेप से स्फीत होते रहने वाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ-न-कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी। न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए। इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है।

परन्तु प्रश्न यह है कि इस काल में आज के हिन्दी-भाषी कहे जाने वाले क्षेत्र की देशी भाषा में लिखित कोई पुस्तक अपने मूल रूप में क्यों नहीं प्राप्त होती। इसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक कारण होना चाहिए।

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि की पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्म-सम्प्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं वे बदलती रही हैं। जनता को उनके 'शुद्ध रूप' से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकरुचि के साँचे में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है। आल्हा काव्य इसी प्रकार लोकचित्त की चंचल सवारी पर चलता आया है। यह बता सकना कठिन है कि उसका मूल रूप कैसा था। परन्तु वह जनता को प्रिय था, उसके सुख-दुख का साथी था और अपने इस महान् गुण के कारण वह जनता की प्रीति पा सका और जीवित रह गया। उसके समवयस्क काव्य वह प्रीति नहीं पा सके और अपना शुद्ध रूप लिये हुए अस्त हो गए।

देशी भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें जैन-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रह गई हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया है। कुछ पुस्तकें बौद्ध-धर्म का आश्रय पाकर और बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर पाई जा सकी हैं। परन्तु जो पुस्तकें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नरेशों के संरक्षण से बची हैं वे अधिकांश संस्कृत में हैं। इस श्रेणी की रचनाएँ मिलती अवश्य हैं पर हमारे आलोच्य काल के देशी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। इस उपेक्षा का कारण क्या है? यह कहानी सुनने योग्य है।

श्रीहर्षदेव के शक्तिशाली साम्राज्य के टूट जाने के बाद भी कान्यकुब्ज का गौरव बना रहा। उनके सेनापति भण्डि और उनके वंशजों ने कान्यकुब्ज पर कुछ दिनों तक शासन किया। नवीं शताब्दी के आरम्भ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई, परन्तु राजलक्ष्मी फिर भी कान्यकुब्ज को छोड़ने को तैयार नहीं थी। पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतीहार इस राजलक्ष्मी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को अपनी गृहलक्ष्मी बनाने का प्रयत्न करते रहे। पर नवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतिहारों को ही कान्यकुब्ज को अधिकृत करने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक कान्यकुब्ज के प्रतिहार बड़े शक्तिशाली शासक रहे। भारतवर्ष की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों रही।

जिस काल के साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं उस काल का मध्यदेश बहुत अधिक विक्षुब्ध था। यदि उस समय का कोई साहित्य नहीं मिलता तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। हमने पहले ही विचार किया है कि साहित्य के रक्षित रहने के तीन साधनों में से सबसे प्रबल और प्रमुख साधन है राजाश्रय। गाहड़वार राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया हुआ बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से। इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आने वाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास भी करते रहे। बहुत दिनों तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्रय नहीं मिला। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार गौड़ (बंगाल) देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे वैसा इस दरबार में नहीं हुआ। इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाए थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत-भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन रहा हो।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण के रचयिता दामोदर भट्ट प्रसिद्ध गाहड़वार राजा गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित थे। ऐसा अनुमान किया गया है कि यह पुस्तक राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से लिखी गई थी। यदि यह अनुमान सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि इन राज-कुमारों को घर में किसी और भाषा के बोलने की आदत थी। अर्थात् गाहड़वार बाहर से आये थे। परन्तु यहाँ से इस वंश में देशी भाषा की ओर झुकने की प्रवृत्ति आई थी, यह भी पर्याप्त स्पष्ट है।

ऐसा जान पड़ता है कि दो सौ वर्षों तक काशी में और कान्यकुब्ज में राज्य करने के कारण गाहड़वाल नरेश काशी और कान्यकुब्ज की भाषा समझने लगे थे और शुरू-शुरू के गाहड़वालों में अपने को स्थानीय जनता से विशेष और भिन्न समझने की जो प्रवृत्ति थी वह कम होने लगी थी। गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदर भट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा सिखाने का प्रयत्न किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकुमार अब अपने को इसी प्रदेश के लोगों में से समझने लगे थे और धीरे-धीरे देशी भाषा को भी इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा था। दुर्भाग्यवश जयचन्द्र के साथ ही इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति दोनों का अन्त हो गया।

प्रकृत प्रसंग यह है कि गाहड़वाल राजा शुरू-शुरू में अपने को इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक का कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे, किन्तु तब तक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और संपूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया। इन नये शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भाषी क्षेत्र स्मार्तमतानुयायी था। उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और अजमेर, कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्तमत ही प्रबल रहा। इस समय शैवमत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गई थी। शैवमतानुयायी नाथयोगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रस-सिद्धों और मंत्र-तन्त्र में विश्वास करनेवाले शाक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है, परन्तु जैनों की भाँति इन शैव-साधकों के संगठित मत नहीं थे और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था। फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के संबंध में बड़ी अवज्ञा का भाव है। वे इन अधम जीवों को भय ही दिखाते थे। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहनेवाले, काम-क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद-मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल घृणा करने और तरस खाने के पात्र माने जाते थे। गृहस्थ इन योगियों से डरता था। इब्न-बतूता ने ग्वालियर-कालिंजर में इन योगियों को देखा था। उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं। इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा और घृणा का भाव रखनेवाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक-मनोहर हो नहीं सकता। कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं; पर एक तो उन्हें जन-पुस्तकों के समान संगठित भाण्डारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार संप्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा। उन्होंने इन रचनाओं को प्रमाणित रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो कुछ भी साहित्य बचा है वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी। परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकर के रूप में और (२) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में। दोनों ही बातें इनके प्रभाव की सूचना देती हैं।

दुर्भाग्यवश जिन सम्प्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी उनकी परम्परा उनके सम्प्रदाय के रूप में नहीं जी सकी और उनके साहित्य का लोप हो गया। पूर्वी प्रदेशों में थोड़ा-बहुत वह इसलिए रक्षित रह गया कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक वहाँ उक्त धर्ममत संगठित संप्रदाय के रूप में जीता रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से ही कुछ अल्पमात्रा में इन रहस्यात्मक गीतों का उद्धार किया जा सका है। उत्तर भारत का धर्ममत नवीन सम्पर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप बराबर अपनी पुरानी परम्परा पर कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत की और ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता लगता है जो राजरक्षित हों और न ऐसे ही साहित्य का जो संघठित सम्प्रदाय द्वारा सुरक्षित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हों। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर क्वचित्-कदाचित् मिल जाता है।

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के अरक्षित रह जाने की यही कहानी है। जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उसके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है। कुछ जो ठीक से सुरक्षित हुई हैं उनके आधार पर कुछ अनुमान किए जा सकते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से काव्य-रूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

सन्त-काव्य की परम्परा

: १ :

सन्त कबीर साहब ने जब अपनी बानियाँ रचीं उस समय काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार कम न था। निपुण कवि शिष्ट समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और उन्हें सामन्ती दरबारों में बहुधा आश्रय भी मिला करता था। यशोलिप्सा और अर्थ-प्राप्ति की प्रेरणा से वे नवीन कलाकौशल दिखलाते जाते थे और काव्यकला-सम्बन्धी नियमों का नित्यशः विस्तार भी होता जा रहा था। फलतः सत्यकाव्य की परीक्षा का मानदण्ड उस समय उक्त नियमों का अक्षरशः पालन तथा एक विशिष्ट वर्ग द्वारा उसका अनुमोदन ही समझा जा रहा था। कबीर साहब के वरीय समसामयिक विद्यापति कदाचित् उस समय तक अपनी 'पदावली' का निर्माण कर चुके थे। वे संस्कृत कवि जयदेव के प्रसिद्ध काव्य 'गीत गोविन्द' के आदर्शों पर लिखते थे और 'अभिनव जयदेव' तक कहलाकर प्रसिद्ध थे। उन्हें अपनी भाषा-शक्ति का गर्व था। उन्हें इस बात में दृढ़ विश्वास था कि मेरा काव्य केवल अपने भाषा-सौन्दर्य के बल पर भी उच्च स्तर के लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेगा और इस बात को उन्होंने अपनी अपभ्रंश रचना 'कीर्ति-लता' के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया था। उनका कहना था—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ईणिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[1]

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी भाषा दोनों एक समान सुन्दर हैं, जिस कारण दुर्जन लोग इनकी हँसी नहीं उड़ा सकते। वह (चन्द्रमा) शंकर भगवान् के शिर पर शोभित होता है और यह (मेरी भाषा) सदा नागरिकों का मन मोह लिया करती है। विद्यापति न केवल भाषा के सौन्दर्य को ही महत्त्व देते थे, अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे। उक्त पंक्तियों के अनन्तर उन्होंने यह भी बतलाया था कि 'यदि मेरी भाषा सरस होगी तो जो कोई भी उसे समझ सकेगा वही उसकी प्रशंसा करेगा।' तथा, 'जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है।'[2] वास्तव में उस समय किसी काव्य की भाषा के सौन्दर्य और उसकी सरसता के ही कारण उसे, कदाचित् 'गीत' की संज्ञा दी जाती थी और वह 'पद' भी कहा जाता था।

कबीर साहब ने अपनी बानियों की रचना इससे भिन्न धारणा के साथ की। उनका

---

१. 'कीर्तिलता' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ४

२. "जो सुरसइ होसइ मझु भासा, जो बुज्झिह सो करिह पसंसा॥" तथा "महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइअल्ल॥" (की० ल०) पृ० ४

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्धान्त बहुत कुछ उन पंक्तियों से सूचित होता है जो उनके एक पद के अन्तर्गत इस प्रकार आती हैं। वे कहते हैं—

तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥[1]

अर्थात् मेरे इस पद को तुम किसी साधारण गीत के रूप में न देखो। इसमें मेरा अपना 'ब्रह्म-विचार' निहित है। इसमें मैंने अपनी आत्मसाधना का सार भरकर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। उन्होंने 'ब्रह्मविचार' को भी अपनी एक पंक्ति में 'आप-ही-आप विचारिये, तब केता होइ अनन्द रे' कहकर स्पष्ट कर दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वे अपनी इस प्रकार की रचना को अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप में देखते हैं। अपनी बानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कव्व कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते जैसा विद्यापति ने बतलाया है। वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि 'यदि मैं अपनी साखियों की रचना करूँगा तो, सम्भव है कि उससे प्रेरणा पाकर भवसागर में पड़े हुए दुःख सहने वाले लोगों को उसके पार तक पहुँच पाने का एक अवसर मिल जाय।'[2] कबीर साहब की अनेक साखियों में भी उक्त अभिव्यक्तिपरक पंक्तियों के उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जिस कारण 'साषी' शब्द यहाँ पर उनकी 'बानी' की ही भाँति साधारण कविता का भी बोधक हो सकता है। कबीर साहब किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कोरा 'कविकर्म' समझते हैं और उसमें सदा व्यस्त रहने वाले कवियों को 'कविता करते-करते व्यर्थ ही मर जाने वाले"[3] तक कह डालते हैं। कबीर साहब के इन संकेतों द्वारा हमें सन्त-काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य सन्तों ने भी किया।

कबीर साहब का आविर्भाव भक्तिकाल के आरम्भ में ही हुआ था। इनके पीछे सूफी काव्य एवं वैष्णव भक्ति-काव्य के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलने लगे और उनके जायसी, सूर एवं तुलसी जैसे रचयिताओं ने 'महाकवि' की पदवी पाई। इनमें से जायसी (मृ० सं० १५९९) ने प्रबन्ध-काव्य की एक विशिष्ट रचना-पद्धति को अपनाया और अपने 'हिअ भण्डार' की 'पूँजी' को 'सुरस पेम मधु भरी' बोली के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष कर सत्कवियों में गिने जाने की ही उन्होंने अभिलाषा प्रकट की। उन्हें अपने काव्य को शुद्ध और सुव्यवस्थित रूप देने की इतनी चिन्ता थी कि 'खाकसारी' के आवेश में उन्होंने अपने को कवियों का 'पछिलगा' बतलाया और उसके साथ ही 'पंडितों' अर्थात् काव्य-कलाभिज्ञों से अपनी त्रुटियों को सुधारने की प्रार्थना भी की।[4] इसके सिवाय उनकी 'पद्मावत' की कुछ अन्तिम पंक्तियों से यह भी सूचित होता है कि उन्होंने उस प्रेमगाथा को यशोपार्जन के लिए लिखा था। उन्होंने उसमें स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ८९ (पद ५)
२. "हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥" —(क० ग्रं०) पृ० ५६
३. "कवि कवीनैं कविता मूये"—(क० ग्रं०) पृ० १९५, पद ३१७
४. 'जायसी ग्रन्थावली' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग) पृ० १३५

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल॥[1]

अर्थात् मैंने यह कविता अपने मन में यह समझ-बूझकर लिखी कि यह मेरे लिए इस जगत् में एक स्मारक का काम देगी। कौन इस संसार में ऐसा है जिसने यश का विक्रय नहीं किया अथवा जिसने इसे कभी मोल नहीं लिया; मुझे विश्वास है कि जो इस कहानी को पढ़ेगा वह मेरी प्रशंसा में दो शब्द अवश्य कह देगा।

जायसी को जितनी चिन्ता अपनी कविता के शुद्ध एवं निर्दोष सिद्ध करने की थी उससे कम उसके विषय को लोकप्रिय भी बनाने की नहीं थी।

सूरदास (मृ० सं० १६४०) ने बहुत कुछ विद्यापति के अनुकरण में अपना काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित किया। परन्तु उनका उद्देश्य 'सगुण लीलापद' का भी गाना रहा जिस कारण उनकी पंक्तियों में विद्यापति अथवा जयदेव से अधिक भक्तिरस का भी समावेश था और उनकी रचनाएँ भाषा-लालित्य के साथ-साथ भावगाम्भीर्य के लिए भी समादृत हुईं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास (मृ० सं० १६८०) ने भी अपनी कृतियों का निर्माण भक्तिभाव से ही प्रेरित होकर किया और उनमें प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक पदों के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। परन्तु उनके 'रामचरित मानस' की कुछ पंक्तियों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि वे उस रचना की प्रसिद्धि भी चाहते हैं।[2] जायसी की भाँति ही उन्होंने अपने को पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करने वाला कहा है और प्रायः विद्यापति के ढंग से उस अपनी रचना को 'बुधों' द्वारा अपनाये जाने की अभिलाषा प्रकट की है। उनका यह निश्चित सिद्धान्त-सा जान पड़ता है कि

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥[3]

किन्तु वे अपनी कृति के लिए 'साधु समाज भनिति सनमानू' की इच्छा रखते हुए भी विद्यापति की भाँति अपनी भाषा के सौन्दर्य तथा उसकी सरसता की प्रशंसा नहीं करते और न उसका आश्रय लेते ही जान पड़ते हैं। उनका कहना है कि

जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥[4]

और वे 'स्वान्तः सुखाय' के साथ-साथ 'सब कहँ हित' की भी चर्चा करते हैं, गोस्वामी तुलसीदास के कथनों में वस्तुतः सभी उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं, किन्तु उनका 'निज कवित्त केहि लागन नीका' का मोह छूटा हुआ नहीं प्रतीत होता और वे रह-रहकर 'कवित दोष गुन विविध प्रकारा' जैसे विभिन्न प्रसंग भी छेड़ा करते हैं जिस कारण उन्हें भी काव्य कलाभिज्ञों का ही कवि कहना कदाचित अनुचित न होगा।

परन्तु इन महाकवियों के प्रायः समकालीन समझे जाने वाले सन्तों के भी विषय में हम

---

१. वही, पृ० ५५५
२. रामचरित मानस' (बाल कांड) "प्रियलागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग" इत्यादि। (साहित्य कुटीर, प्रयाग) पृ० ८
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० ८

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा नहीं कह सकते। सन्त दादूदयाल (मृ० सं० १६६०) ने अपने सम्बन्ध में एक स्थल पर[1] कहा है कि "अपने प्रेमास्पद से मिलने की मेरी अभिलाषा बहुधा इतनी तीव्र हो जाती है कि मेरा मन उसमें रात-दिन रमने लगता है और मैं अपने विरह की पीर का गान, एक पक्षी की भाँति आप-से-आप करने लग जाता हूँ" और वे इस बात का स्पष्टीकरण वहाँ पर कई अन्य पंक्तियों द्वारा भी करते हैं। उन्हें उस समय न तो कवि जायसी के ढंग से कोई प्रेम कहानी कहने लगने को जी चाहता है, न वे सूर की भाँति 'सगुण लीला पद' गाते हैं और न तुलसी के अनुकरण में अपने 'राम' के चरित का आधार लेकर किसी प्रबन्ध की रचना में ही प्रवृत्त होते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि मेरी पंक्तियों की रचना काव्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार हो रही है कि नहीं अथवा उनकी सराहना 'पण्डित' लोग करेंगे वा नहीं। उन्हें उनके निर्माण के आधार पर यश पाने की भी आशा नहीं और न वे उन्हें गा-गाकर तर जाने का ही मनोरथ रखते हैं। इस प्रकार की बातें उनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं और न इसी कारण वे इनकी ओर ध्यान देना आवश्यक ही समझते हैं। वे केवल कबीर का-सा 'साचा सबद' पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें मिठास भरी जान पड़ती है और जिसे वे सुनकर भी आनन्दित होते हैं।[2]

कबीर साहब और दादूदयाल केवल अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति थे और उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी कहा जा सकता था, किन्तु सन्त सुन्दरदास (मृ० सं० १७४६) जैसे पण्डित और निपुण कवि के विचार भी इससे भिन्न नहीं थे। वे कहते हैं—

नखशिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै।
अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर घटि-बढ़ि होइ डुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात्र घटै बढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औडेर काण से तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
कहि सुन्दर हरि जस जीवहै, हरि जस बिन मृत कहि तथा॥[3]

अर्थात् काव्य सर्वांग सुन्दर होने पर पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है और यदि अंगहीन हो तो उसे सुनते ही कविजन भाग खड़े होते हैं। बात यह है कि अक्षरों की न्यूनाधिकता के कारण वह लुढ़कता हुआ चलता है, मात्रा की घटी-बढ़ी में वह मतवाला-सा लगता है और बेमेल तुकों की कविता ऐंची कानी हो जाती है तथा अर्थहीन होने पर अन्धी-सी लगती है। परन्तु फिर भी ये सभी उसके शारीरिक अथवा बाह्य दोष ही कहे जा सकते हैं। काव्य का प्राण 'हरियश' है और उसके बिना वह शवतुल्य कहा जा सकता है। इसी कारण सन्त सुन्दरदास ने उस काव्य की घोर निन्दा की है जो सर्वांग सुन्दर होने पर भी शृङ्गार जैसे रसों द्वारा प्रभावित होता है। सुन्दरदास के समय तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास का उपर्युक्त भक्तिकाल समाप्त हो चुका था और उसके रीतिकाल का आरम्भ भी हो चुका था। उस समय तक

---

१. "ऐसी प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूँ पंषी पीव सुनावैरे।
त्यूँ मन मेरा रहै निसवासुरि, कोइ पीव कूँ आंणि मिलावैरे॥"
—दादूदयाल की वाणी (अजमेर) पृ० ४१७

२. वही, साखी ३४, पृ० २७६

३. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड) पृ० ६७२

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कवि केशवदास (मृ० सं० १६७४) अपनी 'रसिक प्रिया' लिख चुके थे, नन्ददास (मृ० सं० १६३६) 'रसमंजरी' की रचना कर चुके थे और सुन्दर नाम के एक ग्वालियर निवासी कवि उसी विषय पर अपना 'सुन्दर शृङ्गार' नामक ग्रन्थ भी, सं० १६८८ में, तैयार कर चुके थे। सन्त सुन्दरदास ने दो कुण्डलिया लिखकर इन तीनों रचनाओं के शृङ्गारपूर्ण काव्य की निन्दा खुले शब्दों में की और इन्हें अनिष्टकर बतलाया।[1] इन्होंने उक्त 'हरिजस' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की, किन्तु सन्तों के मन्तव्यानुसार, उसका स्वरूप कदाचित् 'हरिरस' व 'रामरस' से भिन्न नहीं हो सकता। सन्त सुन्दरदास ने, एक निपुण कवि होने के नाते, काव्य के बाह्य रूप की ओर भी पूरा ध्यान दिया और उसके लक्षणादि तक की चर्चा की, किन्तु कविता के विषय अथवा भाव पर अपने समय का उन्होंने कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया और वे सन्त-काव्य ही लिखते रह गए।

: २ :

इस प्रकार सन्त काव्य की जो परम्परा कबीर साहब के समय से चल निकली वह उस स्वतःप्रसूत निर्झर के समान आगे बढ़ी जो किसी मूल स्रोत से आप-से-आप निकलकर सदा अग्रसर होता चला जाता है। उसका मार्ग किसी नहर का-सा बना बनाया नहीं रहा करता और न उसके दाहिने-बायें कोई कृत्रिम करारों की बाधाएँ ही खड़ी रहती हैं। सन्त-काव्य का आरम्भ पहले बानियों अथवा पदों एवं साखियों के ही रूपों में हुआ था, किन्तु वह पीछे अन्य प्रकार से भी छन्दोबद्ध होकर दीख पड़ा। फिर भी उसकी मौलिक विशेषताएँ प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी रह गईं और उनमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं लक्षित हुआ। उसका प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन का ही बना रह गया। उसके कवियों ने लगभग सदा केवल मुक्तकों को ही अपनाना पसन्द किया और अपनी कथन-शैली में उन्होंने पिंगल, भाषा, व्याकरण, रस, अलंकारादि-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा भी की। यह परम्परा अभी आधुनिक युग तक लगभग एक ही ढंग से चली आई है किन्तु शुद्ध भावप्रधान काव्य की उसमें कमी कभी नहीं रही, सन्त कवियों में कबीरसाहब, नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुन्दरदास, धरणीदास, तेगबहादुर, पलटू तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष भी हुए जिनकी रचनाओं में हमें उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण सरलतापूर्वक मिल सकते हैं। इन्होंने अपने-अपने युगानुसार केवल विविध छन्दों तक को ही अपनाया और एकाध ने छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य तथा प्रेमगाथाओं तक के निर्माण की चेष्टा की और कतिपय गीत भी गाये। परन्तु सूफी काव्य, वैष्णवभक्ति-काव्य, शृंगार-काव्य अथवा प्रेमसाधना वाले प्रसिद्ध कवियों के उन्मुक्त हृदयोद्गारों तक का प्रभाव उन्होंने अपने विषय पर नहीं पड़ने दिया और वे सदा अपने ही रंग में रंगे रहकर पद्य-रचना करते चले आए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस परम्परा का एक अस्पष्ट रूप कबीर साहब के पहले से भी विद्यमान था। उनके आविर्भाव काल (विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के सम्भवतः द्वितीय चरण से लेकर उसके कुछ पीछे तक) के पहले से ही नामदेव, त्रिलोचन और साधना जैसे सन्त लगभग इसी प्रकार की रचना करते आ रहे थे और बहुत से विद्वानों का अनुमान है कि स्वयं गीत-गोविन्दकार जयदेव तक ने कुछ ऐसे पद लिखे थे जिनमें से दो 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत हैं,

---

१. सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड) पृ० ४३६-४०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु उनकी रचनाओं में अभी तक वह भावगाम्भीर्य नहीं आ पाया था जो सर्वप्रथम कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ा। वास्तव में सन्तों की 'निर्गुण' साधना का अभी तक वह रूप ही नहीं निखर पाया था जिससे उनके परवर्ती सन्तों ने अपने लिए पीछे प्रेरणा ग्रहण की। नामदेव की रचनाओं पर अभी तक वारकरी सम्प्रदाय भी विट्ठलोपासना का ही पूरा रंग चढ़ा जान पड़ता है। उनमें सन्तों को सहज भाव का कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता और न उनकी गहरी स्वानुभूति ही लक्षित होती है। सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्वरूप हमें नाथपन्थियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं। नाथ-पन्थियों के भी कुछ पहले जैन और बौद्ध सिद्ध हुए थे जिन्होंने दोहों और पदों की रचना की थी। उन्होंने सम्भवतः नाथपन्थियों को ऐसी रचनाओं के आदर्श प्रदान किए थे तथा एक विलक्षण वर्णन-शैली की पद्धति भी चलाई थी। बौद्ध सिद्ध सहजभान के अनुयायी थे और वे पूर्व प्रचलित तन्त्र-साधना से भी भलीभाँति परिचित थे। उनकी कथन-शैली में स्वच्छन्दता थी, स्पष्टवादिता थी और एक ऐसे व्यंग का भी पुट रहा करता था जो श्रोताओं के ऊपर सीधी चोट पहुँचाता था। सन्तों ने सांसारिक विडम्बनाओं के विषय में कथन करते समय उसे पूर्ण रूप से अपनाया। इन्होंने सिद्धों, मुनियों एवं नाथपन्थियों की भाँति सर्वजन सुलभ प्रतीकों का सहारा लेने तथा जनभाषा में ही सब-कुछ कह डालने की प्रणाली को भी अंगीकार किया। सिद्ध लोग कभी-कभी अपनी महत्त्वपूर्ण बातें एक प्रकार की 'संध्या भाषा' की शैली में भी कहा करते थे जो बहुत गूढ़ हुआ करती थी। नाथपन्थियों ने उसका प्रयोग 'उलटी चरचा' के नाम से किया और वही सन्तों के यहाँ 'उलट बासी' वा 'विपर्जय' नाम से प्रसिद्ध हुई।

सिद्धों के उक्त प्रकार के वर्णनों की शैली कम-से-कम उनके मान्य ग्रन्थ 'धम्मपदं' की रचना के ही समय से प्रचलित थी। साम्प्रदायिक भेष-धारण की आलोचना करते समय उस ग्रन्थ में एक स्थल पर ब्राह्मणों के प्रति कहा गया है—

किं ते जटाहि दुम्मेध ! किंते अजिन साटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥[1]

अर्थात् हे दुर्बुद्धि ! जटाओं से तुझे क्या लाभ है और तेरे मृगचर्म धारण करने से भी क्या होता है ? भीतर तो तेरा (रागादि मलों द्वारा) परिपूर्ण बना हुआ है और बाहर तू अपने शरीर का प्रक्षालन किया करता है। सिद्धों तथा जैन मुनियों ने भी ऐसे अवसरों पर इसी प्रकार की वर्णन-शैली का प्रयोग किया है। इसी प्रकार इनकी सन्ध्या भाषा वाली कथन-शैली का एक उदाहरण वहाँ इस प्रकार का है—

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥[2]

अर्थात् माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचर सहित राष्ट्र को मारकर ही ब्राह्मण निष्पाप हो सकता है जिसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तृष्णा, अहंकार, आत्मादि की नित्यता का सिद्धान्त एवं जड़वाद तथा रागयुक्त उपादान पदार्थों को नष्ट करके ही कोई ज्ञानी अपने जीवन को शुद्ध बना सकता है और इस प्रकार उक्त पद्य के रचयिता ने एक महत्त्वपूर्ण बात को भी

१. 'धम्मपदं' (सारनाथ), पृ० १७५
२. वही, पृ० १३१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विपरीत ढंग से कहा है।

संध्या भाषा के ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण हमें वैदिक साहित्य तक में भी मिलते हैं। ऋग्वेद (१.१६४-७) में सूर्य का अपने पैरों (किरणों) द्वारा पृथ्वी के जल का पान करना तथा अपने शिर (आकाश) द्वारा उसे मेघों के रूप में लाकर बरसाना कहा गया है, जिसका वास्तविक अभिप्राय आत्मा का बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का रस लेना तथा उनके शिरोभाग रूप अन्तःकरण के माध्यम से ज्ञान-रस के आनन्द का अनुभव करना समझा जाता है। इसके सिवाय नाथपंथियों तथा सन्तों ने पीछे चलकर जिन शब्दों अथवा शैली में आत्मा का परिचय दिया उसके भी कुछ उदाहरण कई उपनिषदों में मिलते हैं; जैसे—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥—'ईशोपनिषद्'

अर्थात् वह आत्मा चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है और वह सबके भीतर तथा बाहर भी वर्तमान है। उस आत्मा को 'कठोपनिषद्' (२-२०) में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' अर्थात् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं महान्-से-महान् भी कहा गया है तथा 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' अर्थात् बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सब ओर पहुँच जाता है, बतलाया गया है। फिर 'केनोपनिषद्' (११) में भी उसीके विषय में कहते हैं।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदसः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमजानताम् ॥ ११ ॥

अर्थात् जिस किसी को वह अविदित है वही उसके रहस्य को समझता है और जो उसे जान लेता है वह उसे नहीं जान पाता। वह सम्यक् प्रकार से जानने वालों के लिए अविदित है और इस प्रकार न समझने वालों के लिए विदित रहता है। सन्तों की रचनाओं में बहुधा पाये जाने वाले रहस्यवाद की भी झलक इन उपनिषदों के अनेक स्थलों पर मिलती है, जिससे प्रतीत होता है कि उनके काव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन भी कही जा सकती है। उसके लिए काव्य-रचना की शास्त्रीय-पद्धति का अनुसरण करना उतना आवश्यक न था और न, इसी कारण, कबीर साहब आदि ने उसकी कभी चिन्ता ही की।

सन्त-काव्य की परम्परा तत्त्वतः उस काव्य-रचना पद्धति की ओर संकेत करती है जो मानव-समाज की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित है। वह किसी समय आप-से-आप चल पड़ी थी और वह उसी रूप में विकसित भी होती गई। वह उस काल से विद्यमान है जब कि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण-शास्त्र का नियन्त्रण न था और न उसके काव्य-रूप की व्यवस्था के लिए किन्हीं छन्दो-नियमों की ही सृष्टि हो पाई थी। वह स्वभावतः स्वच्छन्द रूप में ही अग्रसर हुई थी जिस कारण उसकी कविता को, काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित करने के लिए, किसी रस या अलंकारादि सम्बन्धी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं थी। व्याकरण, पिंगल एवं काव्य-कला-विषयक अन्य शास्त्रों की रचना क्रमशः पीछे होती गई और उनके नियमों, उपनियमों का अनुसरण करने वाली शास्त्रीय पद्धति की कविता की एक पृथक् परम्परा भी चलने लगी और दोनों समानान्तर चलीं। किन्तु शिष्ट-समाज अथवा सभ्य लोगों द्वारा अधिक अपनाई जाने के कारण दूसरी को क्रमशः अधिक योगदान मिलने लगा और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने के कारण पहली का आदर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सदा साधारण जनसमाज तक ही सीमित रहता आया। पहली की भी शृंखला कभी नहीं टूटी और वह अधिकतर अपने मौखिक रूप में जीवित रही। लिखित रूप में उसका केवल वही अंश पहले संचित किया जा सका जिसमें या तो ज्ञान-विज्ञान की गम्भीरता थी अथवा जिसे सर्वसाधारण के प्रति उपदेश का भी रूप दिया गया। संसार के प्राचीन धार्मिक साहित्य अथवा काव्य मूलतः उक्त पहली परम्परा के उदाहरणों में आते हैं और उन्हें लिखित रूप भी मिल गया है, किन्तु इस प्रकार की रचनाओं का एक बहुत बड़ा अंश अभी तक मौखिक रूप में भी विद्यमान है और उसे बहुधा 'लोकगीत' के नाम से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त प्रथम परम्परा प्रकृत काव्य की परम्परा है जहाँ द्वितीय कल्पनात्मक रचनाओं की प्रणाली है। अतएव, प्रथम में जहाँ हमारी आदिम मनोवृत्तियों का सरल और विशुद्ध रूप दीख पड़ता है वहाँ द्वितीय में बहुत कुछ कृत्रिमता का समावेश रहता है। प्रकृत-काव्य एवं शिष्ट वा कलात्मक-काव्य के बीच इस प्रकार का अन्तर देखकर ही सन्त-काव्य को उक्त पहली कोटि में रखने की प्रवृत्ति होती है; फिर यह काव्य प्रकृत-काव्य के उस वर्ग में आता नहीं जान पड़ता जिसे 'लोकगीत' कहा करते हैं। कुछ आलोचकों की धारणा है कि "हिन्दी में 'निर्गुणधारा' की संज्ञा से अभिहित सम्पूर्ण साहित्य 'लोकगीत' वर्ग का है।"[1] और वे कतिपय कारणों की ओर लक्ष्य करते हुए यहाँ तक कह डालते हैं कि "हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य की 'निर्गुणधारा' 'लोकगीतों का ही विकसित रूप है।"[2] किन्तु ऐसे लेखक लोकगीत की उन विशेषताओं की ओर कदाचित् पूरा ध्यान नहीं देते जो उसे सन्त-काव्य से भिन्न सिद्ध कर देती है। लोकगीत वस्तुतः किसी समाज-विशेष के हृदय और मस्तिष्क की अभिव्यक्ति करता है और उसमें 'काव्य-निर्माता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव' रहा करता है, जहाँ सन्त-काव्य स्वभावतः किसी सन्त की स्वानुभूति का निदर्शन करता है जिस कारण, प्रकृत-काव्य का रूप धारण करता हुआ भी, वह अपनी कर्तृप्रधानता एवं आत्माभिव्यंजना (Subjectivity and Self expression) की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का सर्वथा परित्याग नहीं कर पाता। इसके सिवाय लोकगीत का माध्यम बहुधा अनुश्रुति और मौखिक परम्परा द्वारा उपलब्ध होता है और उसमें अधिकतर प्रेम-परक वा रसात्मक स्थलों का ही समावेश रहा करता है, जहाँ सन्त-काव्य के लिए ये बातें आवश्यक नहीं हैं और इसमें बहुधा धार्मिकता का पुट भी मिल जाया करता है।

सन्त-काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जनसाधारण के अंग बने कवियों (वा क्रान्तदर्शी व्यक्तियों की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। उसमें साधारण-जनसुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जनजीवन को स्पर्श करता है। वह सभी प्रकार से जनकाव्य कहलाने योग्य है जिस कारण उसकी परम्परा की छोरें आमितकाल तक उपलभ्य समझी जा सकती हैं।

---

१. 'निर्गुणधारा' (मानसरोवर प्रकाशन, गया), पृ० २
२. वही, पृ० १०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ श्री कृष्णलाल

भक्ति-काव्य

बाबा वेणीमाधव दास के 'मूल गुसाईं-चरित' में एक प्रसंग है कि एक बार केशवदास गुसाईं जी के दर्शन के लिए आये। शिष्यों द्वारा सूचित किए जाने पर गुसाईं जी ने पूर्ण उदासीनता का भाव प्रदर्शित करते हुए कहा, 'कवि प्राकृत केशव आवन दो' अर्थात् इस प्राकृत कवि से मिलने की मेरी इच्छा तो नहीं है, परन्तु जब वह आ ही गया है तो आने दो। केशवदास ने यह बात सुन ली। वे बड़े मानी थे, बिना मिले ही घर लौट गए और दूसरे ही दिन रामचन्द्रिका समाप्त कर उसको साथ ले उन्होंने गुसाईं जी के दर्शन किये। रामचन्द्रिका को लेकर मिलने का भाव गुसाईं जी पर यह प्रकट करना था कि मैं केवल प्राकृत कवि ही नहीं, आपके समान भक्त कवि भी हूँ। यहाँ इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि 'मूल गुसाईं-चरित' जाली ग्रन्थ है और एक ही रात में रामचन्द्रिका जैसे बृहत् काव्य की रचना असंभव है। यहाँ मेरा प्रयोजन केवल इतना ही है कि मध्ययुग में हिन्दी में दो प्रकार के कवि थे—एक तुलसीदास जैसे भक्त कवि और दूसरे केशवदास जैसे प्राकृत कवि। भक्त कवि प्राकृत कवि को केवल इसी कारण हेय दृष्टि से देखते थे कि वे प्राकृत जनों का गुणगान किया करते थे। स्वयं गुसाईं जी के वचन हैं, "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।"

मध्ययुग में केवल तुलसीदास ही भक्त कवि नहीं थे उनसे पूर्व और पश्चात् भी अनेक भक्त कवि हो गए हैं जिन्होंने प्राकृत जनों का गुणगान करना छोड़ भगवान और उसके भक्तों का गुणगान किया। इन सभी भक्त कवियों का काव्य-विषय एक ही था—भक्ति; परन्तु एक ही विषय होते हुए भी उसमें संकीर्णता और सीमितता का लेश भी नहीं था। रीतिकालीन कवियों का एक ही काव्य-विषय था—शृङ्गार; परन्तु वह कितना सीमित और संकीर्ण था! बात यह थी कि भक्त कवियों की परम्परा सजीव थी, इसी कारण एक ही विषय भक्ति को अपनी रुचि-वैचित्र्य, चिन्तन और भावना के कारण उन्होंने विविध प्रकार से अनुभव कर अगणित काव्य-रूपों और शैलियों में प्रकाशित किया—किसी ने सबदी, साखी, और रमैनी लिखी, किसी ने महाकाव्य और खण्ड काव्य की रचना की, किसी ने पदों में रस की धारा उमड़ाई और किसी ने जनता में प्रचलित होली, चाँचर, आदि की धूम मचा दी।

भक्ति एक भावना है जिसका आश्रय है भक्त का हृदय और आलम्बन है भगवान। इस प्रकार भक्त, भक्ति और भगवान भक्ति के तीन अंग हुए। भक्ति-काव्य की व्यापकता का मुख्य कारण यह था कि भक्त कवियों ने केवल अपनी भक्ति-भावना का ही निरूपण नहीं किया, वरन् उन्होंने भगवान के स्वरूप का, उसके विशिष्ट गुणों का भी निरूपण किया, उसकी दयालुता और भक्तवत्सलता के गीत गाए, भक्तों की महत्ता, कष्ट-सहिष्णुता और अटल निष्ठा की भी प्रशंसा की। इतना ही नहीं, निर्गुणवादी सन्त कवियों ने सत गुरु को भी भक्ति का एक अंग माना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और उसकी भी जी खोलकर प्रशंसा की। बात यह थी कि गुरु ही भक्त का भगवान से साक्षात्कार कराता और बिना ज्ञान और साक्षात्कार के भक्ति-भावना का उदय सम्भव ही नहीं। इसीलिए तो कबीर ने गुरु का महत्त्व गोविन्द के समान अथवा कुछ अधिक ही स्थिर किया[1] और 'भक्तमाल' के यशस्वी रचयिता नाभादास ने 'भक्त, भक्ति भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक' कहकर भक्त, भक्ति, भगवान और गुरु को एक ही विग्रह के चार नाम स्वीकार किए।

परन्तु नाभादास चाहे इन चारों को एक ही समान महत्त्व क्यों न दें, भक्ति के इन चार अंगों में प्रमुखता भक्ति के आलम्बन भगवान की ही मानी गई है। भगवान के रूप और गुण की विशिष्टता पर ही भक्ति-भावना का रूप स्थिर किया जा सकता है। भगवान के रूप और गुण के ही आधार पर भक्ति-काव्य के निर्गुण और सगुण धारा के नाम से दो भेद किये गए। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस निर्गुण धारा को भी दो शाखाओं में विभक्त किया—एक का नाम उन्होंने ज्ञानाश्रयी शाखा रखा और दूसरे का नाम प्रेमाश्रयी शाखा। शुक्ल जी के पश्चात् प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया।

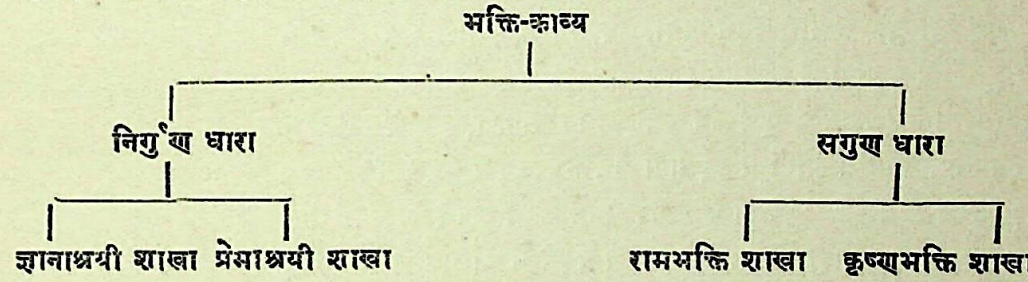

जहाँ तक भक्ति-काव्य की निर्गुण और सगुण धारा तथा सगुण धारा की राम और कृष्ण भक्ति शाखा का सम्बन्ध है, इस वर्गीकरण से किसी का मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत शुक्लजी ने सूफी कवि मंझन, कुतुबन, जायसी आदि की प्रेमाख्यानक रचनाओं को स्थान दिया है जिसमें ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण स्वीकार किया गया है। अस्तु, इन रचनाओं को निर्गुण काव्य-धारा की प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत रखना ठीक ही है, परन्तु आपत्ति तो यह है कि सूफियों का यह निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन नहीं, प्रेम की पीर का आलंबन है और सूर, तुलसी, कबीर की भक्ति तथा सूफियों का इश्क-मजाजी और प्रेम की पीर एक ही वस्तु नहीं है। स्वयं शुक्लजी ने भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'[2] जहाँ आश्रय में पूज्य बुद्धि का अभाव है, जहाँ दैन्य भाव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है, वहाँ भक्ति-भावना का उदय नहीं हो सकता। प्रेमाख्यानक काव्यों को भक्ति-काव्य के अंतर्गत रखना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य अध्यात्मपरक हैं; उनमें अभिव्यंजित प्रेम की पीर का भक्तों के विरह-निवेदन से अधिक अन्तर नहीं है; उनकी रचना भी सन्तों की बानी के समकालीन ही हुई। संभवतः इसी कारण शुक्लजी ने इस प्रेमाख्यानक काव्यों को भक्ति-काव्य में स्थान दिया; परन्तु सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टियों से शुक्लजी की प्रेमाश्रयी शाखा को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

१. "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय,
बलिहारी गुरु आपुनो जिन गोविन्द दियो बताय।"
२. चिन्तामणि, भाग १, प्रथम संस्करण, १९४०, पृष्ठ ४४ (श्रद्धा-भक्ति)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रेमाश्रयी शाखा का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन नहीं है, परन्तु ज्ञानाश्रयी शाखा का निर्गुण ब्रह्म भक्ति-भावना का आलंबन अवश्य है। अस्तु, इस शाखा की रचनाओं को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्थान मिलना उचित ही है। परन्तु इसका नामकरण जो ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में हुआ है वह कुछ अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। ज्ञान के साथ जो गुरुता और गम्भीरता का भाव है, सन्त कवियों की रचना में से उस गुरुता और गम्भीरता को स्वयं शुक्लजी भी स्वीकार नहीं करते। अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में 'लोक धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत शुक्लजी ने सन्त कवियों को ही लक्ष्य करके लिखा है, "शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू-तू मैं-मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नये पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वर-वाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आंशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था, पर लोक को व्यवस्थित करने वाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के साथ-साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में कुछ नये पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, उधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख लोग बढ़ रहे थे जो किसी 'सतगुरु के प्रसाद' मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः सतगुरु भी उन्हीं लोगों में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग झाँझ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे।"[1]

सन्त कवियों में "भक्ति का यह विकृत रूप"[2] किसी भी प्रकार ज्ञान की गुरुता से सम-न्वित नहीं माना जा सकता। इन सन्तों की रचनाओं में ज्ञान नहीं, ज्ञानाभास मात्र है। अस्तु, इस शाखा की रचनाओं को ज्ञानाश्रयी न कहकर 'ज्ञानाभासाश्रयी' कहना ही अधिक समीचीन होता। फिर भी शुक्लजी ने जो इस शाखा का ज्ञानाश्रयी नाम दिया उसका कारण उसमें रहस्य और गुह्य की भावना का संयोग है। जहाँ कहीं भी रहस्य और गुह्य की भावना की प्रतीति होती है साधारण जनता वहाँ उसे ज्ञान की संज्ञा से अभिहित करती है, परन्तु सन्त-काव्य के लिए ज्ञाना-श्रयी नाम बहुत कुछ उपहासास्पद ही जान पड़ता है।

भक्ति-काव्य में भगवान् निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में निरूपित किये गए हैं। कबीर के भगवान् निर्गुण हैं। यद्यपि उन्होंने अपने भगवान् का नाम राम ही माना है परन्तु उनके राम दाशरथी राम नहीं हैं। गोसाईं तुलसीदास ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्हें सगुण रूप भगवान् राम के प्रति ही विशेष पक्षपात है। मानस के उपक्रम में उन्होंने जो राम के निर्गुण और सगुण रूपों को लेकर भारद्वाज तथा पार्वत जी से शंका कराई है, उसके मूल में कबीर की वही उक्ति जान पड़ती है जिसमें उन्होंने अपने राम को केवल निर्गुण ही माना है। शंकरजी ने पार्वतीजी के प्रश्न पर जो रोष प्रकट किया है कि

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, संशोधित संस्करण, सं० २००३ (का० ना० प्र० स० काशी) पृ० १९-२०

२. वही, पृष्ठ २०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच॥

वह वास्तव में कबीर पर रोष प्रकट किया गया था, जिन्होंने घोषित किया था कि "राम नाम का मरम है आना;" और उत्तर-काण्ड में जो काकभुशुण्डि ने गरुड़ से कहा था कि

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

यह भी सन्त कवियों के निर्गुण ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा हुआ जान पड़ता है। सन्तों ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को साधारण जनता के लिए सुलभ बना दिया था। परन्तु ब्रह्म के सगुण रूप को कोई नहीं मानता था। दाशरथी राम के रूप में भगवान् की लीलाओं को सुनकर कबीर जैसे सन्तों को जो भ्रम हो गया है उसी भ्रम के निवारणार्थ गुसाईं जी ने रामचरितमानस के रूप में सगुण ब्रह्म का निरूपण किया।

स्थूल रूप से भक्ति-काव्य में भगवान् के निर्गुण और सगुण दो ही रूप हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रायः सभी भक्तों के भगवान् एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य हैं। दादू के मुसलमान शिष्य रज्जब ने ठीक ही लिखा है कि ईश्वर की कोई भी दो सृष्टियाँ समान नहीं हैं। निर्गुण धारा के सभी सन्त कवियों के ईश्वर यद्यपि निर्गुण और निराकार हैं परन्तु उनमें भी कुछ-न-कुछ भेद अवश्य है। अस्तु, कबीर अपने हरि का निरूपण करते हुए कहते हैं—

सन्तो धोखा कासूँ कहिए,
गुण मैं निर्गुण, निर्गुण मैं गुण बाट छाँड़ि क्यों बहिए।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति सरूप वरण नहिं जाकै, घटि-घटि रह्यो समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरुअन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाँडि जे कथिए, कहे कबीर हरि सोई।

इससे अलग दादू अपने मोहन-माली की चर्चा करते हैं :

मोहन-माली सहजि समाना। कोइ जानै साधु सुजाना।
काया बाड़ी माहै माली तहाँ रास बनाया।
सेवक सो स्वामी खेलन को आप दया करि आया।
बाहरि भीतर सर्व निरन्तर सब में रहा समाइ।
परगट गुप्त गुप्त पुनि परगट अविगत लखा न जाइ।
तामाली की अकथ कहानी कहत कही नहि आपइ।
अगम अगोचर करइ अनन्दा, दादू ये जस गावइ।

सगुण भक्तों के भगवान् राम और कृष्ण भी सबके एक समान नहीं हैं। यद्यपि सभी सगुण भक्तों के भगवान् समान रूप से पतित-पावन, करुणानिधान, दीनबन्धु और लीला-प्रिय हैं, फिर भी अपनी भावना, संस्कार और रुचि के अनुरूप सभी भक्त कवियों ने अपने-अपने भगवान् में कुछ विशेष गुणों का आरोप किया है। तुलसीदास के भगवान् राम शीलनिधान हैं; कवि उनके शील गुण पर मुग्ध होकर गा उठता है—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुनि सीतापति शील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खंहर खाउ।
× × ×
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसीदास अनयास राम पद पैहै प्रेम पलाउ।

दूसरी ओर सूर के भगवान् कृष्ण लीला-प्रिय हैं। उनकी सुमधुर लीलाओं पर मुग्ध हो सूर के कंठ से फूट निकलता है :

हरि अपने आगे कछु गावत,
तनक-तनक चरनन सो नाचत मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उँचाइ काजरी धौरी गइयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द बुलावत कबहुँक घर में आवत।
माखन तनक आपने करलै तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लवनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनन्द बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित ये नित देखत मन भावत॥

'सुदामा-चरित' के कवि नरोत्तमदास के भगवान् कृष्ण करुणानिधान हैं—

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोए।
पानी परात को छूयो नहीं पग नैनन के जल से पग धोए।

दूसरी ओर मीरा के गिरधरनागर माधुरी मूरत वाले हैं—

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल,
साँवली सूरत माधुरी मूरत नैना बने बिसाल।

और हित हरिवंश के रसिक-शिरोमणि राधावल्लभ रास-प्रिय हैं—

आजु बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन बेनु बजायो।
कल कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचुपायो।
युवतिन मण्डल मध्य स्यामघन सारंग राग जमायो।
× × ×
बरखत कुसुम मुदित नभ नायक इन्द्र निसान बजायो।
हित हरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायो।

भक्ति-काव्य में भगवान् का निरूपण प्रमुख है, परन्तु कुछ कवियों ने भगवान् को छोड़ भक्तों का ही गुण-गान किया। नाभादास का 'भक्तमाल' भक्तों के यश-गान का अपूर्व काव्य है। नरोत्तमदास ने 'सुदामा-चरित' और 'ध्रुव-चरित' लिखकर दो श्रेष्ठ भक्तों का अपूर्व चित्रण किया। सूर और तुलसी ने यद्यपि अपने भगवान् की लीलाओं का ही विशद वर्णन किया है परन्तु भक्तों का गुण-गान भी उनके काव्यों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। सूर के भ्रमर-गीत में भक्त गोपियों की अटल निष्ठा का अपूर्व चित्रण है। तुलसी का रामचरितमानस तो राम-भक्तों की एक बृहत् प्रदर्शिनी है। वहाँ भगवान् शंकर, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, सुग्रीव,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जामवन्त, निषादराज गुह, शबरी, अत्रि, अगस्त, नारद, काकभुशुण्डि और जटायु आदि देव-दानव, ऋषि-मुनि, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री, वानर-भालू, गिद्ध-काग आदि अनेक भक्तों का मुग्ध भाव से गुण-गान किया गया है। सच तो यह है कि जैसे बिना दर्शकों के रंगमंच की कोई सार्थकता नहीं वैसे ही भक्तों के बिना भगवान् की भी कोई सार्थकता नहीं, क्योंकि भक्त-कवियों के भगवान् भक्तों को सुख देने के लिए ही अवतार धारण करते हैं, राक्षसों का विनाश करने के लिए नहीं।[1]

भगवान् और भक्त के अतिरिक्त भक्ति-भावना का निरूपण भी भक्ति-काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। भक्त कवियों ने अपने भगवान् से अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थिर किये और उन्हीं सम्बन्धों के अनुरूप अपनी भावना की अभिव्यक्ति की। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—

मोहि तोहि नातो अनेक मानिए जो भावै।

भक्त और भगवान् में अनेक नाते हो सकते हैं और भक्त को जो नाता प्रिय हुआ वही नाता उसने अपने भगवान् से स्थिर किया। अस्तु, कबीर ने अपने निर्गुण राम से वही सम्बन्ध स्थापित किया जो दुलहिन का अपने भरतार से है। वह कहते हैं—

राम मेरे पीउ मैं तो राम की बहुरिया।

मीरा भी अपने गिरधरनागर से कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती हैं—

मैं तो गिरधर रा घर जाऊँ,
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।

तुलसीदास यों तो अपने राम से अनेक नाते होने की बात करते हैं परन्तु उनका निश्चित मत है कि "सेवक-सेव्य भाव बिनु भवन तरिय उरगारि," अर्थात् भगवान् से सेवक-सेव्य-भाव अथवा दास्य भाव की भक्ति ही उनकी दृष्टि में एकमात्र भक्ति है। सूरदास भी प्रारम्भ में इसी दास्य-भाव की भक्ति करते थे और बड़े तपाक के साथ कहते थे कि

प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौ तौ जनमत ही कौ॥
अधिक अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उघारे, मिटै सूल क्यों जी कौ?
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि में, मोहूँ तैं को नीकौ!

परन्तु बल्लभाचार्य ने एक दिन जब उन्हें सुझाया कि 'जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है'[2] तब से उन्होंने घिघियाना छोड़कर सख्य-भाव की भक्ति प्रारम्भ कर दी। तुलसीदास ने जहाँ भगवान् शंकर से लेकर गिद्ध और भालू तक सबसे दास्य-भाव की भक्ति कराई है, वहाँ सूर के सभी भक्त—अर्जुन, भीष्म पितामह, गोपियाँ और उद्धव—सख्य-भाव की ही भक्ति करते हैं। सूर के भीष्म पितामह की भक्ति-भावना का एक उद्गार सुनिए—

वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र चरन की धावनि नहिं बिसरत वह बानि॥

---

१. देखिए, मानस-दर्शन, पृ० २४, २५
२. अष्टछाप, प्रथम संस्करण, सूरदास का प्रसंग, पृ० ४

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच रज की लपहानि।
मानों सिंह सैल तें निकस्यो महामत्त गज जानि॥
जिन गोपाल मेरो प्रन राख्यो मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आनि॥

इसी प्रकार अन्य भक्त कवियों ने भी अपनी-अपनी रुचि और संस्कार के अनुरूप शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल और मधुर भाव की भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की। भक्ति-भाव की अभिव्यंजना में मीरा के पद बेजोड़ हैं। अपने प्रियतम गिरधरनागर के प्रति मीरा का विरह-निवेदन भक्ति-काव्य की अपूर्व निधि है। उनके आडम्बरविहीन पदों में जितनी हार्दिकता भरी है उतनी और कहीं नहीं मिल सकती। उदाहरणस्वरूप एक पद देखिए—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परे, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन बिरह की, वह पीर न जानी हो॥
ज्यों चातक घन को रटे, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा ब्याकुल बिरहनी, सुध बुध बिसरानी हो॥

भक्त, भक्ति, भगवन्त के अतिरिक्त सन्त कवियों ने गुरु को गोविन्द के समान ही महत्त्व देकर उनका विशद गुण-गान किया है। कबीर का तो कहना है कि—

यह तन विष की बेल री गुरु अमृत की खान।
सीस दिए जो गुरु मिले तौ भी सस्ता जान॥

सन्त कवियों ने सतगुरु-महिमा के अतिरिक्त चेतावनी के पद भी पर्याप्त संख्या में कहे हैं। अज्ञानी जीव जो माया में फँसा हुआ भय त्रण तापं सहन कर रहा है उसे सम्बोधित कर भक्त कवियों ने अनेक उद्‌बोधन-गीत गाये और चेतावनियाँ दीं। गोस्वामी तुलसीदास अपने मन से कहते हैं—

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरि चरन सरोज सुधा रस, रवि-कर-जल लय लायो॥
त्रिजग, देव, नर, असुर अपर जग जोनि सकल श्रमि आयो।
गृह, बनिता, सुत, बन्धु भये बहु मातु पिता जिन जायो॥
ताते निरय-निकाय निरन्तर सोइ इन्ह तोहि सिखायो।
तुअ हित होइ कटै भव-बन्धन सो मगु तोहि न बतायो॥
अजहुँ विषम कहँ जतन करत जद्यपि बहुबिधि उहकायो॥

इसी प्रकार सूरदास की भी एक चेतावनी सुनिए—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तनु तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
या देही को गरव न करिए स्यार, काग, गिध खैहैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीननि मैं तन क्रमि कै, विष्ठा कै ह्वै खाक उड़ैहैं ॥
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा कहँ रंग रूप दिखैहैं।
जिन लोगनि सों नेह करत हौ, तेई देखि घिनैहैं ॥

इसी प्रकार मीरा की भी एक चेतावनी इस प्रकार है—

भज मन चरन कमल अबिनासी।
जेताइ दीसे धरनि गगन बिच, तेताइ सब उठि जासी।
कहा भयो तीरथ ब्रत कीन्हे, कहा लिए करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड़याँ उठि जासी ॥

चेतावनी के अतिरिक्त भक्ति-काव्य में नीति और उपदेश की भी बातें अनेक ढंग से कही गई हैं। निर्गुण धारा के सन्त-कवियों ने विशेष रूप से चेतावनी, उपदेश और गुरु की महिमा का बखान अधिक किया है; इसके विपरीत सगुण धारा के भक्त कवियों ने भगवान् की लीला, भक्तों के गुण-गान और अपनी भक्ति-भावना के निरूपण की ओर विशेष रुचि दिखाई है।

: २ :

भक्ति का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ इसके सम्बन्ध में कबीर के अनुयायियों में यह दोहा प्रसिद्ध है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नव खंड ॥

परन्तु पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में जो श्रीमद्भागवत-माहात्म्य है उसमें भक्ति के मुख से कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, कहीं-कहीं महाराष्ट्र में विहार करती हुई गुजरात में आकर जीर्ण हो गई; अन्त में वृन्दावन में मुझे नया रूप प्राप्त हुआ और यहाँ आकर युवावस्था में मनोरम रूप प्राप्त करने में समर्थ हुई। इन दोनों में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई और क्रमशः उत्तर भारत में आई। परन्तु दक्षिण भारत में भक्ति का जो स्वरूप है, कबीर आदि सन्तों के भक्ति-काव्य में उसका स्वरूप बहुत बदल गया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि दक्षिण भारत की इस भक्ति-परम्परा को अपनी जप-यात्रा में अनेक मतवादों से संघर्ष लेना पड़ा था। गिरि-शृङ्ग से उतरने वाली स्रोतस्विनी अपने प्रवाह-पथ में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भूखंडों के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती है—पर्वतों से उतरते समय निर्झर के रूप में गिरि-प्रान्त को मुखरित करती है, घने जंगलों में आँखमिचौनी खेलती हुई वक्राकार मार्ग से चक्कर काटती चलती है और समतल भूमि-खण्ड में आकर प्रशस्त मार्ग पर धीरे-धीरे बहती हुई कमल, सेवार तथा छोटी-बड़ी लहरियों में शोभा पाती है, उसी प्रकार दक्षिण की भक्ति-धारा ने भी उत्तर भारत में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किये। ज्ञान के उच्च गिरि-शृङ्ग के सम्पर्क में आकर इस भक्ति-धारा ने सगुण लीला-रूपी निर्झर का रूप धारण किया जिसमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम और नट-नागर भगवान् कृष्ण की सगुण लीला के सरस मधुर गान ने समस्त मध्य-देश को मुखरित कर दिया। एक ओर गुसाईं तुलसीदास के भगवान् राम अपने विविध चरित्रों से दासों को आनन्द दे रहे हैं दूसरी ओर सूर के गोपालकृष्ण बाल-लीला, माखन-चोरी-लीला, गोचरण-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लीला और रास-लीला द्वारा भक्तों को मुग्ध करते रहते हैं। भक्ति की एक प्रमुख धारा सगुण भगवान् की लीलाओं का गान है जिसमें राम और कृष्ण दो प्रमुख शाखाएँ हैं।

सिद्धों और नाथों के तन्त्र तथा हठयोग के गहन कानन में चक्कर काटती हुई यह भक्ति-धारा कबीर आदि सन्तों की बानी में एक दूसरे रूप में प्रकट हुई और मिथिला तथा बंगाल के शाक्त सम्प्रदाय तथा तन्त्र-सम्मत पंच मकारों के स्थूल किन्तु गुह्य-साधना के सम्पर्क में आकर यह भक्ति-धारा समतल भूखण्ड में बहने वाली शैवाल-रंजिता मन्दगामिनी सरिता की भाँति जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के पदों में कितनी सरस और मधुर हो उठी है। एक ही भक्ति-धारा के ये तीन स्वरूप कितने विलग और विचित्र हैं! गुसाईं तुलसीदास के राम की ललित-नर-लीला वस्तुतः मुग्ध होने की वस्तु है। तुलसीदास ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप उपस्थित किया। बात यह थी कि वे ज्ञानी और पण्डित थे, आगम, निगम, पुराण तथा षट्शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, इसीलिए उनके विनय के पदों तथा सगुण-लीला के कथा-प्रसंगों में मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान रखा गया है। सूर की कृष्णलीला में यद्यपि मर्यादा की काफी उपेक्षा की गई है फिर भी उसमें भगवान् की नर-लीला का बड़ा ही मधुर रूप उपस्थित किया गया है। रसखान जैसे मुसलमान कवियों ने भी भगवान कृष्ण की नर-लीला का बड़ा ही सुन्दर रूप उपस्थित किया। इसके विपरीत कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न लीला का भाव है न विनय का। वहाँ तो भगवान् को एक प्रेमी के रूप में उपस्थित किया गया है जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। परन्तु कबीर और विद्यापति की मनोवृत्ति में महान अन्तर दिखलाई पड़ता है।

सूर और तुलसी की सगुण लीला सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का संघर्ष प्रमुख रूप में दिखलाई पड़ता है। तुलसीदास ने तो मानस में ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क दिए हैं। कभी तो वे ज्ञान को पुरुष और भक्ति को नारी बताकर यह तर्क उपस्थित करते हैं कि ज्ञान-पुरुष माया-रूपी नर्तकी नारी को देखकर विचलित हो जाता है परन्तु 'मोह न नारि नारि के रूपा' के सिद्धान्तानुसार भक्ति नारी-माया को देखकर मोहित नहीं होती और भक्त को भगवान् तक पहुँचा देती है; इसलिए भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। कभी वे कहते हैं कि ज्ञान का पन्थ कृपाण की धारा के समान अत्यन्त कठिन है। उस मार्ग में बाधाएँ और कठिनाइयाँ अनेक हैं, परन्तु भक्ति के रास्ते में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं है, इसलिए सरल होने के कारण भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। कभी वे रूपक रूप में सती को ज्ञान का प्रतीक और शिवजी को भक्ति-भावना का प्रतीक बनाकर सती की दुर्दशा और अन्त में योग-अग्नि में उसका भस्म होना दिखाकर ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय प्रदर्शित करते हैं। सूर की कविता में भी ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भ्रमर गीत के रूप में उपस्थित किया गया है, जहाँ ज्ञान के प्रतीक उद्धव भक्ति की प्रतीक गोपियों को समझाने गोकुल जाते हैं। वहाँ भी ज्ञान के प्रतीक उद्धव को गोपियों के सामने पराजय स्वीकार करना पड़ता है। मथुरा लौटकर वे भगवान् कृष्ण के सामने स्वीकार करते हैं—

हौं इक बात कहत निरगुन की वाही में अटकाऊँ।
वै उमड़ी वारिधि तरंग लौं जाकी थाह न पाऊँ॥

ज्ञान और भक्ति का यही संघर्ष मीरा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उस जनश्रुति में भी पाया जाता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसमें कहा जाता है कि जीव गोस्वामी ने जब मीरा से केवल इसीलिए मिलना अस्वीकार किया था कि वे स्त्री हैं, तब मीरा ने उत्तर दिया था कि 'मैं तो समझती थी कि ब्रज में भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं, सभी स्त्रियाँ हैं, परन्तु आज जान पड़ा कि जीव गोस्वामी को भी पुरुष होने का दावा है। भक्ति-भावना से सिक्त इस करारे उत्तर से जीव-गोस्वामी परास्त हो मीरा के सामने नतमस्तक हुए। यहाँ भी भक्ति की प्रतीक मीरा के सामने ज्ञानी जीव गोस्वामी को नतमस्तक होना पड़ा।

सच बात तो यह है कि सगुण लीला की भक्ति-भावना ही ज्ञानाश्रित रही है। शास्त्र पुराण के ज्ञान की चर्चा इसी धारा में प्राप्त होती है। अस्तु, भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा इसी को मानना चाहिए। शुक्लजी ने जिसे 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का भक्ति-काव्य माना है, वह तो वास्तव में गोरखनाथ के हठयोग के संयोग से उत्पन्न भक्ति-भावना का काव्य था। कबीर के पदों में योगाश्रित भक्ति की रहस्यात्मक अनुभूति मिलती है। कबीर ने बड़े ही निर्भीक भाव से योग और बाह्य आचारों की निन्दा कर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। शाक्त-धर्म और तन्त्रों के संघर्ष से उत्पन्न भक्ति की तीसरी धारा का स्वरूप गौड़ीय भक्ति-काव्य में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। हिन्दी-क्षेत्र में भक्ति का यह स्वरूप बहुत कम दिखाई पड़ता है फिर भी राधा वल्लभी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश के रासलीला के पदों, और मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति में उसका कुछ आभास मिल सकता है।

: ३ :

भक्ति धर्म के इतिहास में प्रारम्भ ही से भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग मिलते हैं—एक वर्ग गायकों का रहा है और दूसरा आचार्यों का। आलवार गायक थे जिनके अन्तःप्रदेश से भक्ति-भावना का उल्लास, प्रेम और भक्ति का अदम्य आवेश रस की धारा के समान उमड़ पड़ा था, जिसमें सहजोद्रेक था, भाव-प्रवणता थी और था एक तीव्र आवेग जो सभी बाधाओं को ठेलता हुआ आगे बढ़ता ही गया। दूसरी ओर नाथ मुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क आदि आचार्य थे जिनके दार्शनिक चिन्तन में कोई आवेग नहीं था; था केवल तर्क, विवाद और मस्तिष्क का मन्थन और आलोड़न। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है कि आलवारों का गान पहाड़ी नदी की भाँति सहज और स्वच्छन्द था और आचार्यों के सिद्धान्त इंजीनियरों की बनाई प्रशस्त राजमार्ग की भाँति एक नहर थी जो उस नैसर्गिक धारा से निकाल-कर जनता के उपयोग के लिए बनाई गई थी। एक ओर ज्ञान-विज्ञान की बाधाओं को ठेलकर हृदय का उल्लास निर्झरिणी की भाँति उमड़ पड़ा था, तो दूसरी ओर यह हृदय का उल्लास ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं में बुरी तरह जकड़ दिया गया था। उत्तर भारत में जिन कवियों और आचार्यों ने भक्ति की धारा प्रवाहित की उनमें भी स्पष्ट दो वर्ग थे। स्वामी रामानन्द और महा-प्रभु वल्लभाचार्य तो विशुद्ध आचार्य थे जिन्होंने वाद और तर्क से, उपदेश और निदेश से, शिक्षा और दीक्षा से लोगों को भक्ति का उपदेश दिया; परन्तु चैतन्य महाप्रभु कवि-गायक श्रेणी के आचार्य थे जिन्होंने अपनी भक्ति-भावना के आवेश से जनता को आकृष्ट किया। इसी प्रकार भक्त कवियों में भी स्पष्ट दो वर्ग थे। एक वर्ग कवि-गायकों का था, दूसरा कवि-आचार्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर और मीरा अपनी भक्ति-भावना के उल्लास में रस की धारा उमड़ाने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाले विशुद्ध कवि-गायक थे और गुसाईं तुलसीदास, कबीर, नानक और नन्ददास भक्ति-धर्म का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि-आचार्य थे।

भक्त कवियों में प्रमुख कवि-आचार्य गुसाईं तुलसीदास थे जिन्होंने 'कलि-कुटिल-जीव-निस्तार-हित' एक ऐसे मानस की व्यवस्था की जिसके एक अक्षर के उच्चारण-मात्र से सभी पाप धुल जाते थे। यह सच है कि रामचरितमानस के आरम्भ में गुसाईं जी ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति", परन्तु बाल काण्ड में राम-कथा प्रारम्भ करने के पहले जो अति विस्तृत भूमिका दी गई है उसे पढ़कर कोई भी नहीं कह सकता कि यह कथा केवल 'स्वान्तः सुखाय' लिखी गई थी। सच तो यह है कि जनता को राम-भक्ति के प्रति आकृष्ट करने का जितना सफल प्रयास रामचरितमानस में मिलता है उतना शायद ही और कहीं मिल सके। कथा और प्रसंग से, तर्क और बुद्धि से, प्रतीति और प्रमाण से, उपदेश और निदेश से, जितनी प्रकार भी सम्भव था, गुसाईं तुलसीदास ने राम-भक्ति को सबसे अधिक सहज, सुलभ और फलदायक प्रमाणित किया। भक्ति-भावना का मार्ग प्रशस्त करने वाले वे एक अत्यन्त सफल कवि-आचार्य थे। ऊपर जिस रूपक का निर्देश किया गया है, उसकी भाषा में कहा जा सकता है कि जनता के लिए राम-भक्ति को सुलभ बनाने वाले मानस के रचयिता तुलसीदास एक सफल इंजीनियर थे। राम की भक्ति-धारा को उन्होंने जिस कौशल से अपने रामचरितमानस में बाँधा है, उसका पूरा विवरण मानस-रूपक में मिलता है। कवि के शब्दों में ही देखिए—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरखहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥
सो जल सुकृत सालि हित होइ। राम भगत जन जीवन सोइ॥
मेधा महि गत सो जल पावन। सकिल श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥
सुठि सुन्दर सम्बाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥
सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥

इस प्रकार मनोहर घाट से बँधे सप्त-सोपान-संयुक्त, निर्मल-जल, कमल, मुक्ता, मीन और मराल से सुशोभित एक परम पवित्र निष्कलुष मानस की व्यवस्था करना तुलसीदास जैसे कवि-इंजीनियर का ही कौशल है। इसी कारण तुलसीदास भक्ति-युग के सबसे बड़े कवि-आचार्य हैं।

तुलसीदास जैसे भक्ति की सगुण धारा के सबसे बड़े कवि-आचार्य थे उसी प्रकार कबीर निर्गुण धारा के सबसे बड़े कवि-आचार्य थे। उन्होंने निर्गुण धारा की भक्ति के सिद्धान्त पक्ष को बड़े ही स्पष्ट रूप में उपस्थित किया और अन्य सम्प्रदाय के आचार-विचारों का खण्डन किया। नन्ददास ने 'भ्रमरगीत' और 'रास पंचाध्यायी' के अतिरिक्त जो अन्य अनेक ग्रन्थ रचे हैं उनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त-स्थापन का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। अस्तु, तुलसीदास, कबीर और नन्ददास आचार्य कोटि के भक्त-कवि हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इनके विपरीत सूरदास, मीरा, विद्यापति और हित हरिवंश आदि कवि-गायक हैं। हित हरिवंश ने राधावल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की थी, परन्तु वे आचार्य न होकर शुद्ध कवि-गायक थे। सूरदास के विरुद्ध तो पुष्टि-मार्गियों की यही शिकायत थी कि "सूरदास जी ने भगवत जस वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य जी महाप्रभून को जस वर्णन ना कीयौ", सूरदास भक्ति-भावना के उमंग में नट-नागर श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं के विमुग्ध गायक थे। उन्होंने पुष्टि मार्गी सिद्धान्तों की व्याख्या अथवा प्रचार का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। मीरा और विद्यापति तो किसी सम्प्रदाय-विशेष के भक्त थे ही नहीं, उन्होंने केवल अपने उमंग में भक्ति की धारा उमड़ाई।

भक्ति-धर्म के प्रचार की दृष्टि से तुलसीदास और कबीर जैसे कवि-आचार्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। उन्होंने लाखों-करोड़ों जनता का हित किया; दलितों और पीड़ितों को ठीक रास्ते पर लाकर मुक्ति का मार्ग दिखाया; परन्तु शुद्ध साहित्य की दृष्टि से सूर, मीरा और हित हरिवंश के काव्य को कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त होना चाहिए था। सूर को प्राचीन परम्परा से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना गया है। 'सूर सूर तुलसी ससी' तो प्रसिद्ध ही है, एक-दूसरे अज्ञात कवि ने लिखा है—

जो कुछ रहा सो अँधरा कहिगा कठवउ कहेसि अनूठी।
बची-खुची सब जुलहा कहिगा, और कहैं सब झूठी॥

नाभादास की उक्ति भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं "सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।" परन्तु आधुनिक काल के इतिहास-लेखकों और आलोचकों ने भक्ति-काव्य के अध्ययन में तुलसी और कबीर को जितना महत्त्व दिया उतना सूर और मीरा को नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। आज हम बुद्धिवादी अधिक हो गए हैं। आचार्यों के वाद और तर्क, डाँट और फटकार, खण्डन और मण्डन को जितना महत्त्व हम देने लगे हैं। उतना महत्त्व शुद्ध और सरस कविता को नहीं। भक्ति-काव्य का अध्ययन शुद्ध काव्य और साहित्य की दृष्टि से करना आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० भगीरथ मिश्र

रीति-काव्य

रीति-काव्य के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ आते हैं—एक सलक्षण और दूसरे अलक्षण। सलक्षण ग्रन्थ वे हैं जिनमें काव्य-रचना किसी काव्यांग-लक्षण के उदाहरण-रूप हुई है, साथ ही लक्षण भी दिया हुआ है, और अलक्षण-ग्रन्थ वे हैं जिनमें लक्षण नहीं, वरन् लक्षणों का ध्यान रखकर उनके उदाहरण रूप काव्य की रचना हुई है। इस प्रकार 'रीति-काव्य', वास्तव में 'लक्षण-काव्य' के ही पर्याय रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैसे तो रीति का तात्पर्य काव्य की शैली होता है। संस्कृत में काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों व्यास, भामह आदि ने काव्य के जो लक्षण[1] दिये, परवर्ती आचार्यों ने काव्य का शरीर-मात्र कहकर[2] उनका खण्डन किया है और इस शरीर की आत्मा खोजने का प्रयत्न किया जिसके परिणाम स्वरूप काव्यात्मा को स्पष्ट करने वाले पाँच सम्प्रदाय मिलते हैं—(१) अलंकार, (२) रीति, (३) वक्रोक्ति, (४) ध्वनि, (५) रस, जिन्होंने इन्हीं को काव्य के प्रमुख तत्व या आत्मा के रूप में ग्रहण[3] किया है। इन्हीं में से एक सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय है जो 'रीति', मार्ग या शैली को काव्य की आत्मा मानता है। इसके अनुसार 'रीति', विशिष्ट, विलक्षण या चमत्कारिक पद-रचना[4] है। परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रीति शब्द का व्यवहार करते हैं तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद रचना से नहीं होता, वरन् उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों से होता है। अतएव हिन्दी में रीति'काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। इसी अर्थ में ही हम हिन्दी रीति-काव्य का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

उपर्युक्त रीति-काव्य के दो प्रकारों में से, यों तो अलक्षण ग्रन्थों के भीतर समस्त काव्य-ग्रंथ रखे जा सकते हैं, परन्तु इससे तात्पर्य मुख्यतः उन्हीं ग्रन्थों से होता है जिसमें लक्षणों का

---

१. (१) संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली—अग्नि पुराण
(२) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह

२. शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली—दण्डी
(२) शब्दार्थौ शरीरं तावद् काव्यम्—आनन्दवर्धन

३. विशिष्टा पद रचना रीतिः—वामन

४. (१) काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—वामन
(२) रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन
(३) वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्—कुन्तल
(४) काव्यस्यात्मा ध्वनिः—आनन्दवर्धन
(५) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—विश्वनाथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निश्चित ध्यान, व्यवस्था अथवा क्रम रखकर उसके आधार पर काव्य लिखा जाता है। इस प्रकार के सलक्षण और अलक्षण रीति-ग्रन्थों की जिस युग में विशेष भरमार रही हिन्दी-काव्य के इतिहासकारों ने उसे रीति-काल कहा है।

हिन्दी-साहित्य को रीति-काव्य लिखने की परम्परा संस्कृत-साहित्य से प्राप्त हुई। संस्कृत में काव्य-सिद्धान्त और कवि-शिक्षा से सम्बन्धित कुछ लक्षण और सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना के प्रसंग से लक्षणों के साथ-साथ अथवा उनके आधार पर काव्य लिखने की बड़ी वेगवती प्रवृत्ति जागृत हुई और मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य-रचना के समय न केवल उसकी परम्परा ही बन चुकी थी, वरन् उसका विकास चल रहा था और पण्डितराज जगन्नाथ (१८वीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारम्भ) तक वह पूर्णता को प्राप्त करता रहा। हिन्दी-रीति-काव्य संस्कृत की इसी परम्परा के प्रभावस्वरूप है।

रीति-काव्य की परम्परा ने शुद्ध काव्य के लिए एक निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध काव्यों में या तो इतिहास-ग्रन्थ थे और वे राजा-महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण-गाथा से ओत-प्रोत थे अथवा वे धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ थे जिनमें धर्मगाथा कही गई हैं। ऐसे ही मुक्तक काव्य नीति उपदेश भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। इस रीति-परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि-प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ; क्योंकि उन्हें चारण कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति-पद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने और रिझाने का अवसर मिला। इस प्रकार रीति-परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्त्व है।

हिन्दी-रीति-काव्य के अन्तर्गत संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के समान काव्य के समस्त सिद्धान्तों का डटकर विवेचन और विकास नहीं हुआ। जहाँ संस्कृत में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि सभी को लेकर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गए, वहाँ हिन्दी का रीति-काव्य, अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण लिखने में सीमित रहा। रीति और वक्रोक्ति को लेकर बहुत कम लिखा गया। 'वक्रोक्ति' एक विशेष अलंकार के रूप में ही सीमित रही और रीति का संकेत-मात्र ही हुआ। हाँ, गुणों की कुछ चर्चा अवश्य रही।

इतना ही नहीं विवेचन की गम्भीरता और पूर्णता भी संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की-सी हिन्दी रीति-ग्रन्थों में नहीं मिलती। हिन्दी के ग्रन्थों में समस्त रसों और रसांगों की विस्तृत व्याख्या करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। ध्वनि को लेकर चलनेवाले ग्रन्थों में सामान्यतः शब्द-शक्ति से प्रारम्भ करके रस और अलंकारों के वर्णन पर समाप्त कर देने वाले ही कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। अलंकारों के लक्षण लिखकर उनके उदाहरण लिखने वाले ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में हैं;[1] परन्तु परस्पर भेदों का विवेचन और अलंकारत्व पर सैद्धान्तिक प्रकाश अथवा अलंकारों के वर्गीकरण के आधारों की गवेषणापूर्ण व्याख्या का सर्वथा अभाव है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी-लक्षणकारों या रीति-ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्य-शास्त्रीय समस्या

१. विभिन्न विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों की विस्तृत सूचना के लिए देखिए 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ४१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था; वरन्, कवियों और साहित्य-रसिकों को काव्य-शास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी-आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह एक तथ्य है कि हिन्दी-काव्य-शास्त्र या रीति-ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य के क्षेत्र में और हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गए ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है।

रीति-काव्य की प्रेरणा, हिन्दी को अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य से नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं। दो-एक ग्रन्थ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के बीच में नायिका-भेद, शृंगार आदि का विवेचन है। परन्तु जिस प्रकार भक्ति और वीरगाथा-वर्णन की धाराएँ पहले से आई हैं वैसी धारा अपभ्रंश से रीति-काव्य की नहीं आई। उसकी प्रेरणा देने वाला संस्कृत-साहित्य ही है।

भक्ति-युग के उत्तर-काल में रीति-काव्य की परम्परा पड़ी। इस परम्परा को डालने का श्रेय प्रमुखतया आचार्य केशवदास को है। यद्यपि रीति-काव्य के रूप में केशव के समय या इनके पहले भी कुछ छुटपुट प्रयत्न हुए हैं; परन्तु उन प्रयत्नों में रीति-काव्य को प्रेरणा देने की सामर्थ्य नहीं थी। रीतिकालीन ग्रन्थों में जिन प्रेरणा देने वाली अथवा अध्ययन की आधारभूत रचनाओं का बराबर उल्लेख आता है वे केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' हैं। केशव के पूर्ववर्ती रीति-काव्य के अन्तर्गत कुछ नामों का उल्लेख किया जाता है। इसमें साहित्य के इतिहासकारों ने 'शिवसिंह सरोज'[1] के अनुसार पुण्ड या पुष्य कवि की कृति का सर्वप्रथम ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया है जिसमें सं० ७७० वि० के लगभग भाषा में संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रंथ का अनुवाद किया गया था; परन्तु यह ग्रन्थ किसी को अभी तक देखने को नहीं मिल सका। यदि वास्तव में उस समय का कोई ऐसा ग्रन्थ मिल सके, तो वह न केवल रीति-काव्य का, वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ ठहरता है।

रीति-काव्य के रूप में लिखा हुआ सबसे पहला ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' है। यह रस-रीति का ग्रन्थ कृपाराम के द्वारा सं० १५९८ वि० में लिखा गया था।[2] इसका आधार नाट्य-शास्त्र और भानुदत्त का 'रस-मंजरी' है। मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' (सं० १६१६), रहीम का 'बरवैनायिका भेद' तथा नंददास-कृत 'रस-मंजरी' ग्रन्थ भी उल्लेख की अपेक्षा रखते हैं। ये तीनों नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं। रहीम का नायिका-भेद अवधी बरवै छन्दों में लिखा ललित काव्य-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण नहीं, केवल नायिका-भेद के उदाहरण ही हैं।[3] अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास

---

१. 'शिवसिंह सरोज' (भूमिका) पृ० ६

२. सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुक्ल तृतीयासु।
हित तरंगिणी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥ २ हि० त०

३. रहीम के बरवै नायिका-भेद में वस्तु और भाव का सुन्दर संकेतात्मक चित्रण हुआ है। ये बरवै बड़े ही सरस और प्रेरक हैं—दो-एक उदाहरण देखिए—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की 'रस-मंजरी', भानुदत्त की 'रस-मंजरी' का पूर्ण आधार ग्रहण किये हुए है। इस ग्रन्थ में लक्षण ही अधिक हैं जो भानुदत्त के लक्षणों के अनुवाद ही जान पड़ते हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार नरहरि के साथ अकबर के दरबार में जाने वाले करनेस बन्दीजन के करणाभरत, श्रुतिभूषण और भूपभूषण ग्रन्थ और भी अलंकार पर लिखे गए ग्रंथ भी केशव के पूर्व ही लिखे गए। परन्तु, इनमें से कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला ग्रन्थ नहीं। अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीति-काव्य की परम्परा डालने वाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही हैं।

केशवदास ने भाषा-कवियों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया जो शुद्ध साहित्यिक रचना का मार्ग था। इसीलिए केशव का महत्त्व—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान—उनके परवर्ती लेखकों ने बराबर स्वीकार किया है। इस नवीन मार्ग को खोलते हुए भी उन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उन्होंने वीरगाथा वर्णन-परम्परा को अपनाते हुए, 'वीरसिंहदेव चरित' तथा 'जहाँगीर जस चंद्रिका' लिखी। ज्ञान और भक्ति-काव्य की परम्परा में 'विज्ञान गीता' और 'रामचन्द्रिका' का प्रणयन किया। साथ ही 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' को लिखकर उन्होंने रीति-काव्य की परिपाटी भी डाली। केशव ने अपनी उपर्युक्त दोनों ही पुस्तकों में काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के विविध रूप, काव्य-दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि विषयों पर अपने निजी ढंग से प्रकाश डाला है। इनमें यद्यपि विषयों का पूर्ण ज्ञान और प्रामाणिक विवेचन निहित नहीं है परन्तु इनके आधार पर लिखा गया उदाहरणरूप काव्य अवश्य महत्त्व का है। केशव चमत्कार को महत्त्व देने वाले कवि थे और अलंकार-सिद्धान्त पर आस्था रखते थे। उनकी रचनाओं का आधार भामह, दण्डी, उद्भट, अलंकार शेखर, काव्य-कल्पलता आदि हैं! उनकी दृष्टि से प्रकृति की सामान्य वस्तुओं में उतना सौन्दर्य नहीं होता, जितना कि कवि-कल्पना-युक्त उनके वर्णन में आ जाता है। जैसा कि उनके कथन—"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमलचन्द, ताते मुखमुखै सखी कमलौ न चंद री।" कमल और चन्द का काल्पनिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष सौन्दर्य से बढ़कर है जब कि सीता के मुख का प्रत्यक्ष सौन्दर्य ही मनोहारी है। उदाहरण-स्वरूप आई केशव की रचना में चमत्कार और रसिकता दोनों ही भरी पड़ी हैं।

सलक्षण रीति-ग्रंथकारों में केशव के बाद चिन्तामणि का नाम आता है। चिन्तामणि का प्रमुख महत्त्व अत्यन्त सरल रूप में साहित्य-शास्त्र की बातों को समझाना है और अपने इस प्रयत्न में वे पूर्ण सफल हुए हैं। मैं समझता हूँ कि लक्षणकारों में से चिन्तामणि से बढ़कर सुगम स्पष्ट और स्मरणीय लक्षण देने वाला और दूसरा आचार्य नहीं। यह बात उनके केवल दो-तीन लक्षणों से स्पष्ट हो जायगी। शब्द, अर्थ और काव्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने अपने 'कवि-कुल-कल्प-तरु' में लिखा है—

'जो सुनि परै सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ।' तथा 'बतकहाउ रसभेजु है काव्य

उमड़ि उमड़ि घन घुमड़े दिसि विदिसान।
सावन दिन मनभावन करत पयान॥
भोरहि होत कोहलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहावै सोय।" आदि ये ऐसी परिभाषाएँ हैं जो सभी की समझ में आ सकती हैं और स्मरण भी रहती हैं। चिन्तामणि की पद्धति का प्रभाव आगे के कवियों और आचार्यों पर भी पड़ा। इनके ग्रन्थों में उपलब्ध 'पिंगल', 'रस-मंजरी', 'शृङ्गार-मंजरी' तथा 'कवि-कुल-कल्प तरु ही हैं। चिन्तामणि के साथ ही भूषण और मतिराम का भी नाम आता है। चिन्तामणि से बहुत अधिक (अर्थात् पारिवारिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों से) प्रभाव ग्रहण करते हुए भी इन दोनों भाइयों का अपना अलग व्यक्तित्व, महत्त्व और क्षेत्र है। 'नवरत्नकार' ने इन दोनों ही भाइयों को हिंदी-नवरत्नों के भीतर रखा है। साथ-ही-साथ इनकी प्रतिभा की विशेषता यह है कि इनमें से एक ने शृंगार और दूसरे ने वीर-रस का क्षेत्र चुना और अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट कोटि की सफलता प्राप्त की। इन दोनों ही का रीति-परम्परा का आधार ग्रहण करना अत्यन्त गौण था। दोनों ही में विलक्षण कवित्व-प्रतिभा थी। एक का ओजपूर्ण शब्दावली पर असाधारण अधिकार था तो दूसरा कोमल मधुर पदों के द्वारा सूक्ष्म सुकुमार भावों और मनोदशाओं को सजीव कर देने की अद्भुत सामर्थ्य रखता था। दोनों ही के भीतर प्रबन्ध-काव्य की प्रतिभा थी; परन्तु इन्होंने युग की परम्परा और प्रवाहवश रीति-काव्य-रचना को अंगीकार किया और इस परिपाटी को आगे बढ़ाया। रीति-पद्धति को लेकर वीर-काव्य लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नहीं, जबकि भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।

सलक्षण ग्रन्थकारों में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम, रीति-काल (१७०० से १९०० सं०) की प्रथम अर्द्ध शताब्दी में उल्लेखनीय हैं। कुलपति का 'रस-रहस्य' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया ध्वनि-सिद्धान्त का ग्रंथ है। रीति-कालीन आचार्यों में इनका स्थान ऊँचा है। इनके ग्रंथों में आचार्यत्व की विशेषता अधिक है। सुखदेव मिश्र ने छन्दों और रसों को लेकर लिखा है। इनके ग्रन्थों में आये उदाहरण काव्य की दृष्टि से भी रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। देव में आचार्यत्व और कवित्व दोनों की ही उत्कृष्टता विद्यमान है। इनके प्रसिद्ध ७२ और देखे सुने २५ ग्रंथों में कुछ को छोड़कर सभी रीति-काव्य के अन्तर्गत हैं। देव के ग्रंथों में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता देखने को मिलती है। देव ने अपने लक्षणों में काव्य के प्रति अपनी धारणा स्पष्ट की है, इनमें कुलपति या सुखदेव की-सी पठित विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं, परन्तु स्पष्ट दृष्टिकोण और मौलिकता के दर्शन होते हैं।

देव के उदाहरणों में उत्कृष्ट और रमणीय काव्य मिलता है। इनके ग्रन्थों को देखने पर उनमें आये हुए लक्षण, हमारा ध्यान नहीं खींचते, पर उनके उदाहरण हमारी कल्पना में घर कर लेते और अनुभूति पर मार्मिक प्रभाव डालते हैं। किसी वस्तु, दृश्य अथवा भाव को सजीव और साकार बना देना देव के वर्णन की विशेषता है। धीरे-धीरे स्वाभाविक रीति से पड़ता हुआ अन्तःकरण पर, इनके वर्णनों का, ऐसा प्रभाव जम जाता है कि फिर धोये भी नहीं धुलता है। देव को अपने शब्दों की आत्मा की पूरी परख है। शब्दों को एक निजी व्यक्तित्व प्रदान करने, एक चमक और दीप्ति भर देने की अद्भुत कुशलता देव को प्राप्त है। शब्द और वर्गों के भार को तोलकर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की विशेषता है। रीति-काव्य के अन्तर्गत देव का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'देव' का एक अनतिप्रसिद्ध छन्द देखिये जिसमें रूपाश्रित, अनन्य प्रेम का चित्रण है—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
पूरि रही री वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी जो जाइ मिली जल-बूँद ज्यों कूप मैं।
कोर करो नहिं पाइये केहूँ समाइ गईं ब्रजराज के रूप मैं॥

यह तो सामान्य प्रेम की अनन्यता का वर्णन है। एक देव द्वारा 'शृङ्गार' में आये समस्त संचारियों का एक साथ विदग्ध वर्णन देखिये—

वैरागिनि किधौं अनुरागिनि सुहागिनि तू देव बड़भागिनि लजति औ लरति क्यों?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अनखाति, बिलखाति, दुखमानति डरति क्यों?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति, बिचकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साहचरज सराहौं आहचरजि मरति क्यों?

पूर्ण पांडित्य और व्यापक विदग्धता को लेकर मर्मस्पर्शी, ललित काव्य लिखने वाले बिहारी भी इसी बीच के कवि हैं। बिहारी की 'सतसई' रीति-काव्य का अलक्षण-ग्रंथ है, परन्तु इसके भीतर लगभग सभी रीति-पद्धतियों के सुघर उदाहरण मिल सकते हैं। अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, शृङ्गार, नीति, हास्य आदि सब-कुछ 'गागर सागरवत्' इनकी सतसई में भरा हुआ है। बिहारी की रचना में आभामय शब्दों का जितना ऊँचा अनुपात प्राप्त होता है उतना ऊँचा संसार के बहुत कम कवियों में देखने को मिलता है। बिहारी बड़े सजग और सूक्ष्म कलाकार हैं। उनकी पैनी दृष्टि, भाव और सौन्दर्य के न जाने कौन-कौन रूप ढूँढ़ लाती है। दस-बारह शब्दों के दोहे छन्द में पूरे दृश्य को अपनी पूर्ण सुघराई और क्रिया-कलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी का जादू है। साथ ही इसमें विशेषता यह है इस प्रकार स्पष्ट किये हुए दृश्य के पीछे दूर तक न जाने कितना व्यापक और भीतरी रूप व्यंग्य से संकेतित होता जाता है कि जिसे देखकर महान् कलाकार की हृदय से सराहना करनी पड़ती है। दो-ही-एक उदाहरण इस अति सुविख्यात कवि के पर्याप्त हैं—

अंग-अंग नग जगमगत दीप सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥
मुँह धोवति, एँड़ी घसति हँसति अनगवति तीर।
धसति न इन्दीवर नयनि कालिन्दी के नीर॥
मानहुँ वा तन अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को किये, भूषन पायन्दाज॥

आदि अनेक दोहों में बिहारी की वाग्विदग्धता और जीवन का अनुभव प्रकट होता है। ऐसे कवि किसी भी युग के गौरव हैं।

'देव' के उपरान्त और आधुनिक युग के पूर्व लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ इस बीच के लक्षणकारों में सुविख्यात कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, दूलह, वैरीसाल, पद्माकर, बेनी, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि हैं। इनके द्वारा रीति-काव्य की परम्परा को एक निश्चित और दृढ़ स्वरूप प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य कवियों ने भी इसी रीति-पद्धति का अवलम्बन करके अपनी काव्य-रचना इस युग में की। वास्तव में, वह समय ही ऐसा था कि लक्षण या रीति-ग्रन्थों की न केवल राज-दरबारों में, वरन्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जनता के बीच भी प्रशंसा होती थी। इस समय के कवि के लिए यह आवश्यक हो गया था कि जो-कुछ भी लिखे वह रीति-परम्परा में ढालकर लिखे; तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। उसे रस, अलंकार, नायिका-भेद ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में राज-दरबारों में उदाहरणों पर विवाद होते थे—इस बात पर कि उसके भीतर कौनसा अलंकार है? कौनसी शब्द-शक्ति है? कौनसा रस या भाव है? उनमें वर्णित नायिका, किस भेद के अन्तर्गत है? काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं में काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका-भेद को ही स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियों में भी यही प्रवृत्ति थी। अतः यह युग रीति-पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे सम्बन्धित असंख्य ग्रन्थ लिखे गए।

कालिदास का लिखा नायिका-भेद पर 'वधू विनोद' ग्रन्थ अवश्य है; परन्तु इनकी ख्याति विशेष रूप से 'कालिदास हजारा' के कारण है जिसमें कहते हैं कि एक सहस्र कवियों की रचनाओं का चुना हुआ संग्रह था। इस प्रकार की संग्रह-पद्धति सत्साहित्य के प्रचार और साहित्यिक अभिरुचि को जगाने के लिए उस समय आवश्यक थी, जब कि छापेखाने आदि नहीं थे। आज भी उसकी आवश्यकता कम नहीं हुई। सत्काव्य-संग्रहों का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने-अपने ढंग के ऐसे और भी संग्रह हैं जैसे—'हाफिजल्ला खाँ का हजारा', 'सुन्दरीतिलक', 'काव्य प्रभाकर', 'मिश्रबन्धु विनोद', 'कविता कौमुदी' आदि। इनमें कालिदास का हजारा सबसे प्राचीन है।

सूरति मिश्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-सिद्धान्त' है जिसमें काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन अधिकारपूर्ण ढंग से किया गया है। इस काल के अति प्रसिद्ध आचार्यों में श्रीपति और भिखारीदास हैं। श्रीपति का प्रमुख प्राप्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्य सरोज' है, जिसकी रचना सं० १७७७ वि० में हुई थी। इसमें आचार्य श्रीपति ने काव्य-स्वरूप, काव्य-कारण, प्रयोजन, काव्य-कोटि, काव्य-दोष, काव्य-गुण, अलंकार आदि पर विचार किया है। श्रीपति पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों-जैसे ब्रह्म, केशव आदि की रचनाओं के दोषों का निर्देशन किया है। श्रीपति का बहुत-कुछ प्रभाव आचार्य भिखारीदास पर भी है।

सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि' भी बड़ा बृहत्काय ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है जैसे काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष, छन्द आदि। सोमनाथ ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायियों में से हैं और व्यंग्य ही कविता का प्राण मानते हैं। इनकी विवेचना का आधार 'ध्वन्यालोक' और 'काव्य-प्रकाश' विशेष रूप से हैं। सोमनाथ ने पद्य-लक्षणों के साथ-साथ गद्य-व्याख्या भी की। इसके साथ-ही-साथ इनमें कवित्व शक्ति भी अच्छी है। विप्रलम्भ शृङ्गार की उद्वेग दशा का सोमनाथ-कृत एक उदाहरण देखिए—

सीतल बयारि तरवारि सी वहत तैसी लहकनि बेलनि की सूल सरसन लागी।
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि दामिनी की दमक दवा सी दरसन लागी॥
'सोमनाथ' याहू पै करत कमनैती काम कौन विधि जीवोरी विपति बरसन लागी।
जेई पिय संग बरसत ही पियूषधार तेई अब घटा विषधार बरसन लागी॥

सोमनाथ वास्तव में श्रीपति और भिखारीदास के ही समकक्ष ठहरते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भिखारीदास रीति-काल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों का अध्ययन करके काव्य-शास्त्र पर एक बड़ा ही पूर्ण ग्रन्थ लिखा। ये उन आचार्यों में हैं जो कवि प्रतिभा के साथ-साथ उससे अधिक काव्य-शास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे। इसके ग्रन्थों—'काव्य निर्णय', 'शृङ्गार निर्णय', 'छन्दोर्णव विमल' और 'रस सारांश' में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है यह साहित्य-शास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें दास जी का विवेचन बड़ा ही सुलझा हुआ और वैज्ञानिक है। 'काव्य प्रकाश', 'चन्द्रालोक' तथा विभिन्न हिन्दी-ग्रन्थों के आधार पर यह लिखा गया है। काव्य-प्रयोजन, काव्यांग, पमार्थ-निर्णय, अलंकार मूल, ध्वनि आदि का बड़ा ही गम्भीर विवेचन है। कतिपय नवीन प्रसंग जैसे अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य-भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से इनकी विद्वत्ता के साथ-साथ काव्य-शास्त्र के प्रति गहरी रुचि अभिव्यक्त होती है। इसके साथ-ही-साथ 'दास' जी की कवित्व प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी और इनके उदाहरण उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और भाव की दृढ़ता दोनों इस छन्द में देखिए—

पूरब ते पुनि पच्छिम ओर कियो सुर आपगा-धारन चाहैं।
तूलन तोपिकै ह्वै मतिमन्द हुतासन दण्ड प्रहारन चाहैं॥
'दास जू' देखि कलानिधि कालिमा छूरिन-छीलि कै डारन चाहैं।
नीति सुनाय कै मो मन तें नन्दलाल को नेह निवारन चाहैं॥

'दूलह' कवि ने अलंकार पर 'कवि-कुल कण्ठाभरण' ग्रन्थ लिखा है, जो 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर बड़ा ही प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण एक साथ चलते हैं। ऐसा ही वैरीसाल का 'भाषाभरण' भी अलंकारों पर लिखा गया सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें संक्षिप्त शैली में लक्षण और स्मरणीय उदाहरण देकर अलंकारों का विवेचन किया गया है।

रीति-काल के अन्तिम अति प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के वास्तव में अन्तिम प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इन्होंने भी अपने प्रमुख ग्रन्थ 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी पद्धति पर लिखे। पद्माकर की कविता में रसिकता, सौन्दर्य, प्रेम और विलास का खुलकर चित्रण हुआ है। वर्ण-साम्य और शब्द-मैत्री इनकी कल्पना और भाव को उकसाते हुए जान पड़ते हैं। पद्माकर के मनोरम चित्र बड़े लुभावने हैं। सुन्दर भाव-विलास, हाव-विभाव का मूर्ति-विधान तन्मय कर देने वाला है। हाँ कभी-कभी वर्ण-मैत्री, ध्वनि-साम्य या अलंकार के पीछे पड़ने से अवश्य इनकी शब्द-योजना विचित्र हो गई है; पर इनकी प्रतिभा पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। एक विभावों के बीच विकसित, सात्विक अनुभाव पूर्ण प्रेम का वर्णन देखिये—

चारिहूँ ओर ते पौन झकोर झकोरन घोर घटा घहरानी।
ऐसी समै पदमाकर कान्ह के आवत पीत पटी फहरानी॥
गुञ्ज की माल गुपाल गरे नलबाल बिलोकि थकी थहरानी।
नीरज ते कढ़ि नीर नदी छबि छीजति छीरधि पै छहरानी॥

बेनी का 'नव रस तरंग' भी काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है, परन्तु लक्षण महत्त्व के नहीं। ये लक्षण, बरवै या दोहों में हैं, उदाहरण कवित्त-सवैयों में। इनके भी उदाहरण बड़े सरस और मधुर हैं। रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्द घन' काव्य-शास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें अलंकार, गुण-दोष, नायक-नायिका आदि का विशद वर्णन है। उदाहरण सुन्दर [illegible]

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में हैं। इसमें कहीं-कहीं प्रश्नोत्तरों द्वारा भी अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है। इसमें 'नाट्य-शास्त्र', 'साहित्य-दर्पण', 'काव्य-प्रकाश' आदि का आधार लिया गया है। प्रतापसाहि का प्रमुख ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमदी' है जिसमें एक साथ नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार चलते हैं। इस प्रकार यह बड़ा गूढ़ ग्रन्थ है। इन्होंने भी अपनी संक्षिप्त गद्य-व्याख्या कहीं-कहीं प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ भी रीति-पद्धति पर हैं।

लक्षणकारों के अतिरिक्त इस परम्परा पर स्पष्टतया लिखने वाले कवि अधिक नहीं। परन्तु कुछ स्वच्छन्द रीति से लिखने वाले प्रेमी कवि हैं जिन पर इसका कुछ प्रभाव अवश्य कहा जा सकता है। इनमें घनानन्द, बोधा, सीतल, ठाकुर प्रमुख हैं। इनमें हमें स्वच्छन्द प्रेमोक्तियाँ मिलती हैं, जो पद्माकर, मतिराम, देव आदि के छन्दों के समान ही हैं। घनानन्द तो स्पष्टतया ब्रजभाषा के कुशल और विदग्ध कवि हैं। ठाकुर और बोधा के भी छन्द सुन्दर हैं।

रीति-काव्य की परम्परा रीति-काल ही में समाप्त नहीं हो जाती, वरन् आधुनिक समय तक बराबर चलती आ रही है। सं० १९०० वि० के पश्चात् भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें से अधिकांश में गद्य में व्याख्या और लक्षण मिलते हैं और उदाहरण पद्य में। साथ-ही-साथ बहुतों में उदाहरण स्वयं लक्षणकार के बनाये नहीं, वरन् पूर्ववर्ती अथवा समकालीन कवियों की रचनाओं से चुने हुए उदाहरण हैं। आधुनिक युग में विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न अधिक हुआ है और वह प्रयत्न आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। आधुनिक युग के रीति-ग्रन्थों में प्रमुख—रामदास का 'कवि-कल्पद्रुम', ग्वाल के ग्रन्थ ('अलंकार', 'भ्रम भंजन', 'कविदर्पण', 'रसरंग'), लछिराम के ग्रन्थ, मुरारिदान का 'जसवन्त भूषण', प्रतापनारायण का 'रस कुसुमाकर', भानु का 'काव्य प्रभाकर', पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', रसाल का 'अलंकार पीयूष', केडिया का 'भारती भूषण', हरिऔध का 'रस कलश', बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्य सागर', मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात', आदि ग्रन्थ हैं। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त ये पूर्ववर्ती[1] रीति-काव्य के समान ही हैं।

यह संक्षेप में हिन्दी रीति-काव्य का परिचय है। इसकी विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं—(१) इस काव्य में लक्षणों के आधारभूत ग्रन्थ प्रायः संस्कृत काव्य-शास्त्र अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ हैं। (२) इनमें काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न है। (३) इनमें सैद्धान्तिक रूप से काव्य-शास्त्र का कोई विकास नहीं हो पाया (४) इनमें सर्वकालीन अथवा युगविशेष की काव्य-सम्बन्धी समस्याओं का भी पूर्ण विवेचन और समाधान नहीं मिलता। (५) इस पद्धति पर आये काव्य के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण-खण्ड अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए हैं। (६) इस काव्य में आये उदाहरणों में अधिकांश बड़े ही सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। (७) उनमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता; उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। अतएव हम कह सकते हैं कि यह रीति-काव्य शास्त्र की दृष्टि से चाहे उतना महत्त्वपूर्ण न हो, परन्तु कवित्व की दृष्टि से बड़ा ही मनोरम है और हिन्दी-काव्य की इस परम्परा को साहित्य के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', अध्याय ४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकाशचन्द्र गुप्त

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग सन् १८५० ई० से आरम्भ होता है। सन् १८५० भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म-काल है, और आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रथम चरण भारतेन्दु के जीवन से सम्बन्धित है। एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ के लिए हम कोई तिथि निर्दिष्ट करते हैं, किन्तु दो युगों की सीमाएँ इतनी स्पष्टता से निर्धारित करना बहुत कठिन है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का पहला प्रयास भारतेन्दु के व्यक्तित्व से ओत-प्रोत है, और इतिहासकार उसे भारतेन्दु युग कहते हैं। इस काल-रेखा को हम पीछे भी ले जा सकते हैं, जब पाश्चात्य संस्कृति और आदर्शों के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नव-जागरण का स्पन्दन शुरू हुआ। यह सच है कि इस नवोत्थान का सूर्य पहले पूर्वीय भारत के आकाश में उदय हुआ और क्रमशः उसका आलोक हिन्दी प्रदेश में पहुँचा, किन्तु फिर भी आधुनिक युग का इतिहास भारत की सांस्कृतिक नवचेतना से हम शुरू कर सकते हैं। आधुनिक युग की सीमाओं को हम आगे भी ला सकते हैं, जब भारतेन्दु ने साहित्य-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम महापुरुष थे, अतएव उनके जन्म-काल से नवयुग का सम्बन्ध स्थापित करना स्वाभाविक है। यह हमें अवश्य याद रखना है कि आधुनिक युग हमें मध्य युग की सीमाओं से अलग करता है, और इन दो युगों के बीच रेखा खींचना किसी घटना-विशेष का एक हद तक आरोप ही होगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का श्रीगणेश हम सन् १८५७ से भी कर सकते हैं। सन् '५७ विप्लव के बाद ब्रिटिश शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह से जम गई और विरोधी शक्तियाँ एक दीर्घकाल के लिए हतप्रभ हो गईं। आधुनिक युग भारतीय साहित्य में एक नवीन दृष्टि-कोण और नये सिद्धान्तों का युग है; एक नवीन समाज-व्यवस्था का वह प्रतिनिधि और परिचायक है। सन् '५७ के विप्लव के बाद उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ, जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थीं। एक दृष्टि से तो हम देखते हैं कि सन् '५७ के बाद विदेशी शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह जम गई, किन्तु हमको यह भी स्मरण रखना है कि इस संघर्ष के फलस्वरूप मध्यकालीन यानी सामन्ती समाज-व्यवस्था और संस्कृति इस देश से लुप्त होने लगी, और एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली की नींव यहाँ जमी। सामन्ती युग का अन्त और आधुनिक युग का आरम्भ इतिहास की एक आवश्यकता थी; हमारे देश के दुर्भाग्य से इस परिवर्तन का माध्यम एक विदेशी शासक-वर्ग बना। यदि अंग्रेज भारत में न आये होते, तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति हमारे देश में अवश्य होती। कुछ विद्वानों का मत है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रान्ति में विलम्ब ही हुआ। हमारे देश में व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि काफी गति से फैल रहे थे, किन्तु अंग्रेजों ने उनका नाश करके हमारी सामाजिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और आर्थिक उन्नति में एक भारी व्यवधान पैदा कर दिया। यह मत रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' (India Today) में प्रगट किया है।

मध्य युग का अन्त सामन्ती समाज-व्यवस्था और संस्कृति के अन्त की सूचना है। आधुनिक युग व्यावसायिक क्रान्ति और सांस्कृतिक नवजागरण का युग है। इतिहास का यह क्रम विश्व-व्यापी है, यद्यपि देश और काल के अनुरूप नवीन कला और संस्कृति की रूप-रेखा में बहुत अन्तर रहता है। यूरोपीय साहित्य का आधुनिक युग चौदहवीं शताब्दी में शुरू होता है; इस नवजागरण का तत्कालिक कारण ग्रीक संस्कृति से सम्पर्क था, जिसके फलस्वरूप सदियों से सोई यूरोप की आत्मा जाग उठी। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत की साहित्यिक आत्मा जो बँधे सामाजिक जीवन के कारण दीर्घ काल से सो रही थी, नई संस्कृति के संस्पर्श से जाग उठी। किन्तु समाज अथवा साहित्य में उथल-पुथल मूलतः आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप होती है; इसकी कुछ विवेचना यहाँ संक्षेप में होनी चाहिए।

आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नये साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नये परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नये उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए। उनका लक्ष्य भारत का आर्थिक शोषण ही था, किन्तु रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किये, भारत में एक नये जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। भारत के विशाल साम्राज्य को चलाने के लिए उन्हें सस्ते क्लर्कों की भी आवश्यकता थी; इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का भारत में सूत्रपात किया। यह अस्त्र जो उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलटकर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत की उर्वरा भूमि पर एक नये विचार-दर्शन के बीज छिटका दिये, जो आगे चलकर बड़े वृक्ष बने और फले-फूले।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को हम भक्ति-काल और रीति-काल के साहित्य में विभाजित करते हैं। भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य है और रीति-काल का साहित्य दरबारों का साहित्य है। तुलसी, सूर, कबीर, दादू, नानक, रैदास की वाणी भारतीय जन-कवियों की वाणी है; इस वाणी को भारत की असंख्य, अशिक्षित जनता समझती थी। इसके विपरीत रीति-काल के साहित्य में सामन्तों की विलास-लीलाओं और यदा-कदा उनकी वीर-गाथाओं का प्रतिबिम्ब है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो नवीन शासन-प्रणाली और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंगमंग पर प्रवेश कर रहा था। आधुनिक साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का फल है।

इस नये शिक्षित, बुद्धिजीवी वर्ग के सांस्कृतिक प्रतिनिधि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दिलीपकुमार राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, हाली, इकबाल, अकबर, सुमित्रानन्दन पन्त, 'निराला', प्रेमचन्द और 'प्रसाद' हैं। यह वर्ग भारत के नवजागरण का नेतृत्व करता है। एक ओर तो यह अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए उत्सुक है, किन्तु दूसरी ओर उस सांस्कृतिक परम्परा का विकास भी चाहता है। यह वर्ग अतीत के स्वप्न में ही उलझा रहना नहीं चाहता, वह भविष्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर दृष्टि जमाए है, और नई दिशाओं में आगे बढ़ने का आग्रह रखता है।

हिन्दी का प्राचीन साहित्य विशेष रूप से काव्य-साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य में अनेक नई शैलियों का विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, उपयोगी साहित्य, इन सभी रूपों का आविर्भाव और उनकी पुष्टि आधुनिक युग में हुई।

आधुनिक युग का साहित्य जीवन से ओत-प्रोत है। रीतिकाल के कवि जीवन से काफी दूर हट गए थे। वे एक साहित्यिक परम्परा का निर्वाह कुशलतापूर्वक कर रहे थे, किन्तु अनेक सीमाओं में उन्होंने अपने-आपको बाँध लिया था। जो पानी थम गया था, मानो आधुनिक युग के आरम्भ से फिर बह निकला और उद्दाम गति से प्रवाहित हुआ। नदी का जल, जो बँधकर ताल बन गया था, फिर बरसात में बाँध तोड़कर बढ़ती सरिता के समान बह निकला।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) प्रथम उत्थान, संवत् १९२५-'५०; (२) द्वितीय उत्थान, संवत् १९५०-'७५; (३) तृतीय उत्थान, संवत् १९७५ से प्रारम्भ। इस काल-क्रम को आलोचकों ने (१) भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, और (३) छायावादी युग में भी विभाजित किया है, यद्यपि यह वर्गीकरण युग के व्यक्ति-विशेष के प्रति आग्रह रखता है, और 'छायावाद' केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास से सम्बन्धित है; गद्य-साहित्य पर यह नामकरण नहीं लागू होता।

प्रथम चरण : भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश-द्वार है। इस युग का साहित्य एक हद तक युग-सन्धि का साहित्य है। यह साहित्य हिन्दी के विकास-क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है। यद्यपि यह युग हमारे साहित्य में क्रान्ति का युग है, किन्तु पुरानी परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही वह आगे बढ़ता है।

आधुनिक युग का साहित्य खड़ीबोली का साहित्य है। खड़ीबोली का प्रयोग हिन्दी कविता में पहले भी खुसरो, गंग, सीतल, कबीर आदि कवियों ने किया था, किन्तु अब पहली बार खड़ी बोली पूरे हिन्दी प्रदेश की भाषा बनी, जैसे पहले ब्रजभाषा अथवा अवधी थी। भारतेन्दु युग में खड़ीबोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ, किन्तु इस युग के अनेक कवि अब भी अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे। स्वयं भारतेन्दु का अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में है और हिन्दी कविता की मध्यकालीन परम्परा से काफी प्रभावित है। राजा लक्ष्मणसिंह 'शकुन्तला' के अनुवाद में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उसका पद्यांश ब्रजभाषा में है। वास्तव में द्विवेदी युग में आकर ही ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस संघर्ष का अन्त हुआ।

खड़ीबोली दिल्ली प्रदेश की भाषा थी। इस कारण हिन्दी और उर्दू का साहित्यिक रूप वह आसानी से ले सकी। ब्रजभाषा में भी कुछ गद्य-रचना हुई थी, किन्तु उसका महत्त्व बहुत कम है। भारतेन्दु युग में अनेक नवीन गद्य-रूपों का विकास हुआ, जिनका माध्यम खड़ीबोली थी। नये रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का उल्लेख होना चाहिए। इन साहित्य-रूपों का प्रसार और विकास अब हिन्दी में पहली बार हुआ।

हिन्दी गद्य के प्रवर्तकों में चार प्रथम-पुरुषों के नाम आते हैं, मुन्शी सदासुख लाल,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र। मुन्शी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' लिखा, इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान'। इस युग में खड़ीबोली के गद्य की रूपरेखा तैयार ही हो रही थी; उसने पूर्ण प्रौढ़ता आगे चल कर प्राप्त की।

इसी काल में हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलनी भी शुरू हुईं, जिनके कारण गद्य-निर्माण में काफी गति आई। हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् १८२६ में निकला; सन् '५० के बाद पत्र-पत्रिकाओं की एक बाढ़-सी आ गई, जिनमें भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', आदि पत्र भी थे। शुक्लजी ने श्री निवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) को हिन्दी का पहला उपन्यास माना है। स्वयं भारतेन्दु ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया और खेद प्रगट किया था कि जैसे मौलिक नाटक हिन्दी में लिखे जा रहे थे, वैसे उपन्यास नहीं। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित 'सामाजिक' उपन्यासों में पुष्ट चरित्र-चित्रण नहीं मिलता। इन उपन्यासों की विशेषता घटना-प्राधान्य है। किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतेन्दु युग ने हिन्दी-साहित्य में इस अभिनव रूप की सृष्टि की और उसे पाला-पोसा।

नाटक हिन्दी में पहले भी लिखे जाते थे। डा० वार्ष्णेय ने अपने इतिहास में मध्य-कालीन नाटकों की एक लम्बी सूची इकट्ठी की है, जिसमें 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'देवमाया प्रपंच', 'विज्ञान गीता', 'रुक्मिणी हरण' आदि के नाम सुपरिचित हैं। इन नाटकों में चरित्र-चित्रण आदि बहुत कम हैं, और नाटक के संकेत, 'प्रवेश' आदि भी नहीं हैं। इनको केवल 'पद्यात्मक वर्णन' कहा जा सकता है। हिन्दी का पहला आधुनिक नाटक गिरिधरदास कृत 'नहुष' (१८५६ ई०) माना गया है। इसके उपरान्त हिन्दी के रंगमंच पर भारतेन्दु अवतीर्ण हुए, जो एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी। आपने 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद सन् १८६८ में किया, उसके बाद 'चन्द्रावली' 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेमजोगिनी' आदि नाटकों की रचना की। आपने नाट्य-शास्त्र पर 'नाटक' नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा और काशी में भारतेन्दु नाटक मण्डली की स्थापना की, जिसके अभिनयों में आप स्वयं भाग लेते थे। भारतेन्दु के नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। यह समन्वय हिन्दी में, सर्वप्रथम भारतेन्दु ने किया। आज की दृष्टि से अवश्य 'चन्द्रावली' अभिनय' के योग्य नहीं ठहरता और भारतेन्दु के अन्य नाटक पारसी रंगमंच की प्रणाली का स्मरण दिलाते हैं।

आलोचना-साहित्य की आधुनिक परिपाटी श्री निवासदास के 'संयोगता स्वयंवर' से शुरू होती है। एक प्रकार से तो सभी मध्यकालीन रीति-ग्रन्थ समालोचना-साहित्य की श्रेणी में आते हैं, किन्तु लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना भारतेन्दु युग से शुरू होती है। भारतेन्दु की 'नाटक' पर रचना भी इसी श्रेणी में आती है। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना-शैली का भी अध्ययन किया और साहित्य में नये आदर्श अपने युग के लेखकों के सामने प्रस्तुत किये। हिन्दी-आलोचना का अभूतपूर्व परिष्कार और विकास आगे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। इस दिशा में पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी सराहनीय कार्य किया।

इस युग में गद्य-साहित्य के निबन्ध, जीवनी आदि अन्य साहित्य-रूपों का भी अभूतपूर्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सृजन और विकास हुआ। इनके कुछ संकलन और उदाहरण डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' में उद्धृत किये हैं।

हमने ऊपर कहा है कि भारतेन्दु युग का साहित्य युग-सन्धि का साहित्य है। यह हम इस युग के काव्य में स्पष्ट देख सकते हैं। गद्य-साहित्य में भारतेन्दु युग के लेखक नई भूमि गोड़ रहे थे, किन्तु कविता में हिन्दी की प्राचीन परम्परा उनके सामने थी। इसी परम्परा को उन्होंने विकास के नये पथ दिखाए। भारतेन्दु युग के काव्य में प्राचीन रूपों में नये जीवन की आकुलता है।

प्रकृति, शृंगार, कृष्ण-लीला आदि का वर्णन भी भारतेन्दु स्वतन्त्र अनुभूति और भाव-विदग्धता से करते हैं, किन्तु सामाजिक, और राजनीतिक विषयों का समावेश, प्रथम बार उनके युग ने ही हिन्दी-काव्य में किया। तात्पर्य समाज के चित्रण से है, व्यक्तियों के सम्बन्ध में गाई हुई प्रशस्तियाँ अलग श्रेणी में हैं।

भारतेन्दु का गंगा-वर्णन प्रसिद्ध है—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि सोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान विविध अघ दूर मिटावत॥ आदि

यह आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक नया स्वर था और हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से जीवन की ओर खींच रहा था। अतएव इस वर्णन में कुछ नई ही गम्भीरता और सजीवता है, जो हमें रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ प्रकृति-वर्णन में भी कम मिलती है। इसी प्रकार चन्द्रावली के प्रेम-उद्गार में जो मार्मिकता भारतेन्दु ला सके हैं, वह देव अथवा मतिराम के अतिरिक्त अन्य रीति-ग्रन्थकारों के अलंकार-बोझिल परकीया-वर्णन में दुर्लभ है—

इन दुखियान को न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जाति औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछतायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी॥

ब्रजभाषा-काव्य के महाकवियों में भारतेन्दु अवश्य ही आते हैं। उनके अनेक पदों को स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद ने अपने 'संक्षिप्त सूरसागर' में सूर के पदों की तुलना में रखा है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु का एक गीत लीजिए—

तू केहि चितवति चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तन सुधि करु उघरत री आँचर, कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतर न देत जकी सी बैठी, मद पीया कै रैन जगी सी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि, सपने पिय देखत उमगी सी।
भूख बैखरी मृगछौनी ज्यौं, निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी॥
करति न लाज हाट घर वर की, कुल मरजादा जाति डगी सी।
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तौ, क्यों नहिं डोलत संग लगी सी॥

किन्तु भारतेन्दु प्राचीन परम्परा के एक विशिष्ट कवि के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते, वह एक नवीन परम्परा के सूत्रधार भी हैं। भारतेन्दु युग के कवि सामयिक विषयों पर निरन्तर काव्य-रचना करते थे; यह सामाजिक दृष्टि छायावादी युग में लुप्त हो रही थी, किन्तु दासता और परशता से व्याकुल देश के कवि अधिक समय तक जीवन से विमुख नहीं हो सकते थे।

भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' सम्बन्धित गीत सुप्रसिद्ध है। उनके अनेक समकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में यही सामाजिक चेतना दिखाई है। बद्रीनारायण चौधरी 'भारत-वन्दना' में लिखते हैं—

जय-जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी॥
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी॥ आदि

यह स्वाभाविक है कि दलित देश के कवि अपने आध्यात्मिक संतोष के लिए अतीत की ओर मुड़ें, और उससे तृप्ति पायें, किन्तु भारतेन्दु युग के लेखक निरन्तर महामारी, अकाल और 'दिक्कस' आदि विपदाओं का उल्लेख अपनी रचनाओं में करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' का विषय ही इस युग के लेखकों की सामाजिक चेतना को बनाया है। 'हिन्दी प्रदीप' में छपी एक होली देखिए—

उफ बाज्यो भरत भिखारी को।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहिं पिचकारी को।
बिन धन, अन्न लोग सब व्याकुल,
भई—कठिन बिपत नर-नारी को।
चहुँ दिसि काल पर्‌यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को॥

बद्रीनारायण चौधरी अकाल के सम्बन्ध में लिखते हैं, जो अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण नित्य-प्रति देश में पड़ने लगे थे—

भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा बिपत की कारी॥
सब गए बनज व्यापार इतै सों भागी।
उद्‌म पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब बची-खुची खेती हूँ खिसकन लागी ।
चारहुँ दिसि लागी है मँहगी की आगी ॥
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी ।
भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी·····॥

भारतेन्दु समझते थे कि इस विभीषिका का पूर्ण उत्तरदायित्व अंग्रेजों के शोषण पर है और पहेली के रूप में आप कहते हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै ।
जाहिर बातिन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अँगरेज ॥

यह प्रवृत्ति हम भारतेन्दु युग के गद्य में भी देख सकते हैं । 'सारसुधानिधि' ने एक लेख में लिखा था—

'टैक्स पर टैक्स, अकाल-पर-अकाल, और मरी-पर-मरी यहीं देखी जाती है । नित्य नये आईनों से बेधा जाता है, और नित्य नई स्कीमों से नमक छिड़का जाता है ।···'

लाइसेंस टैक्स के सम्बन्ध में अर्थ-मन्त्री सर-जॉन स्ट्रैची को सम्बोधित करके 'सारसुधानिधि' ने लिखा था—

'इधर तो तेली-तम्बोली, नाई-धोबी, घसियारे-नालबन्द और हाड़ी-मोची तक कोई न छूटा, पर इधर देखो तो सर-जॉन स्ट्राची साहिब आदि बड़ी-बड़ी तलब और वेतन-भोगी महा-भाग्य महाशयों को इस लाइसन की हवा नहीं लगी ।···'

भारतेन्दु युग के लेखकों ने राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्च कोटि के व्यंग्य और हास्य का भी आश्रय लिया । उस युग की परिस्थितियों में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र हो सकता था । 'भारत-मित्र' के सम्पादक की हैसियत से बा० बालमुकुन्द गुप्त ने निरन्तर अंग्रेजों के शासन और सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात किया । पठान-युद्ध के सम्बन्ध में 'भारत-मित्र' की टिप्पणी देखिए—

'अंग्रेजों ने काबुल के ऊँट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया, पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छाँटने लगा । उस पर अंग्रेजों ने उसकी नकेल पकड़ के अपनी तरफ जब जोर से खींचा, तब वह काटने दौड़ा । तिस पर अंग्रेजों ने लाचार होकर चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी ।'

इन उद्धरणों से हम भारतेन्दु युग की तीव्र राजनीतिक और सामाजिक चेतना का कुछ अनुमान लगा सकते हैं । यह दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विशेषता है । नवयुग के लेखक उस पाठक-वर्ग के लिए लिख रहे थे, जिससे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे; उसी के जीवन का प्रतिबिम्ब वे अपनी रचनाओं में भी देते हैं । यह साहित्य सामन्तों के लिए नहीं रचा गया था; इसका पढ़ने वाला एक नया मध्यम श्रेणी का पढ़ा-लिखा वर्ग था । इस युग के साहित्य में शृंगार रस का वह प्राधान्य नहीं रहा, जो रीति-काल के साहित्य में था । इसके अतिरिक्त इस युग ने खड़ीबोली को हिन्दी की साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया, गद्य का अभूतपूर्व विकास और प्रसार किया, और नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध आदि अनेक नये साहित्य-रूपों को अपनाया । भारतेन्दु युग अनेक नवीन प्रवृत्तियों का आरम्भिक रूप हमें दिखाता है । अनेक दिशाओं में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसने कदम आगे बढ़ाए। भारतेन्दु युग का गद्य और काव्य नवीन की आकुलता को तो व्यक्त करता है, किन्तु उसके परिष्कार और विकास की अभी बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आने वाले युगों ने पूरी की, जब काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, आलोचना, आदि सभी रूपों में हिन्दी-साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की, और 'प्रेमचन्द', 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', 'आचार्य शुक्ल' आदि महान् साहित्यकारों को जन्म दिया।

द्वितीय चरण : द्विवेदी-युग

द्वितीय उत्थान का काल-विभाजन आचार्य शुक्ल ने संवत् १९५० से १९७५ तक किया है। इस युग के प्रधान पुरुषों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप युग-चेतना पर छोड़ी, अतएव इस युग को द्विवेदी-युग भी कहा गया है। आप एक दीर्घ काल तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और युग की भाषा और उसके साहित्य की रूप रेखा दृढ़ हाथों से निर्धारित करते रहे। द्विवेदीजी ने खड़ीबोली को काफी माँजा और सँवारा और एक प्रकार से काव्य की भाषा के सम्बन्ध में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के झगड़े का सदा के लिए अन्त कर दिया। इस युग में हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। विशेष रूप से कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में इस युग में नवीन प्रौढ़ता आई। डा० श्री कृष्णलाल अपने इतिहास में इस युग की साहित्यिक 'अनेकरूपता' पर लक्ष्य करते हुए लिखते हैं : "...पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads) प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical Romances) प्रबन्ध काव्य, गीति-काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुईं। समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।..." ('आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २)। इस युग में उपयोगी साहित्य की ओर भी हिन्दी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ। यह आरम्भिक प्रयास था। स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' में विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखते थे, अथवा अनुवाद छापते थे, किन्तु हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके, इस परिस्थिति से हम कोसों दूर थे। इस दिशा में कदम अवश्य हमने बढ़ाया।

इस युग के लेखकों पर पाश्चात्य विचार-धाराओं और साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रेरणा भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा न थी। वे अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए नये माध्यम और मार्ग खोज रहे थे। इन लेखकों की प्रेरणा व्यक्तिवादी थी : वे अपने स्वतंत्र अनुभव के बल पर कल्पना की उड़ान लेते थे। रीति-काल के शास्त्रीय और परम्परावादी साहित्य से भिन्न उनकी सृजन-प्रेरणा थी। भारतेन्दु युग की तुलना में इन लेखकों ने अपनी कला का शृंगार भी किया, किन्तु फिर भी इनके भावों, अनुभूति और कल्पना में गम्भीरता और गहराई की कमी है। यह कमी छायावाद ने पूरी की। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार अवश्य इस युग में हुआ। जो रास्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने भारतेन्दु युग में पकड़ा, उस पर द्विवेदी युग ने हमें आगे बढ़ाया। साहित्य के विविध रूपों का विकास और प्रस्फुटन इस युग में हुआ, किन्तु लक्ष्य से हम अभी दूर थे। इस युग को हम 'रोमाण्टिक' अथवा 'स्वच्छन्दशील' युग भी नहीं कह सकते। इस युग के लेखकों में न तो वह कल्पना-विलास था जिसका द्योतक 'रोमाण्टिक' शब्द है, न वह निरंकुशता अथवा उतावलापन था जिसका अनुमान 'स्वच्छन्दता' से होता है। इन विशे-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्णों का प्रयोग छायावादी लेखकों के सम्बन्ध में ही हो सकता है।

इस युग की प्रेरक-शक्ति यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे—जिन्होंने व्याकरण के प्रति अपने आकर्षण को और अपनी कल्पना की शुष्कता को एक साथ ही युग पर आरोपित किया—तो बा० मैथिलीशरण गुप्त इस युग-शक्ति के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि थे। गुप्तजी अनेक छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य आदि अब तक लिख चुके हैं। इनमें प्रवाह है, गति है, गंभीरता है और एक हद तक गहराई भी है। 'साकेत' और 'यशोधरा' के अनेक स्थल इसका प्रमाण हैं। गुप्तजी अपने प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ 'भारत-भारती' में देश के बीते वैभव पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी वर्तमान दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं। यह 'भारत दुर्दशा' की परम्परा का ही निर्वाह और विकास है। अन्य ग्रन्थों में गुप्तजी प्राचीन गाथाओं को पद्य-बद्ध करते हैं। आप भक्त कवि हैं और 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम को अपना उपास्य-देव मानते हैं। इस विचार-दृष्टि का समर्थन 'साकेत', 'पंचवटी' आदि काव्य-ग्रन्थों में हुआ है। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। खड़ीबोली का साहित्यिक रूप अब सुस्पष्ट और मधुर हो गया है, उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता आ रही है, किन्तु फिर भी इस भाषा में एक अटपटापन शेष है जिसका अन्त छायावादी कवियों ने किया। इन सभी गुणों का प्रदर्शन हम 'झंकार' की इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घर लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

अथवा, 'साकेत' की इन पंक्तियों में—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

गुप्त जी के काव्य का मधुरतम रूप हम 'मातृभूमि' सदृश कविताओं में देखते हैं—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दी जन खग वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाषा में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता और गुरुता है; इनकी कल्पना अधिक गतिमय और अनुभूति अधिक तीव्र है। किन्तु आप किसी एक शैली को न अपना सके और निरन्तर प्रयोग करते रहे—कभी ठेठ हिन्दी से, 'चुभते' और 'चोखे चौपदों से' कभी ब्रजभाषा से, कभी संस्कृत पदावली से मुष्ठ और अलंकृत खड़ीबोली से। आप किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे और शायद आपके साहित्यिक जीवन की यही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबसे बड़ी पराजय रही। आपका 'प्रिय प्रवास' हिन्दी का पहला सफल महाकाव्य है। और अवश्य ही हिन्दी के इतिहास का एक पथ-चिह्न। 'प्रिय प्रवास' का विषय गोपियों की विरह-कथा है, जिसका वर्णन कवि ने अद्भुत सफलता और चमत्कार से किया है। किन्तु यह विषय-निर्वाचन हमें स्मरण दिलाता है कि हमारे कवि निरन्तर प्राचीन आख्यानों की ओर मुड़ रहे थे और उनसे प्रेरणा पा रहे थे। 'हरिऔध' के प्रकृति-वर्णन में कितनी मार्मिकता और अनुभूति है, यह 'प्रिय प्रवास' के प्रथम सर्ग से हम देख सकते हैं—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखाओं पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
बिपिन बीच विहंगम-वृन्द का।
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली।
उड़ रही नभ मंडल मध्य थी॥

'हरिऔध' जी ने संस्कृत के अतुकान्त छन्दों को पुनः प्रचलित किया। विषय-वस्तु का इन छन्दों में बहुत सफल निर्वाह हुआ है। अनेक स्थलों पर तीव्रतम अनुभूति कवि ने सरल और मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त की है। यशोदा के विलाप का एक स्थल लीजिए—

मृदु किशलय ऐसा पंकजों के दलों सा।
वह नवल सलोने गात का तात मेरा॥
इन सब पवि ऐसे देह के दानवों का।
नहिं कर सकता था नाश कल्पान्त में भी॥
पर हृदय हमारा ही हमें है बताता।
सब शुभ फल पाती हूँ किसी पुण्य ही का॥

हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक पुनरावृत्ति केवल एक धारा है; अधिकतर लेखक आधुनिक समस्याओं की ओर मुड़ते हैं, यह 'भारत-भारती' आदि से स्पष्ट है। पं० श्रीधर पाठक ने अपने काव्य का एक बड़ा अंश अंग्रेजी के अनुवादों को प्रदान किया। आश्चर्य यह है कि अनुवाद के लिए आपने गोल्डस्मिथ की कविता को चुना। आपने 'काश्मीर सुषमा' आदि स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना भी की। द्विवेदी युग के प्रकृति-वर्णन की शैली का एक उदाहरण हम नीचे देते हैं—

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सदा उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि-
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

इस वर्णन में प्राचीन साहित्यिक संस्कारों से कवि की कल्पना मुक्त हो चुकी है और वह अपनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाव-व्यञ्जना के लिए स्वतन्त्र शैली, शब्द-विन्यास, उपमाओं आदि की सृष्टि करता है। द्विवेदी युग में अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने नये कवियों और लेखकों को साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। इनमें 'सरस्वती' का महत्व सभी से अधिक बढ़-चढ़कर था। इस युग के जिन कवियों ने विशेष ख्याति प्राप्त की, इनमें श्री सियारामशरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, पं० रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० सत्यनारायण, 'सनेही', 'एक भारतीय आत्मा' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ कवि ब्रजभाषा की परम्परा से अभी तक सम्बन्ध बनाए हुए थे।

द्विवेदी युग में गद्य-साहित्य का भी समुचित प्रसार हुआ। वास्तव में द्विवेदी युग गद्य का ही युग था। उसने दर्जनों कवियों को प्रेरणा अवश्य दी, जो हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार हैं। किन्तु इस युग के महारथी भाषा को गढ़ने और निखारने में विशेष रूप से तल्लीन थे। उनकी कल्पना और भावनाओं में अधिक ऊँचे उड़ने की अथवा गहराई में पैठने की क्षमता न थी। द्विवेदी युग में समालोचना-साहित्य का सन्तोषजनक विकास हुआ। स्वयं द्विवेदीजी उच्च कोटि के आलोचक और सम्पादक थे। आपकी सर्वोत्कृष्ट समालोचना कालिदास और संस्कृत के अन्य कवियों से सम्बन्धित थी। द्विवेदीजी हिन्दी की नई पुस्तकों की भी निरन्तर खरी आलोचना करते थे, जिसमें भाषा-सम्बन्धी भूलों की अधिक चर्चा रहती थी। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और हिन्दी का सुप्रसिद्ध 'इतिवृत्तात्मक' इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' लिखा। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर अपनी प्रसिद्ध आलोचना लिखी। इस विषय पर सबसे गम्भीर पुस्तक पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र की रचना 'देव और बिहारी' थी। यह आलोचक प्राचीन साहित्य-शास्त्र का ज्ञान रखते थे, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य समालोचना-विज्ञान से भी वे परिचित थे। इस प्रकार हिन्दी आलोचना को आधुनिक रूप देने में उनकी रचनाओं का काफी हाथ रहा।

नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध में भी इस युग के लेखकों ने भारतेन्दु युग की परम्परा का विकास किया। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में खूब निकल रहे थे, किन्तु अभी तक हिन्दी में किसी स्वतन्त्र नाट्य-परम्परा का निर्माण न हो सका था। गोपाल राम गहमर जासूसी उपन्यास लिख रहे थे और बाबू देवकीनन्दन खत्री तिलिस्मी उपन्यास। अनुवादों की भरमार थी, जिसका तृतीय उत्थान के उपन्यास-साहित्य पर अवश्य ही गहरा प्रभाव पड़ा होगा। इस युग के मौलिक उपन्यासकारों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, जिनकी संख्या ६५ कही जाती है। किन्तु इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि में अभी बहुत उन्नति और प्रौढ़ता की गुँजाइश थी।

द्विवेदी युग तैयारी का युग था। भारतेन्दु युग ने भूमि गोड़ी और बीज-वपन किया। द्विवेदी युग में अनेक तरु-लताओं से उपवन लहलहाने लगा था, किन्तु तृतीय उत्थान में शुक्ल जी, प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी वर्मा ने समान उच्चतम कोटि के साहित्य-कार हिन्दी ने उत्पन्न किये। इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है। द्विवेदी युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था, जिसका तीसरी पीढ़ी के कलाकारों ने कुशल हाथों से प्रयोग किया। हिन्दी की आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए, किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढ़ी के लेखकों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा हमें मिली।

द्विवेदी युग हमारे देश में गहरी सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। इसी काल-खण्ड में प्रथम यूरोपीय महासमर हुआ जिसने यूरोपीय समाज-व्यवस्था को किसी 'प्रबल झंझावात' से झकझोर दिया। काँग्रेस की नींव पड़ चुकी थी और भारतीय राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की यात्रा में आगे बढ़ रहा था। इस राजनीतिक भूचाल का प्रभाव तृतीय उत्थान के लेखकों पर आगे चलकर पड़ा। आधुनिक साहित्य की एक प्रमुख भावना देश-प्रेम की भावना है; इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की रचनाओं में हुई। यद्यपि छायावादी कवियों की अपेक्षा प्रथम दो पीढ़ियों में कलात्मकता—भारतेन्दु आदि कुछेक अपवादों को छोड़कर—कम है, किन्तु इन युगों की प्रेरणा वहिर्मुखी अधिक है। जिस राष्ट्रीय परम्परा का उत्थान 'भारत-दुर्दशा' से हुआ, उसका द्विवेदी युग में पोषण 'भारत-भारती' तथा 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि की रचनाओं में हुआ। छायावादी युग में यह धारा सरस्वती के समान कुछ काल के लिए भूमि में खो गई, किन्तु पिछले वर्षों में फिर एक बार पृथ्वी को फोड़कर हिन्दी-काव्य की त्रिवेणी में मिली है। द्वितीय उत्थान के राष्ट्रवाद का विकसित रूप हम 'नवीन' की रचनाओं में देख सकते हैं। आपकी प्रेरणा गान्धीवाद से विशेष स्पन्दित हुई है और आप उन प्रतिभाओं में हैं, जो द्वितीय उत्थान में अवतरित हुईं और तृतीय में चमकीं। 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ' शीर्षक रचना में आप लिखते हैं—

नियम और उपनियमों के ये
बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे, उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
जग के प्राङ्गण में घहराये,
नाश ! नाश !! हाँ महानाश !!! की
प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे अङ्ग-अङ्ग झुलसाएँ···,

यह सब उत्तराधिकार लेकर तृतीय उत्थान के कलाकार आगे बढ़े। जिस उच्च कोटि का साहित्य तीसरी पीढ़ी के लेखकों ने रचा, उसकी तुलना इतिहासकारों ने भक्ति-काल के साहित्य से की है। तृतीय उत्थान को इस दृष्टि से हम फसल का समय कह सकते हैं।

तृतीय चरण : नव यौवन

तीसरे युग में 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', और 'गोदान', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'कामायनी', 'आँसू', 'पल्लव', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'अनामिका', 'गीतिका', 'परिमल', 'कुकुरमुत्ता', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' और 'दीपशिखा', आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ और अनेक नये कलाकारों की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आईं। इस युग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़तम रूप हमारे सामने आता है। यह युग काव्य में छायावाद का युग, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में 'प्रसाद' और आलोचना में शुक्लजी का युग है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग साम्राज्यवाद की पराजय का युग है। प्रथम महासमर ने साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव पूँजीवाद को जड़ से हिला दिया था। भारतवर्ष में जनता ने पहली टक्कर विदेशी शासन-सत्ता से ली। यह नवीन उल्लास हम अपने साहित्य-सृजन में भी देखते हैं। जो राष्ट्रीय नवजागरण भारतेन्दु युग में शुरू हुआ था, उसका अन्तिम चरण इस युग का साहित्य है।

शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं कि इस युग में विदेशी साहित्य और विचारधाराओं का बहुत प्रभाव हिन्दी-साहित्य के विकास पर पड़ा, किन्तु हम समय की इस दूरी से कह सकते हैं कि यह प्रभाव अस्वस्थ अथवा गतिरोधक नहीं था। कुछ व्यक्तियों के नये विवाद अथवा वाद चलाने या साहित्यालोचन में नई शब्दावली के प्रयोग से हमारे साहित्यिक विकास की धारा को कोई आघात नहीं पहुँचा। शुक्लजी 'क्लासिकल', रोमाण्टिक, आदि शब्दों के अनधिकार प्रयोग के पक्ष में नहीं। उन्हें 'छायावाद' शब्द पर भी आपत्ति थी, किन्तु साहित्य-प्रेरणा को किन्हीं विशेष छेदों में भी बाँधकर सदा के लिए नहीं रखा जा सकता।

तृतीय उत्थान एक दृष्टि से विचित्र साहित्यिक युग है। इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, आलोचना पुरातनवादी और शास्त्रीय है—इस युग के सर्वश्रेष्ठ आलोचक की गति तो यही थी—कविता 'रोमाण्टिक' है। इसे हम युग की बहुमुखी प्रतिभा कह सकते हैं, अथवा यह भी कि हमारे उपन्यास में अपेक्षाकृत अधिक जागरूकता और सामाजिक चेतना थी।

हिन्दी का कथा-साहित्य प्रेमचन्द की रचनाओं में पूर्ण वयः प्राप्त करता है। प्रेमचन्द के प्रथम प्रयास, 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' ही हिन्दी के कथा-साहित्य में नवीन गम्भीरता और गहराई लाए। ऐसा कम ही होता है कि किसी साहित्यकार की आरम्भिक रचनाएँ ही उसकी प्रौढ़तम रचनाएँ हों। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गबन' 'मानसरोवर', अथवा 'गोदान' के समान उच्च साहित्यिक श्रेणी की ही रचनाएँ 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' थीं। इस साहित्य में रोचकता और कलात्मकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी है। प्रेमचन्द को कथा-वस्तु पर पूर्ण अधिकार रहता था; चरित्र-चित्रण की जटिलता और गहराई में वह आसानी से उतरते थे; उनकी भाषा में साहित्यिकता के साथ-साथ प्रवाह और सरलता के गुण भी थे; किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रेमचन्द ने एक जनवादी दृष्टिकोण अपनाया। वह सामाजिक कुरीतियों पर अपने पूरे बल से आघात करते थे और राजनीतिक और आर्थिक दोहन का अन्त कर देना चाहते थे। प्रेमचन्द की रचनाएँ हिन्दी जनता की साहित्यिक क्षुधा को तो शान्त करती ही थीं, किन्तु उसकी अन्तरचेतना को भी जगाती थीं। प्रेमचन्द प्रत्येक अर्थ में जनता के कलाकार थे। उनका साहित्य परिमाण में काफी है, किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से वह असमय ही चल बसे। फिर भी हिन्दी-साहित्य में उन्होंने एक बड़े अभाव की पूर्ति की और एक महत्त्वपूर्ण कला-रूप पर हिन्दी की मुहर सदा के लिए लगा गए। पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और श्री सुदर्शन भी प्रेमचन्द के अनुवर्ती थे और कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की तरह ही उदार, यथार्थवादी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परम्परा का पोषण करते रहे।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकार श्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल नये पथों का अनुसरण करते हैं। प्रेमचन्द ने भारतीय किसान को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि भारत के ग्राम-जीवन पर लगी थी। किन्तु नये कथाकारों ने अपना ध्यान मध्यम श्रेणी के जीवन पर केन्द्रित किया, जिसके अंग वे स्वयं थे, और वे नगरों की ओर मुड़े। इस नवीन भूमि को गोड़ना भी आवश्यक था और नये कथाकारों ने अनन्य सफलता से अपना कर्तव्य निबाहा। जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' मध्यवर्ग की वेदना और विफलताओं का कुशल और मार्मिक चित्रण हैं। भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में अतीत का सफल चित्र खींचा और ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा को पुष्ट किया। इस दिशा में श्रीवृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुँडार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इधर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, श्री यशपाल और रांगेय राघव ने भी ऐतिहासिक उपन्यास को महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रदान की हैं।

हिन्दी-नाटक को इस काल-खण्ड में 'प्रसाद' ने अपनी स्मरणीय रचनाओं से समृद्ध बनाने का प्रयास किया। हिन्दी-साहित्य का यह अंग अपेक्षाकृत कम विकसित है। इसका कारण यही हो सकता है कि हिन्दी में अभी तक कोई स्वस्थ रंगमंच की परम्परा नहीं है। भारतेन्दु नाटक मण्डली और व्याकुल नाटक मण्डली ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया था, किन्तु यह परम्परा सर्वथा आधुनिक किसी प्रकार नहीं थी। इनका कथोपकथन पद्यबद्ध अथवा काव्य-बद्ध होता था और बीच-बीच में गीतों की भरमार रहती थी। इस प्रकार की नाट्य-परम्परा आधुनिक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व किस प्रकार कर सकती थी? इसी परम्परा का अत्यन्त दूषित रूप हम व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के खेलों में पाते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में उच्च कोटि की साहित्यिकता है, किन्तु कथोपकथन में वह गति और प्रवाह नहीं, जो दर्शक का ध्यान निरन्तर अपनी ओर आकर्षित रखे। 'प्रसाद' की शैली संस्कृत शब्दावली से अधिक बोझिल है। साधारण जनता उनके नाटकों का रस उठाने में असमर्थ रहती है। उनके अभिनय के लिए एक उच्च श्रेणी की साहित्यिक दर्शक-मण्डली होनी चाहिए। इधर 'प्रसाद' के नाटकों के दो अभिनय प्रयाग विश्वविद्यालय में हुए थे। उनके अनुभव से इस आलोचना की पुष्टि होती है। 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास का गहरा मनन और अध्ययन, कथा-वस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण और गहरी अनुभूति आदि गुण हमें मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति 'प्रसाद' ने की। अन्य नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, 'प्रेमी', पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यकारों ने आधुनिक नाट्य-शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, कथानक और कथोपकथन के अविरल प्रवाह के लिए अनावश्यक काव्यमयता का वे बहिष्कार करते हैं। इन नाट्यकारों ने देश और काल से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं को भी अपने नाटकों में प्रश्रय दिया।

हिन्दी में रंगमंच की एक स्वस्थ परम्परा कॉलिज, विश्वविद्यालय आदि के छात्रों और अन्य अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों द्वारा बन रही है। इस सम्बन्ध में एकांकी नाटक का विकास महत्त्वपूर्ण है। डा० रामकुमार वर्मा ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अध्ययन किया है, और रंग-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मंच की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार लिखने का प्रयत्न किया है। आपके नाटकों में काव्य का पुट और योभिल संवाद कथानक के प्रवाह में अवरोध डालते हैं। आजकल अनेक नाटककार एकांकी लिख रहे हैं; इनमें श्री भुवनेश्वर का 'कारवाँ', जगदीशचन्द्र माथुर का संग्रह 'भोर का तारा' और श्री 'अश्क' के संग्रह विशेष उल्लेख योग्य हैं। इधर भारतीय जन-नाट्य-संघ ने रंगमंच की परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न किया है। संघ की बम्बई शाखा ने अनेक सफल प्रदर्शन बम्बई की हिन्दी जनता के सामने किये हैं। इनमें 'अश्क' के एकांकी 'तूफानों के बीच' का अभिनय साम्प्रदायिक वैमनस्य कम करने के प्रयास में हुआ था।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक का भण्डार इस हद तक भरा-पूरा नहीं है जैसा हम कविता, उपन्यास, आलोचना आदि साहित्य के अन्य अंगों में देखते हैं।

समालोचना को इस युग में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली। शुक्ल जी भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा विज्ञान से समान रूप से परिचित थे। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वह बड़ी खोज और परिश्रम के बाद सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना करते थे। उनके तुलसी, सूर और जायसी के अध्ययन और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' महान देन हैं। इन रचनाओं में बहुत गहरी, गम्भीर और निष्पक्ष आलोचना है। किन्तु शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति आधुनिक साहित्य की परख के लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिए पं० सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य का शुक्लजी द्वारा विश्लेषण देखिए—

"'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अंग्रेजी कविताओं से लिये हुए भाव और अंग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं। कहीं-कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिए रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे मधुबाल, मधुपों के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं-कहीं वैचित्र्य के लिए एक ही प्रयोग में दो-दो लक्षणाएँ गुंफित पाई जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे 'मर्म पीड़ा के हास' में। इसी प्रकार कहीं-कहीं दो-दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे 'अरुण कलियों से कोमल घाव'.....।" (इतिहास, परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ २३८–३९)

नवीन जीवन और प्राणों से आकुल काव्य पर यह एक प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि का आरोप है। कवि की नवीन भाव-प्रवणता ग्रहण करने में असमर्थ आलोचक लक्षणा और व्यञ्जना की चर्चा करता है, और इस काव्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। इसी प्रकार शुक्लजी प्रेमचन्द से शिकायत करते हैं कि उन्होंने जमींदारों के प्रति न्याय नहीं किया है। शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को अभूतपूर्व विदग्धता और गहराई दी, किन्तु आपकी शास्त्रीय दृष्टि प्राचीन कवियों की विवेचना में जिस सूझ का परिचय देती है, आधुनिक साहित्य की परीक्षा में नहीं।

नये साहित्य की परीक्षा के लिए, जो आधुनिक भारतीय जीवन को व्यक्त करता है, नई दृष्टि के समीक्षकों की आवश्यकता थी। वह दृष्टि शुक्लजी के उत्तराधिकारी आलोचकों को प्राप्त थी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रो० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा आदि तृतीय उत्थान के आलोचक शास्त्रीय-ज्ञान के साथ-साथ आधुनिक साहित्य के प्रति एक अधिक उदार भावना भी रखते हैं, और उनकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्यिक परख अधिक सच्ची है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सबसे ऊँची उड़ान प्रेमचन्द का कथा-साहित्य, शुक्ल की समालोचना और छायावादी काव्य है। छायावाद ने आधुनिक काव्य-परम्परा को विकसित और परिमार्जित किया, उसके रूप को निखारा और सँवारा और उसके प्राणों में नई प्रेरणा भरी। छायावादी काव्य में भावों की कोमलता, अनुभूति की गहराई और जीवन के प्रति एक संवेदना है, जो भक्तिकाल के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। कल्पना की यह सहज माधुरी और सुकुमारता तो छायावादी काव्य की ही विशेषता है। छायावाद ने हिन्दी-काव्य को एक नवीन, परिष्कृत भाषा दी, जिसकी तुलना, मधुरिमा और सौष्ठव में केवल रीतिकाल की परिमार्जित भाषा से हो सकती है।

छायावाद अन्तर्मुखी, गीति-काव्य की नवीन परम्परा है। इसका नामकरण 'छायावाद' इसलिए हुआ कि यह काव्य बहिर्जगत् की कुरूपता को भूलकर किसी अव्यक्त सौन्दर्य की खोज करता है। छायावाद का जग गोधूलि के आलोक और छायाओं से झिलमिल है, और उसमें दूर कुछ खोजते हुए का भाव है। उसके स्वर में एक पीड़ा और क्रन्दन है, जिसे हम सन् '२० से '३० तक के संघर्षों को स्मरण कर कुछ समझ सकते हैं। छायावाद रात्रि के आँचल में छिपे प्रिय-तम को खोजता है, ऊषा की स्वर्ण-किरणों से विहार करते उसे देखता है, किन्तु उसे बाँधकर रोक नहीं सकता। वह निरन्तर इस वेदना को काव्य में स्थान देता है।

पथ देख बिता दी रैन,
मैं प्रिय पहचानी नहीं!
अथवा—तुम्हें बाँध पाती सपने में।

यह विचार-विन्यास हमें निरन्तर अंग्रेजी और बँगला कवियों की कल्पना का स्मरण दिलाता है, किन्तु आधुनिक जीवन के प्रति कवि की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इस काव्य को हम 'रोमाण्टिक' कहते हैं, क्योंकि इसमें पार्थिव जीवन से विमुखता और अदृश्य जग के प्रति आकर्षण है। यह काव्य जीवन के छिपे, अव्यक्त सौन्दर्य को खोज निकालना चाहता है।

छायावादी कवि अपने आरम्भिक प्रयोगों में अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत थे, यह 'निराला' की 'बादल', पन्त की 'परिवर्तन' आदि कविताओं से स्पष्ट है। 'निराला' सदियों से जकड़े 'हृदय-कपाट' को 'कठिन प्रहार' कर-करके खोलना चाहते हैं। आप देश को नव-जागरण का सन्देश सुनाते हैं—

जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती-रति रवि कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष-मास,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्ष कितने ही हजार।
जागो फिर एक बार!

पन्त की कविता 'परिवर्तन' हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय परम्परा की ही एक कड़ी है। इस परम्परा के एक छोर पर 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-भारती' आदि हैं, और दूसरी ओर 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' और 'कुकुरमुत्ता'।

छायावाद गीति-काव्य का युग है। इस युग के महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य उसकी प्रमुख धारा के ही कुछ निखरे अंग हैं। 'कामायिनी' महाकाव्य का रूप रखते हुए भी वास्तव में चिन्ता, प्रलय आदि विषयों पर कथा के धागे में पिरोए गीतों की एक लड़ी है। गीति-काव्य व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होता है। छायावादी कवि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मध्यकालीन कला और साहित्य की प्रेरणा एक बड़ी हद तक सामूहिक और सामाजिक होती है, वह कुछ विशेष साँचों में ढलती है। इसका उदाहरण भारतीय चित्रकला, संगीत, स्थापत्य और काव्य सभी में मिलता है। आधुनिक समाज-व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक बन्धनों से एक हद तक मुक्ति पाता है; पुराने सामन्ती सम्बन्ध टूट जाते हैं; कला में कलाकार का अहम् अधिकाधिक व्यक्त होने लगता है। 'निराला' लिखते हैं—

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल—
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद।...(अनामिका)

कवि की अहम्वादिता पहले इस प्रकार विश्व पर आरोपित होती है, जिसको वेदान्त और रहस्यवाद भी कहा गया है; अधिक गहरी और अन्तर्मुखी होकर यह गीति-काव्य की प्रेरणा बनती है और छायावादी कवियों की अद्भुत सृजन-शक्ति का कारण बनती है। 'प्रसाद' के 'आँसू', 'लहर' और 'कामायिनी' से शुरू होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य में प्रवाहित हुई है और श्रीमती महादेवी वर्मा के अश्रु-विनिर्मित काव्य में विलीन होती है। इस धारा के साथ हिन्दी के और भी अनेक आधुनिक कवि बहे हैं, जिनका विवरण यहाँ सम्भव नहीं।

छायावाद कोमल, रेशमी ताना-बानों से बुना हुआ काव्य है। वह आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई कलात्मक मंजिल पार कराता है। सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना-विलास, तीव्र अनुभूति आदि गुणों से यह काव्य सुशोभित था। यह काव्य आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रौढ़ता और उसके सौष्ठव का द्योतक है। छायावाद का उत्तराधिकार जिन कवियों ने ग्रहण किया, वे अहम्वादी, दुःखवादी और प्रयोगवादी हैं। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी उन्हीं के साहित्य में यथार्थवाद और समाजवाद के रूप में निहित है।

नई पौध

सन् '३० के लगभग ही कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू होती है, जिसे श्रीयुत नगेन्द्र शर्मा 'छायावाद का उत्तरार्द्ध' कहते हैं। इस नई पीढ़ी के कवि और भी अधिक अहम्वादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इस नवीन काव्य-धारा का आरम्भ हम श्री भगवतीचरण वर्मा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से कर सकते हैं; उसके पोषक सर्वश्री 'बच्चन', 'नरेन्द्र', 'अज्ञेय', 'अंचल' आदि हैं। यह कवि अपने चारों ओर गहन कुहासा देखते हैं और उससे बाहर निकलने को उनके प्राण छटपटाते हैं। उनमें से कुछ तो दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते हैं, जैसे नरेन्द्र और 'अंचल'। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है और इनकी कल्पना एक उदार मानव संस्कृति का स्वप्न देख सकती है, जो शोषण-क्रियाओं का सदा के लिए अन्त कर देगी। एक सीमा तक सभी उपरोक्त कवि इस स्वप्न की झलक देखते हैं, किन्तु इसकी सीमाएँ उनके व्यक्तिवाद ने दृढ़तर हाथों से उनके काव्य के चतुर्दिक खींची हैं। इनमें से कुछ कलाकार शैली, उपमाओं, विषयों के प्रयोग और नूतनता में अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। कला की प्राचीन परम्पराओं से अधिकाधिक वे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने लगते हैं। शैली की दुरूहता के कारण उनकी कला सर्वसाधारण के लिए अग्राह्य बनने लगती है और उनके पाठकों का क्षेत्र अधिकाधिक संकुचित होने लगता है।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति हम कथा-साहित्य में भी देखते हैं। प्रेमचन्द और उनके समवर्ती कथाकार यथार्थवादी और सामाजिक परम्परा के पोषक थे। कथाकार के रूप में 'प्रसाद' जी भी इसी परम्परा के अनुगामी थे। 'कंकाल', 'तितली' और 'गुण्डा' सदृश रचनाओं में उन्होंने समाज की कुरूपताओं का दिग्दर्शन कराया और उसे मिटाने का आग्रह कला में व्यक्त किया। किन्तु नवीन पीढ़ी के कलाकार मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित होकर मनुष्य के अन्तस् का चित्र अंकित करना चाहते हैं; इस दृष्टि से घनघोर कुहासा उन्हें अपने चतुर्दिक हिलोर मारता दिखाई देता है, और इस अन्धकार से बाहर निकलने का कोई पथ नहीं सूझता। वह जग की कुरूपता से इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं कि उसका कोई प्रतिकार उन्हें नहीं दिखाई देता। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' आदि इस श्रेणी के उपन्यास हैं। श्री 'अज्ञेय' का बृहत् उपन्यास 'शेखर' एक ही व्यक्तित्व की कथा है; सुगठित शैली में लिखे इस उपन्यास में सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता पूर्ण रूप से प्रगट होती है।

मनोविश्लेषण के प्रति छायावाद के परवर्ती साहित्य की आसक्ति उपर्युक्त विवेचना से कुछ मालूम हो सकती है। यूरोपीय साहित्य में कला-रूपों के लिए यह प्रभाव घातक सिद्ध हुआ है। हिन्दी में लेखकों का एक दल फ्रायड, ऑडलर आदि की स्थापनाओं की ओर आकर्षित होकर अपनी सामाजिक चेतना खो रहा था और यह भूल रहा था कि जीवन की विषमताओं में ही प्रगति के तत्त्व भी निहित रहते हैं, और मनुष्य निरन्तर प्रकृति से संघर्ष करके जीवन को बदला करता है। इस निराशा का कारण समाज-शास्त्री और अर्थ-शास्त्री यह बताते हैं कि पुरानी समाज और आर्थिक व्यवस्था आज खण्ड-खण्ड हो रही है; साम्राज्यवाद और पूँजीवाद नित्यप्रति आर्थिक संकट, महासमर और राष्ट्रों के संघर्ष को जन्म देते हैं। मनुष्य की प्राचीन मान्यताएँ आज तार-तार हो चुकी हैं। पुरानी व्यवस्था में पोषित कलाकार अपनी असमर्थता और असहायता पर सिर धुनता है, क्योंकि अभी तक किसी नवीन समाज-व्यवस्था की रूपरेखा उसकी कल्पना में स्पष्ट नहीं। उसे 'हलाहल' से मोह होता है; नियतिवाद को वह अपना जीवन-दर्शन बना लेता है और कहता है—

एक दिन सब पथ मिलेंगे,
तम भरे यम के नगर में।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति भी हम पाते हैं, जिसे प्रगतिवाद कहा गया है। इस धारा का आरम्भ सन् '३६ के लगभग 'युगवाणी' की रचनाओं अथवा 'रूपाभ' के जन्म-काल से होता है। इस धारा को शुक्लजी अपने इतिहास में समाजवादी धारा कहते हैं, और इसका आह्वान इन शब्दों में करते हैं—

"यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकलकर पन्तजी ने जगत् की विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत् से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता' है, इस 'रूप-सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।···

"शहद चाटने वालों और गुलाब की रूह सूँघने वालों को चाहे इसमें कुछ न मिले, पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। 'झंझा में नीम' का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पन्तजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता (True Romanticism) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य सन्तोष होता है।" (पृष्ठ ८६०–६२)

यह नवीन साहित्यिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, कलाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति आग्रह दिखाती है और एक नवीन शोषणरहित संस्कृति में आस्था रखती है। निस्संदेह ही इस नई साहित्यिक प्रवृत्ति ने लेखकों को उनके एकाकीपन और अहंवाद से मुक्त किया है, और अधिक स्वस्थ कला-निर्माण के लिए उन्हें प्रेरित किया है। इस आन्दोलन के साथ प्रेमचन्द, पन्त और 'निराला' के नाम सम्बद्ध हैं। नई पीढ़ी के अनेक मेधावी लेखक इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं। कवियों में सर्वश्री नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', 'सुमन', 'दिनकर', गिरजाकुमार माथुर, केदार, नागार्जुन आदि हिन्दी के तरुण, यशस्वी कवि अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य को गौरव प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार कथा-साहित्य में यशपाल, रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय आदि नित्य-प्रति हिन्दी साहित्य को सर्वांग-सुन्दर बनाने में तल्लीन हैं। इन कलाकारों ने हिन्दी-साहित्य में एक बार फिर सामाजिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया है।

आलोचना में नवीन मार्क्सवादी पद्धति को शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय आदि ने अपनाया है। नये आलोचक किसी भी कला-कृति को उसकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं। ये काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उसके कला-सृजन में एक अंतरंग सम्बन्ध देखते हैं और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। वास्तव में आज दो धाराओं का संघर्ष युग-साहित्य में चल रहा है; एक मनोविश्लेषण पद्धति जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहंवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

इसी सम्बन्ध में हमें जन-कवियों का भी उल्लेख कर देना चाहिए। हिन्दी के जनपदों में इस नव-जागरण की चेतना अच्छी तरह पैठ चुकी है। ब्रज-मण्डल, भोजपुर, मगध आदि प्रदेशों के जन-कवि दर्जनों की तादाद में अपनी बोलियों में कविता कर रहे हैं। इस सांस्कृतिक चेतना का हिन्दी-साहित्य में स्वागत होना चाहिए, क्योंकि इससे हमारा साहित्य जनता तक पहुँचकर अपनी जड़ें मजबूत करेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपसंहार

हिन्दी का आधुनिक साहित्य एक शताब्दी पार कर चुका है। इस दीर्घकाल में इसने परिवर्तन और विकास की एक लम्बी साहित्यिक मंजिल पार की है। मध्यकालीन रूढ़ियों में फँसे हिन्दी साहित्य को नये युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आधुनिक युग साहित्य की सामन्ती परम्परा का अन्त करता है; इस परम्परा का ह्रास सामन्ती समाज-विधान के क्षय के साथ अवश्यम्भावी हो गया था। नये सामाजिक और आर्थिक संगठन ने देश में एक नई संस्कृति को जन्म दिया, जिसकी पोषक, भारतीय इतिहास की नई प्रबल शक्ति मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग है। अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में विराट् परिवर्तन हुए, उद्योग-धन्धों, फेक्टरियों, प्रेस, तार, डाक और यातायात के नये साधनों ने भारतीय जीवन में एक नई क्रान्ति की। इसका श्रेय विदेशी शासक ले सकते हैं, यद्यपि देश के आर्थिक शोषण के लिए ही उन्होंने यह यन्त्र-संचय भारत में किया। पाश्चात्य संस्कृति और विचार-दर्शन के सम्पर्क से देश में नवीन जागरण की लहर उठी, किन्तु यह लहर भारतीय जीवन की वास्तविकता से ही प्रेरित हुई थी। पश्चिम के आचार-विचारों ने केवल खमीरे का काम किया।

भारत के नवीन सामाजिक जीवन और संस्कृति को आधुनिक साहित्य स्वर देता है। इस आधुनिक साहित्य की क्या विशेषताएँ हैं, जो मध्यकालीन साहित्य से उसे पृथक् करती हैं।

मध्यकालीन साहित्य की एक सामूहिक और शास्त्रीय परम्परा थी जो उस युग के अन्त होने पर लुप्त होने लगी। आधुनिक युग के कलाकार शास्त्र की अपेक्षा जीवन से प्रेरणा पाते हैं; उनका दृष्टिकोण अधिक व्यक्तिवादी है, इसी गुण को कुछ इतिहासकारों ने 'स्वच्छन्दतावादी' अथवा 'रोमाण्टिक' कहा है। यह भी कह सकते हैं कि मध्यकालीन साहित्य परम्परावादी है; आधुनिक साहित्य विशेष धाराओं में प्रवाहित होते हुए भी परम्परा-विरोधी है; व्यक्ति की प्रेरणा के सामने वह परम्परा की उपेक्षा करता है। सन्त कवियों ने जनता के लिए साहित्य-सृजन किया था; उनका लक्ष्य समाज-मंगल था। सन्त कवि साहित्य के इतिहास में एक असाधारण धारा हैं। उनके अतिरिक्त अन्य मध्यकालीन साहित्य दरबारों में पोषित हुआ था। आधुनिक साहित्य सामन्तों के प्रभाव से निकलकर जनता को अपना अवलम्ब और संबल बनाता है। यह जनता शिक्षा की सीमाओं पर निर्भर थी, किन्तु उन सीमाओं का निरन्तर विस्तार हो रहा था। मनुष्य, समाज, प्रकृति, चराचर के प्रति आधुनिक साहित्य की एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जो शास्त्रीय अथवा रूढ़ि-बद्ध न होकर यथार्थ के अधिक समीप है और उसी से प्रेरणा पाती है। मध्यकालीन साहित्य की अपेक्षा अधुनिक साहित्य का दृष्टिकोण पार्थिव भी अधिक है। आधुनिक कवि देश की, मनुष्य की, प्रकृति के साक्षात रूप की वन्दना करता है और इनके प्रति सामीप्य अनुभव करता है। वह कहता है—

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता,
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर।...

("युगवाणी", 'मानवपन')

एक शताब्दी के दीर्घकाल में आधुनिक साहित्य के दृष्टिकोण में अनेक परिवर्तन हुए, जिनकी कुछ विवेचना ऊपर हो चुकी है। भारतेन्दु युग में साहित्य की नई परम्परा का अभ्युत्थान हुआ। भारतेन्दु युग के लेखकों की दृष्टि बहिर्मुखी थी; उनका दृष्टिकोण सामाजिक था, किन्तु युग के प्रमुख लेखकों को छोड़कर अन्य औसत कलाकारों की रचनाओं में अधिक साहित्यिक प्रौढ़ता न थी। वे नवीन शैलियों और कला-रूपों को गढ़ रहे थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक साहित्य की विशेषता गद्य-साहित्य और उसके विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, उपयोगी साहित्य, आदि—का विकास है। भारतेन्दु युग के लेखक हिन्दी गद्य की भाषा, खड़ीबोली, की रूप-रेखा निर्धारित कर रहे थे, और कथा-साहित्य, निबन्ध आदि का आरम्भिक रूप स्थिर कर रहे थे। द्विवेदी युग ने इन शैलियों और साहित्य-रूपों का परिमार्जन और विकास किया; कविता, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि में इस काल-खंड ने हिन्दी साहित्य की सीमाओं का विस्तार किया। हिन्दी-पाठकों की संख्या इस युग में बहुत बढ़ी, और खड़ीबोली का साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। तृतीय उत्थान में आधुनिक साहित्य प्रौढ़ता की चरम सीमा तक पहुँचा; भाषा में नई माधुरी, कोमलता और व्यापकता आई; उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, काव्य, निबन्ध और उपयोगी साहित्य, सभी दिशाओं में अभूतपूर्व विकास हुआ और वयः प्राप्त हिन्दी-साहित्य अन्यान्य युगों और देशों के साहित्य का समकक्षी बनने का अधिकारी हुआ। इसी काल-खण्ड में हिन्दी-साहित्य में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का आविर्भाव और प्रसार हुआ। यह प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम काव्य में प्रगट होती हैं, और क्रमशः साहित्य के अन्य अंगों को प्रभावित करती हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने अभी तक युग-चेतना का नेतृत्व किया था; सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों और उथल-पुथल में हिन्दी के साहित्यकार अग्रगामी रहे थे, किन्तु बढ़ते आर्थिक और सामाजिक संघर्ष और संकट के युग में नये कलाकारों की प्रेरणा अन्तर्मुखी और अहंवादी होने लगी। वे निराशावादी और नियतिवादी बन गए अथवा टेकनीक के प्रयोगों में अपनी प्रतिभा विकीर्ण करने लगे। अपनी काव्य-भूमि की विवेचना के रूप में इस परिस्थिति का मार्मिक और हृदयग्राही वर्णन श्री नरेन्द्र शर्मा ने 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया है। इस विषम परिस्थिति से निकलने का प्रयत्न युग के नये कलाकारों ने किया, जिसे भविष्य के इतिहासकार सम्भवतः आधुनिक युग का चतुर्थ उत्थान कहें। इस साहित्य की विशेषता यथार्थवाद अथवा बुद्धिवाद कह सकते हैं। नये लेखकों की दृष्टि वैज्ञानिक है, उनकी सामाजिक चेतना तीव्र है, उन्हें नव-संस्कृति के स्वप्न की प्रेरणा उद्वेलित कर रही है। इस प्रकार अहंवाद और प्रयोगवाद के अन्धकूप से आधुनिक साहित्य का निकलना निश्चित है।

जिन वादों और प्रभावों से आधुनिक साहित्य निकल रहा है, उनमें विज्ञान, समाजवाद, मनोविश्लेषण विज्ञान, यथार्थवाद आदि प्रमुख हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य आज विद्रोह के मार्ग पर चल रहा है। वह सभी कुछ 'जीर्ण और पुरातन' भस्मीभूत कर देना चाहता है, किन्तु सृष्टि और पुनर्निर्माण की क्रिया भी विध्वंस के साथ ही चलती है। आधुनिक साहित्य भारत के आधुनिक जीवन को प्रतिबिम्बित और चित्रित करता है; उसकी वेदना, कुरूपता, विवशताएँ,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आशाएँ और आदर्श आधुनिकता की समस्त जीवन-प्रेरणा और व्यथा वह व्यक्त करता है। आधुनिक युग ने अपना नया जीवन-दर्शन और मार्ग प्रशस्त किया है। उसकी दृष्टि पृथ्वी और आकाश के नये रूप देख रही है। इनका सांगोपांग वर्णन हम नये साहित्य में पाते हैं। आधुनिक साहित्यकार नये जीवन-अनुभव और जगत् के किनारे खड़ा सीपी और मोती बटोर रहा है। कवि की नई दृष्टि का वर्णन पन्तजी ने 'युगवाणी' में इस प्रकार किया है :—

खुल गए छन्द के बन्ध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ, युग वाणी बहती अयास!
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम।.....

('तन दृष्टि')

कला-रूपों की विविधता और 'अनेकरूपता' आधुनिक साहित्य की अपनी विशेषता है। इस युग ने कथा-साहित्य, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि का विकास ही नहीं किया, वरन् इन रूपों में निरन्तर नवीन शैलियों का प्रयोग करके उन्हें पुष्ट और समृद्ध भी बनाया है। प्रयोगशीलता का साहित्य में अपना महत्त्व है, यद्यपि यह निर्विवाद है कि नवीन जीवन-प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए ही कला-रूपों में नये प्रयोग सफल होते हैं, प्रयोग के लिए प्रयोग करके नहीं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह हिन्दी के इतिहास में अभूतपूर्व उन्नति का युग है। सभी साहित्य-रूपों का इस युग ने विकास किया और हिन्दी की सीमाओं का विस्तार किया। आधुनिक जीवन की अनेकरूपता, विविधता और संवेदना का वह सम्यक् और समर्थ प्रतिनिधि है। निरन्तर उसका विकास और प्रस्फुटन हो रहा है। आशा है आगे चलकर और भी अधिक प्रौढ़ता उसमें आयगी और किसी भी देश अथवा काल के साहित्य की तुलना में वह हल्का न उतरेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डा० रघुवंश

आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध (१८५०-१९१८)

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ खड़ीबोली के विकास से प्रारम्भ होता है; और खड़ीबोली के विकास में देश के नव-जागरण का इतिहास छिपा है। पिछले युगों में हिन्दी-भाषा को किसी प्रकार का राज्याश्रय प्राप्त नहीं था, इस कारण जन-जीवन के आधार पर वह पनपी है। परिणामस्वरूप हिन्दी के आधुनिक युग के साहित्य में जनता की भावनाओं का इतिहास छिपा है। जिस समय यूरोप की विभिन्न जातियाँ भारत में अपने पैर जमा रही थीं, उस समय हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन कविता का पतनोन्मुखी तथा रूढ़िवादी युग था। १९वीं शताब्दी तक अंग्रेजों के पैर यहाँ जम चुके थे; कम्पनी का शासन देश के विस्तृत भू-भाग पर स्थापित हो चुका था। इसके पूर्व ही शताब्दियों की अनिश्चित तथा कमजोर राज्य-व्यवस्था में जनता के जीवन की प्रत्येक दिशा में एक बहुत बड़ा शून्य समा गया था। इसके मूल में राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक तथा धार्मिक कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। जन-जीवन के सामने से आदर्शों की दिशा लोप हो गई थी, पर वह सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों की शृंखलाओं को ढोता आ रहा था। ऐसी परिस्थिति में विदेशी नीति के फलस्वरूप जनता के सामने आर्थिक प्रश्न भी कठोर होता जा रहा था। इस प्रकार एक ओर यदि जनता के जीवन में कुण्ठा आती जा रही थी और आदर्शों से पतन हो रहा था, तो दूसरी ओर उसमें अपनी परिस्थिति के प्रति असन्तोष की भावना भी जागने लगी थी।

विदेशियों के पैर ज्यों-ज्यों इस देश पर जमते गए, देश का सम्पर्क पश्चिम से बढ़ता गया। विदेशी शासन के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से देश का लाभ भी हुआ, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अंग्रेजों ने रेल, तार, डाक आदि वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग के साथ देश में पश्चिम की नई शिक्षा का प्रसार भी किया। इस नवीन शिक्षा से जाति में नव-चेतना का जागरण हुआ। यही कारण है कि राजा राममोहनराय जैसे प्रगतिशील भारतीय भी अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार के पक्ष में थे। मैकाले की धारणा कुछ भी रही हो, कम्पनी सरकार की नीति कुछ भी रही हो, पर अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से हमारा पश्चिम से अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया। इस सांस्कृतिक सम्पर्क ने देश के जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी। अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्त्व समझने लगा। परन्तु इस शिक्षा और सम्पर्क का प्रभाव विदेशी शासन के अन्तर्गत देश पर बुरा भी पड़ा। यूरोप की नवीन शिक्षा के प्रकाश में आये हुए व्यक्ति अपनी प्राचीन शिक्षा तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति नितान्त उदासीन हो गए, जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। शिक्षित समुदाय जनता की अविच्छिन्न जीवन-धारा से अपने-आप अलग पड़ गया। इस वर्ग के लोग पश्चिमी सभ्यता से इस प्रकार आकर्षित हो गए थे कि उसी को पूरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तरह अपना लेना चाहते थे, पर वह देश के परम्परागत स्वाभाविक जीवन के अनुरूप नहीं थी।

इस नव-शिक्षित-वर्ग से आशा यह की जा सकती थी कि वे पश्चिमी सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर भारतीय जीवन के प्राचीन आदर्शों का मूल्यांकन करेंगे और इस प्रकार जनता के सामने नया मार्ग प्रशस्त करेंगे। परन्तु इनमें से अधिकांश ने स्वदेशी तथा प्राचीन संसार से घृणा प्रकट की; अतः वे स्वयं जन-जीवन के नायक नहीं बन सके। प्रत्येक क्रिया के साथ उसकी प्रतिक्रिया छिपी रहती है। अतः इसी शिक्षित वर्ग से एक ऐसा वर्ग भी निकल आया जो देश की माँग को ठीक प्रकार से पहचान सका। इस वर्ग में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से धर्म तथा समाज की प्रचलित बुराइयों के प्रति विद्रोह की भावना थी···वह उनका विरोध करता था। परन्तु भारतीय प्राचीन परम्पराओं के प्रति इसके मन में श्रद्धा थी; वह प्राचीन मूल्यों को नवीन दृष्टि से आँकने का पक्षपाती था। पश्चिमी शिक्षा के अन्ध-भक्तों की भारतीय प्राचीन संस्कृति की अवहेलना उसको अत्यधिक पीड़ा पहुँचाती थी। विदेशी चालचलन, आचार-विचार, खान-पान की नकल करने वाले नव-शिक्षित अपने देश की बातों को गँवारू तथा उपेक्षणीय मानने लगे थे; और इस वर्ग के स्वदेश-भक्तों के लिए यह बहुत बड़े कष्ट की बात थी। इस प्रकार यह वर्ग भारत की नवोदित राष्ट्रीय चेतना को सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में जगा रहा था, जिसका एक ध्येय यह भी था कि शिक्षित समुदाय के दृष्टिकोण का सुधार करके उसे स्वदेश के गौरव की भावना से भरा जाय। इस भावना के अन्तर्गत निज भाषा हिन्दी के प्रति प्रेम भी है; साथ ही राष्ट्रीय चेतना के उन्नायकों में इस युग के हिन्दी के साहित्यिक भी आते हैं।

पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था, और इसी बदलते हुए दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। पूरब-पश्चिम के सांस्कृतिक सम्पर्क से जो नई चेतना उद्बुद्ध हो रही थी और उससे जो विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उसके प्रभाव में हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ विकास के एक नये युग में प्रवेश किया। परन्तु हिन्दी-साहित्य के इस युग के प्रवर्तकों में उसी वर्ग के लोग थे जो नव-शिक्षा से प्रकाश ग्रहण करके भी प्राचीन भारत के सांस्कृतिक गौरव से प्रभावित थे और जन-जीवन को उसकी प्राचीन परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न करने के पक्ष में नहीं थे। इसी कारण १९वीं शताब्दी के सभी साहित्यकार सुधारवादी थे और उनमें से अधिकांश ने सक्रिय रूप से राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों में भाग लिया था। यह दृष्टिकोण २०वीं शती के प्रारम्भ तक बना रहा, केवल इस काल में उसे अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक रूप मिल सका है। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध की कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक कृतियों में इन आन्दोलनों का प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही इस साहित्य के भावों, विचारों तथा भाषा-शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल के साहित्य को इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए डा० वर्ष्णेय लिखते हैं—"उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध' के हिन्दी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नवभारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ प्रकट करके अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इंगित किया है।"

२०वीं शताब्दी के आरम्भ होने के साथ ही आधुनिक साहित्य ने एक नया मोड़ लिया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। इस काल को साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-काल का नाम दिया गया है; वैसे यह आधुनिक साहित्य का मध्य-काल भी माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल (१९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) जन-जागरण का समय था; पर उस समय तक जनता के सामने राष्ट्रीय भावना स्पष्ट नहीं हो सकी थी। परन्तु इस काल तक राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूप-रेखा साफ प्रकट होने लगी थी। शिक्षित मध्यम-वर्ग का यह साहित्य है, तथा इस वर्ग के सामने स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से, स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से और बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना की थी। संस्कृत-साहित्य के अध्ययन, पुरातत्त्व के खोजों से भारत का सम्मान विदेशों में बढ़ रहा था। जापान की रूस पर विजय होने से भारतीयों को एशियावासी होने के नाते गौरव का अनुभव हुआ। कहा गया है कि पहले भी शिक्षित वर्ग अपने प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट होने लगा था। पर अब सभी क्षेत्रों में आन्दोलन की दिशा स्पष्ट हो गई थी। पहले सामाजिक सुधार आन्दोलनों को अधिक महत्त्व मिलता था, पर अब उन सबको राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के अङ्ग के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप इस काल में प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। प्राचीन संगीत, चित्रकला, वास्तु तथा स्थापत्य-कला को फिर से नवीन रूप में स्थापित करने का प्रयास होने लगा। भातखण्डे ने संगीत के क्षेत्र में तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्र-कला के क्षेत्र में इस जागरण में भाग लिया। कुमारस्वामी ने भारतीय प्राचीन कलाओं का मूल्यांकन संसार के सामने नवीन दृष्टिकोण से रखना इसी काल से प्रारम्भ किया। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी का महत्त्व अधिक बढ़ता गया। लोगों के मन में भारतीय कहलाना अब गौरव की बात थी, और इसी भावना को इस काल के साहित्य में अनेक प्रकार से आभिव्यक्ति मिली है। इस दृष्टि से यह काल विकास की नई सीमा-रेखा माना जा सकता है। पिछले काल तक रूढ़ियों का विरोध सुधार के स्वर तक सीमित था, पर अब साहित्य में आदर्शों की दृष्टि से स्वच्छन्द-भावना विकसित हो रही थी। परम्परा को छोड़कर साहित्य में पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं तथा चरित्रों को राष्ट्रीय आदर्श-भावना की दृष्टि से नया रूप मिल रहा था। ऐसे पात्रों को महत्त्व मिला जिनकी पहले उपेक्षा हुई थी। समाज से भी साधारण देश-प्रेमी नायकों को चुना गया। इस आन्दोलन का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ रहा था, इस कारण इस साहित्य में मानसिक हलचल और जागरूकता का रूप तो है, पर साहित्यिक प्रौढ़ता उतनी नहीं मिलती।

× × ×

१९वीं शताब्दी तक साहित्य में कविता की भाषा व्यापक रूप से ब्रज-भाषा थी और उसकी परम्परा भक्ति तथा रीतिकाल से ग्रहीत थी। वह काव्य जन-रुचि के निकट नहीं था, क्योंकि देश का ध्यान धीरे-धीरे अपनी दशा की ओर जा रहा था। सेवक, द्विजदेव तथा भारतेन्दु के काव्य में साहित्यिक श्रेष्ठता मिलती है, पर सभी कवियों में पुरानी रूढ़ि को ढोने की भावना प्रधान है। कुछ पुरानी रुचि के लोग कवि-समाज तथा रसिक-समाज जैसी संस्थाओं तथा कवि-सम्मेलनों द्वारा ब्रज-भाषा के इस काव्य का अनुशीलन अभी तक करते रहे हैं। मध्य आधुनिक काल में भारतेन्दु के समान 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे प्रतिभावान और मधुर ब्रज-भाषा के कवि हुए हैं। इस कविता में विषय, भाषा तथा छन्द-विधान सभी कुछ एक प्रकार से प्राचीन है, इस कारण इसको आधुनिक न मानकर प्राचीन परम्परा का अवशेष-मात्र मानना चाहिए। प्रमुख कवियों ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुछ आधुनिकता लाने का प्रयास किया है। प्राचीन छन्दों के स्थान पर लोक-प्रचलित छन्दों—जैसे कजली, बिरहा, रेखता तथा मलार आदि—का प्रयोग किया गया। कुछ कवियों ने भाषा को अधिक सजीव रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया; इनमें सत्यनारायण तथा जगन्नाथदास जी प्रमुख हैं। कुछ कवियों के काव्य में आधुनिक आन्दोलनों का प्रभाव तथा नवीन आदर्शों की स्थापना भी मिलती है। देश-भक्ति की भावना भी यत्र-तत्र मिल जाती है। परन्तु सब मिलाकर ब्रज-भाषा की कविता आधुनिक युग की माँग को पूरी न कर सकी और क्रमशः साहित्य से बहिष्कृत होती गई।

इसके विपरीत हिन्दी खड़ी बोली काव्य की आधुनिक धारा पुरानी परम्पराओं को छोड़कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नये विषयों तथा नये क्षेत्रों की ओर मुड़ रही थी। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जागरण के इस युग में कविता में विभिन्न सुधार आन्दोलनों की उत्साह-पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। पर जब तक हम इस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप पर तत्कालीन परिस्थिति के साथ विचार नहीं करेंगे, तब तक हम भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा बद्रीनारायण चौधरी आदि की कविता की भावना का सच्चा मूल्यांकन नहीं कर सकते। इन कवियों में राज्य-भक्ति की भावना भी पाई जाती है। वास्तव में इस समय जनता के मन में यह विश्वास था कि अँगरेजी राज्य से देश की उन्नति हो सकेगी। अपनी सामाजिक परिस्थिति के कारण भी इन कवियों का दृष्टिकोण बाद की राष्ट्रीय भावना से भिन्न था। प्रारम्भ में जिन परिस्थितियों में काँग्रेस ने जन्म लिया था, उसमें भी यही भावना प्रधान थी कि भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य में समता का अधिकार मिलना चाहिए और उनको अपनी उन्नति करने के लिए पूरी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस काल के कवि और लेखकों के आदर्शों को समझ सकते हैं। वे जनता की माँगों को एक ओर सरकार के सामने रखते दिखाई पड़ते हैं और दूसरी ओर विभिन्न सुधारों द्वारा जनता को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। साथ ही देश के आर्थिक शोषण और उसकी निर्धनता के प्रति कवि जागरूक तथा संवेदनशील हुए हैं। उन्होंने इस विदेशी नीति का विरोध किया है, और कठोर-से-कठोर शब्दों तथा व्यंग्यों में अपनी भावना को व्यक्त किया है।

उन समस्त भावनाओं का मूल इस साहित्य में मिलता है, जिनका आगे चलकर विकास हुआ। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द आदि कवि अँगरेजों की आर्थिक नीति से परिचित थे; वे विदेश जाते हुए धन तथा देश के नष्ट होते हुए उद्योग-धन्धों को देखकर क्षुब्ध थे। वे जनता की दीन-हीन स्थिति को देखकर दुःखी थे। इस स्थिति के प्रति अपने ढंग से इन कवियों ने विद्रोह का स्वर भी ऊँचा किया है। ये कवि साधारणतः उदार नीति के कहे जा सकते हैं—उन नेताओं के समान जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सविनय अधिकारों को प्राप्त करने के पक्ष में थे। फिर भी जिस प्रकार इन कवियों ने सामाजिक-धार्मिक बुराइयों की आलोचना निर्ममता के साथ की है और विश्वास प्रकट किया है कि भारतय आदर्शों के माध्यम से देश की उन्नति हो सकती है, उसी प्रकार इन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों से उत्पन्न दुःख-दैन्य का वर्णन भी मार्मिकता से किया है। इस काल की कविता में भाषा के प्रश्न पर भी बहुत-कुछ कहा गया है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त राधाकृष्णदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने हिन्दी-भाषा को राष्ट्रीय दृष्टि से देखने का प्रयास किया है तथा उसकी स्थिति पर खेद प्रकट करते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हुए संघर्ष का स्वर भी उठाया है। इन कवियों ने भाषा को राष्ट्रीय उन्नति के मूल में देखने का प्रयास किया है। इस काल में अँगरेज़ी कविता के अनुवाद की ओर भी लोगों का ध्यान गया। श्रीधर पाठक का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है। वैसे अपनी कविता की दृष्टि से पाठक अगली स्वच्छन्दवादी भाव-धारा के कवि हैं। वास्तव में जैसा कहा गया है इस काल में साहित्य के सभी क्षेत्रों के साथ कविता में भी नवीन शैली तथा नवीन भावना का विकास हो रहा था। प्रारम्भिक युग की इस कविता में काव्य के विशेष गुण नहीं हैं, पर आगे के साहित्य की भूमिका के रूप में इस साहित्य का कम महत्त्व नहीं है।

इसके बाद द्विवेदी-काल में जिसको यहाँ आधुनिक युग का मध्यकाल कहा गया है, अँगरेज़ी के प्रभाव से कविता में स्वच्छन्दवादी भावना का विकास हुआ। प्रारम्भ के सुधारवादी आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण करने के बाद काव्य जीवन के अधिक व्यापक स्तर पर उतरने लगा। यह भाव-धारा केवल पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से विकसित हो रही थी, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस काल का साहित्य जिस मध्य-वर्ग से सम्बन्धित है, वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों को इस साहित्य में अभिव्यक्त कर रहा था। इसमें प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियों के प्रति विरोध की भावना पाई जाती है। कवि और साहित्यकार का ध्यान जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों की ओर आकर्षित हो रहा था, जिनकी अब तक अवहेलना की गई थी। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय तथा सियारामशरण गुप्त आदि कवियों ने प्राचीन, पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से की है। जिन चरित्रों को सामाजिक आधार पर लिया गया है, वे भी नवीन आदर्शों के अनुरूप हैं। इस काल का अधिकांश काव्य वर्णनात्मक तथा प्रबन्धात्मक है, परन्तु जीवन तथा प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण बदल चुका था। इस कारण इस काल के काव्य में स्वच्छन्दवादी भावना के दर्शन होते हैं यद्यपि जैसा डॉ० श्रीकृष्णलाल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के विकास' में स्वीकार किया है कि यह स्वच्छन्दवादी काव्य की सैद्धान्तिक भूमिका-मात्र तैयार हुई थी। इसका कलात्मक पक्ष आगे के छायावादी काव्य के युग में विकसित हुआ। १९१८ ई० के बाद छायावादी व्यक्तिपरक गीतियों का काल प्रारम्भ होता है जिसमें कला की दृष्टि से स्वच्छन्दवाद के अनेक तत्त्व पाये जाते हैं। इस काव्य के साथ स्वतन्त्र स्वच्छन्द-वादी भाव-धारा के विशेषकर प्रेम तथा प्रकृति के काव्य भी आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। परन्तु भाषा, छन्द तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों से मुक्त होकर उन्मुक्त स्वच्छन्दवाद का जो रूप हमको आधुनिक युग के मध्य-काल (द्विवेदी-काल) में श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों में मिलने लगा वह स्वतन्त्र रूप से आगे विकसित नहीं हो सका।

१९वीं शताब्दी तक गद्य का समुचित विकास हुआ। इस काल के गद्य-लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है पर व्यक्तित्व अवश्य है। इस साहित्य में गोष्ठी-साहित्य की सीमाओं के साथ उसकी विशेषताएँ भी हैं। इस गोष्ठी-साहित्य में जीवन का व्यापक आधार नहीं है, साथ ही उसका उतना स्वाभाविक रूप भी नहीं आ सका है। परन्तु इस साहित्य में मुक्त वातावरण तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है, जिसकी हिन्दी के भक्ति तथा रीति-साहित्य में विशेष कमी रही है। इस काल का गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज-सशक्त है। इस समय तक ब्रजभाषा के गद्य की परम्परा नष्टप्राय हो चुकी थी। टीकाओं में व्यवहृत गद्य में अर्थ तथा भाव

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यक्त करने की शक्ति नहीं रह गई थी। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से गद्य को निश्चित रूप मिल सका। इस शती के प्रारम्भिक सात-आठ वर्षों तक गद्य में भाषा-सम्बन्धी बहुत अव्यवस्था थी, पर बाद में द्विवेदीजी के सतर्क निरीक्षण में भाषा का रूप निश्चित तथा व्यवस्थित हो चला। प्रारम्भिक काल में जिन शैलियों का जन्म हुआ था, उनको इस काल में विकास का पूरा अवसर मिल गया। इस काल में विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क में आने से हिन्दी-साहित्य में विभिन्न गद्य-शैलियों का विकास हुआ जिनमें संस्कृत, बंगला, महाराष्ट्री, अँगरेज़ी तथा उर्दू आदि की विभिन्न शैलियों के रूप पाये जाते हैं। डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में "हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया।" इस प्रकार विभिन्न प्रभावों के साथ हिन्दी भाषा अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर रही थी।

सशक्त गद्य के अभाव में नाटकों की कल्पना नहीं की जा सकती। पिछले हिन्दी-साहित्य में नाटकों के अभाव के कारणों में एक कारण यह भी रहा है। इस काल में गद्य का विकास हुआ, साथ ही नाटकों का प्रारम्भ भी हुआ। वास्तव में भारतेन्दु को ही हिन्दी-नाटकों का जन्मदाता मानना चाहिए। वे प्रतिभा तथा अन्तर्दृष्टि के व्यक्ति थे। उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ नाटक की विशेष शक्ति पहचान ली थी। उन्होंने पारसी नाटक-कम्पनियों के जनता पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव को देखा था; वह उससे हिन्दी-साहित्य तथा जनता को बचाना चाहते थे। इस कारण एक ओर उन्होंने 'नाटक' के अन्तर्गत नाटकीय सिद्धान्तों का परिचय दिया तथा अपने मत को भी स्पष्ट किया, और दूसरी ओर अनेक नाटकों की रचना करके हिन्दी-साहित्य में नाटकों की परम्परा चलाई। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में प्राचीन नाटकीय सिद्धान्तों के साथ नवीन आवश्यकताओं तथा प्रभावों को भी ग्रहण किया है। यह उनकी तथा उनके अनुवर्ती नाटककारों लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल, केशवराम भट्ट, ब्रद्रीनाथ भट्ट आदि की रचनाओं से स्पष्ट है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में आदर्शों की मर्यादा है तथा रस प्रधान है, पर इस काल के नाटकों में सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया गया; देश, समाज तथा धर्म की विभिन्न समस्याओं को उठाया गया; रस के स्थान पर व्यंग, कौतुक तथा हास्य का माध्यम स्वीकार किया गया। कथा-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों से चुनाव किया जाने लगा। हरिश्चन्द्र तथा उनके साथियों ने नाटक, नाटिका, भाण, नाट्य-रासक, गीति-नाट्य आदि अनेक प्रयोग किये; पर संस्कृत से प्रेरणा ग्रहण करके लिखे जाने पर भी इनका रूप नवीन है।

नाटकों का विकास उचित रंगमंच के अभाव में जैसा होना चाहिए था, आगे नहीं हो सका। आधुनिक साहित्य में नाटकों का स्थान २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी विशेष महत्त्व नहीं पा सका। पारसी कम्पनियों के प्रभाव से जनता को बचाने के लिए नाटकों का प्रारम्भ किया गया था, परन्तु वे अपने को पारसी रंगमंच तथा नाटकों के प्रभाव से बचा नहीं सके। साहित्यिक नाटककार कथा-वस्तु के आदर्श की रक्षा तो कर सके, पर कलात्मक रचना की दृष्टि से विशेष सफल नहीं हो सके। राधाकृष्ण दास, माधव शुक्ल, मिश्रबन्धु आदि में समान रूप से नाटकीय कला तथा निर्देशन-कला की दृष्टि से दोष पाये जाते हैं। इनके नाटकों के कथानक अव्यवस्थित तथा अस्वाभाविक और संलाप असंगत हैं। समानुपात तथा निर्देशन का ज्ञान इनमें नहीं है। इसका कारण यह है कि इन नाटककारों को रंगमंच का समुचित अनुभव नहीं था। इनमें प्रयुक्त हास्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पारसी कम्पनियों द्वारा प्रयुक्त हास्य से अधिक श्रेष्ठ नहीं है। बद्रीनाथ भट्ट ने इस दृष्टि से कुछ सफलता पाई है। उन्होंने कथावस्तु का विकास अपेक्षाकृत समुचित ढंग से किया है। वह चरित्र-चित्रण अधिक सफलता से कर सके हैं। निर्देशन का ज्ञान तथा कलात्मक सौन्दर्य भी उनमें विशेष है। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पारसी कम्पनियों में नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा तथा राधेश्याम कथावाचक आदि नाटक लिख रहे थे। इनमें साहित्यिक रुचि पाई जाती है, पर ये पारसी कम्पनियों के नाटकों के सार को बहुत कम सुधार सके हैं, वरन् इस काल में चमत्कार तथा उत्तेजक दृश्यों तथा परिस्थितियों का समावेश चित्रपट के प्रभाव से अधिक ही हुआ है। भाषा और संलाप की दृष्टि से कुछ विकास माना जा सकता है।

इस नवीन युग में गद्य-शैली के साथ साहित्य के अनेक नये रूपों का भी विकास हो रहा था। इन शैलियों और रूपों पर यूरोप के साहित्य तथा विचार-धाराओं का स्पष्ट प्रभाव था। इसी काल में पहले-पहल निबन्धों का रूप मिलने लगता है। गोष्ठी-साहित्य का वातावरण इस साहित्यिक रूप तथा शैली के अनुरूप था। गोष्ठी-साहित्य का उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण तथा उसकी आत्मीय भावशीलता निबन्ध-शैली की प्रारम्भिक विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग के प्रारम्भिक लेखक प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि प्रमुख निबन्धकार भी थे। भाषा का रूप निश्चित न होते हुए इनकी शैली में व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है। इनका उन्मुक्त स्वभाव तथा इनकी व्यंग और हास्यप्रियता इनके निबन्धों में भी परिलक्षित होती है। इनके निबन्धों के विषय सभी क्षेत्रों से चुने गए हैं। भट्टजी की भाषा शिष्ट तथा परिमार्जित है पर मिश्रजी में ग्रामीणता की पुट विशेष है। गुप्तजी की भाषा गति तथा प्रवाहपूर्ण है। भट्टजी का व्यंग्य तथा हास्य मार्मिक तथा अवैयक्तिक है, पर मिश्रजी में परिमार्जन की कमी के साथ वैयक्तिकता अधिक है। गुप्तजी का व्यंग्य तीखा अधिक है। नई-नई पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से विभिन्न साहित्यिक रूपों के साथ निबन्धों को भी विकास का अधिक अवसर मिला।

आगे चलकर २०वीं शताब्दी में निबन्धों के स्थान पर लेख तथा प्रबन्धों का विकास अधिक हुआ। इस काल में व्यक्ति-प्रधान तथा आत्मीय भावना से पूर्ण शैली में लिखने वाले चन्द्रधर गुलेरी तथा पूर्णसिंह आदि कुछ ही निबन्धकार रह गए। फिर भी निबन्ध-शैली का पर्याप्त विकास हुआ। कुछ निबन्धों में स्वप्नों तथा चिन्तनों को साहित्यिक व्यंजना का रूप दिया गया और कुछ में कवित्व के भावोद्रेक का आश्रय ग्रहण किया गया। क्रमशः गद्य-शैली के विकास के साथ कहानी, वार्तालाप, भाषण आदि का प्रभाव निबन्धों पर पड़ा। परन्तु क्रमशः विचार और तर्क की प्रधानता से निबन्ध के स्थान पर लेख का प्रचार बढ़ गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास के निबन्धों में विवेचना का क्रम अधिक निश्चित है तथा विषय-प्रतिपादन की चेष्टा है; इस कारण वे शुद्ध निबन्ध की कोटि में नहीं आते। आगे चलकर निबन्ध-शैली की विभिन्न विशेषताओं ने कहानी, भाषण, स्केच तथा संस्मरण आदि का रूप धारण किया। इसी समय से विवेचनात्मक लेखकों का युग प्रारम्भ होता है, पर समालोचना का आदर्श अभी तक स्थापित नहीं हो सका था। इस समय तक समालोचना तुलनात्मक तथा प्रशंसात्मक ही अधिक है। इस क्षेत्र में आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास ने विशेष कार्य किया है। आचार्य शुक्ल ने बाद में भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का समन्वय किया।

नाटकों के साथ आधुनिक युग में उपन्यासों का भी विकास हुआ। इसके पहले कुछ पौराणिक तथा लौकिक प्रेम-कथाएँ अवश्य मिलती हैं, परन्तु आधुनिक उपन्यासों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस युग के प्रारम्भ में कौतूहल तथा वैचित्र्यमूलक तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों का प्रचलन हुआ। देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी इस प्रकार के प्रधान लेखक थे। किशोरीलाल गोस्वामी तथा कार्तिकप्रसाद खत्री के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का आधार साधारण है; उनमें प्रेम और रोमान्स को विशेष महत्त्व दिया गया। इनके अतिरिक्त सामाजिक उपन्यासों का प्रचलन हो चला था। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, गोपालराम गहमरी, राधाकृष्ण गोस्वामी तथा हनुमन्तसिंह आदि के उपन्यासों में उस समय के समाज का रूप है। पर इनमें सुधार का दृष्टिकोण प्रधान है। इस प्रारम्भिक काल के उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य, लोक-प्रेम-कथा-साहित्य तथा अँग्रेजी के साधारण कोटि के उपन्यासों का प्रभाव था। अनेक भाषाओं से अनुवाद भी हुए। परन्तु यह उपन्यासों की प्रारम्भिक स्थिति थी, जिसमें कौतूहल, प्रेम तथा सुधार की भावना प्रधान थी। अभी तक उपन्यासों में यथार्थवादी कथावस्तु तथा स्वाभाविक चरित्र-चित्रण का रूप भी सामने नहीं आ सका था। हमारे आलोच्य युग के समाप्त होने के समय साहित्य में प्रेमचन्द के प्रवेश से ही उपन्यासों में विशेष परिवर्तन की स्थिति दिखाई देती है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२१) तथा 'रंगभूमि' (१९२२) में वास्तविक चरित्र-चित्रण का रूप मिलना प्रारम्भ होता है। उसके पहले अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता, मन्नन द्विवेदी आदि के सामाजिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है, पर इनमें वर्गगत (type) चरित्रों के रूप ही सामने आ सके हैं। उपन्यासों में व्यक्ति-करण का युग बाद में प्रेमचन्द तथा कौशिकजी के साथ प्रारम्भ होता है। ऊपर के लेखकों के उपन्यासों में कलात्मक गठन का अभाव भी है। उनमें केवल सामाजिक तथा घरेलू जीवन के चित्र यत्र-तत्र स्वाभाविक बन पड़े हैं। साथ ही इस समय तक उपन्यासों में नैतिक आदर्शों का विशेष प्रभाव रहा है, और इस कारण भी कला की दृष्टि से विशेष उन्नति नहीं हो सकी। व्रजनन्दनसहाय तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के उपन्यास भाव-प्रधान हैं, परन्तु इनमें कवित्वपूर्ण व्यंजना के अतिरिक्त कथानक या चरित्र-चित्रण की कोई विशेषता नहीं है। बाद में 'प्रसाद' जी ने इस शैली को अधिक कलात्मक रूप दिया है।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक कहानी-शैली का विकास नहीं हो सका था। कहानी का इतिहास केवल २०वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में अंग्रेजी तथा संस्कृत के नाटकों की कथावस्तु को कहानियों के रूप में प्रस्तुत किया गया। वैसे कहानी बहुत लोक-प्रचलित शैली है, पर उसका आधुनिक रूप अपने नाटकीय गठन के कारण सम्भवतः इन्हीं अनुवादों के माध्यम से हमारे साहित्य में आया। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी (१९०० जून) पर डॉ० श्रीकृष्णलाल 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव मानते हैं। पार्वतीनन्दन तथा वंग महिला ने अनेक अनुवादित तथा रूपान्तरित कहानियाँ इस बीच में 'सरस्वती' में प्रकाशित कराईं। यह आश्चर्य की बात है कि कहानियों में उपन्यासों से पूर्व यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। वंग महिला (दुलाई वाली—सरस्वती १९०७) तथा जयशंकरप्रसाद (ग्राम-इन्दु, १९११) से कहानियों का युग प्रारम्भ हो जाता है। वंग महिला की सामाजिक यथार्थवादी कहानियों का विकास आगे चल-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर प्रेमचन्द, सुदर्शन तथा कौशिक आदि की कहानियों में हुआ। प्रसादजी के साथ भावात्मक तथा वातावरण-प्रधान कहानीकारों में राधिकारमणसिंह, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का नाम लिया जा सकता है। आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध तक कहानी के क्षेत्र में साहित्य काफी आगे बढ़ चुका था, और भविष्य की सम्भावनाएँ भी थीं। कथावस्तु का नाटकीय विकास, भाव-शील वातावरण, यथार्थवादी चरित्र-चित्रण, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व आदि की दृष्टि से कहानी-कला इतने थोड़े समय में काफ़ी विकसित हो चुकी थी। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से कहानियों के विकास को अधिक गति तथा प्रेरणा मिली है।

× × ×

प्रथम महायुद्ध के समाप्त (१९१८) होते-होते आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पूर्वार्द्ध का अन्त हो जाता है। इस काल तक मध्यम वर्ग की स्थिति अधिक निश्चित हो गई थी। वह देश में सबसे अधिक शिक्षित तथा सचेत वर्ग था। उसमें स्वाभिमान की भावना भी इसी कारण विशेष थी। इस वर्ग ने पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपनाया था, परन्तु देश की प्राचीन रूढ़ियों से उसे लड़ना पड़ रहा था। वह अपने देश के प्राचीन गौरव के प्रति सचेष्ट था, परन्तु देश की वर्तमान स्थिति के प्रति उसके मन में बहुत बड़ा क्षोभ था। महायुद्ध के विनाश का प्रभाव भी उसके मन पर पड़ा था। अभी तक साहित्य में समाज का दृष्टिकोण प्रधान था; साहित्यकार की समस्या देश तथा समाज की समस्या थी। परन्तु इस आने वाले युग में व्यक्ति अपनी ओर मुड़ा, उसने समस्याओं को अपने को केन्द्र में रखकर सोचने का प्रयास किया। इस कारण आगे का युग व्यक्तिवादी साहित्य का युग है। ऐसा नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्या के प्रति कवि और लेखक जागरूक नहीं हैं, वरन् वह अपने को प्रधान मानकर सभी समस्याओं पर विचार करने लगता है। साथ ही इस युग के साहित्यिक के मन में साहित्य की समस्त प्राचीन परम्परा के प्रति विद्रोह जाग्रत होता है, जिसमें साहित्यिक के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिला था। इस प्रकार इस आने वाले युग का साहित्यिक अधिक व्यक्तिवादी तथा अन्तर्मुखी हो उठा; उसने कला को अधिक प्रधानता दी; युगों के साहित्य के मूर्त आधार को अमूर्त लाक्षणिक कल्पनाओं से सजाना प्रारम्भ किया। और यह छायावादी युग है जिसके लिए आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में काफी विस्तृत भूमिका तैयार हो चुकी थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नरेन्द्र शर्मा

दो महायुद्धों के बीच हिन्दी कविता

भारतेन्दु-युग में प्रगतिशील हिन्दी-काव्य ने देश-काल के अनुरूप ही देश-प्रेम और समाज-सुधार को अपना विषय बनाया। इस दिशा में बढ़ती हुई काव्य-धारा द्विवेदी-युग में पहुँच-कर परिणति को प्राप्त हुई और देश-काल के अनुरूप विषय-वस्तु के साथ-साथ वैसी ही भाषा भी उसे मिली। द्विवेदी-युग ने विषय-वस्तु और भाषा के बीच के व्यवधान को हर लिया। देखते-देखते १९१४-१८ का महायुद्ध भी छिड़ गया, और भारतीय समाज एक नये मोड़ पर आ पहुँचा।

यह प्रश्न मन में सहज ही उठ खड़ा होता है कि आखिर उस युद्ध से भारतीय समाज का सम्बन्ध क्योंकर जुड़ सका। इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है कि १७५७ में पलासी के युद्ध में कम्पनी सरकार की विजय से लेकर १८५७ में, भारतीय सामन्तशाही के नेतृत्व में भारतीय विद्रोह की पराजय तक, उन सौ वर्षों में अँगरेजी पूँजी ने भारत को कच्चे माल की खरीद और यन्त्रों द्वारा बड़ी संख्या और मात्रा में निकलने वाले मशीनी सामान की बिक्री की मण्डी बना दिया था। आमदरफ़्त के नये साधन इसी दृष्टि से बनाए जा रहे थे कि विदेशी सामान यहाँ बिना चुंगी-महसूल चुकाए बड़ी तादाद में आ सकें और यहाँ से जो सामान जाय, उसकी निकासी मँहगी पड़े। १८५७ में भारतीय पराजय और अँगरेजी शासन की विजय के बाद तो इस व्यावसायिक व्यवस्था पर सील-मोहर लगा दी गई। कम्पनी सरकार का स्थान मलिका विक्टोरिया की सरकार ने ले लिया और रेलों के लौह-जाल-जैसा ही सुदृढ़ शासन इस दृष्टि से स्थापित कर दिया गया कि भारत अँगरेजी पूँजी के लिए उपयोगी मण्डी बना रहे, जहाँ से कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीदा जा सके और अँगरेजी मशीनों द्वारा बनाया हुआ पक्का माल मँहगे दामों पर बेचा जा सके। इस काम में योग देने वाले भारतीय सौदागर नये युग के दलाल बने और अपने देश को दिनों-दिन अधिक-से-अधिक निर्धन बनाकर वे अपना घर धन से भरने लगे। दलाली की इस अर्थनीति से शासित भारत की आर्थिक व्यवस्था केवल परछाईं थी, जिसका आधार बना अँगरेजी पूँजीवाद। 'सोने की चिड़िया' विदेशी पूँजीवाद के पिंजरे में जा बैठी।

ब्रिटेन ही इस विदेशी पूँजीवाद का अगुआ था, फ्रांस उसका साथी और जर्मन पूँजीवाद उसका प्रतिस्पर्धी था। इस प्रकार एशिया और अफ्रीका के भाग्य-विधाता यूरोप में मण्डियों के बटवारे के लिए जो आपसी संघर्ष शुरू हुआ, उसकी परिणति का दूसरा नाम ही १९१४--१८ का महायुद्ध है। अँगरेजी दलालों के इस देश में खलबली मच गई।

अर्थ-जगत् के दलालों-जैसे ही वे भारतीय थे, जो संस्कृति, साहित्य, शिक्षण और शासन के क्षेत्रों में भी दलाली करते थे। वह भारत की हर चीज को प्रत्येक दृष्टि से केवल कच्चा माल समझते थे और समझते थे कि यहाँ खपत होनी चाहिए सिर्फ उस चीज की जो अँगरेजी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मशीन की तरह ही अँगरेजी दिमाग की उपज है। ऐसी स्थिति में देश-भाषा में लिखने वाले भारतीय लेखक सच्चे अर्थ में प्रगतिशील देश-भक्त थे।

इन प्रगतिशील देशभक्त कवियों के पहले उत्थान में हिन्दी-काव्य को दिशा और गति भारतेन्दु ने दी और दूसरे उत्थान, द्विवेदी-युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' ने। किन्तु १९१४–१८ के महायुद्ध से पहले के इन कवियों में से कोई भी इस कार्य में सफल न हुआ कि वह भारतीय समाज के उस विशाल अण्डे को तोड़ सके, जिस अण्डे को समय सदियों से जैसे से रहा था और जिसके भीतर एक ऐसा नया परिन्दा अकुला रहा था, जिसका नाम व्यक्तिवादी व्यक्ति होगा। १९१४–१८ के महायुद्ध के धमाकों ने उस अण्डे को तोड़ दिया। भारतीय समाज ने व्यक्ति को जन्म दिया और उस व्यक्ति ने व्यक्तिवाद को। १९१४-१८ का हिन्दी-काव्य भी व्यक्तिवादी काव्य कहलाए तो स्वाभाविक ही है। केवल इसी दृष्टि से वह अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं से स्पष्टतः अलग है।

गोचर में अगोचर की खोज, पार्थिव में दिव्य का अवतरण और प्रतिष्ठा, मानवी भावनाओं के प्रति निसर्ग का योग-दान और मानवी सीमाओं में असीम का दर्शन—इस दृष्टि से आलोकित रवीन्द्र-काव्य और संगीत की छाया नये हिन्दी-काव्य पर अवश्य पड़ी, किन्तु उस छाया के कारण ही छायावाद छायावाद बना हो, ऐसी बात नहीं है।

छायावाद के आध्यात्मिक पक्ष के दर्शन तो हमें पं० श्रीधर पाठक की 'स्वर्गीय वीणा' और श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार', 'मंगल-घट', तथा वैतालिक के कई गीतों से हो चुके थे। किन्तु वह आध्यात्मिक पक्ष ही छायावाद नहीं है। छायावादी कविता मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है, जिसमें मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली है। प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी-कविता जाति, महाजाति अथवा महत्त्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख-दुख की नहीं वरन् व्यक्ति के सुख-दुख की कहानी है। विषय-वस्तु की खोज में कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर ही झाँकता है। इसीलिए पन्तजी के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' तथा स्वर्गीय प्रसाद जी के 'आँसू' छायावाद के प्रतिनिधि-काव्य कहलाए।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि व्यक्तिवादी काव्य के समारम्भ से बहुत पहले ही हमें उसकी ध्वनि 'प्यारे हरिचन्द जू की कहानी' में ही मिल जाती है। हरिचन्द जू के समान ही ब्रजभाषा के भाव-प्रवण कवि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी छायावाद से पहले ही व्यक्तिवाद का रोना रो दिया था। अतीत और अधुना के बीच कहीं किसी मध्ययुगीन शिलीखण्ड पर सिर धुनते हुए व्यक्ति के दुख को कैसी सार्थक वाणी मिली है—"भयो क्यों अनचाहत को संग?"

यह सत्य है कि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस गीत में अन्ततः रहस्यवाद की शरण ली, किन्तु व्यक्तिवाद की रुदन-वीणा के रहस्य उद्घाटन करने में भी वह समर्थ हुए।

इस व्यक्तिवादी रुदन का अपना छोटा-सा इतिहास है। पहले महायुद्ध के धमाके से जो अण्डा फूटा था, उस अण्डे से व्यक्ति नाम का परिन्दा निकला, यह हम पहले ही कह चुके हैं। महायुद्ध के बाद भारतीय मध्यवर्ग की तात्कालिक आर्थिक खुशहाली के फलस्वरूप इस परिन्दे को छोटे-छोटे पर भी आने लगे। पर आये तो उसने सैर करने की ठानी—धरातल से दूर कल्पना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के किसी नये अनजाने लोक में। पद्य में 'पल्लव' और गद्य में 'स्वर्ग के खण्डहर' और 'आकाश-दीप' छायावाद की ऐसी ही अनेक प्रारम्भिक उड़ाने थीं।

किन्तु इन उड़ानों के लिए जो खुला आकाश चाहिए, वह आकाश भारत में अप्राप्य था। १८५७ में सामन्तवाद को पराजित करके अँगरेजी पूँजीवाद ने उसे अपना शरणागत स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, सामन्तवादी अवशेष जबरदस्ती जीवित रखे गए, इसलिए कि जनता उनकी मार से मरी रहे और व्यक्ति उनके भार से दबा पड़ा रहे। व्यक्तिवाद व्यक्ति को जिस विकास का न्यौता दे रहा था, वह विकास नैसर्गिक सम्भावना होकर भी दुर्लभ रहा। परिन्दा उस घुटे हुए घिरे आकाश की सीमाओं से टकराने लगा। १९१९ से १९२९ तक जो उल्लास छायावादी काव्य को उल्लसित करता रहा, वह गहन निराशा में परिणत होने लगा। १९३१ में 'प्रसाद' जी का 'आँसू' आया। सूक्ष्म भाव-पक्ष वाला छायावाद धीरे-धीरे कायावाद बन गया। नियतिवाद, जिसका प्रतिनिधित्व 'परिवर्तन' में पन्तजी को प्राप्त हो चुका था, उसे श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा और पं० बालकृष्णशर्मा 'नवीन' जैसे व्यक्तिवादी कवि मार्मिक और प्रखर वाणी देने लगे। १९१९ में जिस भाव-भीने रोमानी काव्य का उदय हुआ था, वह रोमाण्टिक से पतनोन्मुख अथवा डिकेडेण्ट रूप ग्रहण करने लगा।

१९२८ में विदेशी पूँजीवाद का एक विशाल गढ़ (अमरीकी वॉलस्ट्रीट) ढहने लगा। उसके बाद तो संसार-भर में मन्दी का बाजार हो गया। नतीजा यह हुआ कि बेकारी ने भीषण रूप धारण किया। भारत में किसानों की हालत जो बराबर बिगड़ती रही थी, अब बहुत नाजुक हो गई। ऐसा लगता था जैसे यह चरमराता हुआ ढाँचा चूर-चूर हो जायगा। किसान-आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा था, जिसे शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेकारी योग देने लगी थी। इस सामाजिक वस्तु-स्थिति की प्रतिक्रिया ने नये कवियों के मन में दो रूप लिये—(१) वह जो खालिस व्यक्तिवादी कवि थे, वह अधिक निराश किन्तु अधिक अहम्मन्य बन गए और इसलिए पलायन के नये मार्ग खोजने लगे; न सही कल्पना का आकाश, भोगवादी पाताल ही सही। (२) दूसरे वर्ग के कवि अपने व्यक्तिवाद को थोथा चना समझने लगे और मानने लगे कि एक चना भाड़ को कभी नहीं फोड़ सकता, फिर एक थोथे चने की तो बिसात ही क्या है। अहंकार की जगह नई आत्म-चेतना और लोक-चेतना ने ले ली। इनमें से कुछ ने अपने पूर्वाग्रह, रोमाण्टिक दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रूप को अपनाया। 'जुही की कली' से 'कुकुरमुत्ता' तक आधुनिक काव्य के इस निराले आगामी विकास का यही रहस्य है।

नये कवियों में 'निराला' जी सदा निराले ही रहे। वह आधुनिक कवियों में शैलीगत अपनी आधुनिकता के कारण आधुनिकतम, किन्तु अपने वेदान्त-दर्शन तथा वीर-पूजा-सम्बन्धी भावना के कारण पुरातन बने रहे। एक ओर वह घोर अहंवादी हैं और दूसरी ओर अपनी उदारमना संवेदना के कारण वह पददलितों के हिमायती हैं। 'वह तोड़ती पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर!'—ऐसी भी है उनकी कविता! वह कविता एक ओर तो मार्गी है और दूसरी ओर वह पत्थर तोड़-तोड़कर नये युग का मार्ग भी बनाती है। जहाँ पन्तजी की लोक-चेतना 'भारत-माता ग्रामवासिनी!' इस टेक पर गाती है, वहाँ निराला जी की दृष्टि नये भारत के नये नगरों और उन नये नगरों के नये मार्गों के निर्माण-कार्य को देखने से भी नहीं चूकती। इसलिए दोनों के योग से सिद्ध हो जाता है कि भारतमाता केवल ग्रामवासिनी ही नहीं, वरन् वह इलाहाबाद के पथ-पथ पर पत्थर भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तोड़ती है; वह कृषक-वधू है और एक मेहनतकश सामान्य मजदूर नारी भी। निराला जी दार्शनिक हैं, किन्तु वह यथार्थ को जानने वाले भी हैं, इसलिए तो उन्होंने सूत्र-रूप में कह दिया था कि आज 'मयूर-व्याल पूँछ से जुड़े' हुए हैं। स्वरूप और विद्रूप उन्हें समान रूप से प्रिय है।

यदि 'प्रसाद' हमारे छायावादी काव्य-युग के ब्रह्मा और पंतजी विष्णु, तो निराला जी ही उसके शिवशंकर हैं। प्रसाद, पंत, निराला, यही छायावाद की बृहत्त्रयी है। इन तीनों कवियों ने जिस काव्य-धारा को प्रवाहित किया, उसे कई एक नदी-नद योग-दान देने लगे, जिन्हें प्रवाहित करने वाले कवियों में प्रमुख हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री रामकुमार वर्मा, श्री 'मिलिन्द', जो लोक को लोकोत्तर दृष्टि से देखते रहे। किन्तु काव्य के लोक-पक्ष को पुष्ट करने वाले पुराने कवियों के अतिरिक्त श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री भगवतीचरण वर्मा, स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान तथा उन्हें प्रेरणा देने वाले श्री माखनलाल चतुर्वेदी और सर्वथा अनूठे श्री सियारामशरण गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। नये और पुराने के बीच प्रमुख थे श्री रामनरेश त्रिपाठी, जो राष्ट्र-भारती के प्रति अर्पित अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के कारण राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के बाद सर्वाधिक महत्त्व के कवि हैं। इनकी कविता 'अन्वेषण'—'मैं खोजता तुझे था जब कुञ्ज और वन में, तब खोजता मुझे था, तू दीन के सदन में'; 'हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए!' उनकी यह लोकप्रिय प्रार्थना; और 'पथिक' और 'स्वप्न' उनके खण्ड-काव्य, उन्हें राष्ट्रीय कविता का प्रमुख कवि कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। इनके अतिरिक्त सर्वश्री सनेही और हितैषी भी इस धारा के कवि थे।

राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार, लोक-रंजन की भावना, राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीवादी मनोयोग-दान, नारी के प्रति संवेदनपूर्ण न्याय, पुरातन का मानवतावादी नया मूल्यांकन, भारत के हृदय भारतीय ग्राम के प्रति कभी विश्वासघात न करना और उदारमना सर्व-धर्म-प्रेम इन सात सुरों से भारत-भारती की वाणी का निर्माण करने वाले हमारे राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, यद्यपि दो महा-युद्धों के बीच के २० वर्षों में भी निरन्तर कविता लिखते रहे, किन्तु वह इस निबन्ध के अन्तर्गत नहीं समाते। इतना ही कहना अलम् है कि भारतीय राष्ट्र-चेतना के वे पूर्ण प्रतीक हैं। कितना अर्थ-संगत है कि उनका निवास-स्थान सदा चिरगाँव रहा है।

किन्तु ग्राम्य-जीवन के प्रति उन्होंने मोहजन्य पक्षपात ही किया है—'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे? थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है?' दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने से पहले ही यह भरम कवियों के मन से जाता रहा। 'निराला' जी ने अपने उपन्यास 'बिल्लेसुर' और अपूर्ण कथा 'चमेली' में गाँव का यथार्थ, किन्तु कुरूप रूप भी चित्रित किया। पन्त जी ने 'ग्राम्या' में भारतीय ग्राम का वह युगल पक्षीय रूप दिग्दर्शित किया, जिसमें ग्राम का नैसर्गिक सौन्दर्य तो था ही, किन्तु उसका काल-कवलित जर्जर यथार्थ भी अपनी सड़न और घुटन को लिये हुए साक्षात् अरूप कुरूप रूप धारण किये हुए सम्मुख खड़ा हो जाता है। यथार्थ के प्रति यह निर्मम न्याय-दृष्टि ही प्रगतिशील काव्य की पहली सीढ़ी थी।

गाँव, महाद्वीप-जैसे भारत के भीतर एक द्वीप-जैसा लगता है 'ग्राम्या' में। माना कि आधुनिक और आधुनिका के हाथों गाँव में लगाये हुए फूलबाग के भी दर्शन हो जाते हैं 'ग्राम्या' में, किंतु गाँव और शहर की मंडी का आर्थिक सम्बन्ध तो अपनी हृदय-विदारक कुरूपता को लिये हुए चित्रित हुआ है श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' में। ऐसा लगता है कि जब गाँव की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विभीषिका को सहन न कर सकने के कारण गऊ के जाये बैल मर-खिर गए, तब भैंसे ही रह गए ग्राम-व्यवस्था के छकड़े को खींचने के लिए—'चरमर-चरमर, चूँ चरर-मरर, जा रही चली भैंसा-गाड़ी !' वह भैंसागाड़ी अनाज ढोकर शहर की मंडी को जाती है और आती है, तो लाती है मुर्दनी का बोझ ढोकर !

गाँवों को उजाड़ करके जो उद्योग-धन्धों के नए केन्द्र, कानपुर-जैसे कुरूप नगर बसे हैं, वहाँ भी दो महायुद्धों के बीच के इस बीसवर्षीय काल-खण्ड के अन्तिम चतुर्थ चरण में मजदूर-आन्दोलन उठ खड़े होते हैं और पं० बालकृष्ण शर्मा-जैसे संवेदनशील भाव-प्रवेश कवि, जूठी पत्तल से जूठन खाते हुए इन्सान की दुर्दशा देखकर कोप करते और कराह उठते हैं। समाज में वर्ग-संघर्ष उग्र से उग्रतर होने लगा है और इन अन्तिम पाँच वर्षों में अनेक संवेदनशील मध्य-वर्गीय कवि शोषितों के हिमायती और पोषितों के विरोधी बन जाते हैं। संवेदनशील लोक-चेता कवि और लेखक सम्मिलित रूप से आवाज बुलन्द करने लगे थे। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ ने नई दिशा दिखाई और इसके पक्ष में स्पेन के गृह-युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील सम्मिलित मोर्चे ने जीवित जाग्रत प्रमाण प्रस्तुत किया।

ऐसे भी कई महत्त्वपूर्ण कवि थे, जिन्होंने इस समवेत स्वर को ऊँचा उठाने में योग नहीं दिया। मधुशाला के कवि, श्री 'बच्चन' मधुशाला का नशा उतरने के बाद 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' का पीड़न-भरा राग अलापते रहे। समाजगत और वर्गगत उत्पीड़न की ओर उनका ध्यान गया भी हो, तो भी उन्होंने 'आकुल अन्तर' के साथ 'विकल विश्व' की रचना नहीं की (यद्यपि 'बच्चन' जी ने एक बार ऐसी योजना बनाई अवश्य थी। किन्तु यथार्थ तो यह है कि व्यक्तिगत सुख-दुख के गीतों को ही वह 'युग-युग की वाणी' समझते रहे और पन्त जी की युग-वाणी की ओर कटाक्ष करते हुए, उन्होंने 'युग की वाणी' को हीन कोटि की कविता समझा था।

व्यक्तिगत पीड़ा को अपना विषय बनाए रखने वाले कवि 'बच्चन' के चरण धरती पर थे, उनका काव्य पार्थिव था। लोकोत्तर दृष्टिगत आध्यात्मिक पीड़ा को वाणी देने वाली श्रीमती महादेवी वर्मा व्यक्तिवादी कविता के दूसरे ध्रुव पर रहीं। दो ध्रुवों वाली इस धुरी को 'युग-युग की कविता की धुरी भी कहा जा सकता है।

प्रगतिशील लेखक संघ को योग न देकर भी श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' युग की कविता का शंख फूँकते रहे। उनके काव्य में राष्ट्रवादी कवियों की वाणी में एक और सशक्त सबल स्वर का समावेश हुआ। 'रेणुका' में 'मेरे नगपति ! मेरे विशाल !'—हिमालय, से लेकर प्राचीन भारत के (बिहार प्रान्त स्थित) भूलुण्ठित भग्नावशेषों की रेणुका तक, सब-कुछ इस उदयाचल-वासी कवि की प्रखर दृष्टि में समा गया। पुरातन की गाथा गाने वाली गंडकी से आधुनिक रसवन्ती तक, बहुत कुछ उनके काव्य का विषय बना। 'चाँदी का शंख' फूँककर उन्होंने 'विपथगा क्रान्ति' का आह्वान किया। 'लीक छाँड़ि' कर चलने वाले 'सायर, सिंह, सपूत' के समान ही बिहार का यह सपूत 'विपथगा क्रान्ति' का आह्वान करता हुआ लीक छाँड़िकर चलता गया और आगे-आगे बढ़ता गया।

'पल्लव' और 'परिमल' के रूप में, जो नई कविता पहले महायुद्ध के बाद, पहले पाँच वर्षों में खुली चुनौती देती आई थी, वह दूसरे महायुद्ध के शुरू होते-होते परिपक्व बन गई उसकी उत्तेजना चली गई और वह इस सत्य को भी मान्य बना गई कि कविता युग-विशेष के समाज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और व्यक्ति की सहगामिनी और सहचरी है। व्यक्तिवादी कविता के पहले पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही विवादग्रस्त रहे। कविता नया दर्प और नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुई थी। नई विषय-वस्तु और नई शैली, नए छन्द और नई-उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बंधन-हीन स्वच्छन्द प्रवाह, बँगला, अँगरेजी और संस्कृत से प्रभावित नया स्वरूप और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है; इन सब कारणों से नई कविता क्या आई, बावले गाँव में ऊँट आ गया!

१९२५-३० की हिन्दी-कविता पकने लगी और सधने लगी। इसे देखकर स्वर्गीय श्री रामचन्द्र शुक्ल-जैसे कठोर आलोचक को भी मानना पड़ा कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" १९२७ में प्रसाद जी का नया 'झरना' भी छप गया, जिसमें छायावादी रहस्यवाद का पुट स्पष्टतः मिलता है। इस पृष्ठभूमि में 'नीहार' साथ लिये श्रीमती महादेवी वर्मा का उदय हुआ। 'नीहार' में धीरे-धीरे 'रश्मि' फूटी, फिर 'नीरजा' विकसी और हँसी और फिर 'दीपशिखा' ज्योतित हुई। इस प्रकार इन चार काल-खण्डों द्वारा मण्डित कविता का चयन करके 'यामा' आई। श्रीमती महादेवी के काव्य में वह सभी काव्य-गुण एकत्रित हो सके हैं, जिनका जिक्र शुक्ल जी ने ऊपर किया है। 'बच्चन' के समान इनके काव्य में भी आकुल अन्तर को ही वाणी मिली है, विकल विश्व को नहीं। किन्तु वह तो एकान्तिक एकान्त साधना को अपनाती रही हैं। जन-आन्दोलनों की अनुगूँज भर उनके काव्य में यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है।

१९३०-३५ में हिन्दी-कविता 'गुञ्जन', 'गीतिका' और 'लहर' को लेकर उपस्थित हुई। यह एक नया पंचवर्षीय उत्थान था।

'गुञ्जन' के कवि ने पहले ही ('पल्लव' में) घोषित कर दिया था—"मेरा मधुकर का-सा जीवन; कठिन कर्म है, कोमल है मन!" सौन्दर्य-चयन का अभिलाषी विरागी-अनुरागी उनका मन 'गुञ्जन' में जैसे गुनगुनाने लगता है—'देखूँ सबके उर की डाली!' किसने क्या चुना है? कलि, किसलय, कुसुम-शूल वह सब पर संवेदनशील अपनी कवि-दृष्टि डालते हैं और सशंकित जन को समझाते बहलाते हैं—'कवि से रे किसका क्या दुराव?' 'गुञ्जन' का कवि मानव-प्रेमी है, मानवता-प्रेमी है, वह सुख-दुख के बीच सन्तुलन का प्रेमी है और अब उसे जीवन की गति में भी लय मिल गई है। सान्ध्य-तारा से लेकर रज-कन तक सकल पदार्थों को उनकी संवेदनशील आत्मीयता प्राप्त है।

'लहर' में 'प्रसाद' जी एक नई अनुभूति को लेकर नई काव्य-भूमि पर उतरे हैं। शुक्लजी का मत है कि "स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु-गान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की शैली को चित्रमयी विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुःख-द्वेष-पूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृन्दावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'निराला' की गीतिका की क्लिष्ट-श्लिष्ट पदावली, यद्यपि प्रसाद-गुण-युक्त नहीं थी, किन्तु लोक-कल्याण-कामना उसमें पद-पद पर छलकती है। वह जहाँ अन्यत्र "किसान की नई बहू की आँखें" देखकर सहज, सरल, सूक्ष्म चित्र बनाते हैं, वहाँ वह 'गीतिका' की गूढ़ शैली में भारती की जय-विजय के गीत भी गाते हैं। वास्तव में, जैसे 'गुञ्जन' और 'युगान्त' को साथ पढ़ना चाहिए, वैसे ही 'गीतिका' और नई 'अनामिका' को!

'प्रसाद' जी का 'आँसू' काव्य १९३१ में छपा था। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्टतः कह दिया हैकि " 'आँसू' वास्तव में तो हैं शृङ्गारी विप्रलम्भ के, जिनमें अतीत संयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह-रहकर झलक मारती हैं, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और संज्ञा की दशा में चले जाते हैं, जहाँ हृदय की तरंगें 'उस अनन्त कोने' को नहलाने लगती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिए बहते जान पड़ते हैं।" किन्तु पार्थिव और दिव्य के संयोग वाले 'आँसू' ने व्यवधानों से भरे समाज में पलने और पल-पल जलने वाले व्यक्तिवादी 'देवदासों' के बीच बड़ी लोक-प्रियता प्राप्त की। और वास्तव में 'प्रसाद' जी के 'आँसू' को ही १९३५-४० के नियतिवाद, निराशावाद, दुःखवाद, चिरन्तन पीड़ा-वाद अथवा कायावाद की उद्गम-धारा मानना चाहिए।

देवदास और हाला-प्याला का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज में जुड़ जाता है और इसलिए 'बच्चन' का हालावाद और 'अंचल' का हड़कम्पी कायावाद 'प्रसाद' जी के 'आँसू' से ही निकासी पाता है। छायावादी सूक्ष्म शैली का परदा हटते ही स्थूल कायावाद के दर्शन हो जाना सहज स्वाभाविक है। वास्तव में देखिए तो छायावादी रहस्य व्यक्तिवादी काव्य पर झीने परदे के समान है। रहस्यवाद छायावाद का अनिवार्य गुण हो सो बात नहीं। रहस्यवाद का सूत्रपात सर्वश्री श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण जी गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, और मुकुटधर पांडे-जैसे कवि १९१८ से पहले ही कर चुके थे। दो महायुद्धों के बीच की हिन्दी-कविता का अनिवार्य गुण तो व्यक्तिवादी अनुभूति और अभिव्यक्ति ही है।

व्यक्तिवादी प्रसार की कामना जब पूर्ण न हुई तो कहीं आहत अहंकार की हुंकार उठी और कहीं विश्लेषणात्मक आत्मचेतना जगी तथा लोक-चेतना का उदय हुआ। इस दूसरे विकास-क्रम को पन्त जी के काव्य में, "वह आत्म और यह जग-दर्शन" कहा गया है!

व्यक्तिवादी काव्य की चरम परिणति कदाचित् 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' में हुई है। मनु महाराज के मानसिक विकास और बाह्य संघर्ष के रूप में आज के व्यक्ति के विकासोन्मुख व्यक्तित्व की ही अन्तर्मुख कथा है। जिस 'आनन्द' की ओर 'प्रसाद' जी ने 'लहर' में संकेत किया था, उसी आनन्द के कैलास-शिखर पर अन्ततः मनु महाराज प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग का यह एक-मात्र प्रतिनिधि महाकाव्य, व्यक्तिवाद के निकास, विकास और पूर्ण परिणतियुक्त प्रकाश की कहानी है। किन्तु यह भी एक सोपान है। पन्त जी की काव्य-धारा 'पल्लव' से 'ग्राम्या' तक; यह दूसरा महत्त्वपूर्ण विकास-क्रम है। इस विकास-क्रम के अनुसार मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद वर्ग-सीमा से ऊपर उठकर उद्दात्त यथार्थवाद के शिखर पर प्रतिष्ठित हो जाता है। 'युगान्त' में एक ओर मध्ययुगीन मान्यताओं से विदा ली गई है और दूसरी ओर आधुनिक व्यक्तिवादी सौन्दर्यबोध और कलावाद से।

अन्तिम पंचवर्षीय विकास-क्रम में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि हम व्यक्तिवादी कवियों को एक ओर पन्त जी की बहुत पहले लिखी हुई पंक्तियों को नाना रूपों में दुहराते हुए सुनें कि "हाय, ये अपलक चार नयन, आठ आँसू रोते निरुपाय।" तो पन्त जी के इन दो काव्य-संग्रहों का महत्त्व हम सहज में समझ लेंगे। व्यक्ति और समाज, समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों तथा समाज को गति देने वाली शक्तियों का ऐसा यथातथ्य और तटस्थ अध्ययन और कहाँ देखने को मिलेगा, जैसा 'युग-वाणी' में पन्त जी ने प्रस्तुत किया है?

आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या यही है कि कैसे मध्ययुग की काया में आधुनिक प्राणों की प्रतिष्ठा हो। भाव और रूप, प्राण और काया, आदर्श और व्यवहार के बीच जो व्यवधान उपस्थित रहा है, वह कैसे हटे? इस समस्या पर पन्त जी की 'युग-वाणी' द्वारा एक नया प्रकाश पड़ा।

लोगों ने 'युग-वाणी' को कविता का कोरा ढाँचा कहा था; किन्तु उस ढाँचे के बिना 'ग्राम्या' का मांसल सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप अलभ्य रहता, इस दिशा में आलोचकों का ध्यान नहीं गया। "खुल गए छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश; अब गीत मुक्त औ' युग-वाणी बहती अयास!" काव्य की यह स्थिति 'ग्राम्या' की पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्य थी। इसी पीठिका पर वाणी की वह सहज सरल मूर्ति प्रतिष्ठित हो सकती थी जिसका चित्र पन्त जी ने दिया है—
"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार! वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?"

'प्रसाद' जी का जीवन-दीप निर्वाण प्राप्त कर चुका था, श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य निर्वाण प्राप्त करने के लिए साधना-संलग्न था और 'निराला' जी अपने ही पुराने सौन्दर्यबोध का जैसे मखौल करने लगे थे।[1] ऐसे समय में पन्तजी ही एक नई काव्य-धारा को जन्म दे रहे थे।

रूप ही जिसकी आभा है, ऐसे 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का श्रीगणेश करके पन्त जी ने इस नई काव्य-धारा को नई प्रेरणा दी। पत्र का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण उदार था और इसलिए वह नए प्रगतिशील काव्य को प्रोत्साहन देने लगा। "मानापमान हो इष्ट तुम्हें, मैं तो जीवन को देख रहा!" समाजगत भीषण वैषम्य का सबल सजीव चित्रण करने वाली यह कविता श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'रूपाभ' में ही प्रकाशित कराई थी। पुराने कवियों में श्री शिवाधार पांडे ने 'पहरुए जागते ही रहना!' गीत लिखकर नए युग के गायकों को चेताया था। रामविलास शर्मा की नई कविताएँ 'रूपाभ' में ही प्रकाशित हुई थीं। 'रूपाभ' द्वारा प्रत्याक्रमण के कारण ही 'विशाल-भारत' ने घासलेट-सम्बन्धी अपना आन्दोलन बन्द किया था। 'निराला' जी का 'चमेली' नामक जो उपन्यास आंशिक रूप से 'रूपाभ' में प्रकाशित हुआ था, उसी को लेकर वह वाद-विवाद आरम्भ हुआ था। 'रूपाभ' के प्रत्युत्तर के कारण वह निषेधात्मक (घासलेट-साहित्य-सम्बन्धी) आन्दोलन समाप्त हुआ जिसने 'उग्र'-जैसे साहित्यिक के पीछे पड़कर उसके उग्र भाव को जगाया और उसे विकृत बना दिया। चैतन्यमना प्रगतिशील काव्य-साहित्य के पोषण में 'रूपाभ' ने थोड़ा-बहुत योग अवश्य दिया था और इसका श्रेय भी श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है।

इस प्रकार १६१६ से १६३६ तक, बीस वर्ष के इस काल-खण्ड में जिस काव्य की रचना हुई, उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों ने योग दिया और हिन्दी-काव्य को उन्होंने बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि १६४०-५२ के बीच के १२ वर्षों

१. देखिए 'कुकुरमुत्ता'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में काव्य उस स्तर से ऊपर नहीं उठ सका है; कदाचित् नीचे ही आया है। प्रगतिशील लेखन का प्रारम्भिक रचनात्मक दौर जैसे समाप्त ही हो गया है। क्या फिर ऐसा दौर न आयगा कि व्यक्तिवाद की विभिन्न विच्छिन्न धाराओं में पुनः वह चलने वाला हमारा आधुनिक हिन्दी-काव्य नए समवेत स्वर के सहारे नए शिखरों को छू सके ?

(१) नया सौन्दर्य-बोध और नई अभिव्यक्ति (२) नई काव्य-भूमि और संवेदनशील नया व्यक्तित्व (३) मानव और मानवता के प्रति नई आत्मीयता और प्रीति और (४) नए समाज की रचना, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को पूर्ण विकास प्राप्त हो सके, जहाँ विषमता न रहे और न्याय और समता जिसकी साँस हो; इन चार चरणों पर स्थित प्रगतिशील हिन्दी-काव्य १९४० तक अपने प्रारम्भिक विकास-क्रम को पार कर चुका था। नई हिन्दी-कविता के ये बीस साल कदाचित् सबसे अधिक महत्त्व के बीस साल हैं।

नया महायुद्ध छिड़ गया। कुछ दिनों युद्ध ठण्डा रहा और फिर ऐसा गरमाया कि सकल विश्व उसकी लपटों से घिर गया। वर्ग-संघर्ष ने उग्रतम रूप धारण किया और राष्ट्रीय आन्दोलन ने 'करो या मरो' के सिद्धान्त को अपनाकर आखिरी बाजी लगा दी और वह उस बाजी को हार कर हतोत्साह भी हो गया। भारतीय पूँजी ने नई इजारेदारी शुरू की। नौकरशाही का बोलबाला हो गया। व्यक्ति संघबद्ध स्वार्थों से क्षुब्ध और निराधार हो गया। आर्थिक कठिनाइयों और नैतिक पतन की सीमा न रही। हिन्दी-कविता का स्वर मौन धारण करने लगा, किन्तु जनता और जन-वाणी से नया बल लेकर नए कवि सामने आने लगे। लेकिन यह तो बाद की बातें हैं। हमें तो १९१९ से ३९ तक की कहानी ही कहनी है और हम उस कहानी को अपनी अटपटी भाषा में कह चुके हैं। कहानी सूत्रबद्ध है, किन्तु वह सांगोपांग नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नलिनविलोचन शर्मा

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है; जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिन्दी-उपन्यास के लिए जैसे-जैसे कच्चा माल तैयार होता गया वैसे-वैसे पश्चिम की तथाकथित भौतिक सभ्यता हमारी वाणी और वेश-भूषा को ही नहीं, प्रत्युत हमारी दृष्टि और चेतना को भी आक्रान्त करने में सफल होती गई। हमारे उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो मुख्यतः इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षया आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी-सादी है।

उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का उपेक्षित अंग रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से वह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे 'गद्य-काव्य' बनकर उन गुणों से मण्डित होना पड़ता था जो वस्तुतः काव्य के हैं। 'कथा सरित्सागर', 'अलिफ लैला', 'डिकामेरन' मनोरंजन के साधन-मात्र थे; 'हर्षचरित' या 'कादम्बरी' की विशेषता यह है कि उनमें वे गुण हैं जो संस्कृत-काव्य के लिए शोभाकर होते हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अन्त्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका है और अब तो आभिजात्य का भी दावा कर सकता है। देवकीनन्दन खत्री से लेकर अज्ञेय तक के हिन्दी-उपन्यास का इतिहास इस सामान्य तथ्य का दृष्टान्त है।

उपन्यास आज भी गल्प (Fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है। जब तक उपन्यास गल्प-मात्र था तब तक उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और गौण उपदेश रहता था। आज गल्प, गल्प नाम के बावजूद, सत्य और केवल सत्य की, नाना दृष्टियों से गृहीत और अनेकानेक पद्धतियों से अंकित चित्र-शृङ्खला बन चुकी है। आज भी गल्प की एक शाखा गल्प बनी हुई है और मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है, उदाहरण के लिए जासूसी उपन्यास, किन्तु इस विवेचन में उसे ध्यान में नहीं रखा गया है। हिन्दी-उपन्यास की छोटी अवधि में भी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास-प्रक्रियाओं की संक्षिप्त परन्तु पूर्ण रूप-रेखा वर्तमान है। गल्प किस तरह सत्य बन गया यह हिन्दी में थोड़े में ही देखने को मिल जाता है।

हिन्दी-उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान'[1] की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार

---

१. शुक्ल जी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न 'स्कूलों' और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जाने वाले युगों को भी, अपने उद्देश्य के लिए, मैं महत्त्व-रहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ। हिन्दी-उपन्यास के विकास की सीमा-रेखाएँ उसके भीतर ही मिलती हैं, हालाँकि उन्हें सावधानी के साथ पहचानने और साफ करने की चेष्टा नहीं हुई है।

ये सीमा-रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया केवल दो ही हैं, और दोनों ही केवल एक ही उपन्यासकार में निहित हैं। अवश्य वह उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं।

'गोदान' के पहले तक के प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ-चिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उसके शिखर को, दूर से और समीप से, अवलोकन का प्रयास करना है।

हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम-मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की स्थिति हिन्दी-काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है; किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले घुटनों के बल भी काफी दिनों तक चलता रहा था। अपने इन आरम्भिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वाँग भी भरता था। जिस ज़माने में हिन्दी का उपन्यास ही नहीं, हिन्दी का पाठक भी, शैशवावस्था में था तो देवकीनन्दन खत्री के औपन्यासिक खिलौने मनोरंजन के परम लोकप्रिय साधन थे, किन्तु उन्हें उनके निर्माता ने नीतिवादी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए, उपदेशप्रद भी सिद्ध कर दिखाया था।[1] उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का वास्तविक रूप कुछ बाद के एक उपन्यास के विज्ञापन की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है·····"इसमें मनोरंजन के अलावा उत्तम शिक्षा की भी पूर्ण मात्रा है। कोई परिच्छेद ऐसा नहीं जिसके पढ़ने से कोई-न-कोई उत्तम शिक्षा न मिलती हो···।"[2] समासतः देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी या तिलिस्म वाले उपन्यास[3] हों या किशोरीलाल गोस्वामी के एतादृश अथवा ऐतिहासिक-रूमानी उपन्यास[4] या गोपालराम गहमरी

---

१. देवकीनन्दन खत्री के पत्र का एक लम्बा अंश डॉ० वार्ष्णेय की पुस्तक में उद्धृत है।

२. गया से प्रकाशित होने वाली 'लक्ष्मी' नामक मासिक पत्रिका के जनवरी १९१७ के अंक में लाला भगवानदीन के उपन्यास 'अधट घटना' के विज्ञापन से। 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में इस उपन्यास का उल्लेख नहीं है।

३. उपन्यासों के नाम 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में देखे जा सकते हैं। वार्ष्णेय की पुस्तक में तथा उपन्यास-सम्बन्धी दूसरी पुस्तकों में, कुछ ब्यौरे मिलते हैं, आलोचना नगण्य है।

४. उपरिवत्।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के जासूसी उपन्यास,[1] सभी उपन्यास का गल्प नाम सार्थक करते थे।

किन्तु साहित्य का यह रूप जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। प्रेमचन्द के पूर्व श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचन्द को प्रत्याशित या प्रभावित किया था,[2] यह उद्भावन निराधार है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हिन्दी-उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है—वह मात्र सत्य का वाहक है।

प्रेमचन्द में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गईं। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचन्द भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन इसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य-कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचन्द अकेले ही रह गए; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गई शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।

हिन्दी के आलोचकों ने एक स्वर से[3] 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी

---

१. उपरिवत्।

२. रामविलास शर्मा, 'भारतेन्दु-युग' में।

३. (क) "केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द सेवा सदन को फिर न पा सके।"
—रामविलास शर्मा

(ख) " 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन-संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चरित्र की पूर्णता के लिए है।" —वही

(ग) " 'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।"
—प्रकाशचन्द्र गुप्त

(घ) "इस उपन्यास का बृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है।"
—शान्तिप्रिय द्विवेदी

(ङ) ' "गोदान' में गाँव के चित्र अधिकारी (आधिकारिक) रूप से तथा शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आए हैं।" —गुलाबराय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कथा-वस्तु असम्बद्ध है। वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते—उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलने वाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की व्यस्तता का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले 'प्रेमाश्रम' में, फिर 'रंगभूमि' में, प्रेमचन्द ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी किन्तु तब वे पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बन्धन के अतिक्रमण की सामर्थ्य अपने में विकसित नहीं कर सके थे। 'गोदान' में अपने 'प्रौढ़ि-प्रकर्ष' के कारण प्रेमचन्द ने 'पुराण-रीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिन्दी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठे।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी, भाषा दुर्लंघ्य विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। इस सम्पूर्ण अवधि के हिन्दी-उपन्यासकार अंग्रेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे, क्योंकि उनका अंग्रेजी का ज्ञान अत्यन्त और अधिकतर नहीं के बराबर था। जिस प्रतिवेशी भाषा, बँगला, के उपन्यासों से हिन्दी के लेखक उपन्यास-रचना की प्रत्यक्ष प्रेरणा पाते रहे, और ज्यादा तो उसके उपन्यासों के अनुवाद ही कर जाते थे, स्वयं उसका गद्य भी अनुकरणीय आदर्श नहीं उपस्थित करता था। उस पर भी संस्कृत गद्य का वह प्रभाव था जिसका मोह हिन्दी के लेखकों को छोड़ देना आवश्यक भी था, पर जिसकी ओर उनकी ललचाई आँखें दौड़ ही पड़ती थीं। श्रीनिवासदास प्रभृति, लेखक, जो उपन्यास को साहित्य के सार्थक और गम्भीर रूप की की दृष्टि से ग्रहण करते थे, नाटक के कल्याणकर प्रभाव के परिणामस्वरूप उपन्यासों में भी स्वाभाविक भाषा में कथोपकथन प्रस्तुत करते थे, किन्तु अपनी ओर से वर्णन करने का अवसर मिला नहीं कि उनका गद्य संस्कृत के गद्य-काव्य की विडम्बना करने लग जाता था। किशोरीलाल गोस्वामी-जैसे पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखने वाले उपन्यासकार में भी हम भाषा-सम्बन्धी यह भ्रान्त दृष्टिकोण पाते हैं।[1] यदि अपवाद हैं तो देवकीनन्दन खत्री, जो निष्प्राण पर निराडम्बर गद्य लिखते थे और निस्सन्देह इसीलिए हर-दिल-अजीज बन सके थे। बाद के बहुतेरे ऐयारी और तिलस्म वाले उपन्यासों में भी लच्छेदार भाषा मिलती है। देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखने वाले लेखक यह नहीं समझते थे कि खत्री जी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचन्द ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनन्दन खत्री की

---

१. बाद तक हिन्दी-उपन्यास में गद्य का यह रूप देखने को मिलता रहता है—'प्रसाद' और 'निराला' में अपने प्रकृष्ट रूप में और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' एवं नन्ददिशोर तिवारी में अन्तिम साँस लेता हुआ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुस्तकें चाव से पढ़ी थीं, भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचन्द के लिए तब सम्भव हुआ जब उन्होंने उर्दू-गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरतापूर्वक, धीरे-धीरे बिलकुल छोड़ दिया। 'गोदान' में प्रेमचन्द की शैली उर्दू-गद्य की आलंकारिकता के निर्मोक से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महानता का, स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त, शैली मुख्य कारण है—वह शैली जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते-चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले कह दिए हों।

प्रेमचन्द के समसामयिक सुदर्शन भी प्रेमचन्द की तरह उर्दू से हिन्दी में आये थे। उन्हें और 'कौशिक' को निरपवाद रूप से 'प्रेमचन्द-स्कूल' के लेखकों के रूप में स्मरण किया जाता है।[1] ये वस्तुतः प्रेमचन्द की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा लिखते थे, पर इनकी भाषा के ये गुण विशिष्ट शैली स्तर पर कभी नहीं पहुँच सके। फलतः प्रेमचन्द के साथ इन गल्पकारों की तुलना ऊपर से दीख पड़ने वाली समानता के आधार पर ही की जा सकती है।

प्रेमचन्द के समकालीनों में इनसे कहीं अधिक उल्लेखनीय हैं जयशंकर 'प्रसाद'[2] और बेचन शर्मा 'उग्र', जिनके 'स्कूलों' की भी चर्चा हिन्दी के साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य कर दी जाती है। ये दोनों ही उपन्यासकार विरोधाभास के विलक्षण दृष्टान्त हैं: काव्य और नाटक में परम आदर्शवादी बने रहने वाले 'प्रसाद' 'कंकाल' में घोर प्रकृतवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' वर्जित विषयों पर लिख-कर 'घासलेटी',[3] अर्थात् तथाकथित अश्लील साहित्य के रचयिता के रूप में पाठकों के प्रिय और सम्पादकों के कोप-भाजन बनते हैं। इन दोनों उपन्यासकारों ने जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने का निर्भीक साहस दिखाया था—प्रथम ने सत्य का श्वासावरोध करने वाली फीलपाँवी भाषा में और दूसरे ने पर्चेबाज के 'जोश'[4] के साथ। इनके विषय की यथार्थता इनकी भाषा की

---

१. सुदर्शन ने केवल कहानियाँ लिखी थीं; कौशिक भी कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे यद्यपि 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नामक उनके दो उपन्यास भी हैं। 'भिखारिणी' 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में कहानी के अन्तर्गत निर्दिष्ट है किन्तु यह गलत है, वह उपन्यास है न कि कहानी-संग्रह।

२. 'प्रसाद' के 'तितली' और 'इरावती' नामक उपन्यास सर्वथा महत्त्व-रहित हैं। उन्हें केवल 'कंकाल' के कारण ही उपन्यासकार के रूप में स्मरण किया जा सकता है।

३. 'घासलेटी साहित्य' का प्रयोग अश्लील साहित्य के अर्थ में, कदाचित् 'उग्र' के बारे में ही सर्वप्रथम किया गया था। इस शब्द के निर्माण का श्रेय, जहाँ तक मेरा अनुमान है, बनारसीदास चतुर्वेदी को है। शब्द भोंडा और ग्राम्य है पर थोड़े दिनों तक उसने सनसनी खूब फैलाई थी। प्रस्तुत लेखक के निबन्ध-संग्रह 'दृष्टिकोण' में साहित्य में अश्लीलता और ग्राम्यता पर सामान्य रूप से और 'उग्र' पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

४. 'उग्र' ने अपने बहुत बाद के एक निबन्ध में, जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'कर्म योगी' में छपा था, 'जोश' को साहित्य का बहुत बड़ा गुण सिद्ध किया था। 'जोश' इस प्रसंग में उन्हीं का शब्द है, उसकी महिमा अवश्य नहीं मानी गई है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अयथार्थता के कारण मारी जाती है और उपन्यासकार के रूप में ये उस महत्त्व के अधिकारी नहीं बन सके जिसके आसानी से बन सकते थे।

'प्रसाद' अपनी अलंकृत शैली के कारण बाद की पीढ़ी के उपन्यासाकारों के द्वारा अनुकृत नहीं हुए, यद्यपि यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद की द्विविध धाराओं में, विकसित हुआ। 'उग्र' की नाटकीय शैली का असफल अनुकरण कोक-साहित्य के कुछ लेखकों ने किया, किन्तु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता अंशतः क्षम्य हो जाती हैं।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का अनुकरण असम्भव-प्राय कार्य था और वह हुआ भी नहीं। किन्तु उसके पूर्व के प्रेमचन्द का खूब ही अनुकरण हुआ। हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण और अधिकतर साधारण उपन्यासकारों के लिए प्रेमचन्द ने एक सुगम मार्ग उद्घाटित कर दिया था। 'देहाती दुनिया' के लेखक शिवपूजनसहाय ऐसे उपान्यासकारों में। श्रेष्ठ हैं राधिकारमणप्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', अनूपलाल मण्डल और भगवतीचरण वर्मा भी इस श्रेणी में परिगणनीय हैं।

हमने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को चढ़ाव के पार कर लिया है और उसके शिखर 'गोदान' को तनिक ठहरकर, ध्यान के साथ, देखने में समय लगाया है। शिखर के इस पार का देश हमारे लिए इतना परिचित, इतना समीप है कि हम उसकी बहुत-सी बातों को देख भी लेते हैं तो सम्यक् पर्यवस्थिति के अभाव में समझ नहीं पाते। पर इतना तो है ही कि यहाँ रेत है तो हरियाली की भी कमी नहीं है, गड्ढे और दलदल हैं तो छोटी-मोटी चोटियाँ भी जरूर हैं।

१९३६ में प्रेमचन्द का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था;[1] १९३६ में ही जैनेन्द्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रख-कर 'गोदान' में व्यापक से व्यापकतम भारतीय जीवन को विषय के रूप में आकलित किया। जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की, और अगर प्रेमचन्द की नहीं तो समस्त हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की, उपलब्धि का प्रत्या ख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचंद से उन्हें सबसे अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सभ्यता को व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों और गहराइयों को, और भी पहले से अपने उपन्यासों का विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार मरजीवा ने सबसे गहरी डुबकी लगाई थी। पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने वाले हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रायड का प्रभाव घोषित कर अपनी पण्डितम्मन्यता को सन्तुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुए सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति-केन्द्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है। जैनेन्द्र में, वस्तुतः, हिन्दी ने एक शरच्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के पिपठिसु पाठक

---

१. प्रकाशन-काल-सम्बन्धी ऐसी समस्त सूचनाओं के लिए मेरे पास सुलभ आकर-ग्रंथ है 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य'। यदि उसमें छोटी-मोटी भूलें भी हों तो उनसे वैसी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि मैं अपने इस प्रबन्ध में प्रवृत्तियों के निरूपण के लिए ही प्रयास कर रहा हूँ, विवरण तो बहुत कम ही दे पाया हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन दिनों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण और अपनी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक वयःसन्धि के फलस्वरूप, अपरिणत, कुण्ठाग्रस्त और भावुकता के शिकार थे। प्रेमचन्द ने शरच्चन्द्र की तरह स्त्रैण भाव को अपनाने में अपनी अरुचि कबूल की थी।[1] कुछ छायावादियों ने, विशेष रूप से गौण छायावादियों ने, काव्य के माध्यम से शरच्चन्द्र की अश्रु-पंकिल भावुकता का समावेश हिन्दी में किया था, पर वह अपर्याप्त सिद्ध हुआ था। उनकी अव्याख्येय पीड़ा की तुलना में जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न सुख के लोभी पात्रों की कारुणिकता खूब ही लोकप्रिय हुई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इस फन के उस्ताद शरच्चन्द्र की अनूदित पुस्तकें इस जमाने में जितनी संख्या में बिकीं उसकी तुलना में जैनेन्द्र की भी लोकप्रियता नगण्य थी।

यदि जैनेन्द्र ने 'परख' या 'त्याग पत्र' आदि उपन्यास ही लिखे होते, और 'सुनीता' नहीं लिखी होती, तो वे शरच्चन्द्र की छाया-मात्र बनकर रह जाते। किन्तु जिस तरह 'गोदान' लिखकर प्रेमचन्द अपने दूसरे उपन्यासों की औसत से अच्छी साधारणता से बहुत ऊपर उठ सके थे, उसी तरह जैनेन्द्र 'सुनीता' के लेखक के रूप में शरच्चन्द्र की छाया से अधिक महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं। सुनीता की नग्नता को कम मानकर यशपाल ने 'दादा कामरेड' लिखा था और शायद उसे ही चुनौती मानकर द्वारिकाप्रसाद ने, हाल में, 'घेरे के बाहर' लिख डाला है, किन्तु नग्न सुनीता की प्रतिमा गढ़ने में जैनेन्द्र ने जैसा तरुण-कौशल प्रदर्शित किया है वह महान् उपन्यासों में भी क्वचित् कुत्रचित् ही देखने को मिल पाता है।

जैनेन्द्र की भाषा की भी बहुत बड़ी विशेषता है उसकी सादगी, किन्तु वह न तो देवकी-नन्दन खत्री, सुदर्शन और कौशिक की भाषा की सादगी है, न प्रेमचन्द की ही। पहले वर्ग के उपन्यासकारों की तुलना में जैनेन्द्र की भाषा की सादगी में प्रत्यभिज्ञेय वैशिष्ट्य है; प्रेमचन्द की सहज सरलता के विपरीत जैनेन्द्र में सचेष्ट असचेष्टता है। जैनेन्द्र के गद्य की शैली उनकी भाषा के इसी गुण से रूप ग्रहण करती है, किन्तु असचेष्टता की अतिशयता के कारण बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है और लेखक के गुर, ढंग के रूप में पहचान में आ जाती है। जैनेन्द्र सत्य को स्वयं बोलने के लिए छोड़कर सन्तुष्ट नहीं रह जाते, जैसा प्रेमचन्द अपनी बाद की रचनाओं में सहज भाव से करते थे, बल्कि सत्य पर अपनी धार चढ़ाकर सामने रखते हैं। फलतः विषय के सत्य की तीक्ष्णता शैली की तीक्ष्णता के कारण गौण पड़ जाती है और समूची कृति च्युति-ग्रस्त हो जाती है।

१९१९ में 'सौन्दर्योपासक' लिखकर ब्रजनन्दनसहाय ने उल्लेखनीय व्यक्तिपरक उपन्यास प्रस्तुत किया था। १९२३ में अवधनारायण का भावुकता-प्रधान उपन्यास विमाता प्रकाशित हुआ था। जैनेन्द्र के भावुकता-प्रधान व्यक्तिपरक उपन्यासों में ये धाराएँ समन्वित हो गई हैं। बाद के कुछ उपन्यासकारों ने जैनेन्द्र की भावुकता और शैली का अनुकरण किया पर वे हिन्दी के अत्यन्त गौण उपन्यासकार हैं।[2]

जैनेन्द्र पर न तो फ्रायड का ही प्रभाव था, न अन्य पाश्चात्य साहित्यिक धाराओं का ही। जैनेन्द्र के साथ और बाद में ऐसे प्रभावों का आधिक्य दीख पड़ता है।

---

१. प्रेमचन्द्र ने अपने एक निबन्ध में इसका स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। द्रष्टव्य—प्रेमचन्द : कुछ विचार।

२. उदाहरणार्थ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त आदि।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१९३२ में कृपानाथ मिश्र का 'प्यास' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसमें आधुनिक अँग्रेजी उपन्यासकारों और अँग्रेजी गद्य की प्रमुख विशेषताएँ सफलतापूर्वक सन्निविष्ट थीं। जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के युगान्तरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया था। फिर 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट-एबिंग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति-निर्लिप्तता का। उनके सद्यःप्रकाशित उपन्यास का नाम, 'नदी के द्वीप', 'चेतना के प्रवाह' का रूपान्तर है। 'नदी के द्वीप' हिन्दी का एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिस डी० एच० लारेंस की कविताएँ कण्ठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता का शतांश भी 'अज्ञेय' में होता तो वे हिन्दी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होते—और यह कम गौरव की बात न होती।[1] इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के कुछ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का चर्वित-चर्वण किया है किन्तु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाए हैं। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की तुलना में द्वारिकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनाई है और 'रोगी का इतिहास' (Casebook) ही तैयार कर दिया है। द्वारिकाप्रसाद ने 'अज्ञेय' की तरह मौन जीवन के तथ्यों पर कवित्वपूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली की सूराख से शयनागार की झाँकी-भर दिखाकर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की है। किन्तु, दूसरी ओर, खल्वाट् शैली के कारण उनका उपन्यास अधिकतर 'रोगी का इतिहास'-मात्र बनकर रह जाता है। यह निःसंदिग्ध है कि इन सभी कृतियों में केवल 'नदी के द्वीप' में ही यत्र-तत्र हिन्दी का ऐसा दृढ़बन्ध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिसमें अँग्रेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात् हो गया है।

विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा ने भी हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारों को प्रभावित किया है। साम्यवादी विचार-धारा को यशपाल ने अपने बहुसंख्यक उपन्यासों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु वे घूम-फिरकर व्यक्ति की उस वर्जित परिधि में बँध जाते हैं, जिससे बचकर सामूहिक जीवन का चित्रण करने का सिद्धान्त साम्यवादी लेखक दुहराते रहते हैं। साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और नवीन दृष्टि से पुनर्निर्मित इतिहास अधिक हो गए हैं। हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखक रूप में प्रेमचन्द की वीर-पूजा करते हैं। इस वर्ग के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यास-कार ने किसान-मजदूर-वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा है—घोर साम्यवादी उपन्यास-कारों ने भी नहीं।

हिन्दी-उपन्यास की एक ही अन्य ऐसी धारा है जो क्षीण होने पर भी विचार के योग्य है। वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' पर मैंने तनिक विस्तार से त्रैमासिक 'साहित्य', जनवरी १९५२, में विचार किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हिन्दी में स्काट, राखालदास वंद्योपाध्याय या मुन्शी के अभाव की पूर्णतः पूर्ति हो जाती है। किन्तु उपन्यास के लिए इतिहास का एकमात्र महत्त्व यह है कि वह विषय को बहुत दूर पर रखकर अवलोकनीय बना सकता है। अब जब तक इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जाते तब तक उनका विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

शिवचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर, देवराज—और ऐसे तो अनेक दूसरे नाम हैं—हिन्दी-उपन्यास को बना-बिगाड़ रहे हैं। यह नव-निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रभाकर माचवे

ऐतिहासिक उपन्यास

आरम्भिक

इसिहास का अर्थ है इति-ह-आस यानी 'यह ऐसा हुआ।' उपन्यास का अर्थ ही है 'नवलिका' (नौवेले > नाविल) या कादम्बरी। पहला घटना का यथार्थ वर्णन है। दूसरा कल्पना का रोचक रम्य विलास है। तो क्या दोनों में कोई मौलिक विरोध है? क्या यथार्थ की गौर-मिट्टी से ही हमारी कल्पना नहीं बनती? और हमारे सपनों का कुछ असर हमारे यथार्थ के निर्माण पर पड़े बिना रहता है? और फिर ऐतिहासक उपन्यास एक कला-कृति भी है। यानी कलाकार व्यक्ति की मेधा और मार्मिक भावना से छनकर नया रूप और रंग दिखलाने वाला समाज-दर्शन! कलाकार व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नहीं और न ही समाज व्यक्तियों से अप्रभावित रहा है।

मेरा विचार ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-समस्या के इस मौलिक अन्तर्द्वन्द्व पर कुछ कहना है; जिसमें मेरे पढ़े हुए इतिहास-वृत्तान्त और उन पर लिखे गए आख्यानों की बात भी आ जायगी। साथ ही अँग्रेज़ी, हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती और अन्यान्य देश विदेशी ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा भी होगी। ऐतिहासिक उपन्यास की समस्याएँ भी इसी में आयँगी।

इतिहास का दर्शन

हेगेल की एक पुस्तक इस नाम से मैंने पढ़ी थी। बाद में मार्क्सवादियों की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्याएँ विशेषतः लेनिन-एंगेल्स की, और नव्य आदर्शवादी क्रोचे और तर्कवादी रसेल की भी इस विषय में गवेषणाएँ और मंतव्य मैंने पढ़े हैं। एंगेल्स ने हेगेल के आदर्शवादी इतिहास दर्शन के विरोध में 'एण्टी-ड्रूहरिंग' में लिखा है—'The Hegelian system as such was a colossal miscarriage. It suffered from an internal and insoluble contradiction.' हेगेल एक ओर इतिहास को निरा विकास मानता है और दूसरी ओर इसी को चरम सत्य भी कहता है। यह परस्पर-विरोधी विधान हैं। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जैसे मैंने अपनी एक कविता में लिखा था—

मानव, क्या तेरा इतिहास?
ज्यादह आँसू, थोड़ा हास
रक्तपात साम्राज्य-विनाश,
चक्र-नेमि-क्रम पुनर्विकास!

इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक निश्चित है। परन्तु इसके विषय में तीन तरह के मत-विश्वास बहुप्रचलित हैं। एक मत को हम आवर्तवादी कहें। इनके अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। हम पुनः लौटकर वहीं पहुँचेंगे जहाँ पहले थे। और इस तरह से मनुष्य से कृतित्व का सारा दायित्व और सारी महत्ता छीनकर किसी अज्ञात, रहस्यवादी शक्ति (ईश्वर, कर्म, नियति,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकृति या जो कुछ भी उसे कहें) के हाथों उसे सौंप देना है। इस मत के लोग पुनरुज्जीवनवादी होते हैं। उनके अनुसार फिर से हिन्दू या आर्य 'पद-पादशाही' का साम्राज्य हो सकेगा, या राम के राज्य की पुनरावृत्ति हो सकेगी। इन संकीर्ण पुनरुत्थानवादियों के तर्क से यदि कोई यह कहे कि पुनः 'कृण्वन्तो विश्वम् बौद्धम्' हो जायगा या कि फिर से मुग़लों की सल्तनत या गोरों की कम्पनीशाही भारत में आ जायगी, तो लोग हँसने लगेंगे। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार जीव की यह पुनः मूल की ओर जाने की वृत्ति (एटैविज़्म) एक प्रबल स्फूर्तिदायक प्रवृत्ति है। कहना नहीं होगा कि यह इतिहास-दर्शन चाहे कितना ही आदर्शवादी हो, कितना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है। कलियुग के बाद फिर से प्रलय होगी और हज़रत नूह की किश्ती में सिर्फ आदम और हौआ मौज करेंगे, यह मानना अणु-युग में एक मज़ाक-मात्र है।

इसी आदर्शवादी पुनरुज्जीवनवादी वृत्ति को घटनाओं की तर्क-प्रतिष्ठा देकर और वैज्ञानिकता का बुर्क़ा पहनाकर टायनबी-जैसे इतिहास-वेत्ता भी एक दूसरी दृष्टि इतिहास के बारे में देते हैं। वह है उत्थान-पतन की आवृत्ति, प्रतीत्य-समुत्पाद की तरह लहरियों का कार्य-कारण-परम्परा की तरह एक के बाद दूसरी का आना, यही इतिहास का सत्य है। इसमें भी मनुष्य केवल तरंगों पर के फेन-बुद्बुद की भाँति उठकर फूट जाते हैं। 'वे केवल महा मिलन के चिह्न की तरह बचे हैं।' यह वैसे तो बहुत-कुछ तर्क-संगत इतिहास-दर्शन जान पड़ता है, परन्तु यह पहले दर्शन की भाँति निराशावादी न होने पर भी स्थिति-स्थापकवादी दर्शन अवश्य है। इसमें मानवी प्रगति के लिए कोई प्रयोजन, संस्कृति की निरन्तर ऊर्ध्व गति का कोई अभिप्राय नहीं दिखाई देता। हमारे कई साहित्यिकों ने जैसे पहली शैली अपनाई थी, दूसरी शैली भी कम प्रमाण में नहीं अपनाई गई है। इस विचार-सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि महापुरुषों या स्फोटक घटनाओं की संगति कैसे लगाई जाय?

इतिहास का एक तीसरा दर्शन भी है जो ऊपर के दोनों दर्शनों के ग्राह्यांश को ग्रहण करके, इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से देखने का यत्न करता है। अब इतिहास कोई महाकाल की तरह हौआ नहीं है, और न ही एक महासागर की तरह सदा हिलोरें मारने वाला, पर उसी सीमा की मर्यादा में रहने वाला पंचतत्त्व में से एक महाभूत-मात्र है। अब इतिहास मनुष्य-निर्मित, सुनिर्दिष्ट, दिशा-युक्त गति-विधि है। काल मनुष्य की चेतना की मर्यादा ही नहीं, चेतना-सापेक्ष तत्त्व है—बुद्धिगम्य और परिवर्तनक्षम। अँग्रेज़ी कवि आडेन ने जैसे कहा था :

'दि सैंड्स आफ टाइम
आर प्लास्टिसीन इन माइ हैंड!'

यानी काल-घटिका की रेती के कण क्षण-क्षण पर चुपचाप खिसकने वाले मनुष्य के बस के बाहर के निमिष-मात्र नहीं। परन्तु वह मेरे (मनुष्य के) हाथों से निरन्तर रूपाकार ग्रहण करने वाले 'प्लास्टिसीन' (मूर्ति बनाने की गीली मिट्टी की भाँति एक अर्द्ध-घन पदार्थ) की तरह हैं। यानी मनुष्य इतिहास का निर्माता भी है। यह नई भावना उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामने आई। और यह इतिहास बनाने वाले कोई गिने-चुने महापुरुष-मात्र ही नहीं, जमात-की-जमात, वर्ग-के-वर्ग, यूथ-के-यूथ भी इतिहास बना सकते हैं—यह नया तथ्य फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और अन्य क्रान्तियों से उपलब्ध हुआ है। यह नया इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वन्द्वात्मक मानता है, यानी यह प्राचीन के सर्वोत्तम का समाहार कर नित-नवीन की सृष्टि करता है। यह गति केवल चक्राकार या सर्पिल नहीं पर शंखाकार (स्पाइरल) है।

भारतीय इतिहास से उदाहरण

पहली इतिहास-दृष्टि के अनुसार भारत में वैदिक आर्यों का राज्य फिर से होगा, या जैसे सावरकर ने ११ मई १९५२ को पूना की एक सभा में 'अभिनव भारत-समाज' के उत्सव में कहा—"हमारे पूर्वजों ने जिस सिन्धु नदी के किनारे स्नान-सन्ध्या की, वह फिर से 'गंगे च यमुने चैव' हमारे अखण्ड भारत में मिलेगी और महाराष्ट्रवासियों ने भीमा नदी में जिन घोड़ों को पानी पिलाया उन्हें सिन्धु नदी में जाकर पानी पिलाया—वही यह कार्य फिर से करेंगे।" कोई भी विवेकी व्यक्ति सहज कहेगा कि यह कोरी कल्पना-मात्र है।

दूसरी इतिहास-दृष्टि के अनुसार गुप्त-मौर्य साम्राज्य उठे, गिरे; पठान-मुगल, रजपूत-मराठे-सिख-राज्य उठे, गिरे; अँग्रेजों का राज्य हुआ और वह भी नहीं रहा—यों हर साम्राज्य जो उठेगा अवश्य गिरेगा और इसलिए यह गर्व व्यर्थ है कि 'यूनानो-मिस्र-रूमा सब उठ गए जहाँ से!' और अब हम ही शेष हैं। इस तरह का चिन्तन हमें कहीं भी प्रगति में आस्था और विश्वास नहीं जगाता, उलटे हममें एक प्रकार से 'ततः किम्' वाली अकर्मण्यता जगाता है।

इसलिए तीसरी आकृति बहुत-कुछ सही है, यानी आज जो हम हैं, यानी भारतीय संस्कृति है, वह इतिहास के प्रभाव से कटी हुई नहीं है। इतिहास हमारे लिए केवल 'भूमियों' से भरा या खण्डित पाषाणों से भरा अजायबघर नहीं है। उससे हमें स्फूर्ति ग्रहण करनी है। मानव के बल-साहस और विक्रम तथा जीवन के प्रति दृढ़ निष्ठा का पाठ सीखना है, पर उसी में रम नहीं जाना है। उतना ही काफी नहीं है। पीछे देखना है इसलिए कि आगे भी बढ़ना है, वरना वह केवल पीछे देखना ही हो जायगा। प्रगति परा गति हो जायगी। वर्तमान को भूत से तोलना बेकार है। होंगे हमारे पुरखे बड़े शेरदिल, पीते होंगे वे मन-भर घी, पर उससे हमें क्या? सारा इतिहास निरी गपबाजी नहीं है, परन्तु वह आज के यथार्थ की तुलना में बहुत-कुछ कपोलकल्पित अवश्य लगता है। मनुष्य को इतिहास ने बनाया, उसी तरह मनुष्य भी इतिहास बनाता है और हर क्षण यह क्रिया चल रही है। यह नहीं कि स्वातन्त्र्य-युद्ध का जो कुछ इतिहास था वह १८५७ या १९०४ या १९१९-२० या '३० या '४२ में बनकर '४७ में आकर समाप्त हो गया। आगे कुछ होने ही वाला नहीं है, यह मानना भूल है। वह निरन्तर-विकसनशील, चिरन्तन गतिमान, सततोर्ध्वगामी प्रक्रिया है। इतिहास, यों किसी एक विभूति-विशेष या सन्-संवत्-विशेष की जागीर नहीं, उनकी तालिका-मात्र भी नहीं। विभूति-पूजकों को यह भी उदाहरण इतिहास में मिलेंगे कि कल की विभूतियाँ आज की 'विभूति' (राख)-मात्र हैं, तो कल के रज-कण आज के रत्न-कण बनते जा रहे हैं। रेडियम घूरे पर ही तो पाया था मदाम क्यूरी ने।

प्रा० गं० ब० ग्रामोपाध्ये ने अपने मराठी लेख 'ऐतिहासिक कादम्बरी : कांही विचार' (नवभारत, फरवरी १९४९) में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। उनके अनुसार—(१) ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐसे काल में होती है जब समाज में गत इतिहास के लिए आदर और श्रद्धा होती है। (२) इतिहास में कल्पना और भावना का रंग मिला हुआ नहीं होता। उसका सत्य-दर्शन यथासम्भव वस्तुनिष्ठ होता है। परन्तु उपन्यास में सत्याभास-मात्र होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(३) अतः ललित कृति में ऐतिहासिक सत्याभास का क्या अर्थ है? उपन्यासकार उस समय की दन्तकथाएँ, जन-विश्वास आदि जानता है और उस काल के रम्याद्भुत वातावरण में डूब जाता है। इतिहास की घटनाओं के रूखे विवरण में वह नहीं पड़ता। (४) ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र काल्पनिक होते हैं परन्तु प्रतिनिधि-रूप होते हैं। लेखक की कल्पना को भी इतिहास के बन्धन रहते हैं। (५) इस प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थता एक भिन्न प्रकार की यथार्थता है। उसे यथार्थवादी रचनाओं की आलोचना की कसौटी से हम नहीं जाँच सकते। उसमें यथार्थवाद से अधिक अद्भुत रम्यतावाद ही होता है। इतिहास का यथार्थ आज के यथार्थ से अधिक रम्याद्भुत होता है। (६) इतिहास की मर्यादा कुछ दशकों तक या शतियों तक सीमित नहीं है। भारत का विभाजन और महात्माजी का निर्वाण आदि घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। उन पर आधारित ललित कृति भी ऐतिहासिक कहलायगी।

अब इस विचारधारा में दो-चार बातें बहुत विवाद्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना केवल ऐसे समय में नहीं होती कि जब समाज-मन में प्राचीन के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा-भाव हो। इससे उल्टे कई बार यह एक सामाजिक ह्रासोन्मुखता का भी लक्षण माना गया है कि वर्तमान हत-बल और हत-वीर्य अवस्था में केवल प्राचीन की पूजा की जाय, अतीत की ओर मुड़ा जाय और पुनरुज्जीवन का नारा दिया जाय।

दूसरी विवाद्य बात यह है कि मानव की यथार्थता क्या एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है, क्या वह एक प्रगतिशील तत्त्व नहीं है? इतिहास की यथार्थता भिन्न है, और सामाजिक यथार्थता भिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जो आज की यथार्थता है वह आगामी कल का इतिहास बनेगा। हमारी सामाजिक वास्तविकता के निर्माण में इस ऐतिहासिक तथ्य का बहुत बड़ा हाथ है। हमारा चिन्तन-मात्र देश-काल के इन निरन्तर बदलते हुए साँचों से बँधा है और इसी कारण वह स्वतन्त्र इस अर्थ में नहीं है कि वह एकदम समाज-विमुख या समाज-निरपेक्ष हो जाय।

तीसरी विचारणीय बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का दृष्टिकोण क्या हो? क्या वह पुनरुज्जीवनवादी की भाँति केवल इतिहास में रम जाय, या वह वर्तमान और भविष्यत् का भी ध्यान रखे? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (इस युग के हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास) की आलोचना में मैंने 'प्रतीक' में लिखा था, जिसका भाव यह था कि इस उपन्यास में यह डर है कि उस सामन्तकालीन मुमूर्षु संस्कृति के प्रति पाठक के मन में मोह न उत्पन्न हो जाय।

यह देखने के लिए कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखण्डों पर हमारे उपन्यासकारों ने कहाँ तक क्या और कैसे लिखा है उनकी एक तालिका देना आवश्यक है। यहाँ मैं उन्हीं उपन्यासों की सूची दे रहा हूँ जो मैंने पढ़े हैं और जिनका नाम इस समय स्मृति से मुझे याद है। भारतीय इतिहास के कालखण्डों पर हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती उपन्यासकारों की रचनाओं के नाम देकर बाद में उन भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास के ऐतिहासिक क्रम-विकास का उल्लेख है :

प्राग् ऐतिहासिक युग तथा आदिम वैदिक युग—'संघर्ष', 'सबेरा, गर्जन' (भगवतशरण उपाध्याय) 'वोल्गा से गंगा' की आरम्भिक कहानियाँ (राहुल सांकृत्यायन), मुर्दों का टीला (रांगेय राघव); लोपामुद्रा (क० मा० मुन्शी)।

रामायण-महाभारत-पुराण-काल—महाकाव्य-खण्डकाव्य-जैसे आख्यान-काव्य और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चरित-प्रधान पद्य-रचनाएँ बहुत हैं, उपन्यास कम। कुछ नाटक भी मिलते हैं परन्तु उपन्यास प्रायः नहीं हैं। परशुराम (क० मा० मुन्शी), उत्तरा (एक पुराना मराठी उपन्यास) अपवाद हैं। वैसे महाभारत को 'उग्र' जी ने 'साहित्य-संदेश' के उपन्यास-अंक से पूर्व के अंक में विश्व का एक श्रेष्ठ उपन्यास कहा है। रांगेय राघव कृष्ण पर शायद लिख रहे हैं।

जैन-बौद्ध-प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग—सम्राट् अशोक (वा० ना० शाह, मराठी से हिन्दी में अनूदित); शशांक, करुणा (राखालदास वन्द्योपाध्याय); बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी); दिव्या (यशपाल); जय यौधेय, सिंह सेनापति (राहुल सांकृत्यायन); समुद्रगुप्त (मिश्रबन्धु); चित्रलेखा (भगवतीचरण वर्मा); वैशाली की नगर वधू (चतुरसेन शास्त्री); अम्बपाली (भटनागर) (अन्तिम तीन उपन्यास इतिहास से अधिक उस काल के वातावरण पर आश्रित हैं।)

मध्य-युग और मुस्लिम राज्यकाल—पाटणनी प्रभुता, गुजरातनो नाथ, कालवाघेरना, पृथ्वीवल्लभ (क० मा० मुन्शी); कलंकविष, गड आला पण सिंह गेला (ह० ना० आप्टे); देवी चौधुरानी, आनन्द मठ, दुर्गेशनन्दिनी (बंकिमचन्द्र); नाथ माधव की कादम्बरीमय शिवशाही और पेशवाई की बीस नाविलें (वि० वा० हड़प); अकबराचे वेद साधन (मराठी); प्रभावती (निराला); जेबुन्निसा; बेगमात के आँसू; मुगल-दरबार-रहस्य; वीर छत्रसाल; रानी सारन्धा और हरदौल (दीर्घ कथाएँ); चित्तौड़ की पद्मिनी; महाराणा प्रताप; शिवाजी आदि। (इनमें से अधिकांश ड्यूमा, स्काट रेनाल्ड्स से प्रभावित उपन्यास रहस्य और रोमांच के प्रेमियों की रुचि के ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों की कोटि के, या विभूतिपूजक उपदेशपूर्ण उपन्यासों के ढंग पर हैं)। वृन्दावनलाल जी के उपन्यास गढ़-कुण्डार, मृगनयनी, अचल मेरा कोई, कचनार इसी युग के सम्बन्ध में हैं।

अंग्रेजी राज्यकाल और वर्तमान काल—झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई (वृन्दावन-लाल वर्मा); चन्द्रशेखर, (बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय); पथ के दावेदार (शरत्-चन्द्र); 'दि कन्फेशन्स आफ ए ठग'; शृङ्गेरी-मठ (गोआ में पुर्तगाली अत्याचारों पर मराठी उपन्यास); काला पानी (सावरकर); कंठपुर (राजाराव का गांधीजी के असहयोग आन्दोलन पर अंग्रेजी उपन्यास); मुल्कराज आनन्द के तीन अंग्रेजी उपन्यास स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय में; जीने के लिए (राहुल जी का महायुद्ध पर जाकर लौटने वाले सिपाही पर उपन्यास); इन्दुमती (सेठ गोविन्ददास का कांग्रेस के इतिहास पर उपन्यास); वैसे चार अध्याय, सुनीता, शेखर, टेढ़े-मेढ़े रास्ते में भी आतंकवादी आंदोलन का एक चित्र है, पर वह एकांगी है; राष्ट्रीय आन्दोलन पर साने गुरूजी के दो उपन्यास; सन् '४२ के आन्दोलन पर मराठी में ४ (प्रभद्वरा, शाकुन्तल; अमावस्या, क्रान्तिकाल); हिन्दी में देशद्रोही (यशपाल); पैरोल पर (ब्रजेन्द्रनाथ गौड़) आदि और बंगाल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के अकाल पर मन्वन्तर (ताराशंकर वन्द्योपाध्याय), महाकाल (अमृतलाल नागर) और नोआखाली के दंगे पर खुद वहाँ घूमकर लिखा हुआ मराठी उपन्यास 'सुनीता' (विवलकर) बहुत अच्छे हैं। 'पूर्वेकडीक कालोख' (हड़प की जापान-विरोधी युद्धकालीन कथा मराठी में है) और भारतीय भाषाओं में शायद विदेशों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर बहुत कम मौलिक लिखा गया है। वैसे राहुल जी का 'मधुर स्वप्न' अपवाद है।

ऊपर दी हुई तालिका किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण या यथाक्रम नहीं है। जैसे नाम याद आते गए, मैं लिखता गया हूँ। इसमें बहुत से लेखक या उनके ग्रन्थों के नाम छूट गए हों, यह हो सकता है।

अब मैं एक-एक करके भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास का क्या क्रम रहा है उसकी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास देता हूँ।

अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ—

अंग्रेजी में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए। उनसे पहले गद्य में निबन्ध विकसित थे। स्वाभाविक था कि आरम्भिक उपन्यासों पर भी निबन्ध की छाया गहरी हो। फिर भी फ्रांसीसी उपन्यासों के प्रभाव में घटना-बहुल ऐतिहासिक उपन्यास अधिक लिखे जाते थे, जैसे वाल्टर स्काट के उपन्यास या फ्रान्स में ड्यूमा के उपन्यास। इन उपन्यासों का अच्छा मखौल ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ दि नावेल' में उड़ाया है। ह्यू वालपोल ने भी 'इंग्लिश नावल्स एण्ड नावलिस्ट्स' में इन्हें उच्च कोटि के उपन्यास नहीं कहा है। बल्कि बाद के बहुत से भीत्योत्पादक वीभत्स-रौद्र रस वाले उपन्यासों का जनक इन्हीं उपन्यासों को माना है। माना कि कुतूहल-वृद्धि इन उपन्यासों में बराबर होती रहती है, परन्तु वह आधुनिक जासूसी उपन्यासों की भाँति क्षणिक प्रभाव मन पर डालती है।

इनसे अधिक स्थायी प्रभाव डालने वाले ऐतिहासिक उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं जैसे ताल्स्ताय का 'वार एण्ड पीस' या डिकेन्स या विक्टर ह्यूगो या अत्याधुनिक अलेक्सी ताल्स्त्वा के उपन्यास। इनमें इतिहास के जिस कालखण्ड का चित्रण है वह बहुत ईमानदारी और बारीकी के साथ किया गया है। आधुनिक अँग्रेजी लेखक राफाएल साबाटानी ने भी इसी प्रकार के ऐतिहासिक रोमान्स पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया है। परन्तु इन उपन्यासों में सोवियत उपन्यास-लेखकों-जैसा दिशा-विशेष का आग्रह (टेंडेन्शसनेस) नहीं दिखाई देता। अलेक्सी ताल्स्त्वा का उद्देश्य यद्यपि आयत्वन दी टेरीबल के काल पर लिखना रहा है फिर भी उसमें युद्धकालीन सोवियत उपन्यासों की भाँति, घृणा का संगठित प्रचार, नहीं, यद्यपि विभूति-पूजा अधिक मात्रा में है। शोलोखोव के 'दौन्' नदी-विषयक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

चाहे इस कारण से हो कि यूरोप-निवासी विशेष पुराण-पूजक नहीं या अन्य किसी कारण से, उन्होंने अपने देश के प्राचीन गौरव पर कम उपन्यास लिखे हैं—'पाम्पुआई के अंतिम दिन' या 'नार्मन-विजय' या डिजरायली के दो-तीन उपन्यासों की भाँति वे किसी घटना-विशेष से प्रभावित अधिक हैं। अधिकांश पश्चिमी उपन्यास सामाजिक अधिक हैं, ऐतिहासिक कम।

बंगाली —

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राखालदास वन्द्योपाध्याय और अन्य उपन्यासकारों के जो अनुवाद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पढ़े हैं उनसे जान पड़ता है कि बंगाली स्वभाव की भावुकता और काव्यात्मकता इन उपन्यासों को अत्यन्त रोचक बनाने में सहायक रही हैं। उनमें रोमान्स का भाग अधिक है, यथार्थ का कम, फिर भी उनकी कल्पना और इतिहास के यथार्थ में सहज सम्मिलन जान पड़ता है। जैसे दूध और मिसरी। मुझे याद आता है कि रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' निबन्ध-संग्रह में 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर एक परिच्छेद है, जिसमें इस प्रकार के लेखन में काव्यमयता का समर्थन करते हुए कवि-गुरु ने लिखा है कि इस प्रकार के लेखन में लेखक को अपने-आपको भुलाकर उस काल में प्रक्षेपित करना होता है, और उस काल के भग्न प्राचीर-खण्डों और पाषाण-स्तम्भों को लेकर पुनः नव्य-स्थापत्य निर्माण करना होता है। वाल्टर बैगेहोट नामक अँग्रेज समालोचक ने ऐतिहासिक उपन्यास की तुलना बहते हुए जल-प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग-मीनार की छाया से की है। पानी नया है, नित्य परिवर्तनशील है, परन्तु मीनार पुरानी है, अपने स्थान पर स्थित है। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस जमीन पर हैं। वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है, परन्तु उसका स्वप्न पुरातन है, और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे। रवीन्द्र-शरत्चन्द्र-ताराशंकर-माणिक बन्द्योपाध्याय की परम्परा में बहुत कम लोगों ने ऐतिहासिक कथानक चुने। वैसे डी०-एल० राय, मन्मथ राय आदि ने ऐतिहासिक नाटक अवश्य बहुत से लिखे हैं। वह भिन्न विषय है।

मराठी—

मैंने सर्वाधिक ऐतिहासिक उपन्यास अपनी मातृभाषा में पढ़े हैं। हरिनारायण आप्टे, नाथमाधव, वि०वा०हड़प, चिं०वि० वैद्य, वि०वा० भिड़े और अन्य कई लेखकों के सैकड़ों उपन्यास मुझे याद आ रहे हैं। उनमें अधिकांश शिवकाल-सम्बन्धी हैं। वैसे कोरसईचा किल्लेदार और 'रूपनगच राजकन्या' और 'लाल वैरागीण' और 'अल्ला हो अकबर' और 'काला पहाड़' और 'पिवका वाघुलछोवा' और 'नीरूदेवी' और न जाने कौन-कौन से बचपन में पढ़े हुए आख्यान याद आ रहे हैं। परन्तु अधिकतर उपन्यास रोमान्स और ऐयारी-तिलिस्मी प्रभाव वाले ही अधिक थे। किसी ने सचेतन रूप से इतिहास का अध्ययन उपन्यास में ढाला हो ऐसा नहीं जान पड़ता। इतिहास-संशोधकों की एक गौरवशाली पीढ़ी महाराष्ट्र में हो गई—राजवाड़े, खरे, पारसनीस, भांडारकर आदि। और उसी परम्परा में रियासतकार सरदेसाई, दत्तोवामन पोतदार, न० र० फाटक, बेन्द्रे, भ० खु० देशपांडे और अन्य कई व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। परन्तु इनके परिश्रम और अध्यवसाय को उपन्यास का आवरण बहुत कम लोगों ने पहनाया। उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं से ही उलझते रहे। खांडेकर, माडखोलकर, पु० भ० देशपांडे, बोकील, करेरकर, शिखाडकर, बारेकर, त्रिवलकर, मालतीबाई बेडेकर गीता सारे आदि की सब कृतियाँ सामाजिक हैं। परन्तु ना०सी० फड़के ने एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में लिखे थे। और सब तो केवल हरिनारायण आप्टे का नाम लेते हैं और उसके बाद वह सोता भी उसी तरह सूख गया जैसे बंगाल में राखाल बन्द्योपाध्याय के बाद। इसका प्रधान कारण हमारे उपन्यास पर पश्चिम के उपन्यास का पड़ा हुआ प्रभाव है। आधुनिक उपन्यासकार इतिहास की अपेक्षा अनतिदूर वर्तमान से प्रेरणा अधिक लेता है, ऐसा जान पड़ता है। वह अध्ययन से भी कतराता जान पड़ता है और उसकी बहुप्रसवा लेखनी त्वरा से अधिक काम लेती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुजराती—

'सरस्वतीचन्द्र' को वैसे ऐतिहासिक उपन्यास एक दृष्टि से कह सकते हैं, परन्तु प्रधान नाम इस दिशा में कन्हैयालाल मुन्शी का है। उन्होंने अपने आत्मचरित में स्पष्ट लिखा ही है कि वे ड्यूमा के उपन्यासों से बचपन में बहुत प्रभावित रहे हैं। अतः उनके सभी उपन्यासों में पात्रों की, घटनाओं की, चरित्रों की पुनरावृत्ति-सी जान पड़ती है। इतिहास की पृष्ठभूमि मानो एक परदा है जो पीछे से हटा लिया जाता है और वही प्रणय, वीरता, आदि भावनाओं का संग्राम बराबर चलता रहता है। फिर भी मुझे उनकी काल 'वाचेली' कृति अनन्य लगती है। 'पृथ्वी-वल्लभ' भी भली प्रकार से एक श्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें नाटकीय गुण प्रधान हैं। परन्तु 'राजा-धिराज' 'जय सोमनाथ' आदि उनकी इधर की कृतियों में स्पष्ट पुनरुज्जीवनवादी (रिवाइवलिस्ट) स्वर है। उन्होंने सोमनाथ की भूमिका में स्वयं लिखा है—"यह शैली का अन्तर २५ और ५२ वर्ष के पुरुष के विचारों का अन्तर है।" वह उपन्यास-रस की उतनी ही हानि करता है जितना राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में साम्यवादी प्रचार का अप्रच्छन्न आरोपित यत्न। यह बात मैंने 'सिंह सेनापति' की 'विशाल भारत' में आलोचना करते हुए लिखी थी। स्व० मेघाणी के 'सोरठ तारा वहेता पाणी'-जैसे उपन्यास अधिक बलवान् और कलापूर्ण जान पड़ते हैं।

हिन्दी—

हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए और संख्या में भी कम हैं। उनमें भी सामाजिक अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में तो अनूदित ही अधिक मिलते हैं। बंगाली से बंकिम के, राखाल वन्द्योपाध्याय के, मराठी से हरिनारायण आप्टे या बालचंद नेमचंद शाह के। मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का यत्न न प्रेमचंद ने किया न 'प्रसाद' ने, न उनके पूर्ववर्ती देवकीनन्दन खत्री या गोपालराम गहमरी ने। 'निराला' जी की 'प्रभावती' वैसे एक अपवाद है। पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने भी गुप्त काल पर एक उपन्यास लिखा है, परन्तु उसे सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। साहित्य के इतिहास में संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक केवल चार-पाँच ही हैं और वे हैं : राहुल सांकृत्यायन; भगवतशरण उपाध्याय (जिनकी उपन्यास से अधिक बड़ी कहानियाँ हैं); हजारीप्रसाद द्विवेदी; यशपाल; रांगेय राघव; चतुरसेन शास्त्री; और इन सबमें गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक और अच्छा लिखने वाले श्री वृन्दावनलाल वर्मा। 'कचनार' की आलोचना दिल्ली रेडियो से मार्च १९४८ में करते हुए कहा गया था कि वर्माजी जनतंत्र के युग के उपन्यासकार हैं। उनकी भाषा-शैली जैसी सादी और प्रवहमान है उनकी विषय-वस्तु का आदर्श भी वैसा ही सहज और प्राकृत है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है; यही उनकी कृति की भी विशेषता है। उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जी का वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुलजी का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता, इतिहास के प्रति निर्भय प्रामाणिकता का भगवतशरण या रांगेय राघव का सा आग्रह भी नहीं मिलता, तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि के निकट का ही विषय चुनते हैं, उससे बाहर नहीं जाते। बहुत कम लेखकों में अपनी मर्यादा का इतना अच्छा भान होगा। हिन्दी के लिए विशाल ऐतिहासिक क्षेत्र खुला पड़ा है—मध्यभारत-राजस्थान की गाथाएँ, बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश के प्राचीन आख्यान कोई नये लेखक छूते ही नहीं, इसका आश्चर्य है। प्रेम के सस्ते त्रिकोण से त्राण मिले तब न ! अब हिन्दी के एक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक वृन्दावन-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लाल वर्मा को उदाहरण के तौर पर ले लें और गुण-दोष-विवेचना करें तो मेरी अल्प मति में वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के निम्न गुण हैं—

(१) अपनी विषय-वस्तु का गहरा और सन्निकट परिचय, अध्ययन और गवेषणा।

(२) जनतांत्रिक दृष्टि। पात्रों को कहीं भी अतिमानुष नहीं होने दिया जाता, न सर्व-साधारण पाठकों का ध्यान ही भुलाया जाता है।

(३) उपन्यास की रोचकता के लिए आवश्यक कुतूहल बनाए रखने वाली घटनाओं का गुम्फन।

(४) भाषा-शैली में प्रादेशिक रंग।

(५) चरित्र-चित्रण में पात्रों के परस्पर-सम्बन्धों का ध्यान और निर्वाह।

(६) प्राकृतिक वर्णनों तथा युद्धादि घटनाओं के वर्णनों में कहीं भी अनावश्यक विस्तार की कमी।

(७) देश की उठती हुई स्वाधीनता की चेतना का ध्यान। यानी परम्परा को पीटने या प्राचीन को उत्तम कहने का मोह टालते हुए भविष्य की ओर भी स्फूर्तिदायिक इंगित।

(८) किसी भी रस के चित्रण में (उदाहरणार्थ शृङ्गार, करुणा या वीर) अतिरेक की ओर झुकाव नहीं। भड़कीले रंगों की अपेक्षा सौम्य रंगों का अधिक उपयोग।

(९) चरित्रों की रेखाएँ दृढ़ और स्पष्ट, कभी-कभी बहुत स्थूल भी। जिससे प्रत्येक पात्र की विशेषता, दूसरे से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। 'मृगनयनी' में यही विशेषता है।

(१०) पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद उस काल के वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण सफल जान पड़ता है जैसे 'गढ़कुण्डार' या 'लक्ष्मीबाई' में।

इनके कुछ सामान्य दोष यह हैं :

१. काव्यात्मकता की कमी। वर्णन-शैली के अधिक 'इतिवृत्तात्मक' होने से रस-भंग।

२. संवाद में नाटकीयता अधिक होने से कहीं-कहीं कृत्रिमता।

३. पात्रों के मन के अन्दर स्वयं उपन्यास-लेखक पैठता जान पड़ता है। उन पात्रों के व्यवहार या आचार से उनके मनोविकार अधिक व्यक्त नहीं होते।

४. तीन-चार उपन्यास पढ़ लेने पर जान पड़ता है कि काफी जल्दी में वे लिखे गए हैं। कुछ पुनर्संपादन से वे अधिक सँवरे-से जान पड़ते।

५. इतिहास के साथ कहाँ तक स्वतन्त्रता ली जानी चाहिए यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह ली गई है और उपन्यास में सहज रोचकता लाने मात्र के लिए।

इस कारण से वृन्दावनलाल जी की रचनाओं से जो आशाएँ हमारे मन में जगती हैं वे इस प्रकार से हैं—किसी भी उपन्यासकार के लिए कोई दण्डक (या नियम) बना देना उचित नहीं। वह अपने संस्कार, शिक्षण, आदर्श और विचारों के अनुसार ही इतिहास को देखेगा और उसका कलात्मक पुनर्मूल्यांकन करेगा। फिर भी चूँकि वृन्दावनलालजी बुन्देलखण्ड की माटी की सौंधी पौध पहचानते हैं, हमारा आग्रह है कि 'मुसाहिबजू' की भाँति पिछले ३० वर्षों में बुन्देलखण्ड में जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं उन्हें बेतवा के मुँह से सुनवाएँ। 'झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई' की भाँति वे एक दूसरा बड़ा उपन्यास इन गए तीस वर्षों के गाँव-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शहरों में बुन्देलों की दो-तीन पीढ़ियों में हुए परिवर्तनों पर लिखेंगे तो हिन्दी को ही नहीं विश्व-साहित्य को एक अमर यथार्थवादी कृति की भेंट मिलेगी। उसमें वे जितनी प्रादेशिकता ला सकें लायँ। मराठी में दो-तीन कोंकन के किसान जीवन पर लिखे उपन्यासों के पीछे नोट दिये गए हैं, शब्दों-मुहावरों के अर्थों और स्थान-नाम, रीति-रिवाजों पर वैसी ही चीज इसमें हो।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की शैली

ऐतिहासिक उपन्यास की विषय-वस्तु का विचार ऊपर बहुत किया जा चुका। अब उसके कलेवर यानी शैली को ध्यान में लें तो यह पता चलेगा कि विषय-वस्तु से शैली अवश्य निर्णीत होगी। कहीं-कहीं उपन्यास-लेखक को छूट है कि वह आचार-शास्त्रीय या दार्शनिक चर्चा में उलझे, परन्तु वह इस सीमा तक नहीं जैसे आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' में अन्त में 'भूमि' में पृष्ठ ७६३ पर कहा है—"वास्तव में ऐतिहासिक काव्यों, उपन्यासों और कहानियों का इतिहास की सीमा तक उल्लंघन करने के कारण इतिहास-कुल से विच्छेद कर दिया गया है। यह केवल भारतीय साहित्य की ही बात नहीं है, पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसा हुआ है। इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के भी 'चिर सत्य' के सिद्धान्तों पर हम थोड़ा विचार करेंगे। 'चिर सत्य' ऐसे साहित्य का प्राण है।..... इतिहास की विशिष्ट सत्य घटनाओं का उसे पूरा ज्ञान नहीं होता। होने पर भी वह जान-बूझकर उनकी उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।" यह कथन कितना भ्रांतिपूर्ण है यह कहना आवश्यक नहीं है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री एक 'इतिहास-रस' की सृष्टि करके वेश्याओं का इतिहास पृ० ८५३ से ८५६ तक देते हैं और अपने उपन्यास की भाषा-शैली के बारे में पृ० ८६३-६४ पर कहते हैं—"उपन्यास में लगभग दो सहस्र नये पारिभाषिक शब्द आए हैं। जिनका प्रचलन चिर-काल से भाषा-प्रवाह में समाप्त हो गया है।...भाषा और भाव, सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास सर्वसाधारण के पढ़ने योग्य नहीं है। परन्तु हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए यह उपन्यास प्रत्येक शिक्षित भारतीय को दस-बीस बार पढ़ना चाहिए। खासकर उच्च सरकारी अफसर, जो अंग्रेजी, भाषा के पण्डित और अंग्रेजी सभ्यता के अधीन हैं...,अपनी टेबुल पर इस उपन्यास को अनिवार्य रूप में डाल रखें और निरन्तर इसे पढ़ते रहें तो उन्हें मौलिक भारतीय विचारधारा अपने रक्त में प्रवाहित करने में बहुत सहायता मिलेगी। उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफसरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।" संक्षेप में, ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का 'बुद्ध-कालीन इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास' (जो सन् १६४६ में छपा है) है। १६२२ के 'शशांक' से अभी तक हम क्या आगे नहीं बढ़ पाये हैं?

बौद्धकाल पर और गुप्त मौर्यकाल पर कितने उत्तम उपन्यास लिखे गए हैं इनका उदाहरण देखना हो तो राखालदास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास को देखिए, जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने अनूदित किया था, १६२२ में। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने मूल लेखक की कृति को अन्त में बदल दिया है, फिर भी मूल का आनन्द इस उपन्यास में सुरक्षित है। उदाहरण कहाँ तक दें। पृ० २१४-२१५ पर ऋतु-वर्णन देखिए :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"वर्षा के अन्त में गंगा बढ़कर करारों से जा लगी है। नावों का बेड़ा तैयार हो चुका है। नौसेना सुशिक्षित हो चुकी है। हेमन्त लगते ही वंग देश पर चढ़ाई होगी। सामान्य सैनिक से लेकर यशोधवल तक उत्सुक होकर जाड़े का आसरा देख रहे थे। वर्षाकाल में तो सारा वंग-देश जल में डूबकर महा समुद्र हो जाता था, शरद् ऋतु में जल के हट जाने पर सारी भूमि कीचड़ और दलदल से ढकी रहती थी। इससे हेमन्त के पहले युद्ध के लिए उस ओर की यात्रा नहीं हो सकती थी।"

और पृ०३६७ पर जन साधारण की उत्सवप्रियता का यह सरल संक्षिप्त वर्णन—"पाटलीपुत्र में आज बड़ी चहल-पहल है। तोरण-तोरण पर मंगलवाद्य बज रहे हैं। राजपथ रंग-बिरंग की पताकाओं और फूल-पत्तों से सजाया गया है। दल-के-दल नागरिक रंग-बिरंगे और विचित्र-विचित्र वस्त्र पहने ढोल, झाँझ आदि बजाते और गाते निकल रहे हैं। पहर-पहर-भर पर नगर में तुमुल शंखध्वनि हो रही है। धूप के सुगन्धित धुएँ से छाए हुए मन्दिरों में से नगाड़ों और घण्टों की ध्वनि आ रही है। आज सम्राट् माधवगुप्त का विवाह है।"

'शशांक' या 'करुणा' में लेखक अवान्तर वादविवाद या उपदेशों में नहीं उलझता।

'निराला' की प्रभावती में पृ० ६३ पर लेखक बीच में ही अपने स्वाभाविक आवेश से कह उठता है—"हाय रे देश! कितने फूल इस प्रकार सामयिक प्रवाह में चढ़कर दृष्टि से दूर अँधेरे में बहते हुए अदृश्य हो गए, पर किसी ने तत्त्व-रूप को न देखा; सब बाहरी चहल-पहल में भूले रहे—इतिहासवेत्ताओं के सत्य के भुलावे में आश्वस्त। यह अँधेरा चिरन्तन है।...देश अँधेरे में है, प्रकाश नहीं दीख पाता..." इत्यादि। इसे आरम्भिक 'निवेदन' में निरालाजी ने 'रोमाण्टिक उपन्यास' कहा है और "अभी उस रोज भी डाक्टर रामविलास के लेख में इसके उद्धरण आये हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से पुस्तक मध्यम या उच्च कक्षाओं में रखने योग्य है। यदि अधिकारी ध्यान दें तो हिन्दी के साथ सहयोग और सराहनीय..." लिखा है। यह सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

राहुलजी की रचनाओं में भी 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' अधिक सफल ऐतिहासिक कृतियाँ थीं। 'मधुर स्वप्न' में तो कई स्थल अवान्तर चर्चा से भर गए हैं। यथा पृ० ५१ पर का यह उद्धरण देखिए :

"अबकी सियावख्श ने हठात् पूछ दिया—अर्थात् जिस प्रकार हमारे यहाँ एक पुरुष की बहुत सी पत्नियाँ होती हैं, वहाँ इससे उल्टा होता है।

मज्दक—इसमें क्या आश्चर्य है? देश-काल-भेद से हर जगह के सदाचारों में भेद होता है। एक जगह जो बात निषिद्ध है, वही दूसरी जगह विहित।

कवात्—क्या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में यह शिक्षा हिन्दी-ऋषि बुद्ध ने भी दी थी।

मित्रवर्मा—नहीं, बुद्ध ने तो उच्च श्रेणी के शिष्यों के लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया था। इसलिए उनके उच्च श्रेणी के अनुयायी स्त्री-पुरुष अविवाहित रहते हैं।

मज्दक—मानी ने भी अपने उच्च अनुयायियों को परिवार और पत्नी से असंग रहने का उपदेश दिया था। यवन-विचारक प्लातोन ने बतलाया कि महान्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्देश्य को लेकर चलने वाले नर-नारियों को सम्पत्ति से ही मेरा-तेरा का सम्बन्ध नहीं हटाना होगा, बल्कि उनके लिए स्त्री में मेरा-तेरा का भाव होना भी हानिकारक है, क्योंकि स्त्री में केन्द्रित वह मेरा-तेरा का भाव फिर पुत्र-पुत्रियों में केन्द्रित हो जायगा, फिर उनकी सन्तानों में। मेरा-तेरा के लिए संसार में लोग क्या नहीं करते? जगत्-कल्याण के लिए आदमी अपनी शक्ति को तभी पूरी तरह लगा सकता है, जबकि उसके पास अपनी सन्तान न हो।

कवात्—तो क्या प्लातोन ने भी साधु-साधुनी बन जाने का उपदेश दिया था?

मज्दक—नहीं, प्लातोन व्यावहारिक विचारक था। उसने सोचा कि इन्द्रियों पर पूरी तरह से संयम विरले ही कर सकते हैं, इसलिए उसने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विरोध नहीं किया, किन्तु उसने यह अवश्य बतलाया कि उच्च जीवन और आदर्श के अनुयायियों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है, कि उनका स्त्री-पुरुष के तौर पर पारस्परिक सम्बन्ध भी मेरा-तेरा के भाव से मुक्त हो।

मिश्रवर्मा—है यह बड़ा ही लोक-विद्रोहकारी आचार-विचार, किन्तु जनता के पथ-प्रदर्शकों के लिए जन-संगठ की भावना से प्रेरित परम त्यागियों के लिए यही एक व्यवहार-पथ दिखलाई पड़ता है। मैं समझता हूँ, लोकरूढ़ि से विरुद्ध मार्ग पर चलने के लिए अयरान में इस पर जोर न दिया जाता, यदि वहाँ पहले से ही भगिनी-विवाह, पुत्री-विवाह, मातृ-विवाह-जैसी प्रथाएँ प्रचलित न होतीं। लेकिन यह तो ऐसी चीज है, जिस पर अन्दर्जगर का बहुत जोर नहीं है। वह इसको अप्रतिषिद्ध-भर मानते हैं, जीवन का लक्ष्य नहीं मानते।

मज्दक—मानव की प्रवृत्तियों को नीचे जाने से बचाना और उसकी सारी शक्ति को नवीन संसार के निर्माण में लगाना, यही हमारा उद्देश्य है। अकामेनू की पराजय के बाद अब समय आ गया है कि हम नये संसार की दृढ़ नींव रखें। भीषण अकाल के बाद आज जनता सारे अयरान में भूख के कष्ट से मुक्त हो जल्दी-जल्दी अपने दोषों को छोड़ती जा रही है। आज उसकी भावना में जो भारी परिवर्तन देखा जा रहा है, क्या वह इसका प्रमाण नहीं है कि नये युग का आरम्भ हो गया है? आज मनुष्य से पूछा जा रहा है कि विजयी अहुर्मज्द के पथ पर कौन आना चाहता है।"

इस प्रकार से ऐतिहासिक उपन्यास की शैली में हिन्दी ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। इस विषय में अभी बहुत-सा कार्य करने को शेष है—संशोधकों को, औपन्यासिकों को और समीक्षकों को भी। ऐतिहासिक उपन्यास की समीक्षा में कौन से मानदण्ड हों, यह भी एक विचारणीय विषय है, जिसके संकेत ऊपर आरम्भिक चर्चा में हमने दिये हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ठाकुरप्रसाद सिंह

हिन्दी कहानी

: १ :

हिन्दी-कहानी यद्यपि प्राचीन कहानियों तथा पाश्चात्य शैली के निकट समान भाव से आभारी है, किन्तु इतना सब लौटा देने के पश्चात् भी उसके पास जो बच रहता है उससे उसकी मौलिक विकास-परम्परा का पूर्ण आभास पाने में सम्भवतः कठिनाई नहीं पड़ेगी। हिन्दी-कहानी एक ओर भारतीय चिन्तन की एक नई मनःस्थिति का प्रतिफलन होकर भी पिछले सम्पूर्ण वर्णन, मनोविश्लेषण, उद्देश्य तथा वस्तु-योजना की शृङ्खला में एक बिलकुल नई कड़ी है; उसी तरह जैसे भारतेन्दु-युग तथा परवर्ती साहित्य अपने नवीन विश्वासों के साथ साहित्य का एक नवीन विकास है। 'आदम' की एक अस्थि लेकर 'ईव' का निर्माण सम्भव हो सकता है, पर आधुनिक कहानी इस दिशा में इतनी विशाल परम्परा की उत्तराधिकारी होकर भी अपने पैरों पर खड़ी होने का दावा कर सकती है। उसमें कहीं भी प्राचीन बृहत्कथाओं की अस्थियाँ नहीं लगी हैं और न तो रुके हुए इतिहास की छाया में पली छुईमुई का मादक संकोच तक आलंकारिक बिलमाव ही उसे मिला है। उपदेश के निष्कर्ष का आग्रह भी उसे वहाँ से नहीं मिला है। भव्यता के लिए भी वह नरवाहनदत्त की ड्योढ़ी पर नहीं गई है। दूसरी ओर पाश्चात्य परम्परा से एक सीमा तक रूपविधान की छाया पाकर भी वह अनूदित ही नहीं रही है। व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों तथा कहानियों को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम बनाने वाले भारतेन्दु-युग के कलाकार अपनी शक्ति से अधिक सजग थे; उनके पास निज का कहने को इतना था कि पश्चिम की वस्तु की ओर देखने की फुरसत ही उनको नहीं थी।

प्रारम्भिक रचनाओं में यद्यपि विजातीय प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, किन्तु शीघ्र ही एक सर्वथा नई पद्धति का विकास हो जाता है। शुरू में एक साथ ही संस्कृत महाकाव्यों की वर्णन-परम्परा, उर्दू का चुलबुलापन तथा बृहत् कथानकों की ढीली विलम्बित शैली देखने को मिलती है—ठीक वैसे ही जैसे उस पीढ़ी का आदमी अपने रहन-सहन, वेशभूषा तथा मानसिक रुझान में एक अजीब सम्मिश्रण था—मन उसका अभी भी पीछे दौड़ता था; समस्याएँ सामने थीं, पर इतनी उग्र नहीं थीं कि उसे लाचार कर दें। नये आदमी का तब तक जन्म ही नहीं हो सका था, इसलिए नई कहानी की स्पष्ट रूप-रेखाएँ देख सकना असम्भव था। इतना कम नहीं था कि पुरानी लकीर तोड़ी जा रही थी और इसकी पहचान होने लगी थी। हिन्दी के संस्थापकों की रचनाएँ यद्यपि एक नई भूमि का संकेत दे रही थीं किन्तु किसी भी प्रकार वे मूल से विच्छिन्न नहीं थीं। नासिकेतोपाख्यान या प्रेम सागर की कृष्ण-सम्बन्धिनी कहानियाँ अपनी वस्तु (content) तथा अभिव्यंजना में परम्परा-प्राप्त थीं; किसी भी प्रकार की मौलिकता का दावा इनके लेखकों ने पेश ही नहीं किया। बाइबिल, कैण्टरबरी टेल्स या 'आर्थर' की कहानियों का जो प्रभाव इंगलिश साहित्य पर पड़ा हो पर ईसाई-पादरियों द्वारा हिन्दी में प्रकाशित कहानियों या सुसमाचारों की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शैली पर हमारे इन प्रथम लेखकों का प्रभाव कम नहीं था। फलतः एक विचित्र तरह का सौष्ठव उस समय की सभी रचनाओं पर छाया हुआ था। दूसरी ओर इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' पर पौराणिक शैली की जगह मध्यकालीन किस्सागोई की छाप थी; कहानी का प्रवाह यहाँ भी क्षीण ही रहा। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी उनकी सामाजिक तटस्थता—एक अजीब-सा विरस विलगाव तत्कालीन स्थितियों से। ऐसा स्पष्ट हो चला था कि बाद में भले ही कला और सौष्ठव का विकास चाहे जैसे हो सके, पर इस शैलीविहीन गतिहीन कहानी का अन्त करने के लिए पहले इस तटस्थता का अन्त ही होना आवश्यक होगा। गदर के आसपास पैदा हुए इस नवीन वर्ग के उदासीन हाथों से यह कलम हटाने की आवश्यकता तब एकदम स्पष्ट हो गई थी।

यह कार्य शीघ्र ही हो भी गया। भारतेन्दु-युग में यद्यपि 'कहानी-कला'-जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव भले न हुआ हो किन्तु लघु कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन उभर अवश्य आए। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को दिया गया जवाब, 'चूसा पैगम्बर', आदि रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं; जिनकी कथा वस्तु एकदम नवीन आधारों पर गठित हुई थी। यहाँ हम आधुनिक कथा को एक साथ ही महाकाव्यों तथा पुराणों की परम्परा से अलग नवीन दिशा में बढ़ते देखते हैं। कलाकार की तटस्थता भंग हो गई है और वह मुखर भी हो गया है। पुरानी उपदेशात्मकता तथा गम्भीरतम आकृति की जगह स्वच्छ व्यंग का जन्म हुआ है जो इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्योक्ति पद्धति में कही गई कथा यद्यपि थी यमलोक की या स्वप्नलोक की, किन्तु सचाई यह थी कि लेखक एक क्षण के लिए भी दुनिया के कटु यथार्थ से तटस्थ नहीं हुआ था।

किन्तु जिस अर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें ये कथाएँ अब भी आती नहीं थीं। शैली की दृष्टि से अब भी हिन्दी-कहानी आधुनिक अर्थ में काफी पीछे थी। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग का सन्धि-काल हिन्दी के सभी क्षेत्रों में बाह्य प्रभाव-काल था। बँगला के माध्यम से नई-नई शैलियाँ सभी क्षेत्रों में व्यवहृत हो रही थीं; हिन्दी-गल्प इसी प्रभाव में विकसित हुई और एक हद तक इस रास्ते पर चली भी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही रवीन्द्रनाथ की गल्पों का अधिकांश लिखा जा चुका था; उनकी भावुकता, रहस्यात्मक कौतूहल-वृत्ति तथा सरल पिच्छल कथन-शैली ने आरम्भिक हिन्दी-कहानी पर कम प्रभाव नहीं डाला, और लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं में अनूदित होकर आते रहे। इस काल में हिन्दी की भाव-व्यंजना तथा शैली दोनों ही एक झटके से बदल गए पर वस्तु की दिशा में एक विचित्र दुविधा दिखलाई पड़ी। लेखक निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि कौन सी राह पकड़ी जाय, कहानी का प्रारम्भ तो हो गया। गिनाने के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी की कहानियों की सूची भी दे दी किन्तु उस सूची में ऐसा एक भी लेखक न था, जिसने बाद में भी इस दिशा में जमकर कार्य किया हो। इन कहानियों के कहने में भी एक झिझक का भाव दीखता है और यदि कहानी की कसौटी पर कसें तो सम्भवतः अपनी बोझिल (मोनोटनस) शैली के कारण ये काफी पीछे रह जायँगी। इनमें से एक लेखक का भी विश्वास इस शैली पर जमता नहीं दीखता। इन सबके अलावा यहाँ वह भारतेन्दुयुगीन चेतना जो खो गई, उसकी तो चर्चा ही चलानी व्यर्थ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इतना होते हुए भी यह स्पष्ट था कि शीघ्र ही इस दिशा में नये प्रयोग होने जा रहे हैं; चिनगारियाँ बता रही थीं कि गर्भ में कुछ गम्भीर निष्कर्ष छिपा हुआ है। द्विवेदीकालीन एक-रसता का अन्त होने वाला था, इसका आभास 'इन्दु' के प्रकाशन ने दे दिया। रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अधिक उर्वर प्रमाणित हुई। 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' ने मिलकर नये लेखकों का जो मण्डल निर्मित किया, वह एक झलक में बुझने वाला नहीं था। जयशंकर 'प्रसाद' की 'चित्राधार' और छायाकाल की रचनाएँ तभी प्रकाश में आईं। यद्यपि उन पर संस्कृत और बँगला का सम्मिलित प्रभाव था, पर इन सीमाओं को तोड़कर ऊपर उठने की शक्ति भी साथ ही लक्षित हो रही थी। प्रसाद अपने कालवर्ती सभी रचनाकारों से अधिक पुराने, अतिभावुक तथा छायानुवर्ती होते हुए जो शीघ्र ही मुक्त और सशक्त होकर अगली पंक्ति में आ गए वह अपनी इसी सीमा लाँघने वाली प्रवृत्ति के कारण। यद्यपि इनकी पहली कहानी 'ग्राम'-कहानी से अधिक स्केच ही लगती है किन्तु सन् १९११ तक विकसित हिन्दी-कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। बाद की इस काल की उनकी कहानियों पर बँगला प्रभाव स्पष्ट लगता है। 'तानसेन', 'रसिया बालम' इसी प्रभाव में रचित हुई थीं। एक अतीन्द्रिय भावुकता से उस समय का उनका साहित्य पूर्णतः प्रभावित है। अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक झंकार में डूबी हुई हैं। तत्कालीन अन्य लेखकों में इस भावुकता का प्राबल्य उतना नहीं है, पर हैं वे भी एक सीमा तक इसी वर्ग की। एक विशेष प्रकार के बलिदानी 'दर्द' की खनक सभी कहानियों में झलकती है। श्री राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा, कौशिक तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की श्रेष्ठ रचनाएँ तब सामने आ चुकी थीं। 'कानों में कँगना' का स्मृत्याभास, 'परदेसी' की विधवा की आकुलता तथा 'उसने कहा था' के लहना-सिंह की आत्मार्पण की करुणा हिन्दी-कहानी के नये विरवे के लिए दी गई वह जल-धारा है जिसके बिना वह सौ छायाओं में पलकर भी जीवित नहीं रह सकती थी। इन लेखकों ने प्रभाव चाहे जहाँ से लिया हो, शैली चाहे जिनकी पाई हो, पर अपने सहज पुलकित रसोद्रेक को लिये ये पूर्ण मौलिक दीखते हैं। 'उसने कहा था' हिन्दी-कथा का जो एक माइल स्टोन बन सकी वह अपनी इसी विशेषता के कारण। यों अपनी समग्रता (टोटल इफेक्ट) में वह कहानी की सीमाएँ लाँघकर आगे बढ़ी दीखती है; किन्तु सहज मानव-समवेदना का जो युग बाद में भारतीय कथा-साहित्य का प्राण बना उसकी पहचान यहीं हुई। 'उसने कहा था' के साथ हिन्दी-कहानी ने अपने विकास की नई मंजिल शुरू की। प्रसाद, कौशिक आदि की सब रचनाएँ तथा प्रेमचन्द की 'नवनिधि' काल तथा सामाजिक यथार्थ की स्पष्ट स्वीकृति के अलावा तब तक की सब रचनाएँ इसी मंजिल की प्राप्य हैं। बाद में आने वाली स्पष्ट सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना से प्रभावित साहित्य की पृष्ठभूमि में रखने पर इनका ऐतिहासिक स्वरूप और निखरता है। मानवीय संवेदना का जितना भार आधुनिक कहानी को वहन करना पड़ रहा है वह उसकी शैलीगत विशेषता के कारण ही; इसलिए यहाँ तक आते-आते वह काफी निखर चुकी थी। अब यत्र-तत्र उसकी रूप-रेखा तथा शक्ति-सन्तुलन की बातें भी सुन पड़ने लगी थीं। काफी सम्भावना थी कि कहानी अपने सामने फैले रास्तों में से कोई हल्का रास्ता चुनकर आगे बढ़ गई होती—भावुकता, रहस्य-रोमांच, दर्शन, या इस तरह के और भी बहुत से विकल्प सामने आ चुके थे। हृदयेश की अपार भावुकता से लेकर गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियों तक कोई भी राह चुनी जा सकती थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहानी कला के पारखी उसे एक ओर विशुद्ध कलात्मक अभिव्यंजना का प्रकार बनाने को उत्सुक थे; कुछ थे जो उससे पुराने उपदेश सुनने को कान लगाये बैठे थे; कुछ केवल कथा सुनने के आदी थे। बहुत कम ऐसे थे जो उसकी सम्भावनाओं के बारे में काफी दूर तक सोचते थे। ऐसी हालत में ऐसी सुन्दर शैली का भविष्य एक सीमा तक अस्पष्ट ही लगता था। इसी समय एक नये विश्वास के साथ प्रेमचन्द ने इस शैली को अपनी विचारधारा के प्रकटीकरण का माध्यम बनाया और कहानी की सम्भावनाएँ शतगुण कर दीं; उसे एक साधारण-सी शैली की सीमा से उठाकर जीवन के संघर्षों का एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभरकर सामने आने से सभी विकल्प मिट गए।

: २ :

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हिन्दी-कथा-साहित्य की सबसे बड़ी घटना थी। इस घटना का महत्त्व आँकने के पहले कहानी-सम्बन्धी मुख्य धारणाओं पर विचार कर लेने से इस नवीन विकास के प्रति न्याय हो सकेगा। शैली की दृष्टि से पाश्चात्य कहानी काफी आगे थी; चरित्र-विकास की जगह वहाँ जीवन के खण्डों पर प्रकाश डालने की बात जोर पकड़ रही थी। वस्तुतः कहानी के छोटे कलेवर का ध्यान रखते हुए उसे उपन्यासों या प्रबन्ध-काव्यों की कथात्मक पूर्णता के विशाल कार्य से पृथक् रखना ही था। शैलियों की अपनी हैसियत के अनुसार अपने प्रकटीकरण के तरीके होने चाहिएँ; यह बात विश्वास के साथ वहाँ मानी जाने लगी थी: इसलिए एच० जी० वेल्स ने जब कहा कि कहानी भयंकर, रोमांचक चाहे जो-कुछ भी हो पर उसे यह सब बीस मिनट में ही होना है तब उसका तात्पर्य कथा से अधिक उसमें निहित धक्के (shocks & flashes) से ही था। ऐसी हालत में कथा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रहती जितनी कही जाने की बात। पश्चिम में चरम की यह प्रतिक्रिया कहानी के उन निर्माताओं के विरुद्ध थी जिन्होंने उपन्यासकार की आँख से इसे देखा था। स्काट, डिकेन्स आदि कहानी-लेखक पहले उपन्यासकार थे कथाकार बाद में; कहानीकार तो वे एकदम अन्त में थे; इसलिए कहानी से अनपेक्षित आशाएँ उन्होंने कर ली थीं। इन्हीं में एक आशा चरित्र-चित्रण की भी थी। यही गलती बाद के मनोवैज्ञानिक तथा 'चेतना का प्रवाह' लेकर आने वाले लेखकों ने भी की। विरजीनिया वूल्फ तक यह बात दुहराई गई थी। इसकी प्रतिक्रिया में चेखव ने एक जगह कहा कि "लेखक को मामूली चीजों के बारे में ही लिखना चाहिए। किस तरह पीटर सेमिओनोविश ने शादी की; बस।" कहना यदि है तो उसे कहीं भी कहा जा सकता है। प्राचीन रोमांचक कथानकों तथा उच्चवंश प्रभव नायकों के मुकाबिले यह बहुत बड़ा कदम नई पीढ़ी ने उठाया था। व्यक्ति की जगह वस्तु की यह स्थापना एकदम नई चीज थी; शैली की दृष्टि से यह उपन्यासों से भी आगे एक कदम था। 'जीवन-मर्म' (vision) के उद्घाटन की जितनी सुविधा कहानी में थी उतनी सम्भवतः अन्य स्थानों पर नहीं थी; कविता तब कितनी ही यथार्थोन्मुखी होकर भी सब्जेक्टिव बनी हुई थी; नाटक की अपनी सीमाएँ थीं, वह बीच में रुक नहीं सकता था; उपन्यास का एक अलग कर्तव्य था; उसे वह अपनी मन्थर (convincing) शैली में पूरा करता था; ऐसी हालत में शीघ्रता से भागती इस दुनिया की झलक केवल कहानी ही अपने अन्दर उतार सकती थी। कहानी के उद्देश्य तथा रूप-विधान के प्रश्न पर यहीं विभेद उठ खड़ा होता है। उद्देश्य स्पष्ट हो या वह कथा की अन्योक्ति की आड़ ले, इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर मत बँट गए। सिद्धान्तवादी इस प्रश्न पर एक ओर झुक गए कलावादी दूसरी ओर। बीच में काफी बड़े प्रश्न भी उठ सकते हैं पर सच पूछिए तो यह प्रश्न पूरे साहित्य का है; केवल कहानी के लिए अलग से इसे उपस्थित करने से कोई लाभ नहीं। यह सर्वमान्य बात है कि कथावस्तु जब कथाकार की जीवनानुभूति का एक अंग बन जायगी तब विरोधी दलों का यह आक्षेप अपने-आप ही मिट जायगा। जहाँ वह यही नहीं बनती, शंका वहीं उठती है और ठीक ही उठती है। वस्तु-सत्य में निहित मर्म-भावना अपनी निवृत्ति करेगी ही। कला की सम्प्रेषणीयता हमेशा यही करती रही है; इसमें नये सिरे से तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

प्रेमचन्द ने बड़ी ही कुशल लेखनी पाई थी। उससे भी कहीं संतुलित उनकी प्रज्ञा थी। उनका विवेक इन दोनों से भी अधिक संवेदनशील था; इसलिए उनके पैंतीस वर्ष के रचनाकाल में उसने निरन्तर उनकी लेखनी और प्रज्ञा पर समान भाव से शासन किया था। उनका यह विवेक एक क्षण के लिए भी तटस्थ नहीं रहा, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर उसने असम्भव कार्य भी इनसे कराये हैं। कहीं उन्हें प्रचारक बना दिया है—कहीं सामाजिक संघर्षों की पहली पंक्ति में उन्हें खड़ा किया है, कहीं राजनीतिक आन्दोलनों का स्वरवाहक-मात्र बनाकर छोड़ा है और अन्त में वर्गगत विषमता की कटुता का उद्‌गाता बनने की स्थिति में उन्हें ला पटका है। इस दौरान में लड़खड़ाकर चलने वाली प्रेमचन्द की भाषा और शैली रास्ते में हाँफ गई है, पीछे रह गई है, पर राह बन्द नहीं हुई है। अन्त में नवनिधि की सीधी-सादी मीरु शैली कफन-युग की कहानियों का विष पीकर भी स्थिर पद बनी रहती है। शैली बनाने में संघर्षों का कितना बड़ा हाथ होता है, यह प्रेमचन्द की शैली से स्पष्ट है। पाश्चात्य ढाँचा ग्रहण करके भी वे कई दृष्टियों से मौलिक थे। समय-समय पर वे अपनी शैली को आधुनिक निखार देते गए किन्तु शुरू से अन्त तक वे एक सफल कहानी कहने वाले बने रहने में समर्थ हो सके। चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ भी उन्होंने लिखीं, पर उनमें भी कथात्मकता बनी रही; उद्देश्य-प्रधान कहानियों की तीखी धार पर भी वे किस्सागोई से विरत नहीं हुए। इस दिशा में विषय पर उनकी पहुँच बराबर बहिर्मुखी रही। घटनाओं के माध्यम से ही वे अपनी बात कहते थे; केवल मनोविश्लेषण के स्वतः संचालित सूत्रों के बल पर सोचते रहने की उस आदत का वहाँ अभाव था जो जैनेन्द्रकुमार में बाद में जाकर विकसित हुई। उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ जैसे गृह-दाह, नशा, कफन, शतरंज के खिलाड़ी, डायुल का कैदी इसी शैली की हैं।

इन सब गुण-दोषों को लेकर आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कहता है कि प्रेमचन्द अपने वर्गगत स्वार्थों और सीमाओं में घिरे रहे। निम्न-मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना तथा नैतिकता की छाप वे अन्त तक दूर नहीं कर सके; उनका रूप हमेशा एक सुधारवादी का बना रहा; उनमें क्रान्तिकारिता की खोज करना आकाश-कुसुम पाने का प्रयत्न करना है। ये ही दोष एक जमाने में टाल्स्टाय पर भी लगाये गए थे जिनके लिए लेनिन ने कहा था—

"An artist truly great must have reflected in his work at least some essencial aspect of his revolution."

टाल्स्टाय अपने वातावरण की सीमाओं में बद्ध थे अवश्य किन्तु आगे बढ़कर वे लक्ष-लक्ष अपमानितों के स्वरवाहक बन सके। प्रेमचन्द के लिए भी यही सच था। दोनों ने ही लेनिन के शब्दों में अपने युग तक विकसित कला को उसकी सीमाओं से आगे ले जाकर छोड़ा (A step

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

forward in the artistic development of all mankind) दोनों ही इसलिए साधारण से ऊपर उठ गए हैं। किसान वर्ग के प्रति निर्व्याज सहानुभूति तथा उसकी गोष्ठी में आती नवीन चेतना के प्रति पूर्ण अपनत्व रखकर ही प्रेमचन्द ने अपनी लाचारियों पर विजय प्राप्त की थी। इसी प्रत्यक्ष सत्य के स्वीकरण के कारण वे इतने विशाल हो गए कि बाद में आने वाली पीढ़ी की पृष्ठभूमि में आज तक अवस्थित हैं। कितनी ही नई चेतनाएँ आईं, समस्याओं के दो टूक समाधान आये पर प्रेमचन्द अपने स्थान पर बने ही रहे।

इससे ठीक दूसरी ओर जो कहानियाँ खड़ी हैं उनमें प्रसाद का स्थान अन्यतम है। 'छाया' के पश्चात् प्रतिध्वनि (१९२६) के प्रकाशन तक उन पर रवि ठाकुर का प्रभाव बना हुआ है। मसृण भावुकता और अतिशय चित्रात्मकता उन्हें प्रेमचन्द से अलग रखती है। खण्डहर की लिपि 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' टैगोर के क्षुधित-पाषाण की तरह की स्मृत्याभास प्रधान कहानियाँ हैं जिनमें इतिहास के प्रति लेखक का मोह गद्य-काव्य की सीमा तक पहुँच गया है। आकाशदीप (१९२९) के प्रकाशन तक वह भावुकता थोड़ी दार्शनिकता का पुट पा जाती है पर मूल में वही रहती है। मनोविश्लेषण का हल्का प्रयत्न 'सोने के साँप' 'प्रतिध्वनि' आदि में दीख पड़ता है तथा एक प्रकार की सहानुभूति सब कहीं बिखरी दीखती है। आँधी (१९३१) तथा इन्द्रजाल (१९३६) प्रौढ़ कृतियाँ हैं जिनमें प्रसाद की कुछ सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आ गई हैं। 'आँधी' 'मधुवा' तथा 'इन्द्रजाल' में पहले की भावुक चित्रात्मकता कम होकर मनोविश्लेषण के लिए स्थान बना देती है; साथ ही वस्तु में आदर्शवादी होते हुए भी प्रसाद एक सहज संवेदना का धरातल बना लेते हैं। 'सालवती' इस दिशा का सबसे सफल प्रयोग है। देवरथ की सुमाता, सालवती तथा पुरस्कार की मधूलिका की वही जाति है जिसमें तितली, ध्रुवस्वामिनी तथा देवसेना का जन्म हुआ है। नियति और समाजनीति के बन्धनों में जूझती नारी का ऐसा अभिव्यक्ति-व्याकुल चित्र सम्भवतः अन्यत्र न मिलेगा। यहाँ विरोधों से एक साथ जूझने के सामाजिक प्रश्न पर वे शरत् या प्रेमचन्द से बहुत दूर नहीं लगते; प्रश्न केवल रह जाता है वर्तमान तथा भूतकाल की पीठिका का। प्रसाद की यह सहानुभूति जीवन के अन्त तक अनाम जो रही उसके लिए सम्भवतः बाद का आलोचक उन्हें टोकेगा; पर सहानुभूति की शिकायत कभी कोई करेगा ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए। उनका यथार्थ दर्शन यदि थोड़ा और सामाजिक हो सका होता तो एक बड़ा कार्य हो गया होता। 'गुण्डा' कहानी में उन्होंने एक विचित्र साहस किया था, किन्तु उसका उचित विकास न हो सका।

इन दो महान् कथाकारों के बाद नई जमीन बनाने का कार्य साधारण नहीं था। काफी दिनों तक इन्हीं दो धाराओं में लेखक बँटे रहे। प्रेमचन्द के साथ श्री विश्वम्भर 'कौशिक' श्री सुदर्शन, तथा आचार्य चतुरसेन ने आदर्श और यथार्थ का समन्वय अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया। टेकनीक के लिए वे अन्त तक प्रेमचन्द के आभारी रहे। सुदर्शन की प्रमुख कहानियाँ अपनी पूर्णता में कहीं-कहीं प्रेमचन्द की-सी ऊँचाई तक पहुँच अवश्य जाती हैं पर सामाजिक सत्य का साक्षात्कार जिस सीमा तक प्रेमचन्द ने किया था वहाँ तक उनकी पहुँच नहीं थी। 'प्रसाद' से प्रभावित श्री विनोदशंकर व्यास की स्थिति भी सुदर्शन की-सी थी। जीवन के मधुर प्रसंगों को उद्भावना सफलतापूर्वक करके भी वे प्रसाद के मानवतावाद की छाँह न छू सके, इसलिए उनकी कला असमय में ही मुरझा गई। इन लेखकों के साथ हिन्दी-कहानी का एक ऐतिहासिक विकास

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपना चक्र पूरा कर चुका था। नई शक्तियाँ पहचान के लिए व्याकुल थीं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी भाषा और पैनी दृष्टि के लिए अलग से याद किये जायँगे। वर्तमान समस्याओं पर पहुँचने का उनका तरीका अपने समकालीन सभी लेखकों से अलग था, किन्तु भूल में आदर्शवादी (रोमांटिक) प्रवृत्तियाँ उनकी कहानियों में सब कहीं वर्तमान थीं। बाद का उनका उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँच गया अहंभाव इसी प्रवृत्ति का विपर्यय था। इस दोष (?) के कारण उनके व्यंग्य में एक अपूर्व पैनापन भी आ गया था जिससे उनकी कहानियाँ जगमगा उठती थीं। उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कुछ कहानियाँ लिखीं, पर वे पूर्ववर्तियों की छाया से अपनी शैली मुक्त नहीं रख सके।

: ३ :

प्रेमचन्द की मृत्यु (१९३६) के समय तक हिन्दी कथा-साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं। नये लेखकों के लिए प्रेमचन्द प्रेरणा से अधिक प्रतिष्ठा और पूजा के विषय हो गए थे; मिरेस्की ने एक जगह गोर्की के लिए भी इसी तरह की बात कही है। सामाजिक चेतना और शैली की दृष्टि से साहित्य में नये संकेत स्पष्ट हो रहे थे जिनकी नींव में प्रेमचन्द थे, पर जो अशक्त और सूक्ष्म होकर भी एक नया क्षितिज उद्भासित कर रहे थे। प्रेमचन्द के आरम्भिक विकास तथा इन नवीन रचनाओं के बीच में प्रेमचन्द की अन्तिम दिनों की लिखी रचनाएँ आती हैं, जिनमें एक नवीन बेचैनी और विश्वास का स्वर स्पष्ट हो रहा है। 'मंगल सूत्र' इस दिशा में काफी आगे बढ़ा हुआ है। प्रेमचन्द की उत्कण्ठा और जिज्ञासा की मौलिक वृत्ति ने इस शैलियों की संक्रान्ति में कहानी की इस निरन्तर जागरूक हो रही परम्परा को विच्छिन्न होने से बचा लिया। ईदगाह, क्षमा, परीक्षा, गृहदाह, मंच तथा यशपाल, जैनेन्द्र की अत्याधुनिक कहानियों के बीच में कफन, काश्मीरी सेब आदि कहानियाँ रखने से यह स्पष्ट हो सकेगा कि कैसे उदार आदर्शवादी परम्परा यथार्थ से आगे बढ़कर वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर उन्मुख हो रही है।

फिर भी प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-कहानी की वस्तु तथा शैली दोनों में कुछ बिलकुल नये तत्त्व भी प्रस्फुटित हुए; एक तरह से कथा की जाति भी बदली। प्रेमचन्द काफी दूर तक गवईं गाँव के कथाकार थे—बाद में उतनी सहानुभूति और रसानुभूति से एक भी लेखक ने इस पक्ष का स्पर्श नहीं किया। इस स्थान पर शहरी मध्यमवर्ग की समस्याएँ विभिन्न पक्षों से खराद पर चढ़ीं। मजदूरों के प्रति भी कोई व्यापक सहानुभूति स्पष्ट न हुई; यों गरीबी के खण्ड-चित्र संघर्ष की पीठिका से अलग काफी सामने आये।

इसका कारण बहुत कुछ तो नाना पथों पर बँटी स्वतन्त्र चेतना ही है, किन्तु परिस्थिति का असर भी कम नहीं था। प्रेमचन्द के युग तक यद्यपि विश्व-भर में फैली संक्रान्ति स्पष्ट हो चुकी थी (१९३५ में लेखकों की पेरिस-कांफ्रेंस ने इस विनाश की तरफ स्पष्ट संकेत कर दिया था) पर उसका नग्न रूप उनकी मृत्यु के बाद सम्मुख आया। दुनिया साफ-साफ कई तरह के लोगों में बँट गई; धीरे-धीरे उनके केन्द्र भी बने और संघर्ष उग्र हो उठा। इस बार का संघर्ष काफी दूर तक तो पूँजीवाद के अपने अन्तरनिरोधों के कारण था, पर उसके निष्कर्ष पर समाजवादी शक्तियों का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने जा रहा था। कुछ वर्ष पहले का कुहरा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यद्यपि एकदम साफ नहीं हुआ था, किन्तु मंगल सूत्र की आखिरी पंक्तियों में हिलता-डुलता धुँधलका १६४०-४१ तक काफी साफ हो गया था। प्रेमचन्द साहित्य की 'सिल्यूटी' तसवीरों के चेहरे स्पष्ट हो रहे थे। इस संघर्ष में हिन्दुस्तान के लेखकों में भी काफी मतभेद उत्पन्न हो गए थे। वस्तु और सन्देश के प्रश्न पर रास्ते बँट गए थे। कुछ ने अपना रास्ता बदला था, पर कुछ अपने विश्वासों पर पूर्ववत दृढ़ थे।

पहले से लिख रहे लेखकों में अब तक जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी अपने विश्वासों पर स्थिर रहे। इनकी सम्पूर्ण देन हिन्दी कथा के शैली-पक्ष को है। मनोविश्लेषण, वातावरण चित्रण, तथा चरित्रों के विरोधाभास की दिशा में उपस्थित की गई परिस्थितियों के निर्माण में इन लोगों ने कौशल का परिचय दिया। जैनेन्द्र कुमार अपनी अदायगी (presentation) में पहले से ही अन्तर्मुखी रहे (यों उनका विकास प्रेमचन्द की छाया में हुआ)। उनका विकास प्रेमचन्द से इतर जाति का रहा। ये और वाजपेयीजी इसी कारण कभी-कभी लक्ष्य-कथन में प्रतीकों का सहारा भी लेते दीख पड़े तथा अन्तर्वृत्ति निरूपण में अक्सर रोमानी तरीकों का प्रयोग भी करते रहे। जैनेन्द्र में कहीं-कहीं सामाजिक चेतना भी दीख पड़ी, पर इनके साहित्य की पृष्ठभूमि सदैव पारिवारिक रही; घरेलू स्त्री-पुरुष इनके विषय बने रहे। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ उनके उपन्यासों के विपरीत अक्सर सीधी चटियल तथा व्यंग्य-प्रधान होती हैं। एक निर्मम करुणा कहीं झलकती है, पर अक्सर व्यंग्य और हास्य उसे ढंके रहता है। श्री सियाराम शरण गुप्त ने यद्यपि कहानियाँ कम लिखी हैं (अधिकांश स्केच, पर्सनल एसे तथा निबन्ध ही झूठ-सच में हैं, पर पुस्तक का नामकरण एक कहानी के आधार पर ही हुआ है) किन्तु साहित्य में वस्तुगत कारुण्य से उनकी शैली में एक मार्दव सब-कहीं दीखता है; अपनी आस्तिक सहानुभूति के बल पर वे वस्तु तथा शैली की दृष्टि से अपनी सीमा से काफी आगे बढ़कर निर्णय देते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी कुछ अनुभूतिपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं, कम-से-कम 'पानवाला' उनकी एक सुन्दर कृति है, किन्तु इस शैली को अपना विश्वास वे नहीं दे सके हैं, ऐसा स्पष्ट लगता है। श्री 'निराला' की अधिकांश कहानियाँ '४० के पहले की हैं; उन पर भी युगीन चिन्ता की छाप नहीं मिलेगी, पर अपने संकेतों में काफी सुलझे हुए हैं 'गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा और लिली' दो उनकी टिपिकल कहानियाँ हैं जहाँ कथानक या विकास की तरफ कम पर रुकावट की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है। कहानियों की अपेक्षा वे अपने स्केचों में अधिक खुलते हैं। उन्हें वहीं पहचानना होगा।

इस सहज सहानुभूति तथा मानवीय सत्यों की दृष्टि से चारों ओर फैले समाज को देखने वाले कथाकारों के कोई अपने विशेष आग्रह प्रारम्भ में स्पष्ट नहीं थे (संघर्ष पहले उतना स्पष्ट हुआ भी नहीं था) बाद में इनमें से कई मौन हो गए, कइयों ने अपने विश्वास नहीं स्पष्ट किये पर विरोध स्पष्ट अवश्य कर दिया। सियारामजी ने एक 'रेडियो टॉक' में अपने को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'एक बूँद आँसू जो बाहर गिरता है, मिट्टी में मिल जाता है; वही अगर भीतर हृदय में रसे तो मोती बन जाता है।' साफ है कि वे अपनी सहज करुणा के पक्षपाती थे। पर करुणा अगर आँख खोले रहे तो बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं। जैनेन्द्रजी ने जब तक आग्रह नहीं स्पष्ट किये थे उनकी रचनाओं में बड़ी गहरी संवेदना के दर्शन होते थे; उसे प्रकट करने का उनका तरीका भी मौलिक था; किन्तु बाद में उनके दर्शन (?) ने न जाने कहाँ बहा डाला

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आज उनके तर्कों को समझना साधारण बुद्धि के परे है ।

इस पीढ़ी से थोड़ी अलग एक नई पीढ़ी मनोविश्लेषकों की भी उठ रही थी। पश्चिम में इस दृष्टिकोण का व्यापक प्रभाव साहित्य के सभी अंगों पर पड़ा। पूँजीवादी व्यवस्था से हताश विश्वयुद्धों की छाँह में पले मध्यवर्ग ने इसके बल पर अपने असन्तोष के लिए एक शास्त्र पा लिया, और काफी विश्वास से इसका प्रयोग भी किया। यहाँ भी श्री इलाचन्द्र जोशी ने विश्लेषण की एक सुन्दर मृदु शैली का विकास अपने उपन्यासों में किया। अपनी फैलाव तथा स्पष्टीकरण की वृत्ति के कारण यह शैली कहानियों के छोटे कलेवर में सफल नहीं हो सकी; नतीजा हुआ इनकी अधिकांश कहानियाँ 'डायरी के पन्ने' बनकर रह गई हैं, उनमें रह-रहकर आये हिस्टीरिया के दौरों के ही क्लाइमेक्स की सहायता ली गई है। अक्सर यह विश्लेषण रोगों के निदान की तरह विचित्र अहैतुक तथा सिद्धान्तवादी हो जाता है, निराकरण का प्रयत्न कहीं नहीं दीखता। अपनी सीमित दृष्टि के कारण (या आग्रह-विशेष के कारण) वे विस्तृत विश्व में अपने पात्रों की लाचारी का जवाब नहीं माँगते। श्री 'अज्ञेय' दूसरे मनोविश्लेषणकारी कहानीकार हैं जिनको उनकी कहानियों ने प्रतिष्ठित किया है। 'विपथगा' की सभी कहानियाँ अपना अलग व्यक्तित्व रखती हैं; उनकी अपनी एक प्रेरणा (urge) है। पगोडा वृक्ष, अकलंक, शत्रु, रोज आदि कहानियों में विश्लेषण बड़ा ही स्वाभाविक है; गहराई (स्वयं अज्ञेयजी शंकालु हैं) कम हो, इसकी चिन्ता हमें नहीं है। एक रचनात्मक चिन्ता का अवसाद सब कहीं दीखता है, जिसमें जोशीजी की-सी घुंटन नहीं है। शैली की ताजगी भी इसी गुण के कारण निखरी है और एक नई शक्ति के दर्शन हुए हैं। इनकी कहानियों से हिन्दी की कथन-शैली में नये विश्वास उत्पन्न हुए किन्तु 'परम्परा', तथा 'कोठरी की बात' में विश्लेषण की वह ताजगी छिन गई। स्वयं लेखक को ये संग्रह अपनी गहराई के लिए पसन्द हैं। विश्लेषण का स्तर युवावस्था के उन्माद से थोड़ा प्रौढ़ता की ओर अवश्य बढ़ा है। 'शरणार्थी' कहानी-संग्रह में सहानुभूति ने एक झिलमिल प्रकाश इन्हें दिया है, तिक्तता (जो आना सरल था, जिसके लिए कोई दोष भी न देता) बचाकर ये इस संरक्षण-चेष्टा में काफी सन्तुलित से बने रह सके हैं। 'जयदोल' की कहानियाँ भी उसी विश्लेषण की दिशा में आगे बढ़ती हैं। अज्ञेयजी प्रारम्भ में कहानी के स्पष्टीकरण का अधिक बोझ स्वयं उठा लिया करते थे, यह प्रवृत्ति इधर दबती-सी दीखती है। अज्ञेय तथा 'प्रतीक' के साथ लेखकों-कवियों का एक मण्डल है जिसने काफी विश्वास के साथ, मनोविश्लेषण की दिशा में प्रयोग किये हैं। 'कविता' के क्षेत्र में कई व्यक्तित्व स्पष्ट हुए हैं, पर कहानी की दिशा में कोई स्पष्ट उभार लक्षित नहीं हो रहे हैं। नाम तो कई आये, पर अभी उनका उल्लेखनीय साहित्य प्रकाशित नहीं हो सका है। 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की आरम्भिक रचनाएँ काफी हद तक रोमानी रही हैं। अपने इस गुण से इन दोनों ने काफी पाठक बनाये हैं, पर आज स्वयं इनका विश्वास ही इस शैली पर नहीं रह गया है। 'अश्क' की अन्य प्रवृत्तियाँ काफी सशक्त होकर सामने आई हैं जिनका वर्णन यथास्थान होगा। 'धर्मवीर भारती' ने भी इस दिशा में अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। एक तरुण का रोमानी स्वभाव उन पर सब कहीं (शैली पर भी) हावी रहता है। शम्भूनाथसिंह 'विद्रोह' तक में रोमानी हैं; श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त,' आरसी प्रसादसिंह, माया ग्रुप के बलवन्तसिंह, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', रानी ग्रुप के छेदीलाल गुप्त, आदि के पास अच्छी शैली है; अवसर और उत्तरदायित्व की कमी से वे अपनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगह पर रुके से दीख पड़ते हैं।

इन लेखकों को प्रेमचन्द के बाद तथा सामाजिक चेतना सम्पन्न लेखकों के पहले रखने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का निराकरण हो सके। इन लेखकों में लिखने वालों की वह दो पीढ़ियाँ आ गई हैं जिनका विकास प्रसाद के उद्भव के थोड़ा बाद तथा प्रेमचन्द के पश्चात् के संक्रान्ति के पूरे एक दशक में हुआ है। इन्होंने काफी दूर तक सामाजिक, राजनीतिक तथा विश्वयुद्धजनीन प्रभावों से अपनी कला को अप्रभावित या तिर्यक-प्रभावित रखा है। शैली की दृष्टि से उनका दान हिन्दी-कहानी को अपूर्व रहा है; इन्होंने अभिव्यंजना का मान काफी ऊँचा किया है और प्रेमचन्द की छोड़ी कथन-परम्परा में काफी नये प्रयोग किये हैं।

किन्तु प्रेमचन्द के प्राण की रक्षा करने वाले ये कथाकार नहीं थे। यह कार्य किया दूसरे वर्ग ने। १९३५ की पेरिस कान्फ्रेंस के निर्णय में विश्व के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों का सहयोग था। मैक्सिम गोर्की, रोम्यारोलां, आन्द्रे माखा, रवि बाबू आदि तथा ऐसे अन्य प्रतिनिधि कलाकारों ने अपना विश्वास इसे दिया था। जिस परिस्थिति की ओर इशारा उन्होंने किया था उसे दुनिया में घटी घटनाओं ने सही प्रमाणित किया; साहित्यकार इस स्थिति के असहाय दर्शक न बने, इसलिए यह आवाज उठाई गई थी। दुनिया के अधिकांश साहित्यकारों ने यह विश्वास स्वीकार किया और इसी के अनुसार अपना दृष्टिकोण भी स्थिर किया। ऐसे लोगों का साहित्य इस पिछले १९३५ से आज तक की परिस्थिति के विषय में अपना स्पष्ट मत रखता है; वह कला या विश्लेषणवादियों की तरह इस पक्ष पर एक अवसाद (फ्रस्ट्रेशन)-भरी चुप्पी साधने को ही साहित्य का चरम नहीं मानता। वह अपनी भरसक द्विविधा का पर्दा हटाने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न की ईमानदारी को ही कला की सबसे बड़ी कसौटी मानता है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि किस कारण वह इन कलावादियों को पूँजीवादी स्थितिशीलता का शिखण्डी मानता है। यहाँ मनोविश्लेषक तर्क उपस्थित करते हैं कि समाज का वातावरण ऐसे ही टूटे, दुःखी और अतृप्त मनों से बना है; ऐसी हालत में हमारा ही रास्ता ठीक है। नया बुद्धिजीवी जब ऐसे तर्क देता है तब वह स्वयं अपनी स्थिति एकदम साफ कर देता है। वह स्वयं उस वर्ग का व्यक्ति है। उसमें ऐसी क्षमता नहीं कि वह यह घेरा तोड़कर बाहर आवे। तुर्गनेव ने जहाँ अपने नये पात्रों (बैजोरोव आदि) को टूटा हुआ उपस्थित किया वहीं उसी समाज में नक्रोस्कोव को जीवित सशक्त आदमी भी मिले! कारण प्रश्न पात्रों का नहीं लेखक के जीवन देखने के कोण का है। १९०५ से १९१७ के रूस में जिसे जीवित युवक न मिले तथा १९४२ के वातावरण में जिन्हें केवल टूटे मन ही दीखें उन पर साहित्यिक दृष्टि से विचार करने के पहले डॉक्टरी दृष्टि भी डालनी होगी। राल्फ फाक्स ने ऐसे लोगों पर तरस खाते हुए लिखा है कि वे कब समझेंगे कि व्यक्ति सामाजिक समष्टि का एक ऊँचा पात्र है। गोर्की ने भी ऐसे लोगों की अवसादजन्य एकान्तिकता का निराकरण करने के लिए उन्हें जनता के पक्ष में जाने की सलाह दी है और कहा है कि तब ऐसे लेखक अपने को कटा हुआ तथा राख का ढेर न समझेंगे।

इस विश्वास से प्रकाशित होने वाले कथाकारों की एक विशाल संख्या ही इस दशक की सबसे बड़ी देन रही है। इन लेखकों ने न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्षों का उचित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निराकरण किया है अपितु एक नवीन दृष्टिकोण के बल पर इन्होंने समाज के स्तर-भेद करके छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का निराकरण प्रस्तुत किया है। स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत रूढ़ियाँ, धारणाएँ सबको नई कसौटी पर कसकर निर्णय देने के विश्वासी ये रहे हैं। इस कार्य में जहाँ एक ओर अजस्र करुणा की आवश्यकता उन्हें रही है वहीं निर्ममताजन्य व्यंग भी उनका अस्त्र रहा है। इन दो विरोधी धारों की तलवार लेकर जो कार्य ये कर रहे थे उसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध थी, पर इनकी लाचारी भी कम स्पष्ट नहीं थी। इस प्रकार के साहित्य के निर्माण के लिए एक सशक्त जन-आन्दोलन की पीठिका आवश्यक थी। लड़ाई प्रारम्भ होने के पहले तक जिस तरह का आन्दोलन आवश्यक था वह एक सीमा तक विकसित नहीं था; जो कुछ था भी उसकी रीढ़ साम्राज्यवादी दमन ने तोड़ दी थी। दूसरी ओर लेखकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क भी इन आन्दोलनों से नहीं था, जिसके कारण तथा संकीर्णता के कारण बार-बार भूलें हुईं। इन कारणों से इस साहित्यिक आन्दोलन का स्तर उठ नहीं सका। यह होते हुए भी अपनी ईमानदारी तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण यह साहित्य लोकप्रिय हुआ तथा काफी दूर तक उसने हिन्दी कहानी को संवारने तथा उसके प्रभाव को तीव्र बनाने में ऐतिहासिक योग दिया।

यशपाल की सफलता इस दिशा में काफी निर्णायक और उत्साहवर्द्धक रही है। अपनी कहानियों में न केवल वस्तु के नाते अपितु शैली की नवीनता के नाते भी वे प्रेमचन्द के मुकाबिले एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पात्र उनके अधिकांश मध्यवर्ग से या निम्नतम स्तर के शहरी मजदूरों से आते हैं। किसी आन्दोलन के अंश वे अक्सर नहीं हैं पर उनको उपस्थित करने का ढंग यशपाल का वैज्ञानिक होता है। यशपाल की करुणा निष्फला नहीं होती, आक्रोश उनका बेमतलब नहीं होता; प्रोत्साहन वे उसको देते हैं जिसकी कोई हैसियत आज की नैतिकता के चौखटे में नहीं होती। इस दृष्टि से वे अपने पहले के पाश्चात्य लेखकों, इब्सन, शा के व्यंगों की सामाजिकता से होड़ लेते हैं। कथन-शैली में वातावरण की सृष्टि करते हुए भी अक्सर ये अपना पूरा मोह अन्त की पंक्तियों तक के लिए सुरक्षित रखते हैं। प्रेमचन्द से भिन्न इनकी कथाओं के अन्त बड़े विचित्र (trick-ending) होते हैं; जैसे कबड्डी का खिलाड़ी झुकने का नाट्य किसी ओर करे और किसी दूसरे को छू कर बैठा दे। अपने आधे दर्जन प्रकाशित कहानी-संग्रहों में यशपाल ने समाज की पचासों समस्याओं पर कथानक प्रस्तुत किये हैं। प्रतिष्ठा का बोझ पुलिस की दफा, रिजक, गड़ेरी, हलाल की रोटी, शम्बूक, आदमी का बच्चा, भस्मावृत चिंगारियाँ, चित्र का शीर्षक, फूलो का कुर्ता आदि कहानियाँ समाज के नाना स्तर भेदकर सत्य का उद्घाटन करती हैं; पर यह उद्घाटन अक्सर निर्माणात्मक रहता है। ध्वंस केवल ध्वंस के लिए कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। सामाजिक नैतिकता के गाल पर निर्मम भाव से जो तमाचे जड़े गए हैं उनका असर दूसरी जगह देखना ही ठीक होगा। डिप्टी साहब, उत्तराधिकारी, पाँव तले की डाल, ८०°, काफी कड़ी रचनाएँ हैं। यशपाल के साथ ऐसे लेखकों की एक बड़ी संख्या आगे आई। इस दिशा में प्रेमचन्द के हंस ने ऐतिहासिक कार्य किया। उसके मण्डल में 'अश्क', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णुप्रभाकर, रहबर, भगवत शरण, रांगेय राघव, अमृतराय, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, आदि प्रमुख थे। इनके बाद एक पीढ़ी और बन गई है जिनमें तेजबहादुर चौधरी, मिसला मिश्रा, कृष्णा सोबती, सावित्री निगम, शोभाचन्द्र जोशी, गिरीश अस्थाना, हर्षनाथ, भीष्म साहिनी आदि प्रमुख हैं। 'सरगम' के साथ भी कई अच्छे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहानी-लेखक हैं जिनमें प्रकाश पण्डित, कन्हैयालाल कपूर ने कुछ रचनाएँ दी हैं। लेखकों की यह बड़ी संख्या बिना समझौता किये वर्तमान समस्याओं तथा विषमताओं का जवाब देती रही है। पिछले युद्धकाल की परेशानियाँ, अकाल, कुण्ठा, और निरन्तर टूटती व्यवस्था को इन्होंने अपने कथा का विषय बनाया है। इनमें अश्क तथा राधाकृष्ण के हाथों कहानी की सम्भावनाएँ काफी बढ़ी हैं। चन्द्रकिरण की मध्यवर्गीय परिवार तथा मजूर श्रेणी पर रचित बेजुबाँ तथा आदमखोर जैसी रचनाएँ अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। अन्य लेखकों में कलागत निखार दिन-पर-दिन आता जा रहा है। श्री मन्मथनाथ गुप्त अपनी कहानियों में कई बातें एक साथ कहते दीख पड़ते हैं। जमकर कहने की आदत आना ही उनके लिए हितकर होगा। श्री राहुल सांकृत्यायन तथा भगवत शरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, पर राहुलजी का इतिहास-दर्शन वैज्ञानिक है। 'वोल्गा से गंगा' का एक अर्थ (purpose) है; उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नलिन विलोचन शर्मा ने बिहार प्रान्त में कहानी लिखने का प्रयोग किया है। 'माटी की मूरतें' एक ऐतिहासिक प्रयत्न है। 'विष के दाँत' कहानी में शर्मा जी का दृष्टिकोण बड़ा ही स्वस्थ एवं वैज्ञानिक है। बाद में वे एक अजीब परेशानी के शिकार हो गए हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी के कई संग्रह सामने आये हैं; उनमें चित्रात्मकता का गुण लोकगीतों की सुन्दर देन है। श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का संग्रह 'बहती गंगा' एक मौलिक कृति है। स्थानिक वातावरण का इतना यथार्थ चित्रण और ऐसी सप्राणता प्रसाद की गुण्डा कहानी की याद दिलाती है। ऐसे वातावरण-प्रधान साहित्य की अपनी एक ऐतिहासिकता होगी।

संक्षेप में हिन्दी की विशाल कथा-परम्परा के दल का निरूपण करने पर एक विश्वास से मन भर जाता है। हिन्दी के कथा-साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियों से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचन्द-सा कोई व्यक्तित्व इस बीच नहीं हुआ, किन्तु समस्याओं का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति इस वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र-से-शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना और दृढ़ होने से ही यह सम्भव हो सकेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देवराज उपाध्याय

आधुनिक हिन्दी कहानी

आधुनिक हिन्दी कहानियों का आलोचक जब प्रेमचन्दजी के बाद की कहानियों को पढ़ता है तो सर्वप्रथम उसमें यह देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि प्रेमचन्दजी ने कथा-साहित्य को जिस स्थिति में जहाँ तक पहुँचा दिया था वहाँ से उसने कितनी प्रगति की है। कहानी की टेकनीक की, रचना-पद्धति की तथा विषय-निर्वाचन की दृष्टि से, मनोविज्ञान के समावेश की दृष्टि से कहाँ तक इसमें नूतनता आढ्यता तथा गहराई का समावेश हो सका है। साथ-ही-साथ यह भी देखने की इच्छा होती है कि ये कृतियाँ अपने युग के लिए कहाँ तक दुभाषिये का काम कर रही हैं। अपने युग को सचाई और ईमानदारी से देखना, उसके सत्यों को पहचानना, और उनको पाठकों के सामने सार्थक रूप में रखना कलाकार का काम है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक वातावरण में तथा जन-समुदाय की चेतना में क्या सम्बन्ध है, दोनों के पारस्परिक सम्पर्क से क्या क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती हैं इस बात को सक्रिय और सजीव तथा प्रकाशक्षम रूप में देखना ही कलात्मक सत्योपलब्धि है और यही कलाकार करता भी है। अतः कोई व्यक्ति यदि तत्कालीन मूड को, मनोवृत्ति को जानना चाहता है तो इतिहास की ओर न देखकर अधिक साहित्य की ओर देखता है। क्योंकि साहित्य (कहानी, उपन्यास आदि) ही में युग का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त है। सर्वकालीन तथा सार्वभौम महत्ता साहित्य में, तत्कालीन, युगीन अर्थवत्ता तथा महत्ता के साथ विद्यमान रहती है। शेक्सपियर, होमर, कालिदास, व्यास-जैसे उच्च कोटि के साहित्यिकों की रचनाओं में सर्वकालीनता और सार्वभौमता के साथ तत्कालीनता और तदयुगीनता की भी झलक विद्यमान है। पर इसके विपरीत वाली स्थिति अर्थात् तत्कालीन सार्थकता को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य सर्वयुगीन महत्त्व समन्वित हो यह कोई निश्चित नहीं। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। किसी भी साहित्य को तत्कालीनता की सतह से उठाकर सर्वकालीनता के गौरव-मण्डित शिखर पर स्थापित करने वाले, युग की सीमा से बढ़ाकर युग-युग की व्याप्ति तक पहुँचाने वाले साधन जो भी हों, पर इतना निश्चित है कि वह टेकनीक की नूतनता हो नहीं सकता। टेकनीक के टेक पर साहित्य कुछ काल के लिए पूजित हो ले, पर सदा के लिए नहीं। अंग्रेजी साहित्य में पोप तथा हिन्दी में केशव इत्यादि जैसे साहित्यस्रष्टा में टेकनीक अपने चरमोत्कर्ष पर है, यह साहित्य के किस पाठक से छिपा है, पर यह भी किसको ज्ञात नहीं कि उनमें सार्वभौमिकता की छाया भी नहीं है। अतः इस निष्कर्ष पर आये बिना नहीं रहा जाता कि सत्य और सुन्दर की अभिव्यक्ति का कोई सर्वकालाबाधित और सार्वत्रिक आदर्श परिमाण अवश्य है भले ही उसका प्रमाण्य तर्कातीत और बोधातीत हो। सर्वकालीन और सार्वभौम महत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-कहानियों की वही स्थिति है जो प्रेमचन्दजी के समय में थी। अर्थात् जिस तरह प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखकों की कहानियाँ अपने युगीन महत्त्व के आगे बढ़ नहीं सकी थीं, वही स्थिति आज की कहानियों की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ किसी आदर्श किसी ध्येय, किसी नीति का प्रचार करती थीं तो आज भी वह प्रचार-कार्य कहानियों के द्वारा हो ही रहा है। हाँ, आदर्श में परिवर्तन अवश्य हो गया है। जहाँ प्रेमचन्दजी प्रचार करना अपना उद्देश्य बतलाते नहीं थे, वहाँ वह अब डंके की चोट से हो रहा है।

जहाँ पहले प्रचार कुछ सहमता, सकुचाता-सा कहानी के साथ चलता था वहाँ आज छाती तानकर चलने लगा है, मानो वही सर्वेसर्वा हो। अतः आज भी हमारा कहानी-साहित्य अपनी तत्कालीन सार्थकता वही प्रगट कर रहा है। सार्वभौमता उससे बहुत दूर है। अतः आइये, देखें कि इस तत्कालीन सार्थक साहित्य की विशिष्टताएँ क्या हैं, तत्कालीन सत्य को सजीव रूप से साहित्य में अभिव्यक्त करने के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता पड़ती है।

साहित्यिक प्रतिभा की सबसे बड़ी कसौटी है कल्पनात्मक सहानुभूति। उसी के द्वारा वह तत्कालीन समस्याओं और अनुभूतियों के तत्त्व के वास्तविक रूप के अभ्यान्तर में प्रवेश कर देखने में समर्थ होता है और उसको अन्य लोगों के सामने मूर्तिमान रूप में उपस्थित करने में भी मात्र ज्ञान निर्जीव होता है, उसमें ज्ञाता और ज्ञेय अपनी सत्ता अलग-अलग बनाये दूर-दूर तटस्थ खड़े रहते हैं और इस तटस्थता के कारण ज्ञाता में ज्ञेय की अभिव्यक्ति की अदम्य प्रेरणा नहीं आ सकती। उसमें वह विवशता नहीं आ सकती जो वसन्तागमन के अवसर पर कोकिल-कण्ठ से फूट पड़ती है। यह बेताबी उसी विशिष्ट अवसर के लिए सुरक्षित है जिस समय ज्ञान केवल मस्तिष्क के सतही परिचय की सीमा से बढ़कर हमारे व्यक्तित्व की गहराई की चीज हो जाय। अर्थात् तदाकारपरिणति की अवस्था आ जाय जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद दूर हो जाता है। ज्ञेय के सम्बन्ध की बातें हमारी अपनी बातें हो जाती हैं। हम जो बातें कहते हैं वह किसी बाह्य वस्तु के विषय में न होकर अपने ही विषय में होती हैं। यही साहित्य में आत्मदान कहलाता है जिसके अभाव में साहित्य निर्जीव होकर तत्कालीन सत्य को भी धारण करने में अक्षम रहता है, सर्वकालीनता की बात तो कहना ही क्या है। किस साहित्यिक में अपने बाह्य वातावरण से तदाकारपरिणति विधायक कल्पानात्मक सहानुभूति की स्थिति वर्तमान है, इसका निश्चय करना कठिन है। यह एक रहस्यात्मक वस्तु है जिसके स्वरूप का निर्णय कर नपे-तुले शब्दों में बतला देना कि इन अवस्थाओं में और इन-इन उपायों से इस स्थिति को लाना सम्भव है, कठिन है। कृष्ण ने जिस सहज तरीके से कह दिया कि "अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येन च गृह्यते" उस तरह से झटपट कोई फतवा दे देना सम्भव नहीं। कल्पना के द्वारा निर्मित वस्तु को देखकर ही विचार हो सकता है। जिस तरह विद्युत् का कोई स्वरूप नहीं होता उसके द्वारा परावर्तित रूप जैसे पंखे का चलना, रोशनी का जलना, इत्यादि को ही देखकर उसके बारे में कहा-सुना जा सकता है, उसी तरह साहित्यिक कृति को देखकर ही कहा जा सकता है कि इसमें कल्पनात्मक सहानुभूति की प्रेरणा कहाँ तक प्राप्त है।

यदि लेखक की कल्पना सदोष, त्रुटिपूर्ण या कृत्रिम हुई अर्थात् सच्ची प्रेरणा से समन्वित न होकर कल्पना के लिए कल्पना का स्वांगमात्र हुई तो उस तरह के साहित्य की सृष्टि होती है जिसे अँग्रेजी में अर्द्धविकसित साहित्य (Stunt Literature) कहते हैं, जिसके पढ़ने से यह भावना होती है कि यह कृति साहित्य होते-होते बच गई है; मानो समयपूर्वोत्पन्न बालक है। आजकल की हिन्दी ही नहीं यूरोपीय कहानियों को भी पढ़ने से यही मालूम पड़ता है कि वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जल्दी-जल्दी में रहने वाले लेखकों के द्वारा झटपट में रहने वाले पाठकों के लिए जल्दी से भूल जाने के लिए झटपट तैयार कर ली गई हैं। यशपाल, अज्ञेय और अश्कजी के नाम से सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हुई होंगी, पर शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जो हमारे अन्तस् को स्फूर्त कर सकी हो, जिसने हमारी जीवनानुभूति को अभिवृद्ध किया हो, जिसे पढ़कर हमने अपने को जीवनाढ्यता (abundance of life) से बलान्वित पाया हो। आज की कहानियों में दो तरह की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ रही हैं। प्रथमतः तो ऐसे कहानीकार हैं जो किसी नूतन टेकनीक का अपकर्षण, अभिशोषण, exploitation कर रहे हैं और इसी के बल पर पूजित होने की कामना करते हैं। इस श्रेणी के कहानीकारों में हम अज्ञेय, जैनेन्द्र, इत्यादि को रख सकते हैं। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन से देखा कि ऐसी कहानियाँ जो कहानी न होकर किसी विचार या मूड का चित्रण हों अथवा जिनमें Slice of life वाले सिद्धान्त का पालन होता है, कहानी के नाम से प्रचलित हैं। सम्भव है कि वहाँ की जीवनभूमि से इन पद्धतियों ने रस ग्रहण किया हो और अपने रूप में आने के लिए बाध्य हुई हों। पर इस मौलिक कारण को न देखकर यूरोपीय पौधे को भारतीय भूमि पर आरोपित करने की प्रतिज्ञा इनमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत की भूमि अपनी छाती पर इन पौधों को सँभालने के लिए तैयार नहीं। या अपनी छाती पर धारण भी कर ले तो उसमें इन्हें पुष्पान्वित और पल्लवित करने के प्रति विरोधी मनोवृत्ति (protest) के भाव ही वर्तमान हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि यहाँ की मिट्टी को इस नई पौध को धारण कराने के लिए या तो उसके रस की अन्तिम बूंद को निचोड़ दिया जा रहा है अथवा कृत्रिम खाद्य देकर उससे वह काम लिया जा रहा है जिसकी योग्यता उसमें न थी। यही टेकनीक का exploitation है। मैं एक पत्थर के मकान में रहता हूँ; वहाँ पर घास और लता के उगाने की कोई सम्भावना नहीं, पर मैं इस थोड़े से सीमित घेरे के अन्दर दो या तीन इंच मोटी मिट्टी की तह जमा लेता हूँ और उसी में किसी साग या सब्जी का बीज डालकर पौधा उगा लेता हूँ। पौधा लग भी जाता है, सहारा पाकर फैल भी जाता है, उसमें फल-फूल भी लग जाता है; पर सारे वातावरण को देखने से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह मिट्टी का या उस जमीन का अभिशोषण है। मिट्टी के अन्दर से protest की आवाज सदा आती रहती है। मैं अपनी साइकिल पर दो मन का लक्कड़ बाँधकर ढो लेता हूँ, साइकिल बेचारी मना भी नहीं करती, पर सहृदय जानता है कि यह साइकिल का अभिशोषण है। अधिक दिन तक इस परिस्थिति को साइकिल सँभाल नहीं सकती। यही कारण है कि टेकनीक के सहारे एक-दो उच्चकोटि की कहानियाँ लिख भी ली जायँ पर उनकी उच्चता के प्रतिमान को बनाये रखना कठिन है। जैनेन्द्र 'मास्टरसाहब' जैसी कहानी तथा अज्ञेय 'परम्परा', 'कोठरी की बात' या 'विपथगा' जैसी दो-चार कहानियाँ लिख लें, पर उनके लिए उस प्रतिमान का निर्वाह करना कठिन रहा है। दूसरी ओर ऐसे लेखक हैं जो किसी नूतन टैकनीक या शिल्पकारिता का आग्रह तो नहीं करते पर उनमें जान-बूझकर किसी बौद्धिक सिद्धान्त के प्रदर्शन का आग्रह होता है; उदाहरणार्थ फ्रायड की अचेतन काम-वृत्ति का अथवा मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का। इधर निश्चित ही रूप से इन दोनों धाराओं का पठन-पाठन बढ़ा है और भारतीय मस्तिष्क ने उनको ग्रहण किया है। पर हिन्दी में इन विषयों की पुस्तकों के न होने के कारण इनका पूर्ण और सच्चा ज्ञान हमें या हमारे लेखकों को नहीं हो सका। अतः ये हमारी सृजनात्मक प्रतिभा को यहाँ जाग्रत नहीं कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संका है ; हमारे व्यक्तित्व की उस तह को नहीं छू सका है जहाँ से सृजन प्रारम्भ होता है। अतः हम इन सिद्धान्तों को ग्रहण करने वाली कहानियाँ को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ stunt literature होकर रह जाती हैं। इनमें प्रचार का थोड़ा सा क्षणिक आवेग भले ही दीख जाय, पर हमें तल्लीन करने की इस साहित्य में क्षमता नहीं है। यह युग का प्रतिनिधित्व करने का स्वाँग तो भरती हैं, परन्तु युग की घटनाओं के मूल स्रोत मानवता की अवहेलना के कारण बीच ही में प्राणहीन होकर रह जाती हैं। लेखक की चाबुक की चुटीली चोट के कारण घोड़ा वेग से चलता तो है पर मंजिले मकसूद तक पहुँचते-पहुँचते उसका दम उखड़ जाता है। यशपाल जी, पहाड़ी तथा इलाचन्द्र जोशी जी की कहानियाँ इसी दूसरे प्रकार के stunt की श्रेणी में आती हैं। इनमें सिद्धान्त-प्रतिपादन अधिक है जीवनानुभूति की प्रेरणा कम। जो सिद्धान्त अभिव्यक्त किये गये हैं वे पुस्तकों के अवलोकन द्वारा प्राप्त किये गए हैं, जीवनानुभूति के द्वारा नहीं।

इसे ज्ञानलवदुर्विदग्धता (भावविदग्धता कहना ठीक होगा, क्योंकि पुस्तकी ज्ञान तो होगा ही) के कारण एक विचित्र बात देखने में आती है। फ्रायड और मार्क्स ये दो विरोधी तत्त्व हैं। इन दोनों में कोई तात्त्विक एकता नहीं। फ्रायड ने मानसविकार के माध्यम से और मार्क्स ने अर्थशास्त्र के माध्यम से संसार की समस्याओं पर विचार किया है; एक ने मानव-मन के अन्दर से विश्व के दर्शन का लाभ किया है, तो दूसरे ने सरे बाजार बुलियन मार्केट के कोलाहल से होकर मानव-मन के भीतर झाँकने की कोशिश की है। इन दोनों में ३ और ६ का सम्बन्ध है, दोनों एक साथ एक स्थान पर मिलकर नहीं रह सकते। किसे मालूम नहीं कि कम्यूनिस्ट काडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Study in Decaying Culture में फ्रायड की न जाने कितनी भर्त्सना की है, पर यशपाल की कहानियों में फ्रायड और मार्क्स मानो अपने शाश्वत विरोध का परित्याग कर साथ-साथ गलबाँही देकर घूम रहे हैं। इनकी कहानियों के दो ही मुख्य कण्ठ-स्वर हैं—रोटी और सेक्स। शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जिसमें शारीरिक सीमा को छूने वाली काम-वासना की चर्चा न हो। 'ज्ञानदान' से जो प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई वह 'फूलो का कुर्ता' के वैभत्स्य में ही परिणत होकर रही। खैर इससे यहाँ मतलब नहीं है। कहना यही है कि फ्रायड और मार्क्स दोनों यशपाल की कहानी की छत्रछाया में पल रहे हैं। तो इसका अर्थ यही है कि यशपाल के फ्रायड न तो असली फ्रायड हैं और न मार्क्स मार्क्स। ये हैं तो केवल मिथ्या मार्क्स हैं और मिथ्या फ्रायड हैं, अर्थात् किसी की भी मार्मिक अनुभूति यशपाल को नहीं है। नहीं तो नर और वानर का संग, प्रकाश और अन्धकार का संग एक स्थान पर सम्भव नहीं था। पण्डित इलाचन्द्र जोशी के कथा-साहित्य को देखिए तो यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। आज कहानीकारों में उनका विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपनी कहानियों में फ्रायड के सिद्धान्तों को साग्रह उपजीव्य बनाने का प्रयत्न किया है, पर उनमें मार्क्सवाद के अर्थशास्त्र के भारवाही साहित्य के प्रति आस्था नहीं है। उनकी कहानियाँ और विवेचनात्मक लेखों में तथाकथित प्रगतिवाद की कड़ी-से-कड़ी आलोचना पाई जाती है। फ्रायड की दृष्टि गहराई की ओर है और वह, मेरी समझ में, भारतीय विचार-धारा के अधिक समीप है। अतः जोशीजी के हृदय ने इसके सच्चे स्वरूप को पकड़ने की कोशिश की है और इसी कारण उनके यहाँ मार्क्सवाद की स्थिति सम्भव नहीं।

जो हो दोनों प्रकार के stunt literature (टेकनीकाश्रयी तथा ज्ञानलवदुर्विदग्धताश्रयी सिद्धान्त प्रतिपादक साहित्य) में से किसी को भी महत्त्वपूर्ण होने का और युगप्रतिनिधित्व करने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का गौरव प्राप्त करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। लोगों की यह भ्रामक धारणा बन चली है कि चूँकि फ्रायड ने हमारे अन्दर अचेतन की नई दुनिया का आविष्कार कर और मार्क्स ने जीवन के अर्थशास्त्र के पहलू को दिखलाकर हमारे ज्ञान-क्षितिज का विस्तार कर दिया है, अतः इनको आधार रूप में ग्रहण करने वाला साहित्य महत्त्वपूर्ण साहित्य है। पर बात ऐसी नहीं। साहित्य होने के लिए किसी विषय की पाबन्दी नहीं है, यदि पाबन्दी है तो इसी बात की कि टेठ वह लेखक की अपनी होकर रह गई है। इस सम्बन्ध में प्राचीनों की राय स्पष्ट है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यदाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमान
तन्नास्ति यन्नरस भावमुपैति लोके॥

अर्थात् संसार में कोई भी कैसा भी विषय क्यों न हो, रम्य हो, जुगुप्सित हो, उदार हो, नीच हो, उग्र हो, प्रसादपूर्ण हो, गहन हो, विकृत हो अर्थात् अवस्तु ही क्यों न हो, पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो कवि और भावुक की प्रतिभा का स्पर्श पाकर रस की दीप्ति से उद्भासित न हो जाय।

इस छोटी सी बात को ठीक तरह से हृदयंगम न कर लेने के कारण आज हम महत्त्वपूर्ण कहानी और stunt कहानी अर्थात् कहानी के विद्रूप अलग नहीं कर पा रहे हैं। आज के गन्दे प्रेस 'gutter press' के युग में जब कि कला में नूतनता के नाम पर कैसी भी सड़ी-गली चीज को जनता से ग्रहण करने के लिए कहा जाता है और जनता उसे गले के नीचे सहर्ष उतार भी लेती है, उस समय अपने को जरा ऊँचे और निष्पक्ष मानने वाले विचारकों में यह प्रवृत्ति हो जाती है कि जनता जो कुछ भी अस्वीकृत करे वह अवश्य महत्त्वपूर्ण है और जिसे वह स्वीकृत करे वह तुच्छ। यशपाल की कहानियाँ यदि गरम-गरम पकौड़ी की तरह हाथों-हाथ लुट जाती हैं तो उसमें कुछ-न-कुछ हल्कापन अवश्य है और साहित्यिक महानता का अभाव है। पर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियाँ इतनी आदरणीय नहीं तो उन्हें महत्त्वपूर्ण अवश्य ही होना चाहिए। ऐसी अवस्था में किसी एक पक्ष में निर्णय जल्दी से दे देना उचित नहीं। हम इतना ही कर सकते हैं कि जिस कहानी या कहानीकार में अति के प्रति अधिक कमजोरी दिखलाई पड़ती हो, जिसमें टेक-नीक का चाकचिक्य अत्याधिक हो अथवा जिससे किसी सिद्धांत की अवांछनीय पकड़ देख पड़े उस पर हम मशकूक नजरों से देखें और फिलहाल अपना निर्णय स्थगित कर दें। देखें कि समय इनके बारे में क्या कहता है। हम प्रेमचन्दजी के परवर्ती कहानीकारों और उनके युग के इतने समीप हैं कि उन्हें उचित perpective में देखने के लिए जान-बूझकर लाई गई मानसिक तटस्थता भी प्राप्त करना असम्भव नहीं। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र, पहाड़ी, यशपाल और अश्क सब ने अपने-अपने तौर पर कथा-साहित्य की परम्परा को अग्रसर करने का प्रयत्न किया है। प्रथम चारों ने यदि गहराई दी है, मनोवैज्ञानिकता दी है, टेकनीक दी है तो शेष ने विस्तार दिया है, व्यापकत्व दिया है, और नदी के पाट को चौड़ा किया है। एक अपने अध्ययन-कक्ष में संसार को लाकर थोड़ी तटस्था देखने का उपक्रम किया है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दावा किया है तो दूसरे स्वयं संसार में जाकर वहाँ सैर करने और substance को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति-स्वतन्त्रता को बलिदान करने में नहीं हिचके हैं। उनका दृष्टिकोण साधारण जनता का है, जो सोचती है 'क्या है यदि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तो तानाशाही ही सही। उस प्रजातन्त्र को लेकर हमें क्या करना है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता तो है पर रोटी के लाले पड़े हैं।' रूस में या चीन में स्टालिन या माओ की तानाशाही ही हो, पर रोटी और कपड़े तो मिलते हैं। पर भारत में नेहरू के प्रजातन्त्र के व्यक्ति की स्वतन्त्रता रोटी और कपड़े के मूल्यों पर प्राप्त करना मँहगी जान पड़ती है। दोनों में कौनसा दृष्टिकोण सही है, यह कहना कठिन है। मेरा अपना ख्याल है कि किसी भी साहित्य के पाठक को यह धारणा बंधना अनिवार्य है कि जीवन की स्थिति के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है, उसको छोड़ कर जीवन टिक नहीं सकता। व्यक्ति समाज में जीता हो या न हो पर समाज तो व्यक्ति में अवश्य ही जीता है। जहाँ समाज और व्यक्ति का संघर्ष होगा, मेरा वोट व्यक्ति के पक्ष में होगा। मैं व्यक्ति को किसी भी मूल्य पर बलिदान करने के लिए तैयार नहीं।

आज के युग के कहानीकार की अवस्था विचित्र है। यह एक ऐसा युग है जिसमें सार्वत्रिक विच्छिन्नता छा रही है—समाज में, राजनीति में, संस्कृति में। मनुष्य बनों और जंगलों के पार्थक्य से ऊबकर नगरों की एकता और समीपता की शरण आया है; ऊपर से सारा विश्व एक हो गया है, पर मनुष्य-मनुष्य में आज जितना पार्थक्य है उतना कभी भी नहीं था। आज की दुनिया एक पागलखाना है। पागल भी सदा अनर्गल प्रलाप या निरर्थक क्रियाएँ ही नहीं किया करते वे भी कभी-कभी महत्त्वपूर्ण बातें करते हैं। पर उनमें एकता नहीं होती, कोई master thinking नहीं होती जो सबमें समन्वय स्थापन कर सके। ऐसी अवस्था में युग किसी को भी अपना प्रतिनिधित्व देने के लिए तैयार नहीं है। किसको युग का प्रतिनिधि कहा जाय, किसको कहा जाय कि अमुक लेखक पूर्णरूपेण अपने युग की अनुभूति में प्रवेश पा सका है (Entered fully into the common experience of the generation)। कारण, आज कोई भी साधारण मनोभूमि नहीं है, जहाँ पर सब खड़े हो सकें, कोई भी अनुभूति नहीं जिसे सब अपनी कह सकें। तब क्या प्रतिनिधित्व या अप्रतिनिधित्व? हमें धैर्यपूर्वक इसी अराजकता पर संतोष करना होगा। यह कहानीकार जो कुछ भी दे देते हैं उसे सहर्ष ग्रहण करना होगा। ये ही लोग वातावरण तैयार कर रहे हैं जिसमें कोई तेजपुंज देदीप्यमान नक्षत्र उत्पन्न होगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बच्चन सिंह

हिन्दी नाटकों का विकास

संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य में नाटकों का अत्यधिक प्रभाव मिलता है। संस्कृत-साहित्य में कविता की अपेक्षा नाटकों का स्वर अधिक मुखर है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में अठारहवीं शती तक तो कविता की विविध राग-रागिनी ही गूँजती रहती है। नाटकों के रंध्रों में न तो कोई स्वर फूँकने वाला दिखाई देता है और न ही उसे सुनने के लिए कोई उत्सुक प्रतीत होता है। यदि कहीं से कोई स्वर फूँकता हुआ दिखाई भी पड़ता है तो उसका अनाड़ीपन औरों का उत्साह भंग कर देता है। नाट्य-साहित्य की इस रिक्तता का क्या कारण है? इस प्रश्न पर हिन्दी के कुछ सुधी लेखकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। किसी ने गद्य के अभाव को इसका मूल कारण माना है तो किसी ने मुसलमानी शासन को दोषी करार दिया है। कुछ विद्वानों ने तत्कालीन वातावरण में इसके कारण की खोज करते हुए कह डाला है कि सन्तों की निराशामूलक वाणी के कारण नाट्य-सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई। किन्तु ये सतही विचार मूल कारण से बहुत दूर हैं। साहित्य की सारी गतिविधियों के मूल में विदेशी आक्रमणों तथा धार्मिक आन्दोलनों के स्थूल प्रभाव को देखने की चाल वैज्ञानिक नहीं है। साहित्य की एक अखण्ड दीर्घ परम्परा होती है। साहित्य के किसी भी रचना-प्रकार पर विचार करने के लिए उसे उस प्रकार की साहित्य-शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में देखना चाहिए। सामयिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से भी साहित्य का दिशा-निर्देशन होता है। किन्तु इनके मोटे-मोटे कारणों से साहित्य की परख नहीं की जा सकती। तात्कालिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से जन-जीवन में जो उत्थान-पतन होता है साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर उक्त प्रभाव के कारणों का हम संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत-नाटकों में ह्रासोन्मुखता आ जाती है। मौलिकता की दृष्टि से तो यह काल दरिद्र है ही, परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से भी इस काल के नाटककार समर्थ नहीं प्रतीत होते। इस काल में प्राणहीन नाटकों की भरमार है। मुरारि, राजशेखर, जयदेव, क्षेमीश्वर आदि कुछ उल्लेखनीय नाटककारों की कृतियों में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव है। मुरारि के 'अनर्घ राघव' का महत्त्व केवल कविता की दृष्टि से आँका जा सकता है। इसके कवित्व में भी प्रभातकालीन ऊष्मा नहीं है, अस्तोन्मुखी सूर्य की पीत आभा है। राजशेखर का महाकाय 'बाल रामायण' कविताओं से भरा पड़ा है। अपने कथानक के अनगढ़पन तथा अनुपात के अनौचित्य के कारण यह काफी कुख्यात हो चुका है। इस काल के प्रायः सभी नाटकों में कथानक की शिथिलता तथा वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की बहुलता मिलती है। ये नाटक चरित्र, संवाद, अन्तर्द्वन्द्व आदि सभी दृष्टियों से खोखले हैं। हिन्दी के नाटककारों को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संस्कृत साहित्य की यही पिछली परम्परा मिली। बनारसीदास का समय सार-नाटक (सं० १६६३), प्राणचन्द चौहान का रामायण महानाटक (सं० १६६७), रघुराय नागर का समासार (सं० १७५७) और लच्छिराम का करुणा भरण (सं० १७७२) प्रायः छन्दोबद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल प्रत्येक दृष्टि से बड़ा अव्यवस्थित रहा है। मुसलमान आक्रमणकारियों ने राजाओं को ही पदाक्रान्त नहीं किया, जनता की भी निर्मम हत्या की। हिन्दू-सामन्तों द्वारा शोषित जनता का दुहरा शोषण हुआ। रुपए-पैसे के साथ ही उनकी खेती बारी भी नष्ट होती रही। ऐसी अस्थिरता और भागदौड़ में नाटकों की क्या सृष्टि होती? सोलहवीं शताब्दी में सन्तों ने हमारी जड़ता को गहरा धक्का दिया। देश में चेतना की लहर दौड़ गई। वैष्णव आन्दोलन कुछ सन्त-महात्माओं तक सीमित न रहकर जन-जीवन तक पहुँचा। इस आन्दोलन ने जनता को रासलीला और रामलीला के रूप में जन-नाट्यशालाएँ भी दीं। इन्हीं रंगमंचों द्वारा कृष्ण और राम की लोकप्रिय कहानी जन-जन तक पहुँची। सूर और तुलसी की कविताओं को झोपड़ियों तक पहुँचाने का श्रेय इन रंगमंचों को भी है। लोक-संग्रह की भावना से ओत-प्रोत रहने के कारण रामलीला उत्तर-भारत के कोने-कोने तक व्याप्त हो उठी। हिन्दी का रीतिकाल अजीब प्रतिक्रिया का युग है। चिन्तनहीनता अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी। कवियों और जनता में दुर्लंघ्य खाई पड़ गई थी। संस्कृत-नाटकों की पिछली परम्परा का भी प्राण-स्रोत सूख गया था। ऐसी स्थिति में इस काल में नाट्य-रचना की आशा दुराशा-मात्र है।

नया उन्मेष

मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था के खण्डहर पर अंग्रेजों ने पूँजीवादी व्यवस्था का महल खड़ा किया। अंग्रेज इस देश में व्यापार करने के उद्देश्य से ही आये हुए थे। राज्य स्थापित कर लेने के बाद भारतीय बाजारों पर भी इनका एक तरह से एकाधिकार हो गया। अंग्रेजों की देखा-देखी बम्बई का पारसी वर्ग भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ा और रुपया कमाने का नया-नया ढंग निकालने लगा। पारसी थियेटरों की स्थापना धनार्जन का नया ढंग ही है। पारसी थियेटर का रंगमंच शेक्सपियर के समय के रंगमंच के आधार पर निर्मित हुआ।

पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने पर जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिला। पूर्वी और पश्चिमी विचारधाराओं की टकराहट से जीवन के नवीन स्फुलिंग पैदा हुए। राजाराममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती सांस्कृतिक जागृति के अग्रदूत थे। एक ने पाश्चात्य विचारों के प्रति अत्यधिक उदार होते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही अपने समाज की आधारशिला माना। दूसरा अपनी संस्कृति को सब-कुछ स्वीकार करते हुए भी जर्जर रूढ़ियों को सर्वदा तिरस्कृत करता रहा। नई शिक्षा से लोगों के संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आने से साहित्य में भी नवीन चेतना उत्पन्न हुई। सन् १८५७ के बाद से अंग्रेजी नीति में जो परिवर्तन घोषित किया गया जनता पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों की प्रशंसा के गीत भी गाये गए। किन्तु अंग्रेजों की अर्थनीति बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। देशव्यापी अकाल तथा कर-भार से बोझिल जनता चिल्ला उठी। भारतेन्दु-युगीन संवेदनशील लेखकों, कवियों, नाटककारों आदि ने जनता की व्यथा को वाणी प्रदान की।

भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य के लिए एक असाधारण घटना है। भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने जागरण के सभी तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। देश की आशा-आकांक्षाओं को नाटकों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के माध्यम से पहले-पहल उन्हीं ने प्रकट किया। पारसी थियेटर का शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण देश में सांस्कृतिक कुरुचि बढ़ा रहा था। उर्दू कविता की शोखी और बाजारू गानों से भरे पारसी नाटक पूँजीपतियों के लिए द्विगुणित लाभप्रद सिद्ध हुए। इन नाटकों से पारसी कम्पनियों के मालिकों को खूब लाभ हुआ। तात्कालिक जन-जागरण को, जो अन्ततोगत्वा उन मालिकों के हितों पर कुठाराघात करने वाला सिंह होता, एक प्रतिक्रियावादी अक्रियमाण दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया। भारतेन्दु पारसी कम्पनियों की इस प्रवृत्ति से पूर्ण अवगत थे। इसलिए जनता का रुचि-परिष्कार उनकी नाट्य-रचना का पहला लक्ष्य रहा।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया है तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण; कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के सीमित विषय की दीवारें टूट गईं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। नीलदेवी और सती प्रताप में इतिहास और पुराण की वे उज्ज्वल गाथाएँ हैं जिनके आलोक में पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से विपथगामिनी आर्य ललनाएँ अपना मार्ग पहचान सकती हैं। यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में सांस्कृतिक जागरण का चिह्न है। कुछ लोग इसे जीवन के प्रति पलायनवादी रोमानी दृष्टि कहते हैं। वस्तुतः अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति संयम करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि यदि पाठक के चरित्र में इससे कुछ भी सुधार हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। शालग्राम का 'मोर ध्वज', भवदेव उपाध्याय का 'सुलोचना सती' आदि पौराणिक नाटक तथा राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' तथा श्री निवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', प्रतापनारायण मिश्र का 'हठी हमीर' आदि ऐतिहासिक नाटक मूलतः उद्बोधनात्मक हैं।

'प्रेम-जोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का संकेत किया है। इस काल के अन्य नाटककारों ने बहुत-सी तत्कालीन समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया, जैसे, बाल-विवाह, स्त्री-असहायता, गो-वध, पाश्चात्य आचार-नीति आदि। राधाकृष्णदास का दुखिनी बाला, प्रतापनारायण मिश्र का 'गो संकट' ऐसे ही नाटक हैं।

भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र-प्रेम की भावना जगाई। भारतेन्दु तथा इस काल के अन्य कवियों की कविताओं में राष्ट्र-प्रेम और शासक-प्रेम का जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है वह नाटकों में भी उसी रूप में चित्रित हुआ है। 'भारत दुर्दशा' के प्रारम्भ में ही यह निवेदन कर दिया गया है—'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।' इस बात से सभी लोग अवगत हैं कि सारा धन विदेश चला जा रहा है फिर भी उन्हें महारानी विक्टोरिया के न्याय और औचित्य पर विश्वास है। दूसरे अंक में भारत कहता है—'परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुन्द्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी?' पाँचवें अंक में कुछ लोग भारत-दुर्दशा से बचने की मन्त्रणा करते हैं। किन्तु डिसलायल्टी का भय उनकी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देता। अन्त में भारत-भाग्य भी परमात्मा व राजराजेश्वरी की पुकार लगाकर विदा होता है; और भयानक निराशावादिता के साथ नाटक का पर्यवसान होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा नाटक' के आधार पर प्रेमघन जी ने 'भारत सौभाग्य'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाटक लिखा। इसमें भारत नायक और वद इकबालए-हिन्द प्रतिनायक है। अन्त में भारत अपने प्रतिनायक का आश्रय ग्रहण करने में ही अपना सौभाग्य समझता है। अँग्रेजों के सद्भाव की छलना भारतीय वातावरण को बहुत दिनों तक घेरे रही। भारतीय कांग्रेस में भी इस तरह के विश्वास के लोगों की कमी नहीं थी। इन नाटकों में देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था का भावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है।

जीवन में व्यंग्य और विनोद का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। रात-दिन गुरु-गम्भीर कार्यों में लगे रहने के कारण विनोद और भी अधिक प्रिय मालूम पड़ता है। अच्छा प्रहसन व्यंग्य होता है। जीवन और समाज की असंगतियों की पकड़ के लिए जिसकी दृष्टि जितनी पैनी होगी वह उतना अच्छा प्रहसनकार होगा। भारतेन्दु की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांस-भक्षियों के तर्कों पर व्यंग्य है। 'अंधेर नगरी' एक अव्यवस्थित राज्य पर करारी चोट है। इनके काल में अन्य बहुत से प्रहसन लिखे गए—जैसे। बालकृष्ण भट्ट का शिक्षादान, प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे'। इन परवर्ती लेखकों में भारतेन्दु-जैसी प्रतिभा का अभाव था। अतः इनके प्रहसन में वैसा तीखापन नहीं है। इस युग में अनुवादों की परम्परा भी चलती रही। इस सम्बन्ध में लाला सीताराम, रामकृष्ण वर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की पद्धति के अनुवर्ती हैं। संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नांदी-पाठ से होकर भरतवाक्य पर समाप्त होता है। इनके प्रारम्भिक नाटकों में यह पद्धति हू-ब-हू स्वीकार कर ली गई है। कुछ नाटकों में अंकावतार और विष्कंभक की योजना भी मिलेगी। चन्दावती में स्वगत का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं कथोपकथन भी लम्बे हो गए हैं। पारसी नाटक शैली का प्रभाव भी जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ता है। शैली की दृष्टि से इस पूरे काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका। बालकृष्ण भट्ट, खड्गबहादुर मल्ल, राधाकृष्णदास आदि के नाटकों के कथानक अत्यन्त-शिथिल हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं बन सकी। संस्कृत का स्वगत-भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों रह गया। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। हाँ जहाँ तक वस्तु-चयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी-पिटी परिपाटी को काफी पीछे छोड़ चुके थे।

सुधारवादी युग

प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार करने पर महावीरप्रसाद द्विवेदी का समय सुधारवादी युग कहा जा सकता है। आर्यसमाजी नैतिकता का प्रभाव तो द्विवेदीजी पर पड़ा ही था, राजनीति के क्षेत्र में भी महात्मा गांधी की सात्विकता और उच्च नैतिकता का स्वर जादू की तरह प्रभावशाली बन चुका था। इस युग के लेखकों ने वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से साहित्य में सुधार करने की चेष्टा की। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के लेखकों ने गद्य में काफी लिखा फिर भी गद्य की प्रतिमिति स्थिर न हो सकी। पद्य की भाषा के लिए खड़ी बोली और ब्रजभाषा में किसको ग्रहण किया जाय इसका अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया था। द्विवेदीजी तथा उनके अनुगामियों का सारा समय इन्हीं बातों के सुलझाने में लगा रहा। भाषा-संस्कार तथा खड़ी बोली के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निखार-परिष्कार के लिए इस युग का बड़ा महत्त्व है। सुधारवादियों से मौलिक उद्भावनाओं तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। वास्तव में द्विवेदीजी का महत्त्व इसी सुधार-परिष्कार के लिए है। नाटक के विकास को देखते हुए इस काल के पार्थक्य की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ ही इस काल में चलती रहीं। केवल सुविधा की दृष्टि से ही इस काल को अलग कर दिया गया है।

भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस काल में ऐतिहासिक नाटक संख्या में अधिक रचे गए। विषयों के चुनाव का विचार करने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जीवन पर सात्विक प्रभाव छोड़ने वाले नायकों के ग्रहण पर विशेष दृष्टि रही है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रन बन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। 'कर्बला' द्वारा प्रेमचन्दजी ने मुसलमानी संस्कृत पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने का कदाचित् पहला प्रयास किया। सामाजिक नाटकों के लिए बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मुकद्दमेबाजी आदि विषय चुने गए। प्रहसन के लिए अब और व्यापक क्षेत्र मिला। नए वातावरण में बद्रीनाथ भट्ट ने नए विषयों का चुनाव किया। 'विवाह विज्ञापन' और 'मिस अमेरिका' ऐसे प्रहसनों में हैं। पहले में पाश्चात्य ढंग की कृत्रिम साज-सज्जा (मेकअप) और रूप पर व्यंग्य है। पति को जूते से पिटवा-कर लेखक अपने स्तर को काफी नीचे गिरा देता है। 'मिस अमेरिका' में प्रकारान्तर से रीतिकालीन अश्लील कविताओं पर व्यंग्य किया गया है। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों का स्तर भी काफी नीचा है।

प्रसाद का आविर्भाव (विकास के विविध मार्ग)

भारतेन्दु के बाद प्रसाद-जैसी सर्वांगीण प्रतिभा का रचनात्मक व्यक्तित्व दूसरा नहीं उत्पन्न हुआ। नाटकों का उन्होंने नवीन शैली से शृङ्गार किया। किन्तु इस साज-सज्जा की औप-चारिकता के कारण वे नाटकों की नई दिशा के निर्देशक नहीं ठहराए जा सकते। अब तक के हिन्दी-नाटकों के पात्र लेखक के व्यक्तित्व की छाया-मात्र थे, परन्तु प्रसाद ने उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया। प्रसाद ने पात्रों के शील-निरूपण का जो प्रयास अपने नाटकों में किया हिन्दी के लिए वह एक अति महत्त्वपूर्ण बात थी। हिन्दी-नाटकों का बहुत अधिक विकास हो जाने पर भी शील-निरूपण के प्रथम पुरस्कर्ता होने के कारण उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

यद्यपि प्रसाद ने मुख्य रूप से ऐतिहासिक नाटक ही लिखे तथापि अन्य प्रकार के नाटकों का भी मार्ग-निर्देशन किया। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक नाटक है। 'ध्रुव स्वामिनी' ऐतिहासिक होते हुए भी मूलतः समस्या-नाटक है। 'कामना' अन्यापदेशिक नाटक है। 'एक घूँट' को कुछ आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। गीतिनाट्य के क्षेत्र में भी वे ही अग्रणी ठहरते हैं। 'करुणालय' हिन्दी का पहला गीति-नाट्य है।

(क) ऐतिहासिक

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को आपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक ज्ञात होता है।···क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।···मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की हैं जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।" 'विशाख' की भूमिका में उपर्युक्त विचार प्रकट करके प्रसाद ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। उक्त कथन से हम तीन निष्कर्ष निकालते हैं—(१) ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे आदर्श को संघटित करने के लिए लाभदायक हैं अर्थात् वे साधन है साध्य नहीं; (२) जलवायु के अनुकूल होने के कारण हमारी सांस्कृतिक परम्परा के मेल में हैं और (३) उन परिस्थितियों के अंकन का प्रयत्न किया गया है जो हमें आज की स्थिति में ले आने के लिए उत्तरदायी हैं।

अपने नाटकों के लिए प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं की जो सीमाएँ तैयार कर ली हैं उनके मूल कारणों की विवेचना की जा चुकी है। इन सीमाओं में बँधे रहने के कारण उनकी कल्पना स्वच्छन्द विहार के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं पा सकी। फिर भी इतिहास की कड़ियाँ मिलाने के लिए उन्होंने स्वतन्त्र अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मन्दाकिनी आदि ऐसे ही पात्र हैं। भटार्क और अनन्त देवी का सम्बन्ध-स्थापन, तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सामीप्य ऐसी योजनाएँ हैं जिनका कोई ऐतिह्य प्रमाण नहीं है।

प्रसाद कोरे ऐतिहासिक नाटककार नहीं हैं। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों पर भारतीय संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्रों को खूब उभारकर अंकित किया है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रसाद सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद के समर्थक हैं। उनके तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए भी जीवन्त सन्देश हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पूरा-पूरा समावेश हुआ है। विभिन्न संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष तथा अवान्तर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय नाटकों में दुःखान्त नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रसाद ने भी इस परिपाटी का निर्वाह किया है। फलस्वरूप उनके नाटकों में आशावादिता का सन्देश सर्वत्र दिखाई पड़ेगा। नियतिवाद से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण वे आशावादिता को आधुनिक अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाए हैं। स्कन्दगुप्त में नियतिवाद अपने पूरे उत्कर्ष पर है। पूरे नाटक पर अवसाद की धुन्ध छाई दिखाई पड़ती है। फिर भी नाटक का पर्यवसान इस दृष्टि से आशामूलक है कि स्कन्द हूणों को पराजित तथा निष्कासित करने में सफल होता है।

प्रसाद ने चरित्र-निरूपण पर विशेष जोर देकर अब तक चली आती हुई रस-प्रधान नाट्य-धारा को एक जबरदस्त मोड़ दिया है। अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को खड़ा करके उन्होंने जिन अन्तर्द्वन्द्वों का विधान किया है वे आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल हैं। विरोधी विचार वाले पात्रों की सृष्टि से संघर्ष की योजना में अधिक सहायता मिली है। स्कन्दगुप्त, भटार्क, अजात शत्रु, बिंबसार भिन्न-भिन्न मनोदशाओं को व्यक्त करते हैं। चाणक्य का चरित्र प्रसाद की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छा-शक्ति, अदम्य उत्साह तथा प्राणवत्ता अन्यत्र नहीं मिलती। नारी-चरित्रों की अनेकविधि कल्पना के वे अद्भुत स्रष्टा थे।

संस्कृत नाटकों का काव्यात्मक वातावरण प्रसाद के नाटकों में भी पाया जाता है। प्रसाद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मूलतः कवि हैं। उनका कवि क्या नाटक क्या कहानी सर्वत्र विद्यमान रहता है। कवि की भावुकता ने उन्हें यथार्थवादी भूमि पर नहीं उतरने दिया। प्रसाद के अधिकांश पात्र भावुक हैं। यह भावुकता पात्रों के भाषणों तथा कार्य-पद्धतियों में भी पाई जाती है। नाटकों में यथार्थवादी शैली ले आने का कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के प्रतिनिधि नाटक अभिनेय नहीं हैं। घटना-विस्तार, लम्बे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत-कथन की अस्वाभाविकता आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो अभिनेता के मार्ग में भयानक बाधा उपस्थित करती हैं। सम्भवतः प्रसाद जी अपनी इन त्रुटियों से अवगत थे। इसीलिए ध्रुवस्वामिनी लिखते समय उन्होंने रंगमंच को पूरी तरह अपनी दृष्टि में रखा।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी', उग्र, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। गणना के लिए मिलिन्द का नाम भी जोड़ा जा सकता है। प्रेमी ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु भारत के मध्यकालीन इतिहास से ग्रहण की है। अपने अभी-अभी प्रकाशित 'शपथ' में उन्होंने हूणकालीन कथावस्तु ली है। किन्तु प्रेमी की ख्याति उनके 'रक्षा-बन्धन' तथा 'शिवा-साधना' नाटकों पर ही आश्रित है। प्रेमी के नाटकों में हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य और सौहार्द की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिक पद्धति पर हुई है। इसके लिए अनुकूल कथावस्तु का चुनाव तथा प्रतिपादन की स्वाभाविकता दोनों समान रूप से दायी हैं। प्रेमी ने प्रसाद की अलंकृति-शैली नहीं अपनाई है। प्रसंगानुकूल सम्वाद-योजना में प्रेमी काफी कुशल हैं। प्रसाद की भाँति दार्शनिकता के भार से इनके नाटक बोझिल नहीं हैं। नाटक के बाह्य पक्ष में प्रेमी ने प्रसाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता का आश्रय लिया है। किन्तु नाटक के आन्तरिक औदात्य और अन्तर्द्वन्द्व की जो गम्भीरता प्रसाद के नाटकों में है वह प्रेमी के नाटकों में कहीं भी नहीं आ पाई है। उग्र का 'महात्मा ईसा' रंगमंच की दृष्टि से सफल माना जा सकता है किन्तु इसकी ऐतिहासिकता त्रुटिपूर्ण है। उदयशंकर भट्ट का 'दाहर वा सिन्ध पतन' और 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'सिन्ध-पतन' नाटक में नाना प्रकार के अन्तर्विरोध दाहर के पतन के कारण बताए गए हैं। भट्ट जी के विचार से यह हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है, किन्तु भारतेन्दु की 'नील देवी' इस पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। गोविन्दवल्लभ पन्त के 'राजमुकुट' का सारा विन्यास बड़ी ऋजु पद्धति पर चला है। सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' भी अच्छा ही नाटक है।

(ख) पौराणिक और सामाजिक

प्रसाद के पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें महाभारत के महायुद्ध के पश्चात् परीक्षितकालीन कथानक लिया गया है। इसमें आर्यों-अनार्यों के आदर्शों और संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय का चित्र उपस्थित किया गया है। सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्ददास, उग्र और उदयशंकर भट्ट की कुछ कृतियाँ पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत आती हैं। सुदर्शन ने अपनी 'अंजना' में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयास किया है। सम्भवतः ऐसा करने के लिए उन्हें बंगला के प्रख्यात नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय से प्रेरणा मिली है। गोविन्दवल्लभ पन्त की 'वरमाला' का कथानक मार्कंडेय पुराण से लिया गया है। सारे नाटक का वातावरण रोमानी है। कथोपकथन प्रसंगानुकूल तथा सरल है। रंगमंच की दृष्टि से यह बड़ा सफल नाटक है। उग्र का 'गंगा का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बेटा' नाटकीय दृष्टि से साधारण नाटक है। पौराणिक धारा के प्रतिनिधि लेखक उदयशंकर भट्ट हैं। 'अम्बा', 'सगर-विजय' इनके प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। 'अम्बा' में नारीत्व की चेतना का पूरा-पूरा आकलन हुआ है, 'सगर-विजय' राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित नाटक है। इन्होंने अपने पौराणिक पात्रों के भीतर नवयुग के सामाजिक संघर्षों को देखा है।

इस युग के पौराणिक नाटकों तथा भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों में मौलिक उद्भावना की नितान्त कमी है। पौराणिक वातावरण को नवयुग के प्रकाश में देखने का प्रयास वहाँ नहीं मिलेगा। अति प्राकृत पौराणिक प्रसंगों, अतिरंजित घटनाओं और अयथार्थ दृश्य-विधानों से भरे नाटकों से दूर हटकर इस काल में उन्हें मानवीय धरातल पर देखने का प्रयास किया गया है। इसे आज की बौद्धिकता का आग्रह ही समझना चाहिए। अच्छे सामाजिक नाटकों का हिन्दी में अभाव-सा ही है। उग्र के 'चुम्बन' में अश्लीलता का काफी उभार है। गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' साधारण नाटक है। सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश', 'पाकिस्तान' उदयशंकर भट्ट का 'कमला', 'अन्तहीन अन्त' सामाजिक नाटक हैं।

(ग) अन्यापदेशिक नाटक

अन्यापदेशिक नाटकों को कुछ लोगों ने प्रतीकात्मक नाटक भी कहा है। किन्तु प्रतीक और अन्यापदेश के अर्थ में मौलिक अन्तर है। अन्यापदेश अंग्रेजी के एलोगेरी का समानार्थी है। अन्यापदेश तथा प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में धर्म अथवा प्रभाव का साम्य होता है। अन्यापदेश में कभी-कभी भाव या मनोवेग का मानवीकरण भर कर दिया जाता है, उसके स्थान पर प्रतीक का विधान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'कामना' का उल्लेख किया जा सकता है। पन्त की 'ज्योत्स्ना' में प्रतीक-पद्धति अवश्य अपनाई गई है, किन्तु ये प्रतीक परम्परा-गृहीत प्रतीक नहीं हैं। अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से इस प्रकार के नाटकों को अन्यापदेश की कोटि में रखना अधिक समीचीन है।

इस कोटि में प्रसाद की 'कामना' और पन्त की 'ज्योत्स्ना' दो ही नाटक आते हैं। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' इस ढंग का बड़ा प्रसिद्ध नाटक लिखा जा चुका है। प्रसाद की 'कामना' में 'सन्तोष', 'विनोद', 'कामना' आदि मनोभाव मानवी क्रिया-कलापों द्वारा उक्त भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसमें स्वर्ण और मदिरा के प्रचार द्वारा तारा की भोली सन्तानों में विलास, प्रवंचना, उच्छृंखला आदि का बीज-वपन किया जाता है। इसका फल यह होता है कि उन सन्तानों के देश की सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। विदेशी संस्कृति की कुरीतियों से आक्रान्त भारतीय-संस्कृति की रक्षा ही इस नाटक का मुख्य ध्येय है। 'कामना' की अपेक्षा 'ज्योत्स्ना' की विचार-भूमि व्यापक है। 'ज्योत्स्ना' द्वारा इस संसार में स्वर्ग उतारने की बात कही गई है। 'कामना' की अपेक्षा इसका नाटकीय ढाँचा शिथिल है।

(घ) समस्या-नाटक

यूरोप में नाटकों के क्षेत्र में इब्सन का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक है। १९वीं शती के उत्तरार्ध में उसने नाटकों के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति उपस्थित कि शेक्सपियर के प्रभाव के स्थान पर एक बौद्धिक चेतना का उदय हुआ। उससे प्रेरणा ग्रहण करके शा ने समाज की पिटी परम्पराओं तथा सुदृढ़ रोमानी कल्पनाओं पर प्रबल कशाघात किया। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिश्र ने अनेक समस्या-नाटक लिखे। इस धारा के ये ही प्रतिनिधि लेखक हैं। शा की तल-स्पर्शनी दृष्टि, प्रतिपादन का ढंग, निर्मम व्यंग्य लक्ष्मीनारायण जी में नहीं है। शा ने परम्परा-मुक्त चरित्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उनके स्थान पर रोमांस-हीन वास्तविक चरित्रों की प्रतिष्ठा की। इब्सन का मंच-निर्देशन, विल्डे की कथोपकथन-कुशलता दोनों का समावेश शा के नाटकों में हुआ है। कथोपकथन में स्वभाविकता और वाग्-वैदग्ध्य ले आने की कला उसने प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक हेनरी स्वीट से सीखी। मिश्र जी शा की तरह किसी परम्परा (कन्वेन्शन) पर चोट नहीं करते। उन्होंने प्रायः नारी की चिरन्तन समस्या ली है, जो आज की अति महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं कही जा सकती। जिस बौद्धिक स्तर (इंटलेक्चुवल स्टैंड) की अपेक्षा समस्या-नाटकों में की जाती है, वह मिश्र जी में नहीं। भूमिकाओं में 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' बार-बार स्पष्ट करने पर भी वे उस सीमा तक बुद्धिवादी नहीं है। इस अनवरत स्पष्टीकरण का मनोवैज्ञानिक अर्थ कुछ दूसरा ही है। फिर भी समस्या-नाटकों के क्षेत्र में मिश्र जी का ऐतिहासिक महत्त्व सुरक्षित रहेगा। यह भी सच है कि प्रसाद के बाद ये दूसरी प्रतिभा हैं।

शैली के क्षेत्र में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। शा आदि के नाटकों की भाँति इनके नाटकों में भी तीन ही अंक होते हैं। गीत प्रायः नहीं होते, सभी घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होती हैं। आवश्यकतानुसार गीतों का विधान भी इन्होंने किया है, जैसे 'संन्यासी' की किरणमयी। संवादों में नाटकीय स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता की ओर ध्यान दिया गया है। हिन्दी के पिछले नाटकों में इन बातों का अभाव है। संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली और आधी रात इनके समस्या-नाटक हैं। हिन्दी के कुछ और लेखक अपने नाटकों पर 'समस्या-नाटक' का लेबुल चिपकाए हुए दिखाई पड़ते हैं।

(ङ) गीति-नाट्य

अमानत की 'इन्दर सभा' को छोड़ दिया जाय तो प्रसाद का 'करुणालय' ही हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य ठहरता है। 'करुणालय' को गीति-नाट्य का ढाँचा-मात्र मानना चाहिए। इसमें नाट्य-तत्त्व नगण्य है। आधुनिक अर्थ में निराला का 'पंचवटी-प्रसंग' हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है। वास्तव में 'पंचवटी-प्रसंग' की रचना हिन्दी में भद्दे कथोपकथन को दूर करने के लक्ष्य से ही की गई। कथोपकथन की स्वाभाविकता, नाटकीय कार्य तथा शील-वैचित्र्य सभी दृष्टियों से वह श्रेष्ठ गीति-नाट्य है। उदयशंकर भट्ट ने बहुत से पौराणिक प्रसंगों के आधार पर सुन्दर गीति-नाट्य लिखे हैं। 'विश्वामित्र', 'मत्स्य गन्धा' तथा 'राधा' उनके प्रसिद्ध गीति-नाट्य हैं। भट्ट जी बड़े सचेत कलाकार हैं। पौराणिक पात्रों के सहारे आज की विविध समस्याओं का निर्देश उनकी अपनी विशेषता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के विधान में भी वे निपुण हैं। कवि होने के कारण उनमें काव्यत्व भी यथेष्ट मात्रा में है। भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' भी एक एकांकी-गीति-नाट्य हैं।

इधर पन्त जी के गीति-नाट्यों का एक संग्रह 'रजत शिखर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में छः गीति-नाट्य हैं। ये अपने संक्षिप्त रूप में रेडियो से प्रसारित भी हो चुके हैं। इसमें नाटकीय प्रवाह तथा वैचित्र्य ले आने के लिए यति का क्रम गति के अनुरूप परिवर्तित कर दिया गया है। आलाप का भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। सभी नाट्य प्रतीकात्मक हैं। इनमें मानव-मन के ऊर्ध्व और समतल के सामंजस्य, आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्व मानवतावाद आदि का सन्देश है। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, इस संग्रह में कोई नवीनता नहीं है। नई बोतल में पुरानी शराब ढाली गई है।

(च) एकांकी

प्रसाद के 'एक घूँट' के बाद भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में एक नया प्रयोग था। 'कारवाँ' संग्रह की वस्तु तथा शैली, दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा की स्पष्ट छाप है। लेखक शा और इब्सन के विश्वासों तथा कला-रूपों से अत्यधिक प्रभावित ज्ञात होता है। समाज के रूढ़ वैवाहिक विश्वासों का उच्छेदन कारवाँ का प्रतिपाद्य है। भारतीय नैतिक मूल्यों की उपयोगिता पर विचार न करके विदेशी मूल्यों के चलन का आग्रह बौद्धिक दासता या शुद्ध प्रतिक्रिया का द्योतक है।

डॉ० रामकुमार वर्मा एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में से हैं। वर्मा जी भारतीय आदर्शों में विश्वास रखते हैं। त्याग, दया, करुणा आदि सात्विक मनोवृत्तियों का सन्निवेश उनके नाटकों में हुआ है। वर्मा जी ने प्रायः सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं। इनके मध्यवर्गीय पात्र सुशिक्षित और सुसंस्कृत नागरिक हैं। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, रूप-रंग इनके एकांकी नाटकों के संग्रह हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने जिस तरह अपने नाटकों के लिए मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं का सहारा लिया है उसी तरह एकांकी के लिए उसी काल की घटनाओं के मर्मस्पर्शी लघु सूत्रों को ग्रहण किया है। मध्यकालीन राजपूती शौर्य, आत्माभिमान, आन-बान का चित्र अंकित करने में इन्हें कमाल हासिल है।

सेठ गोविन्ददास ने संख्या की दृष्टि से बहुत से नाटक लिखे हैं। गांधीवादी होने के कारण इनके नाटकों में गांधीवादी विचार-धारा सर्वत्र मिलेगी। समस्याओं की व्याख्या तथा उनका स्थूल हल ढूढ़ निकालने की सतर्कता उनमें सर्वत्र पाई जाती है, पर अनुभूति की तीव्रता तथा व्यंजकता का प्रायः अभाव है। सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा, एकादशी आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उदयशंकर भट्ट ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी दृष्टि में नाटकों में रस-संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना भी परमावश्यक है। उच्च और मध्यवर्ग की जीवन-विडम्बनाओं को चित्रित करके उन पर गहरी चोट करना इनकी प्रमुख विशेषता है। समस्या का अन्त, चार एकांकी आदि इनके एकांकी-संग्रह है।

उपेन्द्रनाथ अश्क आज के प्रमुख एकांकी नाटककारों में हैं। इन्होंने प्रायः मध्यवर्गीय जीवन की समस्याएँ ली हैं। इनके पात्र जाने-पहचाने लगते हैं। पारिवारिक जीवन-समस्याओं के भीतर बैठकर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में ये सिद्ध कलाकार हैं। अश्क के सामाजिक व्यंग्य काफी तीखे हैं। देवताओं की छाया में, तूफान के पहले, चरवाहे आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। रंगमंच और प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नये नाटककारों में विष्णु प्रभाकर ने भी नवीन सामाजिक दृष्टि से अच्छे एकांकी लिखे हैं। रेडियो-स्टेशनों पर प्रसारित करने के लिए एकांकियों की माँग के कारण लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा और वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आए। रेडियो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की माँग के कारण एकांकियों के ध्वनि-रूपक और ध्वनि-नाटक दो भेद भी हमारे सामने आये। इनमें रंगमंच का कार्य ध्वनि से लिया जाता है। ध्वनि-रूपक में बहुत-सा विवरण सूत्रधार या नैरेटर के माध्यम से दिया जाता है। ध्वनि-नाटक में सूत्रधार नहीं होता, श्रोता अभिनय की कल्पना भर करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विजयशंकर मल्ल

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य : एक सर्वेक्षण

हिन्दी में निबन्ध का जन्म उस समय हुआ जब भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। ये निबन्ध उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और प्रायः उनके सम्पादक ही लेखक भी होते थे। उस समय की पत्रिकाओं में साधारण विषयों, सामयिक आन्दोलनों और कभी-कभी स्थानीय समाचारों की भी चर्चा रहती थी। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के साथ जिस साहित्य-रूप का जन्म का साथ हो उसके स्वभाव में पत्रकारिता की विशेषताओं की झलक आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय का वैविध्य, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गाम्भीर्य, गौरव का अभाव आदि आरम्भिक निबन्धों के कुछ ऐसे ही गुण हैं जो पत्रकारिता से अधिक सम्बद्ध हैं। आरम्भिक निबन्धों के स्वरूप-निर्धारण में दूसरा हेतु है तत्कालीन लेखकों का अनेकमुखी सामाजिक व्यक्तित्व। इन लेखकों को अपने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट भी बनाना था, सामाजिक सुधार भी करना था, नाट्य-कला की ओर भी ध्यान देना था, शिक्षा-प्रसार की आवश्यकता भी बतलानी थी और राजनीतिक गतिविधि का निरीक्षण करके जनता को जागरूक भी बनाना था। इन सब कार्यों में लेखक रूप में इनका सबसे अच्छा सहायक निबन्ध ही हो सकता था। सर्वाधिक सहायता निबन्ध से इन्होंने ली भी। खूब निबन्ध लिखे गए और इसीलिए भारतेन्दु युग के साहित्य का सबसे उन्नत अंग शायद निबन्ध ही है।

भारतेन्दु से कुछ पहले का लिखा निबन्ध 'राजा भोज का सपना' प्रसिद्ध है, जिसमें मनुष्य के झूठे अहंकार और कीर्ति-लिप्सा का रोचक ढंग से उद्घाटन किया गया है पर हिन्दी में निबन्धों की परम्परा चलाने वाले भारतेन्दु ही हैं।

निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है इसलिए सामाजिक परिस्थितियों का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबन्धों पर दिखाई देता है वैसा अन्य साहित्य-रूपों पर नहीं। निबन्धकार बाह्य जगत् से प्राप्त अपनी संवेदनाओं को शीघ्र ही, कम-से-कम परिवर्तित रूप में, यथासम्भव अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध-लेखक के लिए कही जा रही है। साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों के माध्यम से अपनी संवेदनाओं को प्रेषित करने के लिए जितने कलात्मक विधि-निषेधों का ध्यान रखना होता है उतने बन्धनों को मानने की जरूरत निबन्ध में नहीं होती। इसका शरीर बहुत लचीला है और लेखक की सुविधानुसार बराबर मुड़ जाता है, इससिए उन्नीसवीं सदी का भारत भारतेन्दु-युग के निबन्धों में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस काल के निबन्धों के विषय जीवन के अनेक क्षेत्रों से लिये गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ तथा गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर लेखकों ने लिखा है। उनमें चिन्तन-मनन की गहराई का अभाव चाहे मिले पर उनकी सामाजिक चेतना व्यापक थी। उनके निबन्धों में जो सजीवता और जिन्दादिली मिलती है वह आगे चलकर दुर्लभ हो गई। समयानुकूल विविध विषयों पर बिना किसी पूर्वग्रह के, स्वच्छन्द होकर वे लोग आत्मीयता के साथ अपना हृदय पाठक के सामने खोल देते थे। वे बिना किसी संकोच के विदेशी शासकों या शोषकों को डाट-फटकार सकते थे तो अपने यहाँ के पण्डित-मुल्ला और पुराने शास्त्रकारों तक को उनकी कठहुज्जती पर बुरा-भला कह सकते थे। उन्होंने एक ओर आतुर या प्रवाह-पतित परिवर्तनवादियों और अंग्रेजी सभ्यता के गुलामों की खबर ली है तो दूसरी ओर नूतनता-भीरु रूढ़िवादियों की भी भर्त्सना की है। हिन्दी के इन आरम्भिक निबन्धों का रूप, प्रवृत्ति के विचार से, जातीय या राष्ट्रीय है। सच है कि उन निबन्धकारों ने जो कुछ लिखा वह उस समय अधिक लोगों तक नहीं पहुँच पाता था। क्योंकि उनकी रचनाओं के प्रकाशन और प्रचार के साधन सीमित थे, पढ़े-लिखे लोगों में अंग्रेजी के सामने हिन्दी का उतना आदर न था पर उनकी दृष्टि बराबर पूरे समाज पर रही और उन्होंने जनसाधारण के लिए लिखा। वे सारी समस्याएँ जिन पर उनकी लेखनी चली है, गिने-चुने लोगों की समस्याएँ नहीं हैं बल्कि जनता की हैं।

इस युग में गद्य-शैली निर्माण के वैयक्तिक प्रयास हुए। भाषा की दृष्टि से तत्कालीन लेखकों में सामूहिक भाव (कारपोरेट सेंस) नहीं पाया जाता—ऐसा होना उस समय सम्भव भी नहीं था। पर प्रान्तीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों से प्राणवान उनकी भाषा जनता की व्यावहारिक भाषा है। गद्य का कोई एक सर्वस्वीकृत रूप न होने से उनकी भाषा शिष्ट 'सार्वजनिक रूप' नहीं पा सकी थी, पर उसे समझ लेने में किसी हिन्दी-भाषा-भाषी को कठिनाई न थी। इसलिए भाषा की दृष्टि से भी उन लेखकों की रचनाओं को एक खास वर्ग या गोष्ठी का साहित्य नहीं कहा जा सकता।

अंग्रेजी में निबन्ध के पर्याय 'ऐसे' का अर्थ है प्रयास। भारतेन्दु युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही हैं। उनमें न बुद्धि-वैभव है न पाण्डित्य-प्रदर्शन और न ग्रन्थ-ज्ञान-ज्ञापन। उन लेखकों की रुचि सभी विषयों में हैं पर किसी भी विषय में वे अन्तिम बात नहीं कहते, बल्कि पाठक के साथ सोचना-विचारना चाहते हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बे-तकल्लुफी है कि पाठक भी उनसे घुल-मिल जाना चाहता है।

प्राथमिक प्रयास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्ध प्राथमिक प्रयास हैं जिनमें सच्चे निबन्ध के आवश्यक गुण वर्तमान हैं। उन्होंने राजनीतिक, समाजिक और अन्य सांस्कृतिक विषयों पर अनेक पक्षों से निबन्ध लिखे हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने धर्म-सम्बन्धी 'बाह्य आग्रहों' और 'श्रद्धाजाड्य' का घोर विरोध किया है। उनके विचार से 'बाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता' और 'एकता की भावना की वृद्धि' द्वारा ही देश और समाज की उन्नति सम्भव है। 'मैंहदावल' हरिद्वार' 'वैद्यनाथ की यात्रा' जैसे निबन्धों में लेखक की निरीक्षण-शक्ति और वर्णन-क्षमता दर्शनीय है। स्थिर और गत्यात्मक-दृश्यों के उन्होंने सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्राकृतिक दृश्यों के ब्योरेवार चित्र उपस्थित करते समय जगह-जगह उनका भावोल्लास देखने ही योग्य है। इन यात्रा-सम्बन्धी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्धों में भारतेन्दु की दृष्टि विभिन्न स्थानों के रीति-रिवाज, सरकारी नौकरों की धाँधली, रेलों की अव्यवस्था, सामाजिक अवनति आदि अनेक बातों की ओर गई है। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आलोचना की सामग्री और व्यंग्य के लक्ष्य उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिल जाते थे अतः उनके सभी प्रकार के निबन्धों में व्यंग्य के छींटे अक्सर मिल जाते हैं। अपने व्यंग्यात्मक निबन्धों के लिए भारतेन्दु ने विलक्षण ढंग अपनाए हैं। कभी स्वप्न-चर्चा करते हैं, कभी स्तोत्र लिखते हैं, कभी नाटकीय दृश्य की भूमिका बाँधते हैं, कभी स्वर्ग में सभा की योजना करते हैं और कभी दूसरे उपाय काम में लाते हैं।

विषय और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इस क्षेत्र में इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग व्यंग्य की प्रभावात्मकता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धान और अतिशयोक्ति के द्वारा खूब चमत्कार आ गया है।

श्रेष्ठतर प्रयास

भारतेन्दु के बाद श्री बालकृष्ण भट्ट और श्री प्रतापनारायण मिश्र के द्वारा निबन्धों का अच्छा विकास हुआ। पं० प्रतापनारायण केवल प्रतिभा के जोर से लेखक बन बैठे थे। संस्कृत कला-रूप और मर्यादा आदि का विशेष ध्यान रखने वाले जीव ये न थे। इनके स्वभाव में जो मस्ती और मनमौजीपन है वह किसी दूसरे गद्य लेखक में नहीं मिलता। विनोद-रसिक प्रताप-नारायण मिश्र की लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है इसीलिए उनकी भाषा में अकृत्रिम प्रवाह और सजीवता भी है और यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी। कहावतें और मुहावरे भी हैं और अनुप्रास तथा श्लेष का चमत्कार भी। अपनी बे-तकल्लुफी के कारण ये पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। यदि निबन्ध की सच्ची परख उसकी बाहरी रूपरेखा से नहीं, उसकी अन्तरात्मा से होती है तो भारतेन्दु की मनमौजी स्वच्छन्द प्रकृति को अपनाकर अपनी व्यंग्य-विनोदमयी शैली में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने जो निबन्ध लिखे हैं उनमें से अनेक का साहित्य की दृष्टि से ऊँचा स्थान है। उनके अधिक निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ हैं। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा नियन्त्रित नहीं करता बल्कि उनकी विचार-धारा विषय पर नियन्त्रण रखती है। विषय जो जी में आया ले लिया फिर उसके माध्यम से रोचक ढंग से अपनी बातें कह दीं। 'दाँत' और 'भौं' ऐसे विषयों पर निबन्ध लिखते हुए देश-सेवा, समाज की उन्नति, विलायत-यात्रा, स्वधर्म और स्वभाषा-प्रेम आदि अनेक विषयों की चर्चा करते चलते थे। 'ट' को शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुआ देखना और 'टी' का अधिक प्रयोग करने वाले अँगरेजों की खबर लेना पं० प्रतापनारायण की ही सूझ थी।

'ब्राह्मण' के शब्दों में 'हिन्दी-प्रदीप' उसका 'श्रेष्ठ सहयोगी' है। सचमुच पं० बालकृष्ण भट्ट पं० प्रतापनारायण मिश्र के श्रेष्ठ सहयोगी हैं। मार्च सन् १९०० के 'प्रदीप' में भट्टजी ने नव-प्रकाशित 'सरस्वती' की गम्भीरता या नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या।' पर स्वयं इनके लेखों में विनोदमयता, गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढंग से कहने की शैली-मात्र है। भट्ट जी विद्वान् थे, पं० प्रतापनारायण की तरह 'आप' की व्युत्पत्ति 'आप्त' से नहीं निकाल सकते, ग्रामीणता भी नहीं दिखा सकते, पर पाठक से आत्मीय ढंग से बात जरूर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करना चाहते हैं। भारतेन्दु की विचारात्मक या व्याख्यात्मक शैली को उन्होंने विकसित किया। कहीं-कहीं उनके निबन्धों में सुन्दर भावात्मक शैली भी मिलती है।

भट्ट जी एक प्रगतिशील विचारक हैं—अपने ही समय के हिसाब से नहीं, आजकल के हिसाब से भी। प्राचीन शास्त्रों में उनकी अन्धश्रद्धा कभी नहीं रही। समय के अनुसार वे स्वयं विचार करते हैं और प्रत्येक स्थिति में ग्रन्थ-प्रामाण्य को ही नहीं स्वीकार करते। 'स्त्रियाँ' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों को समाज में नीचा स्थान देने के लिए उन्होंने मनु को बुरा-भला कहा है। पश्चिमी सभ्यता की आँधी में देश के नवयुवक बह न जाँय इसके लिए 'परम्परा'-निर्वाह का समर्थन करते हैं पर 'संसार कभी एक-सा न रहा' में बतलाते हैं कि हमारे समाज की अवनति का मूल कारण हमारी परिवर्तन-विमुखता है। उनके विचार से 'निरे राम-राम जपने वाले भोंदू दास' हैं। जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव उन्हें बहुत खटकता था और कई निबन्धों में इसकी चर्चा उन्होंने की है। भेद-बुद्धि, स्वार्थपरता, शुष्क परमार्थ-चिन्तन, मिथ्याचरण, आडम्बर और बाहरी ढकोसलों से भट्ट जी को बहुत चिढ़ थी। उस जमाने में संतति-नियमन को वे जरूरी समझते थे। समाज की उन छोटी-से-छोटी प्रवृत्तियों पर उनकी दृष्टि रहती थी जिनका लगाव उनकी समझ से देश की उन्नति-अवनति से था। नामकरण के विषय में एक लेख लिखकर उन्होंने 'दीन', 'दास'-जैसे शब्दों वाले नामों पर बड़ा रोष प्रकट किया है, क्योंकि इनमें दीनता और गुलामी की भावना लिपटी है।

भट्ट जी ने बहुत से शुद्ध विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं, अधिकांश विनोदपूर्ण रचनाओं में भी उनकी प्रकृत गम्भीरता स्पष्ट झलकती है पर इनके कई निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें करीब-करीब पं० प्रतापनारायण मिश्र की-सी स्वच्छन्दता है लेकिन ग्रामीणता नहीं। 'हिन्दी-प्रदीप' में इनके निबन्धों या लेखों के कुछ ऐसे शीर्षक भी मिलते हैं—'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' 'माँगत्रो भलो न बाप से जो विधि राखै टेक' 'जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या। बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।' इनके निबन्ध साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। शैली के भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि कई रूप मिलते हैं। निबन्धों के रूप-विन्यास की दृष्टि से भी जैसी अनेकरूपता भट्ट जी के निबन्धों में मिलती है वैसी हिन्दी के किसी नये-पुराने निबन्धकार की रचनाओं में नहीं पाई जाती। 'बातचीत', 'खटका', 'जबान', 'ल' आदि निबन्धों में लेखक का मनोरंजक व्यक्तित्व अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। भट्ट जी के विचारात्मक निबन्ध तर्कपुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं। कहीं-कहीं तो ये निबन्धों का, बिना किसी भूमिका के, ऐसी गम्भीरता के साथ आरम्भ करते हैं कि आचार्य शुक्ल का स्मरण हो आता है। 'कौतुक' का आरम्भ देखिए—'जिस बात को देख या सुन चित्त चमत्कृत हो सब ओर से खिंच सहसा उस देखी या सुनी बात की ओर झुक पड़े वह कौतुक है।' पर इस शैली का न तो आद्यंत निर्वाह हो पाता है और न अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा का क्रमबद्ध उद्घाटन ही मिलता है। यह कार्य शुक्ल जी द्वारा आगे चलकर पूरा होने वाला था।

उर्दू के क्षेत्र से आए श्री बालमुकुन्द गुप्त ने गम्भीर गद्य को माँजकर प्रांजल बनाया और व्यंग्य को शालीनता सिखाकर उसे अधिक सांकेतिक और व्यंजक बनाया। श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने लिखा है कि 'प्रेमघन' जी 'हिन्दी बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल बतलाते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था। गद्य-शैली की परम्परा के प्रवर्तन में गुप्त जी की सहायता का महत्त्व आँकना हम प्रायः भूल जाते हैं। किसी भी गद्य-शैली का सर्व-स्वीकृत रूप तब सामने आता है जब भाषा की गठन और शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना होती है, व्याकरण पर विचार होता है। इस कार्य का आरम्भ करने में गुप्त जी ने गम्भीर अनुभव और योग्यता के साथ योग दिया। और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अभूतपूर्व क्षमता के साथ उसे पूरा किया।

गुप्त जी की युगानुकूल सजगता राजनीतिक विचार के क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है। अतीत गौरव की भावना, जो तत्कालीन लेखकों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, इनमें भी पाई जाती है। भारतीयों के कुचले हुए सम्मान को जिलाए रखने और उनमें नया उत्साह भरने के लिए यह आवश्यक भी था। उन्होंने कई जीवन-चरित, तथा हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में लेख लिखे हैं पर निबन्ध-लेखक के रूप में उनकी प्रसिद्धि का आधार मुख्यतः उनकी व्यंग्यात्मक गद्य-रचनाएँ 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण या व्यंग्यात्मक ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुःख अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से संयत रूप में व्यक्त करना उनकी अपनी विशेषता है। 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' द्वारा संबोधित करके लिखे जाने के कारण इन रचनाओं में एक तरह की नाटकीयता आ गई है और कहीं-कहीं भाषण शैली का-सा ओज और प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु युग के लेखकों में से श्री ज्वालाप्रसाद, श्री तोताराम और श्री राधाचरण गोस्वामी ने भी छिटफुट निबन्ध लिखे। पं० अम्बिकादत्त व्यास के साधारण लेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है। 'कलम की कारीगरी' दिखाने वाले पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने निबन्ध नहीं टिप्पणियाँ और साधारण लेख लिखे हैं। 'आनन्द-कादंबिनी' में प्रकाशित 'मसहरी' 'हमारी दिनचर्या' 'फाल्गुन' आदि कुछ रोचक निबन्ध प्रेमघनजी के नहीं उनके अनुज उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्मा के लिखे हुए हैं जो उस पत्रिका में बराबर लिखते थे।

× × × ×

बीसवीं सदी के आरम्भ तक अँग्रेजी राज पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ गई। हिन्दी के लेखक 'सामाजिक मनुष्य' की ओर विशेष ध्यान देने लगे। ऐसे व्यक्ति की ओर उनकी दृष्टि गई जो सामाजिक गुणों से युक्त हो। इसलिए हिन्दी-निबन्धों के विकास के दूसरे युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गए।

निबन्धों में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक, दैनिक और मासिक पत्रों के बीच की दूरी बढ़ती गई। जिन मासिकों में निबन्ध छपते थे उन्होंने अपनी मुद्रा गम्भीर कर ली। निबन्धकार धीरे-धीरे शिक्षित और 'शिष्ट' समाज के अधिक समीप आता गया। उसकी प्रकृति में एक तरह का अभिजात्य आ गया। द्विवेदीजी ने निबन्ध-लेखकों को संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक बात कहने का ढंग सिखाया—विशेषतः राजनीतिक जबकि राजनीति क्रमशः उग्र रूप धारण करती जा रही थी। राजनीतिक चर्चा करने और तत्सम्बन्धी जोशीला साहित्य छापने का काम अधिकतर साप्ताहिकों को मिल गया।

निबन्ध प्रायः गम्भीर विषयों पर लिखा जाने लगा। रूप-रंग भी उसका गम्भीर हो गया। भारतेन्दु युग का-सा उसका सार्वजनिक रूप नहीं रहा। वह अधिकतर शिष्ट-समाज की वस्तु होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया। उसमें समूचे समाज की मनोवृत्ति या भावना का प्रतिबिम्ब कम होता गया, वह पढ़े-लिखे समाज के अधिक निकट आने लगा। आगे छायावाद-काल में आकर तो अनेक ऐसे निबन्ध सामने आए जिनमें व्यक्ति की भावनाएँ अधिक स्पष्ट और मोहक रंगों में चमकने लगीं। भावात्मक निबन्ध ऐसे ही हैं। कुछ व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध भी बहुत-कुछ ऐसे ही हैं।

भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नए रूप में इस समय उपस्थित हुआ। भाषा में एकरूपता लाने और उसे समृद्ध बनाने में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लगे हुए थे। भाषा के साथ ही विचारों को शालीन बनाने का काम अपने-आप होता गया। निबन्ध बौद्धिक अधिक हो गए, उनकी हार्दिकता कम हो गई। द्विवेदीजी के द्वारा या उनके प्रभाव में लिखे गए निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन हो गए। विषय-वैभिन्य के कारण भाषा समृद्ध हुई, इसमें सन्देह नहीं लेकिन निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन-मात्र नहीं हैं। इस युग के लेखकों ने अपनी इसी प्रकृति के कारण दूसरी भाषा के निबन्धकारों की ओर देखा भी तो अंग्रेजी के बेकन और मराठी के चिपलूणकर के निबन्धों की ओर दृष्टि गई और उनके अनुवाद भी प्रस्तुत हुए पर बेकन के निबन्धों में विचार-सम्बन्धी जो गम्भीर वैयक्तिक प्रयास है उसे ये लोग नहीं अपना पाए। द्विवेदी युग में साहित्य से अधिक नैतिक आदर्शों का ध्यान रखा जाने लगा।

ज्ञान-राशि का संचित कोश और 'बातों के संग्रह'

द्विवेदीजी ने लिखा है कि साहित्य ज्ञानराशि-का संचित कोश है। उनके 'साहित्य की महत्ता' 'कवि और कविता' 'कवि-कर्त्तव्य' 'प्रतिभा' 'नाटक' 'उपन्यास'-जैसे निबन्ध ज्ञान के संचित भांडार ही हैं। उनके अधिक लेख या टिप्पणियाँ सरल और सुबोध शैली में पाठकों को विविध विषयों की जानकारी कराने के उद्देश्य से लिखी हुई रचनाएँ हैं।

द्विवेदी जी ने थोड़े से ऐसे निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छन्द मनोदशा और थोड़ी आत्मीयता के दर्शन होते हैं। 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्तर दूत-कार्य', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' आदि कुछ निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान ही है पर उसे अपना बनाकर आत्मीय ढंग से प्रकट करने और अक्सर एक रमणीय वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है।

बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु और श्री गुलाबराय आदि निबन्धकार भी इसी श्रेणी में आते हैं, यद्यपि इनका स्वतन्त्र विकास हुआ। द्विवेदी जी ने, पेशे से अध्यापक न होते हुए भी अपने अधिक निबन्धों या लेखों द्वारा शिक्षक का कार्य किया तो बाबू साहब ने अध्यापक पद से, एक विद्वान् शिक्षक की भाँति व्यवस्थित ढङ्ग से विशेषतः साहित्यिक विषयों, जैसे 'समाज और साहित्य' 'कला का विवेचन' आदि, पर कुछ निबन्ध लिखे। इन लेखों में एक अध्यापक का 'पाण्डित्यपूर्ण ओज' है, अर्जित ज्ञान का गांभीर्य है, पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से कोई रचना उच्च कोटि का निबन्ध कहलाती है।

मिश्रबन्धुओं के निबन्ध संख्या में काफी हैं पर उनका महत्त्व भी शिक्षा-मूलक ही है। श्री गुलाबराय के 'समाज और कर्त्तव्य-पालन'-जैसे निबन्ध एक तर्कशास्त्री के लिखे प्रबन्ध हैं, जिस में प्रस्तुत विषय का अच्छे ढंग से सांगोपांग विवेचन है। इनके 'फिर निराश क्यों ?' में संकलित रचनाएँ बल्कि निबन्ध के अधिक निकट हैं। आलोचनात्मक निबन्ध भी इन्होंने प्रचुर परिमाण में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिखे हैं पर विनोदमयी शैली में संस्मरणात्मक ढंग से लिखे गए इनके निबन्ध, निबन्ध की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका विचार आगे होगा। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का भी इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक है। साहित्यिक विषयों पर बख्शी जी ने कई निबन्ध लिखे हैं जो इस श्रेणी में आते हैं पर निबन्ध के अधिक अच्छे गुण उनकी बाद की रचनाओं में प्रस्फुट हुए। इनका विचार भी आगे किया जायगा।

× × ×

इसी समय पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी कुछ अच्छे निबन्ध लिखे हैं जो इनकी फड़कती शैली के कारण अधिक आकर्षक हो गए हैं। इनकी लिखी कुछ जीवनियाँ और संस्मरणात्मक निबन्ध अवश्य मार्मिक बन पड़े हैं। इनमें इनकी भावुकता देखने ही योग्य है। इसके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री ब्रजमोहन वर्मा, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि ने भी इस प्रकार के कुछ अच्छे संस्मरणात्मक या चरितात्मक निबन्ध लिखे हैं। वर्मा जी में संस्मरणात्मक निबन्ध लिखने की मार्मिक प्रतिभा थी।

इस युग के तीन विशिष्ट निबन्धकार

भारतेन्दु युग के या उसकी प्रवृत्तियों को अपनाकर आगे बढ़ने वाले निबन्धकारों के बाद द्विवेदी-युग में साहित्यिक दृष्टि से तीन उच्च कोटि के निबन्धकार सामने आए जो अधिक निबन्ध नहीं लिख पाए पर जिनमें निबन्धकार की वास्तविक प्रतिभा थी। इसके नाम हैं श्री माधवप्रसाद मिश्र, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। पं० माधवप्रसाद का स्वर्गवास सन् १९०७ में, उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री बालमुकुन्द गुप्त का, पर प्रवृत्ति के विचार से गुप्तजी का उल्लेख भारतेन्दु युग के लेखकों के साथ किया गया है। मिश्रजी का मानसिक अवस्थान परवर्ती लेखकों से अधिक मिलता-जुलता था। त्योहारों, तीर्थ-स्थानों आदि पर लिखे इनके निबन्धों में इनका देश-प्रेम, इनकी विद्वत्ता और भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के प्रति इनकी निष्ठा भली-भाँति लक्षित होती है। इनके 'सब मिट्टी हो गया'-जैसे निबन्ध में एक अत्यन्त मार्मिक निबन्धकार के दर्शन होते हैं। इसमें बच्चे के मुँह से निकला एक छोटा-सा वाक्य लेखक की अनुभूति का द्वार खोलकर उसके सरस देश-प्रेम आदि का मनोरम उद्घाटन करता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ऐसे निबन्धकार हैं जो विचार और शैली की दृष्टि से द्विवेदी युग के शायद सबसे अधिक प्रगतिशील और प्रवृत्ति के विचार से भारतेन्दुयुगीन निर्बन्ध निबन्ध को एक नई ज्ञान-प्रदीप्त दिशा की ओर विनोद-वक्र-गति से ले चलने वाले लेखक हैं। इनके हाथों में पड़कर व्यंग्य भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और द्विवेदी युग के अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान और भास्वर हुआ। उनके 'कछुआ धरम' नामक निबन्ध में हिन्दुओं की पलायन-प्रियता, प्रतिरोध की शक्ति के अभाव और अंधी रूढ़िवादिता पर जो जोरदार व्यंग्य किया गया है वह उस समय के 'शिष्ट समाज' के किसी अन्य लेखकों के बूते की बात न थी। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं की थी। 'मारेसि मोहिं कुठाँव' और 'संगीत'-जैसे निबन्धों में उनकी शैली का चमत्कार और विचारों की प्रगतिशीलता अच्छी तरह दिखाई देती है।

निर्बंध निबन्धों की परम्परा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार प्रकृति और परम भावुक लेखक सरदार पूर्णसिंह ने किया। श्रम,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रमिक, सरल जीवन, आत्मिक उन्नति आदि के विषय में इनके निबन्ध एक नई चेतना प्रदान करते हैं। इन्होंने विविध सम्प्रदायों के बाहरी विधि-विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पंदन, एक सार्वभौम मानव-धर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की। सभ्य आचरण और प्रेम तथा आत्मिक दृढ़ता के द्वारा ही ये समाज का कल्याण देखते थे। कहीं इन्होंने आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया है तो कहीं सांसारिक कर्त्तव्य का पालन करने पर जोर दिया है। 'श्रम' का जैसा महत्त्व इन्होंने प्रतिपादित किया है वैसा द्विवेदी युग के गद्य और काव्य दोनों क्षेत्रों में दुर्लभ है। यह एक नई भावना थी जिससे उन्होंने हिन्दी के पाठकों को स्पंदित करने की चेष्टा की। इनकी भाषा में भी एक नये ढंग की लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है। भावों को मूर्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने में इन्हें अद्‌भुत क्षमता प्राप्त थी। इनके निबन्ध पहले से चली आती भावात्मक शैली के भीतर नहीं आते, इन्हें प्रभावाभिव्यंजक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषण-शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से ये बराबर एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

"अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा"

द्विवेदी युग में विषय के वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ लेखक और निबन्धकार साहित्य के क्षेत्र में आए। साहित्य को अपना विशेष-क्षेत्र चुनने वाले तो बहुत हुए पर उनके लेखों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के असंगृहीत आरम्भिक निबन्ध भी ऐसे ही हैं। पर बाद के निबन्धों में उनके 'अन्तः प्रयास से निकली विचार-धारा' है जो पाठकों को एक नवीन उपलब्धि के रूप में दिखाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने लोक-मंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से की। साहित्य ही पर नहीं, उसमें निहित विचारों और उन विचारों की प्रेरक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी अपने ढंग से विचार किया। नैतिकता को शुक्ल जी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खण्डन करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्त्व दिखलाया। यह कार्य स्वतन्त्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही सम्भव हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव-जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को दिखाया। इनके निबन्धों का सबसे अधिक महत्त्व इसी बात में है। श्री प्रतापनारायण मिश्र, भट्ट जी और द्विवेदीजी सबने नैतिक उपदेश देने वाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे—अन्तिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नूतन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदी जी ने लिखा अवश्य पर इसलिए लिखा कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जायँ और इनसे बचें। वही इन्द्रिय-निग्रह वाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता। पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।' क्रोध से बराबर बचने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।' उन्होंने लोभ की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखाई है। लोभ से बराबर बचने वाला तो जड़ हो जायगा। जन्मभूमि-प्रेम के मूल में लोभ ही है। इस तरह की बातें कहकर शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुन्दर सांमजस्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके मनोविकार-सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना वाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की असली विशेषता यही है जो व्यक्ति-प्रधान नहीं विषय-प्रधान निबन्ध की विशेषता है।

उनके निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीति', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति'-जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता-प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यंग्य-विनोद के छींटे और कहीं-कहीं विषयान्तर भी उनके निबन्धों में मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में वे कभी भूलते नहीं। उनकी विचार-धारा बराबर प्रतिपाद्य विषय से नियन्त्रित होती है।

द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसे बहुत ऊँचे उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूरी सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।

शुक्लजी की ही परम्परा में कतिपय उन निबन्ध-लेखकों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो विचार और शैली की दृष्टि से उनसे नहीं मिलते, पर जीवन के बारे में जो-कुछ कहना है साहित्य के माध्यम से कहते हैं और साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते हैं। अन्तःप्रयास से निकली उनकी विचार-धाराएँ अनेक दिशाओं की ओर जाती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री शिवदानसिंह चौहान आदि ऐसे ही लेखक हैं।

प्रसिद्ध भावुक आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रकृति आलोचक से अधिक निबन्धकार की प्रकृति है। जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता निबन्धकार के लिए अपेक्षित है वह द्विवेदीजी में मौजूद है। उनके साहित्यिक निबन्धों में साहित्य का प्रभाव ग्रहण करने के लिए तत्पर एक भावुक और संस्कृत-हृदय की झलक मिलती है। अन्तः प्रयास से नहीं, अन्तःप्रेरणा से निकली गांधीवादी मानवतावादी विचार-धारा की रेखा उनके निबन्धों में अक्सर मिलती है।

साहित्यिक या आलोचनात्मक निबन्धों की चर्चा करते हुए छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवियों, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को नहीं भूला जा सकता। निराला के निबन्धों में स्वच्छन्द मनःस्थिति और मौलिक विचार-धारा तथा विद्रोह का स्वर बराबर सुनाई पड़ता है। प्रसाद ने भी आलोचना-विषयक गम्भीर लेख या निबन्ध लिखे हैं। बाकी दो कवियों के महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख या निबन्ध भूमिकाओं के रूप में हैं। महादेवी जी की 'शृङ्खला की कड़ियाँ' के नारी-जीवन-सम्बन्धी मार्मिक और विचारोत्तेजक सामाजिक निबन्ध अपना अलग मूल्य रखते हैं।

भावात्मक और अन्य निबन्ध

निबन्धों की भावात्मक शैली, जो भारतेन्दु के 'सूर्योदय' और भट्टजी के 'चन्द्रोदय' में अलंकार-सज्जित थी, धीरे-धीरे रागात्मक स्पन्दन से युक्त होती गई। छायावाद-काल में लघुकाय होकर वह रायकृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में प्रतीक, व्यंजना और भावोच्छ्वास से रंजित हो गई और उसने भाषा-शैली-सम्बन्धी नवीन विशेषता ग्रहण की। पं० माखनलाल चतुर्वेदी की भावात्मक गद्य रचनाओं में वियोगी हरि से भी अधिक विषय-वैविध्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिखाई देता है। आध्यात्मिक प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की इन्होंने अनेकविध व्यंजना की है। पर डॉ० रघुवीरसिंह के निबन्धों में छायावादी अस्पष्टता कहीं नहीं मिलती। 'बिखरे फूल' में इनके आरम्भिक गद्य-गीतों का संग्रह है लेकिन इनकी प्रसिद्धि का आधार 'शेष स्मृतियाँ' है, जिसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त का आधार लेकर मुगल राजवंश के उत्कर्ष, पतन और कोमल मानवीय सम्बन्धों की मार्मिक व्यंजना हुई है। ये निबन्ध अत्यन्त कला-समृद्ध हैं, यही उनका गुण है और दोष भी।

यहीं वर्णनात्मक निबन्धों का अलग से उल्लेख हो जाना चाहिए। कुछ लेखकों ने प्राकृत दृश्यों के सुन्दर वर्णन किये हैं और कुछ ने यात्रा-संबन्धी लेखों में विभिन्न स्थानों के चित्र और यात्रा-विवरण दिये हैं। इस प्रकार के वर्तमान लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रसिद्ध हैं। श्री श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी लेख भी हिन्दी में अपने ढंग के अकेले हैं।

नई शैलियाँ—एक

भारतेन्दु युग के बाद विषय-प्रधान विचारात्मक निबन्धों की धारा जितनी पुष्ट हुई उतनी रचना-विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नये ढंग से कम या अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबन्धों की नहीं। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। उस युग में भी गुलेरीजी और पूर्णसिंह-जैसे लेखक हुए जिनमें वह मानसिक स्वच्छन्दता मिलती है जो निर्बन्ध निबन्ध के लिए आवश्यक है, पर ये लोग भी इस नये मार्ग पर अधिक आगे न बढ़ पाए। शुक्लजी की 'विचार-वीथी' के प्रकाशन के चार ही वर्ष बाद सन् १९३४ में श्री लक्ष्मीकांत झा का 'मैंने कहा' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें अंग्रेजी के निबन्धकारों से प्रभावित 'एक नई ही शैली' के प्रयोग की चेष्टा की गई थी। ढूँढने पर इस तरह के और भी छिट-फुट प्रयोग उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में मिल जाते हैं पर यह अनुकरण जहाँ-का-तहाँ रह गया और हिन्दी-निबन्ध नये-नये मार्ग अपनाकर धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। शैली के फेर में न पड़कर और अपने यहाँ के विद्वानों की गुरु-गम्भीर कथन-शैली छोड़कर जिनको सचमुच कुछ महत्त्वपूर्ण कहना रहा उन्होंने कहा ही। मनोरञ्जन इनका साधन रहा साध्य कभी नहीं। ये लेखक अंग्रेजी के व्यक्ति-प्रधान निबन्धकारों से प्रभावित अवश्य हैं पर इन्होंने उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं किया, अधिकतर केवल उनकी स्वच्छन्द प्रकृति अपनाकर अपने लिए नया मार्ग निकाला। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री सियारामशरण गुप्त और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही लेखक हैं।

साहित्यिक आलोचना-विषयक निबन्ध बख्शीजी बहुत पहले से लिखते आ रहे थे, जिसे 'ज्ञान की संचित राशि' ही कहना अधिक ठीक होगा। निबन्धकार के रूप में उनकी अपनी प्रतिभा के दर्शन 'कुछ' तथा 'और कुछ' में संग्रहीत निबन्धों में मिलते हैं। यद्यपि 'क्या लिखूँ' निबन्ध में लेखक ने गार्डिनर का उल्लेख किया है पर रचना-विन्यास की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विचित्र प्रबन्ध' का भी प्रभाव उन पर लक्षित होता है जिसका उन्होंने अपने ढंग से सुन्दर विकास किया है। बख्शीजी ने जीवन, समाज, धर्म, साहित्य आदि पर बड़े रोचक ढंग से कहानी की रञ्जकता, नाटकीयता और चरित्र-चित्रण विधि अपनाकर निबन्ध लिखे हैं। विचार की दृष्टि से ये द्विवेदी-युग के उदार दल के प्रतिनिधि लेखक हैं जिनकी पूरी सहानुभूति छायावादियों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के साथ है तो प्रगतिवादियों के साथ उससे बहुत कम नहीं। मनुष्य की महत्ता में इनका विश्वास है, कोरे यथार्थवाद को साहित्य के उपयुक्त नहीं मानते, जीवन में वैषम्य की अनिवार्यता बराबर देखते हैं और कथा-साहित्य में घटना-वैचित्र्य और प्रच्छन्न आदर्श की निहिति आवश्यक समझते हैं। शिष्ट विनोद और सुखद आत्मीयता के साथ गम्भीर बातें कर जाना इनकी एक विशेषता है।

कवि सियारामशरण जी ने निबन्ध के क्षेत्र में सुन्दर प्रतिभा का परिचय दिया है। गांधीवाद की सारी सहजता, आस्तिकता और करुणा उनकी रचनाओं में प्रतिफलित हुई है तो कवि-सुलभ भावुकता और तत्त्वचिंतन की स्वतन्त्र वृत्ति भी दिखाई देती है। उन्होंने 'सामान्य' और 'विशेष' विषयों पर स्वतन्त्र रूप में अपने मनोरम ढंग से लिखा है। कहीं वे अपनी 'अपूर्णता' के महत्त्व से प्रभावित होते, तो कहीं 'धन्यवाद' के माध्यम से आधुनिक कृत्रिम शिष्टाचार पर व्यंग्य करते हैं और कहीं स्त्रियों का 'घूँघट' उन्हें बतलाता है कि हर आदमी एक तरह से नकाब-पोश ही है! संस्मरण, यात्रा-विवरण, साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं पर विनोदपूर्ण, सरस और आत्मीय ढंग से लिखे इनके निबन्ध मनोरंजक भी हैं और मार्मिक भी।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी विद्वत्तापूर्ण अनुसंधानात्मक लेख लिख सकते हैं, कबीर और नाथ पन्थ के साहित्य के मूल सांस्कृतिक स्रोत का पता लगाकर उनका गम्भीर साहित्यिक मूल्यांकन कर सकते हैं लेकिन अनौपचारिक ढंग से जब पाठक से बात करने बैठेंगे तो चर्चा का विषय होगा 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गए', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'अशोक या शिरीष के फूल'। सरलता, सरसता और विद्वत्ता का विरल संयोग निबन्धकार द्विवेदी में मिलता है। गुलेरी जी के पांडित्य की तीक्ष्णता और विराजमानता को इन्होंने सरस और कान्त बनाया है। सरलता के साथ व्यंग्य और विनोद की परिष्कृत भावना द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग है। विकसित ऐतिहासिक चेतना के कारण इनके दृष्टिकोण में व्यापकता और उदारता आ गई है। द्विवेदीजी ने साहित्य, समाज, संस्कृति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर लिखा है पर निर्बंध निबन्धों में उनकी रचनात्मक प्रतिभा दिखाई देती है। रवीन्द्रनाथ के विकासशील मानवतावाद की इन पर गहरी छाप है। अतीत की ओर दृष्टि फेरते ही निबन्धकार द्विवेदी जैसे रस-विह्वल हो उठते हैं—'अशोक के फूल' इन्हें प्राचीन मोहक मदनोत्सव का स्मरण दिलाते हैं पर साथ ही वे यह नहीं भूलते कि 'अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो···परन्तु है वह उस विशाल सामन्ती सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी···और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी।'

श्री जैनेन्द्रकुमार ने बहुत से निर्बंध निबन्ध लिखे हैं पर उनमें से उच्च कोटि के निबन्ध वे ही हैं जिनमें लेखक गम्भीर दार्शनिक की मुद्रा त्यागकर अपने सरल स्वाभाविक रूप में पाठक के सामने आता है। 'आप क्या करते हैं', 'रामकथा', 'कहानी नहीं', 'बाजार-दर्शन' ऐसे ही निबन्ध हैं। अक्सर प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में गम्भीर समस्याओं या तथ्यों का, व्यंजना के माध्यम से, उद्घाटन इनकी ऐसी रचनाओं की विशेषता है। इनका व्यंग्य-विधान कहीं शब्द-प्रयोग पर अवलम्बित रहता है और कहीं पूरे वाक्य की ध्वनि पर। इनकी बिन सँवारी भाषा तथा बातचीत वाली शैली के वाक्य-विन्यास आत्मीयता और बे-तकल्लुफी का वातावरण तैयार करने में सहायक होते हैं।

इस प्रसंग में सर्वश्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आनन्द कौसल्यायन और नरहरि विष्णु गाडगिल का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में कुछ सुन्दर और सफल प्रयोग किये हैं।

दो निबन्धकार इस श्रेणी में ऐसे हैं जिन्होंने अपने ढंग के अकेले संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे हैं। श्री गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' ऐसी ही रचना है। व्यक्तिगत संस्मरणों के आधार पर एक अनुभव-समृद्ध साहित्य के व्यंग्यविनोदमयी शैली में लिखे गए ये निबन्ध अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से मिलकर एक क्रम-बद्ध आत्मचरित का रूप धारण कर लेते हैं।

दूसरी लेखिका है श्रीमती महादेवी वर्मा जिन्होंने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के उपेक्षित और अभाव तथा अत्याचार से जर्जर व्यक्तियों के अत्यन्त मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं। समाज के महत्त्वहीन समझे जाने वाले व्यक्तियों के जीवन की महत्ता, उनका दुःख-दर्द, नारी के साधनामय करुण जीवन आदि का इन रचनाओं में अनूठा चित्रण हुआ है। शैली की दृष्टि से महादेवी जी का गद्य छायावादी कविता के गुणों से अलंकृत है। विनोदपूर्ण बातें कहते हुए कहीं चुटीले सामाजिक व्यंग्य करना और कहीं करुणा की भावना से अभिभूत कर लेना महादेवीजी की एक विशेषता है। इन रचनाओं में कहानी की साकांक्षता, काव्य की भाव-मयता और चित्र-कला का चित्रण-कौशल है। लेखिका का सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व और अत्याचारी पुरुष समाज के प्रति उसकी विद्रोह-भावना नाना रंगों में प्रकट हुई है।

जिस तरह छोटे गद्य-गीतों को आलोचकों ने निबन्ध की श्रेणी में रख दिया है उसी प्रकार रेखा-चित्रों (स्केचों) को भी। रेखा-चित्र लिखने वालों में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रसिद्ध हैं। प्रकाशचन्द्र जी के चित्र यथार्थवादी अधिक हैं तो बेनीपुरी के चित्र यथार्थ का ऐसा रूप सामने लाते हैं जो भावनारंजित भी होता है।

नई शैलियाँ—दो

जैसा कि आरम्भ में ही दिखाया जा चुका है, भारतेन्दु युग में व्यंग्य-प्रधान निबन्ध काफी संख्या में लिखे गए। इन निबन्धों की परम्परा बराबर विकसित होती रही। कई लेखक बीच-बीच में व्यंग्य-विनोद का पुट देकर सजीवता लाते रहे तो कुछ के पूरे निबन्ध की शैली ही व्यंगात्मक होती थी। गुलेरीजी की चर्चा हो चुकी है छायावाद-काल में निराला के निबन्धों में अन्यों की अपेक्षा अधिक पैना व्यंग्य मिलता है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने 'विजयानन्द दुबे' और 'दिव्यचक्षु' के नाम से सामयिक विषयों पर चुभते व्यंग्य लिखे हैं। सम्वादों के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंग्य की व्यंजना करना इनकी अपनी विशेषता है। 'मतवाला'-मण्डल के श्री शिवपूजन-सहाय के हल्की-फुल्की शैली में लिखे सुन्दर निबन्धों में व्यंग्य से अधिक हास्य और विनोद है। बेढब बनारसी के भी कुछ राजनीतिक व्यंग्य अच्छे बन पड़े हैं।

सभी प्रकार के व्यंग्यों में मूल वृत्ति आलोचना की ही रहती है। पर नई पीढ़ी के नवयुवक लेखकों में सामाजिक क्रान्ति की भावना बलवत्तर रूप में प्रकट हुई। शैली और प्रवृत्ति दोनों के विचार से। इन लेखकों के विचार से जमाना ऐसा आ गया है कि हिन्दी के पूर्ववर्ती लेखकों या रोमांटिक युग के अंग्रेज निबन्धकारों की तरह सहृदयता, करुणा और महत्त्व दिखाने का अवसर अब नहीं है बल्कि जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों पर जोरदार प्रहार करने की जरूरत है। वह बात क्या जो तीखी न हो और वह तीखापन क्या जो तिलमिला न दे। फलतः व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की व्यंग्यात्मकता वक्रोक्ति और कटूक्ति से सजकर इन निबन्धों में सामने आई।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने 'विप्लव' में श्री यशपाल ने निर्बंध निबन्ध-लेखक के मूड में सुन्दर व्यंग्य-लेख लिखे थे।

पर यहाँ मैं व्यंग्य का विचार शैली की दृष्टि से नहीं प्रवृत्ति की दृष्टि से कर रहा हूँ। पूरे निबन्ध के मूल में नई सामाजिक चेतना और उससे उत्पन्न आलोचना-वृत्ति प्रखर व्यंग्य का रूप धारण करके इन निबन्धों में आती है। ये लेखक लैंब और लूकस की अपेक्षा, प्रवृत्ति के विचार से, चेस्ट रटन, वल्कि स्विफ्ट के भी अधिक समीप हैं।

श्री प्रभाकर माचवे और श्री नामवरसिंह का इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों ने संख्या में काफी व्यक्तिनिष्ट निर्बन्ध निबन्ध लिखे हैं पर संग्रह एक-एक ही प्रकाशित हुए हैं। संग्रहों के नाम क्रमशः 'खरगोश के सींग' और 'वकलमखुद' हैं। इन दोनों लेखकों ने शैली-सम्बन्धी भी नये-नये प्रयोग किये हैं। माचवे बहुत पहले से इस तरह के निबन्ध लिखते आ रहे हैं।

भविष्य की संभावनाएँ

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अपने थोड़े जीवन-काल में किस प्रकार विविध रूप-रंगों में विकसित होता आया है, इसका परिचय प्रस्तुत सर्वेक्षण से मिल गया होगा। आगे साहित्य में विषय-वैविध्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा, 'विशेषज्ञ' लेखक भी बढ़ते जायँगे और विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक निबन्ध भी अलग-अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासा-पूर्ति के साधन बनते जायँगे। यह प्रवृत्ति यदि एक ओर निबन्धों को गम्भीर और गूढ़ बनाकर उनका पाठक-समाज सीमित करती जायगी तो दूसरी ओर सामान्य पाठकों के थके मस्तिष्क को स्फूर्ति प्रदान करने वाले निर्बन्ध निबन्धों के प्रणयन और पठन में प्रेरक रूप भी होगी। दोनों प्रकार के—विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ, जिन्हें परिबन्ध निबन्ध और निर्बन्ध निबन्ध कह सकते हैं—निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव करने वाले पाठक और उन्हें लिखने वाले लेखक बढ़ते जायँगे पर इस समय निर्बन्ध निबन्धों का भविष्य विशेष आशाजनक प्रतीत हो रहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी आलोचना

सामान्य रूप में यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की धाराएँ समानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है, और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्यिक निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं, और दूसरी ओर, समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में धारावाहिक समानता रहा करती है।

हिन्दी-समीक्षा का विकास उपर्युक्त तथ्य के लिए उदाहरण भी उपस्थित करता है। विशेषकर भक्तियुग और रीतियुग के साहित्यिक विकास के साथ तत्कालीन समीक्षा-शैलियाँ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर यह निर्देश किया है कि वे काव्य-रचना के लिए काव्य-रचना नहीं कर रहे। महात्मा कबीर ने भी काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ होने की चर्चा की है। उस समय का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की एक हद तक उपेक्षा भी हुई। एक स्वतन्त्र रस के रूप में भक्ति-रस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य आदि, उसी के अंगभूत रस स्वीकार किये गए साहित्य-शास्त्र में विवेचित नायक और नायिका-भेद से मिलती-जुलती भक्ति-सम्बन्धिनी नायक-नायिकाएँ भी उद्भावित हुईं। यह तो केवल कुछ मोटे निर्देश हुए। वास्तविकता यह थी कि काव्य-सम्बन्धी समस्त विवेचन की दिशा भक्ति-भावना के अनुरूप मोड़ दी गई थी। कवियों ने इस नये वातावरण से प्रभावित होकर अत्यन्त दैन्य से भरी करुण-रस की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सुदामा-चरित्र तथा प्रह्लाद और ध्रुव आदि के संकट-बहुल आख्यान इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृङ्गार-रस की अतिशयता आध्यात्मिक नायक-नायिकाओं के आवरण में निर्विघ्न पनप रही थी। उसी समय से राम तथा कृष्ण-सम्बन्धी काव्य की ऐसी व्याख्याएँ भी चल पड़ीं जो भक्ति-भावना को तो बल देती थीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं। रामचरितमानस की विविध टीकाएँ और रामायणी सम्प्रदायों में उसके विविध अर्थों और भावों की जो असाहित्यिक परम्परा चल पड़ी, वह आज भी चलती जा रही है।

रीति-काल में आकर साहित्य-शास्त्र ने फिर एक बार अपना सिर उठाया। वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उस सीमा पर पहुँचा जिसे हम 'कला के लिए कला' की सीमा कह सकते हैं। निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण, यही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गए थे। काव्य-समीक्षा भी इन्हीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित थी। अलंकारों की संख्या बढ़ती जा रही थी, उसके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की गणना, साहित्यिक विवेचन का मुख्य आधार बन गया था।

इसी रीति-काल में कवियों की प्रवृत्ति के अनुरूप कम-से-कम दो प्रकार की समीक्षा-शैलियाँ प्रचलित हुई थीं, जिन्हें हम क्रमशः अलंकारवादी और रसवादी समीक्षा-शैली कह सकते हैं। महाकवि केशवदास के काव्य में अलंकारवादी प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। वे और उनके अनुयायी काव्य-शास्त्र का विवेचन आलंकारिकता के आधार पर ही करते थे। इससे भिन्न बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों ने रस-शैली को अधिक महत्त्व दिया है। ये दोनों ही समीक्षादर्श यद्यपि उस समय की ह्रासोन्मुख कविता के मापदण्ड बने हुए थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका प्रचलन व्यापक रूप में था और इन पद्धतियों का अध्ययन और अनुसरण साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना जाता था। भूषण-जैसे वीर रस के स्वतन्त्र कवि भी इस रीतिवाद के चक्कर में पड़कर ही रहे।

भक्तिकालीन समीक्षा और रीतिकालीन समीक्षा, दोनों ही, अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने के लिए निर्मित हुई थीं, और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी कर रही थीं। परन्तु, हिन्दी-साहित्य के आगामी विकास में इन पद्धतियों का त्याग अथवा आत्यन्तिक संशोधन भी किया गया, और समीक्षा की नई विधियों का निर्माण होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी-साहित्य में जो नवीन जीवन परिव्याप्त हुआ, उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नये तथ्यों का आविर्भाव किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा। काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार-पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परन्तु गद्य और भाषा-सम्बन्धी नवीन निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस समय नवीन उपन्यास, नई कहानी और नये काव्य-अनुवाद भी होने लगे थे। जिनके विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी। उपन्यास और नाटक आदि काव्य-रूपों के विवेचन पृथक्-पृथक् आदर्शों को लेकर ही हो सकते थे। अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था। हम देखते हैं कि इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्तन नहीं हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोगकालीन समीक्षा का स्वरूप था।[1]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर समीक्षा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्यिक निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व देने लगे जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुप्तजी के वे प्रशंसक और समर्थक थे। परन्तु प्राचीन काव्य के अध्येता होने के कारण वे संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी के तुलसी, सूर आदि के काव्यों के भी ग्राहक थे। एक नया काव्यादर्श तैयार होने लगा था, जिसमें संस्कृत के कालिदास और भव-

१. इस समीक्षा के प्रवर्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूति-जैसे अप्रतिम कवि, सूर और तुलसी-जैसे भावनावान् रचयिता, और भारतेन्दु और गुप्तजी-जैसे अभिनव देश-प्रेमी कलाकार समान रूप से समादृत थे। यह स्पष्ट है कि यह नया काव्यादर्श किसी परिपुष्ट शास्त्रीय आधार पर नहीं बना था, और न इसके मूल में कोई विशिष्ट और व्यवस्थित साहित्य-चेतना थी।

इस नवीन जागृति के साथ कई नये समीक्षक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आये, जिन्होंने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य-समीक्षा के पथ का प्रसार किया। मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक प्रतिमानों को नये मापदण्डों का रूप देना चाहा, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मिश्रबन्धु नये जीवन के आदर्शों और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे; वे पश्चिमी समीक्षा की नई शैलियों और प्रतिमानों की भी जानकारी रखते थे; परन्तु उनका दृष्टिकोण मुख्यतः परम्परावादी था। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी के नव सर्वश्रेष्ठ कवियों के चुनाव में और उससे भी बढ़कर हिन्दी के साहित्यिक इतिहास के लेखन में जिन परम्परागत विधियों का प्रयोग किया वे नवयुग के हिन्दी-साहित्यिकों को पूरी तरह मान्य न हुईं।

काव्य के कला पक्ष तथा उसके रचनात्मक सौन्दर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया वह बहुत-कुछ अपूर्व ही था। शर्माजी संस्कृत के मुक्तक कवियों के साथ, उर्दू और फारसी के चमत्कार-प्रधान काव्य के प्रख्यात रसिक थे। एक-एक शब्द और एक-एक मुहावरे की बारीक अर्थ-व्यंजना के पीछे वे पागल-से रहा करते थे। जीवन-भर उसी का अभ्यास करते रहे थे। उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत और उर्दू-फारसी के समानधर्मी कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की ओर नई प्रवृत्ति तो जाग्रत ही हुई, नये कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नये रचनात्मक साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं रही।

परन्तु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समीक्षा-कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नये समीक्षादर्श का निर्माण किया, जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द-संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिये थे, पर व्याख्या करने में वे पूर्णतः नवीन थे। आचार्य द्विवेदीजी ने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के उन्नततम कवियों के साथ नवयुग के काव्य-रचियताओं की जो समान-सी अभ्यर्थना की थी, शुक्लजी उतनी दूरी तक उनका साथ नहीं दे सके। इसका अर्थ यही है कि वे समीक्षा की साहित्यिक और शास्त्रीय परम्परा के अधिक समीप थे और नवीन विकास को भी प्राचीन साहित्यिक पीठिका पर ही रखकर देखते थे। तुलसीदास-जैसे नीतिवादी और मर्यादावादी कवि उनके आदर्श थे। परन्तु तुलसीदास की आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक भूमिकाओं को छोड़कर शुक्लजी ने उनके द्वारा चित्रित महत्वपूर्ण चरित्रों को, और उनकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीवन-स्थितियों को महत्त्व दिया। एक प्रकार से वे तुलसीदास के नये व्याख्याता सिद्ध हुए, और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की भी नई ही रूपरेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द-संकेतों को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित करके नई युग-चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियों की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गए थे, उन्होंने वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्य-सौन्दर्य, और विशेषतः उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं हैं। इसी प्रकार सैद्धान्तिक-समीक्षा के नये पहलुओं का उद्घाटन भी शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है, जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर उनके वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। अंग्रेजी साहित्य के नये सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से भी वे परिचित थे, और विभिन्न अवसरों पर उसका उल्लेख भी करते गए हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अँग्रेजी साहित्य के उन्हीं समीक्षकों की उन्होंने चर्चा की है, जो उनके अपने पूर्वनिरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। यहाँ तक कि उन्होंने ऐसे समीक्षकों और साहित्य-शास्त्रियों का विरोध भी किया है, जिनके वास्तविक साहित्यादर्श को उन्होंने पूरी तरह जानने की चेष्टा नहीं की। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप, जहाँ कहीं से जो-कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग किया।

यह स्वीकार करना होगा कि शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निर्भ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः, शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनकी नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। प्रबन्ध-काव्य और प्रगीत-रचनाओं के बीच जिस अव्याहत साहित्य सन्तुलन की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति शुक्लजी ने नहीं की है। इसी के साथ, शुक्लजी ने लोक-साहित्य के समीप प्रवाहित होने वाली कबीर-जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक् सत्कार नहीं किया। और नये युग में आकर हम यह देखते हैं कि उन्होंने बदलती हुई राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों, तथा उनमें विकसित होने वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की। उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्व-सामान्य अवश्य था, परन्तु उसमें परिवर्तनशील वस्तु-जगत् और उसमें उद्भावित होने वाले साहित्य-रूपों और प्रक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुमुखी प्रवृत्ति नहीं थी। शुक्लजी का समीक्षादर्श सर्व-सामान्य और सर्वग्राही है, किन्तु वह विशिष्ट रचनाओं और युगानुरूप काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन के लिए पूर्णतः सक्षम नहीं है। दूसरे शब्दों में, शुक्लजी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।[1]

इसी नवीन दिशा में नये समीक्षकों ने कार्य आरम्भ किया। इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ, रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है। इसी का नया निदर्शन नये समीक्षकों ने उपस्थित किया।

---

१. द्विवेदी युग के अन्य समीक्षकों में आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि प्रमुख हैं। शुक्ल-धारा के अनुयायियों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, 'शिलीमुख', कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और गुलाबराय जी की गणना की जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलनकर्ताओं ने इस नवीन समीक्षा-धारा को स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा-धारा भी कहा है। परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल्य को प्रतिष्ठित करना है। इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परम्परा का भी यथेष्ट परिचय है और वे काव्य के विभिन्न काव्य-स्वरूपों और विधानों से भी भली-भाँति परिचित हैं। शुक्लजी ने जिस समीक्षा को अपने निजी आदर्शों की वैयक्तिक या 'सब्जेक्टिव' भूमि पर स्थापित किया था, उसे ही वस्तून्मुखी और विकासमान भूमियों पर रखकर परखने का कार्य नये समीक्षक कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग से आरम्भ होने वाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है। परन्तु यहीं से एक नये प्रकार का विघटन भी आरम्भ होने लगता है।[1]

इस विघटन के मूल में स्थित कारणों की समीक्षा करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि सन् १९३५ के आस-पास हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी; जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्रों में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था; उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का आग्रह करती हुई नई समीक्षा-पद्धति क्षेत्र में आई। 'साहित्य किसके लिए?' —यह प्रश्न उठाया गया; और इसका उत्तर देते हुए नव्यतर समीक्षकों ने कहा—'साहित्य जनता के लिए, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता को समाप्त करने के लिए, साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए।' ये उस समय तो नये नारों के रूप में ही प्रवर्तित हुए, पर आगे चलकर उन्होंने नये साहित्यिक आदर्श का व्यवस्थित और तर्क-सम्मत रूप भी ग्रहण किया।

यह वह समय था जब प्रसाद, निराला और पन्त के काव्योत्थान अपना सम्पूर्ण प्रदेय समाप्त करके प्रायः रिक्त हो चुके थे, 'कामायनी' का निर्माण हो चुका था; उनके स्थान पर महादेवी और बच्चन की एकांतिक और विषादमयी रागिनियाँ सुनाई देने लगी थीं। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द जी का कृतित्व पूरा हो चुका था, और नई दार्शनिकता और व्यक्ति-चित्रण के नाम पर जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय आदि की कृतियाँ सामने आने लगी थीं। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के तथाकथित यथार्थवादी प्रयोग चलने लगे थे। समीक्षा के क्षेत्र में भी बच्चन और महादेवी का स्तुति-गान होने लगा था। ऐसी स्थिति में साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ प्रतिक्रिया का आरम्भ होना आवश्यक था, और जब यह स्वस्थ प्रतिक्रिया 'जनता के लिए साहित्य' के नारे के रूप में व्यक्त हुई तब उसका समुचित स्वागत भी किया गया।

यदि यह नई समीक्षा-धारा साहित्य के स्वस्थ आदर्श को, और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ न जोड़कर स्वतन्त्र स्थिति में रहने देती और यदि लेखकों और रचनाकारों को उक्त मतवाद के लिए बाध्य और अभिभूत न होना पड़ता तो रचना और

---

१. इस समीक्षा-धारा के अन्तर्गत जानकीवल्लभ शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि की गणना की जा सकती है, प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी इसी कोटि में रखा गया है। निराला और दिनकर के कतिपय निबन्ध भी इसी श्रेणी में आते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-व्यंजक उद्भावनाएँ भी इसी श्रेणी की समझी जाती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समीक्षा के दोनों क्षेत्रों को अधिक लाभ पहुँचता। साहित्य की स्वतन्त्र परम्परा और उसकी रचना की निर्बाध विधियाँ, किसी कट्टर बौद्धिक मतवाद का अनुसरण नहीं कर सकतीं, विशेषकर जब ये मतवाद आदेशों का रूप ग्रहण कर लें, और समय-समय पर नये फरमान निकालते रहें। वैसी स्थिति में साहित्यिक विकास की सम्भावना और भी शंकाग्रस्त हो जाती है। प्रगतिवादी समीक्षा के आरिम्भक वर्षों में ऐसी कोई कट्टरता नहीं थी। उस समय प्रकाशित हुई शिवदानसिंह चौहान की समीक्षाएँ किसी नये आदेश के रूप में नहीं आई थीं, वे नई रचना के लिए नया आश्वासन और नवीन दिग्निर्देश-मात्र करती थीं। परन्तु आगे चलकर यह समीक्षा उतनी स्वच्छन्द और प्रेरणा-प्रद नहीं रह गई। उसने नया सिद्धान्तवादी या 'डॉक्ट्रेनियर' स्वरूप ग्रहण किया और बड़े अद्भुत प्रकार से प्रगतिशील रचनाओं की पहचान और परख करने लगी। बहुत थोड़े सौभाग्यशाली लेखक उन आदेशों की शत-प्रतिशत पूर्ति कर सकते थे। इसलिए यह देखा गया कि हिन्दी के प्रगतिवादी लेखन के क्षेत्र में बस आदेश-ही-आदेश हैं, कृतियों का कहीं नाम नहीं।[1]

' यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा पर्याप्त प्रगति कर चुकी है। उसने साहित्य-रचना और साहित्य-विवेचन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है। परन्तु वह यथार्थवाद स्वस्थ साहित्य के स्वीकृत प्रतिमानों से बहुत दूर की वस्तु नहीं है। यह यथार्थवाद मुख्यतः सामाजिक प्रगतिशीलता के तत्त्वों को अपनाकर चलता है और 'मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान' या 'कला के लिए कला' की प्रवृत्तियों के विरोध में उपस्थित होता है। नये मार्क्सवादी समीक्षकों ने साहित्य की सामाजिक भूमिका के अनुशीलन में ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला है जिनसे साहित्यिक प्रतिमानों को बल मिलता है, और ऐसे कवियों के कृतित्व पर अधिक उज्ज्वल आलोक पड़ता है जो साहित्यिक दृष्टि से भी अग्रणी माने गए हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा साहित्यिक परम्परा से प्राप्त उपलब्धियों को नया बल प्रदान करती है। यदि इस यथार्थवादी समीक्षा-पद्धति से इस उपादेय उद्देश्य की सिद्धि होती है तो इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु एक विशेष मतवाद को चाहे वह कितना ही तटस्थ और वस्तु-सापेक्ष क्यों न हो, साहित्य-समीक्षा में अत्यधिक प्रमुखता देना, साहित्यिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा करना भी हो जाता है। इसीलिए पश्चिम के प्रगतिवादी समीक्षक अधिकाधिक सतर्कता के साथ अपने समीक्षा-पैमानों का प्रयोग करते हैं।

हिन्दी में अभी हम बिलकुल दूसरी ही स्थिति पर ठहरे हुए हैं। केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही हैं, व्यक्तियों को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियों और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नहीं। विश्वास करना चाहिए कि इस स्थिति में परिवर्तन होगा और हिन्दी-समीक्षा उस संतुलित स्थिति पर पहुँच सकेगी जिस पर वह पश्चिमी देशों में पहुँच चुकी है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यिक निर्माण के कार्य में लेखकों और कवियों के जन-संपर्क का आग्रह किया जाय, उनकी उद्भावना-शक्ति का मूल्य परखा जाय। उन्हें किन्हीं आदेशों या फरमानों से आक्रान्त न किया जाय; और साथ ही समीक्षा में वह तटस्थ अनुशीलन आरम्भ किया जाय, जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग से, अधिक-से-अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।

इस समाजवादी समीक्षा-पद्धति से खौफ खाकर हिन्दी में कतिपय ऐसे भी समीक्षक

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ऐसे ही समीक्षक हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिखाई देने लगे हैं, जो साहित्य के नितान्त वैयक्तिक उद्भव स्रोतों का उल्लेख करते हैं, साहित्यिक सृष्टि को दिवा-स्वप्नों का पर्याय मानते हैं, और श्रेष्ठ निर्माण के लिए महती कुण्ठा की अनिवार्यता बताते हैं। रचना के क्षेत्र में भी ऐसे नये लोग आ रहे हैं जो प्रयोगों और प्रतीकों के बाहुल्य से हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर देना चाहते हैं। ऐसी रचनाएँ पहली दृष्टि में बड़ी अनोखी, चमत्कारक और यदा-कदा असाधारण रचना-क्षमता का परिणाम भी प्रतीत होती हैं। पर थोड़ी सी गम्भीरता से विचार करने पर इन रचनाओं का हल्कापन अपने-आप प्रकाश में आ जाता है। ये रचयिता और समीक्षक यह कहते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभूति से है। इनका यह भी आरोप है कि प्रचारार्थ प्रस्तुत की गई समाजवादी रचनाएँ अपने उद्देश्य से आप ही वंचित हो जाती हैं। उनकी पहुँच पाठकों के अंत स्तल तक होती ही नहीं। परन्तु, प्रतिपक्षी पर आरोप करते हुए यह न भूल जाना चाहिए कि निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी स्थिति में साहित्यिक प्रतिमान नहीं मानी जा सकेगी। साहित्य की मूलवर्ती सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकेगा। मनोवृत्तियों और अनुभूतियों का ऐसा प्रकाशन, जो सामाजिक संवेदना का विषय न हो, काव्य-प्रतिमान के रूप में गृहीत न होगा। भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों, परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती; और दिवा-स्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।[1]

मनोविश्लेषण की भूमिका पर काम करने वाले कुछ ऐसे समीक्षक अवश्य हैं जो कतिपय साहित्यिक रचनाओं की मूलभूत मनोवैज्ञानिक त्रुटियों और अस्वस्थताओं का उद्घाटन करते हैं। रुग्ण-साहित्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए यदि मनोविश्लेषण की विधि का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नहीं। साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया पर भी यह सिद्धान्त प्रकाश डालता है। परन्तु इससे अधिक इस सिद्धान्त की उपयोगिता साहित्य-समीक्षा में क्या होगी, यह समझना कठिन है। श्री नरोत्तमप्रसाद नागर के कतिपय लेख इस विषय में नया विचारोत्तेजन करते हैं और हिन्दी के समीक्षकों के सम्मुख यह तथ्य रखते हैं कि इस समीक्षा-विधि का किस सीमा तक उपयोग किया जा सकता है। अभी यह क्षेत्र अधिकाधिक अनुशीलन के लिए रिक्त पड़ा है।

आज हमारे साहित्य में थोड़ा-बहुत गत्यवरोध तो है ही। हिन्दी-आलोचना में भी कुछ अंशों तक लक्ष्यहीनता और दिग्भ्रम के चिह्न दिखाई देते हैं। यदि रचनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य एक दूसरे को प्रकाश न देते हों, तो यह एक चिन्तनीय स्थिति होगी। पर यदि वे एक-दूसरे को गुमराह करने अथवा एक-दूसरे की प्रगति में अड़चन डालने का काम करते हों, तब तो यह और भी अनिष्टकारक बात होगी। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धिकता और तर्कवाद की भूल-भुलैया में पड़कर हमारे साहित्यिक स्रष्टा और समीक्षक दोनों ही कुछ भटक गए हैं। यदि यह सच है, तो इस भूल-भुलैयाँ से छुटकारा पाने का सरल और सीधा उपाय क्या है? सीधा और सरल उपाय है पूर्णतः प्रकृतिस्थ हो जाना, नए सिरे से आत्म-शोध करना और उस समस्त बौद्धिक आवरण को दूर कर देना जो हमारे व्यक्तित्व को उलझाता और केवल उलझाता है। कहीं अच्छा

१. इस पद्धति के समीक्षकों में श्री अज्ञेय, डॉ० नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नलिन विलोचन शर्मा आदि की गणना की जा सकती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो यदि हम जीवन और काव्य-साहित्य-सम्बन्धी उन मूलभूत तथ्यों को पहचान लें और पहचान-कर आत्मसात् कर लें, जो तथ्य एक साथ ही मानव व्यक्तित्व के और उसके समस्त कृतित्व के उन्नायक हैं। साहित्य और साहित्यिक समीक्षा भी मानव-कृतित्व का ही एक अंग है। अतएव यदि हमारा व्यक्तित्व हमें आवृत करने वाले वितंडावादों से मुक्त है और यदि उसमें मूलभूत जीवन-विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा-दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी

पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव

हिन्दी के आदि कवि चन्द वरदाई (चन्द बलद्दिउ) का 'पृथ्वीराज रासो' १२वीं शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा उनके महान् प्रतिद्वन्द्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द गाहड़वाल, गुर्जरेश्वर भीमदेव चालुक्य और ग़ज़नी के अधिपति सुलतान मुईज़ुद्दीन शाह शहाबुद्दीन गोरी के राज्य, रीति-नीति, शासन-व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार, मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता-विषमता की शृङ्खलाओं से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक वृत्तों से आच्छादित, पौराणिक कथाओं से लेकर कल्पित कथाओं का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य-परम्पराओं तथा नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमयी गुफा, सहस्रों हिन्दू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का मात्र-कोष, प्राकृत अपभ्रंशकालीन सार्थक अभिव्यंजना करने में क्षम सफल छन्दों की विराट पृष्ठभूमि, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं की संक्रान्तिकालीन रचना, गौड़ीय भाषाओं की अभिसन्धि का उत्कृष्ट निदर्शन समकालीन युग का सांस्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का आर्थिक मानचित्र, विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्त्वों का आख्याता तथा मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक यह अपने ढंग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परन्तु हिन्दी-रचनाओं में सम्भवतः सबसे अधिक विवादग्रस्त है।

पाश्चात्य लेखक पढ़ा गए कि हिन्दुओं के यहाँ मुस्लिमों की अपेक्षा इतिहास लिखने की कोई परम्परा नहीं थी—इसी आधारशिला पर खड़े होकर विद्वत् वर्ग 'रासो' की परीक्षा करने उतरा, क्योंकि उसकी परम्पराओं की छाप परवर्ती साहित्य पर थी और राजस्थान के परवर्ती इतिहास को भी उसने प्रभावित कर रखा था। इधर दुर्भाग्यवश महाकाव्य का प्रणेता चन्द कर बैठा था अक्षम अपराध ऐतिहासिक काव्य लिखने का। फिर उस बेचारे के काव्य का पोस्टमार्टम परम आवश्यक हो गया, बाल की खाल नोच-नोचकर रासो को अनैतिहासिक सिद्ध करने वाले प्रमाण खुर्दबीन लगाकर ढूँढ़े गए। पृथ्वीराज के दरबार में कुछ वृत्ति तथा सम्मान पाये हुए काश्मीरी जयानक द्वारा प्रणीत तथा अधूरे प्राप्त 'पृथ्वीराज विजय' मात्र के आधार पर डॉ० बूलर द्वारा रासो को आधुनिक जाल ठहराते देख डॉ० हर्वर्ट मोरीसन ने अपने गुरू के आप्त वाक्य की मीमांसा की जिसे योग मिला मेवाड़ के कविराज शामलदास तथा महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-जैसे इतिहासकारों का। डॉ० बूलर के मत की प्रतिक्रिया शीघ्र हुई और कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में इस काव्य के सुचारु मनन और अध्ययन में लगे हुए श्री बीम्स, ग्राडज, डॉ० हार्नले-जैसे मेधावी विद्वान् विरत हो गए। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबू श्यामसुन्दरदास, म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित आदि की शंख-ध्वनि नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई, इसीलिए न कि ये इतिहासकार नहीं थे वरन् थे साहित्यकार। रासो के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐतिह्य पर सन्देह प्रकट करने वाले इतिहासकारों ने इतिहास-विरोधी बातों का रासो से संकलन करके दस-पाँच अकाट्य तर्क पेश किये, परन्तु साहित्यकारों को कवि का उत्तराधिकारी मान बैठने वालों के न्यायालय में क्या इतना सौजन्य न था कि वे यह भी बतलाते कि इस काव्य में ऐतिहासिक तथ्य कितने हैं। रासो की ऐतिहासिक विवेचनाओं की विशाल राशि के संतुलन में अनैतिहासिक तत्त्व नगण्य सिद्ध होंगे—जिनका परवर्ती प्रक्षेप होना भी असम्भव नहीं—यह मेरा एक साहित्य-सेवी के नाते प्रस्ताव है।

इधर बम्बई से एक सिंह-गर्जन हुआ है। जैन ग्रन्थागारों में सुरक्षित १२वीं शती में रचित पृथ्वीराज और जयचन्द के संस्कृत प्रबन्धों में आये चंद बलदिउ (चंद बरदाई) के चार अपभ्रंश छन्दों के आधार पर जो सभा वाले 'रासो' में किंचित् विकृत रूप में वर्तमान हैं, विश्व-विख्यात वयोवृद्ध साहित्यकार मुनिराज जिनविजय ने घोषणा की है कि पृथ्वीराज के कवि चंद बरदाई ने अपनी मूल रचना अपभ्रंश में की थी। इस गर्जन से स्तम्भित होकर चन्द बरदाई तक के अस्तित्व को अस्वीकार कर देने वाले इतिहासकार चुप हैं, गुम-सुम, खोये हुए से, किसी नवीन तर्क की आशा में शिलालेखों और ताम्रपत्रों की जाँच में संलग्न। खैरियत ही हुई कि शिलालेख मिल गए, नहीं तो कौन जानता है पृथ्वीराज, जयचन्द और भीमदेव का व्यक्तित्व भी इन इतिहासकारों ने खतरे में डाल दिया होता। वे कभी-कभी भूल जाते हैं कि उनके ऐतिहासिक सिद्ध करने वाले तत्त्वों द्वारा दिये गए प्रमाणों के अभाव में लिखित साहित्य से ही नहीं वरन् लौकिक-साहित्य के आधार पर भी इतिहास का कलेवर भरा जाता है। 'रासो' अपने ऐतिह्यों का मूल्यांकन करने के लिए फिर उनसे माँग कर रहा है और यदि उन्होंने पक्षपात को न अपनाया तो कल्हण की 'राजतरंगिणी-सदृश 'रासो' भी उन्हीं के द्वारा एक अपवाद मान लिया जायगा।

ऐतिहासिक वाद-विवादों के कोलाहल से दूर 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी-साहित्यकारों की अमूल्य विरासत है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है। इस काव्य के आदि तथा अन्त में कवि ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'रासो' में सात हजार रूपक हैं, परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' में १६३७६ छन्द पाये जाते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि रासो का आकार मूल से सवा दो गुना अधिक बढ़ गया है। पंजाब-विश्वविद्यालय के श्री बुलनर द्वारा शोधित 'रासो' की रोटो वाली प्रति में छन्द-संख्या आर्या छन्द से लगभग सात हजार है और बीकानेर की प्रति में पाँच हजार ही बतलाई जाती है। ये दोनों संस्करण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, परन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक आक्षेपों का प्रश्न है वे इनमें भी अंशतः वर्तमान हैं। प्रकाशित 'रासो' में प्रक्षेपों के घटाटोप की सम्भावना को भलीभाँति जानते हुए भी वर्तमान स्थिति में उन्हें पृथक् करने की कठिनाई के कारण उस सम्पूर्ण सामग्री को काव्य की कसौटी पर लाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

वस्तु-वर्णन—काव्यों में विस्तृत विवरण के दो रूप होते हैं—एक वस्तु वर्णन द्वारा और दूसरा पात्र द्वारा भावाभिव्यंजना से। वस्तु-वर्णन की कुशलता इतिवृत्तात्मक अंश को बहुत कुछ सरस बना देती है। 'रासो' में ऐसे फुटकर वर्णनों का ताँता लगा हुआ है जिन्हें कवि ने वर्णन-विस्तार हेतु चुना है। संक्षेप में उनका उल्लेख इस प्रकार है—

व्यूह-वर्णन—भारत की हिन्दू सेनाओं का व्यूह-बद्ध होकर लड़ने का विवरण मिलता है और कभी-कभी मुस्लिम सेना को भी किसी भारतीय व्यूह को अपनाये युद्ध करता हुआ बतलाया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया है। व्यूह-वर्णन के ढंग की परम्परा कवि को महाभारत से मिली प्रतीत होती है। एक स्थल देखिए—

इम निसि वीर कढिय समर, काल फन्द अरि कट्ठि।
होत प्रात चिन्नंग पहु, चक्काव्यूह रचि ठट्ठि॥
समर सिंह रावर, नरिंद कुण्डल अरि घेरिय।
एक-एक असवार, बीच बिच बाइक फेरिय॥
मद सरक्क तिन अग्ग, बीच सिल्लार सु भीरह।
गोरंधार विहार, सोर छुट्टै कर तीरह॥
रन उदै-उदै बर अरुन हुए, दुहू लोह कट्ठी विभर।
जल उकति लोह हिल्लोर; कमल हंस नंचै सु सर॥

मुस्लिम इतिहासकारों ने हिन्दू-सेना को बिना किसी ढंग के अस्त-व्यस्त युद्ध करने वाला वर्णन किया है तथा अपने पक्ष की युद्ध-शैली का विवरण देते हुए कहीं यह उल्लेख नहीं किया है कि उनमें भारतीय युद्ध-पद्धति कभी अपनाई जाती थी।

नगर-वर्णन—अनेक नगरों, ग्रामों और दुर्गों का नाम गिनाने वाले इस महाकाव्य में अन्हलवाड़ा पट्टन, कन्नौज, दिल्ली और गजनी के वर्णन विस्तृत हैं जो सम्भवतः युगीन चार शासकों की राजधानियाँ होने के कारण किये गए प्रतीत होते हैं। इन वर्णनों को अनुमान या काव्य-परम्परा के आधार पर नहीं किया गया है वरन् इनमें एक प्रत्यक्षदर्शी का अनुभव सन्निहित है। पट्टनपुर के वर्णन का एक अंश देखिए :

तिन नगर पहुच्यौ चन्द कवि। मनों कैलास समाप लहि॥
उपकंठ महल सागर प्रवल। सघन साह चाहन चलहि॥
सहर दिष्षि अंबियन। मनहु बद्दर वाहनु दुति॥
इक चलंत आवन्त। इक्क ठलवन्त नवनि भति॥
मन दन्तन दन्तियन। इला उप्पर इल भारं॥
विप भारथ परि दन्ति। किए एकठ व्यापारं॥
रजकंव लष्ष दस बीस वहु। दोइ गंजन बादह परयौ॥
अन्नेक चीर सूपरू फिरंग। मनों मेर कंठै भरयौ॥

पनघट-वर्णन—श्रीमद्भागवत् में कृष्ण की यमुना-तट पर की हुई लीला के वर्णन ने क्रमशः कालान्तर में साहित्य में पनघट-वर्णन की परम्परा का सृजन किया था। रासोकार ने भी पनघट की चर्चा की है। पहनपुर और वहाँ की सुन्दरियों का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि अप्सराओं जैसी सुन्दरियाँ कामदेव के रथ से उतरकर सरोवर में अपने घड़े भर रहीं थीं :

भरे जु कुम्भयं घनं, इला सुपानि गंगनं।
असा अनेक कुण्डनं, ...॥
सरोवरं समानयं, परीम रंभ जानयं।
बतक्क सार संभयं, अनेक हंस क्रम्मयं॥
भरै सु नीर कुम्भयं, ...।
अरुढ़ काम रथ्थयं, सु उत्तरी समथ्थयं॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सूफ़ी कवि जायसी ने भी 'पदमावत' में पनघट का सुन्दर वर्णन किया है। बूढ़े आचार्य केशव ने पनघट पर ही अपने सफेद बालों को कोसा था। रीतिकालीन कवियों ने अपनी काफी प्रतिभा पनघट के दृश्य-वर्णन में खर्च की है।

विवाह-वर्णन—रासो में कई विवाहों का उल्लेख है परन्तु दो विवाह इंच्छिनि ब्याह और प्रिया ब्याह विस्तृत रूप से स्वतन्त्र प्रस्तावों में वर्णित हैं। इनमें हमें ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजने से लेकर, तिलक, विवाह-हेतु यात्रा और बारात, अगवानी, तोरण, कलश, द्वारचार, जनवासा, कन्या का शृङ्गार, मण्डप, मंगल गीत, गाँठबन्धन, गणेश, नवग्रह, कुलदेवता, अग्नि, ब्राह्मण आदि के पूजन, शाखोच्चार, कन्यादान, भाँवरी, ज्योनार, दान, दहेज, विदाई और वधू का नख-शिख सभी विस्तारपूर्वक पढ़ने को मिलते हैं। ये विवाह साधारण व्यक्तियों के नहीं वरन् तत्कालीन युग के प्रतिनिधि शासकों पृथ्वीराज और चित्तौड़-नरेश रावल समरसिंह (सामन्तसिंह) के हैं अतएव इनमें हमें राजसी ठाट-बाट और अनुकूल दान-दहेज का वर्णन मिलता है। हिन्दू के जीवन के सोलह संस्कारों में विवाह-प्रथा भी एक है और इस परम रूढ़िवादी जाति ने अपनी परम्पराओं में परिवर्तन स्वीकार नहीं किये हैं, जो दो-चार कहीं-कहीं दिखाई भी पड़ जाते हैं वे प्रादेशिक के मूल में योग-मात्र हैं। कन्या के शृङ्गार-वर्णन में कवि को पुष्पों, वस्त्रों और आभूषणों की एक संख्या देने का अवसर मिल गया है।

युद्धोत्साह और युद्ध-वर्णन—रासो-जैसे वीर काव्य में इनकी दीर्घ संख्या होना स्वाभाविक है। ये वर्णन विस्तृत तो हैं ही परन्तु साथ ही वर्णन-कुशलता और अनुभूति के कारण अपना प्रभाव डालने में पूर्ण समर्थ हैं। कवि की प्रतिभा का योग योद्धाओं के उत्साह की सुन्दर अवतारणा करा सका है।

उत्सव-वर्णन—नवरात्र, नवदुर्गा, विजयादशमी, दीपावली, बसन्त और होली का कवि वर्णन करता है परन्तु इनमें दीपोत्सव और होली का संभवतः युग के विशेष उत्सव मानकर पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों में पृथ्वीराज की जिज्ञासा पर चन्द ने उक्त उत्सवों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथाएँ बतलाई हैं।

ज्योनार-वर्णन—के मिस कवि ने विधि-विधि के भोजनों के नामों की अपनी जानकारी प्रदर्शित करने का अवसर पाया है। परन्तु जायसी और सूदन की भाँति उसका वर्णन खटकने वाला नहीं है। राजा के भोज में पारुस का विधिवत् वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह प्रधान कथानक का अंश बन गया है। महाराज पृथ्वीराज के राजसी ठाट-बाट के औचित्य का निर्वाह करते हुए कवि ने युग के खाद्य पदार्थों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

षट् ऋतु बारह मास-वर्णन—रासो के देवगिरि समय में वर्षा और शरद् का चित्रण है और ये वर्णन पृथ्वीराज द्वारा यादवकुमारी की प्राप्ति-हेतु विरह में सञ्चारी रूप से आये हैं। पुरुष-विरह-हेतुक ये वर्णन ऋतु विशेष के स्पष्ट सूचक भी हो सके हैं। षट् ऋतुओं का ललित वर्णन कनवज्ज खण्ड में अधिक विस्तार से मिलता है। पृथ्वीराज कनौज जाने के लिए प्रस्तुत हैं और यह वसन्त ऋतु है। वे महारानी इंच्छिनी के महल में उनकी सम्मति लेने के लिए गये। रानी ने वसन्त का आगमन और उस ऋतु में अपना विरह-कष्ट वर्णन करते हुए राजा को रोका और वे रुक गए। इसी प्रकार शेष पाँच ऋतुओं में वे अन्य पाँच रानियों के पास ठहरे। कथा के इस प्रसंग में षट् ऋतुओं का रोचक वर्णन पढ़ने को मिलता है। यद्यपि उद्दीपन को लेकर ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इनकी रचना हुई है परन्तु यह रासोकार के ऋतु-विषयक ज्ञान, निरीक्षण और वर्णन-कौशल का परिचायक है। प्रत्येक ऋतु को कवि ने साकार रूप देने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ वर्षा को ले लीजिये :

अब्दे बद्दल मत्त मत्त विषया दामिन्य दामायते।
दादूरं दर मोर सोर सरिसा पप्पीह चीहायते॥
शृङ्गारीय वसुन्धरा मलिलता लीला समुद्दायते।
जामिन्या सम वासुरो विसरता पावस्स पंथानते॥

नख-शिख और शृङ्गार-वर्णन—इनके बारह प्रसंग हैं जिनमें से अधिकांश में पृथ्वीराज से विवाहित होने वाली राजकुमारियों का सौन्दर्य वर्णित है। सबसे विस्तृत और विषद कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता का नख-शिख है। इन प्रकरणों में स्नान से वर्णन प्रारम्भ करके, केश धोने, उबटन लगाने, वेणी गूँथने, मोती बाँधने, बिन्दी देने तथा विभिन्न आभूषण धारण करने के साथ-साथ नख-शिख-वर्णन भी मिश्रित है। कहीं-कहीं एक छप्पय छन्द में ही सारा नख-शिख वर्णित है और कहीं विस्तृत रूप में है। प्रसिद्ध उपमानों के अतिरिक्त नवीन सफल और असफल उपमानों की भी योजना है। इन वर्णनों में चमत्कारिक रूपकों का समावेश भी मिलता है। यथा :

ऐरापति भय मानि। इंद गज बाग प्रहरं॥
उर सँजोगि रस महि। रह्यौ दबि करत बिहरं॥
कुच उच्च जनु प्रगटि। उकसि कुम्भस्थल आइय॥
तिहि ऊपर स्यामता। दान सोभा सरसाइय॥
विधिना निमंत मिट्टत कवन। कीर कहत सुनि इंच्छिनिय॥
मनमथ्थ समय प्रथिराज कर। करज कोस अंकुस बनिय॥

वयःसन्धि अवस्था बालाओं के जीवन में सौन्दर्य-विकास की एक अप्रतिम घटना और अद्भुत व्यापार है। रासोकार ने इसका कुशल चित्रण किया है। एक आंशिक प्रसंग देखिए :

ज्यों करकादिक मकर मैं। राति दिवस संक्रान्ति॥
यों जुव्वन सैसव समय। आनि सपत्तिय कान्ति
यों सरिता अरु सिन्ध सँधि। मिलत दुहून हिलोर॥
त्यों सैसव जल संधि में। जोवन प्रापत जोर॥

कबन्ध-युद्ध-वर्णन—रामायण के कबन्ध राक्षस की मृत्यु के उपरान्त विश्वावसु गन्धर्व का जन्म, महाभारत में संसार के प्राणियों के विनाशकारी अशुभ चिह्नस्वरूप असंख्य कबन्धों का खड़ा होना और पुराणों की राहु के अमर कबन्ध की गाथा ने क्रमशः साहित्य में कबन्धों के युद्ध करने की परम्परा डाली होगी। रासो जैसे वीर काव्य में उनकी अनुपस्थिति किंचित् आश्चर्यजनक होती। कबन्धों के युद्ध अद्भुत रस का परिपाक करते हुए वीर और रौद्र भावों को उत्तेजना देने वाले हैं। एक स्थल दिया जाता है :

लरत सीस तुट्यौ सु हर। धर उट्यौ करि मार॥
धरी तीन लौं सीस बिन। कट्टे तीस हजार॥
बिन सीस इसी तरवारि बहै। निघटै जनु सावन घास महै॥
धर सीस निरास हुअंत इसे। सुभ राजन राह रुकंत जिसे॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्य वर्णन—मुख्य कथानक छोड़कर रासो में हमें अनेक वर्णन मिलते हैं जिनमें से कुछ का लगाव प्रधान कथा से बड़े ही सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़ा हुआ है। इन वर्णनों को हटा देने से कोई बाधा पड़ने की सम्भावना भी नहीं है। महाभारत, भागवत और भविष्य पुराण आदि के आधार पर राजा परिक्षित के तक्षक-दंशन, जनमेजय के सर्प यज्ञ और आबू पर्वत के उद्धार तथा दशावतार की कथा ऐसे ही प्रसंग हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे स्थलों की भी एक संख्या है तथा पृथ्वीराज की जिज्ञासा-पूर्ति हेतु कवि समाधित अनेक मनोहर उपाख्यान जुड़े हुए हैं जो उसकी जानकारी, अनुभव, प्रत्युत्पन्नमति तथा अध्ययन के परिचायक हैं। इनमें विनोद की मात्रा भी पर्याप्त है!

वस्तुओं के ये विस्तृत वर्णन और व्यापार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के आलंबन हैं। इनसे भिन्न-भिन्न स्थायी भावों की उत्पत्ति होने के कारण इनमें रसात्मकता का पूरा आभास मिलता है।

भावाभिव्यंजना

रासो युद्ध-प्रधान काव्य है और पृथ्वीराज-सदृश वीर योद्धा का जीवन-वृत्त होने के कारण इसमें उस समय की आदर्श वीरता का चित्रण मिलता है। क्षात्र-धर्म और स्वामि-धर्म-निरूपण करने वाले इस काव्य में तेजस्वी क्षत्रिय वीरों के युद्धोत्साह तथा तुमुल और बे-जोड़ युद्ध दर्शनीय हैं। असार संसार में यश की श्रेष्ठता और प्रधानता को दृष्टिगत करके उसकी प्राप्ति स्वामि-धर्म-पालन में निहित की गई है। स्वामि-धर्म की अनुवर्तिता का अर्थ है प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल-तिल करके कट जाना परन्तु मुँह न मोड़ना। इस प्रकार स्वामि-धर्म में शरीर नष्ट होने की बात को गौण रूप देकर यश सिरमौर कर दिया गया है। और भी एक महान् प्रलोभन तथा इस संसार और सांसारिक वस्तुओं से भी अधिक आकर्षक भिन्न लोक-वास तथा अनन्य सुन्दरी अप्सराओं की प्राप्ति है। धर्म भीरु और त्यागी योद्धा के लिए शिव की मुण्डमाला में उसका सिर पोहे जाने तथा तुरन्त मुक्ति-प्राप्ति आदि की व्यवस्था है। 'कर्म बन्धन को मिटाने वाले, विधि के विधान में सन्धि कर देने वाले, युद्ध की भयंकर विषमता से क्रीड़ा करने वाले भीष्म शूर सामन्त स्वामी (पृथ्वीराज) के कार्य में मति रखने वाले हैं, स्वामि-कार्य में लगकर इन श्रेष्ठ मति-वालों के शरीर तलवारों के वारों से खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और शिव उनके सिरों को अपनी मुण्डमाला में डाल लेते हैं। क्षत्रिय शरीर का केवल स्वामि-धर्म ही साथी है जो कर्मों के भोग से छुटकारा दिला सकता है। शूर सामन्तों का स्वामि-धर्म धन्य है, क्योंकि वे लड़ना और मरना ही जानते हैं'—इस प्रकार के विचारों से रासो ओत-प्रोत है। उस युग की वीरता का यह आदर्श कि स्वामि-धर्म ही प्रधान है कोरा आदर्श-मात्र न था। उसका संस्थापन सेना के स्थायित्व तथा विशेष रूप से उसकी युद्धोचित प्रवृत्ति की जागरूकता को ध्यान में रखते हुए अति आवश्यक अनुशासन (discipline) को लेकर हुआ था। अनुशासन ही सेना और युद्ध की प्रथम आवश्यकता है। आदिकाल से लेकर आज तक सेना में अनुशासन की दृढ़ता रखने के लिए नाना प्रकार के नियमों का विधान पाया जाता है। यहाँ आज्ञाकारिता को दासता से जोड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि उस युग में किराये के टट्टुओं से भारतीय सम्राटों की सेनाएँ नहीं सजाई जाती थीं। युद्ध क्षत्रियों को व्यवसाय था और स्वामि-धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग करना उनका कर्तव्य था। यहाँ दासता और धन के लोभ का प्रश्न उठाना तत्कालीन वीर युग की भावना को समझने में भूल करना है। सम्राट् या सेनापति की आज्ञा-पालन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के अनुशासन को चिरस्थायी और व्रतस्वरूप बनाने के लिए स्वामि-धर्म का इतना उत्कट प्रचार किया गया था कि वह सामान्य सैनिकों की नसों में कूट-कूटकर भर गया था और इसी आदर्श की रक्षा में उनके कट मरने का कार्य दुहाई दे रहा है। दार्शनिक जामा पहने हुए स्वामि-धर्म योद्धा का परम आभूषण था।

इस प्रकार के वातावरण में रहते हुए प्रतिदिन ऐसे ही विचारों और दृढ़ विश्वासों के संघटन में पड़कर तत्कालीन योद्धा की अन्तर्मुखी वृत्ति असार संसार में यश की अमरता और स्वामि-धर्म के प्रति जागरूक हो जाती होगी, तभी तो हम देखते हैं कि युद्धकाल इन योद्धाओं के लिए अनिर्वचनीय आनन्द का क्षण उपस्थित करता था। लड़कर मर मिटने वाले इन असीम साहसी योद्धाओं के उद्‌गार कितने प्रभावशाली हैं और साथ ही इनका वीरोचित उत्साह भी देखते ही बनता है :

(१) करतार हथ्थ तरवार दिय। इह सुतत्त रजपूत कर॥
(२) रजपूत मरन संसार बर॥
(३) सूर मरन संगली॥
(४) मरना जाना हक्क है। जुग्ग रहेगी गल्हाँ॥
सा पुरुसाँ का जीवना। थोड़ाई है भल्लाँ॥
(५) जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगना।
क्षणो विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे॥

सात सौ वर्षों से जनता के कंठ में प्रतिध्वनित होने वाले जगनिक के 'आल्हखण्ड' में भी मृत्यु से खेल करने वाले क्षत्रियों की वाणी सुनाई देती है :

(१) बारह बरिस लै कूकर जीयैं, औ तेरह लौं जियैं सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवैं, आगे जीवन कै धिक्कार॥
मरना मरना है दुनियाँ मा, एक दिन मरि जैहै संसार।
(२) स्वर्ग मड़ैया सब काहू कै, कोऊ आज मरै कोउ काल॥
खटिया परि कै जो मरि जैहो, कोउ न लैहै नाम अगार।
चढ़ी अनी पै जो मरि जैहो, तौ जस रहै देस में छाय॥
जो मरि जैहो खटिया परि कै, कागा गिद्ध न खइहैं माँस।
जो मरि जैहौ रन खेतन में, तुमरो नाम अमर होइ जाय॥
मरद बनाये मरि जैबे को, और खटिया पै मरै बलाय॥

कायरों में भी वीरता फूँक देने वाले उस युग को हमारे साहित्यिकों ने उचित ही वीर-गाथाकाल नाम दिया है और हमारा 'पृथ्वीराज रासो' अपने युग के वीरों की वीरोचित गाथा से परिपूर्ण है।

इस वीर गाथात्मक काव्य में वीर रस खोजने का प्रयास नहीं करना होगा। ये स्थल अपने-आप ही हमारे सामने आते रहते हैं और बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों की सांगोपांग योजना युद्ध-वीर रस की निष्पत्ति करती हुई अपनी उत्साह-भंगिमा द्वारा दूसरों को भी प्रभावित करती है। एक स्थल देखिये :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हयग्गयं सजे भरं। निसांन बज्जि दूभरं॥
नफेरि बीर बज्जई। मृदंग झल्लरी गई॥
सुनंत ईस रज्जई। तनीस राग सज्जई॥
सुभेरि भुंकयं घनं। श्रवन्न फुट्टि झंझनं॥
उषाह मध्य ते चले। सगुन्न बंदि जे भले॥
ससूर सूरयं कलं। दिनं सु अष्टमी चलं॥

शूरवीरों के सिरताज महाराज पृथ्वीराज और उनके सामंतगण आदर्श योद्धा थे। उन्होंने हिन्दुओं की आदर्श वीरता की प्राचीन पद्धति और नियमों का अपूर्व पालन किया है। स्त्रियों पर वार न करने, गिरे हुए घायलों और पीठ दिखाने वालों को न मारने आदि के नियमों का यथेष्ट संयमपूर्वक उनके द्वारा निर्वाह रासो में मिलता है। परन्तु इन सबसे बढ़कर जो बात पृथ्वीराज ने कर दिखाई वह भी इतिहास की एक अमर कहानी है। वह है शत्रु को प्राण-दान और प्राण-दान ही नहीं वरन् ऐसे प्रबल शत्रु को जो, कई बार अपमानित और दण्डित होकर भी फिर-फिर आक्रमण करता था, बन्दी बनाने के उपरान्त मुक्त कर दिया और मुक्त ही नहीं वरन् आदर-सत्कार के साथ उसे उसके घर भिजवाया। भारत के इतिहास का राजपूत-काल ही ऐसी वीरता के नमूने पेश करने में समर्थ है।

उत्साह और रति की मैत्री अस्वाभाविक है तथा एक स्वर से काव्य-शास्त्र के आचार्यों द्वारा ठुकराई गई है परन्तु रासो में इनके मेल के कई स्थल हैं। यह कह सकना अभी कठिन है कि इन विरोधी रसों के सामंजस्य की परम्परा रासो-काल की धरोहर थी, जो जायसी आदि को जागीर रूप में मिली अथवा ये स्थल परवर्ती प्रक्षेप हैं और सूफी कवियों के वर्णन से प्रेरणा पा लिखे जाकर कभी जोड़ दिये गए हैं।

रासो में जो स्थिति उत्साह की है वही क्रोध की भी है। युद्धकाल के सभी प्रसंगों में उसकी कुशल अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। कहीं-कहीं उसके साथ जुगुप्सा भी है। यथा :

बज्जे बज्जन लाग दल उभै हंकि जगि वीर।
विकसे सूर सपूर बढ़ि कंपि कलत्र अधीर॥
छुट्टियं हथनारि दुअ दल गोम ब्योमह गज्जियं।
उड्डियं आतस झार झारह धोम धुंधर सज्जियं॥
छुट्टियं बान कमान पानह छाह आयस रज्जियं।
निरषंत अच्छरि सूर सुव्वर सज्जि पारथ मज्जियं॥
परि सीस हक्कहि धर हहक्कहि अंत पाइ अलुझ्झरं।...

वीभत्स का प्रसंग पृथक् नहीं वरन् युद्ध के अन्तर्गत ही आता है। योगिनियों का रुधिर पीना, गीधों का चिल्लाना आदि स्वाभाविक दृश्यों का इनमें चित्रण पाया जाता है :

पत्र भरें जुग्गिनि रुधिर, गिध्धिय मंस डकारि।
नच्यौ ईस उमया सहित, रुण्डमाल गल धारि॥

युद्ध-भूमि में भयङ्कर वेश वाले योगिनी, डाकिनी, भूत, प्रेत, पिशाच, भैरव आदि के नृत्य और किलकारियाँ, कबन्धों का दौड़ना, पलचरों का गाना आदि बहुधा भय की प्रतीति भी कराने लगता है परन्तु यह सहचारिता उचित और संभव है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वतन्त्र रूप से भयानक रस का परिपाक ढुण्ढा दानव के प्रसङ्ग में मिलता है। ढूँढ़कर मनुष्यों को खाने वाले विकराल ढुण्ढा दानव ने सारा अजमेर नगर उजाड़ डाला, उसके भय से उस नगर के समीपस्थ वन में किसी जीव का प्रवेश न था और दिशाएँ भी शून्य हो गई थीं, उसकी घोर हिंसकता के आगे मानव तथा अन्य जीवों की क्या चर्चा, सिंह-सदृश हिंसक जन्तु भी पलायन कर चुके थे। यथा :

सो दानव अजमेर बन, रह्यौ दीह घन अन्त।
सुन्न दिसानन जीव को, थिर थावर जग मन्त॥
तहँ सिंह न भ्रग्ग न पंषि वनं। दिसि सून भई डर जीव घनं॥
तिहि ठाम गज्ज बर बाजि ननं। तिहँ ठाम न सिद्धथ साधकनं॥

पाँच सौ हाँथ ऊँचा, हाथ में विकराल खड्ग लिये ढुण्ढा मुँह से ज्वालाएँ फेंका करता था :

अंगह मान प्रमान। पंच सै हाथ उनै कह॥
इह ऊँचो उनमान। विनय लछ्छिनह विवेकह॥
हथ्थ खड्ग विकराल। मुष्प ज्वालंघन सद्दह॥

ऋषि द्वारा पृथ्वीराज को अन्धे किये जाने के आप में भी भयानक रस की अवतारणा मिलती है। इनके अतिरिक्त युद्ध-भूमि में भूतों-प्रेतों का नृत्य-गाना आदि दृश्य भी इस रस के प्रसंग हैं।

हास्य के स्थल रासों में अति थोड़े हैं। एक-आध स्थान पर वर्णन और वेश के कारण उसकी संभावना हुई है। कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में महाराज जयचन्द और चन्द वरदाई के प्रश्नोत्तरों में वह उद्भूत हुआ है। कवि को अपने से अधिक पृथ्वीराज का पराक्रम बखानते देखकर जयचन्द ने उससे श्लेष वक्रोक्ति द्वारा पूछा कि मुँह का दरिद्री, तुच्छ जीव, जंगलराव (भील; पृथ्वीराज) की सीमा में रहने वाला वरद (बैल; वरदायी) क्यों दुबला है :

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सु हद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरौ बरद्द॥

उद्भट कवि ने उन्हें उत्तर दिया कि चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, अपने से अधिक बलवानों के साथ उन्होंने युद्ध किया, शत्रुओं में किसी ने पत्ते पकड़े, किसी ने जड़ें और किसी ने तिनके, अनेकों भयभीत होकर भाग खड़े हुए; इस प्रकार शत्रुओं ने सारा रण चुन लिया और बैल दुबला हो गया :

चढ़ि तुरंग चहुआन आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मण्डयौ जास जानयौ सबर बर॥
केइक गहि तकि पात, केइ गहि डार मूर तर।
केइक दन्त तुच्छ भिन्न, गए दस दिसनि भाजि डर॥
भुअ लोकत दिन अचिरज भयौ, मान सबर बर मरद्दिया।
प्रथिराज षलन षद्धौजु षर, सु यौ दुब्बरौ बरद्दिया॥

जयचन्द ने फिर व्यंग्य किया और कवि ने फिर फब्ती कसी। अन्त में महाराज ने निरुत्तर होकर कवि को वरद के स्थान पर विरुद वाले कहकर संबोधित किया, परन्तु कवि ने पूर्व कही हुई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'वरद' की महिमा की विवेचना करते हुए उन्हें ऐसी उपाधि देने के लिए धन्यवाद दिया। यह स्थल व्यंग्यात्मक हास्य का अनूठा स्थल है।

आश्चर्य पैदा करने वाले स्थल 'रासो' में अनेक हैं। श्रापवश मनुष्य का मृत्यु के उपरान्त असुर हो जाना और असुर का मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाना वीरों का वशीकरण, देवी की सिद्धि और साक्षात्कार, गड़े खजाने से दैत्य और पुतली का निकलना, मन्त्र-तन्त्र की विलक्षण करामातें, वरुण के वीरों की उछल-कूद, वीर गति पाने वालों का अप्सराओं द्वारा वरण, आत्माओं का भिन्न लोकवास, कबन्धों का युद्ध आदि इसी प्रकरण के प्रसंग हैं। कवि ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है जैसे ये अघटित घटनाएँ न होकर सत्य और साधारण हों।

वीर-गाथा-काव्य होने के कारण शान्त रस का 'रासो' में प्रायः अभाव-सा ही पाया जाता है और वीर रस का विरोधी होने के कारण भी निर्वेद की व्यंजना के लिए अवसर भी नहीं है। युद्धोपरान्त एक स्थल पर शिव और पार्वती के वार्तालाप के प्रसंग में जन्म-मरण की व्याख्या करते हुए, कर्मानुसार जीव के जन्म के बन्धन में पड़ने और आत्मा का माया आदि प्रपंचोपशम से निराकार अद्वैत ब्रह्म में समाहित होने का उल्लेख है। मम्मट और विश्वनाथ की काव्य-कसौटी पर 'रासो' का यही एक प्रसंग शम का सिद्ध होता है। इस रस का संकेत करने वाले दो प्रसंग और हैं—एक तो ढुण्ढा दानव की कठोर तपस्या और दूसरा दिल्लीश्वर अनंगपाल का वैराग्य। ढुण्ढा ने जीवन्मुक्ति हेतु तपस्या नहीं की थी और अनंगपाल का वैराग्य सात्विक न था, वे सर्वस्व त्याग कर विरक्त हुए परन्तु उस त्यागी हुई वस्तु की प्राप्ति हेतु फिर झुके, युद्ध किया, पराजित हुए तब पुनः तपस्या करने चले गए—अस्तु ये दोनों स्थल शान्त रस के विधायक नहीं कहे जा सकते।

वीर और रौद्र रस-प्रधान 'रासो' में शृङ्गार की स्थिति गौण नहीं है। युद्ध-वीर स्वभावतः रति-प्रेमी पाये गए हैं। किसी की रूपवती कन्या का समाचार पाकर अथवा कन्या द्वारा उसे अपने माता-पिता की इच्छा के विपरीत आकर वरण करने का सन्देश पाकर उक्त कन्या का अपहरण करके उसके पक्ष वालों से भयंकर युद्ध और इस युद्ध में विजयी होकर कन्या का पाणिग्रहण तथा प्रथम मिलन आदि के वर्णनों में हमें वियोग और संयोग के चित्र मिलते हैं। नायक और नायिका के परस्पर गुण रूप आदि श्रवण-मात्र से अनुराग और तज्जनित वियोग कष्ट के वर्णन काम-पीड़ा के प्रतीक हैं। संयोग के अनन्तर वियोग का वर्णन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है परन्तु संयोग से पूर्व ही वियोग का कष्ट वांछित प्रेमी या प्रेमिका को प्राप्त करने में बाधाएँ और कामोत्तेजना को लेकर ही पैदा होता है। वैसे ऊषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती आदि के प्रेम की काव्य-परम्परा का पालन भी 'रासो' में होना असम्भव नहीं है।

विवाह के पूर्व और उपरान्त सुन्दर राजकुमारियों के नख-शिख-वर्णन तदुपरान्त काम क्रीड़ा और सहवास यद्यपि शृङ्गार रस के ही अन्तर्गत हैं परन्तु उनमें वस्तु-स्थिति का निर्देश संकेत द्वारा न होने के कारण कहीं-कहीं अश्लीलत्व-दोष भी आ गया है। यह रति भाव क्या है, केवल उद्दाम वासनाओं का नग्न चित्रण ही न। इन स्थलों को पढ़ते ही उस युग की विलासिता का चित्र सामने आ जाता है। नायिका-भेद को दृष्टिगत करके काव्य का प्रणयन नहीं किया गया है फिर भी नवोढा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ जाती हैं। शृङ्गार वर्णन में संभोग की प्रधानता है। विप्रलम्भ का एक विशिष्ट स्थल है संयोगिता से पृथ्वीराज का प्रथम वियोग और अन्तिम मिलन। इस प्रसंग का प्रारम्भ और अन्त प्रायः परम्परा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुक्त है परन्तु उसका निम्न वर्णन अति मार्मिक है :

घर घयार वज्जिग विषम। हलिग हिन्दु दल हाल॥
दुतिय चन्द पूनिम जिमे। वर वियोग वढ़ि बाल॥
वर वियोग वढ़ि बाल। लाल प्रीतम कर छुट्टौ॥
है कारन हा कन्त। आस असु जानि न फुट्टौ॥
देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि। परिय भूमि संथार॥
संजोगी जोगिन भई। जब वज्जिग घरियार॥

उपर्युक्त छन्द में 'विषम', 'देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि' और 'संजोगी जोगिन' बड़े ही सार्थक प्रयोग हैं। निर्जीव वस्तु घड़ियाल अथवा उसके शब्द को किसी की समता विषमता से क्या प्रयोजन हो सकता था परन्तु प्रियतम के प्रवास-हेतुक वियोग की निर्दिष्टि के कारण लक्षण का आरोप करके कवि ने संयोगिता की मानसिक अवस्था में विषमता घटित करके उसे वियोगावस्था का प्रारम्भिक चरण बना दिया है। वियोग के इस प्रकरण में प्रवत्स्यत् प्रेयसी संयोगिता के वर्तमान-प्रवास-हेतुक-वियोग का संकेत करके कवि ने उस वियोगिन के भूत-प्रवास-हेतुक-विप्रलंभ का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। दोनों प्रकार के वियोगों की मिलन-सन्ध्या बड़े कौशल से प्रस्तुत की गई है।

शोक के प्रसंग रासो में इने-गिने हैं। कमधज्ज नरेश के भाई वालुकाराव की मृत्यु पर अशुभ स्वप्न देखने के उपरांत उसकी स्त्री का विलाप, कन्नौज-युद्ध में प्रमुख सामन्तों के मारे जाने पर पृथ्वीराज का शोक, ग़ज़नी के कारागार में वन्दी पृथ्वीराज का नेत्र-विहीन किये जाने के उपरान्त पश्चात्ताप तथा अन्तिम युद्ध का परिणाम वीरभद्र द्वारा सुनकर चन्द कवि का दुःख इसी प्रकरण के हैं परन्तु करुण का सबसे प्रधान स्थल सती होने वाला दृश्य है जो इतना शान्त और गम्भीर है कि हृदय पर एक वीतराग त्याग का प्रभाव डाले विना नहीं रहता। मरण-महोत्सव की परम उल्लास और आतुरता से प्रतीक्षा करने वाले उस सामन्त युग में विशेष रूप से क्षत्राणियों में सती-प्रथा समाहत थी। उनके लिए अग्नि-पथ प्रेम-पथ का विधान था। वीर हिन्दू नारी का आत्मोल्लास से जलती हुई अग्नि-चिताओं में प्रवेश परम प्रशांत पर अति मर्म भेदी है। यह आत्मोत्सर्ग की पूर्ण आहुति स्वतन्त्र भारत की हिन्दू ललनाओं के चरित्र की विशेषता थी। स्वतन्त्रता की महान् देन रासो-काल में स्त्रियों के इस आदर्श वलिदान के रूप में सुदृढ़ थी। एक स्थल दृष्टव्य होगा—

विविह तरुनि दिय दान। अवर सामन्त सूर भर॥
अथ अस्स हय लीय। मिलिय रहं हित्त धाम धर॥
चित चिंतै रव रवनि। गवनि पावक प्रज्जारिय॥
प्रेम प्रीति किय पेम। नेम गेमह प्रति पारिय॥
उज्जलिय झाल आयास मिलि। हर हर सुर हर गोम भो॥
जहँ जहाँ सुवास निज कंत किय। तहँ तहँ तिय पिय मिलन भौ॥

परिस्थिति विशेष में नव रसों के एक साथ उद्रेक कराने की सिद्धि भी रासोकार ने दिखाई है। भागवत और भट्टि काव्य की प्रेरणा कवि से कुशल चित्रण करा सकी है। कन्नौज-दरबार में छद्मवेशी पृथ्वीराज को पहचानकर सुन्दरी दासी कर्नाटकी ने लज्जा से घूँघट खींच लिया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु चंद के इशारे से तुरन्त ही उसे पलट दिया। इस घूँघट बन्द करने और खोलने के व्यापार-मात्र ने पंग-दरबार में नव रस उत्पन्न कर दिए :

बर अद्भुत कमधज्ज । हास चहुआन उपन्नौ ॥
करुना दिसि संभरी । चंद बर रुद्र दिपन्नौ ॥
बीभछ्छ वीर कुमार । वीर बर सुभट विराजै ॥
गोष बाल झंपतह । द्रिगन सिंगार सु राजै ॥
संभयौ संत रस दिष्प बर । लोहा लंगरि वीर कौ ॥
मंगाइ पान पहुपंग बर । भय नव रस नव सीर कौ ॥

यहाँ उल्लेख अलंकार का चमत्कार भी जान लेना चाहिए।

अलंकार

अलंकार का प्रयोग भाव-सौन्दर्य की वृद्धि हेतु किया जाता है। शब्दालंकारों में रासो में अनुप्रास और यमक का प्रयोग बहुलता से पाया जाता है। अनुप्रासों के सभी शास्त्रीय भेदों के उदाहरण इस काव्य में मिल जाते हैं। उदाहरण देखिए :

(१) जंग जुरन जालिम जुझार भुज सार भार भुअ ॥
(२) चढ़ि कंध कमंधन जोगिनी । सद्द मद्द उनमद्द फिरि ॥
(३) त्रैनैनं त्रिजटेव सीस त्रितयं त्रैरूप त्रैसूलयं ॥

वाच्यार्थ विचित्रता से रिक्त शब्दाडम्बर-मात्र वाला वर्णानुप्रास भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो जाता है।

यमक का प्रयोग अनेक स्थलों पर है परन्तु संयम के साथ :

(१) सारंग रुकि सारंग हने । सारंग करनि करष्पि ॥
(२) धवल वृषभ चढ़ि धवल । धवल वंधे सु ब्रह्म वसि ॥

श्लेष वक्रोक्ति की चर्चा भावाभिव्यंजना के अन्तर्गत की जा चुकी है।

अर्थालंकारों के अन्तर्गत जहाँ कवि ने काव्य-परम्परा का ध्यान रखते हुए प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया है वहाँ अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमान भी उसने साहस के साथ रखे हैं। राजस्थान के कवियों में यह परम सराहनीय साहस पाया जाता है। रासोकार के अप्रचलित अप्रस्तुत कहीं क्लिष्ट होने के कारण और कहीं लोक में उतनी प्रसिद्धि न पाने के कारण अर्थ को सरल करने के प्रयास में उसे दुर्बोध भी कर बैठे हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

(१) जरयौ ससिफूल जरयौ मनिबद्ध । उग्यौ गुरदेव किधौं निसि अद्ध ॥
(२) जगमगत कंठ सिरि कंठ केस । मनु अट्ठ ग्रह चंपि ससि सीस बैसि ॥
(३) ग्रह अट्ठ सतारक पीत पगे । मनों सु तिके उर भान उगे ॥

परन्तु नवीन उपमान अपनी अर्थ-सुलभता और लोक-प्रसिद्धि के कारण अर्थ-गौरव की भी निःसन्देह वृद्धि कर सके हैं :

(१) मुष कछिन घूँघट अस्सु बली । मनों घूँघट दै कुलबद्धु चली ॥
(२) यों मिले सब्ब परिगह नृपति । ज्यों जल झर बोहिथ्थ फटि ॥
(३) जनु छैलनि कुलटा मिलै । बसुत दिबस रस पंक ॥
(४) दिपंत मेन लग्गयं । जिहाज जोग भग्गयं ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहीं-कहीं ग्रामीण प्रयोग भी मिलते हैं। यथा :

(१) सुर असुर मिलि जल फोरयं।
(२) साज सज्जि चल्यौ सु फुनि। जनु ऊलौ दरियाव॥

उपमा के प्रयोगों द्वारा रासोकार ने अपना अभीष्ट सिद्ध करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एक निरवयवा-लुप्तधर्मा-मालोपमा देखिए :

इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ भारथ्थ भीम वर॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ द्रोनाचारिज बर॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ दससीस बीस भुज॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ अवतार वारि सुज॥
जुध्ध बेर इस्स तुट्टै जुरिन। सिंघ तुट्टि ज्यों सिंघनिय॥
प्रथिराज कुँवर साहाय कज। दुरजोधन अवतार लिय॥

उपमा के बाद 'रासो' में रूपक का स्थान है। वैसे तो उसके सभी विभेद मिलते हैं परन्तु कवि को सांगरूपक सम्भवतः विशेष प्रिय था। इसके प्रयोग में उसे आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है :

(१) आसा महीव कव्वी। नव-नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं॥
सागर सरिस तरंगी। बोहथ्थयं उक्तियं चलियं॥
(२) काव्य समुद्र कवि चन्द कृत। मुगति समप्पन ज्ञान॥
राजनीति बोहिथ सुफल। पार उतारन यान॥

[अर्थात्—कवि के महान् आशा रूपी सागर में उत्ताल तरंगें उठ रही हैं जिसमें उक्ति रूपी बोहिथ (जहाज) चलाये गए हैं।
कवि चन्द कृत काव्य रूपी समुद्र, ज्ञान रूपी मोती समर्पित करने वाला है और राजनीति रूपी बोहिथ उस काव्य रूपी सागर से सफलतापूर्वक पार उतारने वाला यान है।]

समस्त वस्तु-विषय-सावयवों और एकदेश-विवर्ति-सावयवों की स्वाभाविक रंजना कवि के शास्त्र-ज्ञान की परिचायिका है। एक निरवयव रूपक भी देखिये :

चंद वदनि मृग नयनि। भौंह असित कोवंड बनि॥
गंग मंग तरलति तरंग। बैनी भुअंग बनि॥
कीर नास अरु दिपति। दसन दामिक घरमकन॥
छीन लंक श्रीफल अपीन। चंपक बरनं तन॥
इच्छति भतार प्रथिराज तुहि। अहनिसि पूजत सिव सकति॥
अध तेरह बरस पदंमिनी। हंस गमनि पिष्पहु नृपति॥

उत्प्रेक्षाओं की रासो में भरमार है, परन्तु वे अत्यन्त सफल बन पड़ी हैं। रूप-शृङ्गार और युद्ध-वर्णन में वस्तूत्प्रेक्षाओं की प्रचुरता समझनी चाहिए। अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग यहीं पर कवि ने जी खोलकर किया है। एक वाच्या-अनुक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा देखिये :

छुटि अगमद कै काम छुटि। छुटि सुगंध की बास॥
तुङ्ग मनौ दो तन दियौ। कंचन षंभ प्रकास॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यहाँ स्वर्ण खम्भ को प्रकाशित करने वाले दो तुंगों की सम्भावना देखकर और उपमेय स्वरूप उरोजों का कथन न होने के कारण रूपकातिशयोक्ति का भ्रम न करना चाहिए।

प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा दोनों ही मिलती हैं। एक असिद्ध-विषया-हेतूत्प्रेक्षा लीजिये :

सम नहीं इसिमती जोइ। छिन गरुअ छिन लघु होइ॥
देषंत त्रीय सुरंग। तब भयौ काम अनंग॥

यहाँ कवि का कथन है कि संयोगिता की सुन्दरता देखकर ही कामदेव अनंग हो गया परन्तु काम के अनंग होने की कथा शिव द्वारा भस्म किये जाने वाली है।

संयोगिता की रति और स्वेद-कणों को लेकर कवि ने शुक-मुख द्वारा मयंक और मन्मथ की उत्प्रेक्षा की है :

देषि वदन रति रहस। डुन्द कन स्वेद सुम्भ भर॥
चंद किरन मनमथ्थ। हथ्थ कुड्डे जनु डुक्कर॥
सुकवि चंद वरदाय। कहिय उप्पम श्रुति चालह॥
मनौ मयंक मनमथ्थ। चंद पुज्यौ मुत्ताहय॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति। प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय॥
सुक कहै सुकिय इंछिनि सुनव। पै पंगानिय सुन्दरिय॥

कन्नौज में गंगा-तट पर मछलियाँ चुनाते समय पृथ्वीराज ने संयोगवशात् समीपस्थ जयचन्द के प्रासाद के गवाक्ष पर अनन्य सुन्दरी राजकुमारी संयोगिता को देखा। भ्रमालंकार द्वारा कवि ने महाराज की भ्रांति का अपूर्व चित्रण किया है :

कुंजर उप्पर सिंह। सिंह उप्पर दोय पष्षय॥
पष्षय उप्पर भ्रंग। भ्रंग उप्पर ससि सुम्भय॥
ससि उप्पर इक कीर। कीर उप्पर अग दिट्ठौ॥
अग ऊपर कोवंड। संध कंद्रप्प बयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह। हीर सरिस हेम न जर्यौ॥
सुर भुअन छंडि कविचंद कहि। तिहि धोषै राजन पर्यौ॥

अतिशयोक्ति में रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग का प्राधान्य है। कहीं वह स्वतन्त्र रूप में है और कहीं अन्य अलंकारों के साथ मिश्रित। एक स्थल देखिये :

अष्ट मंगलिक अष्ट सिध। नव निधि रत्न अपार॥
पाटंबर अंमर बसन। दिवस न सुझ्झहिं तार॥

दिन में सब वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं परन्तु ये वस्त्र इतने महीन हैं कि दिन में भी उनके तार नहीं दिखाई देते। वस्त्र की सूक्ष्मता उपमान है जिसके प्रतिपादन हेतु 'दिवस न सुझ्झहि तार' का प्रयोग करके भेदेप्यभेदः द्वारा बड़ी खूबी से रूपकातिशयोक्ति सिद्ध की गई है।

अप्रस्तुत के सर्वथा अभाव वर्णन वाले असम अलंकार का एक छन्द देखिए :

रूपं नहि कटाछ कूल तटयौ, भायं तरंगं बरं।
ब्हावं भावति मीन ग्रासित गुनं, सिद्धं मनं भजनी॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सोयं जोग तरंग रूवति बरं, त्रीलोक्य ना ता समो।
सोयं साहि सहाव दीन ग्रहियं, अनंग क्रीड़ा रसं॥

इसमें सांगरूपक के मिश्रण की स्थिति भी समझ लेनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतीप, आवृत्ति, दीपक, सन्देह, सार, स्वभावोक्ति और अर्थांतरन्यास के भी सुन्दर निरूपण मिलते हैं। वैसे-रासो जैसे विशाल काव्य-ग्रन्थ में प्रयत्न करने पर सभी अलंकारों के उदाहरण मिलना असम्भव नहीं है। इन विभिन्न शैलियों के माध्यम से कवि ने अपनी रस-निष्पत्ति में यथेष्ट सहायता ली है। रस और अलंकार की सफल योजना को ही यह श्रेय है कि रासो के अनेक अंश मार्मिक, प्रभावशाली और मनोहर हो सके हैं।

छन्द

काव्य-शास्त्रियों का छन्दों पर यह अनुशासन नहीं है कि अमुक प्रकार के काव्य या अमुक रस में अमुक छन्द का ही प्रयोग होना चाहिए। फिर भी प्रबन्ध के लिए अवधी में जायसी और तुलसी की दोहा पद्धति तथा वीर-रस के लिए पृथ्वीराज रासो की छप्पय पद्धति ने पर्याप्त ख्याति पाई।

रासो में ६८ प्रकार के छन्द पाये जाते हैं जो उसका आकार देखते हुए अनुचित नहीं है। उनमें अधिक संख्या प्राकृत अपभ्रंशकालीन मात्रा वृत्तों की है। अनेक छन्दों के नाम नवीन अवश्य हैं और परवर्ती हिन्दी-साहित्य में सूदन और जोधराज को कुछ अंशों में छोड़कर उनका प्रयोग अपवाद है, फिर भी उनके रूप और लक्षणों का निर्धारण पिंगल छन्दः सूत्रम्, गाथा लक्षणम्, वृत्तजाति-समुच्चयः श्रीस्वयम्भूः छन्दः, कवि दर्पणम्, प्राकृत पिंगलम्, छन्दः कोशः, वृत्त रत्नाकर, छन्दार्णव पिंगल, छन्दः प्रभाकर प्रभृति संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के छन्द-ग्रन्थों की सहायता से किया जा चुका है। 'रासो' का छन्द-प्रकरण अपनी एक पृथक् समस्या है, उसके विषय में इस स्थल पर इतना मात्र कथन यथेष्ट होगा कि अभिव्यंजना के विचार से रासोकार ने अपने छन्दों का चुनाव अत्यन्त दूरदर्शिता से किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर सत्येन्द्र

सूरसागर

सूर की रचना—'सूरसागर' सूरदास की रचना है। यही सूरदासजी की ऐसी रचना है, जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, जिसे सभी सूरदास की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।[1]

सूरसागर का स्वरूप—वार्त्ता में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ के लिए नहीं हुआ, वरन् सूरदास जी के लिए हुआ है।[2] सूरदास स्वयं 'सागर' थे, उनके पदों का संग्रह भी सागर कहलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'सूरसागर' के पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। सूरदास जी सम्बन्धी 'वार्त्ता' में यह उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्रविधि' पद लिखे। इसी के उपरान्त श्री हरिराम जी द्वारा सम्पादित 'वार्त्ता' में एक प्रसंग यों है—

"सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो—मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने।.....

.....वाही समय श्री गोवर्द्धनाथ की आयु प्रकट होय के दरशन दे के कह्यो जो—सूरदास जी! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तो पूरन होय चुक्यौ है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं।"[3] ये पचीस हजार कीर्तन 'सूरस्याम' की छाप से युक्त थे।

सूरदास के अन्तर्साक्ष्य से पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए सूरसारावली के पद एक की ये पंक्तियाँ दी जाती हैं :

श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ,

---

१ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है "गत पृष्ठों की विवेचना के फलस्वरूप सूरदास की केवल एक प्रामाणिक रचना, सूरसागर रह जाती है। इस रचना की सूचना वार्त्ता से भी मिलती है।"—सूरदास, पृ० ६७।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त शेष सभी लेखक तथा विद्वान 'सूरसागर' के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं को भी सूरदास-कृत मानते हैं।

२ "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो सूरसागर! सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला कौ बरनन कियौ है।—'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' तृतीय भाग पृष्ठ २३

३ 'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitjzed by eGangotri

ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद वन्द ।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि भावत अति आनन्द ॥

इन कथनों से यह विदित होता है कि सूरदास ने सहस्रावधि अथवा सवा लाख अथवा एक लाख पद रचे। वार्त्ता के प्रसंग से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि इस वार्त्ता के प्रचलित होते समय तक सूरदास जी के पदों की संख्या तो सवालाख मानी जाने लगी थी पर उसमें 'पच्चीस हजार' पद ऐसे थे जो सूरदास के नहीं थे। हो सकता है यह बात पदों में 'सूर-स्याम' छाप की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गई हो। किन्तु साधारणतः तो यही अनुमान होता है कि सूरदास के पदों में किसी अन्य के रचित पद भी सम्मिलित हो चुके थे। इसकी पुष्टि इसी वार्त्ता के एक अन्य प्रसंग से होती है :

"पाछें देशाधिपति ने आगरे में आयके सूरदास के पदन की तलास कीनी। जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूँ रुपैया और मोहोर देय। सो वे पद फारसी में लिखायकें वाँचै। सो मोहोर के लालच सो पण्डित कवीश्वरहू सूरदास के पद बनाय के लायें।"[1]

सूरदास के लाख-सवा लाख पदों की गणना में सम्भवतः ऐसे भी अन्य कवियों द्वारा रचे जाली पद भी सम्मिलित हो गए होंगे। पर इतना होने पर अभी तक जो पद सूरदास-कृत पाये गए हैं, वे सब ८-१० हजार से अधिक नहीं हैं।

सूरदास की रचनाओं का संग्रह अकबर के समय में ही होने लगा था। अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ सं० १६६७ का लिखा हुआ है।[2] यह प्रति राठौर वंश की मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गई थी।[3] किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है। जिसमें सूर के समस्त पद सम्मिलित हों। प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में तो उनके रचित पद हैं ही, पर उनके बहुत से पद तो वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनों में ऐसे मिलते हैं, जो कहीं भी सम्मिलित नहीं हैं। अतः यह सम्भव नहीं कि सूरदास द्वारा रचित पदों की ठीक संख्या बताई जा सके। इस दिशा में अभी खोज चल रही है और चलती रहनी चाहिए। वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनादि में मिलने वाले भी समस्त पदों का संग्रह होना चाहिए। जहाँ तक सूरदास के पद-निर्माण की सामर्थ्य का प्रश्न है यह कहा जाता रहा है कि वे कभी पुराना पद गाते ही नहीं थे। इस प्रकार 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने हिसाब लगाकर यह निष्कर्ष निकाला है :

"यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है। हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है, वह कम-से-कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं हैं।"[4]

---

१. वही पृष्ठ सं० २७। भावप्रकाश वाला यह वार्त्ता-प्रसंग सं० १७२८ से १७७२ में हरिराय द्वारा लिपिबद्ध किया गया होगा। 'दे० सूर-निर्णय' पृष्ठ २३ अतः अठारहवीं शताब्दी तक के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सूरदास की मौलिक रचनाओं में प्रक्षिप्त पद मिल गए थे।

२, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृष्ठ १५८।

३. वही पृष्ठ ग। ४. सूर-निर्णय, पृष्ठ ५७४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१. उनकी ये संख्या इस प्रकार है—१८ वर्ष से ३१ वर्ष की आयु तक वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व— ४५०० पद (प्रतिदिन एक)

२. श्रीनाथ कीर्तन में आठ पहर के आठ गीत प्रतिदिन—प्रतिवर्ष २८८० पद आधे पद कुम्भनदास के निकाल दें तो १४४० वर्ष में, अतः १५६७ से १५७७ तक ११ वर्ष में— १५८४० पद

३. परमानन्ददास के कीर्तनियाँ नियुक्त होने पर सूरदास के वार्षिक पद एक तिहाई २६६०, कम-से-कम ६०० सं० १५७७ से १६०२ (अष्टछाप स्थापना का संवत्) तक २५ वर्ष— २२५०० पद

४. अष्टछाप की स्थापना के उपरांत वार्षिक संख्या का $\frac{1}{5}$ सूर ने रचा होगा—२३६० पद अतः १६०२ से १६४० तक— ३६ वर्ष— १४०४० पद

५. सं० १६०२ से विट्ठलनाथ जी ने अनेकों वर्षोत्सव बढ़ाये— समस्त उत्सवों के दिनों का परिमाण ६ मास, इसके २७० पद—३६ वर्ष के उत्सवों के पद— १०५३० पद

६. शयनोत्तर दीनता-आश्रय के पद—ये महाप्रभु के समय से ही—७३ वर्ष के ये पद— २६२८० पद

७. लीला सिद्धान्त आदि के अन्य पद और जोड़ें तो लाख-सवा लाख तक संख्या पहुँचेगी।[1]— ६३३५० पद

सूर-सागर का विषय—सूर-सागर सूर के मानस-रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है। वह आधार मुख्यतः 'भागवत' है, स्वयं 'सूर' ने कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है—उदाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है :

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

फिर भी 'भागवत' और 'सूर-सागर' की तुलना से यही विदित होता है—

"सूर-सागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है अनुमान में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथा-वस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूर-सागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[2]

अतः विषय की दृष्टि से 'सूर-सागर' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. विनयादि

२. भागवतादि के आधार पर अन्य पौराणिक कथाओं का स्वतन्त्र वर्णन।

३. कृष्णलीला—इस कृष्णलीला में ही कवि ने 'भागवत' से स्वतन्त्र कई नई उद्भावनाएँ की हैं—जैसे—"राधाकृष्ण-मिलन, पनघट का प्रस्ताव, दान-लीला, खण्डिता समय,

---

१. 'सूर-निर्णय' पृष्ठ १७०—१७४

२. सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा-कृत—पृ० १०३-१०४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मान लीला, वसन्त और फाग का हिंडोल लीला।"[1] अनय भक्ति की प्रधानता, राधा का महत्त्व, गोपिकाओं का स्वरूप भी सूर ने अपनी प्रतिभा से नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस कवि का मुख्य लक्ष्य सूर-सागर में 'कृष्णलीला वर्णन' है। यही दशम स्कन्ध का विषय है।

'सूर-सागर' के विषय का विस्तृत परिचय 'सूर-सौरभ' के आधार पर संक्षिप्त करके दिया जा सकता है।[2] वह इस प्रकार है:

प्रथम स्कन्ध—इसमें भक्ति की सरस व्याख्या उपलब्ध होती है।

प्रथम स्कन्ध में विनय एवं भक्ति के पदों की ही प्रधानता है।

विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त इस स्कन्ध में श्री मद्भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव की उत्पत्ति, व्यास अवतार महाभारत की कथा संक्षिप्त परिचय, सूत शौनक संवाद भीष्म की प्रतिज्ञा, भीष्म का देह-त्याग, श्री कृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, पाण्डवों का हिमालय-गमन, परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप, कलियुग को दण्ड देना आदि प्रसंगों का भी भागवत के प्रथम स्कन्ध के अनुसार वर्णन है।

द्वितीय स्कन्ध—श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा के अनुसार इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति, विराट पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति-महिमा, सत्संग महिमा, भक्ति-साधन, आत्म-ज्ञान तथा भगवान् की विराट रूप में आरती का वर्णन है।

तृतीय स्कन्ध—जिनमें भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार उद्धव-विदुर-सम्वाद, विदुर को मैत्रेय से भगवान् के बताये हुए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म बारह अवतार, कर्दमदेवहूति का विवाह, कपिल मुनि का अवतार, देवहूति का कपिल से भक्ति सम्बन्धी प्रश्न, भक्ति-महिमा और देवहूति की हरि-पद-प्राप्ति आदि कथाओं का वर्णन है।

चतुर्थ स्कन्ध—यज्ञ पुरुष अवतार पार्वती विवाह ध्रुव कथा, पृथु अवतार तथा पुरंजन आख्यान का वर्णन पाया जाता है।

पंचम स्कन्ध—में ऋषभदेव अवतार, जड़ भरत की कथा तथा उनका रहूगणों के साथ सम्वाद वर्णित हुआ है।

षष्ठ स्कन्ध—में भागवत के आधार पर अजामिल-उद्धार की कथा, इन्द्रा द्वारा वृहस्पति का अवतार, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु की महिमा तथा गुरु कृपा से इन्द्र को पुनः सिंहासन की प्राप्ति आदि का वर्णन है।

सप्तम स्कन्ध—में भागवत के आधार पर नृसिंह अवतार का वर्णन किया गया है। परन्तु श्री भगवान् द्वारा शिव की सहायता और नारद की उत्पत्ति की कथाएं भागवत के इस स्कन्ध में नहीं मिलतीं।

अष्टम स्कन्ध—से गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मंथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है।

---

१. सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १०६.

२. सूर-सौरभ : प्रो० मुन्शीराम शर्मा सोमकृत पृष्ठ १४-२० (तृतीय भाग)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीक और सौभरि ऋषि के उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का भूगोल से आगमन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में गौतम अहिल्या का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है। सूर को भगवान् कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है। वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर ने राम-चरित्र का भी हृदय-हारी चरित्र-चित्रण किया है। राम के बाल-रूप-वर्णन में तो, अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल, वे तल्लीन हो गए हैं, सीता का विरह-वर्णन भी अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के कवित्व की कोमलता, कमनीयता और कला, भगवद्भक्ति, भावुकता और भव्यता, वैलक्षण्य, विलास, व्यंग्य, और विदग्धता सबका स्रोत यहीं तो है, जहाँ से यह भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ फूट-फूटकर सूर-सागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है। भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान् कृष्ण की जन्म-लीला, मथुरा से गोकुल आना, छठी, पूतना-वध, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्ण-छेद, घुटनों के बल चलना, बाल-वेश, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, माटी खाना, माखन-चोरी, गो-दोहन, वत्स-बक-अघासुर वध, ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात्, ब्रीड़ा राधा का श्याम के घर जाना, श्याम का राधा के घर जाना, गो-चारण, धेनुक-वध, कालिय-दमन, दावानल-पान, प्रलम्ब-वध, मुरली चीर हरण, पनघट, गोवर्धन-पूजा, दान-लीला, नेत्र-वर्णन, रास-लीला, राधाकृष्ण का विवाह, मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी-लीला, श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, मुष्टिक चाणूर-वध, कंस-वध, उग्रसेन को सिंहासनासीन करना, वसुदेव-देवकी के दर्शन करना, यज्ञोपवीत, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों के वर्णन में जितनी रुचि रमी है उतनी अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधान क्षेत्र था, और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और वरिष्ठ वर्णन सूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं।

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध—दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध, द्वारिका-निर्माण, कालयवन-दहन, मुचकुन्द का उद्धार, द्वारिका-प्रवेश, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न-विवाह, ऊषा-अनिरुद्ध-विवाह, नृगराज का उद्धार, बलराम का व्रज-गमन, सांब-विवाह, कृष्ण का हस्तिनापुर जाना, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण, शाल्व-वध, दन्त-वक्र और बल्वल का वध, सुदामा-दारिद्र्य-भंजन, कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द-यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद-स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-अर्जुन का विवाह, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है, जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कन्ध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने, नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बौद्धावतार, कल्कि-अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाएँ हैं। अवतारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है।

सूर-सागर के काव्य की पृष्ठभूमि—सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१५३५ में हुआ, सन् १४७८ ई० में। मृत्यु सं० १६४० के लगभग हुई[1] सन्, १५८३ ई० में। १०५ वर्ष इस काल में भारतीय इतिहास की एक शताब्दी व्यतीत हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखाई पड़ते हैं—सूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है उससे पूर्व की एक शताब्दी बहुत धार्मिक हलचलों और ऐतिहासिक उथल-पुथलों की थी। समस्त युग सामन्तवादी था। छोटे-छोटे राज्य छोटे-छोटे सामन्त। प्रत्येक राज्य और प्रत्येक सामन्त की अपनी अलग आन-बान-शान। इनमें परस्पर भी युद्ध होते थे, और अब तक—अकबर से पूर्व तक विदेशी माने जाने वाले दिल्ली के मुसलमानी शासकों से भी युद्ध होते थे। छुट-पुट मुसलमानी राज्य दक्षिण में भी स्थापित हो गए थे। इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी। दिल्ली की केन्द्रीय-शक्ति मुसलमानी-शासन-स्थापन होने के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे के हाथों में प्रायः इतनी जल्दी-जल्दी गई थी, और राजकीय लड़ाइयाँ जहाँ-तहाँ आए दिन इतनी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन न तो उनमें रस ही पाता था, न बल। राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित ही था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आए दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या लगेगा। फलतः प्रजा को भी युद्धों से वैराग्य था, युद्धों से नहीं राजनीति से भी। वे अपने कार्य में व्यस्त रहते, जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी शान्ति वे खरीदते रहे। इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना वही थी जो मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रकट की थी :

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मग्न नहीं होती गई, अपने व्यसनों में भी डूबी। व्यसन था धर्म, और यह व्यसन इस युग में जीवन और व्यवहार का मुख्याधार बन गया था। राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था, वह तो राज्य और राजनीति से भी गहराई के साथ चिपक गया था। राज्य और राजनीति से चिपके इसी धर्म का अत्याचार प्रजा और जनता को भोगना पड़ता रहा था, और इस धार्मिक अत्याचार का कोई-न-कोई प्रभाव सूरदास जी ने भी अनुभव किया ही होगा। यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म के आवरण से युक्त न होते तो इस काल का ही नहीं, भारत के ही इतिहास का रूप कुछ भिन्न होता, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त ही नहीं हुआ, विमुख भी हो चला। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का नारा बुलन्द भी हुआ, पर वह जम नहीं सका। इसी कारण साधारण जन को अपनी अभाव-पूर्ति के लिए अपनी राज्य-भक्ति की भावना की तुष्टि के लिए अपने मनोनुकूल राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई—

भारतीय प्रजा क्या चाहती थी—वह चाहती अपने लिए राजा, क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी, राजतन्त्र में पली थी, राजतन्त्र का वह युग था।

ऐसा राजा जो उनका प्रतिपालन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था।

ऐसा राजा, जो उन्हें कल्याण का मार्ग बताय—अन्यथा विदेशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही, उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता।

---

१. सूर-निर्णय पृष्ठ १०४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा राजा, जिसका पार्थिव वैभव भी महान् हो—राज-कोष का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था।

ऐसा राजा, जो धर्म की धुरी को भी धारण करने वाला हो, क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था।

ऐसा राजा, जो भगवान् का अंश ही न हो, उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान् अंश होता है यह तो भारत में बद्धमूल धारणा थी ही, किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान-शासक को भी अपनी भेंट देते ही थे, पर भगवान् के उस अंश पर अश्रद्धा जो हो रही थी तो भगवान् का अवतार ही उनकी तुष्टि कर सकता था।

राजा ऐसा भी हो जो उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—'निगुरा' व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था। कबीर को भी इसी भावना के आगे हारकर गुरु करना पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिभा ने और गोसाईं विट्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मूर्त रूप 'पुष्टिमार्ग' में खड़ा कर दिया—

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान् के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए।[1] इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्बन्ध प्रस्तुत हुआ—

१ मूल भगवान्—स्वयं कृष्ण
२ विग्रह भगवान्—कृष्ण जी की विविध मूर्तियाँ
३ गुरु भगवान्—वल्लभाचार्य जी तथा गोसाईं जी[2]

---

१. हरि गुण एक रूप नृप जान—सूरदास। विट्ठलनाथजी के जन्म के समय सूरदास ने यह पद गाया—

श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।
श्री लक्ष्मन सुत द्विज के राजा, कीजै कहा बड़ाई,
बहुरि कृष्ण अवतार लियौ है, सदन तुम्हारे आई।
कोटि-कोटि कलि जीव उद्धारन, प्रगटे श्री जदुराई,
चिरजीवौ अक्काजी कौ सुत; श्री विट्ठल सुखदाई।
गिरिधरलाल कौ ढाढ़ी कहावें, 'सूरदास' बलि जाई।

२. सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस एकसूत्रता का स्पष्ट आभास है—

भजो गोपाल भूलि जिन जीवौ,
मनुषा देह कौ यहि है लहावौ।
गुरु-सेवा करि भक्ति कमाई···
उठिकै प्रात गुरन सिर नावें
प्रात समै श्रीकृष्ण ही ध्यावें···
जो ठाकुर को करे प्रनाम···
सेवा की यह अद्भुत रीति
श्री विट्ठलेश सों राखै प्रीति····आदि।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इनमें राज्य-वैभव की प्रतिष्ठा भी बड़ी युक्ति से की गई। भगवान् के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदास जी ने भगवान् को ठाकुर बताकर उनके राज्य-शासन का ही उल्लेख रूपक से किया है।[1] वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी की सेवा के विधान में पूर्ण राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुर जी के विविध वर्णन राजसिक वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि, मोती, हीरा, मूँग, स्वर्ण से कम का उल्लेख तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन काल्पनिक नहीं यथार्थ था, क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदायों के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

इस विधि के राजनीतिक राज्य-विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वेच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने भक्तजनों को 'तन मन धन सब गुसाईं जी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

सूर-सागर का विश्लेषण—इस पृष्ठभूमि पर सूर-सागर बना और इस सबकी झिल-मिलाहट सूर-सागर में विद्यमान मिलती है : सूर-सागर के काव्य के विश्लेषण से हमें उसमें तीन तत्त्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा, २—वर्णन-वैभव, ३—भाव-सम्पत्ति

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अतः उसका सम्बन्ध मुख्यतः मूल कृष्ण से है। वह कृष्ण जो परम तत्त्व हैं और जिनके अवतार वल्लभ और विट्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विशदता और राजसिकता है, वह मन्दिरों और आचार्य गुरुओं के वैभव के आधार पर हैं। भगवान् के रूप की और शृङ्गार की कल्पना में पौराणिक शृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस शृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। वार्ता में स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तनों में जैसा शृङ्गार ठाकुरजी का होता था, वैसा ही वर्णन करते थे।[2] इस कथा और वर्णन-वैभव के साथ 'भाव-सम्पत्ति का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पत्ति आचार्य और गोसाइंयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुञ्जी एक पद में दी है, उसकी पुष्टि और व्याख्या 'वार्ता' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति ही थी।[3] यह व्यक्तिगत धरातल पर इतनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों

---

१. यथा-हरि सौं ठाकुर और न जन कौ।
तथा
हरि के जन की अति ठकुराई। आदि

२. देखिए प्राचीन वार्ता रहस्य में सूरदास की वार्ता का 'वार्ता प्रसंग ६' "ये तीनों भाई कहे जो—ये सूरदास जी; जैसा शृङ्गार नवनीत-प्रिया जी को होत है, तैसे ही वस्त्र-आभूषण वरणन करत हैं।—पृ० ३०

३. वार्ता प्रसंग यों है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाईं जी के पास ठाड़े हते। उनमें से चत्रभुजदास ने कह्यौ जो—सूरदास जी परम भगवदीय हैं, और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं, परन्तु सूरदास जो ने श्री आचार्य जी महाप्रभुन को जस बरनन नांही कियो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में वात्सल्य के चित्र जैसे विट्ठलनाथ के दो बाल-जीवन के चित्र प्रतीत होने लगते हैं। इस गोवर्द्धन और गोवर्द्धनधारी के ढाढी-कीर्तनियाँ सूर के इन वात्सल्य वर्णनों में जो तन्मयता और भक्ति है, और उसमें काव्य-वस्तु को जो यथार्थता है, वह उनके किसी अन्य वर्णन में नहीं है। इसी कारण सूर के सूर-सागर में काव्य-वृत्ति का विकास कुछ इस प्रकार सिद्ध होता हुआ दिखाई पड़ता है :

यथार्थ-स्तर—भावमय स्तर—बौद्धिक स्तर
भाव-तन्मयता भाव-माधुर्य भाव-समृद्धि
वात्सल्य संयोग वियोग

सूर-सागर का समस्त काव्य वात्सल्य तथा शृङ्गार-रस से युक्त है। इन रसों की क्रमशः स्थिति उपरोक्त त्रिधि से ही है : वात्सल्य, उसके उपरान्त संयोग-शृङ्गार तदनन्तर वियोग। 'वात्सल्य' में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाएँ हैं। जिनमें भक्ति की भाव-संयोजना के साथ बालक के मानसिक विकास का सूत्र भी परिलक्षित होता है। इस वात्सल्य के यथार्थ में आरम्भ से ही गोपियों के प्रेम का अवलम्ब दृष्टिगत होता है। पहले यह गोपी-कृष्ण-प्रेम अत्यन्त साधारण धरातल पर है : गोपियाँ कृष्ण को चाहती हैं, कृष्ण गोपियों के घर में घुसकर उपद्रव करते हैं, माखन चुराते हैं। कृष्ण इस समय बालक ही हैं किन्तु उनका कृष्ण पर प्रेम यशोदा के प्रेम से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रेम कुछ विकसित होते ही 'राधा' सामने आ जाती है और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की लीला होने लगती है। इसकी चरम परिणति रास में होती है, तभी 'वियोग' हो जाता है, इस वियोग का चरमोत्कर्ष 'भ्रमर-गीत' में होता है। वात्सल्य में भावतन्मयता है, कृष्ण की बाल-लीलाओं के अवलम्ब के साथ। संयोग में भाव-माधुर्य है वयः सन्धि और अंकुरित यौवन के साथ-मुरली और रास का इस संयोग में विशेष स्थान है। इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है इस काल की क्रीड़ाओं में किसी का भी अवलम्ब यथार्थ नहीं, प्रत्येक यथार्थ के संकेत में शृङ्गारिक कल्पना से भावोद्रेक है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही महकते हैं—तब वियोग में यह भाव-मुग्धता तो कम हो जाती है, बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है। बौद्धिक होकर गोपियाँ अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा लेती हैं।

सूर-सागर का काव्य—इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है। किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी, इन्हीं में नहीं है। इन तन्तुओं को जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किये हुए है, वह न समय की परिधि से घिरी हुई है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से। मानव में उसके शारीरिक सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है। उस पर आज विचार नहीं किया जा सकता।

यह सुनि के सूरदास जी कहे जो—मैं तो सगरो जस श्री आचार्य जी को ही वरनन कियो है। जो मैं कछु न्यारो देखतो तो न्यारो करतो। परि तेंनें मोसों पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हौं, सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो सो पद राग विहाभरी—भरोसो इन दृढ़ चरणन केरो। पृ० ५२ प्राचीन वार्ता रहस्य।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० रांगेय राघव

रामचरितमानस

महाकवि तुलसीदास के चिरस्मरणीय महाकाव्य का नाम ही राम के चरित्र के मानसरोवर में पाठक को अवगाहन कराता है। मानसरोवर तुलसी के युग में एक प्रचलित नाम था। लोग जानते थे कि यह हिमालय के उत्तरस्थ प्रदेश में एक झील है, जो पुरातन काल से ही अति पवित्र है, कलियुग में तो किसी तीर्थ से कम नहीं। उस झील में तुलसी ने अपने पाठक को भक्ति की लहरों में निमज्जित कर दिया। तुलसी के ग्रन्थ का रूप एक काव्य का रूप नहीं, एक पुराण का रूप है। पुराण के रूप और काव्य के रूप में मूल भेद है। आगम और निगम करके जो ग्रन्थ प्रचलित हैं वे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचारक दृष्टिकोण को सामने रखकर लिपिबद्ध किये गए हैं। अतः उनमें प्रश्नोत्तरी का रूप सबसे सहज माना गया है। यह परम्परा पहले संस्कृत में रही। परवर्त्ती काल में दत्तात्रेय, नाथ, कबीर नामक पन्थों में होती हुई यह तुलसी के काव्य में भी प्रस्फुटित हुई। आज बहुत से जिज्ञासु कहते हैं कि तुलसी के इस पुराणकाररूप को देखना व्यर्थ है। वस्तुतः यह एक संकीर्णतावाद है जो परिस्थिति को पूर्णतया अध्ययनपूर्वक देखने के पहले अपने सिद्धान्त बनाकर उस पर सबको फिट करके अपना ही राग अलापना चाहता है। परन्तु इतिहास व्यक्तियों के स्वभावों की कारीगरी नहीं, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण चाहता है। इसी-लिए किसी भी कवि का मर्म समझने के लिए उसके उस रूप को अवश्य जान लेना चाहिए, जिसके द्वारा उसने संसार से और उसकी सामाजिक प्रक्रिया से अपना सम्बन्ध निर्धारित किया है। क्योंकि यदि एक ओर वह समाज से प्रभावित हुआ है, तो दूसरी ओर उसने समाज को प्रभावित भी किया है। तुलसी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरांश में ही नहीं, अपनी मृत्यु के बाद भी शताब्दियों तक गहरा प्रभाव डाला है। इस प्रभाव डालने का कारण जहाँ एक ओर उनकी सुन्दर काव्य-शक्ति है, दूसरी ओर उनके काव्य का धार्मिक स्वरूप भी है। तुलसीदास का काव्य एक कवि की प्रेरणा-मात्र का फल नहीं, वरन् वह एक गहरे अध्ययन और चिन्तन का वह जागरूक स्वरूप है जिसे महाकवि प्रस्तुत करना चाहते थे।

तुलसी ने १६वीं शती में अपना काव्य रचा। इस युग में निस्संन्देह रामकथा को लेकर लिखना अपना एक ध्येय रखता था। रामायण का ग्रन्थ प्रसिद्ध था और एक नहीं उस समय अनेक रामायण थीं। श्री रामदास गौड़ ने निम्नलिखित रामायणों का उल्लेख किया है—संवृत-रामायण, अगस्त्य रामायण, लोमस रामायण, मञ्जुल रामायण, सौपद्म रामायण, रामायण महा-माला, सौहार्द रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य्य रामायण, चान्द्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भुव रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण चम्पू तथा अध्यात्म रामायण। इसके अतिरिक्त रामायण की कथा १८ पुराणों और महाभारत में भी आई है। इन सब रामायणों की कथाओं में थोड़ा बहुत भेद भी है। एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महत्त्वपूर्ण भेद है कि महाभारत की रामायण-कथा में तो सीता का अग्नि-प्रवेश ही नहीं होता जो वाल्मीकि रामायण में होता हुआ दिखाया गया है। तुलसीदास ने इनमें से कितनों को पढ़ा होगा यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे गहरे विद्वान् थे यह हमको सदैव स्मरण रखना होगा। इन सब रामायणों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव (७६० ई०) ने भी रामायण लिखी थी। यह कवि जैन था। परन्तु 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' जो रामायण तुलसीदास ने लिखी है, उसका मूलाधार है—वह लिखता हूँ जो मैंने अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी थी। इसका कारण था कि तुलसीदास राम की कथा की शृङ्खला-मात्र को अपना कर्तव्य नहीं बनाये हुए थे, वे और गम्भीर रहस्यों को ढूँढकर उनका हल प्रस्तुत करना चाहते थे। महाकवि रवीन्द्र बहुधा कहते थे कि बीसवीं शती में एक युग-व्यापक महाकाव्य लिखना कठिन है। सम्भवतः तुलसी के युग में भी यही प्रश्न था। एक ओर सूर कृष्ण पर निर्भर थे, दूसरी ओर सूफ़ी कवि अपनी कहानियाँ गढ़ते थे। तुलसी को एक युग-व्यापी विषय की आवश्यकता थी। उसने सफलता से रामायण को लिया और अमरता की देहली पर गौरव के पुष्पों को चढ़ाकर न केवल उसने अपने देवता को प्रसन्न कर लिया, वरन् अपने पीछे के दर्शनियों का हृदय भी गन्ध से भर दिया। इस प्रकार राम-कथा की एक विराट् परम्परा के अन्तिम जाज्वल्यमान चरण बनकर तुलसीदास उपस्थित हुए, जिन्होंने राम-कथा के अतिरिक्त सामाजिक नियमन और शास्त्र-प्रतिपादन, दर्शन-विवेचन के लिए प्रश्नोत्तरी का ढाँचा लेकर एक धर्मपुराण लिखा जिसका काव्य-सौन्दर्य भी श्रेष्ठ था और जिसका सन्देश भी युगानुरूप-सा ही दीखता था।

यहाँ तुलसी के काव्य का भेद अन्य रामायणों से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में नारद ने वाल्मीकि को राम के पूर्णत्व का उपदेश दिया। किन्तु वह एक महापुरुष का ही वर्णन था जिसमें सब महान् गुण हों। निस्सन्देह वाल्मीकि रामायण में यह अंश क्षेपक है, क्योंकि वाल्मीकि के लिए जो श्रेष्ठ विशेषण आये हैं वे वाल्मीकि ने स्वयं अपने लिए नहीं लिखे होंगे। अश्वघोष के समय में भी आख्यानक प्रचलित थे। 'उनमें बहुत झूठ है, अतः उन्हें नहीं सुनना चाहिए,' यह अश्वघोष ने उन आख्यानक काव्यों के विषय में कहा था। चमत्कार रामायण कथा में बढ़ते गए हैं यह हम महाभारत कथा का ऊपर उल्लेख करके प्रकट कर चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में चमत्कार भरे पड़े हैं। राम-कथा तो बहुत पुरानी है, कब की है, उसकी तिथि तो निश्चित नहीं की जा सकती, परन्तु वह उस बर्बर युग (अर्थात् दास प्रथा वाले युग) की है जो महाभारत से पहले का था। उसका रूप प्रत्येक आने वाले युग में चमत्कारों से बढ़ता गया और वाल्मीकि रामायण, जो लगभग शुङ्गकाल की है, उसमें स्थिर हो गया। वास्तव में उस समय तक रामायण-कथा का प्रायः संपादन हो चुका था। वाल्मीकि रामायण के उस संपादन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि यह तत्कालीन समाज के प्रकाश में काफी रँगी गई। राम को एक महान् नायक के रूप में उपस्थित किया गया। परन्तु वह मनुष्य ही रहा, याद रहे कि उस समय तक सामंतवाद के प्रसार ने प्रायः ही वे गण नष्ट कर दिये थे जो दास-प्रथा के बल पर रक्त गर्व के सिद्धांत को लेकर अवशिष्ट थे। दासयुग के वे एक तंत्र राज्य भी महाभारत-युद्ध के बाद अपने-आपको एकतंत्र के रूप में जीवित रखने में असमर्थ हो गए थे। उस समय उच्चकुलों ने दास-प्रथा को कायम रखने के लिए ग्रन्थों की रचना की थी। वे गण इसलिए नष्ट हो गए—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(१) नदियों का व्यापार बढ़ने से व्यापार का संतुलन बदल गया। वाणिज्य बढ़ा। व्यापारियों को बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। दास-प्रथा अब व्यापारी के लिए लाभदायक नहीं थी, क्योंकि कच्चा माल इधर से उधर ले जाने की बनिज में, गणाधिपति उतना लाभ नहीं दे सकते थे जितना किसान। इसलिए 'सर्फ' अधिक लाभदायक हुआ अर्थात् किसान।

(२) रक्त-गर्व और कुल-गर्व सामंत-काल में भी रहा अवश्य, और जन्मना ही रहा। परन्तु उसमें विवाहादि की ढील आई और गर्व के कारण एक दूसरी जाति के आवागमन में रोक-टोक नहीं रही।

(३) यात्रा की रक्षा के लिए बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती गई साम्राज्य बनते गए।

(४) दास और शूद्र, जो दलित थे उन्होंने सिर उठाया। दास जो पहले उत्पादन-प्रणाली में जुतता था वह अब पारिवारिक दास हुआ, और शूद्र किसान बना। इसको ब्राह्मणों ने बदलती परिस्थिति में स्वीकार कर लिया और वे फिर से समाज के नियंता बने।

(५) महाभारत-युद्ध के बाद बर्बर अर्थात् दास युग के समाज का ढाँचा बदला। पुराना चातुर्वर्ण्य बदला। पहले आर्य ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते थे, तथा शूद्र सब अनार्य थे, या अन्य जातियाँ अलग पुकारी जाती थीं जैसे राक्षस, नाग इत्यादि। अब वही चातुर्वर्ण्य सामंतीय व्यवस्था के लिए अपने-आप बदला। अब सब जातियों का परस्पर मिलन हुआ। सब पुजारी वर्ग ब्राह्मण, योद्धावर्ग क्षत्रिय, व्यापारीवर्ग वैश्य और कमकरवर्ग शूद्र हुआ। और चार मुख्य भागों में बटा समाज अपनी वर्गाधीन स्वतंत्रता का उपभोग करता, असंख्य उपजातियों के लिए रहा। यह भी यों हुआ कि सामंतीय समाज भी 'जन्मना' के आधार पर ही था। यद्यपि उसने बाह्य रूप को बदल दिया था।

(६) बर्बर युग के असाम्य पर सामंत-काल एक प्रगति बनकर आया। अब सामंत में ईश्वरत्व का आरोप हुआ और एक चरित्र-नायक का निर्माण हुआ। जिसने अपने पुरुषार्थ के बल पर संसार को सुखी करने का प्रयत्न किया। वह असाधारण व्यक्तित्व का पुरुष हुआ जिसने अपनी स्त्री को प्रजा के लिए त्याग दिया। स्त्री के अधिकार समाज में नहीं थे, उन्हें वह ठीक करने में असमर्थ था परन्तु वह अपने को समाज का अंग मानकर, कर-ग्रहण के अधिकार की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए, बराबर सन्नद्ध रहा। वह अत्याचारी तथा-आक्रमणकारी का शत्रु था। वह राम था। वही रामायण का नायक बना।

इन परिस्थितियों में वाल्मीकि रामायण के वर्तमान स्वरूप का सम्पादन हुआ। बर्बर (दास)-युगीन सभ्यता को सामंतीय कलेवर पहनाकर उपस्थित किया गया। सामंत-काल के उदय के इस युग में एक ओर शम्बूक को दबाया गया, दूसरी ओर सीता के प्रति करुणा दिखाई गई। वस्तुतः स्त्री के प्रति सहृदय आन्दोलन कालिदास और भवभूति में भी रहा और दूसरी ओर ब्राह्मणधर्म-विरोधियों ने शंबूक के पक्ष का समर्थन बौद्ध-पंथों में किया। यह हुई कुछ बाद की बात। सामंत-काल के उदय के साथ समाज में जिस नई स्फूर्ति की अवतारणा हुई, वह वाल्मीकि रामायण ने प्रदान की और घर-घर उसका आदर हुआ, क्योंकि उस काव्य ने सामंतीय समाज के जितने पारिवारिक, राज्य संबंधी तथा सामाजिक संबंध थे, सबको निरावृत रूप से सहन बनाकर निर्धारित किया और लोकोत्तर-रंजन की ऐसी भावना भरी जिसने आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसके बाद के सब रामायण-ग्रन्थ पुराणकार ब्राह्मणों के खाने-कमाने के धंधे थे, इसलिए उनका आदर नहीं हुआ। स्वयंभू जैन था और उसने काव्य-मात्र के दृष्टिकोण से राम-कथा को प्रस्तुत किया, अपभ्रंश में लिखा यह ग्रन्थ भाषा के परिवर्तित हो जाने पर अपना महत्त्व खो बैठा, क्योंकि अपभ्रंश को संस्कृत (चाहे वह लौकिक ही क्यों न हो) की भाँति आदर प्राप्त नहीं था। उस समय तुलसी ने राम-कथा लिखी।

परन्तु तुलसी के समय में और वाल्मीकि रामायण के संपादन-काल में बहुत बड़ा भेद था। तब सामंतवाद का उदय था अब सामंतवाद ह्रासोन्मुख था। ह्रास के भी दो रूप थे। एक रूप तो वह था कि समाज सामंतों से अत्यंत पीड़ित हो चुका था। दूसरे जो वाल्मीकि रामायण के समय में चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ बनकर बैठा था, वह अब खतरे में था। पहले की व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोऽपरि मानते ही समाज का ढाँचा ठीक चल गया था। इस बार की परिस्थिति में ब्राह्मण का दर्जा गिर गया था। वाल्मीकि रामायण में भी ऋषियों की हड्डियाँ दिखाकर राम को उकसाया गया था। परन्तु वे ऋषि धर्म-प्रचारक थे। अपना साम्राज्य-विस्तार करने के क्षत्रियों के साधन थे।

अब ब्राह्मण साधक नहीं थे, वे समाज के बोझ थे, जो किसी भी परिस्थिति में अपने जाते हुए अधिकारों को रोकना चाहते थे। ऐसे समय में तुलसीदास ने राम-कथा को अपना आधार बनाया। तुलसीदास का विचार था कि रामायण भूल जाने से ही समाज उच्छृंखल हो गया है। वे ठीक थे। सामंतीय व्यवस्था के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ की अवहेलना (या न समझना) के कारण ही समाज का ढाँचा ढीला पड़ गया है। अतः यदि फिर से राम-कथा लिखी जाय, अर्थात् समाज का सामंतीय ढाँचा पेश किया जाय, तो संभव है कि कलि से रक्षा हो सके। और यही सोचकर तुलसी ने अपना महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सामंतीय रचना की कला-कृति को पुनः प्रस्तुत किया गया, किन्तु इतिहास स्थिर नहीं रहता। सामंत-काल जितना बदल चुका था उतना ही इस काव्य में भी भेद आ गया, और तुलसी के काव्य में व्यक्ति के पौरुष की महत्ता नहीं आई, क्योंकि वह तो सामंत-काल के उदय के समय की सामाजिक प्रगति थी, जो अब नहीं रही थी, वरन् उसके स्थान पर भक्ति के आवरण में श्रद्धा की भेंट माँगी गई और व्यक्ति के स्थान पर ईश्वर को प्रतिष्ठापित किया गया। यों परिवर्तन की सामाजिक पृष्ठभूमि उपस्थित हुई।

यहाँ हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अपना मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। वे अपने इतिहास में तथा तुलसीदास नामक ग्रन्थ में महाकवि तुलसी और सूर को एक भयभीत युग में साहस की श्वास फूँकने वाले व्यक्ति कहते हैं। वह व्यक्ति आन्दोलन को निराशा की आशा के रूप में प्रदर्शित करते हैं। सविनय हमारा यहाँ सैद्धांतिक विवेचन मेल नहीं खाता। आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है और इसीलिए उन्होंने इस्लाम के आगमन को भारतीय (अर्थात् ब्राह्मण) संस्कृति के ऊपर पदाघात मानकर निराशा का प्रसार स्वीकार कर लिया है। तथ्यों की कमी के कारण ऐसा कह जाना कोई असंभव बात नहीं है। परन्तु यदि सर्वरूपेण देखा जाय तो भक्ति-आन्दोलन इस्लाम के आगमन से प्रथम ही चल पड़ा था, और भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे——

निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अडयार और आलवारों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रारंभ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में संबल पाता रहा, फिर भागवत संप्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानांतर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहज यान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-संप्रदाय उच्चवर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था। जाति-प्रथा के विरुद्ध था। अपने युग की परिस्थितियों के कारण यह समाज में आमूल परिवर्तन नहीं कर सका था। परन्तु उसने संस्कृत भाषा को उखाड़ा। कबीर ने संस्कृत पर आक्रमण किया। परन्तु वे समस्त आन्दोलन व्यक्तिपरक थे। समाज के उत्पादन-क्षेत्र पर उनका असर गहरा न हो सका। वे केवल थोड़ी ही रियायतें दिलवाने में समर्थ थे। उस समय हिन्दू और मुसलमान दो खेमों में बँटे हुए नहीं थे। युद्ध होते थे, परन्तु जो उन्हें 'राष्ट्रीयता' का रूप देकर मन को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, वे इतिहास का विवेचन ठीक तरह से नहीं करते। इस युग में राष्ट्र का अर्थ एक राजा का राज्य समझा जाता था, वह कोई 'सांस्कृतिक इकाई वाला प्रदेश' नहीं समझा जाता था। वीर-गाथा-काल के जो कवि या चारण हिन्दू और मुसलमान राजाओं का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते थे। वे उसी तन्मयता से अपने आश्रयदाता की उस कीर्ति-गाथा को भी गाते थे जिसमें एक हिन्दू दूसरे हिन्दू सामन्त को हराता था। कबीर ने हिन्दू मुसलमान दोनों पर आक्रमण किया। योगी अपने को अलग कहते ही थे। तुलसीदास ने आकर देश की परिस्थिति को यों समझा—मुस्लिम शासक भारत पर छाये हैं। सारे हिन्दू सामन्तों ने सिर झुका दिया है। वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। ब्राह्मण के अधिकार क्षीण हो रहे हैं। प्रजा पीड़ित है। किसान को खेती नहीं है। यह सब क्या है? शास्त्र और पुराण इसे ही कलियुग कहते हैं। यह कलियुग कैसे समाप्त हो सकता है? यदि कोई अच्छा शासक हो। वह कैसे मिले? जातीय उत्थान करके वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित करने से ही यह सम्भव हो सकता है। परन्तु इस समय इतने पन्थ हैं कि जनता भरमाई हुई है। अतः समस्या की सुलझन कहाँ है? एक ओर ज्ञानमार्गी हैं दूसरी ओर भक्तिमार्गी। ठीक है। भक्ति और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। परन्तु जो ज्ञानमार्गी या जो भक्तिमार्गी वेदत्रयी को स्वीकार नहीं करता, वह त्याज्य है। इसी बात का अत्युग्र रूप था—'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही"।

तुलसीदास ने इस्लाम के विरोध में स्वर उठाया और वर्णाश्रम धम को फिर से स्थापित करके भीतरी शत्रुवाद (पन्थवाद) का नाश किया। यह तुलसीदास का ऐतिहासिक कार्य था। भक्ति-सम्प्रदाय की विराट नदी सिमट गई। इसके बाद उच्चवर्गों को सन्तोष मिल गया। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि निम्न-वर्गों ने तुलसी को इतना महत्त्व क्यों दिया? इसलिए कि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के उत्तर-काण्ड में जिस आदर्श सामन्तीय राज्य की कल्पना की वह इस्लामी शासकों और उनके छुटभैये हिन्दू सामन्तों की लूट के सामने स्वर्ग-सी दिखाई देती थी। तुलसीदास के नये दृष्टिकोण के बाद ही भारत में कमकर अर्थात् मेहनतकश लोगों ने सिख, मराठा, जाट आदि के रूप में विशाल मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया जो कि हिन्दू सामन्तों के कन्धों पर टिका हुआ था। शिवाजी ने जो जयसिंह को पत्र लिखा था उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तब तक शिवाजी समझ चुके थे कि मुग़लों का अत्याचार हिन्दू साहाय्य के कारण ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवाजी का जनवाद सामन्तीय जनवाद था आधुनिक नहीं। यह उनके युग की बन्दिश थी। तुलसीदास ने उच्च जातियों के धर्म शास्त्रियों को पूर्णतया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वतंत्र कर दिया, क्योंकि जो उन्होंने प्रचार किया वह इतना अधिक समर्थ था कि फिर उच्चवर्गों को भीतरी (निम्न जातियों के) वर्णाश्रम-विरोधी-आन्दोलनों का डर आता रहा। वे रीतिकाल अर्थात् विलासवाद में डूब गए।

तुलसी में यह बातें मुख्य थीं—

१—उन्होंने 'रामचरितमानस' ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भाषा में लिखा और जनवाद को सहायता दी। किन्तु उन्होंने संस्कृत को भाषा में अधिक भरा।

२—उन्होंने दास भाव से भक्ति को अपनाया और उच्छृङ्खलता का नाश किया।

३—उच्छृङ्खल सामन्तों और विदेशी म्लेच्छ यवनों का विरोध करके एक आदर्श सामन्त का रूप रखा, जो न्याय करने वाला था। उन्होंने कालिदास के रघुवंश के सामन्त को ठीक माना जो सूर्य की तरह (कर लेकर) जल शोषण करे परन्तु फिर भी बादल बनकर (रक्षा आदि) बरस कर प्रजा को लाभ पहुँचाये। इससे तात्कालिक शोषण में ग्रस्त जनता बल पा सकी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम का प्रचार किया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। वेद-विरोधी सम्प्रदायों पर गहरी चोट की। समाज में जो निम्नवर्गों का आन्दोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि उस आन्दोलन को ही नष्ट कर दिया। और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। अपनी समस्त रचनाओं में कहीं भी तुलसी ने मुसलमानों के प्रति एक भी सुन्दर शब्द नहीं कहा। केवट इत्यादि के रूप में निम्न जातियों का महत्त्व बढ़ाया वह इसलिए कि वे राम के प्रति 'वफादार' थे।

५—राक्षस-जैसे शत्रुओं में केवल एक विभीषण था जिसके व्यक्तित्व को तुलसी ने बहुत उठा दिया। वाल्मीकि रामायण में विभीषण एक राजनीतिज्ञ के रूप में है, वह न्याय देखकर राम की ओर आता है, किन्तु तुलसीदास का मानस-विभीषण एक भक्त है और भक्ति के कारण वह राम का उपासक है।

अनेक अन्य बातें हैं जिनमें जैसे-जैसे घुसा जायगा, नये-नये तथ्य प्राप्त होंगे। हम संक्षेप में तुलसी के दो पक्ष पाते हैं—१. जनवाद २. प्रतिक्रियावाद।

जनवाद में उनको ऊपर बताये १. ३. के सहारे खड़ा किया जाता है। २. ४. ५ उनके दूसरे रूप को प्रकट करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जिसे हम आज जनवाद या प्रतिक्रिया कहते हैं, वे तुलसी के युग में दूसरे रूप में थे।

सामंतीय व्यवस्था में ब्राह्मणों के अत्याचारों से दबी प्रजा ने भक्ति-आन्दोलन चलाया था तब विरोधी ब्राह्मणवाद और अब्राह्मणवाद थे। तुलसी के समय में परिस्थिति बदल चुकी थी। सबको इस्लाम के सर्वोपरि शासन ने दबा लिया था। इसीलिए तुलसीदास ने दो काम किये :

(१) भारतीय संस्कृति को उठाया। यहाँ भारतीय का अर्थ ब्राह्मणवादी संस्कृति से है। इस्लाम के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया।

(२) अन्दरूनी द्वेष मिटाये। वर्णाश्रम स्थापित किया और प्रजा में सामंतीय ढाँचा प्रतिष्ठापित किया।

बहुधा लेखक कहते हैं, तुलसी ने जन-भाषा में लिखकर पंडितों की धरोहर को नष्ट किया और यह एक बड़ा विद्रोह था। और वह यह भी कहते हैं कि तुलसी पहले बहुत दरिद्र थे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे जनता के पीड़ित व्यक्ति थे, उनकी जाति-पाँति का भी पता नहीं था। परन्तु दोनों बातें लचर हैं। हम यह जानते हैं कि रामानुजाचार्य की भक्ति-परम्परा में मुसलमान शाहजादी के लिए श्री रंगम के भगवान् रंगनाथ उठाकर मैलकोटै ले जाये गए थे क्योंकि शाहजादी दर्शनार्थ आकर राह में ही मर गई थी, अतः भगवान् को भक्त के पास ले जाया गया था। रामाभुज ने ही चमारों को तिरुनारायणपुरम् के मन्दिर में घुसा दिया था। रामानन्द ने इसी परम्परा में कबीर को अपना शिष्य बनाया था? भागवत सम्प्रदाय का आधार ही रियासतें देना था। तुलसी में उसको पूर्णरूपेण छोड़ देने की शक्ति नहीं थी। वे जानते थे कि हू-बहू ब्राह्मणवाद अब बिलकुल अपने प्राचीन रूप में लागू नहीं किया जा सकता। युग ने जो सिर उठाया था, क्या तुलसी उसको झुका सकते थे?

भक्ति-सम्प्रदाय का मूल मानवतावाद था। भक्त तो ईश्वर से बढ़े हुए थे। तुलसी ने दासत्व सिखाया, भगवान् को राजा बनाया। परन्तु उन्होंने भी भक्त को राम से बड़ा बताया है। इसका कारण है कि तुलसी ने राम की भक्ति में राम का पूर्ण रूप नियोजित किया है और जो राम को मान लेता है, उसे सबसे ऊपर मान लेने में तुलसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है। इसी परम्परा में भाषा भी है। भाषा तो प्रचलित थी ही। केवल ब्राह्मण-धर्म अपने संकोचों में बद्ध था। इस्लाम के विरुद्ध ब्राह्मणों को नेता बनाकर समस्त प्रजा का संगठन करने के लिए ब्राह्मणवाद को भी नये रूप की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने हिन्दी को लिया। कट्टर लोगों ने प्रारम्भ में विरोध किया, परन्तु उनके जीवन के अन्तिम काल में ही ब्राह्मणों ने उनके सामने सिर झुका दिया और स्वीकार किया कि तुलसी ने धर्म के उद्धार के लिए ही भाषा को अपनाया था। ब्राह्मणों की संकुचित सीमा को तोड़कर ही तुलसी ने ब्राह्मण संस्कृति को सशक्त बनाया। इसीलिए तुलसी ने केवल भाषा के तद्भव रूप को ही नहीं लिया उसमें उन्होंने तत्सम शब्दों को भी घुसेड़ा।

तुलसी ने क्या किया यह यदि जानने की आवश्यकता हो तो कुछ मुसलमानों की महफ़िल में जाइये। क्या मुसलमान सम्प्रदायों को कबीर, रैदास आदि से कहीं विरोध है या उनकी भाषा से ही। तुलसी में वह पक्ष देखते हैं? पहली बात तो साफ हुई। रहा उनका दारिद्र्य, तो संसार में अनेक दलित लोगों ने उच्चवर्गों के स्वार्थ की ही बात की है। तुलसी जो दारिद्र्य से पीड़ित लोगों के लिए रोते थे, वे इसलिए कि वे उसे वर्णाश्रम धर्म के लोप से आये हुए कलि के शासन के रूप में लेते थे और यही उनकी सदैव प्रार्थना रही है।

अभी हाल में ही हिन्दी के एक आलोचक महोदय ने लिखा है "गंगा-यमुना से सींची हिन्दी इलाके की धरती में कवियों और सुधारकों की कमी कभी न रही। ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर 'प्रसाद' और 'निराला' तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य-परम्परा रही है।"[1]

वे नहीं जानते कि गंगा-यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दम्भ ही था जिसने वर्ण-व्यवस्था का मूल स्वर उठाया था। वह गौरव सबका नहीं था। तुलसीदास को लेखक महोदय ने ऐसे स्थान पर रखा है, तुलसी की प्रशंसा करते हुए — तुलसी से पहले भी जनभाषा खूब समृद्ध थी। तुलसी ने केवल ब्राह्मण धर्म को जन-भाषा में लिखा था और इसलिए वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।

---

१. (जनयुग २४-८-५२)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब तुलसीदास के विषय में रामचरितमानस में कुछ तथ्य देखना और आवश्यक है।

(१) उन्होंने परशुराम-क्रोध-दलन दिखाकर ब्राह्मणों की निन्दा की।

(२) ब्रह्मचर्य दम्भी नारद को गिराया। इनके सरल उत्तर हैं—

(१) उन्होंने असहिष्णु ब्राह्मणवाद का विरोध किया जो क्षत्रियों से मिलकर चातुर्वर्ण्य स्थापित नहीं करता था।

(२) उन्होंने नारद के ब्रह्मचर्य में अब्राह्मणवादी योगियों पर प्रहार किया जो भक्ति के नाम पर राम के सामने सिर नहीं झुकाते थे। याद रहे राम को अगम अतीत कहकर भी तुलसी ने मोर-मुकुट वाले कृष्ण को सिर नहीं झुकाया था। उन्हें आदर्श सामन्त के हाथ में धनुष-बाण चाहिए थे। यहाँ तुलसी का भागवत के भक्ति सम्प्रदाय से भेद था। भागवत का भक्ति सम्प्रदाय दक्षिण में बना था जो समाज में प्रेम चाहता था, रियायतें देना चाहता था। कृष्ण का लोकरंजनकारी स्वरूप उसमें लीलाओं से दब गया था। तुलसी ने लीला से ऊपर कर्तव्य रखा और अपने युग की बदली हुई परिस्थिति में नया तथ्य प्रतिपादित किया।

जनयुग में पृष्ठ ७. २४–८–५२ में उसी लेखक ने कहा है कि 'ढोल गँवार' वाली चौपाई क्षेपक है। वह 'मानस' में नहीं है। यद्यपि ऐसा सोचने का उन्होंने कोई आधार नहीं दिया, वे इस बात को बहुत ठीक समझते हैं। सोचना यह है कि तुलसी ने यह भी लिखा कि नहीं :

विप्रचरन सेवक नर-नारी
× × ×
पूजिय विप्र सील गुन हीना।
× × ×
अवधपुरी बासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज
सहस शेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज।

अर्थात् रामराज्य की प्रशंसा की गई है।

× × ×
मातु पिता गुर विप्र न मानहिं
आपु गये अरु घालहिं आनहिं।
× × ×
अवगुन सिन्धु मन्दमति कामी
वेद विदूषक परधन स्वामी।
विप्र द्रोह पर द्रोह विसेषा
दम्भ कपट जिय धरें सुवेषा॥

फिर वे भागवत सम्प्रदाय की सहिष्णुता में कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

परन्तु यहाँ भी निर्णय वेद का ही है :

निर्णय सकल पुरान वेद कर।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राम पुरवासी, ब्राह्मण और गुरु को बुलाकर कहते हैं :

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई।

परन्तु संग ही यह भी कहते हैं :

सोई सेवक प्रियतम सम सोई,
मम अनुसासन मानै जोई।

इनसे प्रकट होता है कि हर रियायत की वास्तविकता क्या थी।

रामचरितमानस में तुलसी के दो रूप हैं। वे भक्तिपक्ष में अपने युग के मानवतावाद से प्रभावित रहे हैं, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा को उन्होंने साथ-ही-साथ स्थापित किया है। कलि का विरोध करके भी वे विरोध करते-करते घबरा गए हैं। उस स्थान पर उन्होंने भक्ति को माना है, क्योंकि भक्ति में तर्क नहीं आते, ज्यों-का-त्यों सब स्वीकार कर लिया जाता है। वेद-पुराणों के जिन आदेशों के विरुद्ध नीच जातियों ने ईश्वर को अपना कहकर 'भक्ति' को चलाया, उसी भक्ति के इस स्वरूप को तुलसी नें भी लिया, क्योंकि उसमें तर्क नहीं थे। परन्तु तर्क-हीनता पर उसको लादा जिसका समस्त नीच जाति के संतों ने विरोध किया था—अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराण को।

उस समय तुलसी ने रामचरित गाकर सामंतों को भी शिक्षा दी। हिन्दू-मुसलमान शासक भ्रातृ-हत्या और पितृ-हत्या में रँगे थे। तुलसी ने आदर्श सामंत परिवार की सृष्टि की। कैकेई, जो वाल्मीकि में राज्यलोभग्रस्ता है, उसे भी तुलसी ने भक्त बनाया है, क्योंकि कैकेई की गलती को तो उन्होंने भगवान् की लीला के अन्तर्गत रख दिया है। इस जरा-सी बात के पीछे एक बहुत बड़ा तथ्य है। बर्बर (दास युगीन) कालीन समाज से छूट मिली थी तो सामंतीय समाज ने कई जातियों को भीतर ग्रसकर आत्मसात् कर लिया था। धर्म-शास्त्र जाति-प्रथा को जटिल बनाते जा रहे थे, तुलसी ने वह काम पूरा किया और बीच की गलती को भगवान् की लीला कहकर प्रचारित किया। इस जाति-जटिलता के दो कारण थे, एक तो इस्लामानुयायी जातियों ने भारत का समुद्र-व्यापार छीन लिया, दूसरे यहाँ के धर्मों पर प्रभाव डालना शुरू किया।

रामचरितमानस में भी लोक-रंजन और कर्तव्य-पथ की इति उसी व्यक्तिपरक मोक्ष की भावना में हुई जो युग में प्रचलित थी। वास्तविकता यह थी कि धरती पर सब ठीक होते ही तुलसी ने दर्शन के क्षेत्र में उसी 'परवाद' को स्वीकार किया। रामानुज की लीला को भक्ति बनाकर लिया गया और माया का विरोध करके भी उसकी सत्ता स्वीकार की जब कि रामानुज में माया को लीला का ही दूसरा स्वरूप माना गया। जो तुलसी को विशिष्टाद्वैत मत का अनुयायी मानते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है।

हमने संक्षेप में तुलसी की युग पूर्ववर्ती विचार-धारा और विशेषताओं को देखा। यहाँ हम उनके काव्य के रूप और काव्य पर विचार करेंगे।

तुलसी ने चौपाई और दोहे को लिया। चौपाई और दोहा लिखने की भाषा में पुरानी परम्परा थी। पहले चौपाई का दीर्घान्त होना आवश्यक नहीं था। स्वयंभू से तुलसी तक इतना विकास हो गया कि चौपाई ने अपना स्वरूप स्थिर कर लिया। चौपाई छोटी होती है, झट जीभ पर चढ़ती है। महाकाव्य के लिए छोटे छन्द का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। तुलसी ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी छन्द को चुना।

तुलसी को मानव स्वभाव का बहुत गहरा ज्ञान था। इसीलिए वह बहुत सफल कथाकार हुए हैं। तुलसी में आश्चर्यजनक गुण था कि वे वस्तु को अपना बनाकर आत्मसात् कर लेते थे। उन्होंने श्रीमद्भागवत के वर्षा-वर्णन को प्रायः ज्यों का त्यों—

'दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं' वाले प्रसंग में उतार लिया है, परन्तु वह ऐसे सहज किया है कि पूरी-की-पूरी नकल होने पर भी तुलसी की प्रशंसा करने की इच्छा होती है, उन्हें नकलची कहने की नहीं। तुलसी ने जन-जीवन की जगह-जगह झाँकी दी है जो अत्यन्त सफल है। मजाक और व्यंग्य के तो वह गुरु थे। निःस्सन्देह बुद्ध के बाद सिवाय तुलसी के और कोई इतना प्रभावशाली नहीं हुआ जो समस्त उत्तर भारत को अपनी वाणी से गुँजा देता। सारांश में हम कह सकते हैं:—

१—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके पुराने असहिष्णु ब्राह्मणवाद को हराया।

२—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके नए ब्राह्मणवाद को प्रतिष्ठापित किया।

३—तुलसी ने भक्ति-सम्प्रदाय की सहिष्णुता को अपनाया और तर्क का विरोध करके मानवतावाद के साथ एक विरोधी वस्तु वेदत्रयी को भी स्थापित किया। परन्तु यह यों सम्भव हुआ कि तुलसी ने सामन्तवाद की सर्वोपरि अवस्था को ही इस्लाम के विरुद्ध लोकरञ्जनकारी शक्ति के रूप में खड़ा किया और तर्क को तिलांजलि दी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करने के लिए रामचरितमानस लिखा, परन्तु वह युग के लिए सत्य था। इस्लाम के नाम पर शासन करने वालों और हिन्दू सामन्तों का संगठन प्रजा को उत्पीड़ित कर रहा था। तुलसी ने हिन्दू सामन्तों को और प्रजा को एक होकर इस्लामी शासकों के विरुद्ध उठने का नारा दिया। यही सिखों, जाटों और मराठों में प्रतिफलित हुआ। राष्ट्रीयता (Nationalities) का भी विकास हुआ।

५—सन्त कवि जाति-प्रथा के विरोधी थे, वे दरिद्र, धनी के चक्कर में नहीं थे। उनका दृष्टिकोण ठीक था। क्योंकि दरिद्र नीच जाति थे और धनी ऊँच जाति। अतः वे जाति-संघर्ष के रूप में ही चीज को लेते थे। तुलसी ने जाति के वर्गरूप को भुलाकर वही व्यवस्था स्थापित रखनी चाही। स्पष्ट है कि तुलसी का मुख्य काम ऊपर नं० ४ में कही बात थी और वे उसमें सफल भी हुए।

अन्त में एक बात पर विचार कर लेना और ठीक है। 'तुलसी दरबारी कवि नहीं थे सन्त थे, और उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय', लिखकर अपने जनवाद का परिचय दिया' यह बहुत से लोग कहते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि स्वान्तः सुखाय से अर्थ केवल निम्न लिखित था—किसी राजा के लिए नहीं अपने सुख के लिए लिखता हूँ। अपना सुख क्या है? यह तो हम ऊपर देख चुके हैं। तत्कालीन कवि धन के लिए राजाओं के चाटुकार और विलासी थे। तुलसी सुधारक थे और संसार-त्यागी थे। वे तो एक धर्मगुरु थे। उन्होंने काव्य लिखा—धर्म पुराण के रूप में, धर्मगुरु बनकर। अतः वे जनवादी परम्परा में नहीं आते जिसमें कबीर थे, परन्तु वे पुराणकार परम्परा में आते हैं।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन तुलसी का निरादर नहीं है। वह सत्य है। यदि हम कहते हैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कि कबीर ने मनुष्यता का पाठ पढ़ाया परन्तु वे 'शून्य' की खोज में रहते थे, तो हम उनका अपमान नहीं करते, वरन् वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। तुलसीदास प्रसिद्ध हैं, महान् हैं, कवि हैं, अतः उनका गलत विवेचन करके प्रगतिवादियों में उनका नाम लिखाना हमारा कर्तव्य नहीं है। अधकचरे मार्क्सवादी उनको काफी विकृत कर रहे हैं। पाठकों को चाहिए कि साफ-साफ बात देखें। तुलसी ने इस्लामी शासकों का विरोध करके, कुछ बुरा नहीं किया, वे सबसे बड़े शोषक थे। हाँ तुलसी ने जो वर्णाश्रमधर्म प्रतिष्ठापित किया इसका कारण वे यही समझते थे कि इसी से समाज ठीक हो सकता है।

तुलसी को जनवादी प्रकट करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है? विद्यापति, चन्द में कौन-सी जनवादिता थी। यह बात का बतंगड़ ही व्यर्थ है। इतिहास को अपने दृष्टिकोण के लिए विकृत करना ही नहीं चाहिए, आचार्य शुक्ल ने भक्ति को जो निराशा की आशा मानकर गलती की थी, कुछ आलोचकों ने उसी में से तुलसी का जनवाद ढूँढ़ निकाला जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाना आजकल के अवसरवादी तथा कथित मार्क्सवादियों का ध्येय हो गया है। हमें उसके प्रति सचेत रहना है, क्योंकि उसके बिना हम कभी तुलसी की वास्तविक महानता को नहीं समझ सकेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्वम्भर 'मानव'

बिहारी-सतसई

पिछले एक हज़ार वर्ष की काव्य-निधि में से यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों को चुनना चाहें, तो उनमें बिहारी-सतसई का नाम आयगा। ये ग्रन्थ हैं—'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई', 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'दीपशिखा'। इनमें से अधिकतर ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य हैं। जीवन की विविधता का गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्रण करने के कारण प्रबन्ध-काव्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों में परिगणित होने और उसके रचयिता को महाकवियों की श्रेणी में आसन मिलने की, मुक्तककार से अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं। फुटकर प्रसंगों पर लिखने की अपेक्षा मुक्तककार भी उस समय अधिक सफल होते देखे गए हैं जब उनके संग्रह-ग्रन्थों के पीछे किसी प्रकार की एकसूत्रता, जो वास्तव में प्रबन्ध का गुण है, विद्यमान हो। सूरसागर, दीपशिखा और बिहारी-सतसई में यह एकसूत्रता भक्ति, रहस्य और प्रेम को लेकर है।

बिहारी ने मुग़ल-साम्राज्य के समृद्ध-काल में अपनी काव्य-साधना की। ऐसा युग काव्य-श्री के निखार के लिए सदैव उपयुक्त होता है। उस समय प्रजा सुखी थी और शासकों ने देश में शान्ति स्थापित कर दी थी। वे कलानुरागी थे, इसी से अनेक रूपों में उसका विकास हो रहा था। विद्रोह की भावना एक प्रकार से मिट चुकी थी। यह विद्रोह की भावना ऐसी है कि आँधी की भाँति उठती है, शान्त हो जाती है और फिर उठती है। उस आँधी के फिर उठने में अभी देर थी। जैसा जयसिंह द्वारा बलख से शाहजहाँ की सेना को बचाकर लाने के वर्णन से पता चलता है, आक्रमण के समय हिन्दू-मुसलमान कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर लड़ते थे। राजनीतिक बातों में शासन थोड़ा हस्तक्षेप अवश्य करता रहा होगा, क्योंकि एक स्थान पर बिहारी ने 'दुराज' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषम परिणाम की चर्चा की है। धर्म की दृष्टि से यह युग साम्प्रदायिक कट्टरता का युग न था। कबीर के समय से ही कवि लोग इस प्रकार की कट्टरता का विरोध कर रहे थे और धर्म को वे बहुत उदार बनाने में समर्थ हुए। बिहारी ने वैष्णव धर्म और निर्गुण मत, दोनों का समर्थन समान भाव से किया है। धर्म के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता उस समय लोगों को थी। एक पुराण-वाचक के प्रसंग में हमारे कवि ने उसे व्यभिचारी दिखलाया है और मन्दिर भी प्रेमियों के मिलन-स्थल बतलाए हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्म में थोड़ा ढोंग उस समय भी बना हुआ था। पर सबसे अधिक मनोरंजक है बिहारी द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र। हो सकता है जिस समाज का वर्णन बिहारी ने किया हो, वह बहुत ही सीमित हो। कुछ वर्णन तो निश्चित रूप से राधा-कृष्ण के काल का है। पर बिहारी के नायक-नायिका उनके अपने काल के भी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ वह कैसा युग रहा होगा जब युवतियाँ काम के बाण से मर्माहत हो अभिसार करती थीं; वन, खेत, कुञ्जों, खण्डहरों में अपने प्रेमियों से मिलती थीं और इस निर्द्वन्द्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीवन में कोई अधिक हस्तक्षेप नहीं करता था !

वैसे तो श्रेष्ठ-काव्य के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए पाठक में सदैव ही एक प्रकार की ग्राहिका-शक्ति चाहिए; पर बिहारी-सतसई के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए तो बिना वैसी क्षमता के काम ही नहीं चल सकता। यह क्षमता काव्य-शास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करती है। है। बिहारी में प्रतिभा तो थी ही, साथ ही इस प्रतिभा को अध्ययन के द्वारा उन्होंने निखारा था और अपने इस अध्ययन का उपयोग उन्होंने पूरी शक्ति के साथ किया था।

बिहारी-सतसई की मूल प्रवृत्ति शृंगारी हैं। सतसई की रचना की प्रेरणा के सम्बन्ध में जो यह कहानी कही जाती है कि बिहारी ने जयपुर पहुँचने पर एक दोहे की मार से ही अपनी नई रानी के प्रेम में आबद्ध महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के घेरे से मुक्त किया, उसे लेकर सभी आलोचकों ने प्रायः एक ही सी बात कही है। यह घटना यदि सच हो, तो भी इससे प्रमाणित यही होता है कि प्रारम्भ से ही बिहारी की प्रवृत्ति शृंगारी थी। उस दोहे को लीजिए—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे का आशय यह नहीं है कि रज और रसहीन कली से ही जो भौंरा इतना बँधा हुआ है, अर्थात् जो नायिका की यौवन-प्राप्ति से पहले ही उसके रूप पर मुग्ध होकर कर्त्तव्य-ज्ञान भूल गया है, उसकी आगे क्या दशा होगी; वरन् यह कि जो समय से पूर्व ही अपने आकर्षण का परिचय दे रहा है, वह रस का समय आने पर अपने अनुराग की दृढ़ता और भी प्रमाणित करेगा। इस प्रकार यह दोहा बोधोदय के लिए न लिखा जाकर रसोदय के उद्देश्य से ही लिखा गया होगा। जयसिंह ने जो बिहारी से मिलना चाहा होगा वह इसलिए कि आदमी कैसा ही हो; पर है रसज्ञ और इसी से अशर्फ़ियों के मोल उन्होंने उनके दोहों को खरीदा, यद्यपि यह मोल बहुत कम था।

संयोग-काल की कोई ऐसी स्थिति नहीं जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन से आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के हैं और इस दृष्टि से नायिका से अधिक नायक के आकर्षण का वर्णन होना चाहिए था; पर ऐसा है नहीं। नायक से अधिक यहाँ भी नायिका पर कवि की दृष्टि है। नायिका आकर्षित होती है। आकर्षित होने पर पीड़ा का अनुभव करती है। नायक कहीं मिल जाता है, तो किसी-न-किसी बहाने उस पीड़ा को व्यक्त करने के उपाय ढूँढ़ती है। नायक उसके आकर्षण को पहचान कर उसे भेंट भेजता है जिनमें घुँघचियों की माला, पान और पंखा मुख्य हैं। आजकल की प्रेमिकाएँ शायद इतनी सस्ती भेंट स्वीकार न करें। इस आकर्षण के स्थायी हो जाने पर नायिका गुरुजन-परिजन की आँख बचाकर अभिसार के लिए तैयार होती है। पथ में कोई झंझट खड़ी न हो जाय, इसलिए दूती अधिकतर साथ रहती है। एकांत में नायक-नायिका का मिलन होता है। क्रीड़ा करने से पहले नायिका मदिरापान करती है और थोड़ी देर झूठी 'नाहीं' 'नाहीं' करने के उपरांत सुख से सुरत में लीन होती है। अधिक ढीठ हो जाने पर तो उसे विपरीत-रति के लिए तैयार किया जा सकता है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लिपटाइ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दीप उजेरैं हू पतिहिं हरत बसनु रति काज।
रही लपटि छबि की छटनु नैकौ छुटी न लाज॥

इस मिलन में कुछ ऐसी बातों का वर्णन भी बिहारी ने किया है जो कुछ रसिकों को चाहे अच्छी लगें; पर अधिक गम्भीर रुचि वाले व्यक्तियों को शायद ही रुचिकर प्रतीत हों। उदाहरण के लिए नायक पतंग उड़ा रहा है तो नायिका आँगन में उसकी छाया छूने के लिए दौड़ी-दौड़ी फिरती है या नायक नायिका की गोद से बच्चा लेते समय चुप से उसकी छाती को उँगली से दबा देता है या दोनों घरों के बीच में जो दीवाल है उसमें बड़ा छेद करके दोनों रात-भर एक-दूसरे का हाथ पकड़े खड़े रहते हैं या फिर पैरों की उँगलियों के बल खड़े होकर और दीवाल पर थोड़ा उचककर दोनों एक-दूसरे के कपोल चूमकर भाग जाते हैं।

बिहारी का संयोग-वर्णन जैसा सफल हुआ है, वियोग-वर्णन वैसा नहीं। एक तो यह उतना विस्तृत नहीं है, दूसरे स्वाभाविकता का स्थान यहाँ उक्तियों के चमत्कार और अतिशयोक्तियों ने ले लिया है। किसी मनोदशा का वर्णन कहाँ काव्य का रूप ग्रहण करता है और कहाँ वह खिलवाड़ बन जाता है, इसका ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों को होता है। लगता है जीवन के संयोग-पक्ष का बिहारी को जैसा अनुभव था, वियोग-पक्ष का वैसा नहीं। मिलन और विरह जीवन की दो ऐसी गम्भीर स्थितियाँ हैं कि जब तक किसी कवि को इनका गहरा अनुभव न होगा, तब तक वह अपने काव्य में भी इनकी अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक ढंग से न कर पायेगा। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी प्राण बचाने के लिए चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती फिरती है, कभी जुगनुओं को अंगारे समझकर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। साँस लेती है तो कभी छः-सात हाथ इधर कभी छः-सात हाथ उधर खिसक जाती है। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बनकर उड़ जाते हैं। कोई उस पर गुलाब-जल छिड़क देता है तो वह बीच ही में सूख जाता है। दुर्बल इतनी हो गई है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे देखना चाहे तो नहीं देख पाती। पड़ौसी उससे परेशान हैं। जाड़े की रातों में गीले कपड़े आगे कर उसके पास तक पहुँच पाते हैं और ग्रीष्म में तो उसके पड़ौस में रहना असम्भव हो गया है!

ऐसा नहीं है कि वियोग के स्वाभाविक वर्णन बिहारी में बिल्कुल पाए जाते ही न हों, पर वे अस्वाभाविक वर्णनों से इतने दबे हुए हैं कि सहसा लक्षित नहीं होते। नीचे के दोहों को ही देखिए जिनमें शारीरिक दशा और मानसिक हलचल को किस स्वाभाविकता और मार्मिकता से व्यक्त किया गया है—

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनु हूँ, नीठि पिछानी जाइ॥
जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि, लगी रहैं, आँखें लागति नाँहि॥

पर वियोग के उपरान्त बिहारी ने नायक को परदेश से लौटाकर प्रेम का अन्त संयोग में ही किया है। इससे पता चलता है कि उनकी दृष्टि जीवन के सुख-पक्ष की ओर ही थी।

प्रेम के जिस वातावरण का सृजन बिहारी ने किया है, वह आज हमें कुछ विलक्षण लग सकता है। और अधिक अच्छा नाम न मिलने से हम इसे रीतिकालीन प्रेम कहते हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रेम की भावना का विकास क्रमशः हुआ है। वीरगाथा-काल में प्रेम उस व्यक्ति के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रति उमड़ता दिखाई देता है जो नायिका को स्वयंवर-भूमि या युद्ध-भूमि में तलवार के बल पर जीत सकता था। सन्तों का प्रेम-सम्बन्ध निर्गुण के प्रति रहा। सूफ़ियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की। तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने लौकिकता से बहुत ऊँचे उठकर भगवान् के चरणों में अपने भाव का निवेदन किया। इधर आधुनिक युग के छायावाद-काल में एक दूसरे ही ढंग से निर्गुण को प्रेम का आलम्बन बना महादेवी आदि ने आत्म-निवेदन किया। और आगे चलकर व्यक्तिगत प्रेम की तीव्र अनुभूति बच्चन और शान्ति मेहरोत्रा में पाई गई। फिर भी हिन्दी साहित्य के आदि युग से लेकर यहाँ तक प्रेम का आलम्बन चाहे बदलता रहा हो; पर ये सारी अभिव्यक्तियाँ हैं सरल ही। केवल हिन्दी के आधुनिकतम काव्य में प्रेम-भावना युग की परिस्थितियों और जीवन के प्रति बदले दृष्टिकोण के कारण उलझन-मय हो गई है, यों अन्य भावनाओं से संघर्ष प्राचीन प्रेम-भावना में भी पाया जाता है; पर वह बहुत सीधा-सादा है। अन्तर्द्वन्द्व की कमी बिहारी में भी नहीं, उदाहरण के लिए उनकी नायिका प्रायः लाज और प्यार तथा गुरुजन-परिजन के भय और प्रणय के बीच फँसी रहती है। पर नवीनतम काव्य को छोड़कर मनोवैज्ञानिक उलझनों के सूक्ष्म विश्लेषणों की ओर प्राचीन कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस सारे प्रेम-व्यापार के बीच बिहारी की प्रेम-भावना भिन्न प्रकार की है—लौकिक और स्थूल, पर इस भावना के सबसे प्रौढ़ विश्लेषक और समर्थक भी वे ही हैं। बिहारी रीतिकालीन प्रणयानुभूति के प्रतिनिधि कवि हैं।

बिहारी सतसई में भक्ति की चर्चा होते हुए भी, बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। किसी विशेष वाद में उनकी आस्था थी, ऐसा इन दोहों से प्रकट नहीं होता। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नृसिंह को स्मरण किया है। कहीं-कहीं तो पुष्ट तर्कों के आधार पर सगुण से बढ़कर निर्गुण का समर्थन वे कर बैठे हैं। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद दोनों की पुष्टि में भी उन्होंने कुछ-न-कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी वे जोर देते पाए जाते हैं, ऐसी दशा में पाठक के लिए यह निर्णय करना कठिन है कि उन्हें किस मत के अन्तर्गत वह माने। उनका विशेष झुकाव राधा-कृष्ण की लीलाओं की ओर यों है। भक्तों के समान वे कृष्ण पर विश्वास करते, उनके यश का वर्णन करते और उन्हें उलाहना देते पाए जाते हैं। पर मेरी दृष्टि से बिहारी भक्त नहीं थे, केवल कवि थे। जैसे प्रत्येक महाकवि अपने प्रिय विषय के अतरिक्त अन्य विषयों पर भी समान सामर्थ्य के साथ लेखनी चलाता है, वैसे ही बिहारी ने भी प्रेम के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर लिखा। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त हुआ ही न था। राधा और कृष्ण के जीवन को जैसा घोर शृङ्गारी और वासनात्मक उन्होंने चित्रित किया है, उससे तो इस बात में और भी सन्देह नहीं रह जाता। बिहारी अनुराग के कवि थे, विराग के नहीं। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भाव-मग्नता उनमें सामान्यतः नहीं पाई जाती—

कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन गनौ न गोपीनाथ॥
यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥
पत्तवारी माला पकरि और 'न कछु उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

प्राचीन कवियों में सेनापति जैसे एकाध कवि को छोड़कर प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन पाया ही नहीं जाता। प्रकृति को वहाँ कहीं आध्यात्मिक भाव की व्यंजना के लिए, कहीं रहस्य के लिए, कहीं उपदेश के लिए और कहीं अलंकार-विधान के लिए प्रयुक्त किया गया है। बिहारी ने भी अप्रस्तुत के रूप में प्रकृति से अनन्त मर्म-छवियों को चुना; पर सन्तोष की बात है कि षड्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसमें व्याप्त अनेक भावनाओं को भी चित्रित किया है। लोक की क्रीड़ा को चित्रित करने के उपरान्त प्रकृति में चलने वाली क्रीड़ा पर भी उनकी दृष्टि गई—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥
रनित भृंग-घण्टावली, झरित दान मधु-नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु॥

प्रकृति और मनुष्य को वे एक-दूसरे के पास लाए और स्थान-स्थान पर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि मनुष्य के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रकृति से प्रभावित रहता है। वर्षा और शिशिर दोनों का प्रभाव मानव-हृदय पर देखिए—

तिय-तरसौंहैं मन किए, करि सरसौंहैं नेह।
धर-परसौंहैं ह्वै रहे, झर-बरसौंहैं मेह॥
तपन-तेज, तपु-ताप-तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौंहुँ न कटै, बिनु लपटैं तिय-नाँह॥

प्रकृति-सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे हैं जो हिन्दी के आधुनिक-काव्य की तुलना में भी कम शक्तिशाली नहीं ठहरते। नीचे के दोहों में जो ग्रीष्म का वर्णन है उसमें प्राचीन-काल के अलंकार-विधान की मार्मिकता और सूक्ष्मता तो हैं ही, आधुनिक-युग की मूर्तिमत्ता और चेतनता भी विद्यमान हैं। इन दोनों खण्ड-दृश्यों से प्रकृति की कैसी सजीवता झलक रही है! ग्रीष्म और छाया दोनों ही जैसे यहाँ स्पन्दन और गति से युक्त हो उठे हैं। पहले दोहे में तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही प्रकृति के क्षेत्र से चुने गए हैं। यह विशेषता आधुनिकतम हिन्दी-काव्य में, एक महादेवी की 'दीपशिखा' को छोड़कर शायद ही कहीं पाई जाती हो—

नाहिंन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास॥
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥

हास्य बिहारी में नहीं के बराबर है। ढोंग से इन्हें भी चिढ़ थी, इसी से कथा-वाचकों और अधकचरे वैद्यों को लेकर उन्हें ऐसी स्थिति में दिखाया गया है जिससे हँसी आती है। बिहारी निश्चित रूप से नगर के जीवन और नागरिक रुचि के पक्ष में थे। नागरिकों के प्रति गाँववालों के व्यवहार से ये बहुत क्षुब्ध दिखाई देते हैं; अतः जहाँ कहीं हास्य की स्थिति आई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी है, वहाँ उसमें व्यंग्य के समावेश के कारण और गाँववालों के प्रति थोड़ी हीन-भावना रखने के कारण ऐसे स्थल शुद्ध हास्य के नहीं रह पाए हैं। हमारा अनुमान है कि भारत के गाँवों और वहाँ के निवासियों के स्वभाव का विहारी को बहुत अच्छा अनुभव न था। हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥
परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुहँ-आई मुसकानि॥
कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ, माँगन सबु जगु आनि॥

भावना के क्षेत्र से हटकर कवि लोग कभी-कभी अपने जीवन के अनुभवों को भी चित्रित करते देखे जाते हैं। ऐसी बातें इस धारणा को लेकर लिखी जाती हैं कि शेष संसार उनसे लाभ उठावे। मात्र अनुभव को चित्रित करने वाली ऐसी रचनाएँ सूक्तियाँ कहलाती हैं जिनमें बहुत-सी नीति की बातें भी सम्मिलित रहती हैं। जहाँ तक होता है बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है। पर तथ्य कैसा ही हो उसे हृदयंगम कराना तो होता ही है; इसी से ऐसी उक्तियों में तर्क और अलंकार के सहारे चिंतन के पल अंकित किए जाते हैं। बहुत सी बातें बिहारी ने सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कहीं हैं। कुछ सूक्तियाँ कला, प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लेकर भी हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
खाए खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि॥
कैसैं छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
मढ़्यौ-दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम॥
बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥

बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं। वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे वसन्त में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। यह कला कई बातों पर निर्भर करती है जैसे (१) रस (२) अलंकार (३) नायिका-भेद (४) शब्द-शक्ति (५) प्रसंग-विधान, और (६) भाषा। पाठक को यदि इनमें से एक का भी अच्छा ज्ञान नहीं है, तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित ही रहेगा। उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिए जिसका अर्थ इस प्रकार की बातों के ज्ञान के बिना खुल ही नहीं सकता—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की सीमाएँ हो सकती हैं और हिन्दी-साहित्य में उनके स्थान पर आलोचकों में मतभेद भी; पर मुझे जो उनके सम्बन्ध में सबसे अच्छी बात लगती है वह यह कि उन्होंने अपने से पूर्व छः सौ वर्ष के काव्य को धर्म के प्रभाव से मुक्त करके जीवन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की ओर मोड़ा। यही काम आज के युग में यदि किसी ने किया होता तो वह 'काव्य में विद्रोह' कहलाता। लौकिक जीवन के एक बड़े पक्ष के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आनन्द का जैसा सजीव वर्णन बिहारी में पाया जाता है, वैसा आज तक के किसी कवि के काव्य में नहीं। यह जीवन कहीं-कहीं गन्दला है, पर धरती का जीवन ऐसा ही है, क्या किया जाय। इतना तो निश्चित ही है कि उनके काव्य का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकरप्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्ष की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाय तो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कामायनी

सभ्यता-समीक्षा और इड़ा

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे दृष्टि-मार्ग में दो विशेष प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह जिसमें युग-प्रवृत्तियों का मात्र प्रतिविम्ब हो अर्थात्, आपेक्षिक रूप से, युग-प्रवृत्तियों को जागरूक प्रकार से न किया जाकर, एक विशेष मानसिक निष्क्रियता के वशीभूत हो, मात्र उनका संस्कृत अथवा विकृत प्रतिविम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि जिसमें इन युग-प्रवृत्तियों के अभिप्राय, गर्भितार्थ, उनके प्रभावकारी अथवा विनाशकारी आशय-आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाकर वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है। निश्चय ही, ऐसे साहित्य का उद्देश्य है मानव-चेतना का परिष्कार।

किन्तु, बहुत बार यह भी देखा गया है कि महान्-से-महान् साहित्यकार (जैसे टास्टाय) सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जिन अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचता है (उनका सर्वमान्य होना या न होना अलग बात है, किन्तु) उनसे डर तो यह हो जाता है कि कहीं वे अन्तिम निष्कर्ष हानि-प्रद तो नहीं है? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षा जीवनगत तथ्यों की हुआ करती है। अतः, (साहित्य में चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यों के उपरान्त, जब साहित्यकार उन तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरणों के क्षेत्र में अपनी स्वभाव-गत तथा प्रभाव-गत प्रवृत्तियों के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दुःसाहसपूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड़ लगाता है तब उसके चरम-निर्णयों को जरा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना और उनका उचित विश्लेषण करना एकदम आवश्यक हो उठता है। साहित्य-समीक्षाकार की सफलता, उसके स्वयं के जीवन-विवेक की अनुभव-जन्य व्यापकता के साथ ही, उन तत्त्वों पर मूलतः आधारित है जिन्हें 'दृष्टिकोण' शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चूँकि मानव-चेतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है, वरन् भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के अधिकारियों द्वारा भी वह सम्पन्न होता है (उनके सहकार्य के बिना, यह असम्भव भी है) अतएव, समीक्षक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि समीक्ष्य वस्तु और उसके निर्माता के निर्णय, सामान्यीकरण और अन्तिम निष्कर्ष अद्यतन तर्क-शुद्ध और अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल तो नहीं जा रहे हैं? (चूँकि चेतना परिष्कार का सम्बन्ध मानव-स्थिति के उत्थान, उच्चतर रूपान्तर और विकास से है, इसलिए) समीक्षक का दायित्व साहित्यकार के प्रति न्याय, सहानुभूति-औदार्य आदि तक हीं सीमित न रहकर, उसके आगे बहुत बढ़ जाता है। यही कारण है कि देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में, समीक्षक की दृष्टि समीक्ष्य साहित्य के अन्तःसौन्दर्य में ही समाहित न होकर, साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षों की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मंजिल के अन्दर जाकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या यह मंजिल न्यायोचित, उपादेय और लाभप्रद है !!

इस प्रकार के समीक्षा-सम्बन्धी प्रयास 'कामायनी' के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, चाहे वे सफल रहें या असफल। कामायनी में इड़ा, श्रद्धा और मनु को लेकर, प्रसादजी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज, सभ्यता, मुक्ति आदि सभी विषय प्रसादजी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के अन्दर आ जाते हैं।

मुख्य प्रश्न

कामायनी के सम्बन्ध में सबसे बड़ा सवाल है इड़ा के प्रति प्रसादजी के रुख का। पूरी कामायनी में बुद्धि (जिसकी प्रतीक-चरित्र इड़ा है) के बारे में कठोरता बरती गई है। बुद्धि का प्रसंग आते ही, प्रसादजी आलोचनातुर हो उठते हैं। अपनी भूमिका में भी, प्रसादजी ने बुद्धि के विरुद्ध श्रद्धा के प्रति अपने पक्षपात की ओर इशारा कर दिया है। कामायनी के कथानक में भी, इड़ा (न्याय का पक्ष लेते हुए भी) पराजिता बतलाई गई है। स्वयं इड़ा, श्रद्धा के सम्मुख, निविड़ आत्मालोचन से ग्रस्त हो जाती है। इन सभी बातों से, स्वभावतः, निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रसादजी बुद्धिवाद-विरोधी श्रद्धावाद के समर्थक हैं। लेकिन सवाल यह भी है कि बुद्धि और उसके व्यवहार-क्षेत्र को हीन-भाव से देखने के क्या माने हैं ? क्या अपने इस रुख से प्रसाद जी तत्सामयिक सांस्कृतिक विचार-विकास-शृङ्खला के बहुत पीछे की कड़ी की ओर तो नहीं जा रहे हैं ? रवीन्द्र और उनके पूर्व रामकृष्ण-रामतीर्थ, महाराष्ट्र के चिपलूणकर-आगरकर बुद्धि की निर्माणकारी सत्ता को मानते थे। भारत के राष्ट्रीय उत्थान का, रमण और जगदीशचन्द्र बोस और रामानुजन की कीर्तिगाथाओं का, गाँधीवाद-प्रणीत राष्ट्रवाद के भव्य उत्कर्ष का वह काल था। ऐसे समय, नई सभ्यता का निर्माण करने वाली स्वप्न-दर्शी इड़ा के तिरस्कार का अर्थ ? साम्राज्य-वाद-विरोधी राष्ट्रवादी आन्दोलन के रामराज्य के स्वप्न से प्रसाद प्रभावित क्यों नहीं हो रहे थे ? क्या वे राष्ट्र-निर्माण के मानवीय प्रयासों से नाराज होकर इड़ा से विद्रोह कर बैठे थे ? अथवा, इड़ा के पीछे कोई और रहस्य है ?

इड़ा-प्रणीत सभ्यता

। एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि तत्सामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की सामाजिक भूमि से, उसकी वास्तविकताओं से, प्रसादजी का आदर्शवाद प्रभावित न था। हाँ, उस सामाजिक राष्ट्र-वादी वास्तविकता का जो उन्होंने विश्लेषण किया वह कामायनी में चित्रित होकर आज भी उतना ही सच है जितना कि प्रसादजी के जमाने में था। निश्चय ही, इड़ा-आगमन-पूर्व मनु के सभ्यता-निर्माण के प्रयास का तथा इड़ा-प्रणीत सभ्यता के ह्रास-मूलक स्वरूप का चित्र प्रसादजी के व्यक्ति-गत अनुभव की कठोर शिला पर आधारित है। अगर यह न होता, तो प्रसादजी विश्लेषणों और सामान्यीकरणों की तीव्रता और प्रचुरता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यों का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवों की सुदृढ़ शिला पर खड़े हुए हैं—वे कल्पना-मूलक नहीं हैं। अगर वे कल्पना-मूलक होते तो न उस विश्लेषण और न उस सामान्यीकरण में गहराई आ पाती, न आवेग, न तीव्रता ! किन्तु, प्रसादजी की विश्लेषणात्मक अनुभूति प्रतीकों, उपमाओं, चित्रों आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य सामान्यीकरणों को जन्म देती है कि दंग रह जाना पड़ता है। मजा यह है कि वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में और भी अधिक सत्य हो गए हैं। कामायनी में वर्णित सभ्यता-प्रयासों के पीछे, प्रसादजी का अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविक परिस्थिति, अपने समय की सामाजिक दशा बोल रही है यह निर्विवाद है।

कामायनी में इड़ा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के रूप के विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है, जिसके निर्माण में इड़ा का भी योग था। कामायनी में अंकित, इस सभ्यता-विश्व की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विभेद, वर्ग-संघर्ष, शासनादेश-घोषणा, विजयों की हुँकार, युद्ध, रक्त-अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, 'प्रणति भ्रान्त', 'भीति-विवश कम्पित' होकर काम करते जाना, भूख से विकल दलित, 'राष्ट्र' के भावों का नियमों में रूपान्तर, नियमों का दण्डों में रूपान्तर, और दण्डों के कारण, सबका कराहना नियम-स्रष्टाओं द्वारा आतंक-विप्लवों की वृष्टि, सुविभाजनों का विषम होना, नियमों का नित्य टूटना और बनना, अन्धकार में दौड़, विनाश का मुख हमेशा खुला होना, मस्तिष्क का हृदय से विरोध, ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में परस्पर-विरोध-वैषम्य, श्रद्धा का अन्ध-श्रद्धा में रूपान्तर (श्रद्धा वंचक बनकर अधीर, मानव-सन्तति ग्रह-रश्मि-रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर) दलित दारिद्र्य, कलह, असफलता-मूलक आँसू, अहंकार, दंभ, कष्ट, सन्ताप और मृत्यु इत्यादि।

प्रसादजी द्वारा वर्णित यह सभ्यता शापग्रस्त सभ्यता है (देखिए, इड़ा सर्ग में शाप-वाणी)। इस सभ्यता के विष-बीज मनु के इड़ा-आगमन-पूर्व प्रारम्भिक प्रयासों में लक्षित हो चुके थे। इस ह्रास-मूलक सभ्यता के प्रधान कारण ये हैं—(१) विभेद, वर्गों की खाई (२) शासन-कर्ता की आतंकवादी नीति, "भय की उपासना" और सत्तावाद, (३) "श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें, अपने बल का है गर्व उन्हें" (४) बनावटी नियम, कृत्रिम सीमाएँ और दण्ड (५) शोषण तथा दारिद्र्य।

इस सभ्यता का, व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर, इस प्रकार प्रभाव है—(१) मनुष्य का "कृत्रिम स्वरूप" (२) ज्ञान, इच्छा और क्रिया में परस्पर विरोध-विषमता (३) दंभ, लालसा, असफलता, आँसू, अहंकार आदि-आदि।

प्रसादजी मूलतः यह मानते हैं कि सामंजस्य-विरोधी विघटन की प्रक्रिया, जो सामाजिक स्तर पर वर्ग-विभेद की खाई के रूप में कार्य कर रही है, ठीक वही प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर भी गतिमान है। किसी "संकुचित असीम अमोघ शक्ति की भेद से भरी भक्ति" ही यह विघटन की प्रक्रिया है, जो जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है। प्रसादजी विघटन की इस प्रक्रिया को मूलतः (१) वर्ग-भेद-वर्ग-संघर्ष (२) अहंकार मानते हैं।

सारी कामायनी में नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास, और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्रीवृद्धि और विज्ञानोन्नति, और सत्ता ये चार बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं। किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोग-ग्रस्त रहा। प्रसादजी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है।

प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा के प्रधान तत्व ये हैं—(१) वर्ग-भेद का विरोध और भर्त्सना, अहंकार की निन्दा। यह प्रसादजी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (२) शासक-वर्ग की जन-विरोधी आतंकवादी-नीतियों की तीव्र निन्दा। यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है (३) वर्ग-भेद का विरोध करते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हुए भी, मेहनतकशों के वर्ग-संघर्ष का तिरस्कार—यह एक प्रतिक्रियावादी तत्व है। (४) वर्ग-हीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद—यह तत्व, अपने अन्तिम अर्थों में, इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि (क) वर्ग-वैषम्य से वर्ग-हीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपाय-हीनता का आदर्शीकरण है आदर्शवादी-रहस्यवादी विचाधारा (ख) इस उपाय-हीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरजीव है। (ग) इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रखती है। (घ) इस विचार-धारा के द्वारा, यथार्थ और आदर्श के बीच अनुवांछनीय खाई पड़ जाती है।

ध्यान रहे कि प्रसादजी के सम्मुख उनके अपने 'आज' की ही दुनिया थी। वे इस 'आज' की वास्तविकताओं से इतने ज्यादा परिचित थे कि वे स्वयं भारतीय कीर्ति के उद्‌गाता होकर भी, राष्ट्रीय उत्थान और साम्राज्यवाद-विरोधी वायुमण्डल के बावजूद, इस बात को कतई न भूल सके कि यह नवीन पूँजीवादी समाज और राष्ट्र भयानक रूप से रोगग्रस्त है। इड़ा सर्ग की शापवाणी सुनिये। यह शापवाणी सन् १९५२ की वास्तविकताओं को भी ठीक चित्रित करती है—सिवाय एक बात के। नई ऐतिहासिक शक्तिसम्पन्न, विकासमान श्रमिक वर्गों की बल-वृद्धि और आत्म-विश्वास समयी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति वे देख न सके। उनके जमाने में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में, इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का कोई निर्णायक (और व्यापक) प्रभाव भी न था। प्रसादजी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवादी यथार्थ के ह्रासग्रस्त स्वरूप की तीव्रतम शब्दों में निन्दा की। भारतीय समाज के अन्दर, मार्क्सवादी विचार-धारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण, तथा—तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर, वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरन्तन मान बैठे।

इड़ा का स्वरूप

ऐसी सभ्यता की फ़िलासफ़ी की एक प्रतीक इड़ा, मनु के अतिचारी कार्यों की न्यायपूर्ण भर्त्सना के बावजूद, (और अपनी निबिड़ आत्म-आलोचना के बावजूद) प्रसादजी की अन्तिम सहानुभूति खो बैठी। यह इड़ा बुद्धि की प्रतीक नहीं। (प्रसादजी ने उसे बुद्धि का प्रतीक-चरित्र माना है) वह तो पूँजीवादी समाज की मूल विचार-धारा की प्रतीक है। इड़ा बुद्धि-प्रधान अवश्य है। वह विज्ञानोन्नति और वर्ग-विभाजन के आधार पर, नवीन सभ्यता खड़ी करती है। जीवन के लिए संघर्ष (struggle for existence) और योग्यतम की विजय तथा शेष का तिरोधान (survival of the fittest) उसका प्रमुख सिद्धान्त है। इस संघर्ष को वह 'चिति-केन्द्रों का संघर्ष' कहती है। यह संघर्ष, इड़ा के अनुसार, लोगों को आपस में मिला देता है (लोग संगठित हो जाते हैं) किन्तु, इस संघर्ष के कारण, व्यक्ति-चेतना राग-पूर्ण होकर भी द्वेष-पंक में सन जाती हैं, तथा वह गिरती पड़ती अपनी मंजिल की ओर चली चलती है। यही जीवन-उपयोग है, यही बुद्धि-साधना है; और अपना जिसमें श्रेय हो, वही सुख की आराधना है (देखिए—संघर्ष सर्ग, पृष्ठ २००-२०१)

इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है। किन्तु, (पूँजीवादी) नियम-विधान के प्रतिकूल जाने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाले के लिए, उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती कि वर्ग-भेद के आधार पर उसके 'सुविभाजन विषम' क्यों हो गए हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नये क्यों बन जाते हैं। वह अपनी अवनति, अपना ह्रास स्वीकार करती है और श्रद्धा को अमूर्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।

निश्चय ही, श्रद्धा और प्रसादजी 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को बिलकुल नहीं मानते। यह एक घनघोर प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। वह सिद्धान्त स्वार्थ-लोलुप साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र है। इस वैचारिक मनोभूमि से ग्रस्त इड़ा और उसकी नवीन सभ्यता श्रद्धा और प्रसादजी के लिए अत्यन्त ग्रहणीय है। किन्तु, अपनी उपायहीनता के कारण, इस सभ्यता को उन्हें चिरन्तन मान लेना पड़ता है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए, अच्छे शासक की जरूरत है। सो, श्रद्धा अपना पुत्र इड़ा को सौंप देती है। वर्ग-संघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, श्रद्धा वर्गहीन सामंजस्यपूर्ण समाज का समर्थन करती है, किन्तु इड़ा का सामंजस्य वर्ग-मैत्री के आधार पर स्थित है। (इस अर्थ में, इड़ा का चरित्र श्रद्धा से हजार गुना प्रतिक्रियावादी है)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि श्रद्धा के इड़ा-विरोध का अर्थ अ-बुद्धिवाद नहीं, न बुद्धि-विरोधीवाद है। इड़ा में निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी हैं—जिसे श्रद्धा ही क्या, कोई भी मानववादी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः, ऐसी इड़ा का तिरस्कार कर, प्रसादजी अपने युग-विचारों को पीछे की ओर नहीं ले जा रहे थे, वरन् वे, वास्तविकताओं के विश्लेषण के द्वारा, हिन्दी-भाषा-भाषी विश्व के ज्ञान-कोष में वृद्धि ही कर रहे थे।

किन्तु, इड़ा को बुद्धि-तत्व का प्रतीक मानकर तथा श्रद्धा को श्रद्धा-तत्व का प्रतीक मानकर, प्रसाद ने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया वह वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है, विशेषकर इसलिए कि हिंदी जगत् में बुद्धि-विरोधी श्रद्धावाद को भारतीय परम्परा का नाम देकर जो एक प्रतिक्रिया-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दी के प्रतिक्रियावादी क्षेत्रों में ही कामायनी अधिक लोकप्रिय हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गई।

क्रान्तिकारी-शुद्ध वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव की स्थिति में, साहित्यकार किस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ठीक उसी घनघोर वास्तविकता से समझौता कर लेता है, जिस वास्तविकता का वह भयानक शत्रु है, इसका उदाहरण है स्वयं श्रद्धा और उसके कल्पक-निर्माता प्रसाद जी। मनु-पुत्र को इड़ा के पास सौंपना, और स्वयं हिमालय पर जाकर अमूर्त समरसता और सामंजस्य के वातावरण में रहना क्या आशय रखता है? यदि प्रसादजी के पास युगान्तरकारी वैचारिक अस्त्र होते, तो श्रद्धा के सम्मुख आत्म-आलोचन-ग्रस्त इड़ा के मन को, वैचारिक ऊहापोहों के द्वारा ऐसे स्तर पर भी पहुँचाया जा सकता था, जहाँ से वर्ग-विभाजन-हीन नवीन लोक-राज्य और नवीन जन-सभ्यता के सिंहद्वार की ओर जाने वाले प्रशस्त क्रान्तिकारी पथ के दर्शन हो सकते थे। और मनु-सहित इड़ा-श्रद्धा उस राह पर चल सकते थे। ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में कामायनी ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में, नये साहस प्रयासों को लेकर निर्द्वंद्व रूप से आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मन्तव्य उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विजयेन्द्र स्नातक

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ऐतिहासिक होने के कारण इसका आधार अनिवार्यतः सैद्धान्तिक है। इतिहास को दर्शन का वहिर्विकास स्वीकार करने के कारण कवि का ध्यान भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट उन सिद्धान्तों की ओर सतत बना रहा है जिनके द्वारा जगत् और जीवन की गतिविधि का यथार्थ रूप में आकलन होता है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमें मानव मन के विकास और मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा भी है अतएव इसका दार्शनिक आधार अपेक्षाकृत व्यक्त और स्पष्ट है। मनु अर्थात् मनन-शक्ति (मन) के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता, विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति तथा इड़ा अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि के संघर्ष और समन्वय का विवेचन ही कामायनी का दार्शनिक आधार है। देव-सृष्टि के ध्वंस के उपरान्त अभिनव मानव-सृष्टि का सूत्रपात करने वाले मनु, वेद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार एक विख्यात् ऐतिहासिक पुरुष भी हैं और साथ ही उनकी कथा मानव-विकास-रूपक का सुदृढ़ आधार भी है। कामायनी की कथा का परिनिर्वाण मनु अर्थात् मन की आनन्दोपलब्धि के साथ होता है अतएव इसमें आनन्दवाद की प्रतिष्ठा सर्वथा असंदिग्ध है। यह आनन्दवाद दार्शनिक सिद्धान्त या वाद की दृष्टि से प्रसादजी की अपनी मौलिक सृष्टि है जिसके निर्माण में उन्होंने मुख्य रूप से शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त दर्शन, उपनिषद् तथा वर्तमान युग की साम्यवादी प्रवृत्तियों का आवश्यकतानुरूप उपयोग किया है। किसी एक मतवाद को पकड़-कर उसी की अन्ध-उपासना प्रसादजी को अभीष्ट न थी।

कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त आनन्दवाद है। मन के सामरस्य दशा में अवस्थित होने पर ही आनन्द प्राप्ति होती है। मानव मन का परम ध्येय है शाश्वत आनन्दोपलब्धि। आनन्द प्राप्ति के साधनों में पर्याप्त मतभेद होने पर भी 'आनन्दोपलब्धि' रूप लक्ष्य के विषय में आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में अविरोध पाया जाता है। प्रसादजी ने कामायनी में आनन्द को साध्य मानकर जिस साधना को प्राथमिकता दी है वह है श्रद्धा और इड़ा की समन्वय भावना। श्रद्धा और इड़ा में समन्वय उत्पन्न होने पर इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य उत्पन्न होता है और यह सामरस्य ही दुख नाश के उपरान्त अनन्त आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। जब मन पूर्णतः श्रद्धावान होकर लक्ष्याभिनेवेशी होता है तभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः श्रद्धा का आनन्दवाद की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योग है।

श्रद्धा शब्द का तात्विक अर्थ है विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति। कामायनी में श्रद्धा को विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, सौख्य आदि उदात्त भावों का प्रतीक कहा गया है। वह जगद्धात्री, सर्वमंगला, अमृत-धाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है। वेद, उप-निषद्, गीता, योगदर्शन, त्रिपुरा रहस्य आदि शास्त्रों में श्रद्धा को लोक-कल्याण-प्रवर्तन की मूल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'श्रद्धाहि जगतां धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम्', कहकर ही सन्तोष नहीं हुआ, श्रद्धा के अभाव में जगत् की स्थिति भी सम्भव नहीं मानी गई—'श्रद्धा वैधूर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः'! 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कहकर गीता में श्रद्धा का परम पुरुषार्थ-मोक्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया गया है। श्रद्धा मूलक साधना से श्रद्धानुरूप फल प्राप्ति भर गीता में बताई गई है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' ऋग्वेद में श्रद्धा का गौरव और महत्व विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसमें श्रद्धा को अभीष्ट फलदात्री तथा वैभव की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ऋक् संहिता १०. १५. १४

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक श्रद्धा अपने गौरवपूर्ण आसन पर समासीन रही और उसके महत्व का आख्यान होता रहा। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने काव्य रामचरितमानस को हृदयंगम कर लाभ उठाने के लिए सबसे पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य बताया—

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन कँह मानस अगम अति, जिनहिन प्रिय रघुनाथ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा अपने तात्विक अर्थ के साथ व्यावहारिक रूप में भी जो उपयोगिता रखती है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। कामायनी में तो श्रद्धा का प्रभाव आदि से अन्त तक छाया हुआ है, उसके प्रति निष्ठावान हुए बिना काव्य के मर्म को समझना भी सम्भव नहीं।

मानव-मन के मस्तिष्क पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इड़ा अर्थात् बुद्धि। यह वृत्ति व्यवसायात्मिका है जो तर्क-वितर्क में उलझाकर मानव को आनन्द-प्राप्ति के पथ से हटाने में लीन रहती है। ऋग्वेद में इड़ा-सम्बन्धी एक सूक्त है जिसमें इड़ा को बौद्धिक ज्ञान का प्रतीक कहा गया है। बुद्धि का प्रतीक होने के कारण "इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुख मिलना स्वाभाविक है।" यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि इड़ा (बुद्धि) मन को उत्तेजित करने में तो समर्थ है किन्तु मन को परितुष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। यही कारण है कि श्रद्धाहीन बुद्धि केवल क्लेश, सन्ताप और संघर्ष को ही जन्म देने में निरत रहती है। तर्क-वितर्क और विघटन की ऊहापोह के कारण बुद्धि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस संसार में कुछ भी कल्याणकारी निर्माण नहीं कर पाता। कामायनी के इड़ा सर्ग में प्रसादजी ने इसका स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—

हाँ अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष डालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाशन ग्रहण किया
हाँ, जलन, वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्तन ही ऐसा जो नियति चक्र का बने तन्त्र
हो शाप भरा तब प्रजातन्त्र।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर हो वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हों अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकोगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

उपर्युक्त पंक्तियों में इड़ा (बुद्धि) की उन मूल प्रवृत्तियों की ओर कवि ने संकेत किया है जिनसे इड़ा का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। द्वन्द्व और संघर्ष के बीच जलन और ईर्ष्या-पंक में लिप्त इड़ा केवल अभिशप्त जीवन का ही पोषण करने में समर्थ है। भेद-बुद्धि उत्पन्न करके वर्णों की सृष्टि करने में लीन यह बुद्धिवाद, प्रेम, ममता, समवेदना और सद्भाव से दूर स्वार्थान्ध एवं संकीर्ण जीवन ही प्रदान करता है। 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' शीर्षक गीत में इड़ा का बाह्य रूप जिस प्रतीकात्मक शैली से कवि ने अंकित किया है वह उसके स्वरूप और कार्य-व्यापार का अच्छा परिचायक है। हृदय की स्निग्ध भावनाओं के अभाव में वह सुख, शान्ति और संतोष देने में सर्वथा असमर्थ रहती है—कामायनी के दर्शन सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा को सम्बोधित करके कहा है—

श्रद्धा बोली—वन विषम ध्वान्त
सिर चढ़ रही पायान हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय।

इड़ा के कार्य-व्यापार और स्वरूप का उपरिलिखित वर्णन पढ़कर यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि यदि सचमुच बुद्धि का यही व्यवसाय और प्रयोजन है तो उसकी यथार्थ उपादेयता क्या है? इस प्रश्न के प्रस्तुत होने पर बुद्धि की उपयोगिता की बात निस्सन्देह जटिल बन जाती है। किन्तु बुद्धि मानव-मन के विकास में सर्वथा व्यवधान या व्यर्थ की वस्तु नहीं है। उसे हम अवांछनीय तत्व कहकर छोड़ नहीं सकते। उसका अपना एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि उसके द्वारा राग को परिपक्वता प्राप्त होती है। उसके संसर्ग से श्रद्धा दृढ़ होती है। राग को लक्ष्य के प्रति प्रेषणीय बनाने में बुद्धि का विपुल प्रयोजन है; अतः यह कहना अनुचित न होगा कि बुद्धि नियंत्रित श्रद्धा के द्वारा ही मन समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। श्रद्धा और बुद्धि का यह सामरस्य ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में अभिन्नत्व की सृष्टि करके मन को अखंड आनन्द की दशा में पहुँचाने का साधन है। कामायनी में यदि आनन्दवाद साध्य है तो सम-रसता उसकी प्राप्ति का साधन है इसलिए श्रद्धा और इड़ा के समन्वय तथा सामरस्य दशा की प्राप्ति उन गुत्थियों को सुलझा देती है जो दर्शन की परिभाषा में सच्चिदानन्द प्राप्ति या ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। कामायनी के दर्शन की इस प्रारम्भिक सीढ़ी को पार कर लेने के बाद समरता का रहस्य और उसका प्रभाव जान लेना भी आवश्यक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समरसता

समरसता शब्द और समरसता का सिद्धान्त प्रसादजी ने शैव-दर्शन से ग्रहण किया। शिव-तत्व और शक्ति-तत्व का सामरस्य शैव-दर्शन की आधारभूत मान्यताओं में है और इसका प्रतिपादन स्थान-स्थान पर किया गया है। समस्त सुख-दुख के बीच एक रस रूप शिव विद्यमान हैं जिनकी प्रत्यभिज्ञा से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर द्वैत भी आनन्द-निस्पन्द हो जाता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मा परमात्मनोः॥

शैवागमों के इस समरसता का वर्णन शिव के विभिन्न रूपों को लेकर किया गया है और उसके द्वारा जगत् के वैषम्य को सार्थक बनाते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि इस वैषम्य में समत्व किस प्रकार स्थापित करके शिवत्व प्राप्त किया जाय। कामायनी में इसी तत्व को प्रसादजी ने श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय द्वारा प्रतिपादित किया है। बुद्धिवृत्ति की एकांगिता को श्रद्धा के समन्वय से ही सार्थक बनाया जा सकता है। समरसता का प्रारम्भ इन दोनों के यथोचित मिलन से ही प्रारम्भ होता है। सारस्वत प्रदेश में मानव को उपदेश देती हुई श्रद्धा कहती है कि—

सबकी समरसता का प्रचार,
मेरे सुत सुन माँकी पुकार।

कामायनी के रहस्य सर्ग में त्रिपुर की अवतारणा करते हुए कवि ने समरसता का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इच्छा, कर्म और ज्ञान यह त्रित्व मानव मन की शाश्वत प्रवृत्ति तथा गतिविधि का मनोवैज्ञानिक लेखा है अतः इनमें सामरस्य स्थापित करने की चेष्टा ही मन को परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाना है। जब तक इन तीनों में अभिन्नत्व न होगा आनन्द की प्राप्ति क्योंकर सम्भव हो सकती है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्या पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

इन तीनों के सामरस्य की स्थिति पर आते ही एक दिव्य स्वर-लहरी का संचार हो जाता है। मनु योगियों की परमानन्द दशा अनाहतनाद में लीन हो मुक्ति-सुख में विचरण करने लगते हैं।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद के
श्रद्धायुत मनु वस तन्मय थे।

योगियों को निर्विशेष या निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर जैसी विशुद्ध अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति इस सामरस्य दशा में हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होकर जैसे अखण्ड आनन्द में योगी को पहुँचा देते हैं वैसे ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समत्व आने पर भेद-बुद्धि निःशेष हो जाती है। शैवागमों में इस स्थिति को चिदानन्द प्राप्ति कहते हैं। यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समरसता के मार्ग से ही उपलब्ध होती है।

समरसता का यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही चरितार्थ नहीं होता वरन् लौकिक पक्ष में भी व्यावहारिकता की दृष्टि से यह पूर्णरूपेण उपादेय सिद्ध होता है। कामायनी में कवि ने वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी प्रभाव को अपने मन में धारण करके उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक संघर्ष और विनाश का चित्रण किया है। कदाचित् इसी कारण समरसता के प्रतिपादन में उसने प्रकृति और पुरुष की अध्यात्म-परक समरसता तक अपने को सीमित नहीं रखा। व्यक्ति और समाज की समरसता का विषद रूप से उसने वर्णन और समर्थन किया है। लौकिक पक्ष में भी इस समरसता को अधिकाधिक व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। श्रद्धा के द्वारा कवि ने इस संसार के वैषम्य का वर्णन कराकर शिवत्व या समरसता का निरूपण किया है। श्रद्धा कहती है—"वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एक-रस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रहकर प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि समूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख स्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागमों के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है।" संक्षेप में, जो समरसता लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है, वही शाश्वत सुख या आनन्द का विधायक भी। आनन्द ही प्रसादजी का परम ध्येय और अभीष्ट है, और वही साध्य है।

आनन्दवाद

समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनन्दोपलब्धि का वर्णन प्रसादजी ने कामायनी में किया है वह सगुणोपासक वैष्णव-भक्तों का आनन्द नहीं है। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के समान आनन्द का आलम्बन अपनी आत्मा से बाहर चराचर जगत् में स्थापित न करके अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करना इनका लक्ष्य है। योग-शास्त्र का ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों का उपयोग भी उसमें विहित है। निर्गुण-भक्ति पद्धति में जिस प्रकार निराकार-निरंजन की उपासना द्वारा अन्तरात्मा दिव्य-शक्ति के आलोक से आलोकित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दवाद की साधना-पद्धति में भी अन्तरात्मा शाश्वत सुख और आनन्द से परिपूर्ण हो उल्लसित हो जाता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए साधक को वराह, नरसिंहावतार आदि बाह्य आलम्बनों की अपेक्षा नहीं होती। उसका आनन्द आश्रय-निष्ठ और आभ्यन्तर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कामायनी में प्रसादजी ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनन्द-वाद वल्लभाचार्य के 'काम' या आनन्द के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अन्त-र्भूमि-पद्धति पर है।" अपने आनन्दवाद की सृष्टि प्रसादजी ने प्रमुख रूप से शैवागमों के प्रत्य-भिज्ञा दर्शन के आधार पर की है किन्तु भारतीय दर्शनों तथा उपनिषदों से भी उपयोगी तत्त्वों का उन्होंने चुनाव किया है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्वों को ग्रहण किया और कुछ स्थलों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य रखा। जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार करने पर भी उन्होंने अद्वैत मतानुसार उसे मिथ्या या असत् नहीं माना। माया का प्रभाव भी वे अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानते—शैवाद्वैत में माया के स्थान पर शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इसे मानने पर जगत् को मिथ्या मानना आवश्यक नहीं रह जाता। सांख्य या बौद्ध दर्शन की तरह वे संसार को दुखमय भी नहीं मानते—हाँ, जगत् की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य्य है। वे इस दृश्यमान जगत् को आनन्दमूर्ति शिव का निग्रह मानकर सत्य (सत्) स्वयं आनन्दमय मानते हैं। बौद्धों के नैरात्म्यवाद में भी उनका विश्वास नहीं—कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शांकर मत में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' है तो प्रसाद मत में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का सन्देश है।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि कामायनी के आनन्दवाद की सृष्टि में शैवागमों की प्रधानता है, वह सापेक्षिक है, यह समझ लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि कामायनी की दार्शनिक विचारधारा सर्वतोभावेन शैव विचार धारा है। यह ठीक है कि प्रसादजी शिव के अनन्य भक्त और आराधक थे अतः शैव दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भाव्य था। किन्तु शैवागमों के साथ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का भी वे सतत अनुशीलन करते रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक शास्त्र की संकीर्ण विचार-शृङ्खला उन्हें बाँध न सकी। समरसता और आनन्दवाद के मूल उपकरण शैवागमों से लेकर भी वे वेदान्त और उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म और उसकी सर्वव्यापकता की उपेक्षा न कर सके। 'महाचिति' अथवा चैतन्य का वर्णन प्रसादजी ने शैवागम के आधार पर ही किया है। चैतन्य के अतिरिक्त इस विश्व में किसी की भी सत्ता नहीं, ऐसा शैवागमों का कथन है। शिव की शक्ति के असंख्य रूप होने पर भी शैवदर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियों का वर्णन किया गया है। कामायनी में भी शिव के पाँच रूप संहारक, स्रष्टा, मायायोगी, मन्त्रवित् और नटराज प्रस्तुत किये गए हैं। शक्ति की दृष्टि से शिव पाँच रूपों में सामने आते हैं—प्रकाशरूपा चित् शक्ति, स्वातन्त्र्य शक्ति (आनन्द शक्ति), तच्चमत्कार (इच्छा शक्ति), आकर्षात्मकता (ज्ञान शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया शक्ति)। कामायनी के श्रद्धा सर्ग में इस महाचिति शक्ति की महिमा का वर्णन है। महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है; उसके नेत्र खुलने पर ही विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है—

> कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।

शिव-शक्ति के सविस्तर वर्णन को पढ़कर पाठक के मन में यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैवदर्शन है और उसके मूलाधार ग्रन्थ शैवागम हैं। इससे आगे बढ़कर पाठक यह भी सोच सकता है कि शैव-सिद्धान्तों की विवृति के लिए ही प्रसादजी ने मनु और श्रद्धा के इतिवृत्त को कामायनी में अवतरित किया है। किन्तु शैवागमों से कामायनी के दार्शनिक विचारों का मौलिक मतभेद जाने बिना इस प्रकार की धारणा बना लेना उचित नहीं। शैवदर्शन सामाजिक दर्शन नहीं है, वह व्यष्टि दर्शन है। समष्टि विकास के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यष्टि विकास पर ही उसका बल है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है; व्यक्ति विकास से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। समष्टि-मूलक-विकास भावनाओं के साथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसका विस्तार होता है अतः उसकी परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है। कामायनी के कर्म सर्ग में इस सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा !
औरो को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सखी बनाओ।

समष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी के श्रद्धा सर्ग में भी कवि ने उपनिषदों के 'भूमा' शब्द के द्वारा बड़ी ही सुन्दर शैली से किया है। नारद और सनत्कुमार संवाद में भूमा की महिमा वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्'। व्यष्टि-सुख का तिरस्कार करती हुई समष्टि या व्यापक सुख की ओर ही प्रवृत्ति करने वाली वृत्ति ही भूमा है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि व्यष्टिगत सुख को समष्टि-गत-सुख में पर्यवसित कर देना ही भूमा है और यही कामायनी की सामाजिकता का आधार है। श्रद्धा सर्ग के अन्तिम पद की अन्तिम पंक्ति तो समष्टिगत सौख्य की पुकार से गूँज रही है—"समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।" संक्षेप में, कामायनी का यह समष्टि विकास-भाव शैवदर्शन के व्यष्टि-विकास से मेल नहीं खाता और प्रसादजी के दर्शन को अपेक्षाकृत व्यापक बना देता है। इसके अतिरिक्त कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण है उसमें वर्तमान-युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण और समर्थन। आधुनिक युग की पदार्थ प्रियता, जिसका दायित्व भौतिक विज्ञान पर है—कामायनी के कवि को इष्ट नहीं। वर्ग संघर्ष और सामाजिक वैषम्य द्वन्द्वात्मक संघर्षों का प्रभाव भी कवि के मन पर पड़ा है और अपने समन्वय तथा सामरस्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर गया है। वर्ग-वैषम्य ने किस प्रकार सामाजिक जीवन को कुण्ठित बनाया हुआ है और उससे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है, यह कामायनी के संघर्ष सर्ग में कवि ने बताया है। बुद्धि की विगर्हणा में भी कवि सांकेतिक शैली से यह काम करना चाहता है कि केवल तर्क-संकुल शुष्क ऊहापोह से जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। भौतिक विज्ञान के प्रभाव में आधुनिक युग में हम इस तथ्य को भूल रहे हैं अतः सर्वांगीण जीवन-दर्शन का निर्माण भी नहीं कर पाये हैं। सर्वांगीण विकास के लिए जिस कोटि के जीवन-दर्शन की आज आवश्यकता है वह भौतिक साधनों तक सीमित रहने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता। शुद्ध निर्लेप चैतन्य का शाश्वत और अखण्ड आनन्द-प्राप्ति यदि चरम ध्येय है तो हमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में समन्वय और समरसता को स्वीकार करना होगा। श्रद्धा के संसर्ग से बुद्धि (इड़ा) का संस्कार करके शुद्ध चैतन्य द्वारा भावना, ज्ञान और क्रिया में सामरस्य उत्पन्न करके अखण्ड आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

संक्षेप में, कामायनी की कथा ऐतिहासिक होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ़ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। श्रद्धा वियोजित सन्तुलित बुद्धि के सहयोग से मनु (मानव) उस मार्ग पर चलने योग्य होता है जो जीवन का चरम साध्य है। जब वह लक्ष्य तक पहुँच जाता है तब उसका मन पूर्णरूपेण स्वस्थ, शुद्ध और चैतन्य के आलोक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से पूर्ण होकर आनन्दलीन हो जाता है। ताप, शाप, दुःख, दैन्य, संघर्ष और वैषम्य की जड़ता तिरोहित हो जाती है और आनन्द की अजस्रधारा प्रभावित होने लगती है—

शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है॥

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड बना था॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गोपालकृष्ण कौल

गोदान

: १ :

साहित्य में कभी-कभी ऐसी कृतियों का सृजन होता है जो साहित्य के इतिहास की धारा के प्रवाह का रुख ही बदल देती हैं; जो अपने युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही अपने प्रभाव से नये युग के द्वार भी खोलती हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' भी हिन्दी-साहित्य में एक ऐसी ही युग-प्रवर्तक रचना है। जैसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', तुलसी का 'रामचरित मानस', सूरदास का 'सूरसागर', बिहारी की 'सतसई', भूषण की 'शिवा-बावनी' और छत्रसाल पर लिखी हुई कविताएँ, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक अलग-अलग सीमा-चिह्न कायम करते हुए नये-नये युगों का उद्घाटन करते हैं; इसी प्रकार प्रेमचन्द का 'गोदान' भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध काल में अपने युग का अग्रदूत ही नहीं, नये युग का सूत्रधार भी है। यदि चन्द से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों, विषय-वस्तु और रूपविधानों, साहित्य के आलम्बनों और उपकरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाय तो प्रेमचन्द का कृतित्व कई बातों में असाधारण और क्रान्तिकारी प्रतीत होगा। प्रेमचन्द से पूर्व के अधिकांश हिन्दी साहित्य के संस्कार, आलम्बन और उपकरण सामन्ती उच्चवर्ग की सीमाओं में घिरे हुए हैं। काव्य का आलम्बन चाहे योद्धा हो या विलासी, चाहे धार्मिक हो या भक्त, और चाहे ईश्वर हो या देवता—सब का जीवन-व्यापार, आदर्श और मर्यादाएँ सामन्ती उच्चवर्ग के विभिन्न स्तरों से ग्रस्त हैं; उनमें देश-काल के व्यवधानों से कुछ रूप-भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्य जनता—कृषक और श्रमिकों—को काव्य का आलम्बन नहीं चुना गया; उनके जीवन-व्यापार से साहित्य में सजीवता नहीं पैदा हुई। तुलसी और सूर के काव्यों में जो लोक-जीवन की छाया मिलती भी है तो वह सामन्ती आदर्शों को उभारकर सामने लाने के लिए शृङ्गारिक उपकरण के रूप में या चमत्कार पैदा करने वाली विरोधी पृष्ठभूमि के रूप में। किन्तु प्रेमचन्द ने युग-जीवन से प्रेरणा लेकर सामान्य जनता और किसानों के देहाती जीवन को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया; उन्होंने भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की मूक वाणी को अपनी रचनाओं में मुखरित किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह एकदम नया क्रान्तिकारी कदम था।

: २ :

प्रेमचन्द ने कहानी से पहले उपन्यास लिखना शुरू किया था। उस समय वह उर्दू में लिखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। डॉ० रवीन्द्रनाथ के कई गल्प मैंने अँग्रेजी में पढ़े थे; जिनका उर्दू अनुवाद कई पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१६०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में···।''

इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं का समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग पैंतीस वर्ष है। इस समय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक विकास हो रहा था। ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध जन-भावना का विरोध धीरे-धीरे तीव्र होता जा रहा था। सन् १६०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हुई बम्बई के मजदूरों की हड़ताल की देश-भर में चर्चा हुई थी। उसके बाद भारतीय राजनीति में गांधीजी का तीव्र गति से प्रवेश हुआ और उनकी वाणी का प्रभाव देश-भर में फैल गया। सन् १६२० के सत्याग्रह आन्दोलन में प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। इस कार्य की प्रेरणा उन्हें गांधी की वाणी से ही मिली थी। उन्होंने लिखा है—

"···यह सन् १६२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में अच्छा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थीं। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से स्तीफा दे दिया।"

प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनमें गांधीवादी असहयोग-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन, विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, मद्यनिषेध, सरकारी पदों का त्याग, नारी-जागरण आदि का चित्रण मिलता है। फिर भी प्रेमचन्द उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले राजनीतिक दलों की नीति से असन्तुष्ट थे। सन् १६२३ में 'ज़माना' अखबार के सम्पादक को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"आप ने मुझसे पूछा है मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ, जो आवाम-अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल बनाएगी।"

इस असन्तोष का कारण था। प्रेमचन्द देख रहे थे कि उस समय का राष्ट्रीय-आन्दोलन विदेशी हुकूमत से राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन है; वर्ग-विभाजित समाज में श्रमिकों और किसानों का शोषण तो जारी ही रहेगा। क्योंकि इस आन्दोलन में जो भी व्यक्ति विदेशी हुकूमत से लोहा लेने को तैयार था, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन का एक अंग बन जाता था; फिर यह नहीं देखा जाता था कि वह किस वर्ग का है, शोषित है या शोषक। किन्तु प्रेमचन्द को यह कमी खटकी थी और उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय-आन्दोलन की झाँकियों के साथ-साथ महाजनी सभ्यता और वर्ग-भेद-जन्य शोषण के भी यथार्थ चित्र खींचे हैं। उनकी प्रेरणा का स्रोत केवल गांधीवादी राष्ट्रीय-आन्दोलन ही नहीं, रूस की क्रान्ति भी थी। 'प्रेमचन्द घर में' पुस्तक में श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने लिखा है—

"मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या शोषण बन्द हो जायगा?

आप बोले—थोड़ा-बहुत तो हर जगह होता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर का शोषण बलवान करें। हाँ, रूस है, जहाँ कि बड़ों का मार-मार कर दुरुस्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ ?

आप बोले—अभी जल्दी इसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो जल्दी हो जाय, तब आप किस का साथ देंगे ?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब से कह दूँगा कि मैं भी मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर हैं।

× × ×

मैं बोली—तो रूस वाले यहाँ भी आयँगे ?

वह बोले—वे यहाँ नहीं आयँगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आयगी। वह हमारे सुख का दिन होगा। जब यहाँ मजदूरों और काश्तकारों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमी की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।"

ऊपर के विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ शोषण हीन किसान-मजदूरों के राज्य की भी कल्पना करते थे। वह इसे ऐसा राज्य समझते थे, जिसमें आदमी की उम्र ही दूनी हो जाती। इसलिए प्रेमचन्द को गांधीवादी लेखक कहना, प्रेमचन्द को गलत समझना है। वह न तो गांधीवादी थे और न मार्क्सवादी, वह सही मानों में जनवादी कलाकार थे, जो साक्षात् जीवन-अनुभव से अपना दृष्टिकोण बनाता है; अन्याय और शोषण का विरोध करता है और जिसकी सजग सहानुभूति जनता—श्रमिकों और किसानों के साथ होती है; जो मानवता की व्यापकता को समझते हुए भी मानवता की वर्ग-जन्य संकीर्णता का विरोध करता है।

: ३ :

जिस समय प्रेमचन्द ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय की साहित्यिक-परम्परा सामन्ती राष्ट्रीयता को अपने साथ भारतेन्दुयुग की विरासत के रूप में ग्रहण किए हुए नई पूँजीवादी राष्ट्रीयता के युग में प्रवेश कर रही थी। साहित्य की प्रवृत्ति और भावधारा कहीं आदर्शवादी और कहीं रोमांटिक थी। आदर्शवाद पर सामन्ती राष्ट्रीयता का प्रभाव था और रोमांटिक भावधारा पर पूँजीवादी व्यक्ति-वैचित्र्य और वैयक्तिक-असन्तोष का प्रभाव था। कविता में छायावाद (रोमांटिसिज्म) का उदय हो रहा था और गद्य में आदर्शवादी सुधारवाद का। तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव की भाव-भूमि रहते हुए भी कथावस्तु और पात्रों का चुनाव इतिहास में प्राप्त सामन्ती और उच्च वर्ग से ही किया गया है; उनके जीवन-व्यापार में ही वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजा गया है। यही नहीं, प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती हिन्दी उपन्यासों में—चाहे वे तिलस्मी हों या जासूसी, सामन्ती प्रेमकथा के हों या सुधारवादी—नायक और प्रधान चरित्र राजा-महाराजा या ताल्लुकेदार के खानदान का ही है और उनका जीवन-चित्रण बड़ा यान्त्रिक रूढ़िवादी और रीतिवादी है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' से 'भूतनाथ' तक हिन्दी का औपन्यासिक शिल्प इसी रूढ़ि-मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। उस समय का पाठक 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्रमोहिनी' और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'भूतनाथ' का पाठक था; उसके लिए कथा-साहित्य मनोरंजन का साधन था। प्रेमचन्द यदि इस प्रवाह में बह जाते तो आज हिन्दी-साहित्य का रूप ही दूसरा होता। किन्तु वह उस प्रवाह के द्रष्टा थे और उन्हें उसकी अपर्याप्तता का भान हो चुका था। वह देख रहे थे कि तूफान की गति से बदलती हुई सामाजिक चेतना और राजनीतिक जागरण के स्तर किस तरह तत्कालीन राष्ट्रीयता के आवरण में आच्छादित आर्थिक शोषण और वर्ग-भेद के मूलाधारों को उद्घाटित करते जा रहे हैं। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-सङ्घ' के अध्यक्षपद से दिये गए अपने भाषण में उन्होंने लिखा था—

"हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये-अजायब की दास्तान थी, कहीं 'बोस्ताने-ख्याल' की और कहीं 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर व्यक्तिवाद का रङ्ग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने पूर्व के और सम-सामयिक साहित्य-प्रवाह में अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढ़ि के शिलाखण्डों को देखा था, और देखा था कि जन-मानस की अनन्त मरु-प्यास की तृप्ति इस जीवनहीन प्रवाह से नहीं होगी। यह सब उन्होंने जीवन-अनुभव और जन-दर्शन की आँखों से देखा था, किसी दृष्टिकोण का चश्मा लगाकर नहीं; उनके दृष्टिकोण का आधार ही जनता का सतत प्रवाही जीवन-दर्शन था, जिसमें असन्तोष की आग, रूढ़ियों की घुटन, जातीय परम्पराओं के प्रति अन्ध आस्था और बदलते हुए समय के नवनूतन के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा होती है। प्रेमचन्द ने अपने समय की शिल्प-रूढ़ियों और भाव-रूढ़ियों की संकीर्णताओं को छिन्न-भिन्न किया; वह न तो तत्कालीन आदर्शवाद के पथगामी बने और न रोमांटिसिज्म से अनुरक्त हुए। यद्यपि उनकी प्रारम्भ की रचनाओं में आदर्शवाद का प्रभाव है, फिर भी उनका आन्तरिक झुकाव सामाजिक यथार्थवाद की ओर था। उन्होंने अपने विचारों में कई स्थानों पर यथार्थ का विरोध किया है, इसका कारण उनका अपना अन्तर्विरोध था, जिसने उनमें प्रकृतवाद (नेचुरलिज़्म) को ही यथार्थवाद समझने का भ्रम पैदा कर दिया था और जिसे वह 'नग्न यथार्थ' के नाम से पुकारते थे। उन्होंने जैनेन्द्रजी को एक पत्र में लिखा था—

"...Realist हम में से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूँ।"

'है' में से 'होना चाहिए' को ध्वनित करने वाला चित्रण यथार्थवादी चित्रण है और जो केवल 'है' या 'उपस्थित' का फोटोग्राफिक चित्रण मात्र होता है, जिसमें अन्तर्निहित 'होना चाहिए' का उद्घाटन साथ-साथ नहीं होता, वह प्रकृतवादी चित्रण है। प्रकृतवादी ढङ्ग से मानव समाज की कमजोरी, पामाली और शोषण का चित्रण मानवता को निराशा, अविश्वास, और भय की ओर खींचता है और यथार्थवादी ढंग से किया गया जीवन का चित्रण मानवता को असन्तोष, जीवन में विश्वास और संघर्ष की ओर आकर्षित करता है। प्रेमचन्द ने प्रकृतवाद के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्वों को यथार्थवाद के साथ जोड़कर, अपने युग के आदर्शवादी प्रभाव की प्रतिक्रिया का परिचय दिया है किन्तु उनका आदर्शवाद यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खड़ा है।

उन्होंने अपने प्रारम्भ के कई उपन्यासों में समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थवादी ढंग से किया है किन्तु उनका समाधान यान्त्रिक, आदर्शवादी है जिसे राजनीतिक दृष्टि से गांधीवादी प्रभाव भी कहा जाता है। समस्याओं के आदर्शवादी समाधान को प्रेमचन्द ने दो रूपों में प्रस्तुत किया है, कहीं तो संस्थाओं और आश्रमों द्वारा और कहीं व्यक्ति को ही एक संस्था बनाकर। इन समाधानों में उनकी अपनी आन्तरिक असंगतियों और अपने युग के गांधीपंथी राष्ट्रीय आन्दोलन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बावजूद तमाम असंगतियों और अन्तर्विरोधों के इन समाधानों में सामाजिक चेतना प्रबल है, वे व्यक्ति-प्रयत्न नहीं; क्योंकि समाज से पलायन करके किसी हल को पेश करने की कोशिश प्रेमचन्द ने नहीं की है। साथ ही उन्होंने इस प्रकार के समाधानों को प्रस्तुत करने के आदर्शवादी जोश में कहीं भी समस्याओं और जीवन के यथार्थ चित्रण को अयथार्थ या आदर्शवादी बनाने की यान्त्रिक कोशिश नहीं की है। जैसे जमींदारों के किसानों पर, अछूतों पर सवर्णों के, महाजनों के, गरीबों पर होने वाले अत्याचार को सिर्फ इसलिए कम करके चित्रित करने की आदर्शवादी कमजोरी उन्होंने नहीं दिखाई कि वह वर्ग-संघर्ष जन्य क्रान्ति के वैज्ञानिक विकास को नहीं जान जान पाए थे और समन्वय एवं समझौते की बात सोचते थे। उनके ऐसे समाधान और परिणाम उनके उपन्यासों की यथार्थवादी पृष्ठभूमि को कभी विकृत नहीं करते थे। वह मूलतः यथार्थवादी कलाकार थे किन्तु उनपर प्रभाव अपने युग के आदर्शवाद का था। जिस उपन्यास में वह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते और यथार्थ समस्याओं को ही चित्रित करके सन्तोष कर लेते हैं या समाधान या परिणाम उस समस्या की यथार्थता से स्वयं ध्वनित होने लगता है, उस उपन्यास में वह अपने युग के एकमात्र यथार्थवादी कलाकार के रूप में सामने आते हैं। या यों कहा जा सकता है कि समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने एवं जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करने में वह सफल थे।

प्रेमचन्द ने इस यथार्थ और आदर्श की समस्या को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के माध्यम से सुलझाया, किन्तु इसे 'यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचन्द का समझौता' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपनी रचनाओं में—उपन्यासों में 'वरदान' से 'गोदान' तक और कहानियों में प्रारम्भ की कहानियों से 'कफ़न' तक—क्रमशः उनकी कला का विकास यथार्थवाद की ओर ही हुआ। जैसे कहानियों में 'कफ़न' उनकी पिछली कहानियों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है, वैसे ही उपन्यासों में 'गोदान'। 'गोदान' न केवल हिन्दी कथा-साहित्य का एक सीमाचिह्न है, बल्कि प्रेमचन्द की कला के विकास का भी सीमाचिह्न है। यह विकास भारतीय जीवन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझौता परस्त नहीं, अभूतपूर्व और साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी है।

'गोदान' के पूर्ववर्ती हिन्दी कथा-साहित्य और परवर्ती कथा-साहित्य की विकास-धाराओं के अध्ययन से पता चलता है कि 'गोदान' आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वस्तु और शिल्प, विचार और विवेचन, जीवन और वास्तविकता, और यथार्थ और आदर्श तथा भाषा की दृष्टि से युग-सन्धि स्थापित करने वाली महान् कला सृष्टि है, वह अपने युग को ही केवल प्रतिबिम्बित नहीं करती, बल्कि भावी युग की भूमिका भी है। वह साहित्य के सामन्ती संस्कारों, रीति रूढ़ियों, संस्कृतनिष्ट क्लिष्ट भाषा की कृत्रिमताओं के प्रति साहित्यिक विद्रोह का प्रतीक है, उसमें सर्वप्रथम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भारतीय जन-जीवन की यथार्थ झाँकी अपनी तमाम दुर्बलता और सबलता, परम्परा और जातीयता, संस्कृति और सामाजिकता के साथ वर्ग-भेद जन्य शोषण और अत्याचार और उनके विरुद्ध जीवन-संघर्ष के सुख-दुख, आघात-प्रतिघातों एवं उत्थान-पतनों के विविध रूपों में चित्रित हुई है, जिसकी मिसाल 'गोदान' के पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में तो मिलती ही नहीं; परवर्ती कथा-साहित्य में भी इस यथार्थवादी परम्परा को और अधिक विकसित करने वाली प्रतिभा की खोज करना कठिन है।

'गोदान' भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है किन्तु वह केवल व्यक्ति नहीं, भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है, वह व्यक्ति होते हुए भी एक वर्ग है, उसके व्यष्टि-जीवन में भारतीय कृषक की परम्पराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कष्ट-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं, दूसरे जमींदार, महाजन और हाकिम आदि विविध वर्गों से उसके अनेक-रूप-सम्बन्धों की समष्टिगत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। होरी एक होते हुए भी अनेक का चित्र है।

देहात और किसान का जीवन और मरण का सम्बन्ध है। देहात की कहानी किसान की कहानी और किसान की कहानी देहात की कहानी है। इसलिए 'गोदान' की आधिकारिक कथा-वस्तु का वातावरण नागरिक नहीं देहाती (rural atmosphere) है। इस प्रकार 'गोदान' की कथावस्तु भारत की अस्सी प्रतिशत जनता के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इससे पूर्व हिन्दी में क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी देहाती वातावरण और किसान के जीवन से इस भाँति की प्रतिनिधि-परक कथा-वस्तु का चुनाव किसी उपन्यास में नहीं किया गया।

आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होरी की गाय के पालने की चिर-लालसा की देहाती भावभूमि से होता है और अन्त भी गोदान की ग्रामीण परम्परागत संस्कारी भावना से होता है, जो कृषक-संस्कृति की लोकपरम्परा के वातावरण का प्रतीक है। होरी और उसकी पत्नी धनिया के वार्तालाप से कथा का उद्घाटन होता है और होरी की मौत और धनिया की नीरव व्यथा में कथा की समाप्ति। लगता है कि जैसे सारा कथा-प्रवाह होरी और धनिया के जीवन की सतत गूँज है, जो अन्त में एक करुण प्रतिध्वनि करके शान्त हो जाती है, या होरी जैसे ग्राम-देवता का शरीर है और धनिया उसकी आत्मा, जो ग्रामीण-संस्कृति की परम्परा के प्रवाह में थपेड़े खाते हुए उसी के बीच अपनी जीवन नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे खींचते जा रहे हों। इस प्रकार 'गोदान' भारतीय ग्राम-देवता की करुण आत्म-पुकार है, उसके शरीर और मन का यथार्थ चित्रण।

होरी—एक किसान का यथार्थ चरित्र है। उसमें उसके अपने सारे अन्तर्विरोधों और गुण-दोषों की सजीव कहानी है। वह मन से बड़ा उदार है किन्तु 'महाजनी सभ्यता' की मार से उसकी दरिद्रता उसे संकीर्ण और नीच बनने पर भी मजबूर कर देती है, बहुत-सी दुर्बलताएँ उसे विरासत में भी मिली हैं। गरीबी के कारण वह अपने भाइयों से ५) की बेईमानी तक करने को तैयार हो जाता है किन्तु जब उसका भाई हीरा उसकी गाय को द्वेष और ईर्ष्या के कारण विष देकर मार डालता है, तब होरी जानकर भी अपने भाई के इस पाप को छिपाना चाहता है। किन्तु वह धनिया से कुछ नहीं छिपा पाता है और धनिया यह बात जब कहती है तो उसे पीटता है। हीरा गाँव से भाग जाता है तब होरी उसकी खेती का सारा काम खुद करता है, अपना पीछे पहले उसके काम को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करता है। दरोगा आकर जब हीरा के पीछे उसके घर की तलाशी लेना चाहता है तो होरी कर्ज लेकर भी दरोगा को रिश्वत देकर अपने भाई के घर की प्रतिष्ठा बचाना चाहता है। उसकी दुर्बलता के प्रति हमें सहानुभूति पैदा होती है और उसके कर्मरत संकटग्रस्त जीवन-व्यथा के प्रति करुणा। वह अपने शरीर पर सब-कुछ झेलता है किन्तु अपनी आस्था से अडिग नहीं होता, वह अपनी जमीन और अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए अपने को होम देता है। लेकिन जब हम देखते हैं कि महाजन और जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध वह विद्रोह नहीं करता तो हमें कहीं-कहीं उस पर क्रोध भी आता है। कर्ज से मुक्ति पाने के लिए, अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सतत परिश्रम उसका जीवन-क्रम बन जाता है। वह चुपचाप सारे अन्यायों और कष्टों को सहता रहता है किन्तु अपने इस क्रम से नहीं हटता। अन्त में वह मजदूरी करता है, किन्तु झुकता नहीं। इस सतत विश्राम-हीन परिश्रम के यज्ञ में वह अपने जीवन की आहुति चढ़ा देता है। लू लगने से वह मर जाता है। लू लगने से पहले जब एक मजदूर उसे देख कर पूछता है—"तुम भी तो बहुत दुबले हो गए, दादा।" तो होरी हँसकर कहता है—

"तो क्या यह मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।"

जैसे ये शब्द होरी के जीवन-अनुभव का निचोड़ हों, उसके मन के किसी कोने में नाचने वाले धुँधले स्वप्न की एक झाँकी हो, मानो यह सारे उपन्यास में प्रकट यथार्थ के 'है' में से ध्वनित होने वाले अन्तर्निहित 'होना चाहिए' की युग-माँग की पुकार हो।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो वर्ग और व्यक्ति का एक साथ चित्र उपस्थित करने वाला इतना उदार स्वाभाविक मानव-चरित्र तो मिलता ही नहीं, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में भी, जो शिल्प की दृष्टि से कई बातों में 'गोदान' से आगे हैं ऐसा पौरुष-चरित्र पाना कठिन ही है। परवर्ती उपन्यासों में व्यक्ति-वैचित्र्य और व्यक्ति-कौतुक तो बहुत हैं किन्तु उनमें जन-जीवन के इतना सहज प्रतीक चरित्र नहीं मिलते। होना तो चाहिए था कि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण की इस यथार्थवादी परम्परा का विकास परवर्ती उपन्यासों में होता किन्तु शिल्प-प्रयोग की रीतिवादी मनोवृत्ति में परवर्ती उपन्यासों में पुंसत्वहीन, सनकी और मरीज नायकों की सृष्टि ही अधिक की है। कई आलोचकों को होरी के चरित्र में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की छाया भी दिखाई देती है।

धनिया का चरित्र एक दृढ़, साहसी और कर्मठ ग्राम-नारी का चरित्र है। परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचती चली जाती है। जो बात उसके सहृदय हृदय को उचित प्रतीत हो फिर वह उसके लिए बड़ी से बड़ी सामाजिक शृङ्खला की परवाह नहीं करती। वह अपने पुत्र गोबर के किये हुए असामाजिक प्रेम को अपने साहस के द्वारा पाप बनने से बचा लेती है। गोबर विधवा झुनिया के यौवनासक्ति में उसे गर्भवती बना देता है और जब उसे इस कार्य के दायित्व के बोझ का पता चलता है तब वह झुनिया को अपने घर पर छिपाकर छोड़ जाता है और खुद शहर भाग जाता है। धनिया तब समाज के भय से झुनिया को अपने घर से भगाती नहीं, बल्कि उसे स्वीकार करके अपने पुत्र की कायरता को धिक्कारती है। इसी प्रकार ग्राम-विप्र की रखैल चमारिन सिलिया को भी परित्यक्ता होने पर वह अपने घर में स्थान देती है। जब दरोगा उसकी अपनी गाय को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मारने का अभियोग उसी पर लगाता है और धमकी देता है तो वह सब आदमियों के सामने निर्भीकता से कहती है—

"हाँ, दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारी जाँच में यही निकलता है तो यह लिखो, पहना दो हाथों में हथकड़ी।"

इसी प्रकार झुनिया का मामला लेकर गाँव के पंच जब होरी को दण्ड देते हैं तो वह कहती है—

"मुझसे इतना बड़ा जरीबाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा ? क्यों उसको निकाल कर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया ? यही न्याय है, एँ ?—"

वह पंच परमेश्वर की भी परवाह नहीं करती; उनके अमानवीय न्याय को धिक्कारती है। धनिया जैसे नारी-चरित्र भी दूसरे हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल से ही मिलेंगे।

गोबर इन दोनों का बेटा है। वह नई पीढ़ी के असन्तोष का प्रतीक है। वह जमींदार और महाजन जैसी गाँव की जोंकों को मिटाने की बात सोचता है। उसका यह असन्तोष और आन्तरिक विद्रोह गाँव से शहर की ओर खींच ले जाता है। वहाँ वह मजदूरी करके, खोंचा लगाकर जो रुपया पैदा करता है, वह सूद पर उठाने लगता है। कुछ रुपया पैदा करके वह पहली बार जब गाँव लौटता है तो भी उसमें गाँव के महाजनों और जमींदार के विरुद्ध एक बगावत की भावना काम करती है। वह होली के अवसर पर नौजवानों की टोली बनाकर स्वाँग करता है और उसमें गाँव के महाजनों की मजाक उड़ाई जाती है। किन्तु होरी के सन्तोषी स्वभाव से चिढ़कर वह फिर शहर चला जाता है। गाँव से विद्रोह की भावना लेकर शहर में आने पर उसके जिस चारित्रिक विकास की प्रारम्भ में अपेक्षा की जाती है वह पूरी नहीं होती। प्रेमचन्द गोर्की के 'मदर' उपन्यास के मजदूर बेटे की तरह 'गोदान' में गोबर के चरित्र का क्रान्तिकारी विकास कर सकते थे। किन्तु गोबर की सामाजिक चेतना महाजनी सभ्यता का शिकार बन जाती है और उसका क्रान्तिकारी विकास रुक जाता है। संभवतः प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता की विकृति का चित्रण करने में ही गोबर के चरित्र की यथार्थता समझी हो, क्योंकि 'गोदान' किसान के आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्र है, जो मिटती हुई जमींदारी सभ्यता के स्थान पर अपने पैर जमाने वाली महाजनी सभ्यता के छोटे-बड़े प्रतीकों द्वारा खींचा गया है। 'गोदान' में ह्रासोन्मुखी जमींदारी सभ्यता के प्रतीक हैं रायसाहब, जो स्वयं बड़े महाजनों के कर्जदार हैं। किसान यदि गाँव के छोटे महाजनों का शिकार है, तो जमींदार बैंकों और बड़े महाजनों का, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध शब्दों में, वह भी साधारण आदमी की तरह करता है। रायसाहब, मेहता से कहते हैं—"किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।...हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया।"

इस कथन से स्पष्ट है कि जब जमींदार कर्ज के बोझ से दबता है तो वह भी पूँजीवाद को कोसता है और दूसरी ओर गाँवों में किसानों का स्वयं उपजीवी बनकर रहता है। वह किसान के सामने अपने को उसके समान ही दुखी और परेशान बताता है ताकि किसान अपने प्रति किये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गए अत्याचार को जमींदार की मजबूरी समझकर उसके प्रति सहानुभूति रखे। राय साहब होरी से कहते हैं—"दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ क्या नहीं हैं; लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है।···जो भोग-विलास के नशे में, अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता। ···लक्षण कर रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।"

एक ओर तो यह वर्ग अपने मरणोन्मुख जीवन को देखकर दुखी होता है और दूसरी ओर इस स्थिति में भी वह अपने शोषणकारी चक्र की गति को नहीं रोकना चाहता है। राय साहब होरी के सामने यह कह ही रहे थे कि उन्हें पता चलता है कि बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। यह सुनते ही 'राय साहब के माथे पर बल पड़ गए। आँखें निकाल कर बोले—'चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ।' कथन और कृत्य में कितना अन्तर है; मिटता हुआ वर्ग भी अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए क्या नहीं करता? प्रेमचन्द ने इस प्रकार मिटनेवाले जमींदार वर्ग का कितना यथार्थ चित्रण किया है!

प्रेमचन्द ने जमींदारों के अत्याचारों का चित्रण अपने पिछले उपन्यासों और कहानियों में काफी किया है 'प्रेमाश्रम' में इसी वर्ग के शोषणकारी चक्र की तस्वीर खींची गई है किन्तु 'गोदान' में गाँव से लेकर शहर तक फैले हुए छोटे-बड़े पूँजीपतियों और उनके एजेण्टों का यथार्थ चित्रण है। भारतीय जीवन में पूँजीवाद के प्रवेश को उन्होंने महाजनी सभ्यता की संज्ञा दी थी। प्रेमचन्द की धारणा थी "इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला। इस महाजनी सभ्यता का अन्त हुआ है केवल रूस देश में और जो समाज-व्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।" फिर भी प्रेमचन्द ने इस व्यवस्था का नारेबाजी के साथ कभी प्रचार नहीं किया, यद्यपि वह साहित्य को 'प्रोपेगण्डा' मानने से हिचकते नहीं थे। वर्ग-भेद, मिटते बनते नये-पुराने वर्गों के रूप, शोषण के अनेक धार्मिक, जातीय और सामाजिक प्रकार—सब बातें उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त हुई थीं, वह जनता के लिए जनता से सीखकर जनता के साहित्य की सृष्टि करते थे।

गाँवों में फैले हुए 'महाजनी सभ्यता' के विभिन्न रूपों के चित्र भी जन-जीवन की व्यापक अनुभूति के फल हैं। होरी कहता है—"जमींदार तो एक ही है; मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग।" झींगुरीसिंह शहर के बड़े महाजन का गाँव में छोटा एजेण्ट है। होरी इन महाजनों के कर्ज से जीवन-भर नहीं उबर पाता है। मूलधन का सूद-ब्याज द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता जाता है और इस चक्की में पिसते-पिसते आखिर उसका अन्त हो जाता है। धनिया सुतली बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थे वे भी होरी के मरते समय उसने गोदान में दे दिए। दातादीन से वह कहती है—"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" यहीं उपन्यास भी करुण वातावरण में समाप्त हो जाता है। गोदान के बीस आने भी महाजन ब्राह्मण को ही मिलते हैं। जीवन-भर जो महाजन खून चूसता रहा, वही अन्त समय में भी पुरोहित बनकर दक्षिणा वसूल करता है। किसान के जीवन-रक्त को चूसने वाली इन सामाजिक जोकों का अभिशाप मानों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसान की अन्तर्व्यथा की करुण-चीत्कार बनकर इस उपन्यास में फूट पड़ा है।

'गोदान' की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ एक प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक-कथा मुख्य-कथा से अलग दिखाई पड़ती है, और लगता है कि यदि होरी के ग्राम-जीवन की कथा-वस्तु तक ही सीमित होता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था। किन्तु प्रेमचन्द के 'गोदान' के पहले के उपन्यासों में भी कथा-वस्तु का क्रम इसी प्रकार है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंग-भूमि' में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। केवल शिल्पदृष्टा आलोचक भले ही इस कथा का सुगठन न मानें किन्तु इस प्रकार की कथाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों ही मिलकर उपन्यास के व्यापक चित्र को पूर्ण बनाती हैं। वर्गभेद और वर्ग-विरोध एवं शोषण के रूप ही दो कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। एक ओर किसान है, दूसरी ओर जमींदार, दोनों वर्गों के दो क्षेत्र हैं और दोनों के सम्बन्ध भी। जब तक चित्र के दोनों पहलू सामने न रखे जायँ जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति उसकी वास्तविकता और यथार्थ समस्याओं को उभारकर सामने नहीं रख सकती। 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने इसी वर्गविरोध के विविध सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए दो कथाओं को एक में गूँथने का प्रयत्न किया है। गूँथने में या कथा-सन्धि में भले ही विशेष शिल्प-चातुर्य न हो किन्तु दोनों कथाओं के पात्र एक-दूसरे की पृष्ठभूमि में कन्ट्रास्ट के साथ उभरकर सामने आते हैं।

प्रेमचन्द चमत्कारवादी नहीं थे कि उपन्यास के शिल्प-कौशल के चक्कर में जीवन-वस्तु की यथार्थता की विराट् अनुभूति को ही कुण्ठित करके नये-नये प्रयोग करते। उनका शिल्पवस्तु को वहन करने वाला साधन था, साध्य नहीं। इसलिए उनकी रचनाओं में कलात्मक चमत्कार खोजनेवालों को निराशा होगी। प्रेमचन्द ने एक पत्र में लिखा भी था—

"कथा को बीच में शुरू करना, या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।"

वह जीवन के इतने समीप थे कि अपनी कला और जीवन में उन्होंने तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इसीलिए उनका कहानी कहने का ढंग बड़ा स्वाभाविक था। उनका शिल्प सरल और सुबोध शिल्प है। 'गोदान' में ही चरित्र शब्दचित्रों, वार्तालापों द्वारा स्वाभाविक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उभरते हैं। वार्तालाप में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिनमें लगता है कि यह जीवन की वाणी है। 'गोदान' का गद्य प्रेमचन्द की हिन्दी को अभूतपूर्व और ऐतिहासिक देन है। देहात के वातावरण का चित्रण करने में उनके शब्द ही सजीव हो उठते हैं। 'गोदान' के अवध के गाँव और ताल्लुकेदार और किसानों का चित्रण है इसलिए भाषा में मुहाविरों के सहज-प्रयोग और खानगी के अतिरिक्त अवधी का पुट वातावरण को सजीव बना देता है। जन-जीवन से सम्पर्क रखने वाली ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग हिन्दी के दूसरे उपन्यासकारों ने नहीं किया, उनकी भाषाओं में गद्य-कौशल और कृत्रिमता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचन्द के गद्य के विषय में लिखा है—

"शैलीकार की दृष्टि से प्रेमचन्दजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में असाधारण है। सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में वह पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आए। हिन्दी-शैली

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मंज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है।.....इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्दजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उसपर चलने के लिए आमन्त्रित किया।"

विद्वान् मौलाना शिबली की राय में भी प्रेमचन्द के मुकाबले का सुन्दर और संवरा हुआ गद्य लिखने वाला सात करोड़ मुसलमानों में भी दूसरा नहीं था। 'गोदान' की भाषा उनकी रचनाओं में सबसे अलग विशेषता रखती है और वह यह कि उपन्यास में जिस सामाजिक जीवन के महासागर को तरंगायित दिखाया गया है, गर्जन और स्वर भी उसी जीवन का है, उधार लिया हुआ नहीं।

'गोदान' प्रेमचन्द की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध के हिन्दी-साहित्य के विकास का अग्रदूत है।

'गोदान' हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकाल कर सामाजिक रस के स्तर तक खींच कर लाने की प्रेमचन्द की कला साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।

'गोदान' साहित्य को मनोरंजकता के रङ्गमहल से निकालकर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है।

'गोदान' भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्षरत जीवन की तपस्या का यथार्थचित्र है और है संस्कृति-विरोधी शोषक वर्गों की महाजनी सभ्यता के काले कारनामों का इतिहास।

हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही 'गोदान' की अपूर्णता है और हमारे वर्ग-जीवन की पूर्णता ही 'गोदान' की पूर्णता है।

'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव-व्यथा भी।

'गोदान' उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

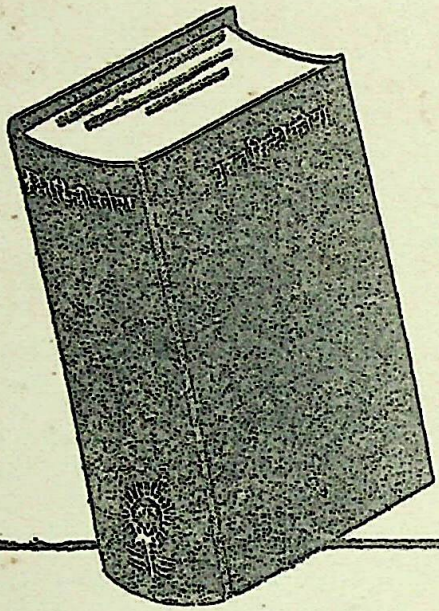

बृहत् हिन्दी कोश

(शब्दसंख्या १२५५१८)

हिन्दीका सर्वोपयोगी नवीनतम कोश

आठ वर्षोंमें तैयार हुआ है

जिसमें

सर्वाधिक शब्द, अर्थ, मुहावरे आदि दिये गये हैं

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

कबीरचौरा, बनारस—१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी में शिष्ट साहित्य
का प्रचार करने वाली
विख्यात मासिक पत्रिका

न या स मा ज

सम्पादक—मोहनसिंह सेंगर

वार्षिक मूल्य ८)
एक प्रति का ॥।)

हर मास प्रतिष्ठित साहित्यिकों के निबन्धों के अतिरिक्त पत्रिका में निम्न स्तम्भ स्थायी रूप से प्रकाशित होते हैं :

अपना-अपना दृष्टिकोण
नया साहित्य
चयनिका
यह समाज है
देश-विदेश
हमारा दृष्टिकोण

आज ही ग्राहक बनिए

'नया समाज' कार्यालय
३३, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता १

बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
और
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
का
त्रैमासिक मुखपत्र

सा हि त्य

सम्पादक : { शिवपूजन सहाय
नलिन विलोचन शर्मा

ग्राहक बनने के लिए प्रबन्ध विभाग को लिखिए

बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
कदमकुआं, पटना ३

'आलोचना'

के पि छ ले अं क

'आलोचना' के पिछले अंकों के आर्डर हमारे पास नियमित रूप से आ रहे हैं। वर्ष १ का पहला अंक समाप्त हो चुका है; दूसरा समाप्तप्राय है, शीघ्र आर्डर देने वालों को ही मिल सकेगा। तीसरे और चौथे अंकों की थोड़ी प्रतियाँ स्टाक में हैं। जो पुस्तकालय व पुस्तक-विक्रेता इन अंकों को खरीदना चाहें, हमें लिखें। इन अंकों का मूल्य वही है, ३) प्रति अंक। लिखने से प्रत्येक अंक की विषय-सूची भी मिल सकती है।

'आलोचना' प्रबन्ध विभाग

राजकमल प्रकाशन, १ फैज़ बाज़ार, दिल्ली

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजपाल ऐण्ड सन्ज़

प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता

कश्मीरी गेट, दिल्ली

के

नवीनतम प्रकाशन

हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास	—	देवीचरण रस्तौगी	६)
हिन्दी साहित्य का परिचय	—	आ० चतुरसेन शास्त्री	३)
हिन्दी छन्द प्रकाश	—	रघुनन्दन शास्त्री	४)
काँटे (साहित्यिक निबन्ध)	—	कृष्णचन्द्र	३)
साहित्य-विचार	—	स० गोविन्दराम	२॥)
जीवन और संघर्ष (नाटक)	—	स० उदयशंकर भट्ट	३)
विकट पथ के राही (साहस की कहानियाँ)	—	बालकृष्ण	२॥)
प्रवंचना (उपन्यास)	—	गुरुदत्त	५)
चाँद के धब्बे (उपन्यास)	—	शिवसागर मिश्र	३)
चोली-दामन (उपन्यास)	—	कर्तारसिंह दुग्गल	३॥)

'राष्ट्रभारती'

संपादक

मोहनलाल भट्ट : हृषीकेश शर्मा

वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से ६ रु०; अर्धवार्षिक मूल्य ३ रु० ८ आने; नमूने की प्रति १०आने

यह भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाली एक ऊँचे दर्जे की सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका है। प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित होती है।

'राष्ट्रभारती' भारतवर्ष के उत्तर-दक्षिण के और पूर्व-पश्चिम के आपस के साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का अच्छा माध्यम है।

(१) इस पत्रिका को राष्ट्रभाषा हिन्दी के तथा लगभग सभी भारतीय साहित्य और संस्कृति को बल व प्रेरणा पहुँचाने वाले प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। (२) इसमें देशी-विदेशी विद्वानों के भी ज्ञानपोषक और विविध मनोरंजक लेख रहते हैं। (३) प्रमुख कवियों की कविताएँ और कहानीकारों की श्रेष्ठ कहानियाँ। (४) 'एकांकी' नाटक, रेखाचित्र और शब्द-चित्र। बंगला, मराठी, गुजराती, असमिया, उड़िया, पंजाबी, कश्मीरी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि-आदि भारतीय भाषाओं का रसास्वाद कराने वाले सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं।

हिन्दी-प्रेमी मात्र से हमारा अनुरोध है कि आप 'राष्ट्रभारती' को अपनाइये और राष्ट्रभाषा के प्रचार में हमें शीघ्रातिशीघ्र सक्रिय सहयोग दीजिए।

आशा है 'राष्ट्रभारती' के प्रचार में हिन्दी-प्रेमी सज्जन अवश्य हमारा हाथ बटायेंगे। वार्षिक चन्दा भेजकर आज ही ग्राहक बन जाइए।

पता:— 'राष्ट्रभारती' C/o राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, पो० हिन्दीनगर वर्धा (म० प्र०)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानोदय (मासिक)

श्री राहुल सांकृत्यायन—

" 'ज्ञानोदय' जैसे मासिक पत्र की बड़ी आवश्यकता है। उसके श्रमण संस्कृति-सम्बन्धी तथा दूसरे भी लेख बड़े रोचक और ज्ञानवर्द्धक होते हैं।"

प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए०—

" 'ज्ञानोदय' उच्च कोटि का सांस्कृतिक आध्यात्मिक पत्र है। इसका स्तर बहुत ऊँचा है। ...आत्मनिर्माण-सम्बन्धी सरल भाषा में लिखी हुई सामग्री और होनी चाहिए।"

प्रो० अनूप शर्मा एम० ए०, एल० टी०—

"नैतिक स्तर पर समाज-संगठन 'ज्ञानोदय' का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। इस कार्य में पत्र को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। पत्र में साम्प्रदायिक कटुता तथा धार्मिक संकोच का अभाव है, जो इसको सद्यता तथा स्वस्थता प्रदान करता रहेगा।"

पण्डित नाथूराम प्रेमी—

" 'ज्ञानोदय' मैं बराबर पढ़ता हूँ। अब वह अधिकाधिक सार्वजनिक होता जा रहा है। मिश्रजी के लेख और नोट्स बड़े मार्के के होते हैं।"

डॉ० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए०, डी० फिल०—

" 'ज्ञानोदय' बड़ी सुरुचिपूर्ण, ज्ञानवर्द्धक और जीवनप्रद सामग्री देता है। उसकी अधिकांश रचनाएँ गहरी होने के साथ ही बड़ी रोचक भी होती हैं। किसी भी जागरूक तथा जिज्ञासु परिवार के लिए यह पत्र बड़ा उपयोगी है।"

पृष्ठ-संख्या ८० वार्षिक मूल्य ६)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ५

"कल्पना"

जिसमें प्रतिमास उच्चकोटि के साहित्यिकों व कलाकारों की रचनाएँ प्रकाशित होती हैं

प्रत्येक अंक में एक रंगीन चित्र

स्थायी स्तम्भः

कला प्रसंग

—विनोद विहारी मुकर्जी

सांस्कृतिक टिप्पणियाँ

—दिनकर कौशिक

साहित्य धारा

—इस स्तम्भ के अन्तर्गत पाठकों, लेखकों आदि द्वारा उठाये गए साहित्यिक प्रश्न आदि हैं

पुस्तक समालोचना

कल्पना अपनी निर्भीक समीक्षा के लिए प्रसिद्ध है।

वार्षिक मूल्य १२), एक प्रति का १)

८३१, बेगम बाजार, हैदराबाद

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, पूना

के तत्त्वावधान में

अभिनव मासिक पत्रिका

"जय भारती"

सम्पादक—पं० मु० डाँगरे

साहित्य; परम्परा; संस्कृति विषयक लेख; शंका-समाधान; साहित्य-परिचय; मधु-चयन; हिन्दी-जगत्; कहाँ पर-कौन क्या पढ़े।

राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति की प्रारंभिक से लेकर राष्ट्रभाषा रत्न परीक्षाओं तक परीक्षोपयोगी-सामग्री एवं समयोचित रचनाओं तथा विशेषताओं से भरपूर परिश्रम भारत को एक नाविन्यपूर्ण पत्रिका।

वार्षिक मूल्य ३)। राष्ट्रभाषा परीक्षार्थियों से २)। वरधा समिति के प्रमाणित प्रचारकों से १)।

वी० पी० का नियम नहीं है। शीघ्र मँगायें।

"जयभारती" कार्यालय,

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति,

८६६ सदाशिवपेठ, पो० बा०नं० ५५८पुणे २

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल के तीन यन्त्रस्थ प्रकाशन

हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : आलोचना पुस्तकमाला : १
२) लेखक—नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसाद सिंह, बच्चनसिंह, विजयशंकर मल्ल, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी के गौरव ग्रन्थ : आलोचना पुस्तकमाला : २
२) लेखक—डा० विपिनविहारी त्रिवेदी, डा० सत्येन्द्र, डा० रांगेय राघव, विश्वम्भर मानव, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोपालकृष्ण कौल

हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ : आलोचना पुस्तकमाला : ३
२) लेखक—प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, गिरिजाकुमार माथुर, विजय चौहान, नामवरसिंह, जगदीश गुप्त

ये तीनों प्रकाशन 'आलोचना' में प्रकाशित निबन्धों में से संकलित किये गए हैं। इनकी भूमिकाएँ ख्यातिप्राप्त आचार्यों से लिखवाई जा रही हैं और इस प्रकार रायल साइज़ में बढ़िया कागज़ पर छपी ये पुस्तकें हिन्दी के आलोचना साहित्य की समृद्धि में संवर्धन करेंगी। दिसम्बर के अन्त तक प्रकाशित हो जायँगी।

राजकमल के तीन आगामी प्रकाशन

भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड, विश्व-विख्यात पण्डित सुनीति बाबू का भारोपीय भाषाओं के सम्बन्ध में खोजपूर्ण और विवेचनात्मक ग्रन्थ। फरवरी १९५३ में प्रकाशित होने की आशा है।
मूल्य लगभग ७॥)

आलोचना : सिद्धान्त तथा इतिहास—डा० एस० पी० खत्री

पूर्वीय तथा पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियों और संसार-मात्र के साहित्य-जगत् में आलोचना के विकास व इतिहास के सम्बन्ध में पाण्डित्यपूर्ण, अद्वितीय पुस्तक। फरवरी १९५३ में प्रकाशित होने की आशा है। मूल्य लगभग ११)

हिन्दू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी

भारत के वयोवृद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर मुकर्जी की प्रसिद्ध पुस्तक "हिन्दू सिविलिज़ेशन" का डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा किया हुआ सरल हिन्दी में अनुवाद। भारत के प्राचीन इतिहास के विद्यार्थियों के लिए संग्रहणीय प्रकाशन। मई १९५३ में प्रकाशित होने की आशा है। मूल्य लगभग १०)

अपने आर्डर अपने पुस्तक-विक्रेताओं के पास रजिस्टर करवा लीजिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन नये प्रकाशनों ने
हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना स्थान बना लिया है।

प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा ३)
डा० रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द-सम्बन्धी इस अध्ययन से हिन्दी जगत् में आलोचना एक नया अध्याय आरम्भ किया है।

पतवार : भगवतीप्रसाद वाजपेयी ५)
ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी का विचार-प्रधान, नवीनतम, स्वानुभूति और मनोमन्थन से परिपूर्ण उपन्यास।

सूर-समीक्षा : डॉ० रामरतन भटनागर ३)
हिन्दी-वैष्णव-काव्य के शिरोमणि सूरदास की साधना, और साहित्य-समीक्षा के नये अर्थों की ओर इंगित करने वाला ग्रन्थ।

समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ० सत्येन्द्र ३॥)
साहित्य के विभिन्न अंगों—काव्य, नाटक, कथा, जीवनी, निबन्ध और आलोचना—का शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक निरूपण।

काव्य-कौमुदी : श्रीधरानन्द व्याकरणाचार्य ३॥)
काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त और उनका नवीनतम हिन्दी-काव्य में अध्ययन। अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के नये उदाहरण दिये गए हैं, जिनसे पुस्तक की सुबोधता बढ़ गई है।

हिन्दी-गद्य-विकास और इतिहास : योगेन्द्रकुमार मल्लिक १॥)
हिन्दी-गद्य और उसकी विविध प्रणालियों का संक्षिप्त अध्ययन।

साहस-सञ्जीवनी : उदयवीर शास्त्री २)
देश-विदेश के साहसी यात्रियों, वीर योद्धाओं, सैनिकों, तथा अन्वेषकों की प्राण-प्रेरक गाथाएँ।

देश-भर का दुश्मन : अनुवादक : राजानाथ पांडेय २)
'इब्सन' के प्रसिद्ध एक अंग्रेजी नाटक का अनुवाद।

इतिहास और कल्पना : सं० अविनाशकान्त शर्मा ३)
हिन्दी के प्रतिनिधि एकांकीकारों के एकांकियों का अनुपम संकलन

निबन्ध-प्रदीप : सं० सोमनाथ गुप्त २)
हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकारों के निबन्धों का अनुपम संकलन।

आधुनिक कहानियाँ : सं० डॉ० हरदेव बाहरी ३॥)
हिन्दी के प्रतिनिधि कहानीकारों की कहानियों का अनुपम संकलन

प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता

मेहरचन्द मुन्शीराम

नई सड़क दिल्ली

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

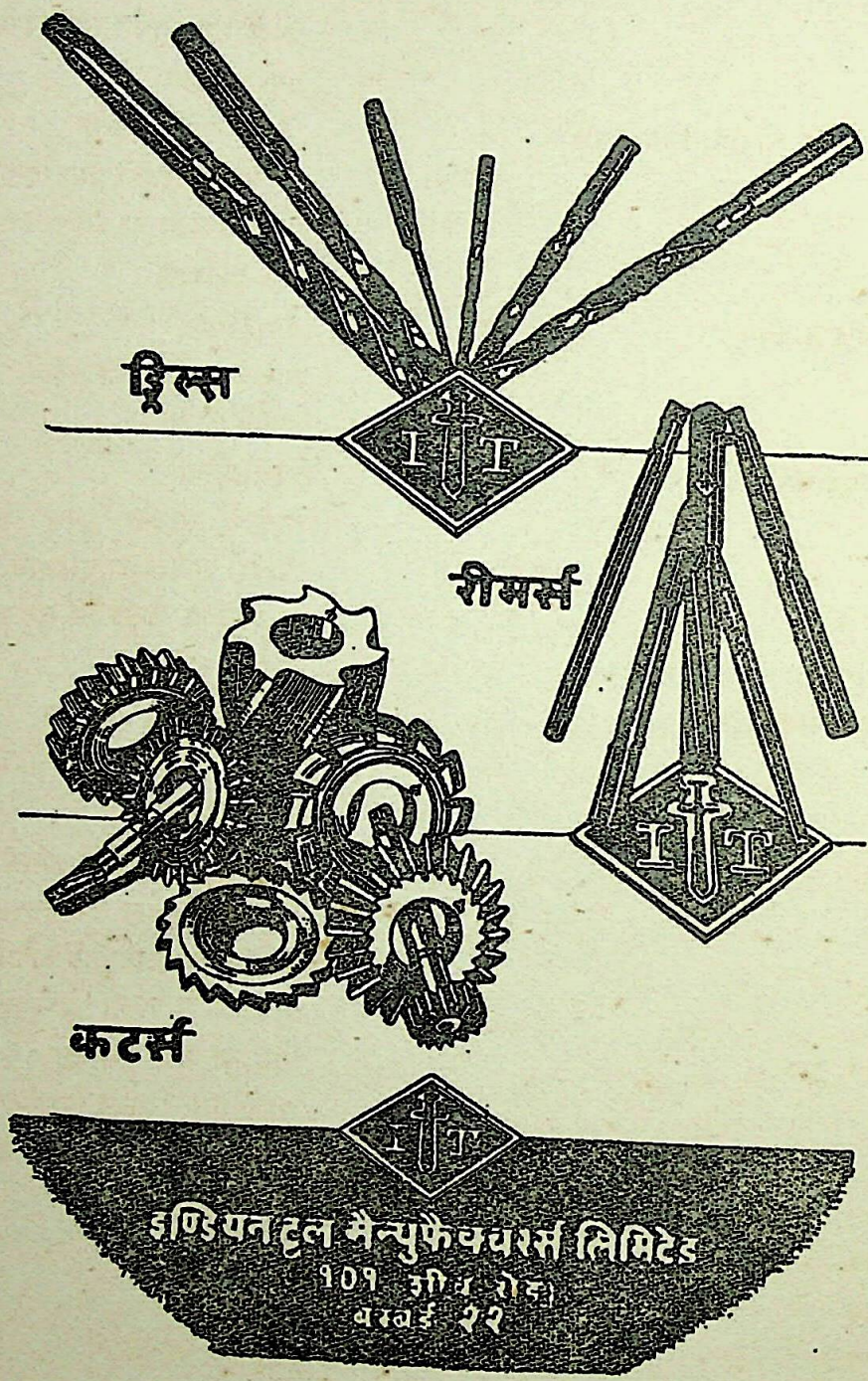

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल प्रकाशन के कुछ साहित्यिक प्रकाशन

डा० उदयनारायण तिवारी	:	*हिन्दी भाषा तथा साहित्य*	२॥)
		सुबोध लेखनी से लिखा गया हिन्दी भाषा तथा साहित्य का नया इतिहास	
शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान	:	*हिन्दी गद्य-साहित्य*	२)
		कुशल आलोचकों द्वारा हिन्दी गद्य के विकास का आलोचनात्मक इतिहास	
गंगाप्रसाद पाण्डेय	:	*निबन्धिनी*	३॥)
		पाण्डित्यपूर्ण, समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह	
डा० रघुवीरसिंह	:	*शेष-स्मृतियाँ*	४)
		आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में प्रशंसित लेखक के सप्राण निबन्धों का संग्रह	
डा० इन्द्रनाथ मदान	:	*प्रेमचन्द : एक विवेचना*	३।)
		प्रेमचन्द के साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण	
सीताराम चतुर्वेदी	:	*मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा*	३)
		गुजराती के महान उपन्यासकार कन्हैयालाल मुन्शी की कृतियों का हिन्दी में पहला अध्ययन	
संकलन	:	*सिद्धान्त और समीक्षा*	२॥)
		आलोचना विषयक सैद्धान्तिक व समीक्षात्मक लेखों का उपयोगी चयन	
संकलन	:	*गद्य-गौरव*	२॥)
संकलन	:	*पद्य-प्रवाह*	२॥)
संकलन	:	*कहानी : नई-पुरानी*	२)
संकलन	:	*युगछाया*	२॥)
संकलन	:	*विचार-वल्लरी*	२॥)
संकलन	:	*राष्ट्रभाषा हिन्दी*	३)

ये पुस्तकें भारत के सभी पुस्तक-विक्रेताओं से मिल सकती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आलोचना तथा निबन्ध

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति : डा० राजेन्द्र प्रसाद ५)
सिद्धान्त और अध्ययन : गुलाबराय ६)
काव्य के रूप : गुलाबराय ४॥)
हिन्दी काव्य-विमर्श : गुलाबराय ३॥)
साहित्य-समीक्षा : गुलाबराय १॥)
महाकवि सूरदास : नन्ददुलारे वाजपेयी ४)
समीक्षायण : कन्हैयालाल सहल ३)
दृष्टिकोण : कन्हैयालाल सहल १॥)
वाद-समीक्षा : कन्हैयालाल सहल ॥)
कला और सौन्दर्य : 'शिलीमुख' ३॥)
रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र : देवराज उपाध्याय ३॥)
प्रगतिवाद की रूपरेखा : मन्मथनाथ गुप्त ७)
मैं इनसे मिला : (१) 'कमलेश' २॥)
मैं इनसे मिला : (२) 'कमलेश' ३॥)
कहानी और कहानीकार : जिज्ञासु ३)
हिन्दी के नाटककार : जयनाथ 'नलिन' ५)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : गुलाबराय—विजयेन्द्र स्नातक ६)
सुमित्रानन्दन पन्त : शचीरानी गुर्टू ६)
महादेवी वर्मा : शचीरानी गुर्टू ६)
प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : 'रहबर' ६॥)
साहित्य-विवेचन : क्षेमचन्द्र 'सुमन' योगेन्द्र कुमार मल्लिक ७)
हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति : विजयेन्द्र स्नातक—क्षेमचन्द्र 'सुमन' ३)
जीवन-स्मृतियाँ : क्षेमचन्द्र 'सुमन' ३)
उद्धव-शतक-परिशीलन : अशोककुमारसिंह १॥)
भाषा-विज्ञान-दर्शन : कृष्णचन्द्र शर्मा, देवीशरण रस्तोगी १॥)
प्रबन्ध-सागर : यज्ञदत्त शर्मा ४॥)
ग्राम-साहित्य : (१) रामनरेश त्रिपाठी ४)
ग्राम-साहित्य : (२) रामनरेश त्रिपाठी ६)

काव्य

रूपदर्शन : हरिकृष्ण 'प्रेमी' ६)
वन्दना के बोल : हरिकृष्ण 'प्रेमी' २।)
बलिपथ के गीत : 'मिलिन्द' ३)
रावण महाकाव्य : हरदयालुसिंह ५)

नाटक

बादलों के पार : हरिकृष्ण 'प्रेमी' ३)
मानव प्रताप : देवराज 'दिनेश' २)
शान्तिदूत : देवदत्त 'अटल' १।)
शक्ति पूजा : वी० मुखर्जी 'गुंजन' १।)
सफर की साथिन : रामसरन शर्मा १॥)
एकांकी-समुच्चय : जयनाथ 'नलिन' ३)
पग-ध्वनि : आचार्य चतुरसेन शास्त्री १॥)

उपन्यास

विद्रूप : पृथ्वीनाथ शर्मा ३)
अपराजिता : आचार्य चतुरसेन शास्त्री २)

कहानी

जीवन के मोड़ : महावीर अधिकारी ३)
कारावास : यश बी० ए० २)

इतिहास तथा जीवनी

भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार ६)
भारत का चित्रमय इतिहास : महावीर अधिकारी ६)
भारतीय प्रशासन : बम्बाल-दीक्षित ६)
सभा शास्त्र : न० वि० गाडगिल ६)
अगले पाँच साल : जी० एस० पथिक ५)
सचित्र संविधान : इन्द्र एम० ए० १॥)
अगला कदम : हरिकृष्ण मेहताब १।)
हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति : इन्द्र विद्यावाचस्पति ॥)

आत्माराम एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना

के

अगले अंक में

★ **निबन्ध**

हिन्दी गीति-काव्य का विकास	हंसकुमार तिवारी
हिन्दी-नाट्य-रचना तथा रंगमंच का विकास	जगदीशचन्द्र माथुर
हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास	रामरतन भटनागर
हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
हिन्दी-साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव	देवेन्द्र सत्यार्थी
हिन्दी-साहित्य पर यूरोपीय साहित्य का प्रभाव	डॉ० रामअवध द्विवेदी
छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण	विनयमोहन शर्मा
छायावाद की भावभूमि	जगदीश गुप्त
प्रगतिवाद	विजय चौहान
प्रतीकवाद	गिरिजाकुमार माथुर
अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा	डॉ० देवराज
हिन्दी-भाषा का उद्गम और विकास	डॉ० हरदेव बाहरी
राजस्थानी भाषा और साहित्य	नरोत्तमदास स्वामी
मातृभाषाओं का महत्त्व	राहुल सांकृत्यायन
भाषा का विकास और प्रतीकवाद	रामसुरेश त्रिपाठी

सहकारी सम्पादक : श्री नामवरसिंह, श्री गोपालकृष्ण कौल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना पुरस्कार

निर्णायक समिति का वक्तव्य

हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि तथा हिन्दी-लेखकों के प्रोत्साहन के लिए, हर्ष की बात है कि सरकारी-गैर सरकारी संस्थाओं की ओर से अनेक छोटी-बड़ी पुरस्कार-योजनाएँ चालू हैं, परन्तु 'आलोचना पुरस्कार' का आयोजन इन सबसे मूलतः भिन्न है।

'नवीन प्रेस' के सेठ बन्धुओं की ओर से घोषित 'आलोचना पुरस्कार', एक प्रकार से, स्वयं लेखकों की ओर से अपने ही उन लेखक बन्धुओं को सम्मानित और पुरस्कृत करने का आयोजन है, जिन्होंने हिन्दी के उपन्यास और आलोचना-क्षेत्रों में अपनी रचनाओं से या तो सम्पूर्ण जीवन और उसकी मूलभूत समस्याओं को अधिकाधिक कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित किया है या साहित्य की प्रवृत्तियों, श्रेष्ठ कृतियों अथवा लेखकों के गम्भीर, सन्तुलित अध्ययन प्रस्तुत करके पाठकों को उनके सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों को हृदयंगम करने की नई चेतना दी है और उनकी कलाभिरुचि का परिष्कार किया है। अतः केवल उन शीर्ष कोटि के उपन्यासों, आलोचना-ग्रन्थों, निबन्धों तथा पुस्तक-समीक्षाओं के कर्ता साहित्यकारों को, जिनसे हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ता है, तथा हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण द्वारा प्रेरित सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कार्य की पूर्ति में उल्लेखनीय योग मिलता है, सम्मानित करने का यह आयोजन, पुरस्कार-निधि की दृष्टि से चाहे अत्यन्त स्वल्प हो, किन्तु इसका महत्त्व बड़ा है।

इसीलिए निर्णायक समिति के सामने पुरस्कार के लिए पुरस्कार देने का दृष्टिकोण न था। जो निर्णय किये गए हैं वे इस पुरस्कार के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही।

सन् १९५१ में प्रकाशित उपन्यासों के सम्बन्ध में हमें अपना निर्णय स्थगित करना पड़ा है—इसका हमें खेद है—क्योंकि यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कई उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु समग्र रूप से किसी अकेले उपन्यास को ऐसी सर्वांग-सुन्दर कलाकृति नहीं कहा जा सकता, जिसकी विचार-वस्तु भी ठोस और उच्च आदर्शपूर्ण हो तथा जिसका रूपतत्व और रचनातन्त्र भी कलात्मक हो, और इस प्रकार जो कुल मिलाकर जीवन का वैविध्यपूर्ण, मूर्त और यथार्थ चित्र देता हो। इसलिए पुरस्कार की उपन्यास-सम्बन्धी रकम अगले वर्ष की रकम में जोड़ दी जायगी।

अन्य पुरस्कारों का निर्णय इस प्रकार है: (१) सन् १९५१ में प्रकाशित आलोचना-ग्रन्थों में गम्भीर विवेचन और मौलिक चिन्तन की दृष्टि से श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का निबन्ध-संग्रह *'आधुनिक साहित्य'* सर्वश्रेष्ठ है; (२) 'आलोचना' पत्रिका में डॉ० देवराज का निबन्ध *'हिन्दी समीक्षा : एक दृष्टि'* (अंक ३) हिन्दी-आलोचना के सामने मौलिक प्रश्न उठाने तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से; और (३) डॉ० रघुवंश की लिखी *'स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि और उत्तरा'* की समीक्षा (अंक १) गम्भीर अध्ययन और सन्तुलित मूल्यांकन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। आशा है, इस निर्णय का स्वागत होगा। उपरिलिखित पुरस्कार क्रमशः २५१), २५१) और १०१) के हैं।

—सुमित्रानन्दन पन्त
—हजारी प्रसाद द्विवेदी
—शिवदानसिंह चौहान

१ नवम्बर, १९५२

श्री देवराज, मैनेजिंग डायरेक्टर राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फ़ैज बाजार दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्पादकः शिवदानसिंह चौहान

आलोचना

इतिहास शेषांक

राजकमल प्रकाशन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष २ अंक २ पूर्णाङ्क ६ जनवरी १९५३

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या : --- १

▲निबन्ध

—हिन्दी गीति-काव्य का विकास : हंसकुमार तिवारी --- ९

—हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना का विकास : जगदीशचन्द्र माथुर --- २०

—हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास : डॉ० रामरतन भटनागर --- ३१

—हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल --- ३९

—हिन्दी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव : देवेन्द्र सत्यार्थी --- ४७

—यूरोपीय साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव : रामअवध द्विवेदी --- ५७

—छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण : विनयमोहन शर्मा --- ६४

—छायावाद की भावभूमि : जगदीश गुप्त --- ७१

—प्रगतिवाद : विजय चौहान --- ८१

—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास : डॉ० हरदेव बाहरी --- ९३

—भाषा का विकास और प्रगतिवाद : रामसुरेश त्रिपाठी --- ९९

—राजस्थानी भाषा और साहित्य : नरोत्तमदास स्वामी --- १०७

—मातृभाषाओं का महत्त्व : राहुल सांकृत्यायन --- ११६

—हिन्दी जनपदों में लोक-साहित्य संकलन की परम्परा : श्याम परमार --- १२१

—अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा : डॉ० देवराज --- १३१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या

'साहित्य के इतिहास की समस्या'[1] का सूत्र जहाँ छोड़ा था वहाँ से फिर पकड़ें। अन्तिम वाक्य था : "हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।" इन दोनों अंकों[2] में हिन्दी के लगभग चालीस कृती आलोचकों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास, साहित्य की मुख्य-मुख्य युग-धाराओं और प्रवृत्तियों, हिन्दी साहित्य पर पड़े बाह्य और आन्तरिक प्रभावों, भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों और हिन्दी साहित्य की पाँच सर्वोत्कृष्ट प्राचीन तथा आधुनिक कृतियों आदि का अपने ढंग से पुनर्परीक्षण और मूल्यांकन किया है। इससे हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की कोई सुनिश्चित रूपरेखा बन गई है, यह तो हम दावे के साथ नहीं कहेंगे, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इस दिशा में आगे भी सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयत्न जारी रहने चाहिएँ, इसकी अनिवार्यता अवश्य सिद्ध हो गई है।

खोज और मूल्यांकन द्वारा अपने साहित्य की मूलतः मानववादी 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित रखने और उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का कार्य तो पहले से और भी अधिक तत्परता से जारी रहना चाहिए, क्योंकि विचारों को स्फूर्ति, कर्म की प्रेरणा, सामयिक समस्याओं की चेतना और आनन्द देने या सौन्दर्यबोध और मानव-बोध बढ़ाने के अतिरिक्त नये साहित्य के निर्माण की दृष्टि से उसका आत्यन्तिक उपयोग इसलिए भी है कि वस्तु और रूप दोनों के लिए वर्तमान अतीत पर ही निर्भर करता है। यह ठीक है कि केवल परम्परा ही वर्तमान जीवन को अपनी ओर से प्रभावित और नियन्त्रित करती जाती है, ऐसी एकतरफा बात नहीं होती। मनुष्य अपने वर्तमान क्रियाशील जीवन की चेतना और अनुभव द्वारा परम्परा को

---

१. देखिए, 'इतिहास विशेषांक' का सम्पादकीय—साहित्य के इतिहास की समस्या

२. इतिहास विशेषांक और शेषांक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निरन्तर बदलता भी जाता है। हर युग के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती युग के देशी-विदेशी साहित्यकारों की कृतियों से सीखते हैं, उनसे वस्तु और रूप भी उधार लेते हैं, पर साथ ही वे परम्परा से लिये माध्यमों द्वारा अपने युग-जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता और इतिहास-निर्धारित बुनियादी समस्याओं का चित्रण करके इस परम्परा की सुरक्षा ही नहीं करते, बल्कि उसका युगानुरूप संस्कार भी करते हैं, और अपनी मौलिक कृतियों से मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते जाते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के क्षेत्र में आवृत्ति या अनुकरण से परम्परा निर्जीव और अर्थहीन होती है, समृद्ध और विकसित नहीं होती। इसलिए इतिहास और परम्परा का अध्ययन-विवेचन मूल्यांकन तभी सार्थक है जब वह वास्तविक रूप से साहित्य की रचनाशील शक्तियों को अनुप्रेरित करे और अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के मार्ग में उठने वाली वस्तु-रूप-शैली और टेकनीक आदि से सम्बन्धित समस्याओं का उपयुक्त समाधान खोजने में उन्हें नई दृष्टि दे, ताकि वे मौलिक और श्रेष्ठ कृतियों की रचना कर सकें—ऐसी कृतियों की जो अपनी आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य से अपने राष्ट्रीय जीवन की इतिहास-निर्दिष्ट समस्याओं का यथार्थ-चित्रण करते हुए भी (या कहें कि इस कारण ही) विश्वजनीन (यूनिवर्सल) और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सकें। यहीं पर राष्ट्रीय कला और साहित्य के निर्माण की समस्या उठ खड़ी होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास और भावी विकास की मुख्य दिशा को समझने के लिए इस समस्या पर विचार कर लेना जरूरी है।

साहित्य के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारों ने भी किया है, किन्तु संकुचित अर्थ में ही। सन् २० से ४२ के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था उससे सम्बन्धित या उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। ऐसा साहित्य चूँकि राजनीतिक आन्दोलनों की सामयिक उत्तेजना के समय ही प्रिय लगता था और उन आन्दोलनों के मन्द पड़ते ही या समझौतावादी पथ पर अग्रसर होते ही इस साहित्य की उपयोगिता और अपील भी खत्म हो गई, इसलिए अच्छे लेखक 'राष्ट्रीय' शब्द से ही चौकन्ने हो जाते हैं। जो कवि आज भी 'राष्ट्रगीत' या राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ लिखते हैं वे बेजान तुकबन्दियों या 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास से अधिक कुछ निर्माण नहीं कर पाते। साहित्य और कला में 'राष्ट्रीय' शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण करना सर्वथा गलत है। इसका तो यह मतलब हुआ कि राष्ट्रीय साहित्य कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक रचनाओं का ही नाम है; कि यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है और केवल गुलाम देशों में ही पैदा हो सकता है—जो देश स्वतन्त्र हैं वहाँ राष्ट्रीय साहित्य और कला सम्भव ही नहीं; कि आजादी के लिए संघर्ष करने वाले गुलाम देशों में भी राष्ट्रीय साहित्य की धारा मुख्य धारा नहीं है; कि इस प्रवृत्ति की स्फुट रचनाएँ क्षणकालिक महत्त्व की ही हो सकती हैं; कि ऐसी रचनाओं के करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या लेखक हैं, अन्य लेखक और कलाकार राष्ट्रीय नहीं हैं। राष्ट्रीय का यह संकुचित अर्थ लगाया जाता है, इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' या 'दिनकर' को तो राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, किन्तु कबीर, तुलसी, सूर, प्रसाद, पन्त, निराला आदि भक्त और छायावादी कवियों को राष्ट्रीय कवि कहने की बात कल्पना में भी नहीं उठती। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का कारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिर्फ यह है कि लोग राष्ट्रीय (नेशनल) और राष्ट्रवादी (नेशनलिस्ट) में भेद नहीं करते।

इसीलिए राष्ट्रीय शब्द का उच्चारण होते ही लोग सतर्क हो जाते हैं। साहित्यकार या संभ्रान्त पाठक इसे निन्दा की दृष्टि से देखते हैं। दरअसल राष्ट्रीय साहित्य का विरोध तीन दिशाओं से होता है। एक तो उन रीति-ग्रन्थों की परम्परा के पुजारी अध्यापकों की ओर से जो श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य समझते हैं। दूसरी ओर साहित्य में राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना वे लोग करते हैं जो शैली और रूप में कला के विश्वजनीन मापदण्डों का प्रयोग करना प्रगति का लक्षण समझते हैं। 'शेखर,' 'नदी के द्वीप' और हिन्दी की नई प्रयोगशील कविता में शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता इसी कारण इतनी मुखर है क्योंकि उनमें राष्ट्रीय गुणों को तिरस्कृत किया गया है। साहित्य-कला में राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरी दिशा से विरोध करने वाले वे प्रगतिवादी हैं जो राष्ट्रीय शब्द को बुर्ज्वा राष्ट्रवाद का पर्याय समझकर हेय मानते हैं। वे हर कविता में वियतनाम, कोरिया, मलाया, चीन, रूस आदि का नाम गिना-गिनाकर संकेतात्मक भाषा में बात करते हैं, शैली और रूप-विधान में मायाकोवस्की और जुलियस फ्यूशिक की नकल करते हैं। उनकी कविताएँ भी अधिकतर वेजान तुकबन्दियाँ होती हैं या केवल अलंकारिक गर्वोक्तियाँ। कुछ दिन पहले राष्ट्रीय शब्द से उनकी चिढ़ इस सीमा तक बढ़ी थी कि देश-प्रेम की भावना को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परम्परा के प्रति भी उनका आदरभाव कृत्रिम है, क्योंकि परम्परा में वे केवल उन्हीं लेखकों को शामिल करते हैं जो अब नहीं रहे; जो हैं, वे परम्परा से बाहर, वर्ग-स्वार्थों से आक्रान्त प्रतिक्रियावादी साहित्यकार ही उन्हें नजर आते हैं।

ये मध्यवर्गीय भावना के प्रतिनिधि दृष्टिकोण हैं, जो राष्ट्रीय आजादी के संघर्ष और राष्ट्रीय साहित्य को केवल राष्ट्रवाद और नस्लवाद के रूप में ही देखते हैं, और उसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का विरोधी समझते हैं।

हम इस भ्रान्ति का निराकरण जरूरी समझते हैं, क्योंकि स्वस्थ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास में ये दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियाँ बाधक हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में कोई आन्तरिक विरोध नहीं हैं और न राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रवादी साहित्य का पर्याय ही है। 'राष्ट्रीय' का अर्थ बहुत व्यापक है।

इसीलिए 'साहित्य के इतिहास की समस्या' में हमने लिखा था: "सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण (रिनेसां) की अन्तर्प्रेरणा बना है।" आगे चलकर हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इस सांस्कृतिक नवनिर्माण (रिनेसां) की प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है। किन्तु 'भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण' (रिनेसां) की प्रक्रिया क्या राष्ट्रीय जागरण के साथ ही शुरू हुई? हमारी उक्त स्थापना में निश्चय ही ऐसी संकीर्णता ध्वनित है, क्योंकि इतिहास की साक्षी कुछ और है। 'आधुनिक साहित्य' को तो जिसका आरम्भ भारतेन्दु से हुआ, राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार कहा जा सकता है, लेकिन वास्तव में यह भारतीय रिनेसां का द्वितीय उत्थान है। प्रथम उत्थान तो सम्भवतः भक्त-कवियों—कबीर से शुरू होता है। अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि भारतीय रिनेसां के प्रवर्तक कबीर हैं, भारतेन्दु नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा हिन्दी साहित्य (और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसी प्रकार देश की अन्य जातीय भाषाओं का साहित्य भी) भारतीय रिनेसां के प्रथम और द्वितीय उत्थानों की पैदावार है—यह नव-जागृति और सांस्कृतिक नव-निर्माण का राष्ट्रीय (नेशनल) साहित्य है। इन दोनों उत्थानों के बीच ह्रास और अधोगति का काल भी आया, किन्तु इस कारण ही प्रथम उत्थान को भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसके वास्तविक गौरव से वंचित करके 'मध्यकालीन' कह देना संगत नहीं दीखता।

यूरोप में राष्ट्रीयता का विचार मध्ययुग के बाद सांस्कृतिक नव-जागरण के आरम्भ में पैदा हुआ। तब तक जातीय आधार पर राष्ट्रों का निर्माण न हुआ था, लेकिन व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी थी और सामन्तवाद का ह्रास हो चला था। इन नये परिवर्तनों ने सांस्कृतिक जागरण के लिए व्यापक परिस्थितियाँ तैयार कीं और यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्य और कला का निर्माण शुरू हुआ। राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जन-साधारण की भाषा, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य, पौराणिक आख्यानों और जन-श्रुतियों से गुम्फित उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है, जो एक राष्ट्र के लोगों में समान रूप से प्रचलित होता है। यह मुहावरा सामान्य विश्वासों और सामान्य मनोभूमि को प्रतिबिम्बित करता है, जिससे सहज ही प्रेषणीय होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय नहीं हुआ तब तब राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास भी नहीं हुआ। मध्य-काल में उनके विकास की सम्भावनाओं के बीज सर्व-साधारण के बीच अपने स्थानीय और अनगढ़ ग्राम्य रूपों में लोक-साहित्य और लोक-कला के माध्यम से पनपते रहे।

हमारे देश में भी राष्ट्रीय एकता की भावना मध्य-युग के अन्त में और सांस्कृतिक पुनः-निर्माण के आरम्भ में पैदा हुई। मध्ययुग में वैदिक और अवैदिक धर्म-साधनाओं का विरोध बढ़ता रहा और अनेक तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना को नया रूप और संस्कार देते रहे। उन दिनों धर्म ही लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था। सामाजिक जीवन का वैषम्य, उच्च वर्णों और नीच जातियों का आन्तरिक द्वन्द्व—अर्थात् उस युग का वर्ग-संघर्ष, मनुष्य की चेतना में अनेक परस्पर-विरोधी धर्म-साधनाओं के माध्यम से लड़ा जा रहा था। इस संघर्ष में जन-साधारण की लोक-चेतना के प्रतीक तान्त्रिक प्रभाव ही प्रबल सिद्ध हुए।

इस बीच उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण लगातार होने लगे थे जिससे समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन में उच्च जातियों का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा था और जब कई शताब्दियों की राजनीतिक अव्यवस्था और उलट-फेर के बाद सुलतानों का राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली में केन्द्रीय शासन, केन्द्रीय कानून, केन्द्रीय कर-व्यवस्था और केन्द्रीय सेना की सुरक्षा में व्यापार चलने लगा तो इन सब के परिणामस्वरूप देश की विभिन्न जातियों (नैश्नेलिटीज़) में अपनी जातीय चेतना उद्बुद्ध हुई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना और राष्ट्रीय साहित्य और कला का जन्म हुआ। इसी काल में कांगड़ा और राजपूताना की चित्रकलाएँ और अन्य-अन्य जातियों के नृत्य और संगीत के विभिन्न राष्ट्रीय रूप, लोक-वार्ता, लोक-भाषा और लोक-कला का आधार लेकर विकसित हुए। दस्तकारियों ने भी लोक-जीवन की जातीय विशेषताओं को ग्रहण करके एक अभिनव सौष्ठव प्राप्त किया। इसलिए यह सांस्कृतिक जागरण चतुर्मुखी था। इसका आधार जातीय था। इसने देश की अलग-अलग जातियों में अपनी जातीय एकता की भावना जाग्रत की और उनमें जातीय प्रगति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और आजादी की आकांक्षा उत्पन्न की।

इन तथ्यों की ओर हम केवल इसलिए संकेत कर रहे हैं कि साहित्य और कला में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जो संकुचित धारणा इस बीच बन गई है, वह निर्मूल हो जाय, और इस सामान्य तथ्य को हमारे इतिहास लेखक और साहित्यकार पहचानने लगें कि हर देश की कला और साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात और उसका विकास तभी होता है जब जनसाधारण अपनी भाषा, अपना महावरा और चारित्रिक गुणों के साथ उस में प्रवेश करते हैं, और उनके जातीय इतिहास की स्मृतियाँ, उनके लोक-जीवन की सामान्य मनोभूमि और प्रकृति-प्रेम उनकी अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगता है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करने पर ही हम इस तथ्य की स्थापना कर सकते हैं कि हिन्दी में राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण कबीर से प्रारम्भ होता है, वही हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रवर्तक हैं।

मध्य-युग से पहले या मध्य-युग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्य-रचना का माध्यम थी, परन्तु संत कवियों ने इस शास्त्रीय परम्परा को त्यागकर जन-भाषाओं का आश्रय लिया और लोक-कला और लोक-साहित्य की परम्पराओं से प्रेरित ऐसे रूप-विधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी और तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जन-जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूंकि उनकी कला का आधार लोक-साहित्य और लोक-वार्ता की परम्पराएँ हैं, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठकों के लिए प्रेषणीय हो सकीं और जातीय-भावना जगाने में समर्थ हुईं बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्त्व भी पा सकीं।

रीतिकाल के कवियों ने यद्यपि लोकवार्ता और लोक-काव्य के रूपों का सर्वथा त्याग तो नहीं किया लेकिन उन्हें शास्त्रीय-विधानों में बांधकर रीति-बद्ध करने की कोशिश की जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि भाषा का मार्जन होता रहा लेकिन राष्ट्रीय-काव्य के वे 'एपिक' रूप उपेक्षित हो गए जिनका निर्माण करके भक्त कवियों ने अपने युग के समग्र जीवन को चित्रित कर उसके ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया था। रीतिकालीन कवि राष्ट्रीय साहित्य की व्यापक आधारभूमि से हटकर जीवन के एकांगी चित्रों की आवृत्ति में ही रम रहे।

भारतेन्दु के समय में एक विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य में फिर एक उन्मेष आया और राष्ट्रीय साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।

इस उत्थान में देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में राष्ट्रीय साहित्यों और कलाओं का जैसा अभूतपूर्व और सर्वतोमुखी विकास हुआ, उसके इतिहास से तो सभी पाठक परिचित हैं। यह विकास कुछ वैसा ही महान् था जैसा पुश्किन के समय से लेकर टॉलस्टॉय और गोर्की तक रूस में हुआ था और जिसने वहाँ पर राष्ट्रीय साहित्य और कला के एक नये उत्थान की भूमिका भी तैयार की। हमारे यहाँ हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि देश की अन्यान्य भाषाओं में इस बीच अनेक ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि, कथाकार और नाटककार हुए हैं जिनकी कृतियाँ देश के विभिन्न भाषा-भाषी पाठकों में ही लोकप्रिय नहीं हैं, बल्कि उनमें से जिनका अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हो सका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी पा गई हैं। इसी तरह इस बीच विभिन्न प्रदेशों के जातीय संगीत, नृत्य, चित्र-कला तथा अन्य कलाएँ, जिनका विकास अव-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रुद्ध पड़ा था, राष्ट्रीय-जागरण का अनुकूल वातावरण पाकर पुनः विकसित हुई, और प्रत्येक क्षेत्र में महान् प्रतिभाओं का विकास हुआ। भारतेन्दु, बंकिम, रवीन्द्र, इक़बाल, जोश, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, विष्णु दिगम्बर, फ़ैयाज़ खाँ और उस्ताद इनायतअली खाँ आदि इस युग के साहित्यकार और कलाकार इसलिए महान् और अमर नहीं हैं कि उनकी कृतियों में देश-काल की परिस्थितियों और राष्ट्रीय जीवन से असंलग्न कोई ऐसी कल्पित विश्वजनीनता है या मनुष्य-मात्र के ऐसे अमूर्त गुणों का आकलन करने का प्रयत्न है, जो शाश्वत और कालातीत हैं। ऐसी अमूर्तता उनकी कृतियों में नहीं है। कवि गुरु रवीन्द्र की उक्ति के अनुसार 'ससीम में ही असीम' को, राष्ट्रीय में ही विश्वजनीन को प्रतिबिम्बित करने की साधना उन्होंने की है। सौभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता ने इस युग में प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र में बसने वाली जनता के जातीय सांस्कृतिक जीवन में अपने अतीत इतिहास के गौरव से परिचित होने की जिज्ञासा, अपनी वर्तमान दुरवस्था के कारणों को समझने की उत्कण्ठा, आज़ादी, प्रगति और एकता की बलवती आकांक्षा, और विश्व की अन्य जातियों की संस्कृतियों में जो-कुछ सामान्य है और जो विशिष्ट है, अर्थात् मानव-प्राणियों की मूल समानता और नाना रूपात्मक विभिन्नता को स्वीकार करने की उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग गई थी, जिससे प्रबुद्ध पाठकों और दर्शकों की माँग अधिकतर ऐसे साहित्य और कलाकृतियों के लिए ही होने लगी जो इन विषयों की गम्भीरतम चेतना जगा सकें, उन्हें नई रोशनी, नई अन्तर्दृष्टि और नई प्रेरणा दे सकें और राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत कर सकें। देश के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण कला-निर्माण के लिए अनुकूल पाकर हमारे साहित्यकार और कलाकार एक नये उत्साह से सभी क्षेत्रों में कला के राष्ट्रीय आधार खोजने की ओर उन्मुख हुए। राष्ट्रीय विरासत, राष्ट्रीय मुहावरे और राष्ट्रीय रूप-विधानों को अपनाने की कोशिश हुई। लोक-वार्ता, इतिहास और पुराण-कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया गया। ये समस्याएँ नैतिक, सामाजिक और कभी-कभी धार्मिक और राजनीतिक स्तरों पर भी उठाई गईं।

किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इक़बाल और प्रेम-चन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी आन्तरिक असंगतियों के कारण विच्छिन्न होकर विपरीत दिशाओं में चल निकला, और दूसरी ओर इस वैषम्य के परिणामस्वरूप देश के सांस्कृतिक जीवन की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। प्रगतिशीलों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की, लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें उस समय न थी। इस व्यापक विशृङ्खलता के दौर में हमारे अनेक प्रतिभाशाली साहित्य-कार और कलाकार भी राष्ट्रीय कला के पथ से हटकर पाश्चात्य देशों में नित्य नये-नये नामों से प्रचार पाने वाली साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी तथा मात्र रूपवादी प्रवृत्तियों को ही विश्वजनीनता और आधुनिकता की कसौटी मान-कर उनकी ओर आकृष्ट हुए और नाम, जगह और वेश बदलकर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करने लगे। अपनी कृतियों के लिए विश्वजनीन और सर्वकालिक महत्ता पाने की कोशिश में पाश्चात्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का अनुकरण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही उनका साधन और साध्य बन गया। परन्तु यह प्रयत्न निष्फल ही होता, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, लेकिन हम यहाँ पर एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करेंगे। गत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रदर्शनी के अवसर पर 'बाइ-सिकिल थीफ़' (चोर) के प्रसिद्ध इतालवी दिग्दर्शक ने भारतीय फिल्मों के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय फिल्मों में हालीवुड की नकल होती है। इसी कारण टेकनिकल खूबियों के होते हुए भी उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भारत के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन की झाँकी नहीं मिलती। हालीवुड की नकल करके भारतीय फिल्म-कला का अपना वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व नहीं रहता, कि अन्य देशों के दर्शक भारतीय जीवन का अन्तरंग परिचय पाने के लिए उन्हें देखने को उत्सुक रहा करें।

राष्ट्रीय तत्त्व का तिरस्कार करके एक थोथी विश्वजनीनता की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति फिल्म-व्यवसाय की ही विशेषता नहीं है। साहित्य-कला के अन्यान्य क्षेत्रों में भी व्यवसायी-वर्ग की ओर से ऐसी अनुकरण-वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, अर्थात् राष्ट्रीय कला और साहित्य की विचार-वस्तु और रूप-विन्यास, इन दोनों का क्षेत्र संकीर्ण और कृत्रिम बनाया जा रहा है। फलतः इस प्रतिकूल वातावरण में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के तृतीय उत्थान का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में रखकर विचारें। हमारे यहाँ रचनात्मक प्रयोगों और प्रयत्नों की कमी नहीं; और प्रतिभाएँ भी विरल नहीं। हर ओर नवीनता-ही-नवीनता के दर्शन होते हैं कविता का मुहावरा और शब्द-विन्यास, उपमाओं और प्रतीकों की योजना नवीन है; कहानियों के विषय और पात्र, घटनाएँ और समस्याएँ नवीन हैं; नाटकों की शैली और रचना-तन्त्र नवीन है; उपन्यासों की तो बात ही निराली है। उनको खोलकर पढ़ने की जरूरत भी नहीं। उनका बहिरंग और कलेवर तक नवीन है। जिन पाठकों ने शरत्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द्र और जैनेन्द्र की दुबली-पतली कृतियाँ पढ़कर ही सिर धुना था, वे गत दस-पन्द्रह वर्षों में प्रकाशित हजार पृष्ठों की डयौढ़ी पार करने में कटिबद्ध दीखते बृहदाकार हिन्दी-उपन्यासों पर नजर पड़ते ही कुछ खो-से जाते हैं। आशा बँधती है कि भारी-भरकम डील-डौल से टॉलस्टॉय, ह्यूगो, डिकेन्स, वाल्जक और रोम्याँरोलाँ की महा-कृतियों को चुनौती देने वाले इन उपन्यासों में शायद इस युग के भारतीय जीवन का 'एपिक' चित्रण होगा। किन्तु पढ़कर जब ज्ञात होता है कि लेखक की विचार-पूँजी की कमी के अनुपात में ही उपन्यासों का विस्तार भी अधिक हुआ है और लेखक किसी के प्रति अपने निजी पूर्व-ग्रह, घृणा या प्रेम को व्यक्त करने के लिए ही किसी पाश्चात्य कृति की शैली और टेकनीक की नकल करके कठपुतली पात्रों की सृष्टि कर रहा है, या उसने जो-कुछ देखा-सुना है उसे ब्यौरेवार बयान करके अपना आत्म-प्रदर्शन करने पर तुला है, तो इस सारी नवीनता के प्रति वितृष्णा ही नहीं होती, प्रतिभा के इस विराट् अपव्यय पर क्षोभ से हृदय छिदने भी लगता है। यही सामान्य स्थिति है। अपवाद भी हैं, पर अपवाद तो अपवाद ही हुए। साहित्य की विचार-वस्तु की दृष्टि से इसी कारण हमने 'यथार्थ और साहित्य'[1] का प्रश्न उठाया था, क्योंकि इन दिनों सामान्य प्रवृत्ति जीवन के यथार्थ से हटकर औसत जीवन की औसत घटनाओं के प्रकृत चित्र खींचने की ओर है। भ्रमवश केन्द्रीय विचार-वस्तु से रहित इस

१. देखिए, 'आलोचना' अंक ३ का सम्पादकीय 'यथार्थ और साहित्य'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथातथ्य, असम्बद्ध चित्रण को ही हमारे साहित्यकार यथार्थवाद या जीवन का यथार्थ चित्रण समझते हैं। आज हमने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रश्न भी इसी कारण उठाया है क्योंकि एक भ्रामक विश्वजनीनता के मोह में वे साहित्य को अधिक सीमित और आत्म-केन्द्रित बनाते जा रहे हैं, और विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे हैं कि मानव-जीवन के विश्वजनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते हैं; कि कला में राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्वजनीन स्वीकृति मिलने में उतनी ही आसानी होगी।

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं: (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमें राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप से विकास कर सकें, अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला-सर्जन में प्रेरक बने बाधक नहीं। (२) विश्व की कला, साहित्य और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है, सीखकर ऐसी कृतियों का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिए हैं उनको कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सकें। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं और साथ ही अन्य देशों की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक-दूसरे को अधिक निकट लाने में योग दे सकेंगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं।

राष्ट्रीय साहित्य और कला के तृतीय उत्थान के लिए यही व्यावहारिक समस्याएँ हमारे सामने हैं। आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन एक व्यंग्यपूर्ण हक़ीकत बन गया है, जिसमें उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना-फूलना सम्भव नहीं दीखता। इसलिए तृतीय उत्थान के लेखक और कलाकार को पाश्चात्य देशों की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियों का आकर्षण छोड़ यथार्थ जन-जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने वाली श्रेष्ठ कला-कृतियों का निर्माण भी करना है और अनुकूल सांस्कृतिक जीवन के लिए संघर्ष भी।

—शिवदानसिंह चौहान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्ध

हंसकुमार तिवारी

हिन्दी-गीति-काव्य का विकास

भारतीय साहित्य में गीतों की परम्परा बड़ी पुरानी है। जो गीत-साधना के ऐतिहासिक पहलू से दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें इसकी कड़ी वैदिक युग से ही जोड़नी पड़ेगी। ऋग्वेद में उषा की जो स्तुतियाँ आई हैं, वे गीत हैं। सामवेद गीत ही है। सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से कुछेक ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो कि गीत हैं : सिद्धों की रचनाएँ और गोरखनाथ के पद भी गीत हैं। और इस प्रकार गीतों की यह गतिशील धारा विभिन्न युगों एवं जीवन के अंचल से बहती हुई नये रूप, नई गति, चेतना की नई दीप्ति तथा जीवन के ऐश्वर्य से दिन-दिन पुष्ट और प्रांजल होती आई है। आज जिसे हम गीति-कविता कहते हैं, है तो वह उसी परम्परा की देन, उसी कुल का अंगी, किन्तु अवधि के इस व्यवधान से वह रूप, प्रकृति और प्राण-धर्म के लिहाज से स्वतन्त्र कोटि में आ खड़ा हुआ है।

पिछले काव्य-विचार में गीति-कविता कोई अलग काव्य-भेद नहीं है। यह शायद इसलिए कि उन दिनों काव्य-मात्र गेय हुआ करते थे और गीत-मात्र काव्ययुक्त वैदिक ऋचाओं की रचना गाने के ही निमित्त हुई थी। यज्ञोत्सवों में उन मन्त्रों को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर में गाया जाता था। यहाँ एक शंका उठ सकती है। मन्त्र गेय तो ठीक होते थे, लेकिन उनका काव्यत्व क्या था ? काव्य और मन्त्र निश्चय ही एक नहीं हैं, पर काव्य मन्त्र की कोटि तक उन्नत हो सकते हैं, कवि ऋषि होता है यह हम आज भी मानते हैं। परम्परागत संस्कार से हम काव्य-चर्चा में कभी वेद, उपनिषद् या गीता का नाम नहीं लेते, जब लेते हैं वाल्मीकि, व्यास और कालिदास का ही नाम लेते हैं और चूँकि इनकी रचना श्रेष्ठता के उस पर्याय तक पहुँची है, उस पराकाष्ठा तक उठ गई है कि हम व्यास, वाल्मीकि को ऋषि भी कहते हैं। टाल्स्टाय और रवींद्र को भी ऋषि कहते हैं। काव्य और मन्त्र दोनों ही वाक् के रूप हैं—एक में मानिए महिमा, दूसरे में माहात्म्य। जब मूर्ति के प्राण से शृङ्गार का वजनी होता है, तब काव्य होता है, जब वाक्य से उसका आश्रयी भारी होता है तो वह हो उठता है मन्त्र। जैसे,

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

इतना सरस, संक्षिप्त और निराभरण काव्य क्या होगा, अथवा कितना तेजोमय, सामर्थ्यशाली और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रांजल ! यहाँ वाक्य का विग्रह अनलंकृत और अनावृत ही नहीं है, मानो देह आत्मा ही हो उठी है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सौंदर्य सत्य रूप हो उठा है। सिद्धि की सीमा पर पहुँचते ही अलंकार निरर्थक ही नहीं होते, भार हो जाते हैं। वैष्णव कवि ने एक स्थान पर लिखा है, जब मिलन की घड़ी आई तो राधा ने अपने सारे गहने उतार फेंके। मन्त्रों का यही स्वभाव है—वहाँ भाव और भाषा एकाकार हैं। वर्ड्सवर्थ के सम्बन्ध में मैथ्यु आर्नल्ड ने एक बड़ी बात बताई है कि उनकी कविता जहाँ पराकाष्ठा को पहुँची है, वहाँ स्वयं कवि अंतर्धान हो गया है, प्रवृति स्वयं उसे लिख गई है। यों ऋषि भी कवि हैं और मन्त्र में काव्यत्व है। उपनिषद् की ये पंक्तियाँ दोनों दृष्टि से पूरी हैं—

तमेवभान्तमनुभाति सर्व्वम्
तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।

वाल्मीकि और व्यास को हम इसीलिए ऋषि कहते हैं, क्योंकि उनका कृतित्व काव्य को मन्त्र की सीमा तक ले गया है। वेद-उपनिषद् के मंत्रों में काव्यत्व भी है, क्योंकि जो कल्पना-वैचित्र्य, व्यंजना और शक्ति व्यास-वाल्मीकि में है, वह अर्थ-शक्ति, ध्वनि-सुषमा और व्यंजना उनमें हैं। जैसे,

वाल्मीकि कहते हैं—तेजसदित्य सङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः (तेज में आदित्य की प्रयान्सा, क्षमा में धरती के समान) अथवा—गतार्च्यिर्यमिवालम् (शिखाविहीन अग्नि के समान) या कि व्यास का—विवेशरंगं विस्तीर्णं कर्णः पादचारीव पर्वतः (विस्तृत सभा में पादचारी पर्वत के समान कर्ण ने प्रवेश किया)।

उपमा आदि की यही विशिष्टता हमें उपनिषदों में भी सर्वत्र मिल जाती है। यथा—

शरवत्तन्मयोभवेत् (बाण-जैसा तन्मय होकर जाओ); अथवा—वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः (आसमान पर पेड़ के समान स्वर्ग में दण्डापमान अद्वितीय एक)।

शतपथ ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख आया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम आत्मनिष्ठ वाक् की उद्भावना की, बाद में वाक् और मानस के संयोग से नामरूपादि का विस्तार हुआ। ये वाक् और मानस क्रम से स्वर और वाणी के द्योतक हैं, जिनमें से एक की विरासत काव्य का लयात्मक आनन्द है और दूसरे की चेतना की सुषमा। वैदिक काल तक तो इन दो विशेषताओं की अलग लकीरें न फूट सकीं—दोनों एक बिन्दु पर ही केन्द्रित रहीं। कुछ आगे चलकर वेद की मुक्त भाषा व्याकरण के बन्धनों से बाँधी गई और स्वर, लय और ताल के जाल से घेरा गया। तब तक वाल्मीकि ने छन्द की उद्भावना की और गीत-क्रम से लोक-गान हो गया, जिस पर नई-नई उद्भावित रंग-रागिनियों का गाढ़ा रंग चढ़ता गया। यह स्थिति महाभारत-काल तक तो चरम सीमा पर पहुँच गई। गीत संगीतमय ही रहे, उनका काव्यत्व फीका पड़ता गया। गीति-कविता को अपने स्वतन्त्र रूप में आने में बड़ी लम्बी दूरी तै करनी पड़ी।

गीति-कविता मूलतः स्वर और वाणी का एक सन्तुलित समन्वय है। यों तो संगीत सदा काव्यात्मक वाणी और काव्य सदा नाद-सौन्दर्य का आग्रही रहा है, परन्तु गीत संगीत-तत्व-प्रधान और काव्य वाणी-प्रधान ही होता है। चूँकि गीति-कविता संगीत के बजाय काव्य कुल की है, इसलिए उसमें वाणी की मुख्यता ही अपेक्षित भी है। पुराने काव्यालोचन में श्रव्य और दृश्य के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भेद से काव्य के दो ही भेद माने गए—महाकाव्य और खण्ड-काव्य। और स्वच्छन्द छन्दोबद्ध या निर्बन्ध रचना को मुक्तक कहा गया। मुक्तक के ही पाठ्य और गेय दो भेद मानकर आजकल कुछ लोग गीति-कविता को उसके अन्तर्गत गिनने लगे हैं। किन्तु गीतों या गेय मुक्तकों से गीति-कविता का मात्र संगीतात्मकता का ही फर्क नहीं है, कलात्मकता, स्वरूप और आत्मा का भी फर्क है।

मुक्तक को रसोद्रेक के लिए अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। एक ही में रस की पूरी अभिव्यक्ति या विषय का सांगोपांग चित्रण हो जाता है।[1] उसके प्रत्येक पद्य अपने-आपमें स्वतन्त्र होते हैं। उसे समझने में पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती।[2] इस प्रकार मुक्तक से मात्र छन्दों की इकाई ही उपस्थित होती है—जैसा कि आज की गज़लों का स्वभाव है। गजल में एक टेक पर शेर तो कई टिके होते हैं, पर हर शेर की आत्मा, हर शेर का अस्तित्व दूसरे से जुदा होता है। सारी गजल की एकरस-सिद्धि में वे एक-दूसरे के अनुवर्ती या सम्बन्धी नहीं होते। गीति-कविता की प्रत्येक कड़ी, प्रत्येक पद, मूल भाव की स्थापना में एक दूसरे के सहायक और पूरक होते हैं। पूरी कविता में शुरू से आखिर तक एक सुष्ठु सामंजस्य, एक संगीत होता है। मुक्तक से आप भर्तृहरि, हाला या अमरुक के पद्य समझें, जिन्हें संदर्भ आदि बाह्य उपकरणों का कोई बन्धन नहीं है। मुक्तक की प्रबन्धात्मक, निबन्धात्मक शैलियाँ भी हैं। जैसे, 'मेघदूत' या 'ऋतु संहार'। इनमें से एक में आद्योपान्त एक कथानक का निर्वाह है, दूसरे में सर्गबद्धता और प्रत्येक सर्ग में एक विषय की एकवाक्यता। इनमें गीति-तत्त्व बहुत हद तक होते हुए भी, चूँकि आख्यान-काव्य के तत्त्वों का ही विशेष समावेश है, इसलिए इसे विशुद्ध गीति-कविता न कहकर हम प्रगीत-गाथा कहेंगे। इसमें वैयक्तिक हर्ष-शोक की व्यंजना भी किन्हीं अंशों में हम मानते हैं, लेकिन विशेष आग्रह आख्यान का ही है।

जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की रचना से एक अभिनव शैली का सूत्रपात जरूर होता है, पर उनके गीत भी गीति-काव्यत्व के गुण-मण्डित नहीं हैं। उनमें अद्भुत प्रवाह है। गजब का शब्द-सौष्ठव है, भावात्मकता भी है। पर राग-ताल द्वारा सांगीतिक निष्ठा और वर्णन का बहुत अधिक मोह है। श्लोक, गद्य और गीत—सबके समावेश से राधाकृष्ण की जीवन-घटनाओं पर उन्होंने शृङ्गार की एक नई ही तन्मयता का दान काव्य-पिपासुओं को दिया है। उनकी रचना को किसी ने ग्राम्यरूपक, किसी ने गीति-नाट्य तो किसी ने संगीत-रूपक कहा है। पिशेल और लेवी के अनुसार उनकी रचना गीति-काव्य और नाटक के बीच की चीज है। जो हो, हम उन्हें गीति-कविता के बजाय गीत कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनमें वर्णन और संगीत के विधान की ही अधिक निष्ठा है, अनुभूति-व्यंजकता की कम। इसका एक कारण यह भी है कि जयदेव पर लोक-गीतों का प्रभाव परोक्ष रूप से ही पड़ा। जयदेव से कोई सवा दो सौ साल बाद कवि विद्यापति ने गीतों की एक स्वतन्त्र परम्परा की नींव डाली, जो गीत गो कि गीति-कविता के समीप थे। विद्यापति की अभिव्यंजना में वर्णन का आग्रह कम और शुद्ध रागात्मक आवेश की अधिकता है। कवि लोक-हृदय और लोक-भाषा के अधिक निकट था। उसने लोक-जीवन की और लोक-वाणी की उपेक्षा नहीं की और अपने गीत 'देसिल बचना' में ही गाये।

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चत्कारक्षमः सताम्—अग्नि पुराण।

२. पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।—ध्वन्यालोक।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुपम गीति-सौन्दर्य के बावजूद हम विद्यापति के गीतों को शुद्ध गीति-काव्य नहीं कहते। विद्यापति में रागात्मक आवेश की वह संगीतात्मकता अवश्य है, जिसका विकास कि आगे चलकर गीति-कविता में हमें मिलता है। किन्तु इस रागात्मक आवेश के अतिरिक्त गीति-कविता का एक सबसे बड़ा और अपरिहार्य तत्त्व जो है, वह है व्यक्ति-चेतना की अभिव्यक्ति। वैयक्तिक अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ही मूलतया गीति-काव्य का उपजीव्य है। जिन्हें हम प्रगीत कहते हैं, वह वास्तव में मुक्तक का एक स्वरूप-विधान भर है—इसके विपरीत गीति-काव्य स्वरूप और वस्तु का एक संगतिपूर्ण सामंजस्य है। उसमें कवि की आंतरिकता, उसकी एकान्त व्यक्ति-अनुभूति संगीत-मुखर होकर आत्मप्रकाश करती है, वह आत्मानुभूति और संगीत की एक सन्तुलित अभिव्यक्ति है। काव्य के अन्य अनेक रूपों में समष्टिगत अनुभूति की मुख्यता होती है। कवि का हृदय जब सामाजिक आवेष्टन और देश-काल की संकीर्ण सीमा को छोड़ जाता है और उस स्थिति में उसकी आत्मानुभूति, व्यक्तिगत वासना-कामना, आनन्द-वेदना उसके अन्तस्तल से आवेगमय सुर के माध्यम से एक भाव-मूर्ति में प्रकाश पाती है, तब हम उसे गीति-कविता कहते हैं। दो शब्दों में गीति-कविता को हम कवि का हृदय-मुकुर कह सकते हैं : उसमें कवि की आत्ममुग्धता के दर्शन होते हैं, उसमें उसके प्राणों का स्पन्दन सुना जा सकता है।

इस आत्मानुभूति का मूलाधार तो अनन्त जगत् ही होता है, जिससे हृदय की एकाकारता द्वारा, योग-दशा द्वारा कवि अपनी चित्त-वृति को अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है। इस विशेष चित्त-वृत्ति को गीति-वृत्ति कहा जा सकता है। इस वृत्ति और इस जाति की कल्पना-जात होने से ही गीति-कविता काव्य के अन्य अंगों से भिन्न हो उठी है, कवि-कल्पना के मूलतया दो पर्याय हैं—गीतात्मक या आत्म-केन्द्रित कल्पना तथा नाटकीय कल्पना। एक से विषयि-प्रधान या गीति-कविता जन्म लेती है, दूसरी से विषय-प्रधान। दोनों के पीछे दो तरह की अंतर्दृष्टि काम करती है—आपेक्षिक दृष्टि एवं निरपेक्ष दृष्टि। वास्तव में तो कवि के निजत्व से परे उसकी कोई रचना नहीं होती, किन्तु आपेक्षिक दृष्टि-प्रसूत रचना विशेष रूप से भाव-प्रधान और आत्मधर्मी होती है। इस आत्मपरायण कविता में बहुत हद तक संकीर्णता की बू होती है, यदि कवि का अन्तस्तल महत् नहीं होता। स्वयं आत्मधर्मी गीतिकार रवीन्द्र तक ने इस कोटि की कविता में वह महिमा नहीं कबूल की। उन्होंने कवि की दो कोटियाँ मानी हैं और उस पर से काव्य के दो विभाग किये हैं—एक वह, जिसमें कवि की अपनी बात होती है और दूसरा वह, जिसमें किसी बड़े संप्रदाय या समाज की बात होती है। कवि की अपनी बात से रवीन्द्र का तात्पर्य उस सामर्थ्य से है, जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना, उसकी अभिज्ञता से संसार के मनुष्य-मात्र का हृदयावेग और जीवन की मर्मस्पर्शी बातें स्वयमेव प्रतिध्वनित हो उठती हैं। इस श्रेणी के कवि महाकवि भी हो सकते हैं, रवीन्द्र को संभवतः इस पर आस्था नहीं। उनके खयाल में महाकवि वह होता है जिसकी रचना के अन्तस्तल से एक समग्र देश, संपूर्ण युग तथा कवि का हृदय और उसकी अभिज्ञता चिरस्मरणीय होकर रूप लेती है। ऐसे कवि महाकवि हैं, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम सिर्फ यह कहना चाहेंगे कि कवि की आन्तरिकता में यदि ईमानदारी का अभाव न होगा, उसकी आत्मानुभूति यदि युग की संवेदनीयता और सांगीतिकता के संगम पर मुखरित होगी, तो वह अभिव्यक्ति बेशक सार्वभौम होगी। बल्कि कल्पना की उस निरपेक्ष दृष्टि में वैसी अपूर्व क्षमता नहीं होती। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काव्यों की परम्परा में तुलसी के राम की झाँकी 'साकेत' में नहीं उतर सकी है, न ही सूर के कृष्ण आज के 'प्रिय प्रवास' में वैसे उतर पाए हैं। इसके विपरीत गीतों की परम्परा में हम देखते हैं कि कबीर के गीतों की प्रतिध्वनि रवीन्द्र के गीतों में गूँजती है; मीरा की मर्म-वेदना की धड़कन महादेवी के गीतों में धड़कती है। इस रूप में सर्वकालिक और सर्वजन-संवेद्य होना गीतों के लिए अनहोना नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ महाकवि कहलाए, गो कि उन्होंने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की। पन्द्रहवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में फ्रांस में एक गीतकार कवि पैदा हुआ, जिसकी काव्य-साधना से मिडिएवेलिज्म दरगोर हो गई और उस पर फ्रांस के नवीन काव्य का युग आरम्भ हुआ। वह कवि विलन् था, जिसके गीतों को मैथ्यू आर्नल्ड ने चासर की साहित्यिक साधना से कहीं ऊँचा स्थान दिया। इस प्रसंग की अवतारणा से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि रचना का आदर्श विलन् की ही कविता है, बल्कि यह कि प्रबन्ध काव्य, नाटक या वर्णनात्मक काव्यों का ही श्रेष्ठता पर जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है, गीति-कविता पर भी श्रेष्ठता की वह मुहर लग सकती है बशर्ते कि आत्मानुभूति में वास्तव का स्पर्श हो।

हिन्दी-गीति-कविता को आज के अपने रूप तक पहुँचने में मूलतः चार मुख्य मंजिलें तै करनी पड़ी हैं। पहली अवस्था इसकी वह थी जब कि गीत गेय होते ही थे, उनमें भावों के विस्तार या प्रेषणीयता के लिए काव्यत्व का विशेष आग्रह नहीं था। उनके भाव-प्रकाश का प्रकृत माध्यम भावुकता के बजाय गेयता था। उस समय की सबसे बड़ी विशिष्टता तो यह थी कि जैसे उनके प्रत्येक भाव सामाजिक होते थे, वैसे ही उनकी हर अभिव्यक्ति सामूहिक हुआ करती थी। उनका आनन्द-विषाद, दुःख-सुख, हर्ष-शोक, मिलन-विरह-जैसी वैयक्तिक अनुभूति का स्वरूप भी सामूहिक ही था। वैदिक मन्त्र उत्सवों के अवसर पर गीत होते थे और उनकी गेयता से सामाजिक रागात्मिका अनुभूति की उद्भावना होती थी। उस समय वैयक्तिक भावना का विकास नहीं हुआ था और लोगों पर अनुभूति की अपेक्षा राग-सुर ज्यादा हावी थे। प्राथमिक अवस्था में ऐसी स्थिति प्रत्येक जाति और प्रत्येक साहित्य की रही थी—इतिहास से यह पता चलता है। उत्सवों में सामूहिक गीतों की परिपाटी सभी जातियों में पाई जाती रही है। जातियों के प्राथमिक युग सामूहिक संस्कृतियों के ही युग होते हैं। वैयक्तिक भावना बाद में विकसित होने लगती है। ग्रीकों ने काव्य के दो भेद माने—सामूहिक (कोरिक) और गीत (मेलिक)। आगे चलकर गीत का अन्तर्भाव कोरिक में हो गया। हमारे यहाँ वैयक्तिक भावना का उन्मेष वैदिक युग के ही अन्तिम दिनों में होने लगा था और बौद्ध-युग में दुःखवाद की प्रधानता होने से उस भावना को थोड़ी और भी गति मिली, गो कि उनके निवृत्ति-मार्ग की पोषकता के कारण गेय काव्य का बड़ा ह्रास हुआ, क्योंकि नैतिक आचरण की प्रबलता ने सामाजिक आचार के पिछले स्वरूप को विनष्ट कर दिया। यहीं गीति-परम्परा की वह दूसरी अवस्था आती है, जहाँ संगीत और गीत दोनों की दूरी और उनकी अपनी-अपनी विशेषता साफ झलकने लगती है। इस अवस्था की देन मुख्यता वे लोक-गीत हैं, जिनमें अर्थ और भाव दोनों की प्रधानता के साथ काव्य और संगीत, दोनों के शास्त्रीय मानों के प्रति तीव्र विरोधिता है। उन गीतों द्वारा हार्दिकता, आत्मधर्मिता और संगीत की जगह संगीतात्मकता की प्रतिष्ठा होती है। गीत और काव्य की यह दूरी प्राकृत से अपभ्रंश काल तक देखी जाती है।

तीसरी अवस्था में गीति-काव्य अपनी अभीप्सित भाव-भूमि की ओर बहुत कुछ अग्रसर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देखा जाता है। इस अवस्था में गीतों में स्वर और भाव दोनों की समान प्रमुखता हो जाती है। हिन्दी-साहित्य के आदियुग में वीर-गाथा और वीर-गीतों की वह परम्परा आरम्भ हो जाती है, जिस पर लोक-गीतों के सहज सांगीतिक एवं मार्मिक भावैश्वर्य की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वीर-गाथाओं में गीतात्मकता का जहाँ तहाँ अच्छा समावेश है। वैसे गीतों के विषय मुख्यतया युद्ध और प्रेम ही हैं। 'बीसलदेव रासो' और जगनिक का 'आल्हखंड', इन दो में ही वह गीतात्मक प्रवृत्ति बहुत हद तक निखर पाई है। बीसलदेव की रचना यद्यपि प्रबन्धात्मक शैली में हुई है और वह वीर-गाथाओं के युग की कृति है, तथापि उसमें वीर रस के बजाय शृङ्गार का ही वास्तव में परिपाक हुआ है। कवि ने उसकी रचना गाने के ही उद्देश्य से की थी, ऐसा उसकी पंक्तियों से जाहिर होता है। जनता को सम्बोधित करके वह कहता है :

गायो है रास सुणै सब कोई।
सांभल्या रास गंगा फल होई॥
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसायण सुणै सब कोई॥

'रासो' में अवश्य हमें साहित्यिक-सौष्ठव के दर्शन नहीं होते, परन्तु सहज और स्वाभाविक भावों का सौन्दर्य है। वह युग कुछ था भी ऐसा कि स्वतन्त्र गीति-कविता के विकास का उपयोगी अवसर नहीं था। देश में राजनैतिक हलचल थी, समाज में कहीं शान्ति न थी। राजनीति के उस समय जो प्रमुख केन्द्र थे, राजस्थान, अजमेर, दिल्ली, कन्नौज आदि—सब युद्ध-लिप्त थे और उन्हीं केन्द्रों में राजाश्रित कवियों, भाटों या चारणों द्वारा साहित्य-रचनाएँ होती रहीं। फलतः वे रचनाएँ युद्ध, शिकार और राजाओं के विवाह आदि विषयों से आगे नहीं बढ़ सकीं।

मध्यकाल में शुद्ध शृङ्गार और प्रेम तथा भक्ति के गीतों की रचना बहुलता से हुई। इस युग में स्पष्टतया दो प्रमुख धाराएँ लक्षित होती हैं—सगुण और निर्गुण साधना। पहली धारा के प्रमुख पाये विद्यापति, सूर, तुलसी और मीरा हैं—दूसरी के कबीर, नानक, दादू आदि। गीतों की स्वतन्त्र परम्परा वास्तव में विद्यापति से ही शुरू होती है। विद्यापति में राधा-कृष्ण की लीलाओं के प्रति खासी अनुरक्ति होते हुए भी उनके गीत भक्ति के बजाय शृङ्गार-प्रधान ही हैं। मध्यकाल में शृङ्गारी-साहित्य की जो भी साधना हुई है, उसमें राधा-कृष्ण ही आधारस्वरूप रहे। संभवतः शृङ्गारी कवियों ने यह देखा कि धार्मिक भावना की इस ढाल को सामने रखकर शृङ्गारी-काव्य के साथ समाज के किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करने में कठिनाई नहीं होगी। इसलिए अन्य लोग राधा-कृष्ण की परम्परा लेकर आगे बढ़े, विद्यापति साहित्यिक शृङ्गार को लेकर। विद्यापति में मूलतया मानवीय सौन्दर्य का आग्रह है और उसी आग्रह के प्रकाश-माध्यम या प्रतीक के रूप में राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है। इस प्रकार जयदेव की परम्परा के दूसरे बड़े स्तम्भ विद्यापति ही हैं। इनके पदों का धार्मिक महत्त्व चाहे जितना बड़ा आँका जाय, उनकी पदावलियों से लोग कितने ही चाहे भक्ति-विह्वल हों, उनमें मानवता का मूल-सुर प्रतिध्वनित हुआ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शृङ्गार-साहित्य के प्रारम्भिक काल में भक्ति उसके समानान्तर जरूर चलती है, किन्तु धीरे-धीरे शृङ्गार उसे छाप लेता है और आराध्य कृष्ण-राधा के विस्तार में डूब जाते हैं। काव्य में राधा की प्रतिष्ठा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के बाद ही हुई और जयदेव में संभवतः हाला-कृत 'गाथा सप्तशती' से। 'गाथा' में जगह-जगह गोपियों और राधा का जिक्र आया है। जैसे—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुह मारुएण तंग कण्ह गोरअ रहिआयें अवणेन्तो ।
एताणं वल्लवीणं अण्णाण विगोरअं हरसि ॥

ऐ कृष्ण, मुँह की हवा के सहारे राधिका के (मुँह पर पड़े) गो-रज को उड़ाकर तुम अन्य गोपियों के गौरव का भी हरण कर रहे हो।

सुच्चण सलाहण निहेण पास परिसंविआ णिउण गोरी ।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कपोल पड़िमागअं कहअ ।

गोपियाँ कृष्ण के साथ नृत्य-निरत हैं, उनके चिकने ललाट पर कृष्ण की परछाईं पड़ रही है। अपने बगल की गोपी की नृत्य प्रशंसा के बहाने कान के पास अपना मुँह ले जाकर एक गोपी दूसरी के कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूमती है।

जयदेव गाथा-प्रभावित कवि जरूर हैं किन्तु लोक-सुलभ भावना उतनी साफ और सीधी शैली में उनकी रचनाओं में नहीं उतर पाई, जितनी कि विद्यापति में। विद्यापति के अलंकार अंग रस, नायिका-भेद, साहित्यिक प्रयोग आदि परम्परागत हैं, उनकी शैली प्राचीन संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव से ओत-प्रोत है, फिर भी वे लोक-गीति-परम्परा के बहुत अधिक समीप हैं। उन्होंने लोक-जीवन की लीलाएँ, उनके विश्वास, उनकी रीति-नीति को भी अपनी रचनाओं में अंगीभूत किया है। और इस कारण सौन्दर्य, भाव-विस्तृति, संगीतमयता और वेदना की जो तीव्रता विद्यापति में आ पाई है, बहुत बार जयदेव उससे पीछे रह जाते हैं। एक स्थान पर विद्यापति ने नारी-रूप और शिव-मूर्ति का एक ही चित्र दिया है। उस चित्र में भी काव्य की सौन्दर्य-भावना और कलात्मकता भक्ति से पीड़ित नहीं हो सकी है और नारी मन का एक सहज सुन्दर परिचय मिलता है :

कतन वेदन मोहि देसि मदना ।
हर नहि बला, मोहि जुवति जना ।
विभुति भूषन नहि, चानन क रेनू ।
बघ छाल नहिं, मोरा नेतक बसनू ॥
नहिं मोरा जटाभार, चिकुरक बेनी ।
सुरसरि नहिं मोरा, कुसुमक श्रेणी ॥
चाँदन क बिन्दु मोरा, नहिं इन्दु छोटा ।
ललाट पावक नहिं, सिंदूरक फोंटा ॥
नहिं मोरा कालकूट, मृगमद चारू ।
फनपति नहिं मोरा मुकुता हारू ॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा ।
एक पए दूखन नाम मोर वामा ॥

इसी चित्र को जयदेव ने भी उतारा है, किन्तु विद्यापति के चित्र को वह नहीं लगता :

हृदि विलसत हारो नायं भुजंगम नायकः;
कुवलय दल श्रेणी कण्ठे न सा गरल द्युतिः ।
मलयज रजोनेदं भस्मप्रिया रीस्ते मयि,
प्रहर न हर आंत्यानंग कुधा किमु धावसि ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रधा-कृष्ण की यह वृत्ति धीरे-धीरे रूढ़ि में परिवर्तित होती चली गई। केवल सूर और मीरा में उन वृत्तियों के साथ उत्कृष्ट साहित्यिक गीतात्मकता के दर्शन हमें मिलते हैं। सूर में भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है, इसलिए उनके गीतों में विदग्धता और तन्मयता का परिमाण अपेक्षाकृत अधिक है। सूर के पदों में शान्त, वात्सल्य और शृङ्गार रस की मुख्यता है और आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन एवं बाल-यौवन के शृङ्गारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के बावजूद हार्दिकता के योग से उन पदों का गीति-सौन्दर्य विशेष निखर सका है। मीरा में उसकी वैयक्तिकता चूँकि सीधे रूप ले सकी है, इसके कारण उसकी आत्मीयता की सुषमा और लयात्मक व्यंजना और अधिक मर्मस्पर्शिणी हो सकी है। श्याम के विछोह में वियोगिन गोपियों की आँखें आठों पहर बरसती हैं। सूर ने उसे शब्दों में इस प्रकार बाँधा है :

निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पैं जब तैं स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर-कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहों उर बिच बहत पनारे।

विरह की यह एक सार्वभौम दशा है और शब्दों में उसकी वही सजीवता और मार्मिकता सूर की भावुकता से जीवन्त हुई है, किन्तु इसमें आत्मीयता के बजाय आरोपित भाव हैं। वही भाव जब और वैयक्तिक तथा निजी होकर मीरा की वाणी में ध्वनित होते हैं, शब्दों की लयमानता से सांगीतिक प्रभाव और बढ़ जाता है। मीरा कहती है :

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किसविध सोणा होय।

इसकी आकुलता, दर्द और तड़पन उससे भी पुरदर्द है। तुलसी में इस तरह की भावुकता की कमी तो नहीं है, लेकिन उनमें सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। उन्हें सहज भावों के बजाय लोक-संग्रह, जन-कल्याण, धर्म-मर्यादा की बोझिलता में ज्यादा आकर्षक और आस्था है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में वैयक्तिक, रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। रचनाओं में निजत्व के आरोप से सदा जान-बूझकर परहेज करते रहने के कारण लोक-सुलभ भाव और भाषा का सहज स्वरूप तुलसी में समाविष्ट नहीं हो सका। उसका एक स्पष्ट परिणाम हम यह देखते हैं कि 'रामायण' से श्रेष्ठ रचना होने के बाद भी 'विनय पत्रिका' जन-समाज में उतनी समादृत नहीं हुई और अपेक्षाकृत सरल तथा जीवन-निरूपक होने के कारण रामायण अधिक लोकग्राहिणी हुई।

निर्गुण-साधना की कड़ी में सबसे बड़े साधक कवि कबीर हुए। इनमें गोरखनाथ का शून्यवाद, मुस्लिम एकेश्वरवाद और सूफीमत का प्रेम-तत्त्व मिलकर जिस रहस्यवादी गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हुआ, वह स्मरणीय है। दुःखवादी बौद्ध-युग में जो वैयक्तिक भावना 'थेरी गाथाओं' में यत्र-तत्र झाँक उठी थी, उसका एक उन्नत रूप कबीर के पदों में प्रकट हुआ। उदाहरण के तौर 'थेरी गाथा' की ये पंक्तियाँ देखिए :

कालका भवरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अन ञ्ञथा।

(भौंरों के समान मेरे काले, चिकने और घुँघराले केश बुढ़ापे के कारण आज सन और वल्कल-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जैसे हो गए हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है। सत्यवादी की यह बात झूठ नहीं है।)

वैयक्तिक भावना की यह झाँकी कबीर में और तीव्र तथा परिष्कृत होकर सामने आई :

बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
आनन भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को कामिनी प्यारी, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।

अथवा

तलफै बालम बिनु मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया

किन्तु वैयक्तिक भावना का आरोप होते हुए भी निराकार आराध्य होने के कारण वह आत्मीयता कबीर में नहीं फूट सकी, जो कि मीरा में साकार प्रेमी के लिए आत्म-निवेदन में है। कबीर के

साईं बिन दरद करे जो होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहुँ दुख रोय॥

से मीरा के

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब ते तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन॥

में कहीं ज्यादा मार्मिकता है।

एक बड़ा दान गीति-कविता की दिशा में इस युग का यह रहा कि व्यक्ति के अपने हास-रोदन के माध्यम में सामूहिक दुःख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन्हीं दिनों जब लोक-संवेद्य भक्ति-गीतों का प्लावन-सा आया हुआ था, लोक-जीवन की सांगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान की कोशिशें भी समानान्तर से चल रही थीं। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का शृङ्गार दिया जा रहा था और संगीत को नई-नई राग-रागिनियों का शास्त्रीय जामा। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी को समान प्रधानता चल रही थी। रीति-काल के आलंकारिक मोह से गीत-सौष्ठव को पर्याप्त धक्का जरूर लगा, किन्तु उसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतेन्दु युग ने गीतों के सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली। उसी समय से शास्त्रीय संगीत के संस्कार की चेष्टाएँ शुरू हो गईं कि वह लोक-ग्राह्य भी हो सके। महाराष्ट्र के भातखण्डे-स्कूल और बंगाल के टैगोर स्कूल ने काव्य और संगीत की संगति के लिए उसका अनुकूल परिष्कार-संस्कार किया। काव्योपयुक्त सांगीतिक स्वर-योजना पर अंग्रेजी संगीत से प्रभावित रवीन्द्र की खासी छाप पड़ी और हिन्दी गीतों पर स्वर-समन्विति का वह विदेशी प्रभाव कुछ तो बंगला-गीतों के माध्यम से आया और कुछ सीधे अंग्रेजी से। यह प्रभाव संगीतात्मकता ही पर नहीं पड़ा, बल्कि काव्य के अन्तर-दर्शन पर भी उसकी पूरी छाप पड़ी। गीति-कविता धीरे-धीरे सामूहिक धरातल से हटकर आत्म-निष्ठता पर केन्द्रित होती गई। उसकी पिछली संगीतमयता गौण होकर प्रधान उपजीव्य हृदय के भाव ही होते गए। जैसा कि अंग्रेजी गीत-साहित्य के लिए आलोचक हर्बर्ट रीड ने कहा है कि गीत का मूल अर्थ अब लुप्त हो गया है और गीत के मानी भावात्मक कविता हो गया है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसमें भावात्मक चेतना का अनायास प्रवाह फूट उठता है।

इस प्रकार पिछले गीतों से आज की गीति-कविता सम्पूर्णतया-पृथक्-सी हो गई। भक्ति-काल के गीतों का बहुत बड़ा ऋण आज की गीति-कविता पर अवश्य है, किन्तु इसने अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली है। वे गीत मुख्यतया गाने के लिए रचित हुए थे। प्रत्येक भक्त कवि किसी-न-किसी सम्प्रदाय का अंग था और उस हिसाब से उनके साधन-मार्ग भी साम्प्रदायिक थे। वे कवि द्वैतवादी थे, इसलिए उनका संसार-दर्शन राधा-कृष्ण के रूपक के माध्यम से प्रकट हुआ। आज की गीति-कविता मुख्यतया कविता है, संगीत नहीं। इसके गीतोच्छ्वास में व्यक्ति की स्वानुभूति होती है। भक्ति-गीतों का धरातल गोष्ठीगत धर्मचेतना था—गीति-कविता की पृष्ठभूमि विश्व चेतना है। उन गीतों की अन्तर-वस्तु प्रेम था, गीति-कविता का आधार अनन्त जगत् है। तब की वैयक्तिक अनुभूति परोक्ष होती थी, अब प्रत्यक्ष। इस प्रकार स्पष्ट है कि गीति-कविता की यह उत्क्रांति मात्र स्वरूपगत ही नहीं है, सभी बातों, सभी दिशाओं में है।

अंग्रेजी या बंगला के प्रभाव से जिस छायावादी कविता का उन्मेष हिन्दी में हुआ, वह सब-की-सब इस गीति-कविता की कसौटी पर खरी उतरेगी, यह तो नहीं कहा जा सकता : किन्तु विषय, भाव और वैचित्र्य की दृष्टि से छन्द और सांगीतिकता का उसने गीति-कविता को बहुत बड़ा वैभव दिया। स्वानुभूति मात्र अपने हर्ष-शोक, विरह-मिलन के हास-अश्रु की लड़ियों का ही शृङ्गार नहीं करती— देशात्मबोध, मानवीयता, प्रकृति-चित्र, आत्मदर्शन इन सबकी विविधता की महिमा से वह ऐश्वर्यशालिनी है। नवीन छन्द, नई ध्वन्यात्मकता, नई उपमाएँ, अभिव्यंजना की नई दिशा, नई अर्थशक्ति—इन सबके समावेश से नई गीति-कविता ने हिन्दी की समृद्धि की है। जहाँ तक हमारी अपनी मान्यता है कि आरम्भिक दिनों में छायावादी प्रयोगों में आत्मानुभूति की तीव्रता और प्रगीतात्मकता, दोनों का समन्वय तो हुआ है, लेकिन उसमें वह गीति-सौन्दर्य नहीं है, जो गीति-कविता के लिए काम्य है। गीति-कविता की आत्मानुभूति लोक-सुलभ और उसकी सांगीतिकता सहज होनी चाहिए। इन्हीं दो गुणों के अभाव में प्रारम्भिक छायावादी कविता का हिन्दी में विरोध हुआ। किन्तु इस सदी की दो दशाब्दी बाद शुद्ध गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हिन्दी-कविता में हुआ। प्रसाद और निराला उस गीति-युग के दो छोर हैं— महादेवी बीच की कड़ी। प्रसाद के गीतों का एक रूप तो उनके नाटकों में है, दूसरा स्वतन्त्र गीति-कविता में। दोनों ही प्रकार के गीतों में प्रसाद जी का समान कृतित्व है। उनके नाटकों के गीत भी स्वतन्त्र गीतों-जैसे ही हैं, जिससे दर्शकों के लिए ही वे संवेद्य नहीं हैं, समान रूप से आस्वादनीय भी हैं। प्रसाद जी पहले कवि हैं, बाद में शब्दकार। गीति-योजना के अनुरूप स्वर और शब्द का समन्वय सफल शब्दकार के लिए ही विशेष सहज होता है। यह सामर्थ्य प्रसाद की अपेक्षा निराला में अधिक तेज-सम्पन्न है। किन्तु स्वर की अनुवर्तिता ने उनमें वाणी की स्व-महिमा को किसी हद तक क्षुण्ण कर दिया है। प्रसाद में यह बात नहीं आ पाई है। उनकी 'कामायनी' के 'गीत' इस स्वर-बोझ से बोझिल नहीं है, वाणी मुक्त है। 'निराला' की 'गीतिका' के गीतों में रागात्मक उत्तेजना के स्थान पर सांकेतिक अभिव्यंजना गहरी हो गई है, तन्मयता के बजाय संगीतमयता प्रधान हो गई है। महादेवी में अरूप प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन की करुण-सजलता और उत्सर्ग-भावना ने कैसी तो अस्पष्टता ला दी है। अरूप के प्रति ऐसा आत्म-निवेदन तो कबीर में भी है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति एक ऐसी भाव-भूमि पर हुई है जो लोक-सामान्यता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के समीप है। मीरा के आत्म-निवेदन की भी यह विशेषता है कि वह उस कृष्ण के प्रति है, जिसकी भावना लोक-जीवन का अंग थी। महादेवी इन दोनों के परे नितांत एकान्तिक हैं। किन्तु उनकी रचनाओं में वाणी की प्रधानता और चित्रात्मकता का अनोखा सौन्दर्य है, इसलिए उनमें रस और सौन्दर्य का अपूर्व सम्मिलन घटित हुआ है।

पन्त में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है, गीति-प्रतिभा अपेक्षाकृत कम। जहाँ तक शब्द-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, लाक्षणिक वैभव, ध्वन्यात्मकता, इन बातों का प्रश्न है, पंत अद्वितीय हैं। किन्तु जिस तीव्र आत्मानुभूति से गीति-कविता का जन्म होता है पंत में उसका अभाव है। जो भी हो, गीति-कविता का यह युग स्वर्ण-युग है। हिन्दी में गीति-सौन्दर्य की ही समृद्धि नहीं हुई, नये छन्दों की उद्भावना और मानसिक भावों के वैचित्र्य से कविता का कलेवर निखरा। इनके अतिरिक्त द्विज, नेपाली, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि ने अपनी रचनाओं से उसके वैचित्र्य के ऐश्वर्य को और बढ़ाया। गीति-कविता के वर्गीकरण के मुताबिक सम्बोधन-गीति, शोक-गीति, व्यंग-गीति, चतुर्दश पदी आदि सभी अंगों पर हिन्दी में सफल रचनाएँ हुई हैं और अभी हो रही हैं—सम्भवतः और समर्थ प्रतिभा इस दिशा में आगे आये। फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि गीति-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजन-संवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है, वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनीयता में, न सांगीतिकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से घुल-मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे। किन्तु भावात्मक कविता के प्रति लोक-जीवन-ग्राह्य न होने का दोष लगाकर जो एक बुद्धिवादी प्रतिक्रिया आज सामने है, उसमें इस परम्परा के रूप को शायद कुछ ठेस पहुँचे। किन्तु इतना निर्विवाद है कि भावना नहीं मरेगी और इस-लिए भावात्मक रचनाओं का भविष्य-जीवन भी सुरक्षित है। कभी जिस बुद्धिवाद के प्रति विद्रोह से अंग्रेजी में रोमांटिक काव्य का जन्म हुआ था आज उसी के प्रति बुद्धिवाद के विद्रोह की पुनरावृत्ति देखी जाती है, किन्तु भावुकता वहाँ भी जीवित रह जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना का विकास

शायद भारतेन्दु के निबन्ध 'नाटक' के आधार पर यह माना जाता कि है हिन्दी-भाषा में सर्वप्रथम नाटक सन् १८६२ में काशी में 'जानकी मंगल' नाम से खेला गया। कुछ विद्वान अवध के नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में १८५३ में खेले गए उर्दू कवि अमानत-विरचित 'इन्दरसभा' में लिखित रंगमंचीय नाटकों का सूत्रपात देखते हैं। लिखित नाटकों में इससे पूर्व तीन और रचनाओं का नाम लिया जाता है, एक तो १६४३ ई० के लगभग जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह द्वारा किया हुआ संस्कृत-नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का हिन्दी अनुवाद, दूसरा १७०० के लगभग रीवाँ-नरेश विश्वनाथसिंहजू द्वारा लिखित मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन'[1] और तीसरा १८४१ ई० में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र द्वारा प्रणीत 'नहुष' नाटक। किन्तु इन तीनों नाटकों के रंगमंच पर खेले जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, खेलने के लिए शायद ये लिखे ही नहीं गए।

अनजाने ही हिन्दी-समालोचकों और इतिहासकारों ने इन मान्यताओं के आधार पर हिन्दी-नाट्य-रचना और रंगमंच के इतिहास को संकुचित और अल्पसीमित कर दिया है। वस्तुतः यह इतिहास काफ़ी पुराना है और भक्तिकालीन काव्य का उषा-काल हिन्दी-नाट्य-रचना और रंगमंच का भी सुप्रभात माना जाना चाहिए। दोनों को प्रेरणा मिली उस विराट् वैष्णव आन्दोलन से जिसने १३ वीं सदी से लेकर तीन शताब्दियों तक उत्तर-भारत को आप्लावित कर रखा, जिसने भारतीय संस्कृति और समाज में रसानुभूति और भावोन्मेष की बाढ़-सी उपस्थित कर दी और जिसके प्रभावस्वरूप भारतीय चिन्तन-धारा ने एक युगान्तरकारिणी नई दिशा पकड़ी। उस उल्लास की वाणी केवल भगवद्-भक्ति से भरे-पूरे पद और आख्यान ही नहीं थे। भक्ति-भाव को जाग्रत करने के लिए भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन अत्यन्त सफल और आकर्षक साधन था। भगवान् के जिस रूप की प्रतिष्ठा भक्ति-युग में हुई वह उनका हँसता-खेलता, अथवा प्रेम-क्रीड़ाओं में निमग्न अथवा सतत कर्म-रत आदर्श रूप था। स्पष्ट है कि एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री इस तरह प्रस्तुत हो गई। वैष्णव जागृति द्वारा धर्म का जो रूप विकसित हुआ वह लोकाश्रयी था—जनसाधारण की प्रवृत्तियों के सहारे ही उसका उत्कर्ष हुआ। इसलिए दुरूह आध्यात्मिक सिद्धान्तों की माध्यम—संस्कृत की अपेक्षा 'देशी' भाषाओं में ही इस नवीन रंगमंच के लिए नाटकों की माँग हुई। पश्चिम में ब्रजभाषा, मध्यदेश में अवधी और पूर्व में मैथिली—इन 'देशी' भाषाओं में भक्तवत्सल भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन किया जाने लगा। इस रंगमंच के मुख्यतः दो क्षेत्र थे—मन्दिर और राज-दरबार। वैष्णव रंगमंच की पश्चिमी शाखा मन्दिरों और उसी भाँति के अन्य धार्मिक स्थानों में विकसित हुई और

---

१. विश्वनाथसिंहजू ने कदाचित् एक और नाटक 'गीता रघुनन्दन' की भी रचना की थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वी शाखा प्रायः राज-दरबारों में। मन्दिरों में प्रचलित रंगमंच के मुख्य रूप थे रासलीला और रामलीला, और ये दोनों ही रूप आजतक धार्मिक लोक-रंगमंच की परम्परा को कायम रखते रहे हैं। रासलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य द्वारा किया माना जाता है; रामलीला का श्रीगणेश स्वयं तुलसीदास जी ने किया—ऐसी कुछ लोगों की धारणा रही है। ये दोनों धारणाएँ ऐतिहासिक तथ्य पर अवलम्बित हैं या नहीं यह विवादास्पद हो सकता है। लेकिन इन विश्वासों की तह में एक महान् साहित्यिक सत्य छिपा पड़ा है। इन दोनों महापुरुषों ने कृष्ण और राम की जो दो धाराएँ प्रवाहित कीं उनका, उदीयमान और लोकप्रिय वैष्णव-रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था। मेरा तो विचार है कि बहुतांश में सूरदास की पदावली dramatic byrico थीं और तुलसीदास का प्रबन्ध-काव्य dramatic narrative. सूरदास के अनेक पदों की शैली से साफ़ जाहिर होता है कि विशेष पात्रों द्वारा गाये जाने के लिए शायद वे लिखे गए। इन्हें फुटकर कविता-मात्र समझना स्वयं कवि और तत्कालीन परिस्थिति के प्रति अन्याय करना होगा। रामलीला और कृष्णलीला के कथानक तो सर्वविदित थे ही; उनमें नवीनता के आरोपण की गुञ्जाइश ही न थी। किन्तु पात्रों के संवादों में चमत्कार और रस का समावेश किया जा सकता था। सम्भवतः कृष्ण-काव्य के ये स्फुट पद इसी माँग को पूरा करने के लिए लिखे गए। इन 'संवादों' को एक सूत्र में बाँधने वाली कड़ी—यानी सूत्रधार के संकेत, आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ कथानक की गति—का कोई ब्यौरा नहीं मिलता। जान पड़ता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक संवाद तो छोटे-मोटे एकांकी नाटक ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अयोध्या-कांड' में घटनाओं का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व एवं करुणा रस का पर्यवसान—इन सभी नाटकीय अंगों का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुःखान्त नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है! जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नज़र बराबर रामचन्द्र की लीलाओं के नाटकीय प्रदर्शन की ओर रही है; समूचा कथानक संवादों के माध्यम से अनावृत हुआ है और कई स्थलों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला-रंगमंच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के Pasion Plays के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवं प्रेक्षा-गृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं: गंगापार के लिए नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उनके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेरकर की जाती हैं; भरत-मिलाप और राजतिलक के लिए पुनः मंडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी (realistic) रंगमंच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी। लोक-परम्परा से भी रामलीला—रंगमंच ने बहुत-कुछ पाया, विशेषतः परिहास के प्रसंग और पात्र। किन्तु 'रामचरितमानस' इन अभिनयों का प्राण बराबर रही और इसी कारण रामलीला में लोक-रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा है, रामलीला की ही भाँति।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि वैष्णव-रंगमंच की यह पश्चिमी शाखा नाटक के मौलिक रूप और उसकी विशेषताओं को अक्षुण्ण न रख सकी; कालान्तर में व्रज-मंडल के गीत-नाट्य के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पद, भक्त-गवैयों के लिए गीत-काव्य बनकर रह गए। रंगमंच से उनका नाता टूटता चला गया। १८ वीं सदी तक आते-आते तो कवि गायक से भी विमुख हो चला। उधर यह रंगमंच ह्रासोन्मुख लोक-जीवन से पाथेय लेता हुआ चलता रहा, किन्तु सुरुचि और उदात्त भावनाओं का बहिष्कार एवं बाह्याडम्बर की बहुलता इस रंगमंच की विशेषताएँ थीं। इस तरह एक महान् नाट्य-रचना-शैली की सम्भावनाएँ नष्ट हो गईं। कारण स्पष्ट है;—राज्य-संरक्षण का अभाव! सुव्यवस्थित रंगमंच और साहित्यिक नाट्य-लेखन संरक्षण के सहारे पनपता है।

वैष्णव-रंगमंच की पूर्वी शाखा को यह संरक्षण उपलब्ध था। १५ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी के बाद तक मिथिला, नेपाल और आसाम में हिन्दी की समृद्ध और प्यारी उपभाषा—मैथिली में ३५ से ऊपर उच्चकोटि के नाटककारों एवं कवियों ने १०६ से ऊपर नाटकों की रचना की जो सभी उस रमणीक वैष्णव-रंगमंच पर खेले गए और मैथिली एवं हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गए। आश्चर्य है कि किसी भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इन नाटकों और इस शैली का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि मूलतः ये विद्यापति की पदावली की परम्परा में ही लिखे गए, और विद्यापति की गणना हिन्दी के आदिकवियों में होती है। वस्तुतः विद्यापति ही इस शाखा के प्रथम नाटककार माने जा सकते हैं, हाल ही में प्राप्त उनका 'गोरक्ष-विजय नाटक' इस शैली का शायद सबसे पहला नमूना है। जिस समय दिल्ली और लगभग सारे उत्तरी भारत में मुसलमान बादशाहत के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के वे रूप, जिनमें बुतपरस्ती की गन्ध आती थी, राज्याश्रय से वंचित होकर द्रुत गति से क्षीण होते जा रहे थे, उत्तरी-पूर्वी कोण में—मिथिला, नेपाल और आसाम के अंचल में कुछ हिन्दू राज-वंश, बादशाहत के प्रभाव से दूर रहकर भारतीय संस्कृति के इन मनोरम रूपों को सुरक्षित रख सके। १४ वीं सदी के प्रारम्भ में मिथिला के कर्णाट-वंश के अन्तिम नरेश हरिसिंह देव मुसलमानों से पराजित होकर नेपाल गए, ऐसा कुछ विद्वानों का विश्वास है। कुछ भी हो मिथिला से पंडित, संगीतज्ञ और नटों इत्यादि का नेपाल में आगमन उसी समय के आस-पास हुआ, और कुछ ही वर्षों के उपरान्त नेपाल के मल्लवंशीय नरेशों द्वारा मैथिल-परम्परा में रंगमंच की वैभवपूर्ण स्थापना हुई। इस वंश के सात राजाओं के द्वारा अथवा उनके आश्रित कवियों द्वारा अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—जगज्ज्योति-मल्ल (सन् १६१८-१६३३) का 'कुञ्जविहारी नाटक', सुमतिजितामित्रमल्ल (१६८२-१६९५) का 'मदालसा-हरण', भूपतीन्द्रमल्ल(१६९५-१७२२) का विशालकाय 'महाभारत' और रणजीत-मल्ल (१७२२-१७७२) का 'माधवानल काम कंदला'। मल्ल-वंश के राजाओं के अतिरिक्त नेपाल में उनके समकालीन तीन और राज-कुल थे जिनके संरक्षण में रंगमंच का यथेष्ट विकास हुआ। काठमंडू के राज-कुल के आश्रय में वंशमणि झा ने 'गीत दिगम्बर' नाटक की रचना की। ललितपुर अथवा पाटन के राज-कुल के सिद्ध नरसिंहदेव के समय में किसी अज्ञात लेखक ने 'चण्डकौशिक' के आधार पर १६५१ में 'हरिश्चन्द्रनाट्यम्' की रचना की (इस नाटक से भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' का मिलान अध्येताओं के लिए रोचक विषय होगा।) बाँकियापुर के राज-कुल में जयरणमल्ल के समय में जयरामदत्त द्वारा 'पाण्डव-विजय' नामक नाटक की रचना हुई। इधर मिथला में कर्णाट-वंश की क्षय के बाद विद्यापति के आश्रयदाता, ओइनवार-वंश के राज-कुल ने देशी भाषा के रंगमंच के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी, वैष्णव काव्य-धारा को प्रोत्साहन देकर मैथिली नाट्य-परम्परा की उद्भावना तो बाद में खाण्डवकुल (वर्तमान दरभंगा-नरेश) की स्थापना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने पर ही हुई। इन नरेशों ने वैष्णव-रंगमंच को स्थायी और सजीव रूप दिया। लगभग १६ नाटककारों ने एक पुष्ट रंगमंच की माँग को पूरा करने के लिए अपनी कृतियाँ प्रस्तुत कीं और १६ वीं सदी के अन्त तक यह ताँता चलता रहा। कुछ रचनाओं के नाम ये हैं—रामदास झा का 'आनन्द-विजय' नाटक (१६५०), देवानन्द का 'उषा-हरण', उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' (१७००), रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिनी परिणय', लालकवि (१७४४ १७६१) का 'गौरि-स्वयंवर', नन्दीपति का 'श्रीकृष्णकेलिमाला', गोकुलानन्द का मानचरितनाटक, श्रीकान्त-गायक का 'श्रीकृष्ण जन्म रहस्य' इत्यादि-इत्यादि। इनमें सर्वोत्कृष्ट रचना है, उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' और इसके विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि यह नाटक बुन्देलखण्ड के छत्रसाल-वंश के किन्ही हिन्दूपति नामक राजा के दरबार के लिए लिखा गया और वहीं इसका अभिनय हुआ। मिथिला के इन 'कीर्तनिया' नाटकों (यही संज्ञा इन नाटकों को दी जाती है) से मिलते-जुलते लेकिन उनसे कहीं पहले आसाम में मैथिली भाषा 'अंकिया नाट' कहे जाने वाले वैष्णव नाटकों की रचना हुई। प्रसिद्ध आसामी वैष्णव शंकरदेव (१४४६-१५६८) ने इन नाटकों की भाषा मैथिली शायद इसलिए रखी कि आसामवासियों की दृष्टि में वह श्रीकृष्ण की क्रीड़ास्थली व्रजमण्डल की भाषा के बहुत निकट थी। 'अंकिया नाटों' में विशेष उल्लेखनीय हैं शंकरदेव का 'कालियदमन', माधवदेव का अर्जुनभंजन', गोपालदेव का 'जन्म-यात्रा'और रामचरण ठाकुर का 'कंस-वध'। 'अंकिया नटों' का उत्कर्ष कामरूप के एक राज-कुल के कूचविहार में स्थापित होने के बाद हुआ, विशेषतः राजा नर नारायण के समय में।

इस नाट्य-साहित्य और उसके रंगमंच-सम्बन्धी सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं कि उसके अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यहाँ संक्षेप में वैष्णव रंगमंच और नाटक की इस पूर्वीय शाखा (जिसे कीर्तनिया नाटक की संज्ञा देना ही समीचीन जान पड़ता है) की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है : (१) ये नाटक प्रायः राज्याश्रय में लिखे गए और इनके द्वारा राज-दरबारों में रंगमंच की प्राचीन परम्परा जारी रही। (२) इन नाटकों में दो रचना-प्रणालियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, संस्कृत-नाट्य-रचना, और वैष्णव-काव्य-धारा, जिसने कीर्तनों का रूप लिया था। आसाम को छोड़कर अन्य दो स्थानों में इन नाटकों का प्रारम्भ संस्कृत नाटकों के रूप में ही हुआ, जिनमें यत्र-तत्र हिन्दी (मैथिली) गीतों का समावेश किया जाता था। ये गीत विद्यापति की शैली में लिखे जाते थे, राग-रागिनियों का उल्लेख होता था। गद्य, संवाद और संकेत संस्कृत और प्राकृत में ही होते थे। धीरे-धीरे इस मिश्रित शैली के स्थान पर शुद्ध मैथिली का प्रयोग होने लगा। आसाम में जहाँ वैष्णव-आन्दोलन की भावना तीव्र थी, प्रारम्भ से ही गद्य और पद्य दोनों की भाषा मैथिली थी। (३) यद्यपि राज-दरबारों से इस रंगमंच को आश्रय मिला तथापि दर्शकों में प्रत्येक वर्ग की जनता होती थी; वास्तव में तो कीर्तनिया-रंगमंच प्रारम्भ से ही गरीब-अमीर, ब्राह्मण-शूद्र—सभी प्रकार की जनता के मनोरञ्जन और शिक्षा का साधना बन गया। (४) इन नाटकों के कथानक प्रायः श्रीमद्भागवत, हरिवंशपुराण एवं महाभारत से लिये गए हैं। कृष्ण-लीला, रुक्मिणी-हरण, शिव-विवाह इत्यादि विषयों पर बार-बार नाटक लिखे गए। कथानक-वैचित्र्य की ओर न रचयिताओं का ध्यान था, न दर्शकों का। (५) राज-पण्डितों और स्वयं राजाओं ने जो नाटक लिखे उनका नाट्य विधान सुव्यवस्थित और संस्कृत नाटक के नियमानुसार होता था। किन्तु अन्य नाटकों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में विशेषतः आसाम की रचनाओं में शिल्प-विधान स्वच्छन्द होता चला गया; रंगमंच की आवश्यकताएँ बदल गईं। सूत्रधार और नटी प्रस्तावना के बाद भी पूरे अभिनय-भर मंच पर मौजूद रहने लगे; दृश्य-परिवर्तन के लिए पर्दे इत्यादि की सुविधाएँ थी नहीं, इसीलिए सूत्रधार और नटी (आसामी नाटक में 'संगी' का भी उल्लेख है) गीतों के बीच में कथा का सूत्र कायम रखते थे; उनका आशय समझाते चलते थे और बीच-बीच में विविध टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। बाद के मैथिल नाटकों में सूत्रधार के स्थान पर "तटस्थ" कहलाने वाले पात्रों का प्रयोग हुआ। इस तरह "साहित्यिक" और साधन-सम्पन्न रंगमंच का रूप लोक-रंगमंच के रूप में बदलता गया। (६) इन नाटकों में ऐसी परिस्थितियों का प्रायः आरोपण किया जाता था जिनमें लोक-जीवन में प्रचलित रीति-रिवाजों और उत्सवों को प्रदर्शित किया जा सके। यों रंगमंच मिथिला के सामाजिक जीवन का एक प्राणवान अंग बन गया। (७) संगीत इस रंगमंच और नाटकों का प्राण था; 'आर्केस्ट्रा' इसका आवश्यक अंग था और क्या लेखक, क्या सूत्रधार, क्या अभिनेता सभी को संगीत-विशारद होना अनिवार्य था, वस्तुतः कीर्तनिया नाटक और पाश्चात्य 'ओपरा' में यदि कोई अन्तर था तो यही कि कीर्तनिया नाटक का काव्य साहित्यिक मापदण्ड से भी उच्चकोटि का उतरता है; नहीं तो दोनों की रूपरेखा एक ही-सी है।

× × ×

१६ वीं सदी में भारतेन्दु के नेतृत्व में जो हिन्दी-नाटक और रंगमंच का पुनर्संगठन हुआ उस पर सीधा प्रभाव तो वैष्णव-रंगमंच की इन दोनों शाखाओं ने शायद कुछ नहीं डाला; भारतेन्दु ने शायद मैथिली नाटकों को देखा भी नहीं था, और रामलीला एवं रासधारी लीलाओं के तत्कालीन रूप को उन्होंने भद्दा और कला-विहीन पाया होगा। परन्तु भारतेन्दु को बंगला-रंगमंच और नाटक से बहुत-कुछ प्रेरणा मिली और उनके रूपान्तरित नाटकों में सर्वप्रथम 'विद्यासुन्दर' (सन् १८६८) इसी नाम के बंगला-नाटक का छायानुवाद था। 'विद्यासुन्दर' की कथा पर सन् १७२० में ही नेपाल के भूपतीन्द्रमल्ल ने 'विद्या-विलाप' नामक नाटक की रचना की और बाद में बंगाली "जात्राओं में" यह एक अत्यन्त लोकप्रिय कथानक हो गया। "जात्राएँ" कीर्तनिया नाटकों का ही लोकपक्षीय और बहुत-कुछ भ्रष्ट रूप थीं, और जात्रा-रंगमंच का बहुत व्यापक और गहरा प्रभाव बंगाली रंगमंच और नाट्य रचना पर पड़ा। 'सत्यहरिश्चन्द्र' भी एक बंगला-नाटक का छायानुवाद है और हम ऊपर देख चुके हैं कि सन् १६५१ ही में मैथिली में 'हरिश्चन्द्र नाट्यम्' की रचना हो चुकी थी। भारतेन्दु ने वैष्णव-नाट्य-शैली की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता को अपनाया; उन्होंने अंकों और दृश्यों के बीच-बीच में राग-रागिनियों में ढले हुए गीतों को स्थान दिया। 'मुद्राराक्षस' के उपसंहार में ऐसे गीतों का संग्रह दिया हुआ है। गीतों की इस मनोहर परम्परा को परवर्ती नाटककारों ने त्यागकर हिन्दी नाट्य-शैली को नीरस और रंगमंच को लोक-रुचि से दूर कर दिया।

भारतेन्दु ने अपने साहित्यिक जीवन के केवल १८ वर्षों में (१८६७ से १८८५ तक) हिन्दी-नाटक को पुनः साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया, विभिन्न नाट्य-शैलियों का समन्वय किया और अव्यावसायिक यानी 'एमेचर' रंगमंच की नींव डाली। भारतेन्दु के नाटकों की रूप-रेखा संस्कृत-नाटकों की अनुगामिनी थी, यद्यपि वस्तु-विषय के चुनाव में उन्होंने आधुनिक रुचि का परिचय दिया है, और अनुवाद भी उन नाटकों का किया जिनमें तत्कालीन सामाजिक और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजनीतिक परिस्थिति से कुछ साम्य दिखाया जा सके। 'भारत-दुर्दशा'-जैसे आधुनिक समस्याओं के नाटक पर भी संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक की शैली की स्पष्ट छाप है। उनकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेम जोगिनी' में आधुनिक यथातथ्यवादी (Realistic) नाट्य-शैली के बीज विद्यमान् हैं, 'भारत जननी' और अन्य नाटकों में भी उगती हुई राष्ट्रीय भावनाओं की झाँकी मिलती है, जो परवर्ती नाटककारों की प्रमुख प्रेरणा बनी।

नाट्य-रचना की एक समन्वित शैली की स्थापना करने के अतिरिक्त भारतेन्दु ने दो बड़े काम किये, पहला तो उन्होंने अपने प्रभाव से नाट्यकारों का एक दल बना लिया, उनके इन मित्रों, शिष्यों और सम्बन्धियों द्वारा हिन्दी में नाटक-लेखन की परिपाटी चल निकली। इस भारतेन्दु-स्कूल के नाटककारों में मुख्य ये थे :—'सीता-हरण' के लेखक देवकीनन्दन त्रिपाठी, 'कृष्ण-सुदामा' के रचयिता शिवनन्दनसहाय, 'रुक्मिणी परिणय' के लेखक अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'श्रीदामा' और 'अमरसिंह राठौर' के लेखक राधाचरण गोस्वामी, 'दमयन्ती स्वयंवर' और 'वेणु-संहार' के लेखक बालकृष्ण भट्ट, 'रणधीर, प्रेममोहिनी' के रचयिता लाला श्रीनिवासदास, 'दुखिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप' के लेखक राधाकृष्णदास, 'मयंक-मंजरी' और 'नाट्यसम्भव' के रचयिता किशोरीलाल गोस्वामी इत्यादि-इत्यादि। इनमें से किसी में भारतेन्दु की प्रतिभा तो नहीं थी; राष्ट्रीय भावना और उपेक्षात्मक प्रवृत्ति प्रबल थी; फिर भी 'रणधीर, प्रेममोहिनी'-जैसे नाटकों में शृङ्गार रस का मार्मिक निरूपण मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतेन्दु के देहान्त के बाद धीरे-धीरे इनमें से अधिकतर लेखक नाटक के क्षेत्र से हटकर कवि या उपन्यासकार बनकर रह गए। इसका एक कारण तो यह था कि खड़ी बोली में कविता और उपन्यास दोनों नवीन क्षेत्र थे जिनकी ओर प्रतिभावान् साहित्यिकों का आकर्षित होना स्वाभाविक था। दूसरे भारतेन्दु की भाँति इन सभी लेखकों का रंगमंच से सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाया। जो भारतेन्दु द्वारा चलाए हुए रंगमंच के निकट थे वे नाटक के सम्मोहन से दूर नहीं भटके।

यह अव्यावसायिक रंगमंच भारतेन्दु की हिन्दी को एक अनूठी देन है, और इसका जन्म व्यावसायिक पारसी-रंगमंच के उत्तर-स्वरूप हुआ था। पारसी-रंगमंच अमानत के 'इन्दर सभा' वाली परिपाटी का उत्कर्ष था। यद्यपि 'इन्दर सभा' में उर्दू के प्रेम-काव्य और गीत-प्रणाली पर कुछ भारतीयता की छाप थी, मूलतः वह रंगमंच यूरोप की 'ऑपरा' शैली से प्रभावित था। पारसी-रंगमंच तो बिलकुल ही छिछले पाश्चात्य 'फैशन' की नकल में आयोजित किया गया; उसने यूरोपीय रंगमंच से केवल उसकी ऊपरी छटा ग्रहण की, आत्मा नहीं। सन् १८७० के आस-पास पेस्टनजी फ्रामजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की; १८७७ में खुरशीदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' खोली, जिसे एक बार वे विलायत भी ले गए। कावसजी खटाऊ ने 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' भी इन्हीं दिनों खोली। उसके बाद तो एक के बाद एक 'न्यू एल्फ्रेड कं०', 'ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी', 'एलेक्जेंड्रिया कम्पनी', 'कोरिथियन कम्पनी' इत्यादि अनेक व्यावसायिक मंडलियाँ खुलीं और कलकत्ता, बम्बई और उत्तर-भारत के बड़े नगरों में उनका बोल-बाला १९२५ ई० के आस-पास तक चलता रहा। पारसी-थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रचार क्यों इतनी तेजी से हुआ, इसका एक प्रधान कारण यह था कि देश के जिस भाग में ये नाटक दिखाये गए वहाँ शताब्दियों के बाद एक रंगमंच जनता के सम्मुख आया; और कोई रंगमंच वहाँ था ही नहीं; सदियों की दबी हुई तृष्णा को जगाकर इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रंगमंच ने उससे लाभ उठाया। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि मिथिला, उड़ीसा, आसाम इत्यादि प्रदेशों में जहाँ एक रंगमंच पहले से मौजूद था, पारसी-रंगमंच हाथ-पैर नहीं फैला सका।

इसीलिए भारतेन्दु ने जन-साधारण की रंगमंच की तृष्णा को तृप्त करने के लिए पारसी-कम्पनी के जवाब में अव्यावसायिक मंडलियों की स्थापना की। किन्तु अव्यावसायिक रंग-मंच, व्यावसायिक रंगमंच से लोहा ले ही नहीं सकता। यदि उस समय उत्तरी भारत में भारतेन्दु को ऐसे सेठ मिल जाते जो रंगमंच के लिए कुछ रुपया लगा पाते तो शायद आज हिन्दी-रंगमंच का इतिहास भिन्न होता। फिर भी अव्यावसायिक अभिनयों की चाल शुरू करके भार-तेन्दु ने साहित्यिक नाटकों के लिए प्रयोगशालाएँ उपस्थित कर दीं और इन प्रयोगशालाओं के सहारे ही अब तक हिन्दी-नाटक अपना अस्तित्व बचा सका है, भारतेन्दु के बाद १८२८ के आस-पास कानपुर में एक उत्साही नाटक-मंडली स्थापित हुई, प्रयाग में पं० माधव शुक्ल और उनके सहयोगियों के उद्योग से पहले 'श्रीरामलीला नाटक-मंडली' (१८९८ ई०) और बाद में 'हिन्दी-नाट्य-समिति' (१९०८) का जन्म हुआ। इन मंडलियों द्वारा 'सीयस्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत' पूर्वार्द्ध'-जैसे नाटक अभिनीत हुए। काशी में १९०९ में भारतेन्दु के घराने के बृजचन्द जी और अन्य व्यक्तियों के उद्योग से 'भारतेन्दु-नाटक मण्डली' और 'काशी-नागरी-नाटक-मण्डली' की स्थापना हुई। ये मण्डलियाँ १९७६ तक गतिशील रहीं और न सिर्फ भारतेन्दु के रूपकों बल्कि और भी नाटकों का (जिनमें पौराणिक नाटकों की प्रधानता थी) अभिनय इनके द्वारा हुआ। कलकत्ता में 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के नाम से पं० माधव शुक्ल ने एक और अव्यावसायिक मण्डली स्थापित की जिसने बरसों तक अनेक नाटक खेलकर ख्याति प्राप्त की। इन अव्यावसायिक मण्डलियों पर भारतेन्दु की रंगमंच-शैली की छाप बराबर रही। परदे और मंच-विधान तो पारसी ढंग पर ही रहे थे, किन्तु चमत्कारपूर्ण दृश्यों के प्रदर्शन पर इतना जोर नहीं दिया जाता था जितना भाषा की शुद्धता, सुरुचिपूर्ण गीतों और आदर्शोन्मुखता पर। इन अभिनयों में अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति भाग लिया करते थे। आश्चर्य का विषय है कि अव्यावसायिक रंगमंच का यह रूप १९२५ के बाद से बदलने लगा; सयाने व्यक्तियों ने नाटकों में हिस्सा लेना छोड़ दिया और अव्यावसायिक रंगमंच धीरे-धीरे छात्रों का क्षेत्र समझा जाने लगा इस परिवर्तन के फल-स्वरूप आगे चलकर यह रंगमंच अधिक प्रयोगशीलता और 'बुद्धिवादिता' की ओर झुका।

सन् १९२०-२५ तक पारसी-रंगमंच और भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रंगमंच के लिए जिन लेखकों ने नाटक तैयार किये उन्हें दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पारसी-रंगमंच के लिए लिखने वालों की श्रेणी में आगा हश्र काश्मीरी, पं० राधेश्याम, नारायणप्रसाद 'बेताब', तुलसीदत्त 'शैदा' और हरिकृष्ण 'जौहर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भाषा इनकी हिन्दुस्तानी होती थी; गद्य वार्तालाप के साथ फड़कते हुए शैर अनिवार्य थे; उत्तेजनापूर्ण वाक्य और चमत्कारपूर्ण दृश्य तथा मुख्य कथानक के बीच में प्रहसन इन नाटककारों के विशेष नुस्खे थे। इस शैली के नाटक में कदाचित् सबसे अधिक सफल राधेश्याम पाठक के 'वीर अभिमन्यु' को माना जा सकता है, क्योंकि उसकी भावुकता की तह में लेखक की सच्ची अनुभूति का आभास होता है। दूसरे वर्ग के लेखकों को भारतेन्दु-शैली के ही अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि उनकी कृतियों में उन्हीं गुणों का विकास मिलता है जिनकी झाँकी भारतेन्दु और उनके समकालीन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाटककारों के नाटकों में मिल चुकी है। 'कुरु-वन-दहन' और 'चुन्नी की उम्मीदवारी' इत्यादि के लेखक बद्रीनाथ भट्ट इस वर्ग के प्रमुख लेखक थे। पं० माधव शुक्ल इस परिपाटी के प्राण ही थे, यद्यपि नाटक उन्होंने दो ही लिखे—'सीय स्वयंवर' और 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध)। आनन्दप्रसाद खत्री, जमनादास मेहरा, दुर्गाप्रसाद गुप्त और हरिदास माणिक के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के नाटकों में सर्वोत्कृष्ट पं० माखनलाल चतुर्वेदी-विरचित 'कृष्णार्जुन-युद्ध' को माना जायगा, क्योंकि इसमें तत्कालीन रंगमंचीय विधान का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी साहित्यिक परम्परा का पूर्ण-रूपेण निर्वाह हुआ है।

× × ×

यह थी वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जिसके धूमिल और अस्पष्ट होते हुए पटल पर जयशंकर 'प्रसाद' बिजली की तरह कौंधकर अन्तर्हित हो गए। क्या हिन्दी नाटक और रंगमंच की परम्परा से उनका कोई भी सम्बन्ध था? अपने समकालीन रंगमंच की उन्होंने अवहेलना की, यह तो स्पष्ट है ही। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने नाट्य-रचना की जो परिपाटी स्थापित की थी वह प्रसादजी को स्वीकार्य न थी। 'चन्द्रगुप्त' और 'मुद्राराक्षस' की तुलना से यह वैषम्य साफ ही दृष्टिगत होता है। किन्तु गहराई से देखने पर जान पड़ेगा कि 'प्रसाद' ने भारतेन्दु-युग की तीन मूल्यवान परम्पराओं—राष्ट्रीय भावना, आदर्शोन्मुखता और जीवन के प्रति मंगलमय दृष्टिकोण—को स्थूल अभिव्यंजना के क्षेत्र से निकालकर सूक्ष्म और सांकेतिक रूपरेखा प्रदान की। यह सांकेतिक व्यंजना छायावादी युग की विशेषता थी और 'प्रसाद' के नाटकों में इसके द्वारा परम्परागत भावनाएँ नई सुरभि, नये उन्माद के साथ उच्छ्वसित हुईं। किन्तु फिर भी यह मानना ही होगा कि शायद रंगमंच के उत्तरदायित्वपूर्ण बन्धनों से मुक्त होने के कारण 'प्रसाद' ने साहस और स्वच्छन्दता के साथ कतिपय बिलकुल नवीन प्रयोग किये। प्रथम तो उनकी भाषा का स्तर उनसे पूर्ववर्ती नाटककारों की भाषा से बिलकुल भिन्न है; उनकी आभिजात्य और गम्भीर भाषा के आगे हरिश्चन्द्री हिन्दी भी चलताऊ जान पड़ती है। दूसरे उनके पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व हिन्दी-नाट्य-रचना में एक अभूतपूर्व प्रयोग था। तीसरे, उनके पात्र कथानक की तात्कालिक समस्याओं का विश्लेषण करते-करते मानव-जीवन की मौलिक समस्याओं का जो विवेचन करते हैं, गम्भीर चिन्तन में जिस तरह उतराते-से जान पड़ते हैं वह भी हिन्दी-नाटक के लिए एक नूतन अनुभूति थी। इन तीन मौलिक प्रयोगों का परिणाम यह है कि 'प्रसाद' एक नये प्रकार की नाट्य-शैली के प्रतिपादक हो गए—वातावरण-प्रधान नाट्य-शैली, शायद सशक्त, सजीव और गतिशील वातावरण के द्वारा 'प्रसाद' अपने नाटकों की रंगमंच के लिए अनुपयुक्तता की कमी को पूरा कर लेते हैं; जहाँ वातावरण ही कल्पना को इतना उत्तेजित कर सके कि वह रंगमंच की सहायता के बिना ही अभीष्ट लोक का सृजन कर ले, वहाँ रंगमंच के बिना भी काम चल सकता है।

१९२० और १९३३ के बीच 'प्रसाद' के लगभग सभी उच्च-कोटि के नाटक लिखे गए।[1] क्या इन नाटकों ने हिन्दी-नाट्य-रचना के विकास पर कोई प्रभाव डाला? तुरन्त तो नहीं। किन्तु मैं श्री सोमनाथ गुप्त के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि "प्रसाद की रचनाओं का व्यापक प्रभाव किसी लेखक पर नहीं दिखाई देता।" मैं तो समझता हूँ कि वर्तमान पीढ़ी के

१. विशाख (१९२१) अजातशत्रु (१९२२), जन्मेजय का नागयज्ञ (१९२६), स्कन्दगुप्त (१९२८), चन्द्रगुप्त (१९३१), एक घूँट (१९२९-३०) ध्रुवस्वामिनी (१९३३)।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाटककारों में बहुत कम ऐसे हैं जो 'प्रसाद' के प्रभाव से अछूते रह पाए। सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे हुआ, हाल ही में 'वत्सराज' नामक नाटक को देखकर, जो प्रसिद्ध बुद्धिवादी और यथा-तथ्यवादी लेखक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की नई कृति है। मिश्रजी ने तो प्रसाद की वातावरण-प्रधान भावुक, आदर्शवादी शैली की प्रतिक्रिया स्वरूप १९३३ में ही कुछ नवीन प्रयोग किये, लेकिन आज वे भी इसी ओर झुक रहे हैं। 'प्रसाद' के जीवन-काल में ही हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', गोविन्दवल्लभ पन्त और उदयशंकर भट्ट ने उसी शैली में कई रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनमें से किसी को भी निश्चयपूर्वक 'प्रसाद' का अविकल उत्तराधिकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्विजेन्द्रलाल राय का भी प्रभाव इन लेखकों की रचनाओं पर साफ लक्षित होता है। भट्टजी के 'विद्रोहिणी अम्बा', 'सगर विजय', 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' नाटकों में पौराणिक युग का वातावरण सफलतापूर्वक उतारा गया है; 'आदिम युग' में वे मानव-सभ्यता की कुछ मौलिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हुए हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'स्वप्नभंग', 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' इत्यादि नाटकों में मध्य युग के भारतीय इतिहास की, विशाल हृदय होकर और मानवतावादी दृष्टिकोण से झाँकियाँ ली हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त ('वरमाला' और 'राजमुकुट') में उतनी गहराई तो नहीं है जितनी अन्य तीन नाटककारों में, किन्तु रंगमंच से पूर्णतया परिचित होने के कारण वे ही 'प्रसाद' से प्राप्त वाचव्य प्रेरणा को, रंगमंच की धरती पर, सफलता पूर्वक अवतारणा कर सके। सन् १९४२-४३ के बाद से पुनः सहसा प्रसाद की आदर्श-सम्पृक्त, मानवतावादी और वातावरण-प्रधान शैली की लहर-सी आई है। रामकुमार वर्मा की 'चारुमित्रा' और 'अवतारिका' बेनीपुरी की 'अम्बपाली', 'संघमित्रा' और 'नेत्रदान', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला', डॉ० कैलाशनाथ भटनागर की 'चाणक्य-प्रतिज्ञा' और 'श्रीवत्स', रानी शिवकुमारी देवी का 'चन्द्रगुप्त', और 'उमादे', कंचनलता सब्बरवाल की 'अमिया' और 'आदित्यसेन गुप्त', सीताराम चतुर्वेदी का 'सेनापति पुष्यमित्र' और सद्गुरुशरण अवस्थी के विविध ऐतिहासिक रूपक इसी विशाल तरंग की ललित लहरियाँ हैं। प्रसाद के इस नूतन अभिवादन का विशेष कारण समझ में नहीं आता; शायद कालेजों के अध्यापकों और छात्रों का आज दिन हिन्दी-नाटक के नाम पर केवल प्रसाद के नाटकों से सम्पर्क होता है, और वे ही उनके सृजनात्मक प्रयासों की मूल प्रेरणा हो पाते हैं।

किन्तु जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ प्रसाद की परम्परा जमने भी न पाई थी कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यह प्रतिक्रिया युग और परिस्थितियों की माँग थी। प्रसाद ने कोई रंगमंच तो बनाया नहीं था; पारसी-रंगमंच की मलिन होती हुई आभा सन् '३० के आस-पास सिनेमा की चकाचौंध करने वाली रजत रश्मियों में अपना अस्तित्व खो बैठी: हिन्दी का वह लड़खड़ाता हुआ व्यावसायिक रंगमंच मानो आधुनिकता के स्पर्श-मात्र से ढह गया, लेकिन उसका कल्याणकर परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक फिल्मों ने (न्यू थियेटर्स और बाम्बे टाकीज) सामाजिक जीवन के यथातथ्य (Realistic) प्रदर्शन को रंगमंच के योग्य सामग्री साबित कर दिया। भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रंगमंच पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका; कालिजों की नाट्य-मंडलियों ने समझा कि जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन, स्वाभाविक ढंग का वार्तालाप, दैनिक अनुभव के क्रिया-कलाप—सभी रंगमंच के दायरे में आ सकते हैं। लेखकों को इस प्रवृत्ति की ओर एक और परिस्थिति ने प्रेरित किया। छायावाद के प्रथम उल्लास के बाद पाश्चात्य रोमाण्टिक साहित्य से उकताकर हिन्दी-लेखक इब्सन, शॉ, चेखव इत्यादि के सम्मोहन में आये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और बाद में समसामयिक नाट्य-साहित्य में भी दिलचस्पी लेने लगे, तीसरा कारण था भारतीय राजनीति में कोरी राष्ट्रीयता के स्थान पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति आगे चलकर साम्यवाद से अनुप्राणित होकर प्रगतिशीलता के चोले में सामने आई। चौथा कारण था फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और यौन-विज्ञान में पढ़े-लिखे नवयुवकों की दिलचस्पी, जिसने युग-युगान्तर से नाट्य-साहित्य की धरोहर—प्रेम-कथानक—को बिलकुल नया रूप दे दिया। पाँचवाँ कारण था नाटक के क्षेत्र में छोटी कहानी के समान छोटे नाटक—एकांकी की माँग। यद्यपि भारतीय साहित्य में एकांकी पहले भी लिखे जा चुके थे, और हिन्दी में तो भारतेन्दु को ही प्रथम एकांकीकार माना जा सकता है, तथापि, हमारे आधुनिक एकांकी की प्रेरणा हमें पाश्चात्य साहित्य से ही मिली है। एकांकी को अव्यावसायिक रंगमंच ने खुले हाथों अपनाया, क्योंकि इनमें अभिनय के लिए कम-से-कम साधनों की आवश्यकता होती है।

इन परिस्थियों के फलस्वरूप १६३० के आस-पास एक नई शैली के नाटकों की उद्भावना हुई। जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन सामाजिक समस्याओं के मूल में व्यक्ति की मानसिक गुत्थियों का विश्लेषण और उथले आदर्शवाद की उपेक्षा इन नाटकों की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। शायद इस शैली का सर्वप्रथम नाटक कृपानाथ मिश्र का 'मणिगोस्वामी' (१६२६) था, जिसे अभी तक आधुनिक साहित्य में समुचित स्थान नहीं मिला है, उसके बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' आदि नाटक परम्पराओं को चुनौती देते हुए आये; रूढ़ि-ग्रस्त विचारों को चुनौती देना तो कलाकार का 'मिशन' ही है, किन्तु रंगमंच की आवश्यकताओं की अवहेलना मिश्रजी की रचना-शैली के लिए श्रेयस्कर नहीं हुई। रामकुमार वर्मा ने अपने एकांकियों में और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने न सिर्फ एकांकियों में बल्कि 'कैद और उड़ान', 'छठा बेटा', और 'आदिमार्ग'-जैसे बड़े नाटकों में भी यथातथ्यवादी विचार-प्रधान शैली का रंगमंच की गतिशीलता और रस-पिपासा से समन्वय स्थापित किया। अश्क का शिल्प-विधान श्रम-साध्य और नपा-तुला होते हुए भी जीवन की खण्डित और प्रच्छन्न अनुभूतियों की भाँति ही सांकेतिक होता है। व्यक्ति और समाज के आगे ऐसा विकारहीन किन्तु व्यंजनाशील दर्पण अन्य किसी यथातथ्यवादी हिन्दी-नाटककार ने नहीं रखा। सेठ गोविन्ददास जी के नाटक स्थूल रूप से समस्यामूलक हैं; कला पक्ष उनका क्षीण है, रंगमंच के प्रति वे उदासीन हैं; और उनके पात्र क्रमशः "टाइप्स" होते चले जा रहे हैं, पहचाने जा सकने वाले व्यक्ति नहीं बल्कि विचार-धारा अथवा वर्ग के मूर्तमान स्वरूप! वृन्दावनलाल वर्मा के सद्यःप्रकाशित नाटकों में भी अर्वाचीन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है किन्तु जब तक वह प्रकाश नाटक के पात्रों में से ही उद्भूत होता हुआ न मालूम दे तब तक इन रचनाओं को नाटक की संज्ञा देते हुए संकोच होता है। हाल ही में बीकानेर के शम्भूदयाल सक्सेना की 'सगाई' पढ़कर आभास हुआ मानो हिन्दी-नाट्य-माला में एक नया मोती गुँथा हो, इस नाटिका में समस्या का उद्घाटन होता है, वक्तृताओं के द्वारा नहीं बल्कि पात्रों के आचरण के द्वारा। सन् १६३४ में जब विचारमूलक नाटकों का हिन्दी में श्रीगणेश हो ही रहा था, तब श्री सुमित्रानन्दन पन्त का गीति-नाट्य 'ज्योत्स्ना' प्रकाशित हुआ, 'ज्योत्स्ना'-जैसे अभूतपूर्व साहित्यिक प्रयोग को किसी वर्ग अथवा प्रवृत्ति के अन्तर्गत मानना कवि की प्रतिभा के प्रति अन्याय करना होगा, किन्तु नाट्य-रचना के इतिहास में 'ज्योत्स्ना' की महत्ता इसलिए है कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसमें हम गीति-प्रधान रसानुवर्तिनी, काव्यात्मक नाट्य-शैली, (जिसकी जड़ भारतेन्दु और उनसे भी पहले वैष्णव नाटकों तक फैली हुई हैं) प्रतीकात्मक रूपक-विधान, (जिसका सर्वप्रथम उदाहरण संस्कृत में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक है) और विचारशीलता एवं सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्त्वों की खोज से अनुप्राणित आधुनिक नाट्य-शैली का मनोरम और साहसपूर्ण समन्वय पाते हैं।

× × ×

सन् '३५ के बाद हिन्दी-रंगमंच के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण दिशाओं में विकास हुआ है। एक तो भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित अव्यावसायिक रंगमंच का एकांकियों के मध्यम से 'साहित्यिक' नाटक से पुनः सम्बन्ध स्थापित होना और दूसरे पृथ्वीराज कपूर द्वारा बम्बई में आर्थिक घाटा सहते हुए भी एक सुरुचिपूर्ण और नवसंदेशवाहक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना। हिन्दी में आधुनिक एकांकी की महत्ता इसीलिए मानी जायगी कि वह एक परिवर्तनशील रंगमंच की माँग को पूरा करने के लिए रचा गया और उस रंगमंच को पुनर्जीवित करने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। पृथ्वीराज कपूर ने जो बीड़ा उठाया है उसे यदि हिन्दी-लेखक आह्वान के रूप में समझें तो उनका आयोजन युगान्तरकारी आन्दोलन बन सकता है। एक प्रतिभाशाली अभिनेता होने के कारण पृथ्वीराज अपने नाटकों ('पठान' और 'आहुति' इत्यादि) के कुछ दोषों (यथा 'कलाकार' के अन्तिम अंक की सस्ती भावुकता) की छान-बीन करने में असमर्थ जान पड़ते हैं, साथ ही हिन्दी-साहित्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता (और अज्ञान !) उनमें नाट्य-चयन को अत्यन्त सीमित कर देती है। फिर भी अगला कदम तो हिन्दी के साहित्यकारों को ही उठाना है।

रेडियो-नाटक की ब्यौरेवार चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी, क्योंकि उसके वाय्य 'मंच' का अभी तो हमारे रंगमंच से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी नाट्य-रचना पर रेडियो का अत्यन्त व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ रहा है। अनेक नये लेखक रेडियो ही के कारण नाट्य-रचना की ओर प्रेरित हुए। प्राचीन नाटकों के सूत्रधार की पुनः अवतारणा वाचक और वाचिका के रूप में हो रही है। वैष्णव-रंगमंच की भाँति रेडियो-नाटक में भी सांगीतिकता का प्रचुर समावेश हुआ है। जान पड़ता है रेडियो के प्रभाव से हिन्दी में पुनः गीति-नाट्य की प्रतिष्ठा हो रही है।

इसी में हमें भविष्य के संकेत मिलते हैं, इतिहास और परम्परा की उपेक्षा करके भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। मैंने अन्य निबन्धों में भावी हिन्दी-रंगमंच और नाटक की रूपरेखा पर अपने कुछ सुझाव दिये हैं। यहाँ उनका पुनः उल्लेख आवश्यक होगा, किन्तु मननशील पाठक समकालीन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों में एक काव्यात्मक और लोक-संग्रही रंगमच के बीज देखेंगे ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी एक ही प्रकार के रंगमंच का भारतवर्ष में सर्वमान्य होना असम्भव है और अनुचित भी। एलर्डाइस निकल के शब्दों में सजीव रंगमंच के लिए एक भौगोलिक केन्द्र, यथोचित स्वच्छन्दता, जन-साधारण और बुद्धिजीवियों दोनों ही से समर्थन, व्यावसायिक नाटककार के लिए सहारे का प्रबन्ध, और युग-परिस्थितियों के अनुकूल रंगमंच-विधान—इन अवयवों की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि भारतवर्ष-जैसे विशाल देश में इन अवयवों के रूप भी अनेक होंगे और इसलिए रंगमंच और नाट्य-रचना-शैली के विधान भी बहुमुखी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास

भारतवर्ष में आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अट्ठारवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हुआ। ये तीनों नगर नवस्थापित अंग्रेजी शासन के केन्द्र थे और इनमें धीरे-धीरे छोटे-छोटे अंग्रेजी उपनिवेश विकसित हो गए थे। १७८० ई० में प्रकाशित हिके (Hickey) का 'कलकत्ता गजेट' कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की एंग्लो-इंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफ़ी विकसित हो गई थी।

इन अन्तिम वर्षों में फ़ारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। १८०१ में 'Hindusthan Intelligence Oriental anthology' नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के उद्धरण थे। १८१० में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लिथो-पत्र 'हिन्दोस्तानी' प्रकाशित करना आरम्भ किया। १८१६ में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजेट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला-पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचार-दर्पण' (२७ मई १८१८) को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक पत्रों के बाद हमें बंगला भाषा के 'समाचार चन्द्रिका' (१८२३) और 'सम्वाद-कौमुदी' (१८२३), फ़ारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' (१८२३) और 'शम्सुल अखबार' (१८२३) और गुजराती के मुम्बई समाचार' (१८२३) के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी-पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (१८३३) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (१८३७) हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद ही आए हैं। 'उदंत मार्तण्ड' के सम्पादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिन्दी रहती थी, जिसे पत्र के सम्पादक ने 'मध्यदेशीय-भाषा' कहा है। प्रारम्भिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी—"यह उदंत मार्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी औ पारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा की उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा···।" यह पत्र १८२७ में बन्द हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था। कम्पनी-सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तण्ड' को यह सुविधा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तिम विज्ञप्ति से इस विषय में काफी प्रकाश पड़ता है—"इस उदंत-मार्तण्ड के नाव पड़ने के पहिले पछाँहियों के चित्त का इस कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का बड़ा उतसा था इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये, पै हमें पूछिये तो इनकी मायावी दया से सरकार अँगरेज कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाच्छ जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मैटे तिस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अन्त में नटों कैसे आम दिखाई दिए इत हेत स्वारथ अकारथ ज्ञान निरे परमारथ को मान कहाँ तक बनजिए अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की वात बताय बिदा होते हैं। हमारे कहे सुने का कुछ मन में न लाइयौ जो दैव और भूपर मेरी अन्तरव्यथा और इस पत्र के गुण को विचार सुध करैंगे तौ मेरे ही हैं। शुभमिति॥"

१८२६ ई० से १८७३ ई० तक को हम हिन्दी-पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद में यह पत्र 'हरिश्चन्द-चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कवि-वचन-सुधा' पत्र १८६७ में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था; परन्तु नई भाषा-शैली का प्रवर्तन १८७३ में 'हरिश्चन्द मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग-मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्र-कला का ज्ञान अथवा नये विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद प्रमुख पत्र हैं : बंगदूत (१८२९), प्रजामित्र (१८३४), बनारसअख बार (१८४५), मार्तण्ड (पंच भाषीय, १८४६), 'ज्ञानदीप' (१८४६), मालवा अखबार (१८४९), जगद्दीपक भास्कर (१८४९), सुधाकर (१८५०), साम्यदंड मार्तण्ड (१८५०), मजहरुलसरूर (१८५०), बुद्धिप्रकाश (१८५२), ग्वालियर गजेट (१८५३), समाचार सुधावर्षण (१८५४, दैनिक, कलकत्ता), प्रजाहितैषी (१८५५), सर्वहितकारक (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१), जगलाभ चिंतक (१८६१) सर्वोपकारक (१८६१), प्रजाहित (१८६१), लोकमित्र (१८६५), भारतखंडामृत (१८६४), तत्त्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सोमप्रकाश (१८६६), सत्यदीपक (१८६६) वृतांत विलास (१८६७), ज्ञानदीपक (१८६७), कविवचनसुधा (१८६७), धर्मप्रकाश (१८६७), विद्याविलास (१८६७), वृतांतदर्पण (१८६७), विद्यादर्श (१८६९), ब्रह्मज्ञान प्रकाश (१८६९), पापमोचन (१८६९), जगदानन्द (१८६९), जगतप्रकाश (१८६९), अलमोड़ा अखबार (१८७०), आगरा अखबार (१८७०), बुद्धिविलास (१८७०), हिन्दू प्रकाश (१८७१), प्रयागदूत (१८७१), बुन्देलखंड अखबार (१८७१), प्रेमपत्र (१८७२) और बोधा समाचार (१८७२)। इन पत्रों में से अधिकांश मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण', जो द्विभाषीय (बँगला-हिन्दी) था, और कलकत्ते से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र १८७१ ई० तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरे से प्रकाशित होते थे, जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था और विद्यार्थी-समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्म-समाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार-कार्य से सम्बन्धित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिन्दी-उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिन्दी-प्रदेश के प्रारम्भिक पत्रों में 'बनारस अखबार' (१८४५) काफी प्रभावशाली था और उसी की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाषा-नीति के विरोध में १८५० में तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और १८५५ में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरम्भ किया। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू-भाषा-शैली को अपनाता तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्सम-प्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८६७ से पहले भाषा-शैली के सम्बन्ध में हिन्दी पत्रकार किसी निश्चित नीति का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुआ और एक तरह से उसे हम पहला महत्त्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अन्त में साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परन्तु सच तो यह है कि 'हरिश्चन्द मैगजीन' के प्रकाशन (१८७३) तक वे भी भाषा-शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखलाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारिता का दूसरा युग १८७३ से १९०० तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चन्द मैगजीन' है और दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन २७ वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या ३००—३५० से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक हैं। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता इत्यादि के रूप में कुछ अधिक स्थायी सम्पत्ति रहती थी, परन्तु अधिकांश पत्र १०-१५ पृष्ठों से अधिक नहीं जाते और उन्हें हम आज के शब्दों में 'विचार-पत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर टिप्पणियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने जन-जागरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। 'कवि-वचन-सुधा' (१८६७), 'हरिश्चन्द मैगजीन' (१८७४), 'श्री हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' (१८७४), 'बाला-बोधिनी'; 'स्त्रीजन की प्यारी' (१८७४) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन किया था। उनकी टीका-टिप्पणियों से अधिकारी तक घबराते थे और 'कवि-वचन-सुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मैजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा-विभाग के लिए लेना भी बन्द करा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नये-नये पत्रों के लिए प्रोत्साहन दिया। 'हिन्दी-प्रदीप', 'भारत जीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आये उनमें प्रमुख हैं पण्डित रुद्रदत्त शर्मा (भारत-मित्र, १८७७), बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी-प्रदीप, १८७७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, १८७८), पं० सदानन्द मिश्र (सार-सुधानिधि, १८७८), पण्डित वंशीधर (सज्जन कीर्ति सुधाकर, १८७८), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (आनन्द-कादम्बिनी, १८८१), देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग-समाचार, १८८२), राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु, १८८२), पण्डित गौरीदत्त (देवनागरी-प्रचारक, १८८२), राजा रामपालसिंह (हिन्दुस्तान, १८८३), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण १८८३), अम्बिकादत्त व्यास (पीयूष-प्रवाह, १८८४), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारत-जीवन, १८८४), पं०रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, १८८८), योगेशचन्द्र वसु (हिन्दी बंगवासी, १८९०), पं० कुन्दनलाल (कवि व चित्रकार, १८९१), और बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं बाबू

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगन्नाथदास (साहित्य-सुधानिधि, १८६४)। १८६५ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ होता है। इस पत्रिका से गम्भीर साहित्य-समीक्षा का आरम्भ होता है और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाश-स्तम्भ मान सकते हैं। अगले ४-५ वर्षों में कोई महत्त्वपूर्ण पत्र हमें नहीं मिलता, परन्तु पिछले अनेक पत्र-पत्रकारिता को बराबर आगे बढ़ाते हैं। १६०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिन्दी-पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन २५ वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा-प्रसार और धर्म-प्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक राजनैतिक, और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बाला-बोधिनी' (१८७४) नाम से पहला स्त्री-मासिक-पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद हम महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं : 'भारत-भगिनी' (हरदेवी, १८८८), 'सुगृहिणी' (हेमन्तकुमारी, १८८६)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातनधर्म के प्रचारक विशेष क्रियाशील थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से सम्बन्धित कुछ पत्र और मिर्जापुर-जैसे ईसाई-केन्द्रों से कुछ ईसाई-धर्म-सम्बन्धी पत्र भी सामने आते हैं, परन्तु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्य समाजी और सनातनी पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्य-शैली को पुष्ट किया और जनता में नये विचारों की ज्योति भरी। इन धार्मिक वाद-विवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और सम्प्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही साम्प्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहास-चेतना में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा-शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-प्रदीप (१८७७), ब्राह्मण (१८८३), क्षत्रिय-पत्रिका (१८८०), आनन्द-कादम्बिनी (१८८१), भारतेन्दु (१८८२), देवनागरी प्रचारक (१८८२), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूष प्रवाह, १८८३), कवि व चित्रकार (१८६१), नागरी नीरद (१८८३), साहित्य-सुधानिधि (१८६४) और राजनैतिक दृष्टि से भारत-मित्र (१८७७), उचित वक्ता (१८७८), सार-सुधानिधि (१८७८), हिन्दुस्तान (दैनिक, १८८३), भारत जीवन (१८८४), भारतोदय (दैनिक, १८८५), शुभचिंतक (१८८७) और हिन्दी बंगवासी (१८६०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन पत्रों में हमारे १६वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके हैं। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त-जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई नहीं देते। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। वास्तव में विकास-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शृङ्खला कुछ आगे बढ़ी है और पत्रकारिता की अनेक दिशाएँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। १९वीं शती के पत्रकारों को भाषा-शैली के क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अँग्रेजी, दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिन्दी में रुचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी-पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी में धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (१९०३-१९१८) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिन्दी के मासिक पत्र एक महान् साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आये। शृङ्खलित उपन्यास-कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे 'उपन्यास'(१९०१), हिन्दी नाविल (१९०१), उपन्यास लहरी (१९०२), उपन्यास सागर(१९०३), उपन्यास-कुसुमांजलि (१९०४), उपन्यास बहार (१९०७), उपन्यास प्रचार (१९१२)। केवल कविता अथवा समस्या-पूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१९०५) का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परन्तु 'सरस्वती' ने Miscellany के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है जैसे भारतेन्दु (१९०५), नागरी हितैषिणी पत्रिका बाँकीपुर (१९०५), नागरी प्रचारक (१९०६), मिथिला मिहिर (१९१०) और इन्दु (१९०९)। 'सरस्वती' और 'इन्दु' दोनों हमारी साहित्य-चेतना के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और एक तरह से हम इन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इन्दु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पाण्डेय ने जिस सम्पादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व नहीं प्राप्त हो सका। पिछले युग की राजनैतिक पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता था। परन्तु कलकत्ता हिन्दी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिन्दी-प्रदेश को राजनैतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिन्दी-प्रदेश का पहला हिन्दी दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिन्दुस्तान' (१८८३) है जो अँग्रेजी-हिन्दी में कालाकाँकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (१८८५), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परन्तु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचार-धारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के भारतमित्र, बंगवासी, सारसुधानिधि और उचितवक्ता ही हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक-जागृति के केन्द्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रान्त अग्रणी थे। हिन्दी-प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रान्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतन्त्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम अभ्युदय (१९०५), प्रताप (१९१३) कर्मयोगी (१९१४),

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी केसरी (१६०४-०८) आदि के रूप में हिन्दी राजनैतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ते देखते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिकों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतन्त्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बम्बई से 'वैंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। १६२१ में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६२१ में हिन्दी-पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती है और राजनीतिक क्षेत्र में अपना नया जीवन आरम्भ करती है। हमारे साहित्य-पत्रों के क्षेत्र में भी कुछ नई प्रवृत्तियों का आरम्भ इसी समय से होता है फलतः बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिन्दी-पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

१६२१ के बाद हिन्दी-पत्रकारिता का समसायिक युग आरम्भ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय (राजनैतिक) और साहित्यिक चेतना को साथ-साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे कृती सम्पादक सामने आये जो अँग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतया परिचित थे और जो हिन्दी-पत्रों को अँग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित हुई और जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलनों का बल बढ़ने लगा, हिन्दी के पत्रकार और उनके पत्र अधिक महत्त्व पाने लगे। १६२१ के बाद गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमकरों तक पहुँच गया और उसके इस प्रसार में हिन्दी-पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिन्दी-पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों में अग्रपंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नये-नये कानून बनाकर समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया। परन्तु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतन्त्र विचार की दीप-शिखा जलाए रखी।

१६२१ के बाद साहित्य-क्षेत्र में जो पत्र आये उनमें प्रमुख हैं माधुरी (१६२३), चाँद (१६२३), मनोरमा (१६२४), समालोचक (१६२४), चित्रपट (१६२५) कल्याण (१६२६), सुधा (१६२७), विशाल भारत (१६२५), त्याग-भूमि (१६२८), हंस (१६३०), गंगा (१६३०), विश्वमित्र (१६३३), रूपाभ (१६३८) साहित्य सन्देश (१६३८), कमला (१६३६), मधुकर (१६४०), जीवन-साहित्य (१६४०), विश्व-भारती (१६४२), संगम (१६४२), कुमार (१६४४), नया साहित्य (१६४५), पारिजात (१६४५), हिमालय (१६४६) आदि। वास्तव में आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों के द्वारा ही पहले प्रकाश में आई हैं। आज हमारे मासिक जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। सच तो यह है कि सरस्वती (१६००—), इन्दु (१६०६—१६), माधुरी (१६२३), त्याग-भूमि (१६२८), विशाल भारत (१६२८), हंस (१६३०) और रूपाभ (१६३८)-जैसे पत्रों को छोड़कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखना ही असम्भव बात है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्र पत्रिकाओं की धूम रही वे हैं कर्मवीर (१६२४), सैनिक (१६२४), सूर्य (१६१६), स्वदेश (१६२१), श्रीकृष्ण-सन्देश (१६२५), हिन्दू-पंच (१६२६), स्वतन्त्र भारत (१६२८), जागरण (१६२६), हिन्दी मिलाप (१६२६), सचित्र दरबार (१६३०), स्वराज्य (१६३१), नवयुग (१६३२), हरिजन सेवक (१६३२) विश्वबन्धु (१६३३), नवशक्ति (१६३४), योगी (१६३४), हिन्दू (१६३६), देशदूत (१६३८), राष्ट्रीयता (१६३८), संघर्ष (१६३८), चिनगारी (१६३८), नव ज्योति (१६३८), संगम (१६४०), जनयुग (१६४२), रामराज्य (१६४२), लोकवाणी (१६४२), सावधान (१६४२), हुंकार (१६४२), संसार (१६४३) और सन्मार्ग (१६४३)। इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परन्तु जन-मन के निर्माण में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र-कला का सम्बन्ध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती-आकाश का अन्तर है। 'हिन्दी केसरी' (१६०७–०६) और 'लोक युद्ध' (११४२) को साथ-साथ रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इन तीस-पैंतीस वर्षों में पत्र-सम्पादन का धरातल ही बदल गया है और आज पत्र-सम्पादन वास्तव में उच्चकोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (१६२१) और उसके सम्पादक श्री बाबूराव विष्णुराव पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्र-कारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्र-कला के क्षेत्र में एक महान् संस्था का काम किया है और उसने हिन्दी को बीसियों पत्र-सम्पादक और पत्रकार दिये हैं। 'आज' के पथ-प्रदर्शन पर चलने वाले दैनिकों में से प्रमुख हैं सैनिक (१६२८), शक्ति (१६३०), प्रताप (१६३१), नवयुग (१६३२), नवराष्ट्र (१६३३), भारत (१६३३), लोकमत (१६३१), लोकमान्य (१६३०), विश्वमित्र (कलकत्ता १६१७), बम्बई (१६४१), नई दिल्ली (१६४२), नवभारत (१६३४), अधिकार (१६३८), अग्रगामी (१६३८), आर्यावर्त (१६४२), राष्ट्रवाणी (१६४२), संसार (१६४३), नया हिन्दुस्तान (१६४४), जयहिंद (१६४६) और सन्मार्ग (१६४६)। और भी अनेक दैनिक सामने आये हैं और आज बरदा से हिमालय और अमृतसर से कलकत्ता तक उनका ताना-बाना बुना हुआ है। दैनिक पत्र-कला का विशेष विकास पिछले दो महायुद्धों के बीच में हुआ है और अभी वह अंग्रेजी दैनिकों की तुलना में छोटी पड़ती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी जड़ें देश की मिट्टी में दूर तक चली गई हैं और स्वतन्त्र भारत के नव-निर्माण में उसका महत्त्व उसी प्रकार अप्रतिम रहेगा जिस प्रकार राष्ट्रीय जन-संग्राम में उसका नेतृत्व अक्षुण्ण था।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आज की हिन्दी-पत्रकारिता के पीछे लगभग १२५ वर्षों की परम्परा है। आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भाँति हमारी-पत्रकारिता की नई कोटि है और उसमें भी मुख्यतः हमारे मध्यवित्त समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहि-त्यिक और राजनैतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब है। वास्तव में पिछले १२५ वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्र-पत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बंगला में 'से कालेर कथा' ग्रन्थ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर बंगाल के उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवित्ती जीवन के पुन-र्निर्माण का प्रयत्न हुआ है। हिन्दी में भी ऐसा प्रयत्न वांछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकने वाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रों के पृष्ठों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही पहले-पहल सामने आई है। भाषा-शैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास में पत्रों का योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु बीसवीं शती के पहले दो दशकों के अन्त तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इंदु' में जिस प्रयोगात्मक रूप में देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। १६२१ ई० के बाद साहित्य बहुत-कुछ पत्र-पत्रिकाओं से स्वतन्त्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परन्तु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आन्दोलनों के लिए हमें मासिक पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक चेतना के लिए तो पत्र-पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं ही। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाएँ जितनी बड़ी जन-संख्या को छूती हैं, विशुद्ध साहित्य का उतनी बड़ी जन-संख्या तक पहुँचना असम्भव है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व और उनका उत्तरदायित्व बढ़ा है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गई है और कई प्रान्तों में वही एक-मात्र राजकीय भाषा है। हिन्दी-पत्रकारिता धीरे-धीरे अंग्रेजी पत्रकारिता का स्थान ले रही है और निकट भविष्य में हम उसे और भी व्यापक और सशक्त देख सकेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।'

—महात्मा गांधी

हिन्दी संस्कृत की पुत्री है। पुत्री सर्वांश में माता का वैभव-विकास होती है। हिन्दी का जीवन-रस संस्कृत के सारस्वत स्रोत से प्रवाहित हुआ है। हिन्दी का यह महान् गौरव है। भाषा, शब्दावली, व्याकरण, भाव, वस्तु, आदर्श और परम्परा—प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी पर संस्कृत का भरपूर ऋण है। अथवा उदार मन से सोचें तो हिन्दी ने संस्कृत से उन्मुक्त दान पाया है। हिन्दी की स्थिति उस कोंपल के समान है जो प्राचीन पर्ण का उत्तराधिकार सँभालकर नव जीवन के लिए फुटाव लेती है। भाषाओं का विकास अवश्यम्भावी है। मानवी संस्थाओं के समान भाषा भी परिवर्तित होती है। वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन लोक-भाषा और अर्वाचीन हिन्दी—इस क्रम से तीन सहस्र वर्षों से भी अधिक लम्बे समय तक इस देश में भाषा और साहित्य का अनवरत विकास होता रहा है। हिन्दी उसकी अन्तिम कड़ी है; और जहाँ तक मध्य देश का सम्बन्ध है हिन्दी ने ही साहित्य और संस्कृति के इस बहुमूल्य ब्रह्मदाय को सर्वांश में प्राप्त किया है। मनु के शब्दों में मध्यदेश भारत का हृदय है। आज मध्यदेश की भाषा राष्ट्रीय गौरव से सम्पन्न हुई है। भारत के भाषा-सम्बन्धी इतिहास की यह स्वाभाविक पूर्णा हुई है।

वैदिक भाषा इस देश की प्राचीनतम भाषा है जिसका साहित्य इस समय भी उपलब्ध है। शब्द-सम्पत्ति और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से वह अत्यन्त समृद्ध भाषा थी। हिन्दी की निजी प्रकृति तो वैदिक भाषा के साथ ही अस्तित्व में आ गई थी। धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृदन्त और तद्धित, देश वाचक, काल वाचक, सम्बन्ध वाचक शब्द—इस प्रकार भाषा का भरा-पूरा ठाठ वैदिक भाषा में ही मिलने लगता है जो विकास के प्रत्येक चरण में और सशक्त बनता गया, एवं उसकी जो मौलिक भाषा-कल्पना थी वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त में हिन्दी को मिली है। विराट् प्रकृति, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, द्युलोक, गृहस्थ-जीवन, कर्म और ज्ञान, मन और प्राण, धन और सुवर्ण, शरीरावयव और सौन्दर्य, नृत्य-गान, वस्त्राभूषण, खान-पान, पशु-पक्षी, औषधि-वनस्पति, वीरता और युद्ध, देवी-देवता, इत्यादि अनेक क्षेत्रों में शब्दों और भावों का समृद्ध भंडार वैदिक युग में ही प्राप्त होता है।

उदाहरण के लिए अकेले कवर्ण के अन्तर्गत हमारे जीवन के अधिकांश प्रमुख शब्द ऋग्वेद की भाषा में से अस्तित्व में आ चुके थे—कवि, कर्म, कन्या, कक्ष्मान, कद्या, कतम, कति, कतिधा, कदा, कनिष्ठ, कपर्दी, कपि, कपोत, कपिल, करण, कर्ण, कर्ता, कर्मण्य, कला, कल्प,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण (कल्याणी), कवित्व, काव्य, कश्यप, काम, कामी, काम्य, काल, किरण, किल्बिष, कुएड, कीनाश (=किसान), कुक्षि, कुमार, कुम्भ, कुल, कुलिश, कुल्या, कूप, कूल, कूट, कृच्छ्र, कृत, कृति, कृपंण, कृपा, कृश, कृशानु, कृषि, कृष्ण, केतु, केवट, केवल, केश, केशी, केशिनी, कोप, कोश, क्रतु, क्रन्दन, क्रमण, क्रियमाण, क्रीडन्त, क्रुद्ध, क्षत्र, क्षत्रिय, क्षपा, क्षमा, क्षय, क्षर, क्षिति, क्षिप्र, क्षीर, क्षीरपाक, क्षुद्र, क्षुधा, क्षुर, क्षेत्र, क्षेम, क्षोणी, क्षोद, क्षोभण, क्ष्मा। इनमें से कुछ शब्द ज्यों के-त्यों और कुछ रूप बदलकर आज हिन्दी भाषा की निधि हैं। विकास की लम्बी पगडंडी पार करते हुए वे हिन्दी को अपने उपःकालीन तेजस्वी रूप में प्राप्त हुए हैं। कवि, काव्य, कला, काल, काम, कर्म, कृषि, कोश, क्षेत्र, क्षीर, कल्याण-जैसे शब्द हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-संसार के रोम रोम में व्याप्त हैं; हिन्दी के चिन्तन के वे ऐसे ही स्फुट प्रतीक हैं जैसे वैदिक युग में वैदिक दर्शन के लिए थे। इसी प्रकार वैदिक भाषा सच्चे अर्थों में हिन्दी की आद्या जननी थी। उस कामधेनु के क्षीर से हिन्दी का अंग-प्रत्यंग आज तक घोषित है। गण, गणपति, गति, गंगा, गम्भीर, गौ, गाथा, गिरा, गिरि, गुरु, गुहा, गुह्य, गृह, गृहपति, गोत्र, गोप, गौरी, ग्राम, ग्रीष्म—इनमें से प्रत्येक शब्द ऋग्वेदकालीन होते हुए भी हिन्दी के उदार प्रांगण में किलोल कर रहा है। काल-क्रम से इतिहास के थपेड़ों ने शब्दों का भी रूप बदल दिया है। ककुत् से कउआ—कौआ, कपर्द से कवड्ड—कउड्ड—कौडा, कुक्षि से कुक्खि—कोख, कतिधा से कइहा, क्षीर से खीर, क्षुद्र से खुद्द-खूद, क्षोद से खोवा—ये नये शब्द प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव से बने और लोक-भाषाओं में घुल-मिल गए हैं। हिन्दी के विकास की प्रकृति निराकरण-प्रधान नहीं है, वह कई रूपों को स्वीकार करती है। आज हिन्दी की भाषा-शैली में ककुत् और कौआ दोनों मान्य हैं। वैदिक क्षपा से पहलवी—फारसी के साँचे में ढलकर शब (=रात) शब्द भी हिन्दी को प्राप्त हुआ है जो शबनम में प्रयुक्त है। हिन्दी की उदार वृत्ति उसके प्रति भी कुण्ठित नहीं है। इस प्रकार हिन्दी का पवित्र यज्ञ वैदिक-संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश की सुदीर्घकालीन इष्ट-काचिति से सम्पादित वेदी में सम्पन्न हो रहा है।

न केवल शब्द, बल्कि अर्थ और भावों के लिए भी हिन्दी संस्कृत के अमृत जल से प्रोक्षित है। उदाहरण के लिए—

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। (ऋ० १०।४५।६)

'मन्दी-मन्दी आँच पर जो घृतयुक्त मालपूए आज हमने तैयार किये हैं।' इस गृहस्थी-जीवन की नित्य परिचित स्थूल घटना को जिस सुन्दर ऋग्वेदीय वाक्य में कहा गया है वह पढ़ते ही प्रत्येक हिन्दी-भाषी के हृदय के निकट की वस्तु प्रतीत होती है। अथवा, अध्यात्म अर्थ की दृष्टि से—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा विदज्जरितारम्। (ऋ० ७।८६।४)

इस सन्ध्या भाषा के कितना निकट है, मानों आध्यात्मिक अनुभव की एक ही धारा की दो लहरें हों। श्री आनन्दकुमार स्वामी का तो यह अनुभवसिद्ध अभिमत था कि ऋग्वेद के ऋषियों को जो विदित था। उसमें उननिषदों ने नया कुछ नहीं जोड़ा।[1] अध्यात्म विचारों की अनेक

1. 'I am sure that the Upnisads add nothing *new* to what must have been understood by the "authors" of the Rigveda, who could not have written what they did without knowing what they were doing.'

(१३ मई, १९३९ के एक पत्र में)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धाराएँ इस देश में प्रवाहित हुईं। उपनिषदों में, पुराणों में, दर्शनों में वे बहुत प्रकार से पल्लवित हुईं, और पारस्परिक आदान-प्रदान से अनुगृहीत होती रहीं। संस्कृत के महाकाव्यों और भारतीय कलाओं पर भी विचारों के उन मौलिक अभिप्रायों की छाप पड़ी है। वैदिक 'देवासुरम्', देवों और असुरों के विराट् संघर्ष की कल्पना बार-बार संस्कृत काव्यों और पुराणों में आती है। पुराणों के गाथा-शास्त्र का अधिकांश ठाठ इसी अभिप्राय से निर्मित हुआ है। राम और रावण के युद्ध की कल्पना भारतीय अध्यात्म की उसी प्राचीन बारहखड़ी से बनी है, जो कालान्तर में हिन्दी के और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के रामायण-वाङ्मय की जनयित्री हुई। वाल्मीकि ने संस्कृत-रामायण में जिस शब्द ब्रह्म का दर्शन किया उसके सहस्रमुखी पुष्कल विधान का बल पाकर ही देश्यभाषाओं का रामायण-साहित्य बना है और जैसा गोस्वामी जी ने लिखा है, इस साहित्य में अनेक पुराण और वेद, शैव और वैष्णव आगम, एवं कितने ही अन्य स्रोतों से स्वच्छन्द सामग्री का ग्रहण किया गया है। वेदमत, सन्तमत, लोकमत—तीनों परम्पराएँ हिन्दी के धर्मानुप्राणित काव्य-साहित्य में मिली हैं। जिन वर्णों और अर्थ-संघों का, रसों और छन्दों का, एवं ज्ञान (बोध) और विज्ञान का 'रामचरितमानस' के आरम्भ में स्मरण किया गया है उनका पूर्ण विकसित क्षेत्र संस्कृत-साहित्य में ही था जो कवि को इष्ट है। अक्षर और अर्थ, नाना अलंकार और अनेक प्रकार के छन्द, भाव-भेद और रस-भेद—काव्य-सम्बन्धी ये विशेषताएँ भी संस्कृत-साहित्य के मूल स्रोत से हिन्दी-काव्य को मिली थीं और आज भी मिल रही हैं। किन्तु काल-क्रम से, राष्ट्र की प्रतिभा ने और भी जिस वस्तु का नया सृजन किया, वह भी हिन्दी के कवियों और साहित्यिकों को मान्य और शिरोधार्य रहा है। इसी भावना से गोसाईं जी ने लिखा था :

जै प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भये जे अहहिं जे हो इहहिं आगे। पनवों सबनि कपट छल त्यागे॥

प्राकृत साहित्य की जो कुछ देन थी, भाषा अर्थात् अपभ्रंश-काव्यों की जितनी परिपाटी थी सबको स्वीकार करके, अपना बनाकर हिन्दी की मानस-मन्दाकिनी आगे बढ़ी। और दूसरी चौपाई में तो, गोसाईं जी भविष्य के लिए भी हिन्दी-भाषा की नीति निर्धारित कर गए हैं। जो हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं, जो आगे जन्म लेंगे, उन समस्त काव्य और कवियों को, साहित्य और साहित्यिकों को हिन्दी के लेखक की प्रणामाञ्जलि अर्पित है, हिन्दी-भाषा उन सबके प्रति स्वागत की आरती सँजोती है। यही हिन्दी की उदार वाणी है। हिन्दी गंगा की धारा के समान समन्वय का मन्त्र पाकर आगे बढ़ी है। वह न केवल अपने प्राचीन 'नाना पुराण निगमागम' साहित्य से उपकृत हुई है, बल्कि 'क्वचिदन्यतोऽपि,' अन्य स्थानों से भी जो उपयोगी तत्त्व उसे मिलता है उसे सिर माथे पर रखती है। हिन्दी सारवस्तु के निराकरण की बात सोचती ही नहीं। यह हिन्दी का आत्मधर्म है।

'व्यास आदि कविपुङ्गव नाना'—इस पंक्ति में संस्कृत-साहित्य के सभी महाकवि और उनकी कृतियाँ परिगृहीत हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाण, दण्डी, भवभूति, सबने हिन्दी को प्रभावित किया है। इनमें से अनेकों के अनुवाद, भावार्थ हिन्दी में हुए हैं। 'वन्दौ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ' के द्वारा तुलसीदास जी ने 'वाल्मीकि रामायण' को कालिदास के सदृश अपने सम्मुख रखा था। तब से लेकर भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदासजी-कृत 'वाल्मीकि रामायण' (सातों काण्ड पद्यानुवाद) तक वाल्मीकि के कई अनुवाद और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भावार्थ हिन्दी को प्राप्त हुए। छत्रधारी ने संवत् १९१४ में 'वाल्मीकि रामायण' के तीन काण्डों का अनुवाद किया; सन्तोषसिंह ने सं० १८९० में उसका भाषानुवाद किया; और गणेश कवि ने 'वाल्मीकीय रामायणश्लोकार्थ प्रकाश' के नाम से रामायण के बालकाण्ड तथा सुन्दरकाण्ड के पाँच सर्गों का भाषानुवाद किया। वस्तुतः १५वीं शती से १८वीं शती तक हिन्दी का जो पद्य और गद्य-साहित्य बना उसका शतांश भी अभी नहीं छपा। भाषा के विकास और साहित्य के इतिहास के लिए उसका प्रकाशन आवश्यक है। 'अध्यात्म रामायण' के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। रामचरित और रामायण के अन्य पात्रों पर हिन्दी में सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें कुछ पूर्व भाव लेकर और कुछ नई कल्पना से लोक में राम-कथा का विकास और रूप-परिवर्तन होता रहा। इसी प्रकार 'महाभारत' और उसके खंड-कथानकों पर हिन्दी में बराबर ही कार्य होता रहा। १८वीं शती में कवि रघुनाथ के पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने 'महाभारत' का भाषा में अनुवाद किया था जिसकी प्रति काशि-राज के पुस्तकालय में है और अभी तक अप्रकाशित है। सं० १७५७ में छत्रसिंह ने 'विजय-मुक्तावली' के नाम ने महाभारत की कथा स्वतन्त्र प्रबन्ध-काव्य के रूप में कई छन्दों में लिखी। दिग्गज कवि ने सं० १७६६ में 'भारत-विलास' नाम से महाभारत की कथा का वर्णन किया। मनसाराम पाण्डे ने सं० १८६४ में महाभारत की संक्षिप्त कथा 'भारत-प्रबन्ध' के नाम से लिखी। सं० १९१२ में नवलसिंह ने महाभारत को अपनी साहित्य-साधना का प्रिय विषय बनाकर 'मूल-भारत', 'भारत-सावित्री', 'भारत कवितावली', 'भारतवार्तिक' की हिन्दी में रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की परम्परा में ये सब ध्यान देने योग्य हैं। १८वीं शती में विशेष रूप से हिन्दी के साहित्यिकों ने संस्कृत-साहित्य के भाषानुवाद की ओर ध्यान दिया था। 'भगवद्गीता' के भी अनुवाद उस समय और बाद में हुए। सं० १७६१ में आनन्दराम ने 'परमानन्द प्रबोध' नाम से गीता का अनुवाद किया, और सं० १७६२ में जनभुवाल ने 'कृष्णार्जुन संवाद' नाम से गीता का हिन्दी-रूपान्तर किया। भगवानदास ने सं० १७५६ में गीता की रामानुजी टीका का 'भाषामृत' नाम से अनुवाद किया। संस्कृत भागवत् को आधार बनाकर हिन्दी-साहित्य में अनुवाद और नूतन रचना की बाढ़ ही आ गई। कृष्ण-भक्ति-शाखा में भगवत्सेवा का जैसा भारी मंडान है उससे कम विस्तृत साहित्य का मंडान नहीं है। भागवत की लीलाओं का गान करने वाले अष्टछाप के कवि और उनके सहस्रों अनुकर्ताओं ने कृष्ण-साहित्य का खूब विस्तार किया जिसमें संस्कृत-साहित्य के भाव, शब्दावली और रूप-विधान का स्वच्छन्द आश्रय लिया गया है। रास, दान, मान, गोवर्धन आदि लीलाएँ संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान प्रिय हुईं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रभाव जयदेव के पद-साहित्य का है। कृष्ण-भक्ति-शाखा का साहित्य पद-साहित्य ही है। न केवल हिन्दी, वरन् अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी संस्कृत की पद-साहित्य-परम्परा खूब फैली। कन्नड़ भाषा के दास कवियों का पद-साहित्य अत्यन्त प्रभावशाली है।

हिन्दी का नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य संस्कृत पर आश्रित है। इनमें भानुदत्त-कृत 'रसमंजरी'(१५वीं शती विक्रमी) अत्यन्त प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथ है,जिसके आधार पर अनेक भाषा-ग्रंथों की रचना हुई। भानुदत्त के आधार पर कृपाराम ने सं० १५९८ में 'हित-तरंगिनी' नामक नायिका-भेद का सबसे प्राचीन ग्रंथ लिखा। प्रसिद्ध भक्त कवि नन्ददास ने भी भानुदत्त कृत रसमंजरी के आधार पर ही 'हिन्दी-रसमंजरी' (नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथ) की रचना संवत् १६२४-३० के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगभग की। (रसमंजरी अनुसार कै नन्द सुमति अनुसार। वरनत वनिता-भेद जहँ प्रेमसार विस्तार॥) शाहजहाँ के काल में सं० १६८८ में सुन्दरदास ने 'सुन्दर शृङ्गार' नामक नायिका-भेद पर ग्रंथ लिखा। इन्होंने ही व्रजभाषा में 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का भी अनुवाद किया था और 'ज्ञान-समुद्र' नाम से एक दार्शनिक ग्रंथ भी लिखा। संवत् १६४८ में केशवदास जी ने विविध संस्कृत-ग्रंथों को आधार बनाया। 'रसिकप्रिया' ग्रंथ लिखा, जो काव्य की सरसता और भावों की प्रौढ़ता की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। सुन्दरदास और केशवदास के ग्रंथों का दक्षिण के मुसलमान कवि अकबर शाह ने अपनी संस्कृत 'शृङ्गार-मंजरी' में भी प्रमाणोल्लेख किया है। चिन्तामणि ने सं० १७०७ में 'कवि कुल कल्पतरु' की रचना की, जिसमें नायिका-भेद के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य अंगों का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। हिन्दी-भाषा का शृङ्गार-सम्बन्धी रीतिकालीन साहित्य संस्कृत-साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ है। मतिराम और देव ने इस साहित्य को अत्यन्त सरस बनाया और खूब पल्लवित किया। काव्य-शास्त्र के सभी विषयों पर देव ने ग्रन्थ-रचना की और नायिका-भेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत में 'शृङ्गार विलासिनी' नामक एक ग्रन्थ सं० १७५७ में बनाया जिसमें हिन्दी के छन्द छप्पय, सवैया, दोहा आदि प्रयुक्त हुए हैं। १८वीं शती में हिन्दी-भाषा और उसके वाह्य-रूप-विधान की प्रौढ़ता इससे सिद्ध होती है। हिन्दू और मुसलमान, कोई भी दरबार ऐसा उस समय न था जहाँ हिन्दी की कविता और साहित्य को समाश्रय न मिला हो। हिन्दी का विस्तृत काव्य-लक्षण-सम्बन्धी-साहित्य संस्कृत की देन है। मम्मट आदि आचार्यों ने जो-कुछ इस विषय में परिपक्व चिन्तन किया था उसे हिन्दी के आलंकारिक आचार्यों ने अपना उपजीव्य बनाया। काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्दार्थ, ध्वनि, भाव-भेद, रस, अलंकार, काव्य के गुण-दोष, चित्र काव्य आदि विषयों पर हिन्दी के आलंकारिक आचार्यों ने संस्कृत की परम्परा का अनुसरण करते हुए गहरी छान-बीन की। हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी शब्दावली और परिभाषाएँ[1] प्रायः वे ही हैं जो संस्कृत में थीं। सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने सं० १७९९ में 'रस-प्रबोध' नामक ग्रन्थ के सहस्राधिक दोहों में रस-भेद, भाव-भेद और नायिका-भेद का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन करते हुए पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत की ही रखी, यथा असाध्या नायिका के पाँच उपभेदों में समीता, गुरुजनसमीता, दूतीवर्जिता, अतिक्रान्ता आदि नाम शुद्ध संस्कृत के हैं। संस्कृत-ग्रन्थों से भी अधिक जहाँ विषय का विस्तार किया जाता था, वहाँ भी शब्दावली के निर्माण में संस्कृत की ही परम्परा बरती जाती थी। सभी शास्त्रीय ग्रन्थों में आज तक हिन्दी की यही पद्धति रही है अर्थात् संस्कृत-जन्य परिभाषा और शब्दावली की रक्षा। कहीं-कहीं लेखकों ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का विषय संस्कृत से लिया है, जैसे चन्द्रशेखर कवि ने अपने 'रसिक-विनोद' ग्रन्थ में नवरस का वर्णन सं० १९०३ भरत मतानुसार किया है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिए यह पूरे खोज-निबन्ध का विषय है कि संस्कृत-ग्रन्थों से हिन्दी का काव्य, अलंकार, रस और नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य कहाँ तक अनुप्राणित और उपकृत हुआ है।

हिन्दी के पूर्व विद्वान् संस्कृत के नाटक और काव्य-साहित्य के भी अति सन्निकट थे। संस्कृत के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। जिस वर्ष गोस्वामी जी का स्वर्ग-वास हुआ उसी वर्ष सं० १६८० में पंजाब के कवि हृदयराम ने संस्कृत 'हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' लिखा, जिसकी कविता बड़ी सुन्दर और परिमार्जित है। औरङ्गजेब के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समकालीन मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद किया। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के आश्रित निवाज कवि ने सं० १७३७ में 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। कवि गणेश-कृत-'प्रद्युम्नविजय' नाटक अनेक प्रकार के छन्दों में सात अंकों में समाप्त हुआ है, जो रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी पुराने संस्कृत कथानक पर आश्रित है। संस्कृत नाटकों के भाषानुवाद की यह परिपाटी राजा लक्ष्मणसिंह और कविवर सत्यनारायण तक चली आई। वस्तुतः हिन्दी में इस परम्परा को और भी अधिक आश्रय मिलना चाहिए था।

हिन्दी का प्राचीन नीति-साहित्य और दर्शन-साहित्य भी अधिकांशतः संस्कृत की देन है। कृष्ण कवि ने सं० १७९२ में 'विदुर प्रजागर' की रचना की। 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश'-जैसे विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। दार्शनिक साहित्य तो हिन्दी का अत्यन्त विस्तृत है जिसका क्रमबद्ध इतिहास अभी लिखा जाना शेष है। ऊपर गीता के अनुवादों का उल्लेख हो चुका है। सं० १८३७ में अनेमानन्द ने 'नाटक दीप' के नाम से 'भाषा पंचदशी' की रचना की। श्री लल्लूलाल से भी ६२ वर्ष पूर्व के प्रौढ़ गद्य-लेखक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने सं० १७९८ में 'भाषा योगवसिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये हिन्दी के प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक माने जा सकते हैं, जिनकी भाषा शुक्ल जी के अनुसार अत्यन्त शृंखला-बद्ध साधु और व्यवस्थित है। 'योगवसिष्ठ' का एक अनुवाद सं० १७१४ में ही हो चुका था। रामप्रसाद के बाद भी तीन अनुवाद हुए। प्रसिद्ध भिखारीदास जी ने 'विष्णु-पुराण' का भी भाषानुवाद किया था। धर्म, नीति और दर्शन-सम्बन्धी अनेक प्रसंग हिन्दी-साहित्य में सीधे संस्कृत से आते रहे हैं। निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं पर संस्कृत के दार्शनिक चिन्तन की गहरी छाप है। भक्ति-संयुत वेदान्त यही हिन्दी-साहित्य का राष्ट्रीय दृष्टिकोण १८वीं शती तक टकसाली था। इस महान्यग्रोध की जड़ें निश्चय ही संस्कृत-साहित्य में फैली हुई हैं।

लीलावती, ज्योतिष, माधवनिदान, शालिहोत्र, अमर कोष आदि वैज्ञानिक साहित्य के भी कितने ही अनुवाद हिन्दी में पाए जाते हैं। अपभ्रंश युग से ही ये विषय संस्कृत से लोक-भाषा में आने लगे थे। ठक्कुर फेरु ने, जो अलाउद्दीन के समय में दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष थे, गणित, रत्न परीक्षा, ज्योतिष आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे; जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'द्रव्य-परीक्षा' है, जो भारतीय सिक्कों पर एक-मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है और जिसमें ९वीं शती से १३वीं शती तक के लगभग तीन सौ सिक्कों के नाम मोल-तोल दिये गए हैं।

हिन्दी-साहित्य में सतसई, शतक, पंचाशिका, बत्तीसी, बहत्तरी, बावनी, आदि के ढंग सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनका बाहरी विधान संस्कृत से आया है। संस्कृत-प्राकृत में 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। हिन्दी में सतसई की परम्परा खूब फूली-फली। गुप्त-काल में ही सिद्धसेन दिवाकर ने ३२ बत्तीसियों की रचना की थी। 'सांख्य सप्तति' प्रसिद्ध ही है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में रास पदों का उल्लेख किया है, जो परम्परा हिन्दी के रास, रासो, रासा ग्रन्थों में पल्लवित हुई। यह किसी समय लोक-साहित्य था, जो पीछे लिखित साहित्य के रूप में आ गया।

संस्कृत-साहित्य और भाषा हिन्दी के रोम-रोम में व्याप्त रही हैं। जैसा गान्धी जी ने अपने आर्ष अनुभव से लिखा था वह ध्रुव सत्य है—'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।' संस्कृत का अमृत हिन्दी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को मिलते रहना चाहिए। उस स्रोत में हिन्दी की जीवनदायिनी प्राण-धारा का रस है। हिन्दी के विकास की एक विशेषता यह रही है कि संस्कृत से इतना सान्निध्य रखते हुए भी उसने अपनापन बनाए रखा और अपने रूप-विधान के लिए अनेक प्रकार के नये छन्द, साहित्यिक रूप और भाषा-शैलियों का स्वाभाविक विकास किया है। कहीं भी हिन्दी की प्रगति संस्कृत के भार से कुण्ठित नहीं हुई। जहाँ भी संस्कृत की धारा मिली वहीं हिन्दी ने नवजीवन प्राप्त किया। वस्तुतः अपभ्रंश के बाद संस्कृत के शब्द-रूपों का वरदान पाकर ही हिन्दी की नवीन शैली प्रवृत्त हुई। इसका सर्वोत्तम रूप रामायण में मिलता है : 'नव रसाल वन विहरणशीला। सोइ कि कोकिल विपिन करीला।' हिन्दी की परिमार्जित और टकसाली शैली है। उसी के साथ जनपदीय शैली भी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलती रही। उसी रामायण में गाँवों की यह शैली भी घुली मिली है :

सुन केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना अयन, चितइ जानकी लषण तन॥

अथवा

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाए। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाए॥
राजकुमारि बिनय सुभ करहीं। तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानबि जानि गँवारी॥

वस्तुतः भाषा की दृष्टि से गोसाईं जी ने 'रामचरित मानस' और 'विनयपत्रिका' में जितने बहुसंख्यक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है उतने नए शब्द संस्कृत के कवियों में भी विरलों ने ही प्रयुक्त किये हैं।

हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों के भीतर की वर्णन-शैली और वस्तु-विधान पर भी संस्कृत-साहित्य का घनिष्ठ प्रभाव था। दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण गिनाते हुए लिखा कि अच्छे प्रबन्ध काव्य में पुत्र-जन्म, विवाह, उद्यान-क्रीडा, सलिल-क्रीडा, दिग्विजय, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन रहने चाहिएँ। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में ये लक्षण अति स्पष्ट हैं। संस्कृत,प्राकृत, अपभ्रंश की परिपाटी के अनुसार काव्य के आरम्भ में सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा का वर्णन रहना चाहिए, कालिदास और बाण ने भी इस पद्धति का कलात्मक ढंग से निर्वाह किया। 'भविसयत्तकहा' नामक अपभ्रंश-काव्य के आरम्भ में सज्जन-दुर्जन-लक्षणों का विस्तृत वर्णन आया है। 'रामचरित मानस' में उसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार किसी उद्यान में सरोवर के तट पर स्थित मन्दिर में देव-पूजन के लिए आई हुई नायिका और नायक का सम्मिलन प्राचीन अभिप्राय था। 'कादम्बरी' में महाश्वेता-वृत्तान्त में वह मिलता है। उसी का निर्वाह तुलसी और जायसी ने किया है। तुलसीदास जी ने चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए सिंह का उपमान दिया है जो 'रामायण' का अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्यिक स्थल है :

पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

इसकी तुलना बाण के निम्न लिखित वर्णन से करने पर कितना सादृश्य मिलता है :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शशिकेसरिविदार्यमाण तमः करिकुम्भसम्भवेन मुक्ताफलक्षोदेनेव धवलतामुपनीयमानमुदयगिरि सिद्धसुन्दरी कुचच्युतेन चन्दनचूर्णराशिनेव पांडुरी क्रियमाणम्। (कादम्बरी)

अथवा

जहाँ बिलोकि मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रयनी॥

की सुन्दर उत्प्रेक्षा संस्कृत-साहित्य में चिर परिचित है।

बाण ने लिखा है : अपांग विक्षेपैश्चलित कुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीम्।

संस्कृत और हिन्दी में इस प्रकार सादृश्य सम्बन्धों की इयत्ता नहीं है। संस्कृत की शब्द-सम्पत्ति और कल्पना-समृद्धि हिन्दी की निसर्ग-प्राप्त निधि रही है। संस्कृत के पुष्कल रूप-संभार का उत्तराधिकार प्राप्त करके हिन्दी उससे भी आगे बढ़ी और उसने भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शैली का अपना रूप-लावण्य प्राप्त किया। वही हिन्दी का निजी तेज है।

भविष्य के लिए तो हिन्दी का उत्तरदायित्व और भी महान् है। संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व जानकारी पिछले सौ वर्षों में हमारे राष्ट्र को प्राप्त हुई है। उस समस्त निधि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करना होगा। भारतीय संस्कृति, इतिहास, कला और साहित्य के सम्बन्ध में अनुसंधान, प्रकाशन और ग्रन्थ-प्रणयन का समस्त उत्तरदायित्व हिन्दी भाषा को उठाना होगा। यह हिन्दी की पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल है। दूसरे संस्कृत-साहित्य में जितना भी ज्ञान-विज्ञान, सांस्कृतिक जीवन की सामग्री और साहित्यिक रस है उसे हिन्दी के माध्यम से प्रकट करना होगा। तभी हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न रहेगी। 'ऋग्वेद' से लेकर पतंजलि के 'महाभाष्य' तक, एवं 'महाभारत' से लेकर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तक समस्त संस्कृत-वाङ्मय का अवतार हिन्दी को होना चाहिए। इसी प्रकार बौद्ध संस्कृत-साहित्य, प्राकृत और अपभ्रंश की उपलब्ध सामग्री हिन्दी में आनी उचित है। किसी युग में मध्य-एशिया से यवद्वीप तक संस्कृत का क्षेत्र था। संस्कृत न केवल भारत की राष्ट्रभाषा थी, बल्कि एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी थी। अब स्वदेश में यह स्थान हिन्दी को मिला है अतएव हिन्दी का कर्तव्य भी उतना ही विस्तृत है। सौभाग्य से संस्कृत-भाषा शब्द-रचना और भावों की दृष्टि से कामधेनु है। यही हिन्दी के अभ्युदय के मार्ग में बड़ा विश्वास है। संस्कृत के प्रति अपना मनोभाव हमें स्वच्छ कर लेना चाहिए। राष्ट्रीय संविधान ने इस निश्चय पर मुहर लगा दी है कि हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली संस्कृत से ली जायगी। विज्ञान-सम्बन्धी लाखों शब्दों का हमें निर्माण करना है। यूरोप ने ग्रीक और लैटिन से अपने शब्द बनाए हैं, किन्तु संस्कृत शब्द-रचना की क्षमता में इन दोनों भाषाओं से कहीं बढ़ी-चढ़ी है। उसकी दो सहस्र धातु, उपसर्ग और प्रत्यय अनन्ते सुन्दर शब्दों की रचना कर सकते हैं। संस्कृत का बल लेकर हिन्दी अपने भारी उत्तरदायित्व को सहर्ष वहन करती हुई वैदिक शब्दों में कह सकती है :

गुरुर्भारो लघुर्भव।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देवेन्द्र सत्यार्थी

हिन्दी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव

किसी भी देश का लोक-साहित्य जहाँ जनता की मूर्त चेतना और उसके गतिशील उत्साह, विश्वास तथा संघर्ष का परिचायक होता है, वहाँ वह जनता के आत्म-मुखर जीवन का प्रतीक और मनुष्य की साधारण बोल-चाल की भाषा के अनगढ़पन और सजीवता की विजय-यात्रा की दुँदुभि बजाता हुआ आगे बढ़ता है : इसके हर बोल में अनेक शताब्दियों की संचित अनुभव-राशि, एक-एक शब्द को टटोलती हुई, मनुष्य की बोली की पताका फहराती हुई, सामाजिक प्रयत्नों और उनसे सम्बद्ध मानव-चेतना की अभिव्यक्ति को सीधी-सादी और सरल भाव-धारा का रूप देती हुई जनता के भावी जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। लोक-साहित्य का खरापन बाह्य आडम्बर से बचकर चलता है; मिथ्या अलंकरण इसे एक आँख नहीं भाते। सहजता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लोक-साहित्य भावना-शून्य रूप से बजने वाले ग्रामोफोन की तरह नहीं होता; उसकी आवाज सीधी जनता के परम्परा-स्रोत से आती है; मानव की बोलती-गाती परम्पराओं की वाणी के रूप में लोक-साहित्य में यह क्षमता होती है कि वह जीवन को उसके समूचे सामंजस्य के साथ देखे और उस पर टिप्पणी करते समय एक ऐसा परामर्श दे जिससे मानव को शताब्दियों के संघर्ष में सफलता प्राप्त हो सके। इसीलिए लोक-साहित्य की स्थिति मात्र साइनबोर्ड की-सी भी नहीं होती : सामाजिक सम्बन्धों से सदैव प्रेरणा प्राप्त करने वाला साहित्य कभी साइनबोर्ड-सी निर्जीव वस्तु नहीं हो सकता। लोक-साहित्य मानव के निरन्तर जीवित रहने की चेतना का प्रतीक है : मानव यदि आत्म-समर्पण करना चाहता है तो जीवन के सत्य के सम्मुख; जिसे वह बार-बार खोजता है, बार-बार परखता है, केवल घिसे-पिटे सिक्के के रूप में नहीं, बल्कि गतिमान मार्ग-दर्शन के रूप में सत्य के प्रति मानव की पहचान ठीक कोण ढूँढने में संलग्न रहती है। परिश्रम के साथ लोक-साहित्य का शताब्दियों का सम्बन्ध है, क्योंकि देश-देश में शत-शत, सहस्र-सहस्र गान विभिन्न धन्धों की गलियों में पनपते हैं और जीवित रहते हैं; माँझी हो चाहे किसान; चरखा कातने वाली स्त्री हो चाहे पनिहारी; मछुआ हो चाहे जुलाहा; चरवाहा हो चाहे धोबी—सभी अपने गान द्वारा परिश्रम के बोझ को हल्का करने की चेष्टा करते नजर आयँगे। ये गान अखबार की सुर्खियों की तरह उभरते हैं, क्योंकि पुराने बोल समय की नब्ज पहचानने का दायित्व निभाते हैं और इस चेष्टा में कुछ-न-कुछ नूतनता भी अवश्य आ जाती है; नये बोल भी पुरानी लय में खुद-ब-खुद ढलते चले जाते हैं। जीवन के देखे-समझे संघर्ष के स्वर निरन्तर लोक-साहित्य को वाणी देते आए हैं; कभी ये स्वर एक व्यंग्य में प्रकट होते हैं, कभी एक अट्टहास में, कभी कोमलता में, कभी एक विवेकशील परामर्श के रूप, में जो भीड़ के भारी-भरकम शोर और चीत्कार से ऊपर उठकर पहले से अधिक सुन्दर और सुखद जीवन की स्थापना में मानव के विश्वास और परिश्रम की सार्थकता सिद्ध करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोक-साहित्य के अन्तर्गत मौखिक परम्परा का प्रत्येक रूप आ जाता है। लोक-कथाएँ और लोक-गीत, लोकोक्तियाँ और बुझौवल, टोने-टोटके और मन्त्रोच्चार और लोकवार्ता से सम्बद्ध अनेक रूढ़िगत संस्कृति-सूत्र और लोकाचार—सभी मिलकर एक बहुत बड़ा मंच प्रस्तुत करते हैं। लोक-साहित्य के अनेक पात्र भी अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये पात्र कल्पित भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी; जीवन के शान्त प्रवाह में ऐसे अवसर भी आते हैं जब कुछ लहरें ऊँची उठकर विशेष पात्रों को जन्म देती हैं। ये लहरें कभी सौन्दर्य-चेतना की प्रतीक होती हैं तो कभी वर्ग-चेतना की परिचायक। अलौकिक शक्तियों के प्रतीक देवी-देवताओं का रूप धारण करके जनता के सम्मुख आते हैं। विभिन्न पात्रों की गाथा सांस्कृतिक जय-पराजय की गाथा के रूप में महत्त्व प्राप्त करती है। समय-समय पर विभिन्न संस्कृतियाँ परस्पर टकराकर आदान-प्रदान करने पर मजबूर होती हैं; लोक-साहित्य के पात्रों पर भी विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष से उत्पन्न हुई मिश्रित और संकर संस्कृति की छाप पड़ती है। जीवन-स्रोतस्विनी का कल-कल निनाद इस संकर संस्कृति को भी मानवता के मूल स्वरों द्वारा सजीवता और उर्वरता प्रदान करता है जिसके लिए मानव की सृजन-चेतना सदैव प्रयत्नशील रही है। विभिन्न जन-समूह और वर्ग लोक-साहित्य को जन्म देते हैं और फिर इसकी प्राणदा शक्ति से स्वयं गौरवान्वित होते हैं।

शुद्ध नागरिक साहित्य, लोक-साहित्य से हटकर, अपने लिए पृथक् मार्ग ढूँढता है : देश-देश के साहित्य के जन्म और विकास की गाथा नागरिक-संस्कृति के पद-चिह्नों पर अग्रसर होती है। लोक-साहित्य की भाव-भूमि शुद्ध नागरिक साहित्य को प्रभावित करती है : जनता मूक रहकर नागरिक साहित्य की ओर देखती है, किस प्रकार उसकी सर्वग्राहिणी सामूहिक प्रतिभा शुद्ध नागरिक साहित्यकारों की कृतियों को उनकी शिक्षा और मर्यादा-सिद्ध सांस्कृतिक तथा सामाजिक चेतना के रहते हुए भी अपने प्रभाव की परिधि में खींच लेती है, किस प्रकार जनता इन कवियों और अन्य लेखकों के विचारों पर ही नहीं उनकी कृतियों की शैली पर भी अपनी छाप लगाती है—यह एक लम्बी प्रक्रिया है। रवीन्द्रनाथ के कथनानुसार " 'शकुन्तला' और 'कुमार सम्भव' में कालिदास की लेखनी का कौशल दृष्टिगोचर होता है; पर 'रामायण' और 'महाभारत' हिमालय और गंगा के समान ही, भारत के प्रतीत होते हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य-मात्र हैं। इनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि नहीं।"[1] रामायण और महाभारत के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर फिर कहते हैं : "शताब्दियों-पर-शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत में नाम को भी शुष्क नहीं होता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर, उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दुकानों पर और क्या राज द्वारों पर सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महाप्रान्तर में लुप्त हो गए हैं, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रतिदिन बहाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाए हुए है।"[2]

यह 'शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी' लोक-साहित्य की प्रेरणा से मुक्त नहीं होती : जनता

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'प्राचीन साहित्य', पृष्ठ २।
२. वही, पृष्ठ ३।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की साधना इस मिट्टी के एक-एक कण में विद्यमान रहती है, क्योंकि जनता ही देश और काल को वाणी का वरदान देती आई है। शुद्ध नागरिक-साहित्य के निर्माता भाषा की जिस टकसाल से शब्द लेते हैं उसके साथ जनता का सीधा सम्पर्क कम होता जाता है, फिर भी उनकी भाषा से जनता की छाप एकदम मिटती नहीं : लोक-साहित्य के हृदय-कमल की नितान्त उपेक्षा भी तो सहज नहीं होती, क्योंकि जनता की गौरव-गाथा, जिसकी अभिव्यक्ति लोक-साहित्य में पग-पग पर सुनने को मिलती है, शुद्ध नागरिक-साहित्य-निर्माताओं को भी बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्रदान करती है।

हिन्दी-साहित्य पर लोक-साहित्य के प्रभाव का सिंहावलोकन करने से पूर्व हमें हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल[1] की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अनसन्धान करना होगा। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रमण-काल था : लोक-व्यवहार की भाषा, प्राकृत अथवा अपभ्रंश, अपने प्रभाव-क्षेत्र से पद-च्युत हो रही थी और 'देश-भाषा' उसका स्थान ग्रहण कर रही थी। बंगला लिपि में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित 'बौद्ध गान ओ दोहा' में सर्वप्रथम इस युग की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि वज्रयान शाखा के सिद्ध जहाँ संस्कृत में साहित्य-रचना पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे, वहाँ वे अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा में भी कविता के माध्यम द्वारा अपने विचार प्रदर्शित करते थे। दोहा छन्द उस समय तक केवल लोक-साहित्य की वस्तु रहा होगा : वज्रयान सिद्ध कवियों ने सर्वप्रथम उसे अपनाया और इसे हिन्दी-साहित्य पर लोक-साहित्य का सर्वप्रथम प्रभाव माना जा सकता है। इन कवियों की रचनाओं में दोहों के अतिरिक्त गान की रचना पर लोक-गीत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। सिद्ध कण्हपा (सम्वत् ९०० के उपरान्त) आह्वान-गान में डोमिनी को यों सम्बोधित करते हैं :

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाह्म नाड़िया।
आलो डोंबि! तोए सम करिए म सांग।
निधिन कण्ह कपाली जोइ लाग॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी।
तहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी॥

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार संवत् १०५० से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ हुआ; डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल संवत् ९०० से और डॉ० रामकुमार वर्मा संवत् ७०० से ही हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ मानते हैं। बाणभट्ट के 'हर्ष चरित', में अन्यान्य भाषाओं के कवियों के साथ 'भाषा-कवि' का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि संस्कृत; प्राकृत और अपभ्रंश से भिन्न उस समय जनता की देश-भाषा विद्यमान थी जिसे कुछ कवि अपना माध्यम स्वीकार कर चुके थे। डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय संवत् ६९० स्वीकार किया है। वज्रयानी सिद्ध सरहपा की भाषा का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसकी रूप-रेखा आज की हिन्दी का ही आदिकालीन रूप है। सरहपा की रचना का एक उदाहरण लीजिए :

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तहिं वट चित्त विसाम करू, सरेहे कहिअ उवेस॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे ।
अहसरि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

वज्रयानियों की विचार-धारा में एक प्रकार के 'महासुखवाद' का प्रतिपादन मिलता है। उपनिषद् में ब्रह्मानन्द की तुलना सहवास-सुख से सौगुने सुख से की गई थी, पर वज्रयानी इससे कहीं आगे बढ़कर निर्वाण-सुख की कल्पना सहवास-सुख में करने लगे।[1] इसी भावना को लेकर देवताओं और शक्तियों के 'युग्मद्वय' रूप की कल्पना की गई और इस विचार-धारा से प्रभावित मूर्तिकारों ने सहवास की अनेक मुद्राओं में अनेक नग्न मूर्तियों की सृष्टि कर डाली। वज्रयानी सिद्ध कवि अपनी रचनाओं की भाषा को 'सन्ध्या भाषा' घोषित करते थे।[2] कण्हपा का आह्वान-गान इसी पृष्ठभूमि पर उभरता है। एक स्थल पर यह प्रतिपादित करते हुए कि साधक शून्य में लीन होकर 'महासुह' (महासुख) प्राप्त करता है, पानी में नमक के विलीन होने की तुलना देते हैं : 'जिमि लोण विलिज्जइ पाणिरहि तिमि धरणी लइ चित्त।' वज्रयानियों की 'सन्ध्या भाषा' पर जादू-टोने-तन्त्र का यथेष्ट प्रभाव था और यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि इस भाषा में 'भइले' और 'बूड़िली' आदि पूरबी शब्द भी मिले हुए थे जो इन कवियों के मगध में रहने और जनता के निकट सम्पर्क के प्रतीक थे।

वज्रयानी सिद्ध कवियों की भाषा में लोक-कवियों का-सा प्रवाह है, चाहे यह सरहपा की बानी हो, जो दक्षिण मार्ग छोड़कर वाम मार्ग ग्रहण करने का आदेश देते हैं, चाहे यह ताँतिया की बानी हो, जो लोक-साहित्य के अन्तर्गत पनपने वाली बुझौवल या पहेली की शैली का कला-पूर्ण सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं :

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥
—सरहपा : संवत् ६९०

बेंग संसार बाड़हिल जाअ। दुहिल दूध के बेंटे समाअ।
बलद विआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी।
निते-निते षिआला षिआला घिहे षम जूझअ।
ढेंढ पाएर गीत बिरले बूझअ॥
—ताँतिया

वज्रयानी सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन (संवत्

---

१. "रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे-नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्य-पान के साथ अनेक वीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १४।

२. वही पृष्ठ १५।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

७०२) ने सिद्ध-परम्परा का परित्याग करते हुए नाथ-सम्प्रदाय का आरम्भ किया। 'गोरक्षा-सिद्धान्त-संग्रह' के अनुसार नाथ-सम्प्रदाय के नौ मार्ग-प्रवर्त्तक हुए : नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ,[1] चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन। इस नामावलि में नागार्जुन के अतिरिक्त गोरखनाथ, चर्पट और जलंधर भी चौरासी वज्रयानी सिद्धों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

लोक साहित्य पर नाथ-सम्प्रदाय के कनफटे जोगियों[2] का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आज भी गाँव-गाँव घूमकर सारंगी पर गीत गाने वाले जोगी राजा गोपीचन्द के गीत गाते मिलेंगे, जिनकी माता मैनावती को गोरखनाथ की शिष्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उत्तर-प्रदेश में गोपीचन्द के गीत बहुत लोकप्रिय हैं (बंगाल में भी, जहाँ गोपीचन्द चाटिगाँव के राजा थे, गोपीचन्द और मैनावती के लोकगीत प्रचलित हैं)।[3] जोगियों के चमत्कार इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक लोक-कथाओं में एक विशिष्ट पात्र के रूप में जोगी का चरित्र अभिनन्दनीय समझा गया।

पश्चिमी राजस्थानी अपभ्रंश में जैन-आचार्यों की कृतियों में दोहा छन्द की प्रतिष्ठा फिर से हमारा ध्यान आकर्षित करती है। हेमचन्द्र ने (संवत् ११५०–१२३०) अपने बृहत् व्याकरण 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया है; उन्होंने अनेक दोहे प्रस्तुत करते हुए अपभ्रंश की श्री-वृद्धि का प्रमाण दिया है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत दोहों में से तीन उदाहरण लीजिए :

१. वायसु उड्डावंतिअएँ पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥ ८।४।३४२।

२. जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मुज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहँतणा तो ते मारिअडेण॥ ८।४।३७८।

३. पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥ ८।४।३९५।

ये तीनों दोहे राजस्थान में आज भी प्रचलित हैं; भाषा बदल गई, भाव-भूमि वही रही :

१. काक उडावण धण खड़ी आयो पीव भड़क्क।

---

१. 'महमूद गज़नवी के भी कुछ पहले सिन्ध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखीं, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दि में हुए हों चाहे १३वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है···उन्होंने अपने पन्थ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १६

२. कान की लौ में बड़े-बड़े छेद करके दोनों ओर स्फटिक के कुण्डल पहनने की प्रथा नाथ-सम्प्रदाय के जोगियों की विशेषता रही है।

३. पंजाबी साहित्य में वारिसशाह की सुविख्यात काव्य-कृति 'हीर' में हीर के विवाह के पश्चात् हीर का प्रेमी राँझा गोरखनाथ से जोग लेकर एक जोगी के वेश में हीर की ससुराल में पहुँचता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आधो चूड़ी काग गल आधी गई तड़क्क ॥
२. जो भग्गा पारक्कड़ा तो सखि मुज्झ पियेण ।
जो भग्गा अम्हे तणा तो तिह जुज्झ पड़ेण ॥
३. बेटां जायां कवण गुण अवगुण कवणु धियेण ।
जां ऊभां वर आपणी गंजीजै अवरेण ॥

किस प्रकार समय के साथ-साथ लोक-साहित्य की भाषा बदलती रहती है, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अन्य अनेक दोहों के वर्तमान राजस्थानी रूप से इसका यथेष्ट परिचय मिलता है।

चन्दवरदाई (संवत् १२२५–१२४६) के 'पृथ्वीराज रासो'[1] के आरम्भ में अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति की गाथा पर लोक-वार्ता की छाप दृष्टिगोचर होती है; कवित्त (छप्पय), दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या इस महाकाव्य के मुख्य छन्द हैं। जगनिक (संवत् १२३०) के गीत-काव्य 'आल्हा खण्ड'[2] की कोई मूल प्रति किसी पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं मिलती; संवत् १९३७ में फर्रुखाबाद के कलेक्टर चार्लस इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से इसे लिपिबद्ध कराकर प्रकाशित किया। बैसवाड़ा में आल्हा-गायकों का मेघ-गर्जन बहुत ही लोकप्रिय है; महोबे के समीप बुन्देलखण्ड में भी इसका कुछ कम प्रचलन नहीं, जब वर्षा ऋतु के मेघ-गर्जन में आल्हा-गायक ढोल की थाप पर गा उठते हैं :

बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार ॥[3]

अमीर खुसरो (संवत् १३१०–१३८१) की रचनाएँ शत-प्रतिशत लोक-साहित्य से प्रभावित हैं। हिन्दी के इतिहास में पहली बार एक कवि हमारे सम्मुख आता है जिसमें बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना का साहस नज़र आता है। यह लोक-साहित्य की विजय थी। साहित्यिक रूढ़ियाँ अपनाने की बजाय खुसरो ने वैसी ही पहेलियाँ और दोहे लिखने की कोशिश की जिन्हें जनता का कंठ स्वीकार कर सकता था। 'कह मुकरनी' और 'दो सखुने' की शैली खुसरो के मस्तिष्क की उपज थी, पर जिस जन-सम्पर्क की छाप यहाँ नज़र आती है वह लोक-साहित्य के सीधे प्रभाव का परिणाम है। 'अम्मा, मेरे बाबा को भेजोजी कि सावन आया !'—यह खुसरो के

---

१. "पृथ्वीराज रासो' ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है···जैसे 'कादम्बरी' के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही 'रासो' के पिछले भाग का भी चन्द के पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किया जाना कहा जाता है।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४७–४८।

२. "यह गाने के लिए ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज-मात्र है, मूल शब्द नहीं।" वही, पृष्ठ ६३।

३. कालिंजर के राजा परमाल के भाट जगनिक ने महोबा के सुप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के सम्बन्ध में जो गीत-काव्य लिखा, उसकी भाषा इससे कितनी भिन्न रही होगी, यह कहना सहज नहीं। इस गीत-काव्य का मूल रूप देश-काल के अनुसार बदलता चला गया, यहाँ तक कि बन्दूक और किरिच-जैसे नये अस्त्रों और फिरंगी-जैसी जातियों के नाम भी सम्मिलित होते चले गए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक गीत की प्रथम पंक्ति है : इसे हू-ब-हू लोक-गीत भी कह सकते हैं, क्योंकि दिल्ली के समीपवर्ती ग्रामों में सावन के बहुत से गीत यही शैली लिये हुए हैं। 'गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देश।'—यह खुसरो का एक दोहा है, जिसकी शैली ग्रामीण जनता में प्रचलित लोक-साहित्य के अन्तर्गत आने वाले दोहों से किसी भी तरह भिन्न नहीं है।

विद्यापति (संवत् १४२५–१५३२) ने घोषणा की :—देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जयओं अवहट्ठा' (देश-भाषा सभी को मीठी लगती है, इसलिए वैसा ही अपभ्रंश मैं कहता हूँ)। विद्यापति की पदावली के गीत जयदेव से प्रभावित माने जाते हैं, पर इस शृङ्गार-काव्य पर सर्वग्राहिणी लोक-प्रतिभा की इतनी गहरी छाप है कि वे मैथिल लोक-गीतों के सदृश ही लोकप्रिय हैं, बल्कि इनका प्रसार बंगाल का सीमान्त पार कर गया है।

कबीर (संवत् १४५५–१५५१) की बहुश्रुत प्रतिभा जहाँ दर्शनों, उपनिषदों और शास्त्रों का सार संचित करने में सफल हुई, वहाँ उन्होंने लोक-साहित्य के अनुरूप एक प्रकार की सधुक्कड़ी भाषा में अनेक दोहों की रचना की; उनके पद ब्रज-भाषा और पूरबी में हैं। निर्गुण धारा की इस ज्ञानाश्रयी शाखा के साथ-साथ प्रेममार्गी (सूफी) शाखा का प्रादुर्भाव हुआ और मलिक मुहम्मद जायसी (संवत् १५५०–१६००) का 'पद्मावत' दोहों और चौपाइयों की शैली में अवधी भाषा में लिखा गया। 'पद्मावत' की वर्णन-शैली अनेक स्थलों पर लोक-साहित्य के समीप हैं, 'सारस पंखि नहिं जिये निरारे, हौं तुम बिन का जियों पियारे' या 'छोरे केश मोति लट लूटी, जानो रयनि नखत सब छूटी।' फिर गोस्वामी तुलसीदास ने (संवत् १५५४–१६८०) जायसी द्वारा संस्थापित दोहों और चौपाइयों के माध्यम को आगे बढ़ाते हुए 'रामचरित मानस' की रचना की। 'स्याम सुरभि पय बिसद अति करहिं गुणीजन पान, गिरा ग्राम सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान'[1]—कहकर उन्होंने यह दर्शाने का यत्न किया कि जैसे श्याम सुरभि का दूध व्यापक रूप से गुणी जनों द्वारा पिया जाता है वैसे ही ग्रामीण भाषा में लिखी गई यशोगाथा सुजान मनुष्यों द्वारा गाई और सुनी जाती है। एक और स्थल पर देश-भाषा के माध्यम को हीन भाव से बचाते हुए तुलसीदास को कहना पड़ा :—'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँचु, काम जु आवे कामरी का लै करै कुमाँचु'। 'रामचरितमानस' में राम-भक्ति को लोक-प्रवृत्तियों के अनुरूप ढाला गया। 'रामललानहछू' की रचना सोहर छन्द में प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने पुत्र-जन्मोत्सव पर गाँव-गाँव गाये जाने वाले सोहर-गीतों के लय-ताल का अभिनन्दन किया; नहछू (संस्कृत नखच्छुर, नाखून काटना) विवाह-समय की एक रीति है जिसके अनुसार यह विधान है कि माता वर को गोद में लेकर उसके नाखून कटवाये। भक्ति-काल के काव्य में सूर (संवत् १५४०–१६२०) ने कृष्ण-चरित्र को अपनाया। मीराबाई (संवत् १५७३–१६०३) ने भी अपने गीतों में इसी पद्य का अनुसरण किया। सूर और मीरा के कृष्ण 'महाभारत' और 'भागवत' के कृष्ण से कहीं अधिक सर्वग्राहिणी लोक-संस्कृति के अनुरूप हैं : मीरा के गीत लोक-गीतों के समान ही गाँव-गाँव घूमने वाले गायकों द्वारा गाये जाते हैं, अनेक स्थलों पर भाषा को भी गायकों ने अपने अनुसार ढाल लिया है।

उत्तर मध्यकाल (संवत् १७००–१९००) के कवि रीति-ग्रन्थों के निर्माण में लोक-पक्ष से दूर हटते गए। बिहारी, देव और मतिराम आदि शृङ्गारिक कवियों ने जहाँ नायिका का नख-शिख

१. 'तुलसी ग्रन्थावली, भाग १, दोहावली, पृष्ठ १०० (नागरी प्रचारिणी संस्करण)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सँवारा वहाँ व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर इतना जोर दिया कि उनकी दृष्टि में 'गँवई गाहक'[1] एकदम बुद्धू बनकर रह गए। इसी काल में वीर रस के कवि भूषण भी लोक साहित्य से तनिक भी प्रेरणा न ले पाए। इस युग का दरबारी कवि जनता से इतना दूर जा पड़ा था कि उसके लिए यह सोचना भी कठिन हो गया कि साहित्य का आदि-स्रोत तो जनता का निरन्तर संघर्षमय जीवन है। रीति-काल के कुछ कवि फिर से भक्ति-काव्य की ओर आकृष्ट हुए, पर इनमें से किसी के यहाँ लोक-पक्ष की प्रेरणा नजर नहीं आती।

आधुनिक काल में लोक-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करने की जो चेष्टा बंगला-साहित्य में दृष्टिगोचर होती है उसका हिन्दी में अभाव बहुत खटकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने अनेक गान बंगला के लोक-गीतों के आधार पर प्रस्तुत किये, बंगला के बाउल और भाटियाल गान उनके नूतन गीतों के लिए एक नया द्वार खोलने में समर्थ हुए। गान की भाषा का एक नया ढाँचा खड़ा करने में उन्हें वह सफलता कभी न मिली होती यदि लोक-संगीत के स्वर उनकी हृदय-वीणा को झंकृत न कर पाते।

हिन्दी का कोई कवि यह दावा नहीं कर सकता कि लोक-संगीत से प्रेरणा प्राप्त करने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है: पन्त की 'ग्राम्या'में कहीं-कहीं लोक-नृत्यों का दृश्य उभरता है; ग्राम-देवता की भर्त्सना और ससुराल जाती ग्रामवधू के आँसू कवि का ध्यान खींचते हैं, पर गाँव का चेहरा शुद्ध नागरिक भाषा के नीचे ढका रहता है। निराला कुछ स्थलों पर गाँव के हृदय को छूने के साथ-साथ लोक-संगीत का अंचल थामते प्रतीत होते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'मँहगू मँहगा रहा' और 'कुत्ता भौंकता रहा' में जीवन का जो व्यंग्य नजर आता है, जनता की विवशता और एकदम जाग-कर खड़े हो जाने की प्रवृत्ति निराला को एक जन-कवि के रूप में हमारे सामने लाती है।

कथा-साहित्य में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सुविख्यात कहानी 'उसने कहा था' में सर्व-प्रथम लोक-गीतों को महत्त्वपूर्ण सामग्री के रूप में उपयोग में लाने की क्षमता नजर आती है; एक लोक-भाषा के ठेठ शब्द किस प्रकार कहानी का वातावरण तैयार करने में जुटाये जा सकते हैं, इसका रहस्य गुलेरी जी की लेखनी खूब समझ पाई थी। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में उतना शहर को नहीं लिया जितना गाँव को: हम देखते हैं कि शहर और गाँव की छूट बहुत-कुछ मिट गई है। वस्तुतः इस युग का शहरी गाँव की महत्ता को समझ रहा है; और गाँव भी जैसे फिर से जाग रहा हो और जीवन की नई उपयोगी वस्तुओं को पाने के लिए उत्सुक हो उठा हो। वृन्दावनलाल वर्मा को भी अपने निकटवर्ती लोक-जीवन से प्रेरणा मिली, यद्यपि इसे लोक-साहित्य की छाप तो नहीं कह सकते।

आधुनिक युग की एक विशेषता है लोक-साहित्य का संग्रह और अध्ययन।[2] यह आशा

---

१. 'कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहै गहि मौन। गन्धी गन्ध गुलाब को गँवई गाहक कौन॥' (बिहारी)

२. रामनरेश त्रिपाठी ने इस दिशा में 'कविता कौमुदी' (पाँचवाँ भाग : ग्राम-गीत) के द्वारा पथ-प्रदर्शन किया; सूर्यकरण पारीक, रामइकबाल सिंह 'राकेश', श्यामाचरण दुबे, डॉ० सत्येन्द्र, श्याम परमार और रामनारायण उपाध्याय आदि महानुभावों ने लोक-गीतों के संग्रह और अध्ययन में बहुत कार्य किया है। लोक-कथाओं के संग्रह में शिवसहाय चतुर्वेदी और डॉ० सत्येन्द्र का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की जा सकती है कि इसका प्रभाव हमारे नये लेखकों और कवियों पर अवश्य पड़ेगा। रामनरेश त्रिपाठी ने अनेक लोक-गीत गाँव की झोली से बटोरकर साहित्य के प्रांगण में प्रस्तुत किये, पर उस समय तक उनकी काव्य-रचना का समय कदाचित् चुक गया था, नहीं तो यह आशा की जा सकती थी कि वे लोक-काव्य से प्रेरणा प्राप्त करके नूतन काव्य की सृष्टि करते; रामइकबालसिंह 'राकेश' भी कवि के अतिरिक्त लोक-गीत-संग्रहकर्ता हैं, पर उनकी कविता पर लोक-काव्य की छाप कहीं नज़र नहीं आती। कवि को जहाँ भी नये स्वर नज़र आयँ उन्हें साहित्य के प्रांगण में लाना उसका दायित्व होना चाहिए। साहित्य में लोक-कंठ और खेत की मिट्टी को उचित स्थान मिलना चाहिए। ज्यों-ज्यों साहित्य में मानव-जय का शंखनाद होगा, लोक-साहित्य की मानवतावादी आवाज का अधिक-से अधिक स्वागत होगा। इस दृष्टि से ठाकुरप्रसादसिंह का प्रयत्न स्तुत्य है : सन्थाल लोक-गीतों को उनके स्वर और लय के साथ हिन्दी रूपान्तर में प्रस्तुत करने की चेष्टा एक स्वस्थ प्रवृत्ति की सूचक है। उनका सन्थाल-गीत लीजिए :

पाँच जोड़ बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बन्सरी
पाँच जोड़ बंसरी
वंशी स्वर घुमड़-घुमड़ रो रहा
जी है उठ चलने को हो रहा
धीरज की गाँठ खुली लो, लेकिन
आधे आँचल पर पिय सो रहा
मन पागल तोड़ रहा पंसरी
पाँच जोड़ बंसरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पाँच जोड़ बंसरी !

आधुनिक हिन्दी-कवियों में रामविलास शर्मा 'तार सप्तक' में उद्धृत कविताओं द्वारा कहीं-कहीं लोक-जीवन से निकटतम सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए हैं। केदारनाथ अग्रवाल 'युग की गंगा' में 'हवा हूँ हवा मैं वसन्ती हवा हूँ' कहते हुए आगे बढ़ते हैं : 'उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची, वहाँ गेहुओं में लहर खूब मारी'—यों वसन्ती हवा अपनी गाथा सुनाती है, जैसे यह उसी वसन्ती रात की हवा हो जब सन्थाल लोक-गीत वसन्त-गान बन उठता है। त्रिलोचन की 'धरती' की घोषणा भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं : 'तारकों की ज्योति चलकर भूमितल पर, आ रही है आ रही है आ रही है !' 'धरती' के पश्चात् त्रिलोचन के कुछ सानेट भी लोक-जीवन में साँस लेते हैं। नागार्जुन की 'धरती' शीर्षक कविता में जैसे स्वयं धरती अपने मुँह से बोलकर अपनी गाथा सुनाती है। गिरिजाकुमार माथुर और भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताओं में भी लोक-गीत की-सी माटी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध मिलती है। यह देखकर हर्ष होता है कि जन-बोलियों में साहित्य-निर्माण की प्रेरणा भी हमारे कुछ कवियों को छू गई है : इस दिशा में बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', वंशीधर शुक्ल, चन्द्रभूषण त्रिवेदी और मेघराज 'मुकुल' की कुछ रचनाएँ विशेष रूप से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उल्लेखनीय हैं।

नये कवियों में धर्मवीर भारती, शमशेरबहादुर सिंह और नरेशकुमार मेहता के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। उनके प्रयोग कहीं-कहीं लोक-पक्ष को लेकर चलते हैं और यों लगता है कि लोक-जीवन को एक नया कंठ मिल गया है।

कथा-साहित्य और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के बाद लोक-पक्ष का उतना हाथ नजर नहीं आता : इसका सबसे बड़ा कारण है नागरिक जीवन की भूल-भुलैयाँ में साहित्यकार का खो जाना। आधुनिक बंगला-साहित्य में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय गाँव का अंचल थामकर ही पग उठाते नजर आते हैं; पर हमारे अधिकांश कहानी-लेखक और उपन्यासकार जैसे गाँव का रास्ता ही भूल गए हों।

लोक-पक्ष और लोक-साहित्य की शक्तियों से ज्यों-ज्यों हमारे कवि और लेखक परिचित होते जायँगे उनके साहित्यिक प्रयत्नों को लोक-परम्पराओं और जनता की आगे बढ़ती हुई शक्तियों से सदैव एक नई प्रेरणा मिलेगी, इसमें तो सन्देह की रत्ती-भर गुञ्जाइश नहीं। लोक-साहित्य में सदैव मानव के संघर्ष का प्रतिनिधित्व उभरा है : मानव की परख, क्षणिक को छोड़कर स्थायी को पकड़ में लेने का उसका निरन्तर प्रयत्न, सामाजिक शक्तियों का साथ देने की उसकी प्रवृत्ति, इतिहास के पहियों को तेज-तेज घुमाने की उसकी परम्परा—यह सब लोक-साहित्य की चिरन्तन थाती है। इसके प्रति आधुनिक साहित्यकार का क्या दायित्व है, इस प्रेरणा-स्रोत से वह क्या ले सकता है और इसे लेकर किस नूतन रूप में अपने वक्तव्य और कृतित्व का माध्यम बना सकता है, इसकी कुछ चिन्ता तो साहित्यकार को होनी ही चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रामअवध द्विवेदी

यूरोपीय साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

कई विचारकों का मत है, कि भक्तिकालीन हिन्दी-कविता का उद्‌गम जातीय अधःपतन तथा हताश जनता की नैराश्य भावना में था। यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि आस्था और तन्मयता से ओत-प्रोत कबीर से लेकर सूरदास तक का भक्ति-काव्य हार तथा विदेशी शासकों के दुर्व्यवहार के कारण की उत्पन्न हुआ था। ईश्वर के प्रति जो सहज प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्ता के प्रति जो स्वाभाविक खिंचाव उसमें विद्यमान है उसके मूल्यांकन के लिए हमें दूसरे ही तथ्यों की खोज करनी पड़ेगी। वेदों के काल से लेकर वैष्णव भक्तों के युग तक आध्यात्मिकता का जो अविरल स्रोत भारतीय जीवन और साहित्य में निरन्तर बहता हुआ मिलता है उसे हम कैसे भुला सकते हैं।

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति केवल निराशा-जनित नहीं है, क्योंकि उसमें गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव और असाधारण तन्मयता का अनुपम मेल मिलता है। भक्ति और काव्य दोनों की दृष्टि से इन सन्तों का युग अत्यन्त समृद्धि का काल था और इसीलिए भक्ति-काल को हम अपने साहित्य के इतिहास में गौरव का काल मानते हैं। भक्ति-काल का यह महत्त्व प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, और इस सम्बन्ध में मतभेद की गुञ्जाइश भी बहुत कम है। १७वीं शताब्दी ई० के लगभग भक्ति-काल का साहित्यिक वैभव प्रायः लुप्त हो चुका था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी-काव्य ने एक नया ढंग पकड़ा। भक्ति के स्थान पर शृङ्गार का आधिपत्य स्थापित हुआ, और काव्य अपनी स्वाभाविकता खोकर रूढ़िग्रस्त हो गया। इस ढर्रे की कविता में कुछ इनी-गिनी बातें एक बँधे हुए ढंग से कही जाती थीं और मौलिकता का प्रायः पूर्ण अभाव ही था। कविता जनसाधारण के आनन्द और उन्नयन का साधन न रहकर दरबार की वस्तु बन गई। कवि का स्थान दरबारी गवैयों, नाचने वालों तथा चाटुकारों के समकक्ष हो गया। काव्य की परिधि संकुचित हो गई और उसका प्रभाव जीवन की गहराई तक पहुँचने में असमर्थ था। यह सोचकर क्षोभ होता है कि मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर-ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि अपने युग की परिस्थितियों के कारण यथोचित महानता न प्राप्त कर सके। १८वीं शताब्दी ई० और १९वीं शताब्दी के प्रायः पहले ७० वर्षों में पतन का यह क्रम अबाध गति से चलता रहा। हिन्दी-साहित्य की इसी चरम अधोगति के समय १९वीं शताब्दी में यूरोपीय साहित्यिक प्रभाव का आगमन सर्वप्रथम हुआ। यदि किसी अन्य काल में यह विदेशी प्रभाव इस देश में आया होता तो उसकी सफलता इतनी सरलता और शीघ्रता से न होती, क्योंकि उसे हमारे बद्धमूल संस्कारों से लोहा लेना पड़ता, किन्तु १९वीं शताब्दी में उसके लिए रास्ता साफ था।

पोर्चुगीज, डच, फ्रांसीसी तथा अँग्रेज सभी इस देश में व्यापार के सिलसिले से आये। आपस के संघर्ष में अँग्रेज विजयी हुए और उन्होंने धीरे-धीरे अपना राज्य इस देश में स्थापित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया। अतएव अँग्रेजों से ही भारतीयों ने मुख्यतया पाश्चात्य जीवन का नया आदर्श प्राप्त किया और भारतीय साहित्य पर बहुत दिनों तक बहुत कुछ अँग्रेजी साहित्य का ही प्रभाव पड़ता रहा। बंगला, मराठी और गुजराती से अँग्रेजी साहित्य का निकट सम्पर्क लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुआ और फलतः इन भाषाओं के साहित्यों में नवीन विशेषताएँ आने लगीं। हिन्दी और अँग्रेजी का सम्पर्क कुछ विलम्ब से प्रारम्भ हुआ और इसका वास्तविक स्वरूप प्रायः १८७० के बाद ही दिखाई पड़ा। तब भी पाश्चात्य प्रभाव कई बातों में इसके पहले से ही परिलक्षित हो रहा था। अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार सन् १८३४ ई० के बाद लगातार बढ़ता ही गया और अँग्रेजी की जानकारी के साथ-साथ अँग्रेजी-साहित्य से परिचय प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। ईसाई मिशन के पादरियों ने कलकत्ता, आगरा, मिर्जापुर, बनारस तथा अन्य स्थानों पर छापेखाने खोले, जिनमें उन्होंने बाइबिल के गद्यानुवाद के सस्ते संस्करण छापकर उन्हें जनता तक पहुँचाया। उन्होंने स्कूली किताबें भी छापीं और इस प्रकार नवीन शिक्षा के विस्तार में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई। हिन्दी-गद्य के उद्भव और विकास का बहुत-कुछ श्रेय अँग्रेज पादरियों को है। अँग्रेजी गद्य से परिचित थे, और इसलिए भारतीय भाषाओं में गद्य का अभाव उन्हें खटकता था। इस कमी की पूर्ति के लिए तथा राजकीय कार्य और धर्म-प्रचार के सुभीते के लिए भी उन्होंने अपने प्रयत्न से बंगाली, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी-गद्य के विकास में पूर्ण योग दिया। हिन्दी-गद्य के विकास का इतिहास लिखते समय हम खुसरो और रामप्रसाद निरंजनी का नाम गर्व से लिखते हैं, किन्तु यह मानने में संकोच न होना चाहिए कि अँग्रेजी गद्य के प्रभाव बिना हिन्दी-गद्य का जो विकास आज दिखाई पड़ता है वह संभव न था। प्रारम्भ से आज तक पग-पग पर हिन्दी-गद्य ने अँग्रेजी गद्य के आदर्श को स्वीकार किया है और जब कभी कुछ विद्वानों ने उस आदर्श से विमुख होकर प्राचीन संस्कृत-गद्य का उदाहरण अपने सामने रखा और उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, तब भाषा पंडिताऊ और दुरूह बनकर रह गई और उसकी सफाई नष्ट हो गई है।

प्रारम्भिक अवस्था में अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव किस प्रकार पड़ा इसका अनुमान हम बहुत-कुछ भारतेन्दु युग की कृतियों से कर सकते हैं। पहली मानसिक प्रतिक्रिया सम्मान तथा अनुसरण की थी। शेक्सपीयर, मिल्टन तथा १९ वीं शताब्दी के रोमाण्टिक कवियों और उपन्यासकारों के प्रति लोगों के मन में आदर का भाव था और उनकी कृतियों का अनुवाद अनेक यशस्वी लेखकों ने किया। भारतेन्दु ने 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद किया और बाबू श्रीनिवासदास ने 'रोमियो और जूलियट' का रूपान्तर 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के रूप में प्रस्तुत किया। बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लैम्ब' की कहानियों का और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलियट' 'एज यू लाइक इट' और 'मर्चेण्ट आफ़ वेनिस' के सुन्दर अनुवाद उपस्थित किए। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। अंग्रेजी परिपाटी के ग्रहण करके हिन्दी-लेखकों व कवियों ने गद्य और पद्य में निबन्ध लिखे। गद्य-निबन्धों की दृष्टि से भारतेन्दु युग काफी भरा-पूरा है। इन निबन्धों के नमूने की कोई चीज हमारे पुराने साहित्य में नहीं मिलती। पद्य में लिखे हुए निबन्धों से अभिप्राय है उन पद्यबद्ध कृतियों से जिनमें किसी एक विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु युग के कवियों ने पैराग्राफों में कविता लिखने की कला कदाचित्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिलंटन अथवा १८ वीं शताब्दी के अँग्रेजी कवियों से सीखी थी। रोमाण्टिक कवियों का प्रभाव तीन प्रकार से लक्षित होता है। रोमाण्टिक कविता में प्रेम का विशेष महत्त्व है, चाहे वह स्त्री-पुरुष का प्रेम हो अथवा प्रकृति-प्रेम या देश-प्रेम। भारतेन्दु प्रवीण प्रेमी थे और उनकी कविता में प्रेम का विशेष महत्त्व है। उन्होंने जिस प्रेम का वर्णन किया है, उसमें तीव्रता और विह्वलता है केवल मतिराम अथवा बिहारी की कविता में वर्णित नायक-नायिकाओं की लुका-छिपी नहीं। प्रकृति-प्रेम का एक नया नमूना ठा० जगमोहन सिंह की कविता में मिलता है। प्रकृति का कार्य केवल कामोद्दीपन नहीं रह गया वरन् उसकी रमणीयता अब स्वतः हृदय में आनन्द उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। प्रकृति का यह सीधा प्रभाव हमें अनायास अँग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों की याद दिलाता है। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु युग में सर्वप्रथम अँग्रेजी साहित्य की कतिपय विशेषताओं का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ा और अनुवादों द्वारा हिंदी-भाषी जनता का सम्पर्क अंग्रेजी-साहित्य से बढ़ने लगा। साथ ही अँग्रेजी से बढ़ने लगा। साथ ही अँग्रेजी-शिक्षा का प्रसार भी बढ़ रहा था और दिन-पर-दिन स्कूलों और कालेजों में नवयुवक अँग्रेजी-साहित्य के अधिकाधिक निकट आ रहे थे।

बीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में अर्थात् द्विवेदी युग में अँग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद का क्रम जारी रहा। बहुत से रास्ते अंग्रेजी-उपन्यास अनूदित हुए। पंडित श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली कविता में गोल्डस्मिथ लिखित 'द डिजर्टेड विलेज' तथा 'द ट्रैवलर' का अनुवाद किया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने Becon के निबन्धों के अनुवाद का कठिन कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया, और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने शेक्सपियर के The Merchant of Venice का अनुवाद 'वेनिस का बाँका' नाम से प्रस्तुत किया। इन प्रयासों से अँग्रेजी की बढ़ती हुई लोकप्रियता सिद्ध होती है किन्तु इस काल में अँग्रेजी का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गद्य के विकास में देखा जा सकता है। शब्दों के चयन और वाक्यों के निर्माण तथा भाषा-शैली के विकास में समान रूप से अँग्रेजी का प्रभाव लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अँग्रेजी-गद्य के नमूने सामने रखकर ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-गद्य का रूप निर्धारित किया। उनकी अपनी भाषा की सफाई और सादगी बिलकुल तत्कालीन अँग्रेजी-गद्य के ढंग की है। अँग्रेजी के इस बढ़ते हुए महत्त्व और प्रभाव को देखकर कुछ हिन्दी-लेखक सहम उठे और उन्होंने प्राचीन भारतीय परिपाटी की महत्ता सिद्ध करने लिए प्रयत्न किया। गद्य के क्षेत्र में पं० गोविन्दनरायण मिश्र प्रभृत संस्कृतज्ञों ने प्राचीन संस्कृत-गद्य-शैली को अपनाने की ठानी और अनेक लोगों ने संस्कृत काव्य-ग्रन्थों के गद्य और पद्य अनुवाद हिन्दी में किये जिनमें पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'कुमार सम्भव' का अनुवाद तथा कविरत्न सत्यनारायण-कृत 'उत्तर रामचरित' एवं 'मालती माधव' के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि २० वीं शताब्दी के प्रथम २० वर्षों में एक ओर तो हिन्दी-लेखकों द्वारा अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव का स्वागत किया जा रहा था और दूसरी ओर उसके विरोध में प्राचीन संस्कृत-साहित्य का आह्वान। अँग्रेजी-साहित्य के विरुद्ध इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अधिक जोरदार ढंग से मराठी साहित्य में हुई थी जब कि प्राचीन परिपाटी के हिमायतियों ने संस्कृत-साहित्य का सहारा लेकर अंग्रेजी-साहित्य के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया था। हिन्दी में विरोध की भावना उतना प्रबल रूप धारण न कर पाई और फलतः प्राच्य और पाश्चात्य प्रभाव साथ-साथ सक्रिय रहे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहीं-कहीं दोनों के मेल-जोल का दृश्य भी दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'प्रिय-प्रवास' की राधा के चित्रण में और कविरत्न सत्यनारायण के भ्रमरदूत में नवीनता का पुट साफ-साफ दिखाई पड़ता है।

सन् १९२० के उपरान्त आने वाले पन्द्रह वर्षों को हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने छायावाद युग का नाम दिया है। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। गद्य और पद्य-कृतियों द्वारा अनेक प्रतिभावान लेखकों ने इस काल को समृद्ध बनाया। यूरोपीय साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य के सम्पर्क की दृष्टि से भी यह काल विशेष महत्त्व रखता है। इसके पूर्व यूरोपीय तथा भारतीय साहित्यिक परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आने पर भी आपस में हिल-मिल नहीं पाई थीं। उनमें आपस में मिलने की प्रवृत्ति अवश्य थी किन्तु साथ ही छिपी हुई संशय और विरोध की भावना भी थी। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता का परिचय यूरोप से अधिक गहरा हो गया। अँग्रेजी उच्च-शिक्षा का प्रचार भी अब तेजी से हो रहा था और अँग्रेजी साहित्य के ज्ञान के साथ-ही-साथ उसके प्रति आकर्षण भी उत्पन्न हो रहा था। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ टाकुर के काव्य के आदर्श का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। महाकवि द्वारा १९०० और १९१५ के बीच में लिखी हुई कविता में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का चमत्कारपूर्ण समन्वय है। भारतीय दर्शन के सिद्धान्त तथा यूरोपीय रोमाण्टिक और प्रतीकवादी कवियों के प्रभाव घुल-मिलकर एक हो गए हैं और अपनी कवित्व-शक्ति द्वारा महाकवि ने उनको एक अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वरूप दे दिया है। छायावादी कवियों के सम्मुख यह उदाहरण विद्यमान था और इससे वे बहुत प्रभावित हुए। फल यह हुआ कि छायावाद की कविता में भारतीय और यूरोपीय प्रभावों का ऐसा एकीकरण हुआ जैसा इसके पूर्व न हो पाया था। प्रसाद प्राचीन भारतीय-संस्कृति के बहुत बड़े समर्थक थे। पंत क्रमशः रामतीर्थ, विवेकानन्द, गान्धी और अरविन्द के अनुयायी रहे हैं तथा उपनिषदों में प्रतिपादित तथ्यों में उनका अमिट विश्वास है। निराला पर वेदान्त और वैष्णव भक्तों की कविता का प्रभाव पड़ा है और महादेवी की कविता की तह में सूफियों का मत, बौद्ध-दर्शन, उपनिषदों के सिद्धान्त सभी किसी-न-किसी अंश में मौजूद हैं। यह तो हुई भावों और विचारों की बात किन्तु जब हम छायावादी कविता के बाह्य स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमें हिंदी-साहित्य के प्रगीत-मुक्तकों के इस स्वर्ण युग में और १९वीं शताब्दी की यूरोपीय रोमाण्टिक कविता में न केवल साम्य किन्तु परस्पर सम्बन्ध साफ-साफ दिखाई देता है। छायावादी कविता का अध्ययन करते हुए कभी Wordsworth की तो कभी Shelley या Keats की आवाज सुनाई पड़ती है। कतिपय स्थलों पर साम्य इतना अधिक है कि अनुकरण का सन्देह होने लगता है। प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। हम यह तो नहीं कह सकते कि फ्रांस के प्रतीकवादियों का सीधा प्रभाव छायावाद तक पहुँच पाया था किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव तो स्पष्ट है और रवीन्द्रनाथ स्वयं यूरोपीय प्रतीकवादियों से प्रभावित हुए थे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। Poe और Watt Whitman एक प्रकार से फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के गुरु थे और इन दोनों अमेरिकन लेखकों की कृतियों का प्रचलन इस देश में काफी अरसे से है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी कहानियों में भी भारतीय और पाश्चात्य प्रभाव का एकीकरण मिलता है। विचार और आदर्श पूर्णरूपेण भारतीय हैं, किन्तु टेकनीक पाश्चात्य है। प्रेमचन्द का मानवतावाद भी उस यूरोपीय मानवतावाद से मिलता-जुलता है जो Balzac के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समय से प्रेमचन्द के काल तक यूरोपीय कथा-साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। हिन्दी-साहित्य को प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम पाश्चात्य परिपाटी पर सफलता पूर्वक हिन्दी-कहानियों और उपन्यासों का निर्माण किया। इसी काल में जैनेन्द्रकुमार ने मनोविज्ञान का हिन्दी कथा-साहित्य में समावेश किया। १६वीं और २० शताब्दी में यूरोप में मनोविज्ञान ने बड़ी उन्नति की और साहित्य से उसका सम्बन्ध अधिकाधिक निकट होता गया है। कभी-कभी तो मनोविज्ञान साहित्य पर इतना छा जाता है कि बात खटकने लगती है। यही प्रभाव जैनेन्द्रकुमार की कहानियों में सर्वप्रथम प्रकट हुआ। नाटकों के क्षेत्र में भी पाश्चात्य निर्माण-पद्धति स्वीकार की गई। एक विद्वान् ने बाबू जयशंकरप्रसाद-कृत 'अजात शत्रु' की भूमिका में अन्तर्द्वन्द और बहिर्द्वन्द को महत्त्व देते हुए यह मान लिया है कि उनके बिना नाटक का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार के विचार पाश्चात्य प्रभाव के द्योतक हैं। हमें द्विजेन्द्रलाल राय का स्मरण हो आता है, क्योंकि उनका नाट्य-शास्त्र का विवेचन केवल शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर किया गया है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'शा' और 'इब्सन' का अनुसरण करके नये ढंग के नाटक लिखे। हिन्दी की नवीन आलोचना भी यूरोपीय आलोचना को आदर्श मानकर आगे बढ़ने लगी और व्याख्या तथा खंडन-मंडन का ढंग छोड़कर विचारों के विवेचन में संलग्न हो गई।

छायावाद काल का साहित्यिक समन्वय उस युग का भारतीय और पाश्चात्य प्रभावों का एकीकरण बहुत दिनों तक कायम न रह सका। १६३५ ई० के लगभग परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। इस समय तक देश में उच्च अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त जनों का एक खासा बड़ा समुदाय बन चुका था। प्रथम महायुद्ध के काल से ही भारतीयों का ध्यान इंग्लैंड से हटकर समस्त यूरोपीय राजनीति और साहित्य की ओर आकृष्ट हो चला था। भारतीय जनता के मानसिक क्षितिज के विस्तार ने विश्वविद्यालयों की शिक्षा, समाचार-पत्रों, रेडियो इत्यादि ने योग दिया। साथ-ही-साथ यूरोप में दो-एक नवीन विचार-पद्धतियाँ तेजी से ग्रहण की जा रही थीं। मार्क्स का नवीन दर्शन, जिसमें जड़वाद ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विचार तथा दलित जनवर्ग के प्रति सहानुभूति का सम्मिश्रण है, यूरोप के विशिष्ट भागों में अपना घर बना रहा था। यह नवीन परिपाटी इस देश में आई और अनेक कार्यों से पढ़े-लिखे नवयुवकों ने इसका स्वागत किया। हिन्दी-साहित्य भी इससे प्रभावित होने लगा। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान का महत्त्व यूरोप में बढ़ रहा था। वर्तमान सदी में मनोविश्लेषण के आचार्यों ने अर्द्धचेतन और अचेतन मन का अध्ययन प्रारम्भ किया और इस प्रकार साहित्य के लिए एक नया क्षेत्र उपलब्ध कर दिया। हिन्दी-साहित्य पर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का प्रभाव भी १६३५ ई० के उपरान्त पड़ने लगा। भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग बहुत पहले से होता आया है। कबीर तथा सूफी कवियों की कविता में प्रतीक भरे पड़े हैं तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में प्रतीकों का सुन्दर तथा प्रचुर प्रयोग हुआ है। पिछले २० वर्षों में लिखी जाने वाली हिन्दी प्रतीकवादी कविता में केवल प्राचीन परम्परा का निर्वाह नहीं है, उसका प्रतीकत्व साफ-साफ यूरोप के १६वीं और २०वीं शताब्दी के प्रतीकवादियों से प्रभावित है। उसकी अस्पष्टता और उसका अटपटापन बहुत-कुछ फ्रांसीसी प्रतीकवादियों तथा T. S. Eliot का स्मरण दिलाता है। हिन्दी प्रतीकवाद को सबसे बड़ा सहारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर, T. S. Eliot तथा Yeats की कविता से मिला है, यद्यपि दो-एक आधुनिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कवि फ्रांसीसी प्रतीकवादियों की कविता से परिचित हैं और कदाचित् उनका अनुकरण भी करते हैं। मनोविश्लेषण की खोजों से भी प्रतीकवाद को बल मिला है। कभी-कभी उपरोक्त प्रभाव मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण के सिद्धान्त, तथा प्रतीकवाद सभी एकत्र होकर एक ही साहित्यकार की कृतियों में देखने को मिल जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रभावों का मिश्रण यूरोपीय Surrealists की याद दिलाता है। इसी भाँति कुछ कवियों की रचनाओं में वेदना-तत्त्व तथा निराशा का आधिक्य बहुत-कुछ यूरोपीय अस्तित्ववादियों अर्थात् Existentalists का सीधा प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है या नहीं।

अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में हिन्दी में कई आलोचनापूर्ण निबन्ध लिखे गए हैं। इनमें से कुछ तो विवेचना और तुलना के अभिप्राय से लिखे गए हैं और कुछ ध्वंसात्मक हैं, किन्तु हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर अभिव्यंजनावाद की छाप नहीं मिलती। इस समय स्थिति यह है कि हमारे साहित्य का संतुलन नष्ट हो गया है। १९३५ ई० के उपरान्त यूरोपीय प्रभाव हमारे साहित्य में अनेक रूपों में इतनी द्रुतगति से प्रविष्ट हुआ कि वह सम्यक् प्रकार से आत्मसात् नहीं हो सका है। हमारे आभार का बोझ इतना अधिक है कि हिन्दी-साहित्य उसे आसानी से सँभाल नहीं पा रहा है। अतएव उसके कन्धे कुछ झुक गए हैं और पग लड़खड़ा रहे हैं। यह बात हम भर्त्सना अथवा कटु आलोचना के उद्देश्य से नहीं लिख रहे हैं। निष्पक्ष भाव से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक व्यवस्था इस समय अत्यन्त अनिश्चित अवस्था में है। छायावाद के समान कोई आन्दोलन आज विस्तृत प्रभाव नहीं रखता। प्रयोगवाद तो विभिन्न मतों तथा शैलियों के कवियों का एक जमघट-मात्र है। किसी साहित्यिक आन्दोलन की रूप-रेखा निर्धारित करने के लिए यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि उसके सभी अनुयायी अन्वेषक हैं, राह के साथी हैं। यह भी वांछनीय है कि उन राहगीरों के विचारों और भावनाओं में गहरा साम्य हो तथा उनकी रचना-प्रणाली में भी समानता हो। आज के हिन्दी-साहित्य में नवीनता का चमत्कार है तथा अन्वेषण और प्रयोग की भावना भी है, किन्तु उसकी रूपरेखा अनिश्चित है और इसका कारण बहुत कुछ यूरोपीय साहित्यिक तथा दार्शनिक प्रभाव का प्रबल आघात है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के आधुनिक लेखकों और कवियों में कौन किस यूरोपीय साहित्यिक परम्परा से प्रभावित हुआ है। यह तो सभी जानते हैं कि अज्ञेय पर मनोविश्लेषण और प्रतीकवाद का प्रभाव है। यशपाल और अश्क, नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल इत्यादि प्रगतिवादी हैं। अश्क, प्रभाकर माचवे इत्यादि पर फ्रायड का प्रभाव है। इसी प्रकार सूची तैयार की जा सकती है, किन्तु इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह हिन्दी के पाठकों के लिए रोज की जानकारी की बातें हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान कवियों और लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन कठिन है और यह कार्य ठीक-ठीक दस-पाँच वर्ष के बाद ही हो सकेगा।

हिन्दी के कई लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों ने यूरोपीय 'वादों' के प्रति अपनी अरुचि तथा अपना अविश्वास प्रकट किया है। यहाँ तक कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कई स्थलों पर यूरोपीय प्रभाव के ग्रहण करने का विरोध किया है। इन आलोचकों की धारणा यह है कि पाश्चात्य प्रभाव स्वीकार करने से हमारा आत्मसम्मान नष्ट तथा साहित्य का स्वरूप विकृत होता है। इसके विपरीत C. E. Montague महोदय का यह कथन देखिए:—If a language would live, it must eat, & the English language, in all

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

its times of best health, has been a good feeder if not a gross one." किसी भी जीवित भाषा या साहित्य को पोषक तथा शक्तिवर्द्धक तत्त्वों के ग्रहण करने में संकोच नहीं होना चाहिए। अँग्रेजी साहित्य और उससे भी अधिक आज के अमेरिकन साहित्य की शक्ति और समृद्धि का बहुत बड़ा कारण यह है कि उनमें उच्च कोटि की ग्राहिका शक्ति है। अतएव यूरोपीय वादों से हिन्दी को तब तक कोई खतरा नहीं है। जब तक हम समझदारी के साथ अपने विशेष वातावरण और परिस्थितियों को देखते हुए उनका उपयोग करेंगे। कोरा अनुकरण तो अवश्य निरर्थक और हानिकर सिद्ध होगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विनयमोहन शर्मा

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी-साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिए नहीं कि उस पर 'युद्ध' का सीधा प्रभाव पड़ा, पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध-सहायता प्रदान की) और जब मित्र-राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उनकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकंजों में जकड़कर रौंदा गया, पीसा गया! इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गाँधीजी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रान्ति साहित्य में प्रतिबिंबित हुई।[1] इस समय हिन्दी-कविता के दो रूप दिखाई दिए। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्तकण्ठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहा था। दूसरा वह जिसमें धर्म, समाज तथा साहित्य की रूढ़ियों से विमुख होकर कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहा था। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षम मन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा।

पर हिन्दी-छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कवि हार्डी, यीट्स या डीलामिरे का स्वच्छन्दतावाद नहीं है उसमें तो वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, कालरिज, टेनीसन की स्वच्छन्द आत्मा झाँक रही है, सीधे या बँगला के माध्यम से। जिस प्रकार अँग्रेजी के स्वच्छन्दता-युग के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं को तिरस्कृत करके उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने भी कविता को देखने की नई दृष्टि दी; जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना—टीकाओं—में सिमटकर रह गई! 'प्रसाद' कहते हैं—"इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन-शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप में दिखलाई देने लगा किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही

---

१. "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुत्र था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा रही थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"—दिनकर 'मिट्टी की ओर' में।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है।" 'प्रसाद' ने भी साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों को विस्मरण नहीं किया, पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते हैं—"यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे तो·····प्रमाद कर बैठने की आशंका है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय, दोनों मान्यताओं को लेकर चलते हैं। उन्होंने साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं ? उसका भाव (matter) और वाह्य रूप-विधान (Form) से क्या सम्बन्ध है ? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष आदि प्रश्नों पर विचार किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे 'काव्य और कला' में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेम और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति' से, 'प्रसाद' का तात्पर्य है, "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है, जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उसे वे एक 'शाश्वत चेतनता या चिन्मयी ज्ञान-धारा' कहते हैं जो "व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।·····'असाधारण अवस्था' 'युगों की समष्टि अनुभूतियों' में अन्तर्निहित रहती है।" 'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्ल-रोमैंटिक-युग के कवियों की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान (Inspiration and Intuition) समन्वित-सी जान पड़ती है। उनके 'अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान' में अज्ञात सत्ता का स्पन्दन भाव भी निहित है।

ब्लेक का कथन है, "Vision or imagination is a representation that externally exists really and unchangeably." (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधि रूप है) काव्य-प्रतिभा परम सत्य (Truth and reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। 'प्रसाद' का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञान-धारा' ब्लेक के Truth and reality से दूर नहीं है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें भीतरी सत्य (Inner truth) का आभास पाता है। रोमाण्टिक कवि अनुभूति में आध्यात्मिकता का आभास पाकर 'प्रसाद' की 'आत्मा की अनुभूति' तक प्रायः पहुँच जाते हैं।[1] रामकुमार ने लिखा है, "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।" और महादेवी 'सत्य को काव्य का साध्य और सौन्दर्य को उसका साधन' कहती हैं। महादेवी का 'सत्य' प्रसाद और रामकुमार की 'आत्मिक अनुभूति' के समान ही व्यापक है। 'पन्त' ने काव्य-सत्य के सम्बन्ध में 'आधुनिक कवि' में अपने विचार व्यक्त किये हैं, "मैं कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि-सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।" 'दिनकर' की धारणा है, "कवि की कल्पना के अगल-बगल भावुकता और दार्शनिकता के पंख लगे रहते हैं। सच पूछिए तो प्रेरणा और भावुकता के आलोक में जगमगाने वाली दार्शनिक

1. "A poem is the very image of life expressed in its eternal truth."—Shelley

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुभूतियाँ महान् काव्य का मेरुदण्ड हैं।"

छायावादी कवि आँग्ल-समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद प्रायः नहीं मानते। वे बाहर को भीतर का प्रकाश और अन्तर को बाहर की छाया अनुभव करते हैं। रामकुमार कहते हैं, "जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है।, माखनलाल का वक्तव्य है, "साँस सूक्ष्म जिस तरह एक-दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल—दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है, और दूसरी तरफ वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का सुबूत चाहती है। एक कवि का निश्चय, और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है।" 'बच्चन' के लिए भी "स्वप्न का जीवन उतना ही सत्य है जितना भौतिक।" 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं :

"मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।"

महादेवी कहती हैं, "जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं है कि जीवन की जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कालरिज श्रेष्ठ कविता उसी को कहता है जिसमें कवि अपने सुख-दुःख से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख-दुःख में अपने को मिला देता है।[1] Self regarding emotion स्वार्थ-सीमित भावनाओं में प्रेषणीयता नहीं होती। 'पंत' 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते हैं, "यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।".....बौद्धिकता और भाव-प्रवणता (emotion) को पंत एक मानते हैं। प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं[2] अतः जो बाह्यात्मक रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिए उपहास करते हैं कि उसमें कवि का 'मन' नहीं रमा रहता है, वे भ्रांति में हैं। कवि को द्रवित होने के

१. "So long as the poet gives utterances merely to his subjective feeling he has no right to the title."—Colridge.

२. 'काव्य और कला' पृष्ठ ४७.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिए उसी पर सीधी चोट का पड़ना आवश्यक नहीं है। वह ग्राह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं है। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम से ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। 'पंत' और 'निराला' ने बहुत सजगता से 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि[1] मिली है।

काव्य की अभिव्यंजना के संबंध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यंजना में भाषा, छंद, अलंकार आदि का समावेश होता है। वह काव्य की बाह्य आकृति (form) है। जब कलाकार के मन में कला-कृति का चित्र पूर्ण रूप से उतर आता है तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं—"जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है; वहीं कौशल या विशिष्ट पद-रचनायुक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[2] व्यंजना वस्तुतः अनुभूति मयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।"[3] 'प्रसाद' कला – अभिव्यंजना—को भाव (अनुभूति) से कम महत्त्व नहीं देते। क्रोशे के समान वे उसे प्रायः अभिन्न मानते हैं।

काव्य की भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुरूपिणी होना चाहिए, इस सम्बन्ध में 'पंत' का आग्रह है "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें; जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो।" छायावादी कवियों ने भाषा को माधुर्य प्रदान करने में कम योग-दान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण में ओझल हो गई है। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभिव्यंजना पर ठहर गए हैं। उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति' की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—"ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[4]

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने "कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को, ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काँट-छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।" (महादेवी 'आधुनिक कवि' पृष्ठ १०) 'निराला' भी भाषा को 'भावों की अनुगामिनी' मानते हैं

१. बौद्धिकता हार्दिकता का ही दूसरा रूप है।" (आधुनिक कवि—८)
"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है।" 'कामायनी' (आमुख में)

२. काव्य और कला—पृष्ठ २७

३. वही

४. काव्य और कला—पृष्ठ १४६.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और यह भी कि "बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।" भाषा की पुष्टि के लिए उन्होंने (छायावादियों ने) अलंकारों का उपयोग किया है। 'पन्त' उन्हें 'राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान' (पल्लव-पत्रिका) कहते हैं।

यद्यपि छन्दों के प्रति सामान्य विद्रोह रहने पर भी छायावादी कवियों ने छन्द-सी लयता का कभी विरोध नहीं किया। स्वच्छन्द छन्दता के समर्थक निराला 'गीति-काव्य के प्रबल पुरस्कर्ता' हैं। 'जीवन' में लय-प्रवाह की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिए 'पन्त' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के वर्ण-वृत्त हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं।" क्योंकि "उनकी नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल-कल, छल-छल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक, कटाक्ष एक साथ खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर-मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती; उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।" भगवतीचरण वर्मा "मुक्त छन्द की कविता को अधिक-से-अधिक गद्य-काव्य मानते हैं," कविता नहीं। ('प्रगतिशील कविता' पर रेडियो-प्रसारित परिसंवाद) 'दिनकर' कविता में छन्द को स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि 'छन्दःस्पन्दन समग्र सृष्टि में व्याप्त है, कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-मण्डल और विश्व की प्रगति-मात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेती हुई अपना काम कर रही है।" ('मिट्टी की ओर' पृष्ठ १२१) 'लय' और 'ताल' पर महत्त्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक पर्वाह नहीं की।

द्विवेदी-युग में जहाँ कविता नपे-तुले विषय, परम्परागत अलंकार, छन्दों में वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावाद-युग में कवियों ने उसे परखने का नया दृष्टिकोण प्रचलित किया; वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास करके क्रोशे के शब्दों में अन्तर्प्रेरणा तथा अभिव्यंजना (Intuition and Expression) का सुन्दर गठ-बन्धन किया। उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था। 'जीवन ऐसा होना चाहिए,' 'जीवन ऐसा है या जीवन सबसे पृथक् हो' की समस्या उसके सामने खड़ी थी। 'जीवन ऐसा होना चाहिए' में आदर्शवाद, 'जीवन ऐसा है' में यथार्थवाद, और जीवन सबसे पृथक् होने में व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने आदर्श और यथार्थ दोनों पर विचार किया है। "आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है। और हमारी खण्डित भावना को अखण्ड जागृति देकर, उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।" "यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थिति रखता है।"..."आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।" आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत् में घेर लेता है। और यथार्थवादी "अपने निर्माण को केवल बाह्यजगत् में बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहती। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहती है, जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है, ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है—"देखते नहीं कि उसका एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिम-कण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तपोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है, देखते नहीं उसका एक कान निर्झरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्द्र के अखाड़ों में खड़े हुए संघर्ष, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है।" ('मधुबाला'-प्रलाप, पृष्ठ १०-११)

आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है उस सम्बन्ध में छायावादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का यथार्थ पाते ही नहीं। प्रसाद का मत है—"यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से कुछ अधिक नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है वह चित्रित करता है समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं हैं। क्योंकि "आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है।" वे साहित्य को इन दोनों वादों से ऊपर उठा ले जाते हैं, वे उनका (आदर्श और यथार्थ का) मेल कराते हैं, कहते हैं—"दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। यथार्थ 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देने के लिए स्वतन्त्र है पर जीवन में विकृति अधिक प्रसार-गामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार-बार व्यक्त होती रहती है। "अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियों का प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। और आज की 'यथार्थवादिनी' कविता तो ऐसे "कण्ठ से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित है।" महादेवी और प्रसाद चूँकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाए इसलिए उनमें उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। 'पन्त' की भी यही स्थिति है—उनकी यथार्थ (मानव जीवन) के प्रति बौद्धिक सहानुभूति अधिक रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देखकर भी 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया और यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की। दोनों का समन्वय करके उन्होंने कविता को एक नया 'तन्त्र' देना चाहा—"मेरा विश्वास है, लोक-संगठन तथा संगठन एक-दूसरे के पूरक हैं।" क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।" (उत्तरा)। आज साहित्यकार "कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" 'पन्त' की धारणा है, "इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा।" इसलिए वे 'बहिरंतर' जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के समरसता का पर्याय ही कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीतिक 'वाद' के दायरे में अपने को नहीं बाँधना चाहते। 'निराला' के शब्दों में "एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को ही श्रेय देता है, जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते, "कला-क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण ईमानदार रहे।" (मिट्टी की ओर) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'फ्राइडवाद' का निषेध करते हैं। वे लिखते है—"ज्ञान में मानव ने जो एकसूत्रबद्धता तथा कार्यकारणता विकसित की है, वह केवल ऐंद्रिक प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध नहीं होती।···मैं कला-साहित्य-समीक्षा के उस मानदण्ड को भ्रामक मानता हूँ जो प्रत्येक साहित्यिक कृति अथवा कलाकृति की सामाजिक परिस्थिति के ऊपर आत्यन्तिक रूप से आधारित कर देता है।...निश्चय ही भौतिक शरीरधारी मानव पदार्थमूलक धरातल पर कार्य करता है। बाह्य परिस्थितियाँ साहित्यिक कृतियों को प्रभावित करती हैं, पर मानव की 'न-इति' प्यास को भौतिक अभावजन्य कहना अनर्थमूलक है।" (अपलक)

छायावादी कवियों में साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति तीव्र अनास्था भले ही न हो, फिर भी उनसे लगे रहने का उनमें आग्रह भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं, इसलिए उसके Subjective (अन्तर्वृत्ति निरूपक) और Objective (बहिर्वृत्ति निरूपक) भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल" की मनुहार करने वाली महादेवी और "मेरे नगपति मेरे विशाल" पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक ही पंक्ति में बैठते हैं। 'दिनकर' की बाह्य दृष्टि होने पर भी उसका बिम्ब उनके अन्तर-पट पर ही पड़ता है।

छायावादियों का प्रकृति के प्रति तादात्म्य न होने पर भी वे उससे बराबर स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। साहित्य को युगापेक्षी बनाना उनका ध्येय नहीं है, पर युग-चेतना से वे अवश्य अनुप्राणित होना चाहते हैं। लौकिक भावनाओं का उदात्तीकरण करने के कारण उन्हें आदर्शवादी कहा जाता है पर चूँकि उनका यह 'आदर्श' सर्वथा कल्पना-प्रसूत नहीं है उसका लगाव धरती से भी है, इसलिए हम उनमें समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही अधिक प्रवृत्ति देखते हैं।

'भाव' की प्रतिष्ठा स्वीकारने के कारण भारतीय रसवादी और शैली के आग्रह के कारण पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी लेने का भी उन्हें श्रेय प्राप्त है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगदीश गुप्त

छायावाद की भावभूमि

छायावाद की सुकुमार काव्यधारा को अपने जन्म से ही आलोचना की तीव्र दृष्टि सहनी पड़ी। उस समय उसकी भावभूमि इतनी अस्पष्ट थी कि नासमझी और रूढ़िवादिता के कारण स्वागत की अपेक्षा उसे परिहास, व्यंग्य, विरोध तथा संकीर्णता का निरन्तर सामना करना पड़ा। किन्तु द्विवेदी-युग की बाह्योन्मुखी अनगढ़ अनरस कविता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया एवं परिणति होने के कारण छायावाद उन समस्त विरोधों के समक्ष अप्रत्याशित रूप से विजयी हुआ और उसकी अदम्य शक्ति, अभिनव सौन्दर्य तथा अतिशय सुकुमारता ने उस युग की सामान्य साहित्यिक चेतना को विमुग्ध कर लिया। कदाचित् इस विजयोन्माद ने तथा अन्य अनेक कारणों ने छायावाद की जिन गम्भीरतम आलोचना और नवीनतम व्याख्याओं की सृष्टि की वे भी उसकी वास्तविक भावभूमि को समझने में पूर्णतया सक्षम नहीं सिद्ध हुईं। अनेक गण्य-मान्य छायावादी कवियों ने तथा उन्हीं से प्रभावित कई आलोचकों ने उसे अध्यात्मवाद के भारी गौरव से अभिषिक्त कर दिया जिसको साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद और सर्वात्मवाद की संज्ञा मिली। यद्यपि इस प्रवृत्ति का भी विरोध हुआ और अनेक विचारशील विवेचकों ने वास्तविकता की स्पष्ट एवं निर्भीक व्याख्या प्रस्तुत की, परन्तु फिर भी उस गुरुता से छायावादी कविता आज तक मुक्त नहीं हो सकी है। अतएव मूल प्रश्न यह है कि छायावाद की वास्तविक भावभूमि लौकिक है अथवा अलौकिक। आध्यात्मिकता उसमें है या नहीं; यदि है तो स्वाभाविक वृत्ति के रूप में अथवा कृत्रिम आरोप होकर। रहस्यवाद से छायावाद को सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है कहाँ तक अनुचित। और अगर है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य 'mysticism' की गूँज-मात्र।

छायावाद के सम्बन्ध में दो मत हिन्दी-जगत् में प्रचलित हैं यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास नहीं हो पाता। फिर भी उसका संक्षिप्त परिचय पा लेना आवश्यक है। कवियों में मुख्यतः महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा कुछ अंशों में प्रसाद को छायावाद की इस अध्यात्ममूलक व्याख्या का श्रेय है और आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर 'मानव' आदि को। जिन आलोचकों का नामोल्लेख यहाँ हुआ है उनकी कृतियों अथवा आलोचनाओं को महत्त्व दिया जाय या न दिया जाय परन्तु वे इसलिए तो महत्त्व रखते ही हैं कि उन्होंने इस मत का समर्थन एवं प्रचार किया।

इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य में पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन-दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निम्न लिखित अंश उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"[१]

"हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।"[२]

"अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।

अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।"[३]

"रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचार-धारा में मिल जाते हैं।

"युगों के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा का विद्युत् स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा।"[४]

यहाँ महादेवी जी ने स्वीकार किया है कि रहस्यवाद आत्मा का गुण होने के साथ-साथ काव्य का गुण भी है और छायावादी कवियों ने उपनिषदों के समय से चली आती हुई तथा जायसी और कबीर के द्वारा पोषित रहस्यवाद की परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की है। उनकी लौकिक लगने वाली अभिव्यक्ति वस्तुतः अलौकिक रहस्यानुभूति है क्योंकि अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होता है।

इतना ही नहीं महादेवी जी ने छायावाद की निराशा एवं दुःख की मनोवृत्ति को व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद-मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि में स्थापित कर दिया जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है :

"छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।"[५]

'व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं पर वे छाया-युग के

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ ६०-६१,
२. वही, पृष्ठ १०७,
३. वही, पृष्ठ १११.
४. वही पृष्ठ १४०.
५. वही, पृष्ठ ६५.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित है कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।'[1]

इन दोनों से हटकर महादेवी जी ने छायावाद की एक तीसरी परिभाषा दी है और वह यह कि : छायावाद तत्त्वतः कृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है···।[2]

किसी भी विचारक की ईमानदारी में संदेह करना अपराध है परन्तु महादेवी जी द्वारा दी गई छायावाद। की व्याख्या को देखकर ऐसा अपराध करने को जी चाहता है। इसका कारण लेखक की रुचि न होकर स्वयं महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के वे अंश हैं जो उक्त अंशों के स्वयं विरोधी हैं और घोषित करते हैं कि वास्तव से दूर जाने के प्रयत्न में किया गया यह तिहरा प्रयास अन्त तक सफल न हो सका, क्योंकि एक विचारशील पाठक आज भी उनकी व्याख्या से निस्संदिग्ध और संतुष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार की व्याख्याओं पर यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

महादेवी जी ने अपने 'विवेचनात्मक' गद्य में ही छायावाद को जागरणयुग की सृष्टि, और उसके अध्यात्म को बौद्धिक तथा रूढ़िगत अध्यात्म से भिन्न स्वीकार किया है।[3] उन्होंने यह भी निश्चित रूप से माना कि जिस सूक्ष्म को छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता।

मनुष्य का व्यक्त सत्य 'स्थूल' है और 'अव्यक्त सत्य'—अर्थात् 'कुछ होने की भावना' ही 'सूक्ष्म' है।[4] साथ ही यह 'सूक्ष्म' स्थूल का ही दूसरा रूप है। यह भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया कि छायावाद ने 'युगों से प्रचलित सस्ती भावुकता और वासना के विकृत चित्र' देने के स्थान पर उच्चतर रूप में परिष्कृत (वासना) वैयक्तिक उल्लास-विषाद की सफल अभिव्यक्ति की।[5]

इतना सब-कुछ मान लेने के बाद उनकी रहस्यानुभूति, तथा उनके सर्ववाद और

---

१. वही, पृष्ठ ६६.

२. वही, पृष्ठ ६४.

३. (i) हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूपरेखा में स्पष्ट किया वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। पृष्ठ ५४.

(ii) बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया···पृष्ठ ६०.

(iii) अखण्ड चेतना से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। पृष्ठ ११२.

(iv) छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर····· पृष्ठ ६६.

४. (i) छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण करना है—पृष्ठ ६७.

(ii) जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। पृष्ठ ६८.

५. इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छाया-युग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका। पृष्ठ ६७.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अध्यात्मवाद में क्या शेष रह जाता है जिसके प्रतिपादन के लिए उन्हें इतना श्रम करना पड़ा। किसी भी तटस्थ विचारक को यह स्पष्ट हो जायगा कि महादेवी जी यद्यपि छायावाद की वास्तविक भावभूमि से पूर्णतया अवगत हैं तथापि उसे वैसे स्वीकार न करके अध्यात्मवाद अथवा सर्ववाद का अनावश्यक आवरण चढ़ाकर स्वीकार करने में उन्हें संकोचहीनता तथा सन्तोष का अनुभव होता है जो वैसे कदाचित् न होता। इस प्रकार की व्याख्या के प्रस्तुत किये जाने के मौलिक कारण वही हैं जिन्होंने छायावादी कविता में व्यक्त मानवीय भावनाओं को छाया का रूप दिया। छाया शब्द का यह अर्थ महादेवी जी को भी अग्राह्य नहीं है।[1] महादेवी जी यदि केवल अपनी व्याख्या को अपने काव्य तक ही सीमित रखतीं तो इतने विस्तार में उस पर विचार करने की आवश्यकता न होती परन्तु उन्होंने अपने विचार समस्त छायावादी काव्य के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं।

महादेवी जी के विवेचन में आने वाले अन्तर्विरोधों को छोड़ भी दिया जाय तो भी छायावाद की अलौकिकता निर्विरोध सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि अन्य छायावादी कवियों का मत उनके विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में पन्त जी द्वारा दिया गया यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :

'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी-कविता, छायावाद के रूप में, ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और समवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'[2]

'प्रसाद' जी ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया और न प्रकृतिवाद से, वरन् ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति को छायावाद की विशेषताओं में स्वीकार करके एक प्रकार से उसका प्रतिवाद ही किया।[3]

'निराला' जी ने इस सम्बन्ध में अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया परन्तु उनके काव्य में

---

१. स्वच्छन्द-छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है। पृष्ठ ६०.

२. आधुनिक कवि, भाग २ पृष्ठ १२.

३. ....हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है; इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लेकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमयता, प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।—काव्य-कला तथा अन्य निबंध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanási Collection. Digitized by eGangotri

स्थल-स्थल पर मानवीय स्वर इतना प्रधान है और लाक्षणिक आवरण भी इतना झीना है कि उनके सम्पूर्ण काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

छायावाद की प्रारम्भिक अवस्था में कविताओं पर आध्यात्मिकता की ध्वनि का आवरण पूरी तरह नहीं चढ़ पाया था अतएव प्रारम्भिक आलोचक शुक्लजी को उसकी वास्तविक भाव-भूमि परखने में भ्रान्ति नहीं हुई। उन्होंने लिखा :

'प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद की कही जाने लगीं अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

'रीतिकाल की शृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृङ्गारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।'

किन्तु जहाँ इस प्रकार की तीव्र आलोचना शुक्लजी ने की वहीं छायावाद में कुछ अंश तक आध्यात्मिक प्रेम की सत्ता की साक्षी भी दी है :

'छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी यह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है।'

प्रसाद जी की तरह शुक्ल जी की व्याख्या भी छायावाद के भावपक्ष को गौण और शैली-पक्ष को प्रधान मानकर चली है जब कि वास्तविकता यह है कि छायावादी कविता की भाव-सम्पत्ति को किसी प्रकार उसकी शैली की तुलना में अप्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

शुक्ल जी के अनन्तर अनेक आलोचक छायावाद की समीक्षा करने में प्रवृत्त हुए। आध्यात्मिकता के पक्ष के प्रायः सभी समर्थकों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महादेवी जी की विचार-धारा ने प्रभावित किया और कुछ दूर तक विरोधियों को भी तीव्र प्रतिवाद करने का आमन्त्रण दिया।

छायावाद की नई-नई परिभाषाएँ सामने आने लगीं और काव्य में आध्यात्मिकता की विविध अवस्थाएँ खोजी जाने लगीं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपना विचार व्यक्त किया कि 'छायावाद के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नये भौतिकवादी उसमें दोष-ही-दोष देखते हैं।[1] अन्यत्र कहा गया कि 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। इसकी तीन अवस्थाएँ बताई गईं। पहली 'सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव', दूसरी 'मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास', तथा तीसरी 'प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति', इसी को छायावाद की चरम परिणति माना गया, जहाँ पहुँचकर छायावादी उसी

१. 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ३४३.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ध्येय को प्राप्त करता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी।[१] महादेवी जी के दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर 'दीपशिखा' तक आने के चार याम 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' को उनकी आध्यात्मिक रहस्यानुभूति की साधना के चार सोपान समझा गया।[२] इस प्रकार इस तरह की आध्यात्मिक व्याख्या ने साधारण पाठक को यह सोचने पर बाध्य किया कि छायावादी कवि एक असाधारण प्राणी होता है जो साधकों और सूफियों की तरह इस लोक को भूलकर किसी इतर सौन्दर्य-लोक में निवास करने वाले अव्यक्त, असीम, अज्ञात प्रियतम की खोज में निरत रहता है। उसका सारा काव्य इस लोक की ऐहिक आकांक्षाओं से सम्बन्ध न रखकर एक अलौकिक प्रेम-विरह की रहस्यानुभूति से सम्बन्ध रखता है और उसे सामान्य मानवीय अनुभूतियों के धरातल पर उतार लाना अनुचित एवं असंगत है।

छायावाद पर आध्यात्मिकता के जितने गहरे आवरण डालने के प्रयास इस ओर से हुए उनका उतना ही तीव्र प्रतिवाद दूसरी ओर से किया गया और कटु सत्य को निरावृत रूप में सामने लाने का आग्रह भी एक दूसरी सीमा पर पहुँच गया। कवियों में पंत जी ने छायावाद की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की ही थी, डॉ० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान तथा डॉ० देवराज आदि आलोचकों ने भी नवीन-नवीन तर्कों के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया और यह विचार-धारा आज अपेक्षाकृत अधिक जीवित रूप में स्थित है।

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद का आधार पहले 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'[३] बताया फिर कदाचित् विद्रोह की वास्तविक प्रेरणा का अभाव देखकर अपनी शब्दावली को बदल दिया और फिर 'उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह'[४] कहना अधिक उचित समझा।

जहाँ तक छायावाद की भावभूमि का सम्बन्ध है उन्होंने उसे नितान्त लौकिक माना और लिखा कि छायावाद के कवि की 'प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।'[५] इन कुण्ठाओं का कारण उनके अनुसार 'राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवादी दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से तृप्ति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।'[६] 'वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति' को उन्होंने छायावाद की मूल वृत्ति घोषित किया और उसकी रहस्यवादी प्रकृतिवादी आदि अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की।[७] तथाकथित रहस्यानुभूतियों को तो स्पष्ट रूप से उन्होंने बौद्धिक जिज्ञासाएँ-मात्र माना, क्योंकि वे धार्मिक साधना

१. 'छायावाद : रहस्यवाद'—गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २१.
२. 'महादेवी की रहस्य-साधना'—विश्वम्भर 'मानव', पृष्ठ ५२-५३-५४.
३. 'सुमित्रानन्दन पन्त'—पृष्ठ ३.
४. 'विचार और अनुभूति'—पृष्ठ ५३.
५. वही, पृष्ठ ५६.
६. वही, पृष्ठ ५३.
७. वही, पृष्ठ ५४.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।[1] शिवदानसिंह चौहान ने 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उसकी समाजवादी पर्यालोचना करते हुए लिखा :

'छायावाद का कवि अपने भावों पर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके मध्यवर्गी सुख-स्वप्न टूट चुके हैं। वह सामाजिक जीवन की चेतना को विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूँजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना क्रन्दन-रुदन, इतनी निराशावादिता।'[2]

चौहान जी ने असन्तोष के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर भी विशेष बल दिया परन्तु पलायन छायावादी भाव-धारा का मौलिक आधार नहीं है, इस ओर नगेन्द्र जी तथा महादेवी जी दोनों ने ही संकेत किया है।[3] डॉ० देवराज ने निम्न शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है :

'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।'[4]

छायावाद के पतन के हेतुओं का निर्देश करते हुए उन्होंने अन्यत्र छायावादी काव्य के आध्यात्मिक होने का भी प्रतिवाद किया है :

'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा होता तो भी इस धर्म-प्राण देश में जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती।'[5]

निष्कर्ष रूप में वे छायावाद की कल्पनाशीलता को उसके पतन का चरम हेतु स्वीकार करते हैं और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को अनुभूति-जन्य न मानकर कल्पना-जन्य मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी कतिपय अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ :

'उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं, यह लोक है, परलोक नहीं। छायावाद आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त,' पृष्ठ २७.

२. 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ३७.

३. (i) आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन नहीं है।

—'विचार और अनुभूति', पृष्ठ २४.

(ii) ...तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ-जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने सूक्ष्म भाव-जगत् को अपनाया।

—'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ ७४–७५.

४. 'छायावाद का पतन', पृष्ठ ६.

५. वही, पृष्ठ ६.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विद्रोह था।'[१]

'ऐतिहासिक दृष्टि से छायावाद-युग का वातावरण आध्यात्मिकता के उपयुक्त न था।'[२]

संक्षेप में पूर्व उल्लिखित मत की तुलना में यह मत अधिक वैज्ञानिक, अधिक बुद्धिगम्य तथा अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत होता है। छायावाद की भावभूमि का बहुत-कुछ यथार्थ रूप उक्त स्थापनाओं से प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः छायावादी काव्य को आध्यात्मिक कहना लगभग वैसा ही है जैसा जयदेव के 'गीत-गोविंद' और विद्यापति के पदों को भक्ति-काव्य मानना। उसमें शृङ्गारिकता—न स्थूल सही सूक्ष्म ही सही—की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी प्रकार उसकी लौकिक प्रेरणा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी छायावादी कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं से लौकिक प्रेरणा का स्वर अलग पहचाना जा सकता है।

'रश्मि' और 'नीहार' की निम्न लिखित पंक्तियों में आधार की अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता ही अधिक झलकती है :

(i) सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया-सा आता। 'रश्मि'

(ii) मेरे नीरव मानस में वे धीरे-धीरे आये। 'नीहार'

'आँसू' के प्रथम रूप में उतनी रहस्यवादिता न थी जितनी बाद के परिवर्धित रूप में आ गई। 'बाँधा था विधु को किसने उन काली जंजीरों से' अथवा 'मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय-दल पुरइन के' से जिस सौन्दर्यमय व्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है उसके मिलन की अनुभूति न अतीन्द्रिय हो सकती है और न आध्यात्मिक। वह इतनी तीव्र अवश्य रही होगी कि उसकी अभिव्यक्ति 'कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के' के द्वारा ही सम्भव हो सकी। पन्तजी की 'आम्रतरु' वाली कविता तथा निरालाजी की 'जूही की कली' भी इसी बात का प्रमाण है कि छायावादी कवियों को प्रेरणा किसी अज्ञात प्रियतम से न प्राप्त होकर ज्ञात प्रियतम से ही प्राप्त हुई।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूफियों में 'इश्क मजाजी' 'इश्क हकीकी' में परिणत हो जाता था उसी प्रकार छायावाद में लौकिक अनुभूतियाँ अलौकिक अनुभूतियों में परिणत हो गईं। अनेक भक्तों में भी लौकिक प्रेम अलौकिक रूप धारण करता देखा गया है। यहाँ पहले तो इश्क हकीकी या अलौकिक प्रेम-जैसी कोई वस्तु होती भी है इसी पर शंका होती है। यदि उसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सूफियों और भक्तों में संसार के प्रति जो विराग भाव मिलता है वह छायावादी काव्य में उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में संसार की अस्थिरता तथा जीवन की दुःखमयता के प्रति सूफियों तथा भक्तों का दृष्टिकोण विरागात्मक है और छायावादी कवियों का रागात्मक। छायावादी काव्य का सूक्ष्म परिशीलन करने पर भी यह कहीं ज्ञात नहीं होता कि कब कवि ने लौकिक प्रेरणा को छोड़ा और कब अलौकिक को ग्रहण किया।

ऐसी दशा में या तो यही सत्य प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक कविताओं में व्यक्त होने वाली एहिक आकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति रहस्यानुभूति के नाम से की गई। लोगों को भ्रम

---

१. 'छायावाद का पतन,' पृष्ठ १४.

२. वही, पृष्ठ १५.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लाक्षणिकता के सौन्दर्यमय आवरण के कारण हुआ जो आज भी सम्भव है। छायावाद के उत्तरांश में जिन कवियों ने उस लाक्षणिकता से अपनी भावनाओं को आवृत नहीं किया उनमें वास्तविकता ऊपर आकर बोल उठी। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, तथा अंचल आदि कवियों की कविताएँ इसकी साक्षी हैं। इस प्रकार छायावाद का आदि और अन्त दोनों ही उसकी आध्यात्मिक व्याख्या के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। आध्यात्मिकता का आरोप जिन कविताओं पर किया जाता है उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं को यह आरोप तिरोहित नहीं कर पाता। कविताओं में सर्वप्रमुख रूप से व्याप्त निराशा किसी भी कवि को कबीर-जैसी निर्भीकता से कहने नहीं देती :

हम न मरै मरिहै संसारा।
हमका मिला जियावन हारा॥

और न रवीन्द्रनाथ के गीतों की तरह उनमें मुक्त उल्लास एवं आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। छायावादी काव्य के निराशावाद को न तो हम सर्वात्मवाद की करुणा का रूप कह सकते हैं और न परमात्मा के वियोग में आत्मा की व्यथा। वह निश्चय ही लौकिक भावभूमि का प्रमाण है और उसकी समाजवादी व्याख्या बहुत-कुछ सही है। पाश्चात्य प्रभाव ने भी युग को बौद्धिकता की ओर मोड़ा, अध्यात्म की ओर नहीं।

भौतिकवाद को ही सब-कुछ न समझकर चेतन अथवा आत्मा पर विश्वास करने वाला व्यक्ति भी कह सकता है कि छायावादी कविता मन के स्तर से गहरी नहीं गई है। उसमें आत्मानुभूति है आत्मा की अनुभूति नहीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष की सीमा वहीं तक है जहाँ तक मन की गति है और दार्शनिक पक्ष की जिज्ञासा कुतूहल और विस्मय तक। छायावाद के विस्तृत काव्य-क्षेत्र में अनेक स्थल हैं जिनमें कवियों की वास्तविक जिज्ञासा व्यक्त हुई है :

(i) न जाने नक्षत्रों से कौन।
निमंत्रण देता रहता मौन—पन्त

(ii) फिर विकल हैं प्राण मेरे,
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है
जा रहे जिस पंथ से युगकल्प उसका छोर क्या है।
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।
महादेवी

ये तत्त्व छायावादी कवियों में न्यूनाधिक अंशों में अवश्य विद्यमान थे इसीलिए प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' (विशेष रूप से अन्तिम तीन सर्ग) रची गई, महादेवी जी ऋचाओं के अनुवाद की ओर प्रवृत्त हुईं, पन्तजी ने अरविन्द के आध्यात्मिक दर्शन से प्रभावित होकर 'उत्तरा' आदि अपनी नवीन कृतियाँ प्रस्तुत कीं और निराला ने 'अर्चना' में मध्यकालीन भक्त का स्वर अपनाया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त छायावाद आध्यात्मिक भावभूमि पर स्थित समझा जाय। वस्तुतः यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों में छायावाद का युग समाप्त हो जाने के बाद परिलक्षित हो रही है और इसी से प्रमाणित होता है कि छायावादी काव्य आध्यात्मिक काव्य नहीं है।

छायावाद की भावभूमि को लौकिक रूप में ग्रहण करने के पक्ष में अपना मत देते हुए भी मैं एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ और वह यह कि मेरी दृष्टि में दोनों ही मत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वास्तविकता को कुछ-न-कुछ विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिकता के प्रतिवाद तथा वस्तु सत्य की परख का सम्बन्ध है वहाँ तक तो मानसिक कुण्ठाओं के रूप में की गई व्याख्या ग्राह्य है, परन्तु छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमित वासनाओं और कुण्ठाओं के ही रूप में देखना उतना ही विकृत है जितना फूलों में खाद को देखना। फूल धरती के हैं वे आकाश-कुसुम नहीं हैं इतना ज्ञान ही पर्याप्त है। छायावादी काव्य में व्यक्त भावनाएँ भी इसी धरती की भावनाएँ हैं, उतनी ही सामान्य है जितना सामान्य मनुष्य। उनकी आध्यात्मिक व्याख्या करना मनुष्य को स्वर्ग-लोक का प्राणी कहना है।

दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना होगा। यदि यह कहने से हीनता व्यंजित करने का अभिप्राय हो तो मैं उसका प्रतिवाद करता हूँ। छायावादी काव्य का सौन्दर्य उसे मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मानने पर किसी प्रकार कम नहीं होता। वैज्ञानिक तथ्य को वैज्ञानिकतया ही स्वीकार करना होगा। उसे छायावादी काव्य के मूल्यांकन में आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देना भी उचित नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमती विजय चौहान

प्रगतिवाद

: १ :

सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक-संघ के जन्म के साथ भारतीय भाषाओं के साहित्यों में भी मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव मुखर हो उठा। प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की बगल में और एक सीमा तक उसके विरोध में साहित्य का एक नया दृष्टिकोण सामने आया, जिसे आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा गया। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विभिन्न देशों के मार्क्सवादी आलोचक पिछली शताब्दी से ही जिस वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की रचना करते आए हैं, 'प्रगतिवाद' वस्तुतः उसका ही भारतीय नामकरण है।

साहित्यालोचन के इस नये दृष्टिकोण ने अनेक तात्विक और व्यावहारिक प्रश्न उठाए हैं और अपने वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता से उनका विवेचन करके उनके समाधान भी उपस्थित किये हैं। साहित्य और कला क्या है, और मूल्यांकन की समस्या क्या है? इन दो मूल प्रश्नों तथा इनसे सम्बद्ध अनेक दूसरे प्रश्नों को उठाकर 'प्रगतिवाद' ने अपनी वैज्ञानिक स्थापनाओं से साहित्य-शास्त्र को नई दृष्टि दी है।

यह अलग बात है कि अनेक 'प्रगतिवादी' आलोचक अपने वक्तव्यों और विवेचनों में मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पालन नहीं कर पाये और विशेष स्थानीय प्रभावों के कारण उनकी आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मूलतः फ्रांसीसी इतिहासकार 'टेन' (Hippolyte Taine) के सापेक्षतावादी सौन्दर्य-सिद्धान्त का अनुगमन करने लगी, जिससे प्रभाव ग्रहण करके रूसी विचारक प्लैखानोफ (Art & Society) ने साहित्य के सम्बन्ध में मार्क्सीय विचार-धारा को कुत्सित समाजशास्त्रीयता के बीहड़ जंगल में भटका दिया था। इस कुत्सित समाज-शास्त्रीय सापेक्षतावाद ने साहित्य और कला की कृतियों, शैलियों (तथा इससे भी अधिक, जन्म या सामाजिक स्थिति के आधार पर साहित्यकारों—कलाकारों) के वर्ग-आधार को ढूँढ निकालने में अपने आलोचक-कर्म की इतिकर्तव्यता समझ ली। बहुत दिनों तक मार्क्सवादी आलोचक इस बीहड़ जंगल में भटकते रहे और मार्क्स-लेनिन के कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा करते रहे। मूल्यांकन के नाम पर किसी कृति को मनमाने ढंग से 'सामन्ती', पूँजीवादी (बुर्जुआ) या प्रोलेतेरियन-जैसे तीन-चार खानों में ठूँस-ठाँसकर रख देना और कलाकारों को इनमें से किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर देना ही उनके निकट सबसे महत्त्व का प्रश्न बन गया। एक लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष के बाद अन्य देशों के मार्क्सवादी विचारक अपने ही बीच के कुत्सित समाज-शास्त्रियों और उनके अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और कुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण को नंगा कर देने में सफल हुए हैं, किन्तु अभी तक हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के नाम पर कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का ही बोलबाला है जिससे प्रगतिवाद के विरोधियों को उस पर गलत आरोप लगाने का अवसर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिलता गया है।

और यह बात भी अलग है कि 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण से प्रभावित कवियों और कथाकारों ने हिन्दी में जो साहित्य रचा वह कला की दृष्टि से (जिसमें विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व अन्योन्याश्रित होते हैं) बहुधा उच्च कोटि का नहीं हो पाया। बल्कि यदि समग्र रूप से देखें तो रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का यथार्थवाद और छायावादी कवियों की मार्मिकता भी इन रचनाओं में नहीं है। इसमें जो कोरी 'नारेबाजी का साहित्य' (?) नहीं है वह भी अधिकतर साधारण कोटि का ही है। उसमें जीवन-यथार्थ के उपर से प्रत्यक्ष दीखने वाले अंगों का ही यथा-तथ्य (प्रकृत, नैचुरलिस्टिक), रूप-रस-वर्ण-गन्धहीन, उथला-पुथला चित्रण है; जो युग-सत्य का उद्घाटन न करके उसे एकांगी और विकृत बना देता है। उसमें जिन पात्रों का चित्रण हुआ है वे प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) नहीं, बल्कि यन्त्रवत् लेखक की इच्छा-अनिच्छा पर उठने-बैठने-बोलने वाली कठपुतलियाँ हैं, जो सजीव न होकर विचारों और वर्गों की 'प्रतीक' हैं। इस नये साहित्य में नई विचार-वस्तु को अधिकतर ऊपर से ठूँसकर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है। वास्तव में उसमें नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नहीं है। दुर्भाग्य से यशपाल, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन-जैसे प्रमुख कथाकार भी, अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण के बावजूद, इस ह्रासोन्मुखी कला-दृष्टि से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये। उन्होंने भी यह प्रभाव देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों से ही ग्रहण किया है, जिससे वे अपनी कला-सम्बन्धी समस्याओं का सही समाधान खोजने में एक सीमा तक असमर्थ रहे हैं।

परन्तु नये साहित्य में या प्रगतिवादी आलोचना में यदि यह विकृतियाँ आई हैं और किन्हीं कारणों से हमारे देश में आज भी नये साहित्यकार प्रकृत-चित्रण (नैचुरलिज़्म) और अधिकतर प्रगतिवादी आलोचक कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की ही ओर बरबस आकृष्ट होते हैं तो इससे 'प्रगतिवाद' के वास्तविक दृष्टिकोण और उसकी साहित्य-कला-सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल्य किसी भी अंश में कम नहीं हो जाता। कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और सापेक्षतावादी प्रवृत्ति केवल एक परिस्थितिजन्य सामयिक विकृति है, जिस प्रकार 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, रूपवाद, चित्र-कल्पनावाद आदि की प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी समाज की परिस्थिति जन्य सामयिक विकृतियाँ हैं। अन्ततः प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विजयी होगा, क्योंकि वह ऐतिहासिक भौतिकवादी है और विश्व की श्रेष्ठतम कला और साहित्य की परम्पराओं के सांगोपांग अध्ययन-विवेचन के द्वारा विकसित हुआ है और हो रहा है। इसके साथ ही हमारे यहाँ का प्राचीन काव्य-शास्त्र और उसके सिद्धान्त यद्यपि अपने में सम्पूर्ण दिखते हैं, किन्तु फिर भी न तो वे कला और साहित्य-सम्बन्धी उन मौलिक प्रश्नों का समुचित उत्तर ही दे सकते हैं जिन्हें 'प्रगतिवाद' ने उठाया है और न वे हमें प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही-सही कलात्मक—अतः सामाजिक—मूल्य आँकने की पर्याप्त गहरी ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यबोधिनी अन्तर्दृष्टि ही देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काव्य-शास्त्र में अब ऐसे तत्त्व नहीं रहे जो उपयोगी हों; या नया साहित्यकार अपनी कृति में रस और काव्यानन्द की सृष्टि न करके उसे नीरस बना दे और नया पाठक उसकी कृति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से मनोरंजन की अपेक्षा ही न रखे; या नये साहित्य के रूप-विन्यास और रचना-तन्त्र में अलंकार, वक्रोक्ति, गुण और ध्वनि आदि का कलात्मक समाहार निष्प्रयोजन समझा जाय; या नया आलोचक प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली को त्यागकर सर्वथा नये शब्द-संकेत गढ़े। प्राचीन मनीषियों और विचारकों की देन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद का न था, न है। वस्तुतः प्रगतिवादी विचारकों का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब आदि काल से लेकर आज तक साहित्य-कला-सम्बन्धी जो अनुभव-सिद्ध और मूर्त्त सत्यान्वेषी उद्भावनाएँ होती आई हैं, उन सबका ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक व्यापक सौन्दर्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार और समन्वय किया जाय।

सम्भवतः इसीलिए प्रारम्भ में 'प्रगतिवाद' ने अधिकतर वे प्रश्न ही उठाए जो आधुनिक जीवन और आधुनिक कला-साहित्य के विशिष्ट विकास ने अनिवार्य रूप से उपस्थित कर दिए हैं, और जिन पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना आधुनिक विज्ञान और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ने सम्भव बना दिया है। प्राचीन काव्य-शास्त्र के विवेचक आचार्यों के सम्मुख ये प्रश्न इस रूप में न उठे थे, न उनका वैज्ञानिक उत्तर दे सकना ही उस समय उनके लिए सम्भव था। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करके प्रगतिवादी सौन्दर्य-शास्त्र उन्हें किस रूप में और किस सीमा तक ग्रहण कर लेगा, इस बारे में मैं जल्दी ही कोई मत प्रकट करना उचित नहीं समझती। यद्यपि यह कह देना अवश्य निरापद होगा कि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने दायित्व को समझकर अभी तक गम्भीरता से प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन-विवेचन नहीं किया है।

: २ :

प्रगतिवाद की दृष्टि में स्वयं कला क्या है—इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान पाना ही सबसे मौलिक समस्या है, क्योंकि और सब समस्याओं, जैसे वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला-निर्माण की पद्धति क्या है अर्थात् कला में विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व का समन्वय कैसे होता है और कला किस प्रकार वास्तविकता (रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करती है, कला का सामाजिक प्रयोजन क्या है और वर्ग-समाज हो या वर्गहीन समाज, श्रेष्ठ कलाकार क्योंकर मानव-आत्मा का शिल्पी होता है और इस प्रकार समग्र मानवता का सजग सत्यान्वेषी पक्षधर बनता है तथा इस कर्तव्य से च्युत होकर वह किस प्रकार अपनी कला का ही हनन कर बैठता है आदि सभी समस्याओं का समाधान इस मौलिक प्रश्न के ही आश्रित है।

कला क्या है ?—इस प्रश्न के उत्तर अरस्तू और भरत मुनि के समय से साहित्य-कला के आचार्य देते आए हैं, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक न होगा। मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहें, कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है। आदि काल से लेकर आज तक की कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर काल और हर युग में कला वास्तविकता या जगत् के मार्मिक बोध का ही साधन रही है। सामाजिक सम्बन्धों में पड़कर मनुष्य अपने चतुर्दिक् जगत् के बारे में क्या सोचता-समझता है और सक्रिय रूप से उसे कैसे बदलता है, कला के माध्यम से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसने अपनी इस सामाजिक चेतना को ही अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप होने के कारण कला मनुष्य के सत्य का उद्‌घाटन करने और उसका बोध कराने का साधन है। मनुष्य का सत्य कोई निर्विकार, निराकार, निरपेक्ष, कालातीत वस्तु नहीं है जो अलग से प्रत्येक मनुष्य में निहित हो। वास्तव में बाह्य प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष-रत मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का सत्य ही मनुष्य का सत्य है। व्यापक अर्थ में मानव-जीवन के निरन्तर परिवर्तनशील समाज-सम्बन्धों को ही मनुष्य की चेतना प्रतिविम्बित करती है।

कलाकार मानवता के संघर्ष का अगुआ है, क्योंकि अधिक संवेदनशील प्राणी होने के कारण वह वास्तविकता के नित्य नये पहलुओं का उद्‌घाटन करता जाता है और मनुष्य के भाव-विचारों को नई स्फूर्ति, मनुष्य की चेतना को नई संवृद्धि देता हुआ मनुष्य को अधिक मानवीय और सौन्दर्यप्रिय बनाता जाता है। साहित्य और कला का यही प्रयोजन है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिविम्बन के सिद्धान्त को भारतीय प्रतिबिम्बवाद का प्रतिरूप नहीं समझ लेना चाहिए। भारतीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रति-बिम्ब। किन्तु मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन के अनुसार भौतिक जगत् या वास्तविकता ही बिम्ब है और मनुष्य का मानस या उसकी चेतना उसको प्रतिविम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला भी वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को किंचित् विस्तार से समझ लेना होगा। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध रूपगत प्रकृत चित्रण से नहीं है। अर्थात् श्रेष्ठ कला में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हू-बहू उसकी अनुकृति नहीं होता। प्राचीन काल में अफ़लातून, अरस्तू आदि ने प्रकृत की अनुकृति (इमीटेशन) को ही कला की सचाई की कसौटी माना था। किन्तु यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अनुकरण का सिद्धान्त वस्तुतः रूपवादी है और उसका 'यथार्थ-वाद' कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) तक ही सीमित है। यह वस्तु (ऑब्जेक्ट) का ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देने का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यदि एक युवती का चित्र है तो उसके नख-शिख का ज्यों-का-त्यों अविकृत खाका खींच देना ही कला की श्रेष्टता का प्रमाण माना जायगा। किन्तु प्रगतिवाद इस प्रकार के यथारूप-चित्रण को एकांगी ही नहीं कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध भी समझता है। यद्यपि भौतिक जगत् (वास्तविकता) का अस्तित्व मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करता और उसकी स्वतन्त्र इयत्ता है—यानी विषयी (सब्जेक्ट या मनुष्य) से बाहर भी विषय (आब्जेक्ट-प्रकृति) की सत्ता है, लेकिन साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य भौतिक जगत् या वास्तविकता का अविच्छिन्न अंग है और इस वास्तविकता को बदलने, अपने अनुकूल बनाने के निमित्त विषयी रूप में हमारी संवेदनात्मक ऐन्द्रिक क्रियाशीलता का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानस पर पड़ता है—उसी से चेतना का जन्म होता है। प्रकृति को बदलने, अपने अनुकूल बनाने वाली इस चिरकालिक क्रियाशीलता का एक अंग ही कला है। कला किसी शाश्वत या परिवर्तनशील प्रकृति की अनुकृति नहीं है कि विषय (ऑब्जेक्ट) के रूप में मनुष्य निस्संग और निर्विकार मन से उसका मनन-चिन्तन करते रहें; बल्कि वह जीवन की मार्मिक छवियों के द्वारा मनुष्य-समाज के यथार्थ-सत्य का प्रतिबिम्बन करती है। इसलिए प्रगतिवाद यथारूप अनुकृति को नहीं, 'यथार्थवाद' को कला की श्रेष्ठ कसौटी मानता है। यथार्थवाद को इसलिए कि उसका सम्बन्ध कला के रूप-तत्त्व से नहीं, बल्कि विचार-तत्त्व या विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) से है। कलाकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वास्तविकता के किसी विशिष्ट अंग या सत्य का उद्घाटन करने के लिए जिस विचार का प्रेषण करना चाहता है—कला के रूप-तत्त्व की समस्या उसे जीवन की मूर्त और मार्मिक छवियों के द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्ति देने और उस विशिष्ट छवि का साधारणीकरण करके उसे सबके लिए अर्थ-वान बनाने की समस्या है। अर्थात् रूप-तत्त्व किसी मूल-विचार (कण्टेण्ट) की अभिव्यक्ति और प्रेषण का ही माध्यम है। इतिहास साक्षी है कि प्राणवान् और श्रेष्ठ कला के निर्माताओं ने यथार्थ या वास्तविकता की किसी परिकल्पना को ही, मानव-जीवन के किसी सत्य या रहस्य को ही उद्घाटित करने के लिए मनोनुकूल रूप-विधानों का आश्रय लिया है। परियों की कथाओं, अन्योक्ति-विधानों और धार्मिक रचनाओं में भी यथार्थ जीवन का देश-काल-सापेक्ष्य सत्य ही प्रतिबिम्बित हुआ है। यथार्थ केवल वही नहीं है जो प्रत्यक्ष दिखता है, सीधे तौर पर अनुभवगम्य है, अर्थात् जो वर्तमान में है। प्रकृति और मानव-जीवन (वास्तविकता) निरन्तर परिवर्तनशील है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी। कोई भी वस्तु आत्म-निर्भर नहीं है। असंख्य सीधे और परोक्ष सम्बन्धों-अन्तर्सम्बन्धों द्वारा अन्य वस्तुओं से जुड़ी हुई है। इसलिए वास्तविकता के यथार्थ को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जिस केन्द्रीय विचार को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसका वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण, अन्तरंग और मूर्त चित्रण करे ताकि वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धों के साथ उद्घाटित हो जाय। श्रेष्ठ कला के निर्माण की यही प्रणाली है, और कोई नहीं। प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को श्रेयस्कर माना था। प्रकृतवाद या यथार्थ के फोटोग्राफ़िक हू-ब्हू चित्रण को अक्सर 'यथार्थवाद' की संज्ञा दी जाती रही है, क्योंकि इस प्रकार केवल कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) से ही उसका सम्बन्ध जोड़ देने से उस पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने इसीलिए 'यथार्थवाद' के साथ 'आदर्शोन्मुखता' का संयोग किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते वे केवल वास्तविकता के उस रूप से ही सन्तुष्ट न थे जो 'है' बल्कि उसके सत्य का उद्घाटन करने के लिए यह दिखाना भी जरूरी समझते थे कि वह 'क्या था' और क्या होने वाला है या 'होना चाहिए।' वास्तव में यही 'यथार्थवाद' है, क्योंकि वास्तविकता गतिशील है। हमारे एक प्रगतिवादी (या कुत्सित समाज-शास्त्री) आलोचक[1] हैं, जो इस बात को न समझ पाकर 'आदर्शोन्मुख' शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेमचन्द पर ही पिल पड़े। उन्होंने इस बात का भी ध्यान न रखा कि दार्शनिक विचार-धारा के रूप में 'आदर्शवाद' का जो अर्थ है, साधारण प्रयोग में 'आदर्शवाद' का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। एक जगह आदर्शवाद का अर्थ अध्यात्मवाद है तो दूसरी जगह उसका अर्थ कोई मानवीय नैतिक-सामाजिक लक्ष्य-मात्र है। प्रेमचन्द ने इस दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया था, क्योंकि वे सम्भवतः यह न जानते थे कि 'यथार्थवाद' के अन्दर यथार्थ जीवन की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। उदाहरण के लिए 'वर्गहीन साम्यवादी समाज' की ओर इतिहास प्रगति कर रहा है तो वह हर देश की शोषित-पीड़ित मानवता का लक्ष्य भी है, और आदर्श भी। इसलिए एक सच्चा कलाकार जब वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है तो यथार्थ रूप में, अर्थात् दैनन्दिन जीवन में जो-कुछ साधारणतः घटित होता रहता है उस सबको ज्यों-का-त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि ऐतिहासिक सम्भावना की दृष्टि से यथार्थ के सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो भी सारपूर्ण हैं, प्रासंगिक हैं, केवल उन्हीं अंगों का चयन

१. डॉ० रामविलास शर्मा—देखिए उनकी पुस्तक 'प्रेमचन्द'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करता है। वस्तुतः कला की भाषा जीवन और इतिहास की भाषा होती है।

मनुष्य की चेतना के विशिष्ट रूप होने के नाते कला और विज्ञान दोनों ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं और सत्य का बोध करने के साधन हैं। मनुष्य की चेतना निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) का बोध प्राप्त करने में समर्थ है—निरपेक्ष सत्य सापेक्ष्य सत्यों के समाहार का ही परिणाम होता है। इससे यह दोनों बातें सिद्ध हैं कि (१) वास्तविकता में मूलतः कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसको मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती और उसे 'नेति-नेति' की आर्त्त घोषणा करनी पड़े तथा (२) अपने सक्रिय जीवनानुभव और ज्ञान की सहायता से मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती तो वह निस्सार, शून्य और खोखली ही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि कला और विज्ञान, जो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, यदि ऐसा न करते होते या न करें तो वे अर्थवान् नहीं बन सकते। 'कला के लिए कला' के नाम पर केवल रूप-तत्त्व को प्रधानता देने वाले जो अनेक प्रवाद खड़े किये जाते रहे हैं, उनकी निरर्थकता स्वयं-सिद्ध है।

कला और विज्ञान यद्यपि इस जगत् और जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, परन्तु दोनों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। विज्ञान 'विचारों' के रूप में वास्तविकता का बोध कराता है तो कला मार्मिक और अर्थवान् छवियों या जीवन-चित्रों के रूप में। विज्ञान अलग-अलग (विशिष्ट) तथ्यों का निरीक्षण करके उनके आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है, क्योंकि इन नियमों की जानकारी बाह्य प्रकृति को बदलने, नियन्त्रित करके अपने लिए उपयोगी बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता का आधार और उत्तरोत्तर प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से उसकी मुक्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत कला विचारों की अमूर्त्त भाषा में नहीं बल्कि अर्थवान् मार्मिक छवियों या जीवन-चित्रों की भाषा में वास्तविक जगत् में होने वाली घटनाओं या उनमें भाग लेने वाले मानव-चरित्रों के सक्रिय, अन्तरंग और वैविध्य-पूर्ण चित्र अंकित करके और उनके ही माध्यम से सामान्य या प्रतिनिधि रूपों का उद्घाटन करती है। तात्पर्य यह कि विज्ञान यदि विशिष्ट तथ्यों को अमूर्त विचारों द्वारा सामान्य (जनरल) के रूप में उपस्थित करके उनकी इयत्ता को सिद्ध और प्रमाणित करता है तो कला सामान्य विचारों और धारणाओं को मूर्त्त, व्यक्ति-चित्रों के रूप में अंकित करती है जिससे अपने गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के साथ वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों की निश्चित, मूर्त्त और विशिष्ट छवियाँ दर्शनीय और संवेदनीय हो उठें। कला इस प्रकार विशिष्ट के माध्यम से साधारण (रवीन्द्रनाथ के शब्दों में ससीम में ही असीम) की उपलब्धि कराती है।

इसके अतिरिक्त कला और विज्ञान में एक और उल्लेखनीय भेद है। विज्ञान का कोई सिद्धान्त या उसकी कोई भी स्थापना उससे अधिक व्यापक और प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त या स्थापना द्वारा रद की जा सकती है, किन्तु कला के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक कलाकृति अपने-आपमें सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई होती है और इसी रूप में इतिहास में अमर होती है। यह ठीक है कि देश-काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रभाव ग्रहण करते हैं, लेकिन उसकी प्रेरणा देने की शक्ति अपनी सम्पूर्णता और अविभाज्यता में ही निहित है। कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों और नई कृतियों के निर्माण से उसका सौन्दर्य या सत्य नष्ट नहीं हो जाता कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उदाहरण के लिए पृथ्वी के चारों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ओर सूर्य घूमता है—किसी युग के विज्ञान की यह स्थापना चाहे गलत सिद्ध होकर आज व्यर्थ हो गई हो, लेकिन वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काव्य-ग्रन्थ या अजन्ता के चित्र इतने युग बीत जाने पर भी व्यर्थ और निरर्थक नहीं हुए, न कभी होंगे। इतना ही नहीं, यदि एक ही विषय को लेकर बहुत कलाकार रचना करें तो उनकी कृतियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मौलिक हो सकती हैं और वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्घाटन कर सकती हैं और उन सब रचनाओं से मानव-संस्कृति समृद्ध हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कला में अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य, संवेदनात्मक प्रतिविम्बन होता है, और वास्तविकता की ही तरह कला-कृति का निर्माण व्यक्ति-छवियों के अन्तर्सम्बन्धों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही होता है।

कला और विज्ञान के इन भेदों को इससे अधिक आगे बढ़ाकर देखना उचित न होगा, क्योंकि वैज्ञानिक या कलात्मक चेतना का सामान्य माध्यम मनुष्य के इन्द्रियज-संवेदन ही हैं जो बाह्य वास्तविकता का बिम्ब ग्रहण करके उसे पुनः प्रतिविम्बित करते हैं। अर्थात् इस द्वैत की कल्पना कर लेना एक प्रवंचना को जन्म देना होगा कि कला की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के भाव हैं और विज्ञान की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के विचार हैं—एक की सत्ता भाव-पक्ष तक सीमित है और दूसरे की सत्ता केवल बुद्धि-पक्ष तक। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि कला में विचार-वस्तु होती ही नहीं, उसके द्वारा मनुष्य चेतना के तल पर वास्तविकता का बोध नहीं करता, बल्कि ऐन्द्रिक संवेदनों के तल पर ही उसकी अनुभूति करता है। प्रगतिवाद कलाकार की सृजन-प्रकिया तथा कला-कृति दोनों के लिए ऐन्द्रिक-संवेदनों तथा अनुभूति के आत्यन्तिक महत्त्व को तो स्वीकार करता है लेकिन इस अनिवार्य माध्यमिक तत्त्व को कला का मूल तत्त्व या सार तत्त्व नहीं मानता। प्रगतिवाद के अनुसार ये प्राथमिक कोटि के सहज संवेदन और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए तभी अर्थवान् और सुन्दर बनती हैं, जब वे पाशविक धरातल से ऊँची उठकर मानवीय बन जायँ, अर्थात् वास्तविकता के किसी सत्य को मूर्त्त अभिव्यक्ति दें।

कला की समस्या, इसीलिए, अर्थवान् और मार्मिक छवियों के माध्यम से वास्तविकता का सारपूर्ण चित्रण करने की समस्या है। विचार-वस्तु (कण्टेण्ट) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के केवल सारपूर्ण प्रसंगों और तत्त्वों को ही चयन करके उपस्थित किया जाय, न कि इन्द्रिय-बोध से जो कुछ भी दिखाई दे, उस सबकी हू-ब-हू नकल उतारी जाय। रूप-तत्त्व (फार्म) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के इन सारपूर्ण प्रसंगों को सजीव ढंग से, उनके गुण और चारित्रिक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाय, ताकि वे सबके लिए अर्थवान् हो जायँ। कला के रूप-तत्त्व की समस्या विचार-वस्तु की अपेक्षा में ही कोई अर्थ रखती है। कलाकार का जो 'विचार' है, उसे वह कैसे कलात्मक रूप में व्यक्त करे कि वह सबके लिए प्रेषणीय बन जाय। प्रगतिवाद साधारणीकरण के प्रश्न को इस रूप में ही पेश करता है।

कलाकार मर्म-छवियों के माध्यम से ही अपने विचार को मूर्त्त और कलात्मक बनाता है, इसलिए इस मर्म-छवि को पहले समझ लें। मर्म-छवि क्या होती है? मर्म-छवि वास्तव में विशिष्ट और सामान्य (पर्टीक्युलर और जनरल) की इकाई होती है। 'यह गुलाब का फूल है' —इसमें व्यक्तिवाचक और जातिवाचक दोनों संज्ञाओं का द्वन्द्वात्मक योग है। वस्तुतः दोनों ही एक हैं। विशिष्ट में ही सामान्य है। सामान्य विशिष्ट में है और उसी के द्वारा है। हर सामान्य विशिष्ट का ही एक अंग या पहलू होता है। प्रत्येक विशिष्ट असंख्य सूत्रों द्वारा दूसरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विशिष्टों से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट और सामान्य परस्पर-विरोधी हैं, अर्थात् उनका आन्तरिक संघर्ष नित्य है। उन दोनों में एकता स्थापित होती है, पर यह एकता अस्थायी, सापेक्ष्य परिस्थितिजन्य और अनित्य होती है। यह वास्तविक जगत् का नियम है। कला की दृष्टि से मर्म-छवि का अर्थ यह है कि कलाकार अपने चित्र में विशिष्ट और सामान्य की इस क्षण-कालिक, सापेक्ष्य तथा परिस्थितिजन्य एकता को चिरकाल के लिए अंकित कर देता है जिससे यह चित्र पाठक या दर्शक को संतोष प्रदान करता है। लेकिन यह चित्र तभी अर्थवान् और सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी साथ ही उद्घाटित करे, ताकि उसकी कला-कृति संतोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक भी हो, और मनुष्य को इन दोनों तत्त्वों की और भी गम्भीर तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। उदाहरण के लिए उपन्यास-साहित्य में मर्म-छवि का अर्थ होगा ऐसे सजीव, विशिष्ट मानव-पात्रों की सृष्टि करना, जिनसे वास्तविक जीवन की आभा विकीर्ण होती हो, जो केवल कठपुतली पात्र न हों, अर्थात् उन व्यक्ति-पात्रों के चरित्र, उद्योग और उनकी नियति में मानव-जीवन की वास्तविक नियति पूरी तरह अन्तर्निहित हो, जिससे वे अपनी विशिष्टता में ही सामान्य के प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) बन सकें। प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट पात्र—युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण, भीष्म, कर्ण, राम, भरत, रावण, सीता, दमयन्ती आदि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, मौलियर, बाल्जक, ताल्स्ताय, गोर्की, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के अनेक पात्र ऐसे ही प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं जो मनुष्य के साहस, औदार्य, प्रेम, न्याय, सौन्दर्य, हीनता, असमंजस, भीरुता, नृशंसता, कायरता आदि के देश-काल-सापेक्ष्य गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। अपने सीमाबद्ध जीवन की परिस्थितियों से उनका संघर्ष मनुष्य के ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। इसीलिए उनके हर्ष-विमर्ष, सफलता-असफलता, उत्साह-निराशा में प्रत्येक पाठक न्यूनाधिक मात्रा में अपने विशिष्ट जीवन और भाग्य की समस्याओं की झलक पा लेता है। इस प्रकार कला में साधारण (जनरल) का चित्रण व्यक्ति-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही होता है। बाह्य-जीवन निश्चित परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्ति-विशेष की निश्चित मनःस्थितियों और भाव-विचार-प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन ही 'साधारण' (जनरल या कलाकार के मूल विचार) को इस योग्य बनाता है कि पाठक या दर्शक उसकी सचाई पर विश्वास कर ले और उससे स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर सके।

कला-कृतियों के रूप में या उनके द्वारा ही हम कला का साक्षात् करते हैं। कला-कृतियों के निर्माता कलाकार होते हैं। प्रगतिवाद सच्चे कलाकार को (अर्थात् उसे जिसने वास्तव में अमर कला-कृतियों की रचना की है या जो आज भी कर रहे हैं) मानव-आत्मा का शिल्पी मानता है, क्योंकि कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपनी रची श्रेष्ठ और अमर कला-कृतियों द्वारा इन कलाकारों ने, वे चाहे जिस वर्ग या समाज, देश या काल में क्यों न पैदा हुए हों, समग्र मानवता की संस्कृति को समृद्ध किया है और मनुष्य को अपने दैनंदिन जीवन की क्षुद्रताओं और सीमाओं से ऊपर उठकर अधिक मानवीय, सत्यान्वेषी, सौन्दर्य-प्रेमी, नैतिक और सामाजिक मानव बनने की प्रेरणा दी है, और किसी-न-किसी रूप में मनुष्य अपने ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष में उनसे सदा ही ऐसी प्रेरणाएँ लेते जायँगे। इसी तात्त्विक दृष्टि से प्रगतिवाद एक सच्चे कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानता है। पर एक सच्चे कलाकार या मानव आत्मा के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शिल्पी का गौरवशाली पद किसी व्यक्ति को तभी मिला है या मिल सकेगा जब वह अपनी कला-कृति से जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करके उसके किसी-न-किसी ऐतिहासिक सत्य को उद्घाटित करता है या भविष्य में करेगा।) इसी अर्थ में सच्चा कलाकार मानवता का पक्षधर होता है। वह जीवन का निस्संग द्रष्टा नहीं सक्रिय चितेरा होता है, यानी मनुष्य के सामने देश-काल की परि-स्थितियों के अनुसार इतिहास सामाजिक विकास की जो नई-नई संभावनाएँ पैदा करता जाता है और उनसे मनुष्य के कर्म-जीवन में जो नई-नई समस्याएँ उठती जाती हैं, सच्चा कलाकार इस यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर मनुष्य को अपने जीवन की यथार्थ समस्याओं और सम्भाव्य समाधानों का साक्षात् कराता है, और इस प्रकार मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है।

: ३ :

ऊपर के विवेचन में हमने प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से कला क्या है, वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला किस प्रणाली से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, कला में विचार-तत्त्व और रूप-तत्त्व का संयोग किस प्रकार होता है तथा कलाकार क्योंकर मानवता की प्रगतिशील शक्तियों का पक्षधर होता है, इस मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। अब हम इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन के प्रश्न को संक्षेप में समझ लेना चाहेंगे, क्योंकि कुत्सित समाज-शास्त्रियों ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा विकृत और एकांगी बनाया है।

मूल्यांकन की समस्या क्या है? इस समस्या के दो पहलू हैं। (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्यों मूल्यवान् हैं अर्थात् हमें सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने में क्यों समर्थ हैं और आगे भी रहेंगी, तथा (२) आधुनिक युग में इतनी प्रचुर मात्रा में जो साहित्य रचा जा रहा है उसमें कौनसी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गम्भीर, यथार्थ और मूर्त चित्रण करने के कारण महान् हैं (क्लासिक हैं) उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना। मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगों में भी एक ही समय में सैकड़ों कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण में संलग्न रहे हैं, लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्र सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने-आप ही काल कवलित हो चुकी हैं और आज हमें प्राचीन से विरासत के रूप में जो कृतियाँ प्राप्त हैं, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की हैं और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमें प्राप्त हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है? या फिर खोज का प्रश्न है ताकि सामयिक अरुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पड़ी हो या खो न गई हो। परन्तु जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग में हो रहा है, उसमें कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की, साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचानकर बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति में सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणों से जटिल बन गई है। एक ओर तो कला-वादी हैं जो रूपगत सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुत्सित समाज-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षता-वाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य हैं।

कलावादियों की दृष्टि में कला की श्रेष्ठता को जाँचने की कोई सामान्य (जनरल या ऐब्सो-ल्यूट) कसौटी नहीं हो सकती। हर युग की कला की रूप-शैली भिन्न होती है तो उसकी श्रेष्ठता की जाँच करने की कसौटियाँ भी उस युग की परम्परा और कला-रुचि के अनुकूल ही होती हैं। दूसरे युग में कला-शैली बदलती है, तो उसके सौन्दर्य की परख करने वाली कसौटियाँ भी बदल जाती हैं और पाठक या दर्शक की रुचियाँ भी। इसलिए अजन्ता की चित्र-कला को जाँचने के लिए जो मानदण्ड उन दिनों प्रचलित थे उनसे आधुनिक युग की चित्र-कला को जाँचना सम्भव नहीं है और न आधुनिक मानदण्डों से अजन्ता की चित्र-कला को जाँचना ही सम्भव है। उसको उस युग के मानदण्डों से ही पसन्द किया जा सकता है।

इससे भिन्न, किन्तु मूलतः सापेक्षतावादी दृष्टिकोण कुत्सित समाज शास्त्रीयता का है जो प्रगतिवाद या मार्क्सवाद की रामनामी ओढ़कर सामने आता है। यह दृष्टिकोण कला की भिन्न-भिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की खोज करने के लिए तत्कालीन समाज की वर्ग-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, और उसी की सापेक्षता में उनको जाँचता है या अधिक गम्भीरता का उपक्रम करके 'युग की सामान्य चेतना' से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। और अधिक विकृत होकर यह दृष्टिकोण कला-कृतियों का वर्ग-आधार खोजने के लिए उनके निर्माता कलाकारों और साहित्यकारों ने जिस वर्ग में जन्म लिया होता है, उसका हवाला देना-मात्र ही जरूरी समझता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कलाकार जिस वर्ग में जन्म लेता है; वह उस वर्ग की चेतना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार चूँकि बीते युगों के कलाकार अधिकतर अभिजात वर्गों में ही पैदा हुए या उन्होंने अपनी जीविका के लिए अभिजात वर्गों की नौकरी की या दरबारों का आश्रय लिया, इसलिए उनकी कला भी सामन्ती या पूँजीवादी आदि है। इसलिए इस दृष्टि से कला का मूल्य जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि जीवन के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण कुछ और था और अब पूँजीवादी दृष्टिकोण कुछ और, और समाजवादी दृष्टिकोण कुछ और है। सच्ची कला का तो अभी जन्म ही हुआ है, किन्तु वह वर्ग-मुक्त समाज में ही पूरी तरह विकास करेगी, जब श्रमजीवी जनता के बीच से लेखक और कलाकार उत्पन्न होंगे। इस समय तो आलोचक का काम प्राचीन और आधुनिक लेखकों के गले में तख्ती लटकाकर उनको वर्ग-खूँटे से बाँध देना भर है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक रुचियों और शैलियों का या सौन्दर्य की जाँच का प्रश्न है, कला की रुचियाँ, शैलियाँ और मनुष्य की सौन्दर्य-दृष्टि बदलती ही नहीं रहती, बल्कि अभिजात वर्ग के लिए जो सुन्दर है, श्रमजीवी-वर्ग के लिए वही असुन्दर है, कर्म-जीवन से तटस्थ, केवल काम क्रीड़ा की वस्तु नारी के कोमल अंग, क्षीण कटि और पतली-लम्बी मुलायम उँगलियों का अभिजात आदर्श श्रमिक और किसान नारी के पुष्ट अंग और रूक्ष मजबूत हाथों के आदर्श से सर्वथा भिन्न हैं। अतः सौन्दर्य को जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती।

इस प्रकार रूपवादी और कुत्सित समाज-शास्त्री दोनों ही अपने एकांगी सापेक्षतावादी दृष्टिकोणों के कारण मूल्यांकन के वास्तविक प्रश्न से कतराते हैं। उदाहरण के लिए कुत्सित समाज-शास्त्री यदि कभी दो कलाकारों की तुलना करते हैं, तो अजब भौंडी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए मनगढन्त आधार पर प्रेमचन्द को गोर्की और टॉलस्टॉय से महान् सिद्ध करने की कोशिश

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते हैं, क्योंकि गोर्की में 'आवारापन'[1] और टॉलस्टॉय में 'अध्यात्म'[2] के प्रति मोह था; या भारतेन्दु को शेक्सपियर के मुकाबले में श्रेष्ठ ठहराते हैं, क्योंकि शेक्सपियर 'सामन्तीवर्ग' का प्रतिनिधि कलाकार था और उसकी कला 'ह्रासोन्मुखी' थी जब कि भारतेन्दु जनता के कलाकार थे,[3] या शरत् को 'मध्यवर्गी' कथाकार और पन्त को स्त्रैण तथा प्रतिक्रियावादी आदि[4] सिद्ध करते हैं। किन्तु साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न इतना सरल नहीं है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि कला की शैलियाँ, रुचियाँ, रूप-विधान आदि बदलते रहते हैं। यह भी सच है कि वर्ग-समाज में पैदा हुए कलाकार के संस्कार एक-न-एक सीमा तक अपने वर्ग की मान्यताओं से प्रभावित होते हैं। किन्तु इतना ही सत्य नहीं है। एक कलाकार की सम्पूर्ण चेतना (कलाकार ही क्यों, किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना) केवल अपने वर्ग की चेतना तक ही सीमित नहीं रहती। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञान की जो पुञ्जीभूत राशि है, एक कलाकार उसके सम्पर्क में भी आता है तथा साथ ही कला-साहित्य की पूर्व-परम्परा, अपने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के द्वन्द्व-जनित पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना, और अन्य देशों की कला-संस्कृति, जिनसे उस कलाकार का देश असंख्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में पड़कर विनिमय करता है, वह प्रभाव ग्रहण करता है। इसलिए यह सत्य नहीं है कि वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उसकी ही विचार-धारा को व्यक्त करता है, और यदि कोई वर्ग या युग ह्रासोन्मुखी है तो उसकी कला भी अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी ही होगी। कला-साहित्य का इतिहास तो यह बताता है कि महान् कलाकार अनिवार्यतः अपने समय की विचार-सीमाओं से आगे के द्रष्टा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने जो 'है' से आगे बढ़कर इतिहास की गति को पहचानते हुए, जो 'होना है' या 'होना चाहिए' की दृष्टि से जीवन-यथार्थ को रूपायित किया है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि समाज की ह्रासोन्मुखता या प्रगतिशीलता के साथ कला की प्रगति या अधोगति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अक्सर ऐसा हुआ है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील युगों में कला का ह्रास हुआ है, और ह्रासकालीन समाजों ने महान् कला को जन्म दिया है। इस आधार पर ही मार्क्स ने कहा था पूँजीवादी युग (जो इतिहास की अपेक्षा बर्बरता, दासता या सामन्तवाद के युगों से अधिक उन्नत युग है) श्रेष्ठ कला के निर्माण के लिए अनुकूल युग नहीं है।

एक कलाकार और उसकी चेतना यद्यपि युग-सापेक्ष्य होती है, क्योंकि वह किसी-न-किसी युग-विशेष में ही जन्म लेता है और देश-काल की परिस्थितियों और विचार-धाराओं से अछूता नहीं रह सकता, फिर भी चूँकि वह वास्तविकता के किसी सारपूर्ण अंग या सत्य का चित्रण करता है, इसलिए उसका वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) मूल्यांकन भी सम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में, समष्टि और विशेष में साधारण होता है, उसी तरह सापेक्ष्य में भी निरपेक्ष निहित रहता है। रूपवादियों और कुत्सित समाज-शास्त्रियों को प्रगतिवाद का यह उत्तर है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला-कृति के निर्माण के लिए, अपने जीवन-काल की परिस्थितियों से आबद्ध रहने के

१-२. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'प्रेमचन्द', प्रथम संस्करण।
३. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'भारतेन्दु युग', प्रथम संस्करण।
४. देखिए डॉ० रामविलास के फुटकर लेख।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण सापेक्ष मानदण्डों का ही प्रयोग करता है, लेकिन बिना निरपेक्ष के सापेक्ष की कल्पना ही असम्भव है, वह सापेक्ष भी किसी निरपेक्ष की अपेक्षा में ही होता है और इन दोनों का सम्बन्ध भी सापेक्ष ही होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के भक्ति-काव्य को लें। भक्ति-भावना मध्य युग की सामान्य लोक-चेतना का माध्यम थी। भक्त कवियों ने इस सापेक्ष माध्यम को ही अपनाया, किन्तु भक्ति-काव्य के माध्यम से जिन कवियों ने जीवन-वास्तव और तत्कालीन समाज-सम्बन्धों के सत्य को जितनी ही गहराई और कलात्मक छवियों के रूप में व्यक्त किया है उस हद तक ही, उस युग-सापेक्ष भावना में जीवन का ऐतिहासिक सत्य प्रतिबिम्बित हुआ है। इसी आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की सामान्य वस्तुनिष्ठ कसौटी बन सकती है। प्रगतिवाद सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनों कसौटियों पर परखकर किसी कला-कृति का मूल्य आँकता है। इन दोनों कसौटियों पर न परखने से किस आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि तुलसीदास (राम-भक्ति के बावजूद) महान् कलाकार हैं और जैनेन्द्रकुमार (गांधीवादी विचार-धारा के बावजूद) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़ा कथाकार हैं और उनकी कृतियाँ हिन्दी-कथा-साहित्य और इस प्रकार विश्व-साहित्य की स्थायी निधि हैं? कला यदि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, तो वास्तविकता ही कला की साधारण कसौटी है, जिसकी अपेक्षा हमें उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जो कलाकार वास्तविकता के किसी सारपूर्ण यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता उसकी कला निर्जीव होती है और जो आलोचक मूल्यांकन से कतराते हैं उनकी आलोचना सत्यान्वेषी और रचनात्मक न होकर निरर्थक होती है। कला की शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ या युग की विचार-धाराएँ सापेक्ष मानदण्ड हैं। केवल उनके आधार पर ही सही-सही मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार हम अन्ततोगत्वा अपने रुचिगत या विचारगत पूर्वग्रह को ही कला-कृति का मूल्य आँकने के लिए आरोपित करते हैं।

कला क्या है और मूल्यांकन की वास्तविक समस्या क्या है, इन प्रश्नों पर प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० हरदेव बाहरी

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

हिन्दी को आर्यकुल की एक आधुनिक भाषा माना गया है और इसका सम्बन्ध अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत और वैदिक तक जोड़ा जाता है। परन्तु यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितना अंश आर्य है और कितना अनार्य। शुद्ध आर्य भाषा तो वह भी नहीं है जो आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद में सुरक्षित है। वेदों की भाषा में अनेक देशी और विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा। ऋग्वेद ही के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यों की बोलचाल की भाषा का रूप बदल रहा था। ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों के अध्ययन से विदित होता है कि लौकिक भाषाओं के भेद-विभेद बढ़ते जा रहे थे। इसके तीन कारण हो सकते हैं—(१) कालगति से भीतर-ही-भीतर भाषा में परिवर्तन, (२) समय-समय पर आने वाले आर्य-कबीलों द्वारा लाये हुए उन-उन प्रदेशों के प्रभाव—जहाँ-जहाँ उनकी पिछली पीढ़ियाँ रहती आ रही थीं, तथा (३) इस देश के आदिवासियों की भाषा का प्रभाव। इन प्रभावों की मात्रा के अन्तर से आर्यों की भाषा में वैषम्य का होना स्वाभाविक ही था। भाषा के कई रूप हो गए। अतएव भाषा के शब्द-भण्डार तथा प्रयोग के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया गया और उसका नियमानुरूप संस्कार करके 'संस्कृत' नाम रखा गया। आर्य, द्रविड़, मुण्डा, देशज और विदेशी भाषाओं से आये हुए अनेक नवीन प्रयोगों को, जो उस समय प्रचलित हो गए थे, स्वीकार किया गया; अनेक पुराने प्रयोग अव्यवहृत हो गए थे, उन्हें निषिद्ध माना गया। इस प्रकार भाषा का संस्कृत रूप निर्धारित करने वालों में यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इस व्यवस्थित और स्थिरीकृत भाषा का रूप संस्कृत-साहित्य में वर्तमान है। यही साहित्यिक भाषा शिक्षित और शिष्टवर्ग की बोल-चाल की भाषा भी थी। पर यह निश्चित है कि जन-साधारण की भाषा इससे भिन्न थी।

वैदिक और संस्कृत रूपों में प्राप्त प्राचीन आर्यभाषा के मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—(१) यह भाषा योगात्मक है, अर्थात् किसी शब्द के अर्थ को बढ़ाने के लिए उसके साथ ध्वनि-तत्त्व जोड़ दिया जाता है। इस ध्वनि-तत्त्व की कोई स्वतन्त्र सार्थकता दिखाई नहीं देती। यह तत्त्व अश्लिष्ट, श्लिष्ट, तथा प्रश्लिष्ट होकर मूल शब्द के साथ जुड़ता है। इसके उदाहरण क्रमशः देवस्य, धार्मिक और वैभव दिये जा सकते हैं। (२) इस तरह के ध्वनि-तत्त्व इस भाषा में तीन प्रकार के हैं—उपसर्ग, प्रत्यय तथा अन्तर्सर्ग, जैसे अभिनव, अतिरिक्त, अनुभव, तथा सुप्त, कर्तव्य, स्पष्टतया, और भाव, लेख, भौम आदि में। (३) कभी-कभी एक से अधिक तत्त्व जोड़े जाते हैं जैसे अत्याचार, आध्यात्मिकता, पांडित्य आदि में। (४) वाक्यों में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के साथ इनका योगात्मक प्रयोग होता है जैसे रामस्य (राम का), तेन (उससे), महती कृपा अथवा लघुना दण्डेन (छोटे डंडे से),

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भवति (होता है) इत्यादि। (५) इसमें संज्ञा (एवं विशेषण) तथा सर्वनाम के आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग एवं क्रिया के परस्मै पद, आत्मने पद, उभय पद रूप-भेद के अतिरिक्त दस गण, तीन पुरुष, तीन वचन, और लट् लकारादि भेदों से रूपांतर होते हैं। (६) क्रिया में लिंग-भेद नहीं होता। (७) कृदन्त का वैदिक में विशेषण के रूप में तथा संस्कृत में क्रिया के रूप में प्रयोग होता है। (८) उच्चारण में संयुक्त अक्षरों का बाहुल्य है। (९) टवर्ग अक्षरों का प्रयोग क्रमशः बढ़ता रहा है। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि टवर्ग द्रविड़ों से सीखे गए हैं। (१०) ऋ, ऌ और ष का व्यवहार घटता रहा है।

जन-साधारण की भाषाओं के बहुत प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन पालि, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीन जन-भाषाओं की जानकारी हमें कुछ ग्रंथों के द्वारा प्राप्त होती है। पालि-काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक, प्राकृत-काल ५०० ई० तक और अपभ्रंश-काल ११०० ई० तक माना जाता है। पालि के उदाहरण बौद्ध धर्म-ग्रन्थों, जैन सूत्रों तथा शिला-लेखों में प्राप्त होते हैं। पालि शब्दों में ऋ, ऌ का अभाव, ऐ, औ की जगह ह्रस्व ए, ओ का आविर्भाव, पश्चिमी पालि में ष का लोप और पूर्वी में श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार, विसर्ग का लोप, संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण आदि ध्वनि-सम्बन्धी लक्षण मिलते हैं। व्याकरण में संज्ञा और सर्वनाम के प्रत्ययों का कुछ-कुछ एकीकरण, चतुर्थी विभक्ति का लोप, द्विवचन का ह्रास, क्रिया के लुट्, लङ्, लिट् और लृङ् रूपान्तरों का अभाव, विधि लिङ् तथा आशीर्लिङ् का एकीकरण, गण-विभेद की जटिलता में कमी, आत्मने पद का ह्रास पालि और वैदिक के अन्तर को समझने के लिए आवश्यक लक्षण हैं। पालि-साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि पालि के कम-से-कम चार रूप थे। उनमें पश्चिमी प्रदेश (मध्य प्रदेश) और मगध की भाषाओं का प्राधान्य था। साहित्यिक पालि के विकास में तत्कालीन बोलियों के अतिरिक्त वैदिक भाषा का भी हाथ था। जन-भाषा को संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और उच्च साहित्य का वाहन बनाने के लिए वैदिक शब्दावली और प्रयोगों को अपनाना अनिवार्य था।

धीरे-धीरे जब पालि और संस्कृत अपने साहित्यिक स्तर के कारण जन-भाषा से दूर हट गईं तो फिर से लोक-साहित्य और लोक-भाषा पर ध्यान गया। प्राकृत में साहित्य लिखा जाने लगा। जिस तरह पालि ने वैदिक से सांस्कृतिक शब्दों को लिया, उसी तरह प्राकृत ने संस्कृत के सांस्कृतिक शब्दों का प्राकृतीकरण किया। साहित्यिक प्राकृत में तद्भव शब्दों और प्रयोगों की भरमार है और ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृत का एक मात्र काम यह था कि वह संस्कृत को सरल करे। ध्वनि-विकास में संयुक्त व्यंजनों का पूर्ण दीर्घीकरण और अन्तिम व्यंजनों का, न्, म् को छोड़कर, नितान्त लोप उल्लेखनीय है; जैसे दक्खिण, पुण्य, रक्त, अवस्था, मंत्रस्य की जगह दक्खिण, पुप्फ, रत्त, अवत्था, मंत्तस्स, और पश्चात्, अवाक् की जगह पच्छा, अवा इत्यादि में। न्, म् के स्थान पर अनुस्वार रह गया जैसे तस्मिन्, गच्छन्, गगनम्, दुग्धम् की जगह तस्सिं, गच्छं, गकनं, दुध्धं में। दो स्वरों के बीच में स्पर्श वर्ण का प्रायः लोप हो गया जैसे काकः, कति, राजा की जगह काओ, कइ, राआ, आदि। कई अवस्थाओं में अघोष का सघोष और सघोष का अघोष हो गया, जैसे गच्छति, शाक के लिए गच्छदि, साग में और दामोदर, कम्बोज के लिए तामोतर, कम्बोच में। टवर्ग का लोप नहीं हुआ। मध्यम म का वँ और प का व हो गया जैसे भँवर (भ्रमर), आणवेदि (आज्ञापयति) में। शब्द के आदि में और ध्वनियाँ तो प्रायः सुरक्षित रहीं, पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न की जगह ण, य की जगह ज, श ष की जगह स हो गया जैसे णेइ (नयति), जधा (यथा), सावक (श्रावक), संड (षंड) में।

हिन्दी के विकास को समझने के लिए प्राकृत के कुछ अन्य शब्द भी यहाँ दिये जाते हैं —अग्गि (अग्नि), अच्छरा (अप्सरा), अस्सु, अंसु (अश्रु), असवार (अश्ववार, अश्वपाल), आएस (आदेश), अट्ठासि (अष्टाशीति), अट्ठाइस (अष्टाविंशति), अंधयार (अंधकार), खेत्त (क्षेत्र), अगाह (अगाध), अग्गे (अग्रे), सच्च (सत्य), अज्ज (अद्य), अप्प (आत्मन्), इट्ठा (इष्टका), इक्ख (इक्षु), ईसर (ईश्वर), दहि (दधि), उक्खल (उदूखल), उक्खणन (उत्खनन), उग्गाल (उद्गार), उग्घाड (उद्घाट्य), संकल, संखला (शृङ्खला), उज्जल (उज्ज्वल), उट्ठा (उत्था), ऊसर (ऊषर), कीडिया (कीटिका), खाण (खादन), खार (क्षार), खीलिया (कीलिका), घर (गृह), गोवाल (गोपाल), गोहूम (गोधूम), घडी (घटी), जंभा (जृम्भा), जस (यशस्), जिब्भा (जिह्वा), जूअ (द्यूत), जूअ (यूप), टुट्ट (त्रुट्), ठाण (स्थान), राउत्त (राजपुत्र), राउल (राजकुल)।

प्राकृत की एक और प्रवृत्ति है महाप्राण ध्वनियों से प्रेम, जो देशज शब्दों में विशेषतः लक्षित होता है। उदाहरण—खड्डा, खंखर, खलमलिय, खसिअ, खिच्च (हि० खिचड़ी), खोंच्च (हि० खोंटा), घग्घर (हि० घघरा), घरट्ट (अन्न पीसने का पाषाण-यंत्र), छल्ली (हि० छाल) छायणी (हि० छावनी), छिक्का (हि० छिक्का, छींका), छोयर (हि० छोरा), झंखर (हि० झंखाड़), झगड (हि० झगड़ा), झडप्प, झिंगिर (हि० झींगुर), झुंपडा (हि० झोंपड़ा), झोलिआ (हि० झोली), ठट्ठार (हि० ठठेरा), थरथर इत्यादि।

प्राकृत में द्रविड भाषाओं की टवर्गीय प्रवृत्ति भी बढ़ती रही है।

प्राकृत भाषा के व्याकरण में भी सरलता आ गई। संज्ञा और धातुओं के रूपान्तर में पालि की प्रवृत्ति जारी रही और कारक-चिह्नों तथा प्रत्ययों की संख्या बहुत कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया के एवं षष्ठी और चतुर्थी विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई। द्विवचन का लोप हो गया। सभी संज्ञाएँ अजन्त हो गईं, हलन्त संज्ञाएँ नहीं रहीं। लट्, लोट्, लृट् के अतिरिक्त अन्य लकारों के रूप लुप्त हो गए। कृदंतों और तद्धितों के रूपों को भी सरल करने का झुकाव स्पष्ट है। कृदन्तों और तद्धितों को क्रिया के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ गई।

कुछ शब्दों के अर्थ और लिंग भी बदले, पर ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

वररुचि के अनुसार प्राकृत के चार भेद हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी का नाम भी लिया है और इसका महत्त्व भी अधिक है। सबसे अधिक विकसित और व्यापक प्राकृत शौरसेनी थी। उत्तरकालीन वैदिक भाषा, संस्कृत और साहित्यिक पालि, इन सबका उत्तराधिकार शौरसेनी ही को प्राप्त हुआ। यह उसी मध्यदेश की भाषा थी जहाँ पूर्वकाल में उक्त सभी भाषाओं का साहित्यिक रूप निश्चित हुआ और जहाँ विशाल एवं अक्षुण्ण परम्परागत साहित्य की सृष्टि होती रही। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा पहाड़ी भाषा का विकास इसी से हुआ। डॉ० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री भी शौरसेनी ही की एक उत्तरकालीन शाखा है। जिस अर्द्धमागधी से बिहारी भाषाओं का विकास हुआ है उस पर भी शौरसेनी का बराबर प्रभाव रहा है।

प्राकृत भाषाओं और आधुनिक भाषाओं के बीच में अपभ्रंशों की स्थिति है। जब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राकृतों ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया और वे भी संस्कृत की तरह व्याकरणबद्ध हो गईं तो जनभाषाओं ने सिर उठाना शुरू किया। धीरे-धीरे इनका प्रयोग भी साहित्य में होने लगा। दण्डी (७वीं शती) के बाद तो अपभ्रंश-साहित्य उत्तरोत्तर बढ़ चला। वैसे तो प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश-रूप रहा होगा, पर सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश में ही मिलता है जिससे हिन्दी का जन्म हुआ। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि एक तो शौरसेनी प्रदेश की अपनी साहित्यिक परम्परा थी, दूसरे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और तीसरे मध्यदेश की भाषा में सदा से उदारता, सर्वग्राह्यता और सांस्कृतिकता आदि गुण रहे हैं।

अपभ्रंश में दीर्घ व्यंजन, मूर्धन्य व्यंजन तथा महाप्राण व्यंजन लाने की प्रवृत्ति विशेष बढ़ गई, जैसे :

जावण आप उणिज्झइ, तावण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेण्ण वि कूव पडेइ॥ (सरहपा)

(जब तक आप न जानें, तब तक शिष्य न करें, अन्धा अन्धे को निकालने लगे तो दोनों कूप में पड़ें।)

पढमु पविट्ठहु हिय तसु, पच्छा भवणि पविट्ठ। (सोमप्रभ)

(पहले प्रवेश करो हृदय में उसके, पीछे भवन में प्रवेश करो।)

व्याकरण भी अधिक सरल होता गया। प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्तियों का लोप हो गया। हिन्दी की अयोगात्मक अवस्था अपभ्रंश ही से विकसित होती है। विभक्ति-प्रत्ययों की जगह परसर्ग लगाने का साहस अपभ्रंश ने किया। हिन्दी के "हुति", "थैं", "ते", "सों", "से", "सेंति", "ने", "कहँ", "केर," "कर", "का", "के", "तन", "महँ", "मैं", "ऊपर", "पै" आदि अनेक परसर्गों का आदि रूप और प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। क्रियाओं में भी तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार, जो प्राकृत में शुरू हो गया था, अपभ्रंश में पूर्णता को पहुँच गया। सहायक क्रियाओं तथा वर्तमान और भविष्यत् के रूपों में तो तिङन्त के तद्भव ही प्रचलित रहे, पर अन्यत्र कृदंतों का प्रयोग होने लगा, जैसे "मइँ भणिय तुहुँ", "मइँ तुहुँ वारिया", "धण दीह", "जएव्व", "चलि", आदि में।

अपभ्रंश के इस रूप को हिन्दी से मिलाकर देखिए :

'कावि वेस अहरग्ग समप्पइ। जिज्झइ खिज्झइ तप्पइ कंपइ॥'

(कोई बेसवा अधराग्र, समर्पै। जिझै खीझै तापै-कंपै।)

पुल्लिंग का अन्तिम आकार भी अपभ्रंश में आ गया था, जैसे सं० श्यामलः, प्रा० सामलो, अप० साँवला, हि० साँवला, एकल्ला, चेल्ला, हीआ, स्त्रीलिंग में अंतिम ई का विकास भी अपभ्रंश में हो गया था, जैसे रंडी, एकली, लट्ठी, थाती आदि में। नपुंसक लिंग का लगभग लोप ही हो गया। संज्ञार्थक—त्व और—ता के स्थान पर अपभ्रंश में—तण और—प्पण रूप प्राप्त होते हैं, जैसे देवप्पण, वड्डत्तण, वड्डप्पण, हि० बड़प्पन।

अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता उसके शब्द-भण्डार में है। अपभ्रंश-साहित्य में देशी और विदेशी प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ। कुछ रोचक शब्द यहाँ दिये जाते हैं—चेल्लु, चेल्ला (हि० चेला), चंगा (हि० चंगा भला), आल-माल (हि० माल-मत्ता), लुक्को (हि० लुका-छिपा), पागल, तलाय, सक्कर, पोट्टल (हि० पोटरी), कोंचा-ताला (हि० कुञ्जी-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ताला), ढेक्कार (हि० डकार), टोप्पी, बहुड़ि (ब्रज० बहुरि) भित्तरि (हि० भीतर), वालु, झुंपडा, हट्टि, फालिसि (हि० फालसा) तुलक (हि० तुरक), सेर, पातसाहि, सालार, डूंगर, लडका, इत्यादि।

हिन्दी के ध्वनि-विकास, व्याकरण और शब्द-कोश को समझने के लिए अपभ्रंश भाषा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ऐसे ही जैसे हिन्दी-साहित्य के उद्गम, हिन्दी की काव्य-शैलियों, काव्य-रूपों, वर्ण्य विषयों और सारी साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

डिंगल नागर अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश की ज्येष्ठ पुत्री कही जा सकती है। 'डिंगल' नाम तो सर्वप्रथम १६वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ, लेकिन यह सिद्ध है कि 'डिंगल' भाषा राजस्थानी और 'पिंगल' से प्राचीन है। डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने डिंगल को अनियमित, असंस्कृत और गँवारू भाषा कहा है जिसका परिष्कृत साहित्यिक रूप 'पिंगल' कहलाता है। इसकी विशेषताएँ हैं—द्वित्त (दीर्घ) वर्ण का प्रयोग और अनुस्वार का प्राचुर्य। 'णकार' की जगह इसमें धीरे-धीरे नकार का व्यवहार बढ़ता गया है और शब्द के आदि में विशेष करके नकार ही रह गया है। जब डिंगल चारणों के हाथ में पड़कर केवल वीर-काव्य के लिए बनकर रह गई और साहित्यिकता के कारण उसमें कृत्रिमता हद से बढ़ गई तो इसमें राजस्थान अथवा ब्रज की प्रचलित भाषा का सम्मिश्रण करके साहित्य में प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार डिंगल के पश्चात् एक ओर राजस्थानी का साहित्य में प्रचार बढ़ा और दूसरी ओर राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) का अथवा शुद्ध ब्रजभाषा का। ये भाषाएँ मिलकर वीर रस, शृङ्गार, भक्ति, राष्ट्रीयता, नीति, उपदेश आदि सब-कुछ अभिव्यक्त करने में समर्थ थीं। ब्रजभाषा की शक्ति तो इतनी बढ़ी कि यह उत्तर भारत की सर्वमान्य साहित्यिक और राष्ट्रीय भाषा बन गई, यहाँ तक कि मध्य देश के बाहर पंजाब, गुजरात और बंगाल के कवियों ने भी इसे अपनाया। साहित्यिक स्तर पर आकर काल-क्रम से ब्रजभाषा में भी वही कृत्रिमता, वही व्याकरणबद्धता और वही क्लिष्टता आ गई जो किसी भी ऐसी साहित्यिक भाषा में आ जाती है जो जनभाषा से दूर हट जाती है। इस बीच में दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोली में बहुत अच्छा साहित्य विकसित हो रहा था। यह बोली चुस्त, मुहावरेदार और खड़ी-खड़ी थी। ज्यों-ज्यों गद्य का महत्त्व बढ़ता गया त्यों-त्यों खड़ी बोली का भी हिन्दी में प्रचार बढ़ा। गद्य और पद्य की भाषा को एक-सा रखने के लिए इसका प्रयोग पद्य में भी होने लगा।

ऊपर जिन भाषाओं और बोलियों का उल्लेख किया गया है, उनका विकास साहित्य के क्षेत्र में ही दिखाया जा सका है, क्योंकि बोल चाल की भाषाओं का कोई अभिलेख-संचय हमारे पास नहीं है। वैसे तो अपभ्रंश में १८वीं शती तक, डिंगल में १६वीं शती तक तथा राजस्थानी और ब्रजभाषा में आज तक बराबर साहित्य लिखा जाता रहा है, लेकिन अपभ्रंश-काल छठी से ११वीं शती तक, डिंगल-काल १२वीं से १३वीं शताब्दी तक, राजस्थानी और राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) का काल १४वीं-१५वीं शताब्दी तथा १६वीं शती से १८५० तक माना जाता है। इसके बाद से खड़ी बोली का काल चल रहा है। इस बीच में पूर्वी हिन्दी ने कबीर, जायसी आदि सूफी कवियों और तुलसीदास की कृतियों द्वारा साहित्यिकता का दावा तो किया, पर इसकी मान्यता सीमित ही रही। हिन्दी की अन्य बोलियों के अनेकानेक शब्द और प्रयोग तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारे साहित्य में अवश्य उपलब्ध होते हैं, पर इन बोलियों का अपना कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

'हिन्दी' शब्द 'हिन्द' से बना है। हिन्द की सभी भाषाओं को 'हिन्दी' कहा जाता रहा है। जिस भाषा को आज 'हिन्दी' नाम से पुकारा जाता है, इसके लिए यह शब्द लगभग १०० वर्ष से प्रयुक्त हो रहा है। इससे पहले 'देशभाषा', 'मरुभाषा', 'ब्रजभाषा', 'भाषा', 'भाखा' 'देहलवी', 'कन्नौजी', 'इलाहाबादी', 'बनारसी' आदि नाम भिन्न-भिन्न बोलियों के तो मिलते हैं, पर इस समूह के लिए कोई एक नाम नहीं मिलता। आज जिसे 'हिन्दी' कहते हैं उसके अन्तर्गत पूर्वी पंजाबी, बागड़िया, खड़ी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, बुँघेली, कन्नौजी, अवधी, मध्य पहाड़ी, भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बिहारी आदि बोलियाँ आती हैं। ये सब हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'हिन्दी' के दो भेद बताये हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से और पूर्वी हिन्दी की बोलियों का विकास अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पर बिहारी से ज्यों-ज्यों हम पश्चिम को चलते हैं त्यों-त्यों शौरसेनी अपभ्रंश और पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव बढ़ता गया है। साथ ही दो-दो, तीन-तीन बोलियों का सम्मिश्रण होकर भी एक-एक नई बोली की स्थिति खड़ी हो गई है। मेरी समझ में भोजपुरी मगही, मैथिली और अवधी का सम्मिश्रित रूप ही है और स्वतः कुछ नहीं। छत्तीसगढ़ी भोजपुरी और अवधी के सम्मिश्रण से बनी है जिसमें अनेक रूप उड़िया और दक्षिणी भाषाओं के मिल गए हैं। बघेली अवधी ही का एक रूप है। बुँघेली अवधी और ब्रजभाषा के मेल से विकसित हुई है। कन्नौजी में खड़ी, अवधी और ब्रज के रूप स्पष्टतः मिल जाते हैं। इसी तरह बागड़िया पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी के सम्मिश्रण से बन गई है। पूर्वी पंजाबी लहँदा और खड़ी की खिचड़ी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राजस्थानी भी ब्रजभाषा, पंजाबी और गुजराती (एवं नागर अपभ्रंश) के मेल से बनी है। खड़ी बोली में पंजाबी और ब्रजभाषा के रूप घुल-मिल गए हैं जिनसे यह अलग बोली हो गई है। इस प्रकार शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित बोलियों का समुच्चय, क्रमचय और विस्तार (Comlimatim permutation) कुछ इस ढंग से होता रहा है कि दो से बढ़कर सोलह बोलियाँ हो गई हैं। अतः ग्रियर्सन साहब का यह मत ठीक ही है कि हिन्दी के दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। इन दो रूपों में भी इतना घोल-मेल और आदान-प्रदान हुआ है कि यदि आज ग्रियर्सन महोदय जीवित होते तो देखते कि उनकी धारणाओं में परिवर्तन हो गया है। शिक्षा-प्रसार, यातायात, साहित्य, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि कारणों से हिन्दी में पूर्व और पश्चिम का भेद भी मिटता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी में कितना कुछ भिन्न-भिन्न बोलियों का है और भिन्न-भिन्न बोलियों में कितना-कुछ केन्द्रीय हिन्दी का है, इस पर अलग से खोज करने की आवश्यकता है। लेकिन इतना सत्य है कि हिन्दी खड़ी बोली प्रदेश के लिए भी इतनी सम्मान्य है जितनी हिन्दी-प्रदेश के अन्य भागों के लिए; और इसी लिए यह खड़ी बोली से इतनी ही भिन्न है जितनी बिहारी, ब्रजभाषा, अवधी, पंजाबी या राजस्थानी से। इसी कारण से यह राष्ट्रभाषा भी है और साहित्य-भाषा भी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रामसुरेश त्रिपाठी

भाषा का विकास और प्रतीकवाद

प्रतीक एक प्रकार का बुद्धि-व्यापार है। पीठ की रीढ़ सीधी होने से और सिर के खड़े रहने से मनुष्य का मस्तिष्क कुछ उर्वर हुआ। बुद्धि के विकास के साथ मानव ने प्रतीक से काम लेना सीखा। प्रतीक से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। भाषा और प्रतीक-शक्ति मनुष्य को पशुवर्ग से अलग करती है। भाषा स्वयं एक प्रकार का प्रतीक है और संस्कृत का सर्वप्रथम लक्षण है। प्रतीकवाद का इतिहास मानवता के विकास का इतिहास है। सभ्यता और संस्कृति की अनेकरूपता और संकुलता के कारण प्रतीकवाद भी बहुरूपी हो गया है और कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में इसके अलग-अलग स्वरूप निर्मित हो रहे हैं। परन्तु इसके कुछ मूल तत्त्व सभी रूपों में एक से हैं। प्रतीक या प्रतीकवाद अपने मूल रूप में उन वस्तुओं से सम्बद्ध था जो जाति, गुण, क्रिया या अपने किसी अन्य सादृश्य के द्वारा अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों या विचारों को जताती थीं। व्याप्ति-सम्बन्ध भी प्रतीक का एक रूप था और उपमान भी प्रतीक का स्थान लेता रहता था। धीरे-धीरे प्रतीक के अर्थ में विकास हुआ। संकेत और संकेतित वस्तुओं में सादृश्य आदि से ध्यान हटने लगा। उनके स्थान में आरोपित या कल्पित भाव घर करने लगे। संकेत करने वाली वस्तु का अपना मूल्य नहीं के बराबर हो गया। राष्ट्रीय झण्डा एक प्रतीक है। इसके पीछे छिपे हुए अपार जन-समूह के गौरव का इसके प्रकृतरूप—एक-डेढ़ गज कपड़े के टुकड़े—से कोई मिलान नहीं है। गणितशास्त्रीय चिह्नों का अपने-आप में कोई अर्थ नहीं है फिर भी उनके अर्थ-भार को विरले मस्तिष्क ही सँभाल पाते हैं। एक विशेष प्रकार की कविता, जिसमें अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त किसी व्यापक अर्थ की व्यंजना रहती है, प्रतीकवाद के भीतर आती है। अवश्य ही कविता के क्षेत्र में संकेत करने वाली वस्तु का मूल्य अभी नगण्य नहीं होने पाया है। यह शब्द-शक्ति की महिमा है। पर कब तक यह शक्ति प्रतीकवाद की वर्तमान धारा को कुछ पीछे खींचती रहेगी, नहीं कहा जा सकता। फ्रायड-स्कूल के मनोवैज्ञानिक शरीर की प्रायः सभी अनजान चेष्टाओं को प्रतीकात्मक मानते हैं। किसी बैठे व्यक्ति का यों ही पैर हिलाना, उनके मत में, किसी दबी-दबाई भावना के चुपचाप चरितार्थीकरण का प्रतीक है। प्रतीक के द्वारा अल्प से बहुत का काम लिया जाता है जिससे एक ओर लाघव और दूसरी ओर शक्ति की बचत होती है। विज्ञान में प्रतीक-पद्धति से सुविधा और कला में चारुता बढ़ी है। वैज्ञानिक प्रतीक में प्रतीक का निर्देशक स्वरूप प्रमुख रहता है जब कि कला, धर्म या राजनैतिक प्रतीक जनता के मनोरागों से रंजित रहते हैं। बुद्धि-प्रसूत होने के कारण प्रतीक का कोई शाश्वत रूप नहीं है। इसके किया-कलाप एक तरह के समझौता-मात्र हैं और अपने व्यापक-से-व्यापक रूप में भी सीमित माने जायँगे। चिह्न (साइन्) और संकेत (सिगनल्) प्रतीक (सिम्बल) के पूर्व रूप हैं। इनमें भेद भौतिक और बौद्धिक अर्थों तथा उनके मूल्यों पर निर्भर करता है। इन सभी पहलुओं का द्योतक अँगरेजी का सिम्बोलिज्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शब्द है जिसके लिए यहाँ प्रतीकवाद शब्द का व्यवहार किया गया है। प्रतीकवाद की इस संक्षिप्त पीठिका के आधार पर हम भाषा के विकास पर विचार करेंगे।

भाषा के उद्गम के विषय में अनेक वाद हैं। कोई भी पूर्ण नहीं है। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी ने इस प्रश्न पर विचार करना अब एक तरह से छोड़ दिया है। क्योंकि एक तो प्राचीनतम भाषा का रूप अज्ञात है फिर केवल भाषा-विज्ञान के बल पर उद्गम का प्रश्न सम्भवतः हल नहीं हो सकता। परन्तु किसी समस्या को अज्ञात या अगम कहकर छोड़ देना न तो किसी जिज्ञासु के उपयुक्त है और न किसी वैज्ञानिक के। कठिनाइयाँ अवश्य हैं। पर प्रश्न के सजीव बने रहने से ही वे हल हो सकती हैं। जैसा कि कुछ नवीन मनोविज्ञान के पंडित मानते हैं, बहुत सम्भव है भाषा के उद्गम में प्रतीक का हाथ हो।

मनुष्य में सबसे अधिक मौलिक और तीव्र मनोवेग भूख और काम हैं। भाषा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति इन मनोवेगों से सम्बद्ध रही होगी। इनके सम्बन्ध से प्रायः सभी भाषाओं में सहस्रों शब्द बने हैं, बन रहे हैं। प्रतीक के आधार से एक-एक शब्द से शतशः शब्द विभिन्न अर्थ में विकसित होते गए हैं। ऐसा जान पड़ता है, आदि काल में भूख और काम की क्रिया एक-दूसरे पर आरोपित होती रहती थी, दोनों के लिए प्रायः एक ही शब्द का व्यवहार होता था, दोनों ही शरीर के आहार थे। आदम के फल चखने की कथा प्रसिद्ध है। संस्कृत के 'भुज्' और 'भज्' धातुओं का प्रयोग दोनों पक्षों में एक-सा सदा से होता रहा है और इनसे बने हुए 'भोग्य,' 'भोग' आदि शब्द और अन्य भाषाओं में इनके समानार्थक शब्द अनादि काल से दोनों ओर जुटे हुए हैं। भग शब्द ऐश्वर्यवाची बाद में हुआ और प्रतीक-पद्धति पर हुआ। भजन और भक्ति का भी मूल वही है। 'भजन' शब्द ब्रजभाषा के कवियों तक दो अर्थ रखता था। भक्ति, लौकिक प्रेम का उन्नयन (सब्लिमेशन) हो या न हो, भक्ति शब्द 'भज्' का विकास है। भूख ने कृषि को जन्म दिया, और काम ने सृष्टि चलाई। यहाँ भी उनकी एकता बनी रही। सभी भाषाओं में क्षेत्र, बीज, कर्षण, उपजाऊ, ऊसर आदि शब्द काम और कृषि के क्षेत्र में समान रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। और प्रतीक के रूप में दोनों का काम करते रहे हैं जैसे 'मेघदूत' के "सद्यः सीरोत्कर्षण-सुरभि क्षेत्रमारुह्यमालं" वाक्य में है। इसके अतिरिक्त असभ्य जातियों की भाषा से लेकर सुसंस्कृत देश की भाषाओं तक में कृषि के औजार और साधन हल, फाल आदि लैंगिक प्रतीक का काम अनादि काल से करते रहे हैं। कई जातियों में खेती-सम्बन्धी धार्मिक कृत्य, काम-कृत्य के साथ मानने की प्रथा थी। अपने देश में भी वसन्त-पंचमी के दिन काम-पूजा या मदन-महोत्सव मनाने के साथ-साथ गेहूँ की अधकच्ची बालों को भुनकर नवीन अन्न के उपभोग का उत्सव कभी मनाया जाता था। भोजन और भोज्य पदार्थों के साथ काम-प्रतीक का लगाव सभी देशों में रहा है। धार्मिक अवसरों पर यौन-प्रतीक की मिठाइयाँ और पकवान खाने की प्रथा सब देशों में थी। इस विषय के जानकार विद्वानों ने सैकड़ों उदाहरण सामने रखे हैं जो उपर्युक्त मान्यता का समर्थन करते हैं। रोम में आजीवन कौमार्य-व्रत में दीक्षित कुमारियों को उत्सव के दिनों ऐसे पकवान दिये जाते थे जो पुरुषेन्द्रिय के प्रतीक होते थे। मध्य काल में जर्मनी में कठोरगर्भा स्त्री के सत्कार में एक विशेष प्रकार की रोटियाँ बनती थीं जो बीच में विभाजित रहती थीं; ऐसी रोटी को स्पाल्ट् गेब्येक (Splat gebake) कहते थे। अपने देश में गर्भवती औरतों के लिए एक विशेष प्रकार की बरी बनती थी जो उनके वक्षस्थल के आकार की होती थी। मछली खाने से सन्तति-वृद्धि होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, यह प्रवाद कई देशों में मछली को पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक बन गया है। 'हिब्रू' भाषा में मछली के लिए 'नुन' शब्द है जिसका दूसरा अर्थ अंकुरित करना या जन्म देना भी है। रोमन सभ्यता में मछली 'वीनस' के लिए पवित्र थी और भारतीय सभ्यता में 'काम मकरध्वज' कहा जाता है। मैकड्रगल्ड के अनुसार 'हिट्टाइट' भाषा में पुरुष-जननेन्द्रिय के लिए पोसोन (Posson) शब्द है जो फ्रेंच प्वासों (Poisson) से बना है जिसका अर्थ मछली है।

सभ्य जगत् के लिए बहिरंगतः उपेक्षित किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक उपर्युक्त प्रतीक क्या मानव की विचार-परम्परा और उस परम्परा को वहन करने वाली भाषा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते? सृष्टि और सभ्यता का विकास उपर्युक्त मनोवेगों के सम्पर्क, संघर्ष और सन्तुलन के सहारे अग्रसर हुआ है। संस्कृति (कल्चर) का मूल कृषि है जैसा कि उसका अर्थ बतलाता है। कल्ट् > कल्टिभेट् > कल्चर। और उन दोनों के क्रिया-कलाप भाषा के माध्यम से ध्वनित हो-होकर दिशा-दिशा में फैलते रहे हैं। फलतः भाषा का भण्डार बढ़ता रहा है। इस वृद्धि में प्रतीकवाद कैसे सहायक हुआ है हम कुछ उदाहरण द्वारा देखेंगे। वैदिक काल में 'यश' शब्द 'अन्न' का बोधक था। अन्न समृद्धि का प्रतीक हो गया और अन्त में यश शब्द कीर्तिवाचक हो गया। प्राचीन काल में विनिमय के माध्यम पशु (कैटिल) थे। धनी व्यक्ति लखपती के तौर पर 'लक्षयुः' कहे जाते थे। यूरोप में कैटिल से 'कैपिटलिस्ट' शब्द बना, जो एक विशेष वर्ग का प्रतीक है। जर्मन भाषा में पशु के लिए 'डास फिश' (Das Vich) शब्द था। फिश से अँगरेजी फी=फीस शब्द बना। फीस भी पशु रूप में चुकाई जाती थी। अंगरेजी का वर्चू (Virtue) शब्द, जो लैटिन 'विर' (Vir-मनुष्य, वैदिक वीराः ?) से बना है, शुरू में पौरुष या मरदानगी का द्योतक था; क्लासिकल लैटिन में साहस-बोधक था, बाद में सुन्दर गुणों को व्यक्त करने लगा। 'सौम्य' शब्द सोम रस पीने के अधिकारी के लिए प्रयुक्त होता था, शील के साथ इसका लगाव प्रतीक-पद्धति पर हुआ। 'उदार' उस घोड़े या बैल को कहते थे जो गाड़ीवान के बिना चाबुक मारे उसके इशारे पर ही यथावसर दाएँ-बाएँ होता चलता था। बाद में इस शब्द का व्यवहार उस व्यक्ति के लिए होने लगा जो याचक के बिना मुख खोले ही दान दे देता था। 'सुख' का मौलिक अर्थ रथ का आरामदेह स्थान (सीट) था। ख=खनन=छिद्र वाला फलतः इन्द्रिय का प्रतीक बाद में बना और सुख का भाव इन्द्रियों को सुखकर हो गया। अब इसका अर्थ एक-दो डग और आगे बढ़ गया है। मधु शब्द आर्यभाषा-परिवार का अत्यन्त प्राचीन शब्द है। लिथुनियन मेड्यूस, हाई जर्मन का मेट, जर्मन का मेड्यु इसी के रूप हैं। वैदिक काल में ही यह मधुरता का प्रतीक हो गया था। निम्न लिखित तीन पद्यों में इसके विभिन्न प्रतीकात्मक रूप केवल भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति के ही विकास को नहीं व्यक्त करते, कुछ और का भी संकेत करते हैं :

(१) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
—ऋग्वेद १।९०।६.

(२) अहिणव महु लोलुवो भवं
तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमल वसइ मेत्त णिव्वुदो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महुअर विह्वरिओ सि णं कहं ॥

—'अभिज्ञान शाकुन्तल', अंक ५.

(३) मधु बरसतीं विधु किरन हैं काँपती सुकुमार
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधुभार।

—'कामायनी', वासना सर्ग

जैसे कृषिवर्ग के शब्द प्रतीक के आधार पर नये-नये रूप धरते गए वैसे कामवर्ग के शब्द ने भी अनेक चोले बदले। वैदिक वृषभ (साँड) शब्द वृष्य शक्ति का प्रतीक था। कामनाओं का वर्षक देवताओं के देवत्व की रक्षा के लिए बाद में बना। अंगरेजी के सम्य सूचक 'जेण्टिल' शब्द भी मूलतः जनन से सम्बद्ध है। वैदिक संस्कृत में स्त्रीवाचक जितने शब्द हैं प्रायः सभी यौन-प्रतीक के आधार पर गढ़े गए हैं। पारिवारिक सम्बन्ध-बोधक शब्द जाया, जननी, जनक आदि उसी क्षेत्र से ढाले गए हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक धार्मिक कर्मों की व्याख्या काममय है। और चूँकि ऋषियों के शुद्ध हृदय में किसी प्रकार की छाया-माया नहीं थी, जो-कुछ कहा गया है स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। यज्ञ की वेदियाँ तो प्रतीक-ही-प्रतीक थीं। स्रुक् (स्त्रीलिंग) और स्रुव (पुलिंग) भी अपना उद्देश्य नाता जोड़-जोड़कर इंगित करते थे। नीचे लिखे उद्धरण में वैदिक ऋषियों की प्रतीक-पद्धति और उनका रूप-सौन्दर्य-बोध दोनों साथ-साथ आ गए हैं—

योषा वै वेदिः। वृषाग्निः। परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति। सा वै पश्चाद् वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्रारिता। पुनः पुरस्तादुर्वी। एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति, पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरांसा, मध्ये संग्राह्येति।

—'शतपथ ब्राह्मण' १।२।५।६

उपनिषदों के ऋषि आध्यात्मिक अनुभूतियों को लौकिक आनन्द-प्रतीकों द्वारा समझाया करते थे। 'यथा आत्मया प्रियया परिष्वक्तः न किंचिद् वेद'-जैसी उनकी उपमाएँ होती थीं। कुछ लोगों के मत में नन्द धातु का मूल अर्थ आनन्द के एकायन से ही सम्बद्ध था, विकसित होकर परमानन्द तक पहुँचा।

ऐसा जान पड़ता है, विश्व की प्राचीन चिन्तन-धारा, विशेषकर भारतीय चिन्तन-धारा बिना किसी जोड़ी के सृष्टि-मीमांसा नहीं कर पाती थी। प्रकृति और पुरुष, ईश्वर और माया, शिव और शक्ति, चिति और परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ और अन्त हैं। इनके बीच में जगत् और जगत् की प्रत्येक गति में इनकी मिश्रित छाप है। इनके रहस्यों को प्रतीक की सहायता से कुछ सहज रूप में अवगत किया जा सकता था। प्रकृति या माया को नारी के प्रतीकों द्वारा समझाने का यही हेतु था। ऐसे प्रतीकों के कारण जहाँ अनेक दार्शनिक उलझनें पैदा हुईं, वहाँ भाषा को सहस्रों शब्द मिले, विचार व्यक्त करने के कई गतिरोध दूर हुए और सरलता आई। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा भूख-प्यास या आम-व्यवहार से ऊपर उठकर सत्य और शिव की छान-बीन करने लगी। भूख, भाषा के माध्यम से रस की ऊँचाई तक पहुँची और रस 'रसो वै सः' के सम्बन्ध जोड़ने लगा। काम प्रेम के आलोक में घुल गया और प्रेम ईश्वर के आँगन में पहुँचने का दावा करने लगा।

तात्पर्य यह है कि जिन मनोवेगों और अभावों के घात-प्रतिघात से सभ्यता का आरम्भ हुआ उन्हीं मनोवेगों और अभावों की अभिव्यक्ति में भाषा का जन्म हुआ। और जिस तरह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सांस्कृतिक विकास में प्रतीकवाद सहायक रहा है वैसे भाषा के विकास में भी हाथ बटाता रहा है।

भाषा के सामान्य रूप के अतिरिक्त भाषा के विभिन्न अंगों के अध्ययन के द्वारा भी प्रतीकवाद और भाषा का सम्बन्ध देखा जा सकता है।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि-प्रतीकवाद (साउंड सिम्बोलिज़्म) की पर्याप्त चर्चा है और पुरानी चर्चा है। यास्क, पाणिनि और प्लेटो का युग इस पर विचार कर चुका था और येस्परसन-जैसे आधुनिक पण्डितों ने भी इस विषय पर विचार किया है। ध्वनि और उसके अर्थ की स्वाभाविक एकता या अनुरूपता-सूचक शब्द सभी भाषाओं में हैं। नद्-नद् शब्द करने के कारण नदी का नाम नदी पड़ा। बिजली की कड़क और बादल की गड़गड़ाहट शब्द अनुकरण पर बने हैं। ध्वनि-प्रतीक के कुछ रूप सार्वभौम या अधिक-से-अधिक व्यापक देखे जाते हैं। जैसे, पत्तों की रगड़जन्य ध्वनि के लिए हिन्दी सर-सर, अंग्रेजी सुसुरेशन (Susurration), लैटिन सुसुरस (Susurrus); हिन्दी मरमर, अंग्रेजी में भी मरमर (Murmur) है, पर जरा सा भिन्न ध्वनि को लिए। कभी-कभी किसी भाषा में किसी विशेष ध्वनि की बहुलता उस भाषा-भाषी का प्रतीक बन जाती है। फ्रांसीसियों को अंग्रेज 'पार्लवू' कहते हैं और अमेरिकन 'डी डोंक' कहते हैं, क्योंकि फ्रेंच में ये दोनों ध्वनियाँ क्रमशः 'आप कहते हैं' और 'इसलिए' के अर्थ में बार-बार व्यवहृत होती हैं। स्वभाव, मनोवेग तथा मानसिक अवस्थाओं के ध्वनि-प्रतीक सभी भाषाओं में बढ़ते जा रहे हैं। ध्वनि-प्रतीक भी प्रगतिशील होते हैं। कालिदास के समय 'नूपुर' ध्वनि करते थे; राजशेखर के समय रणरणाते थे; बिहारी के समय कटि-किंकिनी शब्द करती थी और नूपुर, यदि मौन व्रत न कर रहे हों, बजते थे; और आज रुनमुनझुन करते हैं। हिन्दी में व्यक्त वस्तु की अव्यक्त ध्वनियाँ अपने अस्फुट रूप में उस वस्तु का प्रतीक बनती जा रही हैं विशेषकर नवीन आविष्कृत यांत्रिक वस्तुओं का, जैसे, टिक-टिक, पों-पों आदि। चिड़ियों की चहक के साथ टी-वी टी-टुट्-टुट्-जैसी प्रतीक-ध्वनियाँ भाषा में प्रवेश कर रही हैं। आधुनिक हिन्दी में पन्त जी की कविता में ध्वनि-प्रतीकवाद के रूप देखने योग्य हैं :

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,
छम छम छम गिरती हैं बूँदें तरुओं से छनके।
चम चम बिजली चमक रही उर में घन के,
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।
आंधी हर हर करती दल मर्मर तरु चर चर,
दादुर टर टर करते झिल्ली बजतीं झन झन,
म्याऊँ म्याऊँ रे मोर पीउ पीउ चातक के गण।

येस्परसन के अनुसार हामी भाषाओं में 'इ' ध्वनि नजदीक का और 'उ' ध्वनि दूर का प्रतीक है। भोजपुरी में भी कुछ ऐसे रूप मिलते है जैसे, 'ई' अइले, 'ऊ' अवहीं ना अइहें। अंग्रेजी के 'दिस्' और 'दैट' सर्वनामों में भी कुछ ऐसा ही संकेत है। येस्परसन ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की थी कि आर्य भाषा परिवार में स्त्रीलिंग प्रत्यय 'इ' लघुता का प्रतीक है और उदाहरण में संस्कृत का 'वृकी' शब्द रखा था। संस्कृत में स्त्रीत्व द्योतक 'आ' और 'ऊ' ध्वनियाँ भी हैं और 'ई' कभी-कभी लघुता के विपरीत अर्थ करती है। जैसे, संस्कृत में 'अरण्य' का अर्थ है जंगल,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु अरण्यानी का अर्थ है बड़ा जंगल। कुटीर का अर्थ है छोटा कमरा, किन्तु कुटी का अर्थ है उससे बड़ा कमरा। 'सर' का अर्थ है तालाब, किन्तु 'सरसी' का अर्थ है बड़ा तालाब (दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते-महाभाष्य १।१।१८)। फिर भी येस्परसन के सुझाव में दूर तक सचाई है। क्योंकि बोलियों में कुटिया आदि कुटीर आदि से हल्के पड़ गए, जो इस बात का सूचक है कि संस्कृत के अर्थ उतने स्वाभाविक नहीं थे। अपवादों के विशेष कारण होंगे।

सम्भव है ध्वनि की छोटी-से-छोटी इकाई (वर्ण) आरम्भ में स्वतन्त्र प्रतीक हो, जैसा कि लिपि के इतिहास से ध्वनित होता है। अंग्रेजी में जिसे अल्फाबेट (ए, बी आदि) कहते हैं वह ग्रीक का 'अल्फा बेटा' है। किन्तु ग्रीक की भाषा में इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं होता। ग्रीक वालों ने इन ध्वनियों को सार्या लोगों से लिया था जिनके यहाँ लिपि का विकास पहले हो चुका था। सामी में 'अलेफ' का अर्थ 'बैल' था और अलेफ का आरम्भिक अंकन बैल के सिर के आकार का अनुकरण था। इसी तरह बेट बेथ का अर्थ घर था और इसका लिपिरूप घर की आकृति की नकल था। अन्य वर्णों के संकेत भी उनके स्वतन्त्र अर्थ-प्रतीकों पर आश्रित थे। हो सकता है, आर्य भाषाओं की ध्वनि-इकाइयाँ भी कभी स्वतन्त्र अर्थ रखती हों। बाद में पद की सामूहिक ध्वनि में अपने स्वतन्त्र अर्थ के साथ डूब गईं और धीरे-धीरे केवल वर्ण-व्यंजक-मात्र रह गईं। वर्णों का सार्थक-अनर्थक सम्बन्धी प्राचीन विवाद इसकी पुष्टि करता है। उपसर्गों का इतिहास भी कुछ ऐसा ही संकेत करता है। उपसर्ग स्वतन्त्र अर्थ रखते थे किन्तु जब से क्रियाओं के साथ इनका गठबन्धन हुआ, इनकी शक्ति जाती रही। ये केवल द्योतक या प्रतीक के रूप में रह गए। उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ थे इसका संकेत उत्तर (उत् + तर), उत्तम (उत् + तम)-जैसे शब्दों में मिलता है। इनका प्रतीक-रूप भी धीरे-धीरे ओझल होता जा रहा है। कभी सम् उपसर्ग समता, सन्तुलन का संकेत करता था; 'अभि' सामने या प्रत्यक्ष का प्रतीक था; 'प्र' आरम्भ या आदि कर्म का उपलक्षण था। इनके स्वतन्त्र अर्थ कुछ ऐसे ही रहे होंगे। जो हो, ध्वनि-प्रतीकवाद का भाषा के विकास में, अपने सीमित रूप में, स्थान है। और उपसर्ग तो क्रियाओं के साथ आहार-विहार से सैकड़ों नवीन शब्द रचते ही रहे हैं। और कभी-कभी तद्धित-प्रत्यय का भी काम करते रहे हैं।[1]

भाषा के पद-रूप और उनकी विविधता में प्रतीकवाद की सबसे अधिक गहरी छाप पदों के लिङ्ग स्वरूप पर है। बिना किसी विशेष अड़चन के कहा जा सकता है कि भाषा में लिङ्ग-भेद प्रतीक-पद्धति पर है और स्त्री-पुरुष की छाया लेकर गठित हुआ है। अचेतन वस्तुओं में स्त्रीत्व, पुंस्त्व का आरोप सचेतनीकरण के आधार पर है। जर्मन भाषा में 'डी जोन' (सूर्य) शब्द स्त्रीलिंग है और 'डर मॉड' (चन्द्र) पुलिंग है। लिथूनिया और लटविया के लोक-गीतों में चन्द्रमा सूर्य का पति है। लैटिन में सोल (सूर्य) और लूना (चन्द्र) शब्द क्रमशः पुलिंग और स्त्रीलिंग हैं। संस्कृत में 'चन्द्र' शब्द यद्यपि पुलिंग है पर बोलियों में चिर काल से 'चन्दा माई' रहा है और

---

१. उपसर्ग का तद्धित प्रत्यय के अर्थ में प्रयोग निरुक्त में मिला है। यास्क ने प्रमगन्द (सूदखोर की सन्तान) शब्द का निर्वचन यों किया है :—मगन्द कुसीदी। माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुबीनः। निरुक्त ६।३२। १२७। दुर्गाचार्य ने प्र का प्रयोग तद्धित अर्थ से माना है और प्रस्कण्व शब्द में भी प्र को अपत्यार्थक माना है। 'प्रस्कण्व' के लिए देखिए अष्टाध्यायी ६।१।१५३.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कवियों की आँखें सदा इसे स्त्री-मुख के साथ देखती रही हैं। तात्पर्य यह है कि परस्पर सम्बद्ध अचेतन पदार्थों में लिङ्ग-विन्यास आरम्भ में यौन के आधार पर हुआ। फ्रेंच में 'सड़क' (chemin) स्त्रीलिंग है क्योंकि उसमें पैर डाला जाता है। आधुनिक फ्रेंच में 'मुख' (La bouche) शब्द स्त्रीलिंग है और 'नाक' (Le nez) पुलिंग है। जर्मन भाषा में मनुष्य का मुख पुलिंग, पशु का मुख नपुंसक लिंग, नदी, कुंए या थैले का मुख स्त्रीलिंग है। इनके लिए अलग-अलग शब्द हैं। ऐसा जान पड़ता है, तनुता, ह्रस्वता, सुन्दरता आदि मानव-इतिहास के शुरू में ही स्त्री के प्रतीक हो गए थे और इनके आधार पर क्रियाशीलता-द्योतक शब्दों को स्त्री या पुरुष की कोटि में डाल दिया गया। जो वस्तुएँ दैनिक जीवन के दूर की थीं, जिनके गुण अनिर्ज्ञात थे, जिनमें स्थिरत्व था, वे सब वस्तुएँ नपुंसकता की प्रतीक मान ली गईं। अवश्य इन प्रतीकों के पीछे जातीय संस्कार और सांस्कृतिक विकास छिपा हुआ है, फिर भी, प्राकृतिक प्रतीक-केन्द्र किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र जुटा हुआ है। लिंग में व्यतिक्रम के अनेक कारण हैं, और रहे होंगे। 'दारा' शब्द स्त्री के परुष व्यक्तित्व के प्रतीक होने के कारण (दारयन्तीति दारा :—महाभाष्य ३।३।२०) पुलिंग कोटि में डाल दिया गया होगा। 'कलत्र' शब्द त्रान्त शब्दों की चपेट में आ जाने के कारण, जो प्रायः स्थिर प्रकृति के हैं और कम व्यवहार वाले हैं, नपुंसक वर्ग में घसीटा गया। छात्र और पुत्र-जैसे कुछ शब्द दैनिक व्यवहार के कारण बच गए। हजारों वर्ष की परम्परा और सामाजिक उतार-चढ़ाव का परिज्ञान न हो सकने के कारण अनेक शब्दों का रहस्य समझना आज दुष्कर है। केवल कुछ मोटे सूत्र समझे जा सकते हैं और उन सूत्रों में एक प्रतीकवाद है।

प्रतीकवाद अपने साहित्यिक रूप में भी भाषा के विकास में सहायक हुआ है। वेदों में प्रतीकों की भरमार देखते हुए यह कहना निराधार न होगा कि प्रतीकवाद उतना ही स्वाभाविक है जितना स्वयं भाषा। आज के कुछ आलोचक प्रतीकवाद को असामाजिक और कुण्ठित भावनाओं का अन्तर्नाद समझते हैं। उनके मत में वह कल जन्मा था और आज मिट चला है। किन्तु विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैसे-जैसे सभ्यता या संस्कृति संकुल होती जाती है, वह अधिकाधिक प्रतीकात्मक होती जाती है और उससे अनिवार्यतः प्रभावित साहित्य भी प्रतीकात्मक होता जा रहा है। मार्क्सवादी साहित्य में प्रतीकवाद का वैसा ही सक्रिय स्थान है, जैसा किसी चिर एकाकिनी के करुण-मधुर गीतों में। साहित्यिक प्रतीकवाद ने सभी देशों में भाषा की शक्ति को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए, प्रतीकवाद ने आधुनिक हिन्दी को, भाषा की दृष्टि से, निम्न लिखित विशेषताएँ प्रदान की हैं—

१. विस्मृति के गर्भ में डूबे हुए सहस्रों शब्दों को जीवन-दान और नये-नये शब्दों की सृष्टि।

अभिजन, आवर्जना-जैसे शब्द लगभग एक हजार वर्ष बाद प्रचलित हुए हैं। 'अनिल कुसुम' (पन्त), 'मधुपरियाँ' (महादेवी), 'बिजली के फूल' (प्रसाद)-जैसे शब्द अपनी नवीनता और मनोहरता से वैदिक कवियों की याद दिलाने लगते हैं।

२. इल, इम, इत आदि प्रत्ययों का अधिक कभी-कभी अन्धाधुन्ध व्यवहार। ये प्रत्यय हिन्दी बोलियों के पिछले दो-तीन सौ वर्ष के इतिहास में विरल हो गए थे, कुछ अपभ्रंश-रूप में थे और कुछ के स्थान पर बोलियों के अपने प्रत्यय आ बैठे थे। आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) में भी संस्कृत के अनुकरण पर वर्तमान साहित्य की देन हैं। विशेष बात यह है कि प्रतीकों के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साथ इन प्रत्ययों का मूल अर्थ गायब होता जा रहा है और वे भी स्वयं प्रतीकात्मक होते जा रहे हैं, जैसे स्वप्निल, स्वर्णिम, निर्भरित, स्वर्गिक आदि प्रतीक शब्दों में।

३. अनेक शब्दों के मूल्यों में विकास।

प्रभात, मधु-जैसे शब्द युग-युग से प्रतीक बने हैं। किन्तु आज जिस नवीन सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं उनके सामने उनकी प्राचीन व्यक्तिगत प्रसन्नता और मधुरता रमणीय होती हुई भी हल्की है।

४. भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास और प्रतीकों का सामाजीकरण।

दोनों का एक साथ उदाहरण—

कलियों की घन जाली में छिपती देखूँ लतिकाएँ
या दुर्दिन के हाथों में लज्जा की करुणा देखूँ

—महादेवी

इसमें लज्जा से नारी का, चिथड़े में लिपटी नारी का, फलतः दुःख-दैन्य से आर्त मानवता का संकेत है। शब्द-शक्ति का इतना व्यापक प्रसार पहले कभी नहीं देखा गया था। लक्षणा और व्यंजना, अपने शास्त्रीय अर्थ में, प्रतीकवाद की छाया छूने में भी असमर्थ हो रही हैं। साथ ही प्रतीकवाद एकांगी स्वाश्रित भावनाओं से प्रकृति को जितनी खूबी से रँग सकता है, उतनी ही सचाई से प्रकृति के सारे वैभव को मानवता के चरणों में लुटा सकता है। प्रतीकवाद अपनी एकांगिता में एक कला है और अपनी व्यापकता में एक दर्शन है।

अन्य भाषाओं में भी साहित्यिक प्रतीकवाद के कारण परिवर्तन और विकास हुए हैं।

अस्तु, भाषा के विकास में जहाँ अन्य अनेक कारण हैं, वहाँ प्रतीकवाद भी सहायक रहा है। भाषा अपने मूल रूप में स्वयं प्रतीक है। प्रतीक से सँवारी गई है। इसके अंग-प्रत्यंग में प्रतीकवाद की छाप है। इसका विकास प्रतीकवादी पद्धति पर होता आया है और होता ही रहेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नरोत्तमदास स्वामी

राजस्थानी भाषा और साहित्य

(क) राजस्थानी भाषा

क्षेत्र—राजस्थानी, राजस्थान और मालवा प्रदेशों की मातृभाषा है। जिस क्षेत्र में राजस्थानी बोली जाती है वह विस्तार में हिन्दी को छोड़कर, किसी भी अन्य भारतीय भाषा के क्षेत्र से बड़ा है। राजस्थानी बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर है। इस दृष्टि से उसका स्थान भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगला, तेलुगु, तामिल और मराठी के बाद छठा तथा विश्व की भाषाओं में कोई पच्चीसवाँ है।

सीमाएँ—राजस्थानी के पूर्वोत्तर में हिन्दी की बांगड़ू बोली, उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में हिन्दकी, पश्चिम में सिन्धी, दक्षिण-पश्चिम में गुजराती, दक्षिण में मराठी और पूर्व में हिन्दी की बुन्देली तथा ब्रजभाषा नाम की बोलियाँ बोली जाती हैं।

बोलियाँ—राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ हैं—(१) पश्चिमी राजस्थानी—जिसका क्षेत्र उदयपुर, जोधपुर, जेसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी का प्रदेश है; (२) उत्तरी राजस्थानी—जिसमें अलवर प्रदेश की मेवाती और अहीरी बोलियाँ आती हैं; (३) पूर्वी राजस्थानी—जिसमें जयपुर और हाड़ौती की बोलियाँ सम्मिलित हैं, और (४) दक्षिणी राजस्थानी या मालवी—जिसमें नेमाड़ी भी सम्मिलित हैं। आडावला पहाड़ के निवासी भीलों आदि की तथा भारत के विविध भागों में पाए जाने वाले गूजरों और बंजारों की बोलियाँ भी राजस्थानी के ही रूप हैं। नेपाली (गोरखाली), गढ़वाली आदि पहाड़ी भाषाओं के साथ भी राजस्थानी का गहरा सम्बन्ध है। गुजराती और राजस्थानी भी मूलतः एक ही भाषा थीं जिसे विद्वानों ने Old Western Rajasthani या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।

प्राचीन नाम—राजस्थानी भाषा का प्राचीन नाम मरु भाषा था। राजस्थान के प्राचीन साहित्यकार अपनी भाषा का इसी नाम से उल्लेख करते थे। आठवीं शताब्दी के 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ में भारत की प्रमुख १८ देशभाषाओं में मरु-भाषा का उल्लेख किया गया है। अबुलफजल ने आईने-अकबरी में भारतवर्ष की प्रमुख भाषाओं में मारवाड़ी को भी गिनाया है। चारणों द्वारा प्रयुक्त राजस्थानी का साहित्यिक रूप 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध रहा है।

छन्द और अलंकार—राजस्थानी के अपने विशेष छन्द और अलंकार भी हैं। इन विशिष्ट छन्दों का नाम गीत था। ये गीत गाये नहीं जाते थे, पर एक विशिष्ट स्वर से पढ़े जाते थे। इनका आविष्कार सम्भवतः चारणों ने किया। प्रत्येक गीत में कम-से-कम तीन और साधारणतया चार या पाँच पद्य होते हैं। प्रथम पद्य के प्रथम चरण के आरम्भ में कभी-कभी कुछ मात्राएँ या वर्ण अधिक होते हैं, जो मानो गीत के आरम्भ को सूचित करते हैं। ब्रजभाषा में कविता पिंगल द्वारा अनुमोदित छन्दों में ही होती थी। वह 'पिंगल' नाम से प्रसिद्ध हुई। उसकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समानता पर, गीतों में रचित कविता की भाषा 'डिंगल' कहलाई। चारण लोग प्रायः डिंगल भाषा और गीतों में काव्य-रचना करते थे और भाट (ब्रह्मभट्ट) पिंगल भाषा और पिंगलानुमोदित छन्दों में। पिंगल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' है। राजस्थानी के कवियों ने पिंगलानुमोदित छन्दों का प्रयोग भी किया है और इसकी परम्परा उन्हें अपभ्रंश से प्राप्त हुई।

राजस्थानी के विशिष्ट अलंकारों में 'जथा' और 'वैणसगाई' उल्लेखनीय हैं। जथाओं के अनेक भेद हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण शुद्ध जथा है जिसमें गीत के प्रथम पद्य में वर्णित भाव ही अगले पद्यों में भंग्यन्तर से वर्णित किया जाता है। वैणसगाई एक प्रकार का आद्यनुप्रास है। उसमें पद्यों के प्रत्येक चरण के प्रथम और अन्तिम शब्द एक ही वर्ण से आरम्भ होते हैं जैसे—

माता भूमी मान
पूजै राण प्रतापसी।

(ख) राजस्थानी-साहित्य

राजस्थानी साहित्य का इतिहास क्रमिक विकास के अनुसार तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक काल (११५०-१५५०)
(२) मध्य काल (१५५०-१८७५)
(३) आधुनिक काल (१८७५ से···)

अपभ्रंश-साहित्य से पृथक् किये गए राजस्थानी-साहित्य का प्रारम्भिक काल सन् ११५० ई० से ही माना जा सकता है। प्राचीन राजस्थानी का अपभ्रंश से अन्तर प्रकट करने वाले मूल भूत लक्षण हैं—(१) विश्लेषणात्मक होने के लिए भाषा में निरन्तर आगे बढ़ने वाली उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्ति का समावेश, (२) विभक्ति-प्रत्यय (दोनों वचनों से भिन्न) के स्थान पर उन पर सर्गों का विकास जो दोनों वचनों में सामान्य हों, (३) संयुक्त काल और संयुक्त क्रियाओं का विकास, (४) द्वित्त व्यंजन का सरलीकरण और पश्चात्स्वर का दीर्घीकरण, और (५) अहीर अपभ्रंश के सामान्य रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम रूपों का अधिकाधिक उपयोग।

प्रारम्भिक और मध्यकाल

राजस्थान का प्राचीन साहित्य तीन विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त है—(१) जैन शैली, (२) चारण शैली, (३) लोक शैली।

जैन-साहित्य जैनियों के प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्यों का क्रमिक विकास है और अधिकांशतः धार्मिक प्रवृत्ति का है। यह चारण-साहित्य की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण और विस्तृत एवं व्यापक है। जैन-साधुओं ने अपनी शिक्षाओं को लोक-कथाओं के माध्यम से लोकप्रिय बनाया, जिसके कारण जैन-साहित्य प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। जैन-साहित्य प्रबन्ध, कथा, रस, चौपदी, भाषा, फाग, बारहमासी, चौमासी, संवाद, गीत, धवल, दूहा, गजल, मातृक, स्तवन, सज्झय, और पत्तावली आदि विभिन्न रूपों में पाया जाता है। प्रथम समुदाय सुदीर्घ वर्णनात्मक कविताओं का है। रस मूलरूप में वह कविता होती थी, जिसको रास-नृत्य के साथ गाया जा सकता था और बाद में इसका अर्थ उस लम्बी रचना से लिया जाने लगा जो सामान्यतया वर्णनात्मक हो, और प्राचीन अपभ्रंश-छन्दों और यदा-कदा देशी लय में लिखी गई हो। द्वितीय समुदाय प्रकृति-सौन्दर्य सम्बन्धी कविताओं का है। फाग में वसन्त की बहार, प्रेमी और उनके नृत्य और तत्कालीन समाज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की प्रसन्नता और स्वतन्त्रता की झलक होती थी। गजल एक ऐसी कविता होती थी जिसमें किसी नगर का वर्णन होता था।

भाट-साहित्य अधिकतर वीरतापूर्ण अथवा ऐतिहासिक प्रवृत्ति का है। भाषा सामान्यतया डिंगल है जो बोलचाल की भाषा से भिन्न है। इस शैली का सबसे प्राचीन रूप अपभ्रंश के मुनी कनकमार के कारकण्ड-चरित-जैसे ग्रन्थ से मिलता है। भाट-साहित्य 'वीर पुरुषों के स्वतन्त्रता-संग्रामों के चित्र प्रस्तुत करता है।' यह विशाल साहित्य, जो वीरत्व से ओत-प्रोत जीवन और तूफानी मृत्यु के सन्देश के अतिरिक्त कुछ नहीं है—सारे राजस्थान और गुजरात, जहाँ कहीं राजपूत ने अपनी जीती हुई धरती के लिए खून की नदियाँ बहाईं—फैलता गया। इस साहित्य को सबसे बड़ी देन उन चारणों की है जो तलवार को भी उतनी ही चतुरता से पकड़ते थे जितनी कि लेखनी को। लोक-साहित्य आम जनता के लिए था जो उस समय की बोलचाल की भाषा को समझती थी।

जैन-साहित्य—वज्रसेन सूरि का 'भारतेश्वर'—बाहुबली—छोर राजस्थानी का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह ४६ पद्यांशों का एक छोटा-सा काव्य है। यह नागपुरीय तपागच्छ देवसूरि के शिष्य वीरसेन के द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। शालिभद्रसूरि राजस्थानी का प्रथम प्रसिद्ध लेखक है। उसने 'भरत' बाहुबली-रस सन् ११८६ में देशी लय में लिखा तथा इसी प्रकार के रस और अन्य वर्णनात्मक काव्य इस काल के मध्य तक लिखे जाते रहे। विनयचन्द्र के समान जिन पद्म (१३३०) का 'शालिभद्र फाग' एक आकर्षक ऋतु-काव्य है। इसी प्रकार के अन्य आनन्ददायी काव्यों में सोर्न सुन्दर (१४२८) का 'नेमिनाथ नवरस फाग' और १५वीं शताब्दी के एक अज्ञात कवि का 'वसन्त विलास' हैं। कुशल लाभ ने दो रोमांटिक-काव्य 'ढोला मारू चौपाई' और माधवानल 'काम कण्डल' चौपाई १६वीं शताब्दी के मध्य में लिखे। उसने 'पिंगल शिरोमणि' नामक छन्द और अलंकार का ग्रन्थ भी लिखा। समय सुन्दरो (१५८०-१६४२) ने लम्बे ग्रन्थ और कई छोटे काव्य और पद लिखे। उसकी सर्वश्रेष्ट रचना 'सीताराम चौपाई' है। जिन समुद्र सूरि और जिनहर्ष ने जसराज के साथ मिलकर बहुत-से ग्रन्थ लिखे जिनसे राजस्थानी का साहित्य भरा-पूरा हो गया। जसराज के प्रेम और शृंगार के दूहे प्रसिद्ध हैं। उदयराज दूसरा दूहा-लेखक था जिसके दूहे बहुत लोकप्रिय हो गए। तेरापन्थी लेखकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय जीतमल था जिसका 'भगवती सूत्र' का राजस्थानी ढाल में रूपान्तर राजस्थानी की सबसे बड़ी रचना है।

जैनियों को बहुत बड़ा श्रेय इस बात का भी मिलना चाहिए कि उन्होंने राजस्थान के जैन तथा अजैन दोनों प्रकार के साहित्य को सुरक्षित रक्खा। कई अजैन-साहित्य के आवश्यक ग्रन्थ जो अन्यत्र दुर्लभ हैं, जैन-भण्डार में मिल जायँगे। उन्होंने प्रान्त के बिखरे हुए साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता भी की है।

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य में सबसे अधिक उल्लेखनीय रचना 'ढोला-मारू-रा दूहा' है। यह एक सुन्दर प्रेम-काव्य है। दैन्य, वात्सल्य, व्यंग, करुणा, विलास, हास्य, प्रेम और पुनर्मिलन का आनन्द—ये सब इसमें उपलब्ध हैं। इसी कारण इसके दूहे इतने लोक-प्रिय हो सके। सदयवाच्छ और सवलिंग की कहानी ने आम जनता में बहुत प्रसार पाया। इसकी रचना में कई लेखकों का हाथ था। दूसरी कहानी, जो उसी प्रकार कई बार दुहराई जा चुकी है, वह 'माधवानल और कामकण्डल' है। १५२६ में लिखी गई कायस्थ गणपति की रचना 'माधवानल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दोग्धक प्रबन्ध' सबसे प्राचीन और सर्वोत्तम है। राजा विक्रमादित्य ने लोक-कल्पना को ध्यान में रखकर सफल प्रयोग किए और कई कहानियाँ लिखीं, जिनमें अदम्य उत्साह, वीरता, उदारता और महानता का चित्रण किया। पंचतन्त्र की कहानियाँ भी किसी-न-किसी रूप में दुहराई गईं। राजस्थान की जनता में दूसरे लोकप्रिय काव्य और जो निम्न श्रेणी के लोगों के द्वारा लिखे गए वे हैं, 'हरजी रो व्याहलो' अथवा 'रुक्मिणी मंगल' और 'नरसी जी रो माहेरो'। वे सामान्यतया पेशेवर वाचकों के द्वारा रात्रि में गाए जाते हैं, जबकि स्त्रियाँ और पुरुष अपने घर का धंधा समाप्त करके वहाँ सुनने के लिए इकट्ठे होते हैं। 'व्याहलो' रुक्मिणी के कृष्ण के साथ हुए विवाह की कहानी कहता है। यह पद्म नाम के तेली के द्वारा रचा गया था। 'माहेरा' रत्ने खाती की रचना है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने नरसी को अपनी बेटी का माहेरा देने में मदद की। यह एक छोटा-सा सुन्दर काव्य है, जिसमें करुणा और व्यंग्य एक साथ प्रवाहित होते हैं।

'खयाल' दूसरे प्रकार का लोक-काव्य है जो क्रमशः अधोगति को प्राप्त हो गया। 'जिन माता रो गीत' और 'डूँगजी जवारजी रो गीत' दो बहुत लोकप्रिय वीर-काव्य हैं, जो किसी भी अन्य भाषा के श्रेष्ठ काव्यों के सम्मुख रखे जा सकते हैं। भक्त-कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध मीरांबाई है जो उत्तरी भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री है। उसके पद उसकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये पद लोकप्रियता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं, और ऐसा केवल राजस्थान और गुजरात में ही नहीं हुआ, अपितु बंगाल और मद्रास के दूर प्रदेशों से युक्त समस्त देश में इन पदों की पहुँच हुई। चन्द्रसखी के भजन मीरांबाई के पदों के समान ही लोकप्रिय हैं। भक्तवर अपने किस्म के विशिष्ट भक्त कवि हुए हैं। राजस्थानी समाज के निम्नश्रेणी के लोग और खासतौर पर ग्रामीण लोग सिद्धों के प्रभाव में रहे हैं जिनमें पाबूजी, रामदेवजी, गोगोजी, जाम्होजी और तेजोजी अधिक लोकप्रिय थे।

वीर-चारण साहित्य—नरपति नाल्हा ने (जो अपने-आपको व्यास कहा करता था) सन् १२१५ में अपने 'बीसलदेव रासो' की रचना की। यह तथाकथित ऐतिहासिक काव्य कह्लाद दे के समय की कोलोगिल भाषा में लिखा गया। पद्मनाभ (एक ब्राह्मण) जालोर के चौहान राजकुमार कह्लाददे के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। ढाढ़ी बहादर का 'वीरामायन', श्रीधर ब्राह्मण का 'रणमल्ल छन्द' और शिवदास चरण का 'अचलदास खीचीरी' वाचनिक भट्ट-शैली के अग्रगण्य ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। १५३५ ई० में बीठू सूजोनगर जोत ने 'राव जैतसीराव छन्द' की रचना की, जो राजस्थानी साहित्य-मुकुट का प्रोज्ज्वल रत्न है। काव्य का विषय बीकानेर के राव जैतसी से हुमायूँ के भाई कामरां की पराजय है। इसकी भाषा में प्रवाह है, नहीं, तूफ़ान है, वीरत्व की अदम्य-शक्ति है। शैली का यह प्रवाह, यह सारल्य और उसकी आडम्बरहीनता अतुलनीय हैं। बारह ईसरदास भट्ट कवियों में शिरोमणि माना जाता है। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ 'हरिरस देवीयान' और 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलियाँ' हैं। 'हरिरस' ने स्तोत्र का स्थान ग्रहण कर लिया है—बहुत से लोग इसका पाठ गीता अथवा सहस्रनाम की तरह किया करते हैं। 'देवीयान' में देवी के पराक्रम का वर्णन है। 'कुण्डलियाँ' वीररस के सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी-काव्यों में से एक है। इसके अतिरिक्त उसने बहुसंख्या में चारणगीत और अन्य विविध कविताएँ रची।

पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हैं। वे बीकानेर के राजघराने में जन्मे थे और अकबर के दरबार में रहा करते थे। वे एक महान् योद्धा के साथ-साथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महान् भक्त भी थे। अपनी वीरता के कारण उन्होंने गागरोगढ़ की जागीर जीत ली थी। भक्तमाल के नाभोजी ने उन पर एक कवित्त लिखा है, जिसके बाद उनकी भक्ति के विषय में कहने को कुछ भी बाकी नहीं रहता। पृथ्वीराज की सर्वोत्तम रचना 'किसन रुक्मिणी री वेलि' है जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। काव्य के उत्तरार्द्ध में षड्ऋतु-वर्णन है, जिसमें वसन्त को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। डॉ० टेसीटरी ने 'वेलि' को राजस्थानी-साहित्य की समृद्ध खान का देदीप्यमान रत्न कहा है। 'वेलि' अत्यन्त लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई और उसने एक धर्म ग्रन्थ का स्तर प्राप्त कर लिया। इस पर लिखी गई दर्जनों संजीवनी टीकाएँ हैं, जिनमें से दो संस्कृत में लिखी गई हैं।

माधोदास ने अपने 'रामरासो' में 'रामयण' की कथा कही। ठूलो सैन्यो ने 'रुक्मिणी-हरण' और 'नागदमन' की रचना की। आढ़ा दुरसा चारण कवियों में बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जिसने महाराणा प्रताप की प्रशंसा में 'विरद-छित्तरी' लिखी। आढ़ा किसना 'महादेव पारवती री वेलि' का रचयिता था। खिरियो जोगो का वाचनिक प्रकार का ग्रन्थ 'रतन महेसदासोट री वाचनिक' अपने-आपमें एक सर्वोत्तम नमूना है। करणीदान का 'सूरजप्रकाश' और वीरभान का राजरूपक दो सुदीर्घ वीरकाव्य हैं। कृपादान ने 'राजिया रा दूहा' लिखा जो राजस्थान-भर में सुविख्यात है। मनसाराम ने 'रघुनाथ-रूपक' नामक अलंकार-छन्द-गीत के ग्रन्थ की रचना की। कवि रामनाथ का 'द्रौपदी-करुणा-बत्तीसी' एक विशिष्ट प्रकार का लघुकाव्य है। आढ़ो ओप ने भक्ति-वैराग्य के गीत-कवित्त लिखे। वह महान् प्रतिभासम्पन्न कवि था। उत्तर मध्यकालीन के दो कलाकार—जोधपुर के आसियो वांकीदास और बूँदी के सूर्यमल्ल मिश्रण – थे, जिनमें वांकीदास महान् विद्वान और उच्चकोटि के इतिहासकार थे, जिन्होंने राजस्थान के राजाओं को अंग्रेजी राज्य के सामने समर्पण करते देख अपनी कविता का विषय बनाया था, और उनको दृढ़ आवाज में ललकारा था। मिश्रण सूर्यमल्ल चारण-जाति में सबसे अधिक विद्वान् थे, उनका भाषा पर पूरा प्रभुत्व था—उनका 'वंश भास्कर' तथ्यों का भण्डार सिद्ध हुआ। दो हजार पृष्ठों से बड़ा यह महाकाव्य बूँदी के चौहानों का इतिहास है जो सुदीर्घ राजस्थानी गद्य-शैली का अनुसरण करते हुए पिंगल में लिखा गया है। इनकी अन्य आवश्यक रचना 'वीर सतसई' है जिसमें वीररस के सात सौ दोहे संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थानी में कई हजार दूहे और गीत इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। राजियो, मैरियो, जेठियो, नागजी आदि के दूहे राजस्थानी जनता के हृदय में घर किए हुए हैं।

गद्य-साहित्य—प्राचीनतम राजस्थानी गद्य जैनियों की लेखनी का ही है। संग्रामसिंह की 'बालशिक्षा' (१२८०) और कलमन्डन की 'मुधरबोध आन्तिक' (१३६३) रचनाएँ प्राचीन राजस्थानी में की गई संस्कृत व्याकरण की टीकाएँ (पाठ्य-पुस्तकों के रूप में) हैं। ऐसे बहुत से आन्तिक लिखे गए। जैनी साधुओं ने गद्य में धर्मकथाएँ इसलिए लिखीं कि इससे उनके उपदेश लोकप्रिय हो जायँ। 'उनका गद्य सुविकसित, प्रवाहपूर्ण और साभिव्यक्ति था'। ऐसी कथाओं का प्राचीनतम लेखक तरुणप्रभ (१३५५) था। सोमसुन्दर (१३७३–१४४२) और पार्श्वचन्द्र दो अन्य उल्लेखनीय लेखक थे किन्तु सुविकसित, कलात्मक धर्मकथा-गद्य माणिक्यचन्द्र के 'पृथ्वीचन्द्र चरित' में उपलब्ध होता है। कथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से कही गई है। इसकी भाषा विश्लेषणात्मक और संगीतमयी है। राजस्थानी गद्य के इतिवृत्तों में इतिहास, वंशावली, जीवन-चरित्र, पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक गाथाएँ और प्रेम कहानियाँ आदि समस्त विषय पूर्णरूप में प्राप्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होते हैं। इतिवृत्तों में सबसे उल्लेखनीय रचना 'ख्यात' और 'बात' होती है। 'ख्यात' के ख्यातनामा लेखकों में नयनसी मुहनोत, बांकीदास आसिया और दयालदास सिन्धायच आदि अग्रणी हैं। नयनसी जैन था और जोधपुर महाराज जसवन्तसिंह का मन्त्री था। वह राजस्थान का अबुलफ़ज़ल कहलाता था। उसका 'ख्यात' राजस्थान में तत्कालीन राजपूतों की विभिन्न जातियों के इतिहास का परिचायक है। उसने जोधपुर राज्य का 'राजपत्र' भी लिखा था। नयनसी का 'ख्यात' राजस्थानी गद्य का एक अपूर्व उदाहरण है। बांकीदास का 'ख्यात' गाथाओं का संग्रह है, जो इतिहास के मूल्यवान् सामग्री है। दयालदास ने बीकानेर राज्य के तीन बड़े-बड़े इतिहास लिखे। 'दलपत विलास' बीकानेर महाराज रायसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र राजा दलपतसिंह का जीवन-चरित्र है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों लोकप्रिय 'बातें' लिखी गई हैं जिनमें धार्मिक, वीररसपूर्ण, व्यंगप्रधान, प्रेम-रोमांस-उत्साह-वर्द्धक कहानियाँ सन्निहित हैं। उदाहरणार्थ एक 'लागीड़ा' 'चौबोली' 'राजाभोज और खाफ़रा चोर', 'राजा भोज', 'पण्डित माघ' एवं प्राचीन स्त्री-साहित्य यथा—'जासाम ओडनी' 'फोपानन्द' 'सयानी चारणी' 'चन्दा और मलयागरी', 'खुदा बावली' 'पलक दरियाव' 'राजकुमार कुतुबदी'। 'खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरों' एक कलात्मक गद्य-कथा है, जिसका लेखक अभी तक अज्ञात है।

(ग) आधुनिक काल

पद्य—आधुनिक साहित्य का आरम्भ देश के पाश्चात्य सम्पर्क और राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ माना जा सकता है। मातृभाषा के साहसी सपूतों ने राजस्थानी के लिए अपनी आवाज बुलन्द की, और यद्यपि उनको बहुत-कम दूसरी सहायता मिली, पर वे दृढ़ता से अपने कार्य को आगे बढ़ाते गए। इन प्रयत्नों से राजस्थानी साहित्य को नया मोड़ लेने में सही प्रेरणा मिली।

बारठ केशरीसिंह सौदा राजस्थानी कविता में राष्ट्रीय-जागरण की भावनाओं के अग्रणी कवि थे। उनके क्रान्तिकारीय राजनीतिक कार्यों के कारण उनकी जागीर छीन ली गई। उनका पुत्र प्रतापसिंह—राजस्थानी नवयुवकों का प्यारा प्रताप जेल में डाल दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। केशरीसिंह की कविता ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राजस्थान के निरंकुश सामन्तवाद के खिलाफ एक जबरदस्त बगावत है। उसमें आग है—आग की लपटें हैं। उमरदान की कविता अधिकतर व्यंग-प्रधान है। उसका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'छप्पनरो' छन्द संवत् १९५६ वि. (१८९९–१९००) के भयंकर दुर्भिक्ष का स्पष्ट और यथार्थ चित्रण है। मेवाड़ राज्यवंश के महाराज छत्तरसिंह एक महान् योगी थे, उनकी कविता भक्ति-वैराग्य की भावना से ओतप्रोत है। उनकी दो कविताएं 'नारी' और 'मरणो जाणनो' बहुत लोकप्रिय हुईं। स्वामी चतुर्भुजदास निरंजनी का 'भवानी मंगल' एक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य है जो 'रुकिमणी-मंगल' के आधार पर लोकप्रिय शैली में रचा गया है। हिंगलाजदान व्यंग का अद्भुत कवि है। उसका सर्वप्रिय काव्य 'माई महिमा' प्राचीन चारण-शैली में लिखा गया है। उदयराज ने राष्ट्रीय आन्दोलन और उसमें भाग लेने वाले वीरों के प्रशस्तिगीत गाए। उसका 'धूड़सार' इसका उदाहरण है। नाथूराम महियारिया केशरीसिंह का अनुगामी था जिसने 'वीरसतसई' लिखी।

राजस्थानी की नई धारा के प्रथम कवि ठाकुर रामसिंह हैं, जिन्होंने राजस्थानी के पुनरोत्थान का नेतृत्व किया और प्रथम अखिल-भारतीय राजस्थानी-साहित्य सम्मेलन के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सभापतित्व का उत्तरदायित्व निभाया। 'मरु-मयंक', 'मेह और धरा' उनके सर्वोत्तम काव्य हैं जो उनके प्रकृति, मानवता और मातृभूमि सम्बन्धी प्रेम के मूर्त्त उदाहरण हैं। उनका 'मातृभाषा रो गीत' राजस्थानी का वन्देमातरम् बन गया। राजस्थानी लोकगीतों का अलौकिक संग्रहकर्ता गणपति स्वामी स्वयं उच्चकोटि का कवि है। उसकी कविताएँ उतनी ही आनन्ददायक हैं जितने उच्चकोटि के लोकगीत, और कभी-कभी तो दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। उसकी सर्वोत्तम कविता लोरी है। मुरलीधर व्यास और भोमराज के दूहे बड़े लोकप्रिय हैं। कन्हैयालाल सेठिया का नये कवियों में एक उच्चकोटि का व्यक्तित्व है। उसका 'पातल और पीथल' (प्रताप और पृथ्वीराज) पृथ्वीराज के द्वारा महाराणा प्रताप को दिये पत्र, और उनके उत्तर की अनूठी अभिव्यक्ति है। चन्द्रसिंह प्रकृति का कवि है। उसकी 'बादली' और 'लू' क्रमशः वर्षा और गरमी का अपूर्व चित्रण हैं। उसने कालिदास के 'रघुवंश' का राजस्थानी-पद्य में सफल अनुवाद किया है। नानूराम ग्रामीण प्रकृति और ग्राम्यजीवन का कवि है। उसकी 'कलायण' रचना राजस्थान के देहाती-जीवन का यथार्थरूप सामने रख देती है। उसका दूसरा प्रसिद्ध काव्य 'मुरधर रा दस देव' है। जयनरायण व्यास ने भी राजस्थानी में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

अन्य प्रसिद्ध कवियों में मोतीसिंह, दुर्गादत्त शास्त्री, मुन्नालाल पुरोहित, मेघराज 'मुकुल', मालदान 'मनुज', रेंवतदान चारण 'कल्पित', धोंकलसिंह, कविवर 'शलभ' और श्रीमन्तकुमार आदि हैं जिन्होंने राजस्थानी को नये स्तर पर ला खड़ा किया है। राजस्थानी को अपनी नई पीढ़ी से बहुत-कुछ पाने की आशा है।

गद्य :—शिवचन्द्र भारतीय राजस्थानी का प्रथम नाटककार है। उसने तीन नाटक लिखे हैं–(१) 'केशरविलास', (२) 'बुढ़ापे की सगाई' और (३) 'फाट का जंजाल'। भगवतीप्रसाद दारुका ने पाँच नाटक लिखे जो एक ही जिल्द में 'मारवाड़ी पाँच नाटक' के रूप में प्रकाशित हुए। इनमें सामाजिक बुराइयों का यथार्थ चित्रण है। 'बोलवना' सूर्यकरण पारीक का राजपूती वीरता को लेकर लिखा गया एक छोटा नाटक है। श्रीनाथ मोदी का 'गोमा जाट' ग्रामीण-समस्याओं पर एकांकी नाटक है। मुरलीधर व्यास ने कई एकांकी लिखे हैं।

आधुनिक राजस्थानी-साहित्य में उपन्यासों का अभाव है। शिवचन्द्र भारतीय का 'कनक-सुन्दर' एक छोटा उपन्यास है जिसका केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित हो पाया है। मुरलीधर व्यास ने कई छोटी कहानियाँ लिखी हैं जो अधिकांशतः सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन को लेकर हैं। मुन्नालाल ने भी कुछ कहानियाँ राजस्थानी वीरता को बताते हुए लिखी हैं।

गद्य-लेखकों में गुलाबचन्द नागोरी, अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा और चन्द्रसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। जयनारायण व्यास और हीरालाल शास्त्री ने भी यथाशक्ति प्रयास किया है। भँवरलाल नाहटा का 'लाभू बाबू' बहुत सुन्दर रेखा-चित्र है। ठाकुर रामसिंह का सभापति-पद से दिया गया भाषण राजस्थानी-गद्य का अच्छा उदाहरण है और रामकरण आसोपा का भगवत्गीता का अनुवाद भी उल्लेखनीय है। इधर श्रीमन्तकुमार ने निबन्ध, रेखाचित्र, कहानी और एकांकी साहित्य में सन्तोषजनक प्रयास किया है। रामदत्त संकृत ने ग्रामीण वातावरण पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

विविध साहित्य

राजस्थानी का प्रथम व्याकरण रामकरण आसोपा के द्वारा सन् १८९६ में लिखा गया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

था। डॉ० टेसीटरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर अपनी टिप्पणियाँ 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' में सन् १९१४ से १९१६ तक प्रकाशित करवाईं। डॉ० टेसीटरी सबसे बड़ा यूरोपीय राजस्थानी-वेत्ता था। वह इटलीवासी था और उसने इटली में ही राजस्थानी हस्तलिपि की सहायता से राजस्थानी को सीखा था। १९१४ में ब्रिटिश सरकार ने उसे भट्ट-साहित्य के अन्वेषण करने के निमित्त निरीक्षक के रूप में नियुक्त किया था। टेसीटरी को राजस्थानी से बहुत प्रेम था, जिसके लिए उसने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था। उसने 'डिंगल' की तीन कविताएँ सम्पादित कीं और हस्तलिखित चारण-साहित्य के ग्रन्थों की तीन सूचिकाएँ प्रकाशित करवाईं।

मुरारीदान मिसन ने 'अमरकोष' टाइप का 'राजस्थानी शब्दकोष' प्रकाशित कराया। रामकरण आसोपा ने नए आधार पर एक बड़ा 'राजस्थानी शब्दकोष' तैयार किया, पर दुर्भाग्य से वह प्रकाशित न हो सका। दूसरा विशाल कोष 'राजस्थानी-हिन्दी-शब्दकोष' बीकानेर के राजस्थानी-साहित्य पीठ और सादुल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट के तत्वावधान में तैयार किया जा रहा है, जिसके प्रधान सम्पादक का उत्तरदायित्व इन पंक्तियों के लेखक के कन्धों पर है। प्रस्तुत लेखक ने एक संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण भी तैयार की है जो छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है। इसी लेखक का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' उन तीन भाषणों का सिरीज है जो सन् १९४५ में उदयपुर विद्यापीठ में दिये गए थे। इस सिरीज में राजस्थानी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास है। डॉ० सुनीतिकुमार ने भी वहीं पर सन् १९४७ में 'राजस्थानी भाषा' पर अपना भाषण दिया था। मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का इतिहास' हिन्दी और राजस्थानी दोनों भाषाओं में लिखा है।

मुरलीधर व्यास, लक्ष्मीलाल जोशी, जगदीशसिंह गहलोत, गणपति स्वामी, अगरचन्द नाहटा और कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों का संकलन और सम्पादन किया है। मुरलीधर व्यास और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित 'राजस्थानी कहावतां' सबसे बड़ा और अच्छा संकलन है। मुरलीधर व्यास ने राजस्थानी मुहावरों का एक बड़ा संकलन किया है।

राजस्थान के लोकगीतों का प्रथम प्रशंसनीय संग्रह जगदीशसिंह गहलोत ने प्रकाशित करवाया था। इस विषय पर सर्वोत्तम रचना 'राजस्थान के लोकगीत' (दो भागों में) है जो रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित है। यहाँ गणपति स्वामी का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिसने सूर्यकरण पारीक के सफल नेतृत्व में राजस्थानी लोकगीतों का विशाल संग्रह किया है।

सम्पादकों में ठाकुर भूरसिंह (विविध संग्रह और महाराणा यश प्रकाश) मुन्सिफ देवीप्रसाद (राजरसनामृत, महिला मृदुवाणी, कविता-रत्नावली), पुरोहित हरनारायण (सुन्दर-ग्रन्थावली), रामकरण आसोपा (वंश-भास्कर, नयनसी री ख्यात आदि) डॉ० दशरथ शर्मा (दयालदास री ख्यात), अगरचन्द नाहटा (ऐतिहासिक जैन-काव्य, सीताराम चौपाई आदि), दीनानथ खत्री (दयालदास री ख्यात और दलपत विलास), कन्हैयालाल सहल और ईसरदास (वीर सतसई) और नरोत्तमदास स्वामी (राजस्थान रा दूहा, पृथ्वीचन्द्र चरित्र, बांकीदास री ख्यात, राजस्थानी वीर चरित, अचलदास री वाचनिक आदि) के नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण ठा० रामसिंह और सूर्यकरण पारीक का प्रयास समझा जाना चाहिए जिन्होंने 'वेलि किसन रुकिमणी', 'ढोला मारू रा दूहा' आदि अनेक अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का सम्पादन किया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजस्थानी भाषा और संस्कृति से सम्बन्धित पत्रिकाएँ 'राजस्थानी', 'राजस्थान भारती' और 'शोध-पत्रिका' (उदयपुर विश्व विद्यापीठ) हैं। कई मासिक और साप्ताहिक पत्र समय-समय पर आरम्भ किये गए थे, पर कोई भी जीवित न रह सका।

भारत के स्वतन्त्र होने के साथ-साथ राजस्थान भी एक संगठित प्रान्त बनाया जा चुका है, अतः यह आशा की जाती है कि राजस्थानी भाषा अपने पूर्व गौरव को पुनः प्राप्त करेगी और राजस्थानी साहित्य महत्ता के उच्चतर स्तर को प्राप्त करेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राहुल सांकृत्यायन

मातृभाषाओं का महत्त्व

देश के पुनर्निर्माण तथा हमारी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को शीघ्रता से हल करने के लिए मातृभाषाओं का कितना महत्त्व है, अभी इसकी तरफ हमारे भाग्यविधाताओं का ध्यान बिलकुल गया ही नहीं है। कितनी ही औंधी खोपड़ियाँ तो यह स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि मारवाड़ी, मेवाड़ी, हरियानी, बुन्देली, भोजपुरी, मगही, कुमाऊनी, गढ़वाली आदि भाषाएँ भी अपना अस्तित्व रखती हैं। करोड़-करोड़ तक आदमियों द्वारा बोली जाने वाली इन भाषाओं को कितने ही लोग 'बोली' कहकर छुट्टी ले लेना चाहते हैं, और इसे समझने की आवश्यकता नहीं महसूस करते, कि ये जीवित भाषाएँ हैं, और अपने क्षेत्र में जनता के अन्तस्तल तक को छूने के लिए उनका सहारा लेना आवश्यक है। अवधी, ब्रज या मैथिली को तुलसीदास, सूरदास और विद्यापति के कारण भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु मालवी, मगही आदि का कोई लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए उनके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यह स्वाभाविक बात है, जो हिन्दी साहित्यिकों को भी अपनी-अपनी मातृ-भाषाएँ बहुत प्रिय मालूम होती हैं, और विसराम के एक बिरहे पर एक भोजपुरी संस्कृत या दूसरी साहित्यिक भाषाओं की हजारों उच्च कविताओं को न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाता। जो बात भोजपुरियों के बारे में है, वही बात दूसरी अलिखित भाषाओं के साहित्य-प्रेमियों की अपने अनपढ़, प्रतिभाशाली कवियों के बारे में कही जा सकती है। उनका अलिखित रहना खेदजनक जरूर है, शायद यदि उनमें लिखित साहित्य होता, तो उतनी उपेक्षा नहीं दिखलाई जाती; लेकिन तो भी अवधी, ब्रज, मैथिली; मारवाड़ी (डिंगल) के उदाहरण से हम जानते हैं कि उन्हें अपना स्थान लेने में तब भी, कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

उपयोगिता जिसकी साबित की जा सकती है, उसी पक्ष को आज नहीं, तो कल स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। अपनी-अपनी मातृभाषाओं के साथ हमारा कितना ही प्रेम-मय सम्बन्ध हो, उससे कुछ काम नहीं बनने का। उपयोगिता इन भाषाओं की बहुत अधिक है, यह इसी से मालूम हो सकता है, कि हम इस शताब्दी के अन्त तक भी, अपने यहाँ की निरक्षरता को दूर नहीं कर सकते, यदि प्रारम्भिक-शिक्षा और प्रौढ़-शिक्षा का माध्यम कुमाउंनी, गढ़वाली, कौरवी, हरियानी, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, ब्रज, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि मातृभाषाओं को नहीं बनाता। प्रारम्भिक या प्रौढ़-शिक्षा के लिए मातृभाषा को माध्यम स्वीकार करते ही हमारी निरक्षरता की समस्या छूमन्तर की तरह हवा हो जाती है, और वह सचमुच नागरी की वर्ण-माला सिखाने भर की समस्या रह जाती है। उसके लिए कितना समय लगाना पड़ेगा, यह आप आसानी से समझ सकते हैं। उच्चारणानुरूप होने से नागरी वर्णमाला का सीखना बहुत आसान है, अधिकतर लोग तो हफ्ते-भर में उसे सीख सकते हैं, और एक महीने में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो सभी वर्ण-परिचय को समाप्त कर सकते हैं। उसके बाद-उनके हाथ में मातृभाषा में छपी पुस्तकें थमा देनी होंगी, और हर प्रौढ़ व्यक्ति अपने-आप अपना अध्यापक बन जायगा। भोजपुरी में छपी 'सोम नयका' 'बिहुला', और 'कुंवर-बिजई' को अक्षर से सद्यःपरिचित नर-नारी बड़े चाव से पढ़ने लगेंगे। हमारी दूसरी भाषाओं में भी इस तरह की अलिखित मनोहर कहानियाँ और पँवाड़े मौजूद हैं, जिनको वर्णमाला के सांचे में ढालकर अपने विशाल हिन्दी-प्रदेश की जनता में फैलाया जा सकता है।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि मातृभाषा-द्वारा निरक्षरता का अचिरकाल में ध्वंस कोई भंग-की-तरंग वाली बात नहीं है। रूस ने जो एक दर्जन वर्ष से भी कम समय में अपने यहाँ से निरक्षरता को खतम कर दिया, उसमें प्रधान सहायता मातृभाषाओं के शिक्षा-माध्यम ने स्वीकार करने दी। रूसी, अरमनी, गुरजी आदि एक दर्जन के करीब ही ऐसी भाषाएँ वर्तमान सोवियत-संघ की भूमि में १९१७ ई० की क्रान्ति से पहले थीं, जिनका अपना लिखित-साहित्य था, और जिनमें रूसी भाषा यूरोप की तीन दूसरी प्रधान भाषाओं—जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी के समकक्ष थी। रूसियों ने बिना कुछ आगा-पीछा किये मातृभाषा के शिक्षा-माध्यम वाले विचार को सिद्धान्त मान लिया, और याकूत, चुक्ची, किरगिजी, तुर्कमानी आदि कई दर्जन अब तक अलिखित चली आई भाषाओं को सुगम लिपि प्रदान करके लिपिबद्ध कर दिया, और उसी द्वारा बच्चों और प्रौढ़ों को शिक्षा देना जारी कर दिया। इसमें कोई कम्युनिज्म गन्ध नहीं है, न मातृभाषाओं के माध्यम स्वीकार करके हम कोई महापाप करेंगे। निरक्षरता की समस्या को तुरन्त खतम करने का यही एक रास्ता है। हमें प्रौढ़ों की शिक्षा और प्राइमरी के चार वर्ष की शिक्षा को मातृभाषाओं में कर देना चाहिए, चौथे वर्ष या चाहें तो तीसरे ही वर्ष से हम हिन्दी को भी द्वितीय भाषा के तौर पर रख सकते हैं, और प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा के बाद आज की तरह ही पूर्णिया से जैसलमेर, हिमशिखरों से छत्तीसगढ़-नीमाड़ तक हिन्दी को माध्यम बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार जहाँ तक माध्यमिक, उच्च-माध्यमिक या उच्च-शिक्षा का सम्बन्ध है, हिन्दी का अपना स्थान अक्षुण्ण रहेगा, और ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी ने भारत के जो इतने बड़े भूभाग को एकताबद्ध कर दिया है, उसमें भी कोई बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि नवीन भारत में अपने-अपने प्रदेशों में वहाँ की भाषाओं के सर्व-सर्वापन को कायम रखते, हिन्दी सारे भारतवर्ष में व्यवहार की जाने वाली भाषा बनकर हमारे सारे देश की एकता को दृढ़ करेगी।

ग्राम-पंचायतों के निर्माण के बाद हमारे सामने मातृभाषाओं की उपेक्षा ने अपना दुष्परिणाम दिखलाना शुरू किया। उत्तर-प्रदेश में यदि ग्राम-पंचायतों को भोजपुरी, अवधी, कुमाऊँनी, गढ़वाली, कौरवी, ब्रज और बुन्देलखण्डी में अपनी लिखा-पढ़ी करने की छुट्टी दे दी जाती, तो सबके लिए कितना सुभीता होता। लेकिन जहाँ पर टेहरी-जैसी रियासत में राजा के शासन के उठने के समय तक लोग हिन्दी में अर्जी दे सकते थे, मुकदमों का फैसला भी उसी में हो सकता था, वहाँ रियासत के विलयन के बाद ही अंग्रेजों के टकसाल के ढले नौकरशाह वहाँ पहुँचे। उन्होंने अंग्रेजी में धड़ाधड़ सूचनाएँ जारी करनी शुरू कीं। अंग्रेजी में फैसले होने लगे, हुकम निकलने लगे। क्या इसे गंगासागर से हिमालय की ओर उलटी गंगा बहाना नहीं कहेंगे? क्या राष्ट्रीय दृष्टि से यह अक्षम्य अपराध नहीं था, जिसके लिए वहाँ के नियुक्त नौकरशाह को चौबीस घण्टे के भीतर कान पकड़कर निकाल देना उचित था? लेकिन यह तो तब हो जब कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जनता के भावों और सुविधाओं का खयाल रखा जाय और राष्ट्रीय भावना को भी कोई पवित्र पदार्थ माना जाय। राजस्थान में भी यही उलटी गंगा बहाई जा रही है। सचमुच ही इन लोगों को देवों-राजा का डर नहीं है। जब तक दिल्ली में अंग्रेजी और अंग्रेजों के परम-भक्त देवता सिंहासनासीन हैं, तब तक न जनता की सुविधा का खयाल किया जायगा और न नौकरशाहों को उलटी गंगा बहाने से रोका जा सकेगा।

उपयोगिता की दृष्टि से देखने पर निरक्षरता की समस्या तथा पंचायतों, अदालतों और शासन-यन्त्र को जनता की पहुँच के भीतर बनाने के लिए मातृभाषाओं को उनके स्थान पर प्रतिष्ठित करना अत्यावश्यक और उचित है, इस पर और अधिक तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। इसमें सबसे भयंकर-बाधक वही लोग हैं, जो आकाश-बेल की तरह अपनी जड़ जमीन में नहीं रखते, अर्थात् शहरों के निवासी पुश्तों से क्लर्की या दरबारगिरी करते आए नौकरीपेशा सामन्तों के लग्गू-भग्गू परिवार। दुर्भाग्य से आज हमारे शासन-यन्त्र में इन्हीं आकाश-बेलों का बोलबाला है। उनके दिलों में इन अलिखित किन्तु सबल और मधुर मातृभाषाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं। उन्हें वह अपने अनपढ़ नौकर-चाकरों की भाषा समझकर पुश्तों से घृणा करते चले आए हैं। जब उनमें से कितने अँग्रेजी को अपनी मातृभाषा बनाने की धुन में थे, और अपने बच्चों ही नहीं, बच्चियों को भी पूरे साहेब और मेम बनाने की धुन में मस्त थे, उस समय तो हिन्दी के ऊपर भी वह नाक-भौं सिकोड़ते थे। फिर इन देहातियों की भाषा के लिए उनके दिल में कोई कोमल भाव पैदा ही कैसे हो सकता था? यह आकाश-बेलें अब भी दिल से अँग्रेजी को ही हमारे स्वतन्त्र-देश की भाषा बनाए रखना चाहती हैं, तभी तो यूरोपियन स्कूलों और कान्वेंटों में लड़के-लड़कियों की भरमार देखी जाती है। भला अपने सात पीढ़ी तक के लिए इन्तजाम कर जाने पर उतारू यह लोग, अँग्रेजी को सिंहासनाच्युत करके हिन्दी को कैसे शासन-यन्त्र के भीतर घुसने देंगे, और मातृभाषाओं की बात भी सुनने पर क्यों नहीं कान पर उँगली रखेंगे? आकाश-बेलों का शासन राष्ट्र के लिये सचमुच ही भारी अभिशाप है। उनका अपना एक छोटा-सा अंडे का खोल होता है, जिसके भीतर गूलर के कीड़े की तरह वह सारी दुनिया समझते हैं। लेकिन मातृभाषाएँ अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रह सकतीं। सभी स्थानों में विचारशील पुरुष मातृभाषाओं की आवश्यकताओं को मानने लगे हैं। बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी (डिप्टी-डाइरेक्टर) तथा गम्भीर विद्वान्, डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने हाल ही में इस विषय में 'भोजपुरी' पत्रिका में भोजपुरी भाषा में लिखते हुए कहा है—

'अब दुनियाँ में कौनो देश अइसन एह घरी नइखे, जे ई सिद्धान्त सर्वसम्मति से मान नइखे ले ले कि लगभग एगारह बरिस तक के पढ़ाई—आने प्राइमरी एस्कूल के पढ़ाई—लड़िकन के मातृभाषा में होखे के चाही। पढ़ाई के दूगो पहलू होला—ग्यान के विषय, आउर ग्यान के भाषागत रूप। एह दूनों में अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण है ज्ञान के विषय। कौनो माध्यम से पढ़ावल जाव, जेतना ज्ञातव्य विषय हमनी के लड़िकन के देवे के चाहतानी, ओतना मिल गइल, त उद्देश्य सफल समझे के चाहीं। ई बात तबे सम्पन्न हो सकेला, जब पढ़ाई मातृभाषा के माध्यम से होखे। एह दृष्टि से भोजपुरी-प्रदेश में भोजपुरिए में आरम्भिक पढ़ाई के भइल बुद्धिसंगत मालूम होता।

"एह विषय के अध्ययन हम स्वयं वेल्श देस में कइलीं। उहाँ अइसन हिसाब राखल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गइल बा कि सात बरिस के उमिर तक कुल पढ़ाई बेल्श भाषा में होला, ओकरा बाद धीरे-धीरे राजाभाषा अँग्रेजी के प्रवेश होखे लागेला, आउर एगारह बरिस के बाद से अँग्रेजी के प्रधानता हो जाला। रूस में सो से कहीं अधिक भाषा माध्यम के रूप में प्रचलित बाटे। हँ, 'द्वितीय भाषा' के रूप में रूसी भाषा पढ़ल जरूरी बा। ओही तरह, हमार-ई व्यक्तिगत राय ह कि, शुरू-शुरू में भोजपुरी-प्रदेश में कुल पढ़ाई भोजपुरी में होखे के चाहीं, आउर आगे चल के हिन्दी (खड़ी बोली) अनिवार्य रूप से पढ़ावे के चाहीं।"

डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए मातृभाषाओं के माध्यम को स्वीकार करने का जो प्रस्ताव किया है, वह किसी भावुकतावश नहीं है, बल्कि इसी खयाल से कि देश की जनता में शत-प्रतिशत साक्षरता लाने का यही एक उपाय है।

यह शुभ चिह्न है जो कि हिन्दी-क्षेत्र में सर्वत्र अपनी मातृभाषा को आगे लाने का प्रश्न उठाया जा रहा है। अपनी-अपनी भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं। आरा से निकलने वाली 'भोजपुरी' मासिक-पत्रिका इसका ही एक उदाहरण है। मैथिली भाषा में भी अपने पत्र निकलते हैं, और उसमें विद्यापति की तरह कविताएं ही नहीं अब तक की जा रही हैं, बल्कि उसके कहानीकार और उपन्यासकार अपनी रचनाओं द्वारा सारे हिन्दी-क्षेत्र में अपने प्रभाव को फैलाते जा रहे हैं। मालवी, मारवाड़ी भाषाओं की ओर से भी कुछ इस दिशा में प्रयत्न होने लगा है, लेकिन अभी तक वह उसकी जन-कथाओं और जन-गीतों के संग्रह के रूप में ही दिखाई पड़ता है। वह भी बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। साहित्य के बहुत से अनमोल रत्न अभी लोगों के स्मृति-पटल पर ही अंकित हैं, और यदि उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया, तो वह काल-कवलित हो जायंगे। विशेषकर पुरानी परम्पराओं को आगे ले चलने वाले वृद्धों-वृद्धाओं की संख्या जिस तेजी से कम हो रही है, उसे देखके हम यह कह सकते हैं; कि यदि दस-पन्द्रह बरस के भीतर भारी परिश्रम से उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया, तो कहना पड़ेगा अब पछताये होत क्या, जब चिडियां चुग गईं खेत। जो तरुण अपनी-अपनी भाषाओं की इन अनमोल निधियों के संग्रह में लगे हैं, वह एक बड़ा ही राष्ट्रीय महत्व का काम कर रहे हैं, और उनके इस काम को आने वाली पीढ़ियां बड़े सम्मान के साथ याद करेंगी। अफसोस यही है कि ऐसे धुन के धनियों की संख्या हर भाषा में बहुत कम है। गढ़वाली के कितने लोक-गीत, कथा-संग्रह प्रकाशित हुए ? मगही में कितने लोगों ने इस विषय में काम किया ? बुन्देलखण्डी की संग्रहीत सामग्री भी शायद कीड़ों का भोज बन रही है। ब्रज-साहित्य-मंडल ने इस दिशा में जितना पथ-प्रदर्शन किया है, उतना अवधी में कहां काम हो रहा है ?

सब से आवश्यक काम इस समय जो मातृभाषाओं के बारे में करना है, वह अपनी-अपनी मातृभाषा का एक-एक मासिक-पत्र होना। कितनी ही भाषाओं में इसके लिए प्रयत्न किया गया लेकिन व्यक्तियों या कम साधन सम्पन्न संस्थाओं ने अधिक समय तक घाटा उठाने में अपने को असमर्थ पा, पत्रिकाओं को बन्द कर दिया। लेकिन यदि दो हजार कापियों के ग्राहक निकल आयँ, तो ऐसे पत्रों को क्यों बन्द होना चाहिए ? प्रौढ़-शिक्षा के फजूल प्रोपेगंडे पर हर साल लाखों रुपया बरबाद करने वाली सरकारें, क्यों नहीं इसमें हाथ बटातीं ? यदि अधिकारी साहित्यिकों और संस्थाओं द्वारा सम्पादित-प्रकाशित मातृभाषा की पत्रिकाओं की हजार प्रतियाँ स्थानीय सरकारें खरीद करके अपने प्रौढ़-शिक्षा-केन्द्रों और प्रारम्भिक पाठशालाओं को दे दें, तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह काम ठोस तौर से आगे बढ़ सकता है। आर्थिक-संकट से निश्चिन्त होने पर फिर पत्र के सुसम्पादन का ही भार रह जाता है, जिसे मातृभाषा-भक्त साहित्यकार आसानी से अपने कन्धे पर उठा सकते हैं। जो उत्साही तथा अधिकारी-तरुण, बड़े प्रयत्न से लोक-कथाओं और लोक-गीतों का संग्रह कर रहे हैं, उनके प्रकाशन का भी यह पत्र अच्छे साधन हो सकते हैं। कितने ही हमारे पत्र केवल अपने जिले भर ही में चलते हैं। मुझे समझ में नहीं आता कि मथुरा या आगरा के ऐसे पत्र को ब्रजभाषा छोड़कर हिन्दी में क्यों निकाला जाता है? आखिर उसके पाठक और ग्राहक सभी ब्रजभाषी होते हैं, और वहाँ की म्युनिसिपेलिटियाँ और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अपने विज्ञापन आसानी से ब्रजभाषा में निकलने वाले पत्र को दे सकते हैं। हिन्दी-क्षेत्र के प्रायः हर एक जिले में एक या अधिक ऐसे पत्र निकलते हैं, जिनका प्रचार केवल जिले के भीतर तक ही सीमित है, और जिन्हें म्युनिसिपेलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों के विज्ञापन पालते-पोसते हैं। यदि हमारे जन-निर्वाचित प्रतिनिधि उन पर जोर दें, तो वह अपने को मातृभाषा की पोशाक पहनाने के लिए तैयार हो जायँगे। तो भी उनका स्टेन्डर्ड इतना नीचा होता है, कि उनसे मातृभाषा के साहित्य की समस्या पूरी नहीं हो सकती। उसके लिए तो जिस तरह ब्रजवासियों ने अपना ब्रज-साहित्यमंडल कायम किया है, उसी तरह हरियानी-साहित्यमंडल, मारवाड़ी-साहित्यमंडल, मेवाड़ी-साहित्यमंडल, बुन्देली साहित्यमंडल, कौरवी साहित्यमंडल, गढ़वाली साहित्यमंडल, कुमाऊँनी साहित्यमंडल, भोजपुरी साहित्यमंडल, मगही साहित्यमंडल, मैथिली साहित्यमंडल आदि अनेक साहित्यमंडलों को स्थापित करना होगा। यह साहित्यमंडल जहां लोक-गीतों और लोक-कथाओं के संग्रह कराने का प्रबन्ध करेंगे, वहाँ पत्र का संचालन भी इनके जिम्मे होगा। यदि हमारे आकाश-बेल शासकों को भविष्य और इतिहास के प्रति अपनी जिम्मेवारी का ख्याल आता, तो इन मंडलों के लिए कोई आर्थिक-समस्या ही नहीं रह जाती। प्राइमरी तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो, और उसके लिए टेक्स्ट-बुक तैयार करके प्रकाशित करने का काम इन मंडलों को दे देने पर वह अपने पैर पर खड़ा हो काम को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

मातृभाषाओं की हमारे राष्ट्र-निर्माण में जो अनिवार्य आवश्यकता है, उसके बारे में कहते हुए शायद कोई पाठक हमसे यह भी सवाल करेंगे, कि फिर जैसे मातृ-भाषाओं का अपने क्षेत्र के अनुसार अपना साहित्यमण्डल कायम हो, उसी तरह भाषानुसार हिन्दी क्षेत्र में भी क्यों नहीं प्रदेश बना दिए जायँ? यद्यपि मैं इसका पक्षपाती हूँ, लेकिन इस वक्त आंध्र, महाराष्ट्र आदि भाषानुसार बनने वाले प्रदेशों की माँगों से हमारे दिल्ली के देवता इतने परेशान हैं कि वह यह बात सुनकर बौखला उठेंगे—भाषानुसार प्रदेशों की बीमारी यह उत्तर में भी फैलाई जाने लगी। लेकिन जब सारा हिन्दी-क्षेत्र अब भी बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और भूपाल के दस ऐसे प्रदेशों में विभक्त है, जिसमें मातृ-भाषाओं का कोई खयाल नहीं रखा गया है, तो उनकी जगह हमारे हिन्दी-क्षेत्र का भाषानुसार पुनर्विभाजन कर दिया जाय, तो इससे कौन-सी आफत आ जायगी?

संक्षेप में यह कहा जा सकता है, कि आज की प्रमुख समस्याओं और इतिहास की यही माँग है, कि मातृ-भाषाएँ और अधिक दिनों तक उपेक्षित न रखी जा सकतीं, और देश के सर्वतोमुखीन विकास में अनिवार्य आवश्यकता को समझकर उनको उचित स्थान देना ही पड़ेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्याम परमार

हिन्दी जनपदों में लोक-साहित्य संकलन की परम्परा

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य-सम्बन्धी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे (John Aubrey) द्वारा लिखीं गईं टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी में ही जिज्ञासा के भाव प्रगट हो गए थे।[1] नृतत्वशास्त्र, समाज-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषा-विषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोकभाषाओं की मौखिक निधि के प्रति सभी देशों को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक में प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार-विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यंजनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गए जो समग्र-रूप से लोक-वार्ता-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं।

विशप पॅरी (Percy) द्वारा धकेली गई इस विषय की चर्चा (१६वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, कॉक्स और मेक्समूलर के वैदिक-साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पाकर, टेलर के कार्यों के रूप में अवतरित हुई, और फ्रेजर के 'दी गोल्डन बो' (१८६० ई०) ग्रन्थ के रूप में अच्छी तरह से निखरी। संक्षेप में लोक-साहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होता हुआ धीरे-धीरे एक अलग विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशों को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर-पूर्वी देशों को भी शीघ्र ही प्लावित करना आरम्भ कर दिया।

भारतवर्ष में इस कार्य की लहर लोकवार्ता के समग्र अंशों को छूते हुए यकायक नहीं आई। १६वीं शताब्दी के मध्य में जब अँग्रेजों ने शासकीय बागडोर पूरी तरह अपने हाथ में संभाली, तब लोक-मानस के अध्ययन की आवश्यकतावश अँग्रेजी विद्वानों ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। शेर-चीतों, जंगली जातियों, विशिष्ट प्रथाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का यह देश उन्हें कम आश्चर्यजनक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन और संकलन की नींव पड़ी।

[१] यों तो कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान' (१८२६ ई०) से भारतवर्ष में लोकवार्ता-संकलन का श्रीगणेश मानना चाहिए; किन्तु उसमें वार्ता-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः सी० ई० गोव्हर (Gover) की पुस्तक 'फोक सांग्ज़ ऑफ सदर्न इण्डिया' (सन् १८६२) को प्राथमिकता दी जाना अनुचित न होगा, जो कि कदाचित् भारत में लोकगीतों का प्रथम संग्रह है।

---

१. ऑब्रे ने सन् १६८७ ई० में 'रिमेन्स आफ़ जैण्टिलिस्मे एण्ड गुडाइज्म' पर अपने विचार लिखे, जो सन् १८८१ ई० में प्रकाशित हुए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुविधा के लिए इस दिशा में भारत-सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों को दो भागों में बाँटना उचित होगा—

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ और (आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य-भारतीय जातियों के सम्बन्ध में लिखे गए हिस्लप के लेख (१८६६), जिनमें कुछ मूल लोक-कथाएँ भी आई हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डा० वेरियर एल्विन के ग्रन्थ—'फोक टेल्स आफ महाकोशल', 'फोक सांग्ज ऑफ छत्तीसगढ़', 'फोक सांग्ज ऑफ माइकल हिल' (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्ज आफ दी फारेस्ट' (हिवाले सिहत), 'मिथ्ज ऑफ मिडिल इण्डिया', 'मुरिया एण्ड देअर घोटुल', 'दी बैंगा', 'दी अंगरिया,' आदि; शरतचन्द्र राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देअर कन्ट्री' (१९१२), क्रिश्चियन जोन द्वारा संग्रहीत 'विहार प्रोवर्ब' तथा आर्थरलिखित 'ब्लू ग्रव' कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'ओल्ड डेक्कन डेज' (१८६८),[1] 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी आफ बैंगाल' (१८७१),[2] 'फोकसांग्ज ऑफ बैंगाल' (१८८३)[3] 'एन्श्यंट बैलेड्स एण्ड लीजेन्डस् ऑफ हिन्दुस्थान'[4] (१८८२), 'लीजेन्डस ऑफ दी पंजाब' (१८८४),[5] 'वाइड अवेक स्टोरीज' (१८८५),[6] 'फोक लोअर इन सदर्न इण्डिया'[7], 'इण्डियन फोकलोअर',[8] 'शिमला विलेज टेल्स'[9], 'रोमाण्टिक टेल्स फ्राम पंजाब',[10] 'बंगाली हाउस ओल्ड टेल्स',[11] 'ओरियण्टल पर्लस',[12] 'इण्डियन फेविल्स',[13] 'फोकलोअर आफ दी तेलगूज',[14] 'इस्ट बैंगाल बैलेडस्',[15] 'फोकलोअर ऑफ बाम्बे',[16] 'फोकलोअर नोट्स, ट्राइब्ज एण्ड कास्टस् ऑफ बाम्बे',[17] आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। अनुमान है कि कुछ ग्रन्थ और होने चाहिए जो इन दिनों भारतीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी,' 'इन्डियन एंटिक्वेरी,' 'नार्थ इन्डिया नोट्स एण्ड क्वेरीज', 'विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जरनल,' आदि में छपित डैमेन्ट, क्रुक, जे० एच० नालीज, वोम्पस, बोर्डिंग, ब्लूमफिल्ड, शरतचन्दराय, पैंजर, ग्रियर्सन, जोगेन्थनाथ, हौपमैन, ब्राउन, आदि के फुटकर लेखों में बहुत कुछ काम की सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हुआ है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया' (१९०७-८) की जिल्दों में ग्रियर्सन ने कुछ मूलगीतों को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया है।[18]

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह प्रगट होता है कि हिन्दी जनपदों की अपेक्षा अहिन्दी जनपदों में, भारतीयों और अभारतीयों द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो हिस्लप, एल्विन और आर्चर के ही बाँटे आए। दूसरे लोक-कथाओं की ओर अन्य विषयों से अधिक

१. मिस फ्रेयर, २. डाल्टन, ३. लालबिहारी दे, ४. तोरुदत्त, ५. आर० सी० टेम्पल, ६. श्रीमती स्टील, ७. नटेशशास्त्री, ८. आर० सी० मुकर्जी, ९. श्रीमती डेकार्ट, १०. सी० स्वीन्टर्न, ११. एम० कुलक, १२. शोभनादेवी, १३. रामस्वामी राजू, १४. जी० आर० सुब्राह्मिय पंतालु, १५. दिनेशचन्द्र-चन्द्रकुमार (कलकत्ता विश्वविद्यालय), १६-१७ आर० ई० एन्थोवेन। १८. देखिए 'लोकवार्ता' (जनवरी, १९४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोक कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह' शीर्षक लेख।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लक्ष दिया गया, जिससे लोक-साहित्य की अन्य दिशाएँ छूई भर जा सकी हैं। आंग्लभाषियों द्वारा लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर प्रत्यक्ष यही है कि उसमें लोक-जीवन के नैकट्य की जिज्ञासा थी। ईसाई मिशनरियों के फैलाव और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने प्रान्तीय भाषाओं के मौखिक-साहित्य के संकलन को भी प्रेरणा दी, इसमें शक नहीं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय-चेतना और भाषागत जागरूकता आरम्भ हो गई थी। उसने आंग्लभाषियों के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना प्रारम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के पृष्ठ में राष्ट्रीय-आन्दोलन और इने-गिने साहित्यिकों में निहित जनोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की सरल और भोली 'त्रिधा' अभिव्यक्तियों[1] का आकर्षण भी काम कर रहा था।

[२] हिन्दी में छपित लोक-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व; अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गए कार्यों पर एक नजर डालना आवश्यक है, जिनमें गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी विशेष रूप से अग्रणीय रही हैं।

गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढ़ियाली रात' (३ भाग), 'चुन्दड़ी' (२ भाग) तथा 'लोक-साहित्य', रणजीतराय मेहता लिखित 'लोकगीत' और नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संग्रहीत 'नागर स्त्रियों गाबता गीत' उल्लेखनीय हैं। बंगला में 'खूकूमणीर छड़ा' (योगीन्द्रनाथ सरकार), 'बंगलार ब्रत', १९१९ (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर), 'हारामणी' (महम्मद मनसूरुद्दीन) और 'बंगलार बाउल' (जासीमुद्दीन), पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं० रामशरण-दास), 'गिद्धा,' १९३६ (देवेन्द्रसत्यार्थी); मराठी में वामन कृष्ण चोरघड़े तथा काका कालेलकर लिखित 'साहित्याचे मूलधन', का० न० केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाडे', 'स्त्री गीतें' तथा अनुसूयाबाई भागवत के कुछ लेख उल्लेखनीय प्रकाशन हैं। तामील, तेलगू, मलयालम भी इस दिशा में पीछे नहीं है।

लोक-साहित्य-संकलन के सम्बन्ध में, जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समक्ष थीं, वे ही हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासिक से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा-सा संग्रह, सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी में लोक-साहित्य-संकलन के उद्योग का यहीं से प्रथमोत्थान आरम्भ होता है।[2] उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में संतराम बी० ए० के 'पंजाबी लोकगीत' प्रकाशित हुए थे, (जिनका संवर्द्धित संस्करण १९२५ में 'पंजाबी-गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ) जिनसे पं० रामनरेश

---

१. देखिए 'आलोचना,' अंक ४; 'हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठ भूमि' शीर्षक डा० सत्येन्द्र का लेख, पृष्ठ २९।

२. बताया जाता है कि बांकीपुर निवासी लाला खंगबहादुर मानव ने सन् १८८४ में 'सुधा बूँदा' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था जो लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य-संकलन का कार्य आरम्भ हो गया था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रिपाठी निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे। सन् १९२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणाम-स्वरूप 'कविता-कौमुदी' (पाँचवां भाग), 'हमारा ग्राम-साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' पुस्तकों का निर्माण हुआ। 'कविता-कौमुदी' की भूमिका में ग्राम-गीत-संग्रह के कार्य में आने वाले कष्टों का उल्लेख, त्रिपाठी जी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व 'सरस्वती' में कुछ गीतों को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चाँद' मासिक का भी उस समय कम सहयोग न रहा। त्रिपाठी जी की लगन और तत्परता का अनुमान अपने मित्र को लिखे गए उनके एक पद्य-पत्र से हो सकता है। आप लिखते हैं:—

मैं विरही हूँ गीत का घर मजनूँ का भेस।
झोली डाले गीत की घूम रहा हूँ देस॥
अन्न वस्त्र लेता नहीं, नहीं विभव की चाह।
मुझे चाहिए गीत वह, जिसमें हो कुछ आह।[1]

त्रिपाठी जी की भाँति १९३० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतों की खोज में जुट गए। त्रिपाठी जी का क्षेत्र संकुचित और तनिक वैज्ञानिक रहा, पर सत्यार्थी जी का विस्तृत, छितराया हुआ और भावना प्रधान। उन्होंने भारतीय ग्रामों में दूर-दूर तक यात्रा की, गीतों को संकलन किया। उन्हीं गीतों पर 'माडर्न रिव्यू', 'रूरल इन्डिया' और हिन्दी-उर्दू के पत्रों में क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थी जी के कठोर परिश्रम और प्रकाशन का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि ३० दिसम्बर, १९४७ में लेखक से वार्तालाप करते हुए गाँधी जी ने कहा था—"पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख गीत-संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए।"[2] गाँधी जी के इस कथन से यही संकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी सन् १९२७ से ही गीतों को जुटाने में व्यस्त हो गए थे।

लोक साहित्य-संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १९४२ तक समझनी चाहिए। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं में रसीले-चटकीले लोकगीतों की, शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति, 'आह' और 'वाह' की प्रवृत्तियों से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड़ अवश्य ही इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गए थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नों से, राजस्थानी-गीतों का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरम्भ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखों से प्रभावित होकर, केवल लोक-गीतों के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १९४२ के पश्चात्, हिन्दी में अपने इस 'मूलधन' के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की 'विकेन्द्रीकरण योजना', तथा डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणी योजना' प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थीं। राहुल सांकृत्यायन लिखित 'मातृभाषाओं का प्रश्न' लेख[3] तथा शिवदानसिंह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध-रूप में लिखी गई रिपोर्ट[4], अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे।

---

१. 'कविता कौमुदी' (५वां भाग) की भूमिका, पृष्ठ ३३।
२. देवेन्द्र सत्यार्थी, 'धरती गाती है', आमुख—पृष्ठ ३।
३. 'हंस', सितम्बर, १९४३।
४. देखिए शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक, 'प्रगतिवाद'।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस वैचारिक उहापोह का परिणाम यह हुआ, कि कुछ विद्वान् लोकवार्ता-साहित्य के संकलन के विषय में सोचने लगे, कि किस प्रकार काम किया जाए। कुछ ने यह भी प्रश्न उपस्थित किए कि लोक-साहित्य अथवा लोकवार्ता-साहित्य के संकलन से क्या होगा? तथा साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की सम्भावना है? किन्हीं अंशों में प्रथम प्रश्न की समस्या आज भी बनी हुई है, जिसका स्पष्टीकरण हिन्दी-लेखकों की ओर से नहीं हुआ है। काम करने का प्रश्न तो साधनों के अभाव में आगे भी बना रह सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने १९३७ में लोक-साहित्य-संकलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय में साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा है —

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।
(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।
(३) जहाँ भाषा-तत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।
(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिए तैयार हों।
(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों।
(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[1]

दूसरे उत्थान में लोक-संस्कृति के अध्ययन, और लोकसाहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय संस्थाओं का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज में 'ब्रजसाहित्यमंडल', गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य-परिषद्', बघेलखंड में 'रघुराज साहित्य-परिषद्', बुन्देलखंड में 'लोकवार्ता साहित्य परिषद्', भोजपुर में 'भोजपुरी लोक-साहित्य परिषद्', राजस्थान में 'भारतीय लोककला-मंडल' तथा मालवा में 'मालव लोक-साहित्य परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। द्वितीय उत्थान का काल अभी समाप्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथमोत्थान की अपेक्षा, अनेक बहुमुखी प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीय उत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिए उक्त काल के प्रयत्नों पर निम्न लिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है —

(क) लोकगीतों का संकलन; (अ) शास्त्रीय अनुशीलन युक्त लोकगीतों के संग्रह, (आ) भावनात्मक ढंग से लोकगीतों पर लिखे लेखों के संग्रह
(ख) लोक-कथाओं का संकलन
(ग) लोकोक्तियाँ एवं कहावतों के संग्रह
(घ) आलोचना प्रधान लोक-वार्ता सम्बन्धी प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ
(ङ) लोकवार्ता-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ
(च) फुटकर प्रयत्न

(क) (अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियों में, द्वितीयोत्थान के अर्द्ध शतक में, प्रमुख रूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखंडी, मालवी, आदि बोलियों के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियों के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशकों के अभाव में उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार होगी —

---

१. पुरातत्व निबन्धावली—'हिन्दी की स्थानीय भाषा।'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मारवाड़ी : १ 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' (खेताराम माली), २ 'मारवाड़ी गीतमाला' (मदनलाल वैश्य), ३ 'मारवाड़ी गीत' (निहालचन्द वर्मा), ४ 'मारवाड़ी स्त्री-गीत-संग्रह' (ताराचन्द ओझा), ५ 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' (जगदीशसिंह गेहलोत)।

राजस्थानी : १ 'राजस्थान रा दूहा' (स०-नरोत्तम स्वामी), २ 'राजस्थान के लोक-गीत' (सूर्यकरण पारिक, ठाकुर रामसिंह), ३ 'राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी)।

भोजपुरी : १ 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (कृष्णदेव उपाध्याय), २ 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण-रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह), 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (आर्चर)।

छत्तीसगढी : १ 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीत' (श्यामचरण दुबे)।

निमाड़ी : १ 'निमाड़ी ग्राम-गीत' (रामनारायण उपाध्याय)।

मैथिली : १ 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश')।

बुन्देलखंड़ी : १ इसुरी की फागे (स०कृष्णानन्द गुप्त)।

मालवी : १ 'मालवी लोक-गीत' (श्याम परमार)।

उक्त संग्रहों में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त, भूमिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी विवेचन पठनीय साहित्य है। 'भोजपुरी ग्राम-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ४५ पृष्ठों में लिखी है, जिसमें गीतों के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्पराएँ, गाने के ढंग, प्रकार, भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए, अन्त में भोजपुरी व्याकरण तक की रूप-रेखा दी है। इस प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका में लोकगीत की तह तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' यद्यपि छोटा संग्रह है, पर सूर्यकरण पारिक ने ३२ पृष्ठों में राजस्थानी गीतों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक-पद्धति से किया है। गीतों की तुलनात्मक टिप्पणियाँ और उपमानों की तालिका, उनके गीतों में गहरी पैठ के द्योतक हैं। 'इसुरी की फागे' बुन्देलखंड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागों का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोककवि के जीवन और रचनाओं पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी लोकगीत-साहित्य में प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहों के प्रति समग्ररूप से यही कहना उचित होगा, कि उनमें यद्यपि लोकवार्ता का 'वैज्ञानिक स्वरूप पूरी तरह निखरा नहीं, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नींव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावात्मक ढंग से लिखे गए लोकगीत सम्बन्धी लेख-संग्रहों के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित १ 'धरती गाती है' (१९४९), २ 'धीरे बहो गंगा' (१९५०), ३ 'बेला फूले आधी रात' (१९५१) और ४ 'बाजत आवे ढोल' (१९५२) पुस्तकें आती हैं। इस दिशा में सत्यार्थी अकेले हैं। यों तो, उन्हें हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल में हुआ है। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थी जी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतों के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए, तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता

---

१. 'राकेश' जी ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतों को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूलरूप नष्ट हो गए हैं। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान, और फिर उसका काव्योभासित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमें उनके लेखों में मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहों में मूलगीतों की संख्या कम है। यद्यपि गीतों के लिए उन्होंने अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया है, पर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होंने अपने लिए केवल गीतों की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं। अपनी शैली को उन्होंने स्वतन्त्र 'निजी चर्चा की शैली'[1] कहा है। इसलिए वह साधारण पाठकों को तत्काल छू लेती है। सत्यार्थी जी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतों के अनुवाद-सम्बन्धी शैली के विषय में है। उन्होंने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोक-गीत विशेषज्ञों की शैली।"

"जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से गीतों का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा, प्रत्येक शब्द का अनुवाद; प्रत्येक कड़ी का अनुवाद··· अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रयत्न में क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया।"

सत्यार्थी जी अपने कुछ लेखों में लोकगीत-संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गए हैं, जिससे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमें कहानी-तत्त्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोक-कथाओं के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ० वेरियर एलविन ने अपने ग्रन्थ 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका में, प्रसिद्ध नृशास्त्रवेत्ता नार्मन ब्राउन का अनुमान व्यक्त किया है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग ३००० लोक-कथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंजाब, संथाल परगना और मध्यभारत से लगभग ६०० कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉ० एलविन ने अपने संग्रह 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' में १५० तथा अन्य रचनाओं में ५५ कथाएँ संकलित की हैं। ब्लूम फील्ड का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओं में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। उन्होंने आगे बढ़कर कहा है, "जिसे हम भारतीय कथा-साहित्य कहते हैं, वह वास्तव में एशियाई कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय, चीनी साहित्य ही है।" अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लोक-कथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिक कम है। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण तो उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरंजन और रोमांच तक सीमित रहा।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिए अधिक सुलभ है जो अपनी सीमाओं की बोलियों और वहाँ के व्यक्तियों की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोककथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी। इसी प्रकार राजस्थानी और मालवी लोक-कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी माध्यम से काम होना शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, आसामी, तिब्बती, चीनी आदि में फैले हुए लोक-कथाओं के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं के

१. 'धरती गाती है' आमुख—पृष्ठ ६।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(व्यर्थ कतरब्योंत रहित) लिपिबद्ध किए जाने से पूर्ण नहीं हो सकती।

कथाओं की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती हैं, जिनका संकलन साधारणतया नहीं के बराबर है। अतः सम्बन्धित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा में काम जब तक न होगा तब तक आंग्लभाषी-संग्रहों से उत्पन्न भ्रान्तियाँ नष्ट नहीं होने की।

(ग) लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी में किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी, कन्हैयालाल सहल के लेखों में सधा हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। लोकोक्तियों के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव-प्रसूत सांकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं। हिन्दी-भाषियों के लिए जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमें प्रान्तीय बोलियों की अनेक लोकोक्तियों का समावेश हुआ है। फेलन की 'डिक्शनेरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्रावर्ब्स' में भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की लोकोक्तियों को भी स्थान दिया गया है। वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे लोकोक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों की संपत्ति हैं, पर उन्हें मूलरूप में संकलित करना अनेक कारणों से आवश्यक है। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में आधुनिक लोकोक्तियों के अनेक प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियों के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारम्भ से अब तक के उनके भिन्न-भिन्न रूपों का पता लगाकर, और उनका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाय।

हिन्दी में जनपदीय लोकोक्तियों की प्रकाशित पुस्तकें केवल चार ही हैं—१. 'मेवाड़ की कहावतें', १ भाग (लक्ष्मीलाल जोशी), २. 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), ३. 'राजस्थानी भीलों की कहावतें', १ भाग (मेनरिया) और ४. 'राजस्थानी कहावतें' (कन्हैयालाल सहल)

अंग्रेजों ने भी इस ओर ध्यान दिया था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' में पंजाबी मुहावरों पर एक अच्छा निबन्ध दिया है। पहेलियों के संकलन का प्रयास सन्तोषजनक नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) में उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं। वर्षा, आँधी, पानी, खेती आदि के सम्बन्ध में घाघ और भड्डरी, तथा अन्य जन-कवियों द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियों का एक नया संग्रह त्रिपाठी जी ने हाल ही में तैयार किया है। पं० गणेशदत्त 'इन्द्र' ने पौष, आषाढ़, श्रावण, भादों, तथा ग्रहों आदि-सम्बन्धी एक लेख-माला सन् १९४१ में 'जयाजी प्रताप', ग्वालियर में लिखी थी, जिसमें लोकोक्तियों का एक खासा समावेश हो गया है। 'मालवी लोकोक्तियाँ' एक नया संग्रह पं० सूर्यनारायण व्यास के सम्पादकत्व में छप रहा है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते हैं, तब उनके रूपों में परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं। परिस्थिति की मार से कई कहावतें, जो किसी वर्ग तक सीमित होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। नई बातों के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतों और लोकोक्तियों के उपकरण बदलने लगते हैं, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है।

पहेलियाँ, जिन्हें संस्कृत में 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा में संकलित की गईं, यह स्पष्ट है। डॉ० वेरियर एलविन और आर्चर ने सन् १९४३ में 'मेन इन इण्डिया' में एक लेख लिखा था[1] जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते,

१. 'एन इण्डियन रिडिल बुक' अंक ११, संख्या ४, "नोट आन दी यूज आफ रिडिल्स इन इण्डिया"।

Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी में किये गए प्रयत्नों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियों के विकास पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—"भारतवर्ष में तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोदय' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' में तो 'ब्रह्मोदय' अनुष्ठान का ही एक भाग था। अश्व की वास्तविक बली से पूर्व, होतृ और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियों का प्रयोग भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी मिलता है।[1]

(घ) लोक-साहित्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा-दर्शक), हिन्दी में केवल पं० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी पुत्र' और डा० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। यों राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों में मार्ग-दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डा० वासुदेवशरण और डा० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

(ङ) जनपदीय-साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री ब्रनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में वर्षों से सचेष्ट रही। उसमें प्रायः बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री छपती रही। 'मधुकर' के माध्यम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तों का बहुत-सा लोक-साहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों और अन्य लेखों में 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना का बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा में वैचारिक सूत्र मिल गया। ब्रजमंडल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। प्रारम्भ में अवश्य ही वह लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभाव-स्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १६४५ में श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में, लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा 'लोकवार्ता' एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होने लगी। छः अंकों के बाद पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। किन्तु इस बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित-प्रणाली के कारण, पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता-सम्बन्धी कार्य करने वाली कुछ पत्रिकाएँ आगे आईं। राजस्थान से 'शोध पत्रिका' (उदयपुर), और 'राजस्थान भारती' (जयपुर) दो पत्रिकाएँ इतिहास, साहित्य और लोकवार्ता-प्रकाशन के उद्देश्य को लेकर आजकल बराबर प्रकाशित हो रही हैं। दोनों पत्रिकाएँ अपने उद्देश्यों के प्रति ईमानदार और सचेष्ट हैं।

(च) फुटकर प्रयत्नों के अन्तर्गत मासिक, साप्ताहिक और त्रैमासिकों में छपने वाले लेख हैं, जिनमें अधिकतर अभी भी 'आह' और 'वाह' की ध्वनि मिल जाती है। यद्यपि इन छुट-पल्ले प्रयत्नों में सार कम है, तथापि प्रचारात्मक दृष्टि से इस बहाने लोक-साहित्य-संकलन का आन्दोलन आगे ही बढ़ता है। अधिकांश लेख, छपित सामग्री पर ही लिखे जा रहे हैं। मासिकों और त्रैमासिकों में प्रकाशित होने वाला साहित्य अवश्य उत्तम कोटि का होता है। ऐसी पत्रिकाओं में 'नया समाज,' 'हँस,' 'सरस्वती,' 'विक्रम,' 'कल्पना,' राष्ट्रभारती, 'नागरी-प्रचारणी पत्रिका,' 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका,' 'आलोचना' आदि

---

१. 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन'; पृष्ठ ५२०–२१।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उल्लेखनीय हैं।

आन्दोलन की गति के साथ, ज्यों-ज्यों इस युग के साहित्यिकों का ध्यान इस ओर खिंचा, त्यों-त्यों लेखकों और आलोचकों में लोक-साहित्य की महत्ता बखान करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी —कुछ 'फेशन' की दृष्टि से और कुछ 'सचाई' के नाते। प्रान्तीय लोक-साहित्य परिषदें भी इस स्थिति को लाने में सहायक हुईं, जिनके पीछे गणेश चौबे, ठाकुरप्रसादसिंह, अम्बिकाप्रसाद दिवाकर, देवीलाल सांभर, लावनप्रतापसिंह, वंशीधर शुक्ल, अनूप, बसन्तीलाल बम्ब, आनन्दराव दुबे, महेश व्यास, शिवसहाय चतुर्वेदी आदि कार्यकर्ताओं की शक्ति काम आ रही है।

[३] आज से २० वर्ष पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, बम्बई में एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय भाषाएँ और उसके साहित्य की सुरक्षा के लिए संकेत किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने समय-समय पर प्रस्तावों द्वारा इस ओर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति प्रगट की, और नाम के लिए दो-तीन संग्रहों का प्रकाशन करके काम रोक दिया। यह परम्परा अपनी गति में तेजी नहीं पकड़ सकी। साधनों के अभाव में, प्रामाणिकता की कमी भी बहुत-कुछ बनी रही। कुछ संग्रहों को छोड़ शेष ग्रन्थ या तो किसी छोटी-मोटी संस्था द्वारा प्रकाशित हुए अथवा फिर व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम बने। अतएव निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकलित लोक-साहित्य कहाँ तक प्रमाणिक है। अब तक के समस्त प्रयत्न भारत-जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त ही मामूली हैं। निस्सन्देह व्यक्तिगत और सामूहिक श्रम का कार्य होते हुए भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक संकटों का निवारण प्रथम वस्तु है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० देवराज

अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा

अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं ? 'लखनऊ-लेखक-संघ' में एक दिन यह चर्चा छिड़ी, पर विभिन्न हठपूर्ण सम्मतियों के कोलाहल में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका कुछ लोगों ने कहा—अतीत की संस्कृति को समझने के लिए हम तब का साहित्य पढ़ते हैं लेकिन प्रश्न यह है कि हम अतीत की संस्कृति को ही क्यों समझना चाहते हैं ? दूसरे लोगों के अनुसार हम अतीत के इतिहास और साहित्य को इसलिए पढ़ते हैं कि आज के जीवन के लिए शिक्षा ले सकें। यहाँ भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—यह शिक्षा लेने की प्रक्रिया क्या है, और शिक्षा लेने के लिए आज के शिक्षक पर्याप्त क्यों नहीं हैं ?

इसी सम्बन्ध में अतीत साहित्यकारों के जीवन-दर्शन की चर्चा भी की जाती है। कतिपय समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व के 'क्लासिकल' कवि अथवा लेखक किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील जीवन-दर्शन के शिक्षक अथवा प्रचारक थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशीलता की व्यापक और संकीर्ण अनेक व्याख्याएँ संभव हैं। उदाहरण के लिए डॉ० भगीरथ मिश्र ने रीतिकाल-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में कविवर बिहारीलाल तथा देव के वेदान्त-परक एवं वैराग्यवादी पद्यों को उद्धृत करके उन्हें महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसके विपरीत श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपनी कुछ समीक्षाओं में सूर, तुलसी आदि की जन-हित की भावना पर गौरव दिया है।

किसी भी समस्या का समाधान एक बाहरी विश्लेषण की सतह पर किया जा सकता है, और वह समाधान बहुत गहराई में घुसकर ऐसे धरातल पर खोजा और प्राप्त किया जा सकता है जहाँ जीवन की बहुत-सी दूसरी समस्याएँ एक मिलनबिन्दु पर आकर केन्द्रित होती हैं। ऊपर के प्रायः सभी दृष्टिकोणों में सचाई का अंश है, उनकी कमी यही है कि वे मानव-जीवन और मानव-संस्कृति की वैविध्यपूर्ण, व्यापक पीठिका से सुसम्बद्ध नहीं हैं।

चिन्तन के क्षेत्र में प्रायः अनेक कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि हम चिन्तन-प्रक्रिया में पूर्णतया ईमानदार होने की कोशिश नहीं करते। युग अथवा प्रचलित दृष्टियों के भय से हम बाह्य अथवा आन्तरिक यथार्थ को पूरा-पूरा नहीं देखते, और यदि देखते भी हैं तो उसे स्वीकार नहीं करते। फलतः हमारा तत्सम्बन्धी चिन्तन एकांगी हो जाता है—जिस एकांगिता को हम बचा सकते थे, उसे भी नहीं बचा पाते। अतएव चिन्तन की प्रगति एक प्रकार से नैतिक प्रगति भी होती है, क्योंकि वह क्रमशः हमें यथार्थ को देखने का अधिक साहस देती है।

यदि हम अपने सहज अनुभव पर विश्वास करें तो, कम-से-कम अतीत साहित्य के बारे में यह कह सकते हैं कि हम मुख्यतः उसे रस के लिए पढ़ते हैं। भले ही एक अन्वेषक पंडित 'मेघदूत' अथवा 'बिहारी सतसई' को उन युगों की संस्कृति समझने के लिए पढ़े, अथवा इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर्तव्य-भावना से कि उनके अध्ययन से देश की संस्कृति की रक्षा होती है, किन्तु साहित्य के अधिकांश फक्कड़ प्रेमी इन दुश्चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को प्रस्तुत लेखक ने कभी दोबारा देखने की कोशिश भी नहीं की, जबकि कुछ नाटकों और महाकाव्यों को वह लगातार पढ़ता आया है। कारण यह नहीं कि दूसरी कोटि के ग्रन्थ भारतीय-संस्कृति का ज़्यादा प्रामाणिक परिचय देते हैं—वह परिचय तो एक आनुषंगिक और गौण बात है; साफ और सच्ची बात यह है कि उसे उनमें रस मिलता है।

साहित्य की उपयोगिता को किसी 'जीवन-दर्शन' अथवा 'जन-हित' की परिधि में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। हमारा अनुमान है 'मेघदूत' जैसी कृतियों की उपयोगिता उक्त दोनों कोटियों से भिन्न प्रकार की है। 'जीवन-दर्शन' की कसौटी न केवल कुछ कृतियों के लिए अपूर्ण है—वह विशिष्ट कलाकार के सम्पूर्ण कृतित्व को आँकने का भी अनिवार्य पैमाना नहीं है। दूसरे, 'जीवन-दर्शन' कलाकार बहुत-कुछ अपने समाज और वातावरण से लेता है; वह खास तौर से उसकी अपनी लब्धि नहीं होता।

विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक बड़े कलाकार हुए हैं जिन्होंने कोई स्पष्ट सन्देश या 'जीवन-दर्शन' अपने समाज को नहीं दिया है। मार्क्सवादियों का विचार है कि संसार के सारे दर्शनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक अध्यात्मवादी और दूसरे भौतिकवादी। स्थूल-रूप में यह वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न है—क्या हम कालिदास, शेक्सपियर जैसे लेखकों को विशुद्ध-रूप में अध्यात्मवादी अथवा भौतिकवादी कह सकते हैं? कालिदास को ही लीजिये। इस कवि ने विशुद्ध ऐहिक सुख-भोग का समर्थन करने वाली पंक्तियाँ भी लिखी हैं और ऐसे पद्य भी जिनमें वैराग्य, लौकिक-सुख-निरपेक्षता आदि का महत्त्व-ख्यापन है। वसन्त ऋतु में कवि की कोकिला किसी युवती से कहती है—'अपने मान को छोड़ो भी, प्रियतम से किए हुए झगड़े को खत्म करो; गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।' उसी कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशियों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है कि वे यौवन ढलते ही राज्य का मोह छोड़कर वनवासी हो जाते थे। आप कालिदास को भौतिकवादी कहेंगे या अध्यात्मवादी?

उक्त कवि ने एक ओर जितेन्द्रिय तपस्वियों के सुन्दर चित्र दिये हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द विहार करने वाले प्रणयी प्रेमियों के। दोनों में कौन-से चित्र कालिदास के 'जीवन-दर्शन' को व्यक्त करते हैं? और यह प्रश्न कालिदास के ही नहीं, संसार के किसी भी महान् साहित्यकार के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है। कहा जाता है कि भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि शृंगार के क्षेत्र में जितनी सरस और मांसल कविता हमारे देश में लिखी गई है, वैसी शायद किसी दूसरे देश में नहीं लिखी गई। कालिदास, भारवि, माघ, अमरूक आदि ही नहीं, सूरदास एवं विद्यापति जैसे भक्त-कवि भी इसका ज्वलन्त निदर्शन हैं। शिव, विष्णु आदि देवों के प्रति निवेदित हमारा समूचा स्तोत्र-साहित्य शृंगार के खुले संकेतों से ओत-प्रोत है। और यदि यह साहित्य अध्यात्मवादी है, तो फिर भौतिकवादी साहित्य किसे कहा जायगा?

हम अपनी बात दुहराते हैं—साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है। अतीत साहित्य के बारे में यह और भी सत्य है, क्योंकि अतीत का 'जीवन-दर्शन' आज हमें और भी कम ग्राह्य होगा। फिर भी एक अर्थ है जिसमें साहित्यकार हमें उपयोगी 'जीवन-दृष्टि' दे सकता है। किन्तु यह दृष्टि साहित्य के सामान्य प्रयोजन से विच्छिन्न नहीं होती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

तो, अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं? उत्तर है—बहुत-कुछ उसी कारण से जिस कारण से हम वर्तमान साहित्य को पढ़ते हैं। अतीत साहित्य को हम इसलिए पढ़ते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है। आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियों में हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-बिन्दु तक निश्शेष नहीं हुई है, वह 'क्लासिकल' साहित्य है। इसी प्रकार अतीत के उन विचारकों की कृतियाँ, जो आज भी हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना को जाग्रत करती हैं, जो आज भी हमारे मस्तिष्क को झकझोरने की शक्ति रखती हैं, अपने-अपने विषयों की 'क्लासिक्स' कहलाती हैं। उपनिषद् और भगवद्गीता, बुद्ध, प्लेटो, अरस्तू, शंकर आदि की कृतियाँ अथवा उक्तियाँ इसी अर्थ में आज भी अर्थवती हैं। इस तथ्य को न समझकर उक्त कृतियों के 'ऐतिहासिक' महत्त्व की बात करना निरा बालकपन है।

सच यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है; वह अपने वर्तमान को ही नहीं, अतीत को लेकर भी जीवित रहता है। वस्तुतः हमारे जीवन में अतीत की स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वर्तमान के इन्द्रिय-संवेदन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। हमारे जीवन की महत्ता मुख्यतः हमारी स्मृतियों में है—हमारी राजनैतिक तथा आर्थिक क्रांतियाँ, हमारी धार्मिक-नैतिक शिक्षाएँ तथा विश्वास, हमारी सैकड़ों विचार-पद्धतियाँ ये सब मानव-जाति की बहुमूल्य स्मृतियाँ ही हैं। आज रवीन्द्र और गांधी भी हमारे लिए स्मृति बनकर रह गए हैं; वे हमारे इतिहास की चीज हैं, हमारे वर्तमान की नहीं। इन स्मृतियों को ही हम परम्परा अथवा सांस्कृतिक धरोहर कहते हैं।

इस धरोहर का वास्तविक अर्थ एवं मूल्य समझने के लिए हमें कुछ और गहराई में घुसना पड़ेगा। डार्विन का विकासवाद बतलाता है कि विभिन्न जीव-योनियों का विकास और उन्नति उन अनुकूल परिवर्तनों के इकट्ठे होने से घटित होती है जो आने वाली पीढ़ियों की शरीर-रचना में संक्रान्त हो जाते हैं। अनुकूल परिवर्तनों का संरक्षण और संक्रमण यही जीवयोनियों के विकास का रहस्य है।

लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के इतिहास में उस प्रकार के विकास की संभावनाएँ अब खत्म हो चुकी हैं। मनुष्य को उत्पन्न करके मानो प्रकृति की विकास-क्रिया दूसरे साधनों को लेकर भिन्न ढंग से अग्रसर होने लगी है। मानव-व्यक्तित्व में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं, वे मुख्यतः शारीरिक अथवा बीजगत (Germ Plasm को प्रभावित करने वाले) नहीं होते। अब वे परिवर्तन आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक होते हैं। हमारे बदलते हुए विचार, मनोभाव, रागात्मक संवेदनाएँ, नैतिक आदर्श आदि ही वे परिवर्तन हैं जो मानवता के स्वरूप को निर्मित और प्रभावित करते हैं। अवश्य ही इनमें कुछ परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण। दूसरे शब्दों में कहें तो मानवता की निजी गहरी दृष्टि से कुछ विचारकों के विचार तथा कुछ कलाकारों की संवेदनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, कुछ की कम। इस प्रकार के परिवर्तनों में मानव जाति जिन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, उन्हें रक्षित कर लेती है; शेष को भुला देती है। ये रक्षित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन ही 'क्लासिक्स' हैं। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को वंशानुक्रम से नहीं पातीं। वे परिवर्तन मनुष्य के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शरीर अथवा मस्तिष्क की परिवर्तित रचना के रूप में चरितार्थ नहीं होते; वे भाषा आदि प्रतीकों में बँधकर पड़े रहते हैं। मानवता का साम्प्रतिक विकास आवश्यक रूप में उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर हैं। गणित-शास्त्र का शानदार इतिहास, जिस पर भौतिक-शास्त्र की सारी उन्नति आधारित है, ज्ञान की प्रतीकाधारित प्रगति का अद्भुत निदर्शन है। दूसरे क्षेत्रों में भी हमारे विचारों और भावनाओं की प्रगति दूसरे प्रकार के (मुख्यतः शब्दमय) प्रतीकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर अतीत साहित्यिक तथा विचारात्मक कृतियों का महत्व एक दूसरी ही रोशनी में दिखाई देने लगता है।

गणित के नवीनतम अन्वेषण, उसकी प्राचीनतम तथा सरलतम स्थापनाओं पर निर्भर करते हैं। यह नहीं हो सकता कि कोई विद्यार्थी सिर्फ नये अन्वेषणों को सीखने की इच्छा रक्खे और पहले की स्थापनाओं की अवज्ञा करे। कुछ उसी प्रकार आज का दर्शन और साहित्य भी अतीत साहित्य और दर्शन पर निर्भर है। शायद आप कहें कि गणित की मिसाल ठीक नहीं, क्योंकि कालिदास और तुलसी अथवा शंकर और रसेल में वैसा आवश्यक या अखण्ड तर्कात्मक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गणित की पुरानी और नई स्थापनाओं में। उत्तर में निवेदन है कि तर्कात्मक न होते हुए भी पूर्वकथित सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं हैं। इस समय का महान् दार्शनिक अथवा महाकवि वह नहीं बन सकता जो सिर्फ अपने युग को जानता है, बल्कि वह जिसका चिन्तन और संवेदना क्रमशः अतीत के तर्क-वितर्क और सौन्दर्य-बोध को आत्मसात् करके समृद्ध बन चुके हैं। बात यह है कि आज के युग की जहाँ अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ और अपना जीवन-बोध है वहाँ प्राचीन समस्याएँ तथा जीवन-बोध भी उसका अनिवार्य अंग बन चुके हैं। प्राचीन प्रश्नों और समाधानों के आलोक में ही आज की समस्याओं का निरूपण और उनके हल का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन सौन्दर्य-बोध की पृष्ठभूमि में ही आज की संवेदना का ताना-बाना बुना जाता है। यह नहीं कि आज का दार्शनिक या कवि प्राचीन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ऐसा करके वह जिस चिन्तन-पद्धति या कला की सृष्टि करेगा, वह अनुपात-शून्य एवं विकलांग होंगी, वह युग की सम्पूर्ण अर्थात् पूर्ण रूप में संस्कृत-चेतना को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी।

युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना में वे सारे तत्व मौजूद रहते हैं, जिनका आकलन या अनुचिन्तन अतीत की किसी भी कालावधि में स्थायी महत्त्व की वस्तु समझा गया था। आज हम प्राचीन शिल्पकों और कवियों की उक्तियों को समग्र जीवन-दर्शन अथवा समूचे सौन्दर्य-बोध के रूप में भले ही स्वीकार न करें, किन्तु उन्हें हम एकान्त मिथ्या कहकर अस्वीकार नहीं कर सकते। मानव शरीर की जिन उपयोगी क्रियाओं अथवा अंगों का, विकास की लम्बी यात्रा में समय-समय पर आविर्भाव हुआ है, वे सभी आज किसी-न-किसी रूप में हमारे साथ हैं; उनके ऐतिहासिक विकास तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को ठीक से समझे बिना हम अपनी वर्तमान भौतिक गठन को ठीक से नहीं समझ सकते। यही बात हमारी मानसिक और आध्यात्मिक गठन पर लागू है। ज्ञान के क्षेत्र में विश्लेषण और समन्वय दोनों साथ-साथ चलते हैं। किसी तथ्य या समस्या का विश्लेषण जितना बारीक और बहुमुखी होगा, बाद में मिलने वाला समाधान या समन्वय उतना ही दृढ़ और समृद्ध होगा। मानव-चेतना का इतिहास मानो उन तत्त्वों को पृथक्कृत एवं सशक्त अवगति देता है, जो हमारे काल तक आते-आते अनिवार्य रूप में संकुल और सम्पृक्त हो चुके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। इस प्रकार की अवगति हमें उन तत्वों का अधिक सचेत एवं अधिकारपूर्ण उपयोग करने की, नये सन्दर्भों में उनकी नियोजना करने की, क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार अतीत की विश्लिष्ट अवगति हमारी सृजन-शक्ति को दृढ़ता और प्रसार देती है।

ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया को हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। प्रत्येक युग मानव-चेतना या व्यक्तित्व को एक सीमा तक समृद्ध करके छोड़ देता है। जिन तत्वों द्वारा उस चेतना या व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उनके समस्त सम्भव संगठन या संव्यूहन उस युग के मनीषियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न कोटियों के नायक-नायिकाओं की परिकल्पना या निर्माण में युग-विशेष के कलाकार अपने समय के सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध, अथवा संश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-सामाजिक बोध को, चरितार्थ कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला-दुष्यन्त, इन्दुमती-अज, कादम्बरी-चन्द्रापीड़ तथा राम-सीता के व्यक्तित्वों एवं सम्बन्धों में भारत के स्वर्ण-युग का अशेष सौन्दर्य-बोध पूंजीभूत रूप में अभिव्यक्त है। यही बात होमर, शेक्सपीयर, टॉलस्टॉय आदि के पात्र-पात्रियों के बारे में सत्य है। यहाँ पाठक सौन्दर्य-बोध शब्द की संकीर्ण आदर्शवादी व्याख्या न लें; उसके अन्तर्गत युग-विशेष का असौन्दर्य एवं अनीति का बोध भी आ जाता है। रावण का व्यक्तित्व युग के सौन्दर्य-बोध की उसी हद तक अभिव्यक्ति है जिस हद तक राम का चरित्र। इस दृष्टि से डास्ता ईप्स्की के असामान्य या विच्छिन्न व्यक्तित्व वाले पात्र भी अपने युग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीक हैं।

हम कहना यह चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व या चेतना का निर्माण करने वाले ये तत्व प्रायः एक युग से दूसरे युग में सक्रान्त होते जाते हैं; और प्रत्येक आने वाला युग उनकी जटिलता में वृद्धि कर देता है। बाद के युग में पूर्व युग के तत्व रहते हैं, पर उतने स्पष्ट रूप में नहीं जैसे कि वे विगत युग में थे। विगत युग-जीवन के ये तत्व अब भी व्यक्तित्वों का निर्माण करते हैं, पर कुछ भिन्न रूप में। जिस प्रकार आज के भौतिक, सामाजिक परिवेश में कालिदास का परिवेश समावेशित है, भले ही वह उस रूप में दिखाई न देता हो, उसी प्रकार आज की मानव-चेतना में कालिदास के युग की मानव-चेतना समाई हुई है। यही कारण है कि हम आज भी 'शाकुन्तल' और 'मेघदूत' का रस ले सकते हैं। किन्तु आज यदि कालिदास स्वर्ग से उतर आए, तो वह दास्ता ईप्स्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ले सकेगा, इसमें सन्देह है। कारण यह है कि उक्त उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सभी तत्वों से कालिदास का परिचय नहीं होगा; उसे उक्त नायक एक पहेली जान पड़ेगा। इसके विपरीत 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ठीक से वही पाठक ले सकता है जिसने अतीत का काफी साहित्य पढ़ा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने यूरोपीय दर्शन का इतिहास नहीं पढ़ा है वह न रसेल को समझ सकता है, न विटगैन्स्टाइन या हैडेगर को; वह व्यक्ति, बड़ी-से-बड़ी प्रतिभा रखते हुए भी, ऐसे किसी दर्शन का निर्माण भी नहीं कर सकता जो विश्व-दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सके। इसी प्रकार वह लेखक जो अतीत साहित्य में प्रतिष्ठित मानव-चेतना से सुपरिचित नहीं है, महत्त्वपूर्ण पात्रों अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुषों की भाँति साहित्य के महत्त्वपूर्ण पात्र भी वही होते हैं जो, सचेत या अचेत भाव से, मानव-चेतना के विधायक असंख्य परम्परा-प्राप्त तत्वों को समेटते या ढोते चलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का होरी एक साधारण नहीं; असाधारण पात्र है। वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और उसके साथी भारतीय सौन्दर्य-बोध की अनगिनत परम्पराओं के वाहक हैं। इसी से यह सचाई अनुगत होती है कि श्रेष्ठतम साहित्य के पात्र निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी 'टाइप' होते हैं; वे सौन्दर्य-बोध अथवा रागात्मक-बोध की लम्बी, परिचित परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हमने अतीत साहित्य की व्यापक उपयोगिता पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया। संक्षेप में, तथाकथित 'क्लासिकल' साहित्य जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। 'क्लासिकल साहित्य' के संरक्षण एवं अध्ययन का अर्थ रसात्मक-संवेदना के उन रूपों का आकलन या उज्जीवन है, जो मानवता के चेतना-मूलक विकास के अंग एवं प्रतीक हैं। मानव-समाज का कोई सदस्य सिर्फ बीसवीं सदी में पैदा हो जाने से ही बुद्ध एवं कालिदास से श्लाघ्यतर व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं बन जाता; उनकी तथा बाद के एवं समकालीन अनेक महापुरुषों की सांस्कृतिक-लब्धियों को आत्मसात् करके ही वह अपने व्यक्तित्व को अधिक सचेत एवं समृद्ध बना सकता है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के एक साधारण बुद्धि-जीवी का व्यक्तित्व अतीत के बड़े लेखक-विचारकों की तुलना में अधिक जटिल तथा चेतनावान् हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या कोई ऐसा अर्थ है जिसमें अतीत का साहित्यकार आज भी हमारा नियामक एवं पथ-प्रदर्शक बन सकता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक लेखक और विचारक नई चेतना का विधायक होने के नाते हमारा शिक्षक होता है। मतलब यह कि शिक्षा केवल नैतिक ही नहीं होती। यदि शिक्षा का अर्थ नैतिक-राजनैतिक आदर्शों का प्रचार मात्र हो तो कहना होगा कि न्यूटन तथा आइन्स्टाइन मानव-जाति के शिक्षक नहीं हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक यथार्थ अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सम्भावनाओं के उद्घाटक होने के नाते विहारी एवं विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी। यही नहीं, इस दृष्टि से हम टॉल्स्टाय और शेक्सपीयर को तुलसी से बड़ा शिक्षक भी कह सकते हैं।

किन्तु प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। समृद्ध, रसपूर्ण जीवन के लिए जहाँ कला और चिन्तन अपेक्षित हैं, वहाँ अच्छी समाज-व्यवस्था भी कम अपेक्षित नहीं। और अच्छी व्यवस्था का अर्थ है—नर-नारियों के सन्तुलित सम्बन्ध एवं व्यक्तियों का सन्तुलित, स्वस्थ जीवन। कलाकार इस प्रकार के जीवन एवं व्यवस्था की रूप-रेखा खड़ी करके जन-कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। और चूँकि मानव-जीवन के लिए उपयोगी नैतिक नियन्त्रण तथा नैतिक-रागात्मक संवेदनाएँ युग-युग में करीब-करीब वही रही हैं—उदाहरण के लिए संयम, निर्लोभता तथा त्याग की भावनाओं का प्रायः सार्वकालिक महत्त्व है—इसलिए अतीत के कलाकार आज भी श्रेष्ठ-व्यवस्था एवं चरित्र की कल्पना में हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-दर्शन एवं सिद्धान्त—जैसे पुनर्जन्म, ईश्वरवाद आदि से सम्बद्ध मन्तव्य जहाँ पुराने पड़कर अग्राह्य हो जाते हैं, वहाँ उनकी कृतियों से मिलने वाली रसात्मक एवं नैतिक प्रेरणाएँ चिरकाल तक प्रभावपूर्ण बनी रहती हैं। यही नहीं, हमारी आस्था है कि इस प्रकार की प्रेरणाएँ लम्बे-चौड़े जीवन-दर्शन से जितनी कम सम्पृक्त रहती हैं, उतनी ही अधिक नैसर्गिक एवं स्थायी महत्त्व वाली जान पड़ती हैं, विशेषतः आगे आने वाली पीढ़ियों को। इस दृष्टि से भी हम शेक्सपीयर तथा कालिदास को तुलसी से कम महत्त्व का शिक्षक नहीं कह सकेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा
प्रकाशित, त्रैमासिक

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

५७ वर्षों से देश तथा विदेशों के विद्वानों में प्रतिष्ठित। नागरी लिपि, हिन्दी भाषा और साहित्य तथा भारतीय इतिहास, शास्त्र, कला एवं संस्कृति-विषयक हिन्दी की प्रामाणिक शोध पत्रिका।

वार्षिक मूल्य १० रु०। एक अंक का २॥) रु०

"कल्पना" का कला-अंक

कल्पना का कला-अंक हिन्दी की प्रगति में एक नये प्रकाश-स्तम्भ और दिशा-निर्देश का प्रतीक होगा।

कला अंक में कला-क्षेत्र के प्रख्यात् व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत अध्ययन-सामग्री से लाभ उठाइए। हिन्दी में इस तरह का कोई प्रकाशन अब तक नहीं हुआ है।

इस अंक में कला के विभिन्न अंगों पर सर्वश्री डा० स्टेला क्रैमरिश, डा० हरमॅन ग्वेत्से, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० मुल्कराज आनन्द, रायकृष्णदास, डा० मोतीचन्द्र, अजित घोष, कुमारी जया अप्पास्वामी, आर० बॉन लिडेन, ओ० सी० गांगुली, नीरद चौधरी, विनोदबिहारी मुखर्जी, मार्सेल्ला हार्डी, कार्ल जे० खंडेलवाला, पी० नियोगी, एन० एल० बोस सुधीर खास्तगीर, आदि के लेख पढ़िए।

इस अंक के विशेष सम्पादक : १. जगदीश मित्तल, २. दिनकर कौशिक और ३. क० स० कुलकर्णी।

इस अंक का मूल्य ५)। मार्च ५३ तक १२) भेजक कल्पना के वार्षिक ग्राहक बनने वालों को विशेषांक के लिए अतिरिक्त मूल्य नहीं देना पड़ेगा।

कल्पना
८३१, बेगम बाजार, हैदराबाद दक्षिण

अवन्तिका

वार्षिक १०) मासिक एक प्रति १)
[विविध विषय-विभूषित सचित्र पत्रिका]

सम्पादक : कलाकार :
लक्ष्मीनारायण सुधांशु उपेन्द्र महारथी

'अवन्तिका' ही क्यों पढ़ें ?—

क्योंकि उच्च कोटि के लेख, कविता, कहानी तथा गम्भीर सम्पादकीय के अतिरिक्त 'अवन्तिका' के स्थायी स्तम्भ हैं : भारतीय वाङ्मय, विचार-संचय, सार-संकलन, विज्ञान-वार्त्ता, विश्ववार्त्ता और पुस्तकालोचन। 'अवन्तिका' को हिन्दी तथा भारत की सभी भाषाओं के विद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

प्रकाशक—
श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४

तार 'हिन्दी' फोन नं० ५४५०

अजन्ता

मासिक

प्रकाशक:—हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार-सभा, हैदराबाद दक्षिण।

मूल्य वार्षिक ६) एक अंक का १)

उच्च कोटि का साहित्यिक पत्र।

'अजन्ता' के कलात्मक चित्र, ललित कविताएँ और गम्भीर निबन्ध उसके सर्वश्रेष्ठ आकर्षण हैं।

स्थायी स्तम्भ: (१) साहित्य-चर्चा, (२) चिट्ठी-पत्री, (३) सामयिक, (४) सम्पादकीय।

" 'अजन्ता' का अपना व्यक्तित्व है"
—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

'अजन्ता' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिकाओं में से एक है।"
—कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

सम्पादक
श्री वंशीधर विद्यालंकार, श्री श्रीराम शर्मा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल प्रकाशन

के

श्रेष्ठ, निजी प्रकाशन

सांस्कृतिक

पञ्चतन्त्र—अनु० डा० मोतीचन्द्र ४॥)
दशकुमार चरित—अनु० पं० निरंजनदेव शर्मा ५॥)
मेघदूत—अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ३॥)
भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ५)
काश्मीर : देश व संस्कृति—शिवदानसिंह चौहान ५)
अन्तरात्मा से—रंगनाथ दिवाकर २।)
अन्तर-निरीक्षण—महाराजा पोरबन्दर २॥)

कहानियां व लोक-साहित्य

पाषाण नगरी—शिवसहाय चतुर्वेदी ३॥)
धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी १०)
बाजत आवे ढोल— ,, ७)
धीरे बहो गंगा— ,, ६)
जीवन के अंचल से—लीलावती मुन्शी ४॥)
फूल और पत्थर—कृष्णचन्द्र २॥।)
कहानी : नई पुरानी—डा० रघुवीरसिंह २)

उपन्यास

जय सोमनाथ—क० मा० मुन्शी ५)
भगवान् परशुराम— ,, ६॥)
लोमहर्षिणी— ,, ४॥)
राजाधिराज—(प्रेस में) ,, ६)
लोपामुद्रा—(प्रेस में) ,, ५)
स्वप्नद्रष्टा ,, ४)
एक था राजा—मुल्कराज आनन्द ७॥)
कजली—भवानी भट्टाचार्य ४॥)
हड़ताल—क्षेमचन्द्र सुमन ४॥)
वेदवृक्षों की छाया में—शिह येन १)
टूटे हुए पर—खलील जिब्रान १॥)
प्रगति की राह—गोविन्दवल्लभ पन्त ४॥)
नये मोड़—उदयशंकर भट्ट ३॥)
गद्दर—ऋषभचरण जैन २॥)
रथ के पहिये—देवेन्द्र सत्यार्थी ५॥)
कायर—राजेन्द्र शर्मा १॥।=)
जीवन-दान—श्रीराम शर्मा 'राम' १॥।=)
आदमी और सिक्के—महेन्द्रनाथ १॥।=)
बहती गंगा—शिवप्रसाद मिश्र रुद्र १॥।=)
गंगा मैया—भैरवप्रसाद गुप्त १॥।=)

निबन्ध व साहित्य

आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० एस० पी० खन्नी ११)
हिन्दी भाषा तथा साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी २॥)
हिन्दी गद्य-साहित्य—शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान २)
सिद्धान्त और समीक्षा—संकलन २॥)
शेष स्मृतियाँ—डा० रघुबीरसिंह ४)
निबन्धिनी—गंगाप्रसाद पाण्डेय ३॥)
गद्य-गौरव—संकलन २॥)
पद्य-प्रवाह—संकलन २॥)
प्रेमचन्द : एक विवेचना—डा० इन्द्रनाथ मदान ३।)
राष्ट्रभाषा हिन्दी—संकलन ३)
विचार-वल्लरी—स० जैनेन्द्र कुमार २॥)
मानसरोवर—संकलन १)
साहित्य-संचय—संकलन २॥)
जीवन-कण—डा० रघुबीरसिंह ३)
जीवन-धूलि— ,, १॥)
मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा—पं० सीताराम चतुर्वेदी ३)
घुमक्कड़-शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन ३।)
सुबह होती है—कृष्णचन्द्र ३)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुन्शी अभिनन्दन-ग्रन्थ—संकलन १५)

कविता

अपलक—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ३॥)
क्वासि—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ३॥)
चेतना—बाबूलाल पालीवाल १॥)
सुवेला—शम्भूनाथ 'शेष' २)

नाटक

शम्बर-कन्या—क० मा० मुन्शी २)
ध्रुव-तारिका—डा० रामकुमार वर्मा १)
समस्या का अन्त—उदयशंकर भट्ट ३)
कालिदास—उदयशंकर भट्ट २)
एकला चलो रे—उदयशंकर भट्ट १)
विद्रोहिणी अम्बा—उदयशंकर भट्ट १॥)
सगर-विजय—उदयशंकर भट्ट २)
वरगद—कृष्णलाल श्रीधराणी १॥)
छलना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी २॥)
युगछाया—स० शिवदानसिंह चौहान २॥)

राजनीतिक

गांधी और स्टालिन—लुईफ़िशर २॥)
नेताजी और आज़ादहिन्द फ़ौज—
शाहनवाज़ खां ५)
आधुनिक योरप का राजनीतिक दर्शन—
श्यामसुन्दर गुप्ता २)
आज का मानव-जीवन और उसकी समस्याएँ—
रामेश्वर गुप्ता २)

मनोविज्ञान व शिक्षा

सरल मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया ३॥)
बच्चा : मेरा शिक्षक—कैरालीन प्रैट १।)
हमारे बच्चे : ६ से १२ वर्ष तक— ४॥)
शिक्षण-प्रविधि—
वी० एस० माथुर, शची माथुर १॥)
राजकमल मनोविज्ञानमाला—१६ भाग
प्रत्येक का १)

बाल साहित्य (सचित्र)

पंचतन्त्र की कहानियाँ—२ भाग प्रत्येक का १)
हमारे बापू—डा० इन्द्रनाथ मदान ॥।=)
हमारे नेहरू— ,, ॥।=)
हमारे गुरुदेव— ,, ॥।=)
मुन्शी प्रेमचन्द— ,, ॥।=)
बचपन की कहानियाँ—
शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय १॥।)
चम-चम चमके चन्दा मामा—
बाबूराम पालीवाल १)
धुएँ की फाँसी—एस० ए० ताहिर १॥।)
नन्हे लंगूर की कहानी—(६ रंगों में) १॥।)

प्रौढ़ साहित्य

देश-परिचय माला—१०भाग—प्रत्येक का ॥)
ग्राम-पंचायत—राजेन्द्र शर्मा १॥)
हमारा समाज—२ भाग—प्रत्येक का १)

इतिहास

रतलाम का प्रथम राज्य—डा० रघुवीरसिंह १०)

सेक्स

दाम्पत्य प्रेम—डा० मेरी स्टोप्स २॥)
सन्तति नियमन— ,, १॥)
स्थायी प्रेम—(प्रेस में) ,, २॥)

धार्मिक

धर्म-वर्णन—आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव १॥)

अर्थ-शास्त्र

हमारी खुराक व आबादी की समस्या—
ओमप्रकाश २)

निर्देशक

राजकमल वर्षबोध—१९४९ ५)
राजकमल वर्षबोध—१९५०-५१ ५)
राजकमल वर्षबोध—१९५३ (प्रेस में) ४)

राजकमल प्रकाशन

१, फैज़ बाज़ार, दिल्ली

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

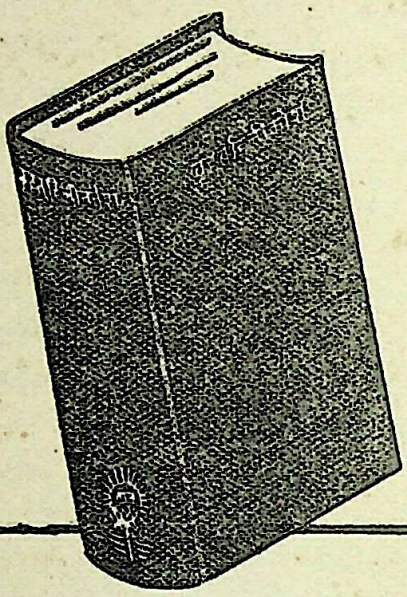

बृहत् हिन्दी कोश

(शब्दसंख्या १२५५१८)

हिन्दीका सर्वोपयोगी नवीनतम कोश

आठ वर्षोंमें तैयार हुआ है

जिसमें

सर्वाधिक शब्द, अर्थ, मुहावरे आदि दिये गये हैं

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

कबीरचौरा, बनारस—१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल (बिक्री विभाग) से प्राप्य

कुछ नये प्रकाशन

उपन्यास

रथ के पहिये—देवेन्द्र सत्यार्थी ५॥)
पतवार—भगवतीप्रसाद वाजपेयी ५)
चाँद के धब्बे—शिवसागर मिश्र ३)
होटल डि ताज—मन्मथनाथ गुप्त २।)
पराया—डॉ० रांगेय राघव ३)
पुजारी—श्रीराम शर्मा 'राम' ४)
हार या जीत—भारती विद्यार्थी १।॥)

सांस्कृतिक व ऐतिहासिक

पञ्चतन्त्र—अनु: डॉ० मोतीचन्द्र ४॥)
दशकुमार चरित—अनु: निरंजनदेव शर्मा ५॥)
पूर्व मध्यकालीन भारत—
वासुदेव उपाध्याय ६)
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—
आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ३)
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति—
डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ५)
कला और मानव—बाल सीताराम मर्डेकर ३)
भारतवर्ष में जातिभेद—
आ० क्षितिमोहन सेन २)
भारतीय समाज, संस्कृति व संस्थाएँ—
कैलाशनाथ ६॥)
भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास—
लूनिया ६।॥)

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान—मार्क्विज और वुडवर्थ १२॥)
हमारे बच्चे : ६ से १२ वर्ष तक— ४॥)
सरल मनोविज्ञान—हंसराज भाटिया ३॥)
व्यावहारिक मनोविज्ञान—
डॉ० पद्मा अग्रवाल ४॥)
मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ—
डॉ० पद्मा अग्रवाल ४॥)

साहित्यिक

राजस्थान का पिंगल साहित्य—
मोतीलाल मेनारिया ५)
तुलसीदास और उनका काव्य—
रामनरेश त्रिपाठी ७)
ध्वन्यालोक—भाष्य-आचार्य विश्वेश्वर १०)
समीक्षा के सिद्धान्त—डॉ० सत्येन्द्र ३॥)
प्रगतिवाद की रूपरेखा—मन्मथनाथ गुप्त ७)
प्रसाद का जीवन और साहित्य—
रामरतन भटनागर ५)
राजस्थानी भाषा—
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या २॥)
हिन्दी काव्यशास्त्र—शान्तिलाल बालेन्दु ४)
साहित्यावलोकन—विनयमोहन शर्मा ३)
सूर रामचरित्र—प्रभुदयाल मीतल १॥)
सूर बालकृष्ण पदावली—
प्रभुदयाल मीतल १॥)
प्रेमचन्द और उनका युग—
डॉ० रामविलास शर्मा ३)
सूर समीक्षा—रामरतन भटनागर ३)
महाकवि सूरदास—
आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ४)
साहित्यिकी—शचीरानी गुर्टू ५)

विविध

पैसा परमेश्वर (नाटक)—
रामनरेश त्रिपाठी ३)
माओ के देश में—राम आसरे १)

बिक्री विभाग

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'आलोचना विशेषांक' की सूचना—

तीसरे वर्ष में पदार्पण करने के उपलक्ष में 'आलोचना' का आगामी अक्तूबर अंक आलोचना विशेषांक होगा।

★ इसमें आदिकाल से लेकर आज तक विश्व के अन्यान्य देशों में विभिन्न दार्शनिक विचारों, मनुष्य के ऐतिहासिक ज्ञान और साहित्य-कला की परम्परा के गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र की रचना और व्याख्या करने वाले मनीषी आचार्यों के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन और प्रामाणिक परिचय रहेगा।

★ इसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय आचार्य भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, राजानक कुन्तक, महिम भट्ट, मम्मट, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ राजशेखर, पंडितराज जगन्नाथ, रामचन्द्र शुक्ल तथा इतर भारतीय विचारक अफलातूं, अरस्तू, लॉन्जाइनस, फिलिप सिडनी, ड्राइडन, पोप, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली, ऐडगर ऐलन पो, चार्ल्स ऑगस्टिन, सान्ते ब्वे, मैथ्यू आर्नल्ड, संत टामस एक्वीना, लोप दी विगा, जोसफ एडिसन, हेनरी फील्डिंग, शिलर, गेटे, विलियम हेजलिट, टामस लवं पीकॉक, विक्टर ह्यूगो, एमर्सन, जेम्स रसेल लावेल, जॉन रस्किन, गुस्ताव फ्लाबेयर, काएट, हीगल, विलियम मोरिस, मार्क्स, बेलिन्सकी, चर्निशेव्स्की, टॉलस्टॉय, प्लैखानोफ, गोर्की, कॉडवेल आदि की उन महान् कृतियों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा जिन्होंने मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में योग दिया है, और जो आज भी विचारों को स्फूर्ति और समृद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं।

★ इसमें साहित्य-कला-सम्बन्धी मनुष्य की विभिन्न युग-सापेक्ष धारणाओं, रुचियों, विचार-धाराओं, वादों, आन्दोलनों और उनके प्रतिपादकों की कृतियों का विवेचन और परिचय रहेगा।

★ इसमें भारतीय और इतर भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों और सौन्दर्य-दृष्टियों के राष्ट्रीय तथा विश्वजनीन, युग-सापेक्ष तथा चिरन्तन तत्त्वों का विवेचन करके एक वैज्ञानिक समीक्षा-सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न होगा।

★ इसमें कितने ही हिन्दी तथा हिन्दीतर भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाओं के गम्भीर आलोचकों के निबन्ध रहेंगे, जो ऊपर दी गई योजना में सहयोग देकर हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रथम बार और एक साथ ही साहित्य-कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी विश्व के समस्त युगान्तरकारी विचारकों की चिन्ता को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करेंगे।

विस्तृत योजना के लिए अगले अंक में सम्पादकीय विज्ञप्ति की प्रतीक्षा कीजिए।

राजकमल प्रकाशन
१ फ़ैज बाज़ार, दिल्ली

—देवराज
प्रकाशक 'आलोचना'

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाजार दिल्ली, के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

सहकारी सम्पादक—श्री नामवरसिंह, श्री गोपालकृष्ण कौल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ. धर्मवीर भारती
सम्पादन डॉ. रघुवंश
समिति डॉ. व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक श्री हेमचन्द्र 'सुमन'

आलोचना

हिन्दी-समीक्षा का गहन दायित्व — सम्पादकीय
भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का क्रमिक विकास : सिन्धु-सभ्यता से रीतिकाल तक — डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा
साहित्य और मनोविज्ञान — सी० जे० युङ्ग
हिन्दी-कथाशिल्प में कथानक का ह्रास — डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
समकालीन आलोचना : कुछ खतरे — डॉ० देवराज
अँग्रेजी-काव्य-धारा : बीसवीं शताब्दी — डॉ० एस० पी० खत्री
नई कविता में रस और बौद्धिकता — श्री जगदीश गुप्त
मराठी नव काव्य और रस-विचार — श्री आत्माराम रावजी देशपाण्डे
नई कविता में वर्ग-उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ — श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा
हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर शोध-कार्य — डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
भाषा का प्रश्न — श्री राहुल सांकृत्यायन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल प्रकाशन

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष २ अंक ३ पूर्णाङ्क ७ अप्रैल १९५३

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३)

▲सम्पादकीय
—हिन्दी-समीक्षा का गहन दायित्व १
▲निबन्ध
—भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का क्रमिक विकास : सिन्धु-सभ्यता से रीतिकाल तक
डा० हरद्वारीलाल शर्मा - - - १०
—साहित्य और मनोविज्ञान
सी० जे० युङ्ग - - - २२
—हिन्दी-कथाशिल्प में कथानक का ह्रास
डा० लक्ष्मीनारायणलाल - - २९
—समकालीन आलोचना : कुछ खतरे
डा० देवराज - - - ३६
—अंग्रेजी काव्य-धारा : बीसवीं शताब्दी
डा० एस०पी० खन्नी - - - ४४
▲प्रस्तुत प्रश्न
—नई कविता में रस और बौद्धिकता
जगदीश गुप्त - - - ५६
—मराठी नव-काव्य और रस-विचार
आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल' ६०
—नई कविता में वर्ग-उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ
लक्ष्मीकान्त वर्मा - - - ६५
▲प्रादेशिक साहित्य
—तमिल भाषा और साहित्य की समस्याएँ
ति० शेषाद्रि - - - ७५
▲साहित्य और ललित कलाएँ
—शान्तिनिकेतन की कला-शैली
असितकुमार हाजदार - - - ८०
—शान्तिनिकेतन की कला-शैली और छायावादी काव्य
शम्भूनाथ मिश्र - - - ८३
▲मूल्यांकन
—रवीन्द्र-गद्य-साहित्य में रहस्य-चेतना और कथा-तत्त्व
इलाचन्द्र जोशी - - - ८६
—हिन्दी-गीत-परम्परा का नया उत्थान
विजयदेवनारायण साही - - - ९५
—छायावाद युग
बच्चनसिंह - - - १००
—नये युग में पुराने सन्देह
डा० रांगेय राघव - - - १०५
—यशपाल की समस्यामूलक कहानियाँ
गंगाप्रसाद मिश्र - - - १०९
—हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-भावना का विकास
डॉ० उदयनारायण तिवारी ११३
—हिन्दी-साहित्य का आदिकाल
डा०दशरथ शर्मा - - - ११४
▲परिचय - - - १२०
▲अवलोकन
—हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर शोध-कार्य
डा० ब्रजेश्वर वर्मा - - - १२३
▲अनुशीलन
—'बीसलदेव रास' की पाठ-समस्या
डा० माताप्रसाद गुप्त - - - १२६
—मानस की हेतु-कथाएँ
परशुराम चतुर्वेदी - - - १२८
—भाषा का प्रश्न
राहुल सांकृत्यायन - - - १३०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

हिन्दी-समीक्षा का गहन दायित्व

हिन्दी के समकालीन साहित्य-सृजन में आज सम्भवतः आलोचना का क्षेत्र सर्वाधिक जन-संकुल है। उत्साह और परिमाण दोनों दृष्टियों से आज वहीं सबसे अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित होती है। हिन्दी-साहित्य जिस द्रुत गति से विकसित हो रहा है, उसके सांस्कृतिक मूल्यों में जितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है, भावभूमि में जितना गहन विक्षोभ आ गया है, नवीनतम चेतनाओं को ग्रहण करने की जो आतुरता है, शिल्प के स्तर पर जितनी सशक्त अन्वेषण-प्रवृत्ति जाग उठी है, भाषा और उसकी शक्तियों को जितने अप्रत्याशित मोड़ दिये जा रहे हैं, और हमारी साहित्यिक चेतना अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड़कर देश-विदेश के जिन नये क्षितिजों को छूकर समृद्ध होती जा रही है, उसे देखते हुए सृजन के साथ-साथ समीक्षात्मक वृत्ति का इस तरह जाग उठना और क्रियाशील हो जाना स्वाभाविक ही है तथा यह हिन्दी की स्वस्थ जागरूकता का ही प्रमाण है।

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा रहा है। साहित्य के विकास में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण मोड़ पर उसकी उपेक्षा करना कहीं अत्यन्त घातक न सिद्ध हो, इसका गम्भीर खतरा है। हिन्दी की आलोचना क्रियाशील अवश्य है किन्तु अपनी साहित्यिक परम्पराओं और समकालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में उसने अपने गम्भीर दायित्व को भी पहचाना है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के स्वस्थ और सर्वांगीण विकास में समीक्षात्मक वृत्ति—चाहे वह कितनी भी क्रियाशील क्यों न हो—तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि उसका उचित निर्देशन करने के लिए एक व्यापक, उदार, सर्वांगीण, वस्तुपरक और वैज्ञानिक समीक्षा-दृष्टि विकसित नहीं होती। उस संयमित और सन्तुलित दृष्टि के अभाव में यह सारा समीक्षात्मक अभियान लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है, नये सृजन में सहायक न होकर उसे कुण्ठित कर डालता है, पुरानी परम्पराओं को नये रूपों में विकसित न करके उनके प्रति गलत दृष्टिकोण बना लेता है, इतिहास की विकृत व्याख्याएँ करने लगता है, साहित्य और जन-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीवन के सही सम्बन्ध-सूत्रों को दृढ़ करके उन्हें विच्छिन्न और जर्जर कर डालता है। परिणाम यह होता है कि युक्तियुक्त वैज्ञानिकता, उदारता, सहानुभूति और सन्तुलन के तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और साहित्यिक वातावरण में आतंक, कटुता, दलगत पूर्वग्रह, अराजकता और संकीर्णता छा जाती है, गलत मानदण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनसे अनुशासित साहित्य कुण्ठित, बौना, जर्जर, क्षणिक और खोखला बन जाता है। अपने वास्तविक उत्तरदायित्व को न पहचानकर, समीक्षक भी सन्तुलन खो बैठता है और या तो वह पुरानी रूढ़ियों के घेरे में आश्रय खोजने की चेष्टा करता है, या आवेश में राजनीतिक 'कमिसार' का अभिनय करने लगता है, या केवल शिल्प और शैली की पच्चीकारी के ह्रासोन्मुख वातावरण में अपने को भुलावा देना चाहता है। वास्तव में उसके ये तीनों ही रूप अपने विराट् दायित्व को समग्रता से स्वीकार न कर पाने के अनिवार्य परिणाम हैं। इनसे ग्रस्त समीक्षा न केवल स्वतः पथ-भ्रष्ट हो जाती है, वरन् उससे प्रभावित और निर्देशित प्रतिभाएँ भी मरु-मरीचिकाओं में भटककर समाप्त हो जाती हैं। और—अब वह समय आ गया है जब हमें साहस और ईमानदारी से यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी-समीक्षा समवेत रूप से अभी तक अपने विराट् दायित्व को आत्मसात् नहीं कर पाई है और यदि छायावाद-काल से लेकर आज तक, हमारे प्रमुख कलाकारों और साहित्यिक निकायों (Schools) की अपनी अभिरुचि में थोड़ा-बहुत परिष्कार न होता और अपने विश्वासों का बल न होता तो आधुनिक हिन्दी-साहित्य और भी अधिक निर्धन होता, उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ और भी कुण्ठित हो गई होतीं, उसकी भावभूमि में और भी अधिक विकृतियाँ आ गई होतीं।

हिन्दी-समीक्षा अपना दायित्व क्यों नहीं ग्रहण कर पाई, इसका प्रमुख कारण यह है कि किसी भी जाति या समाज के सांस्कृतिक जीवन की चिर विकासशील प्रगति में साहित्य का सही मूल्य क्या होता है, उसकी शक्ति के मूलाधार क्या होते हैं, उसका अपना विकास किस सीमा तक जाति के आर्थिक या राजनीतिक विकास के समानान्तर होता है, वह किस सीमा तक अपने पृथक् नियमों से परिचालित होता है, साहित्यकार व्यक्ति के रूप में कैसे सामाजिक प्रभावों को ग्रहण करता है, रचनाकार के रूप में किन मानसिक प्रक्रियाओं से होकर गुज़रता है, अपनी परम्परा से उसका क्या सम्बन्ध होता है, कलाकार के रूप में उसके द्वारा विकीर्ण सामाजिक प्रभाव की कौन सी विशिष्टताएँ होती हैं, आज तक सांस्कृतिक इतिहास में कौन से मानवीय मूल्य ऐसे हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी और चिर-मर्मस्पर्शी हैं और सामयिक समस्याओं के सामयिक समाधानों की सापेक्षता में उनका क्या महत्त्व है और किस प्रकार एक चिर प्रवहमान सांस्कृतिक परम्परा इन समस्त तत्त्वों को आत्मसात् करती हुई महा काल की अनादि और अनन्त धारा के रूप में बहती हुई चली जाती है, इन समस्त प्रश्नों पर या तो हिन्दी-समीक्षक ने विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी, या उसने इनके विषय में कुछ एकांगी, अधूरी और अपरिपक्व मान्यताओं को ही समीक्षा के वैज्ञानिक मानदण्ड समझने की भूल कर डाली। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की समीक्षा का 'कैनवस' उसके दायित्व को देखते हुए बहुत छोटा रहा है। उस 'कैनवस' के विस्तार की ओर संकेत करना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने में निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है। वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंग-मात्र होती है। उसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पीछे उस जाति के सुख-दुःख, संघर्ष और समन्वय, चिन्तन और अनुभूति के सैकड़ों और हजारों वर्ष के इतिहास की संचित परम्परा रहती है। वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गई, उस लम्बे इतिहास की ही एक सम्बद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहास से अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। कलाकार में एक विशिष्टता है जिसके बल पर वह काल-प्रवाह के उस एक बिन्दु को शब्दों में बाँध-कर युग-युग के लिए स्थायी कर देता है। उस क्षण में उसके द्वारा अनुभूत भाव-सत्य केवल उसका और उस क्षण का ही न रहकर साधारणीकृत और स्थायी भी हो जाता है। इस समस्त प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए किसी भी कृति के मूल्यांकन में तीन तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य है। ये तीन तत्त्व अलग नहीं हैं, न इन पर एक-दूसरे से पृथक् रूप में विचार हो सकता है। ये तीनों समीक्षा के तीन आयाम (dimensions) हैं और किसी भी एक के बिना शेष दो निरर्थक हैं। एक कला-कृति पहले रूप में एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्य-बोध और परम्परागत काव्य-शृङ्खला की विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूप में वह एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक सामाजिक मूल्य होता है, उसके पाठक या श्रोता होते हैं जो उससे प्रभावित होते हैं और उसका प्रभाव एक सामाजिक महत्त्व रखता है। तीसरे रूप में वह एक व्यक्ति की, एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्त्वों से समन्वित होकर वह कला-कृति का महत्त्व प्राप्त करती है। किसी भी कला-कृति या प्रवृत्ति का मूल्यांकन करते समय यदि इनमें से एक भी पक्ष की उपेक्षा की गई तो वह समीक्षा एकांगी बन जाती है। दुर्भाग्य से हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में यह भूल बार-बार हुई है और यही नहीं वरन् बहुधा यह भी देखा गया है कि आलोचकों के दलों ने इस एकांगिता को ही अपनी विशिष्टता के रूप में प्रचारित किया और अज्ञानवश अपने एकांगी मार्ग के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गों का सक्रिय विरोध किया। एक ओर वे लोग रहे जिन्होंने परम्परा के नाम पर, शास्त्रीयता के नाम पर उन रूढ़ियों का समर्थन किया जिनका सारा अर्थ नष्ट जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा की सापेक्षता में हो चुका था, जिन्हें किसी भी प्रकार के प्रगतिशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रश्रय देना स्वीकार नहीं था। दूसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जिन्होंने प्रगतिशीलता और वैज्ञानिक समाजवाद के नाम पर दलगत राज-नीति एवं नितान्त अवैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचार किया और तीसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जो साहित्य के विराट् सांस्कृतिक 'कैनवस' और महत्त्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को पूर्णतया भूलकर केवल उसकी वैयक्तिक स्थिति, रचना-प्रक्रिया, शिल्प और सौन्दर्य-बोध का अन्वेषण करते रहे। तीनों का ही सत्य आंशिक था, अतः एक विराट् समग्रता में समन्वित न होने के कारण वह विकलांग और हानिकर ही सिद्ध हुआ।

सबसे पहले परम्परा की बात उठाई जाय। परम्परा की बात इसलिए भी हिन्दी के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि बहुत कम ऐसी भाषाएँ हैं जिनके पीछे इतनी लम्बी, इतनी समृद्ध और इतनी जटिल परम्परा हो जितनी कि हमारी भाषा के पीछे है। हम चाहे विरोध करें या समर्थन, चाहे संरक्षण ग्रहण करें या निर्वासन; किन्तु हर मोड़ पर हमारी परम्परा ने हमारी गति को एक निश्चित रुख दिया है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हम उससे मुक्त नहीं हो पाए हैं और न वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी अपनी परम्परा और जातीय संस्कारों से मुक्त हो सकता है। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि रीति काल ने आधुनिक काल को शास्त्रीय परम्परा के नाम पर जो दृष्टिकोण दिया था वह स्वतः अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण था। वह काव्य-शास्त्र संस्कृत-काव्य-शास्त्र का अपरिपक्व हिन्दी उल्था-मात्र था। संस्कृत उस समय जन-भाषा न थी। न जाने कितनी शताब्दियों से संस्कृत केवल पण्डितवर्ग की भाषा रह गई थी और लोक-व्यवहार से जो नित्य नये संस्कार किसी भी साहित्य-परम्परा को मिलाते हैं, संस्कृत उनसे वंचित हो गई थी। अपभ्रंश और उसके बाद स्वयम्भू से लेकर तुलसी तक हिन्दी को जो प्राणवान् लोक-स्पर्श मिला था, जितनी धाराएँ और परम्पराएँ उसमें समाहित हो गई थीं, चन्द, कबीर, मीरा, जायसी, सूर और नन्ददास ने जितने स्तरों की अनुभूतियों से हिन्दी-काव्य-धारा को समृद्ध कर दिया था उनका समाहार उस काव्य-शास्त्र में नहीं हो पाया जो रीति काल के आचार्य कवियों द्वारा अपनाया गया। वह हिन्दी का तो प्रतिनिधि काव्य-शास्त्र था ही नहीं, संस्कृत में भी मध्य काल में विभिन्न धर्म-साधनाओं ने काव्य-शास्त्र में जो नवीन उद्भावनाएँ की थीं—जैसे तन्त्र निर्देशित भाषा की मन्त्र-शक्ति, वैष्णवों द्वारा अनुमोदित 'महाभाव', 'समाधि-भाषा' आदि—उनका भी कोई विचार उस काव्य-शास्त्र में नहीं था। वह संस्कृत-काव्य-शास्त्र की कुछ विशेष परम्पराओं का ही सीमित प्रतिनिधि था। आधुनिक युग के साथ जब सहसा एक नई सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ और नये काव्य-रूप और नये ढंग की कृतियाँ सम्मुख आईं तब उस काव्य-शास्त्र की कमी सहसा अनुभव होने लगी और वे मान-दण्ड अपर्याप्त सिद्ध होने लगे। शास्त्रीय विद्वानों का एक वर्ग तो ऐसा भी रहा कि परम्परा के मोह में उसने खड़ी बोली की तमाम नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही अन्ध विरोध न किया प्रत्युत अपने चिन्तन-विकास के समस्त द्वार ही बन्द कर लिए। आज ऐसे लोगों की संख्या उँगलियों पर ही गिनी जाने लायक बच रही है, किन्तु किसी समय उनसे साहित्य की विकासशील धारा को कितना कठोर संघर्ष मोल लेना पड़ा था यह 'पल्लव' की भूमिका से आज भी अनुमान किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ग आलोचकों का ऐसा भी था जिसने युग-धर्म का स्वागत किया और पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र को यथोचित सम्मान दिया और नये साहित्य के आकलन के लिए नई कसौटियाँ स्वीकार कीं। कहीं-कहीं उन्होंने नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कसौटी पर शास्त्रीय परम्परा को कसकर खरा दिखाने का भी प्रयास किया।[1] इस प्रकार अपनी परम्पराओं से उन्मूलित हुए बिना उन्होंने जिस सीमा तक नई चेतनाओं को प्रश्रय दिया, वहाँ तक आज भी आचार्य शुक्ल अद्वितीय और अपराजेय हैं। उनकी सीमाएँ वहीं हैं जहाँ उन्होंने शास्त्र की गतिशील विकासमान प्रकृति को मान्यता नहीं दी। स्वस्थ और जीवनदायी समझौता या समन्वय सदैव दो जीवन्त और विकासशील परम्पराओं में होता है। यदि उनमें से एक भी परम्परा का विकास अवरुद्ध हो चुका है, वह पथरा चुकी है और बिना पुनर्मूल्यांकन के उसे यथावत् स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह दूसरी जीवन्त परम्परा को भी कुण्ठित और अवरुद्ध कर डालती है। आचार्य शुक्ल के अद्वितीय व्यक्तित्व के प्रति सम्पूर्ण समादर रखते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसी कारण उनकी दृष्टि कई स्थलों पर संकुचित रह गई थी और वे अपने समकालीन कई आन्दोलनों

---

१. शुक्लजी—'रस और मनोविज्ञान'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को वह सहानुभूति नहीं दे पाए थे जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। फिर भी जिस स्तर पर उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को छोड़ा था और प्रथम इतिहास प्रस्तुत करके परम्परा के ऐतिहासिक मूल्यांकन का जो सूत्रपात किया था उसको उनके परवर्ती समीक्षक आशा के अनुरूप नहीं बढ़ा पाए।

'परम्परा का ऐतिहासिक मूल्यांकन', इसीलिए आवश्यक था कि हम परम्परा को जीवित रख सकें, उसे अपना सम्बल बना सकें। वह ऐसी उर्वर भूमि बनी रहे जिससे हमारे चिन्तन की जड़ें अधिक-से-अधिक खुराक पा सकें। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी चिन्तन-धारा के प्रवेश के साथ इस बात की सम्भावना दीख पड़ी कि यह चिन्तन-प्रणाली इस विराट् कार्य को पूरा करेगी किन्तु प्रारम्भ से ही इस निकाय का दृष्टिकोण इतना एकांगी रहा कि कम-से-कम इनके हाथों से शास्त्रीय परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आशा जाती रही। यही नहीं बल्कि वर्ग-संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृति को सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जाने का भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक था, वरन् मार्क्सवाद की भी एक गलत व्याख्या थी। तत्कालीन स्थिति ने उनके मन में बहुत-सी ऐसी मध्यमवर्गीय कुण्ठाओं और पूर्वग्रहों को उभार दिया था और वह खुद एक ऐसे बूर्ज्आ अहंकार से ग्रस्त थे जिनके कारण उनके मन के समाज-विरोधी ग्रह प्रबल थे और शेष सामाजिक जीवन से वे लोग विच्छिन्न और उन्मूलित हो चुके थे। इसलिए जब उन्होंने सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाई तो वह वास्तव में उनकी एक स्वतः मनोविकृति की अभिव्यक्ति थी, मार्क्सवाद तो केवल बाह्य आवरण था। किन्तु इससे जिस सीमा तक मार्क्सवाद ने एक ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की थी उसका महत्त्व कम नहीं होता। संस्कृति को एक जड़ तत्त्व न मानकर उसको ऐतिहासिक विकास की सापेक्षता में जिसने भी ग्रहण किया और उसके लोकपरक तत्त्वों को पहचाना, उसकी व्याख्याएँ निस्सन्देह अपना महत्त्व रखती हैं। ब्रिटेन के मार्क्सवादी इण्डालाजिस्ट ग्रुप और सोवियत के कुछ भारतीय इतिहासवेत्ताओं ने भी इस दिशा में ठोस और गम्भीर कार्य किया है। अगर हिन्दी में भी यह दृष्टि स्वस्थ रीति से विकसित होती चलती तो आज हमारे इतिहास का रूप ही दूसरा होता।

किन्तु एक दूसरी दिशा से भारतीय ऐतिहासिक परम्परा का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ था और उसके लोक-तत्त्वों को समुचित प्रश्रय मिल रहा था। वह था गांधी के नेतृत्व में चलने वाला भारतीय जनान्दोलन और उससे प्रभावित गुरुदेव द्वारा स्थापित शान्तिनिकेतन। शान्तिनिकेतन में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का एक बहुत बड़ा दल मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के लोकपरक तत्त्वों के संग्रह और संरक्षण में लग गया। सन्तों और बाउलों की वाणियाँ, अजन्ता की कला, मणिपुर के लोक-नृत्य, सन्थालों का लोक-जीवन और मध्यकालीन अगणित धर्म-साधनाएँ (जो भारतीय जनान्दोलनों के धार्मिक रूपान्तर-मात्र थे) इन सबका एक स्वस्थ वैज्ञानिक मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ और जो अवशिष्ट परम्पराएँ जन-जीवन में बच रही थीं उनका पुनरुत्थान करके अपने समस्त अतीत को वर्तमान के जीवन्त क्षणों में प्रतिफलित करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास बहुत बड़े स्तर पर हुआ। बहुत दिनों तक हिन्दी इस दृष्टिकोण से वंचित रही किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तिका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में जब हिन्दी को अपनी इस परम्परा के नये सामाजिक मूल्यांकन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की एक छोटी-सी झलक मिली तो अपने वैभव और अपनी समृद्ध विरासत पर वह स्वतः स्तब्ध हो गई। उसमें तथा उनकी अन्य कृतियों में अपनाया गया दृष्टिकोण प्राचीनतम और नवीनतम का अद्भुत सम्मिश्रण था, उसकी सामाजिक दृष्टि यान्त्रिक, अवैज्ञानिक और ऊपर से थोपी हुई नहीं थी, वह दृष्टि अपनी परम्परा से नये वैज्ञानिक आधारों पर विकसित हुई थी। उसमें कबीर से लेकर रवीन्द्र तक की व्यापक मानवतावादी दृष्टि का संचित संस्कार था। वह अध्ययन-परम्परा उस गति से आगे न बढ़ पाई जैसी कि बढ़नी चाहिए थी, क्योंकि हिन्दी विदेशी शासकों द्वारा एक संकीर्ण राजनीतिक संघर्ष में उलझा दी गई थी और उसकी शक्तियाँ उधर लगी हुई थीं, किन्तु फिर भी उसने अपनी परम्पराओं के ऐतिहासिक मूल्यांकन की दिशा खोज निकाली है, इसमें सन्देह नहीं।

इस बीच में चुपचाप हिन्दी-क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण कार्य होता रहा जिसका उपयोग आगे चलकर और भी स्पष्ट हो सकेगा। विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं, विद्वानों और विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों के अन्तर्गत बहुत बड़े परिमाण में हिन्दी की लिखित निधि की खोज होती रही और आदिकालीन और मध्यकालीन कृतियों, प्रवृत्तियों और धाराओं के इतिहास की सामग्री जुटाई जाती रही। इस कार्य में जनश्रुतियों और अप्रामाणिक किम्वदन्तियों को आधार न बनाकर ठोस वैज्ञानिक आधारों का आश्रय ग्रहण किया गया और एक नई दृष्टि का विकास हुआ। यही नहीं वरन् पाठ्यालोचन, भाषा-विज्ञान, इतिहास-शास्त्र, तुलनात्मक समीक्षा और लोक-साहित्य की दिशाओं में ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, जिन्होंने हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र को बहुत विस्तार प्रदान कर दिया है। निस्सन्देह अपनी सांस्कृतिक परम्परा के मूल्यांकन और शास्त्रीय पद्धति के विकास के लिए आज हमारे पास जितने अधिक साधन हैं और उसका क्षेत्र जितना विकसित और विस्तृत हो गया है। हिन्दी-समीक्षक का दायित्व भी उतना ही गहन हो गया है। अपने साहित्यिक विकास की जड़ें परम्परा में और भी गहरी और मजबूत करने के लिए हमें अपनी समस्त परम्परा के प्रत्येक सूत्र के सामाजिक पुनर्मूल्यांकन के कार्य में संलग्न हो जाना है और अपनी सांस्कृतिक विरासत की लोक-परम्पराओं और प्राणवान् धाराओं द्वारा विकसित मूल्यों को पुनः प्रस्थापित करके वर्तमान सांस्कृतिक अभियान को एक वैज्ञानिक उदार जनवादी दिशा प्रदान करनी है।

वर्तमान का प्रश्न आते ही साहित्य के दूसरे पक्ष पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है जिसमें साहित्य वर्तमान समाज-व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग होता है, वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता और उसे प्रभावित करता है। समाज द्वारा मान्य नैतिक धारणाओं की कसौटी पर साहित्य को कसने का प्रयास नया नहीं है, और न साहित्य से सामाजिक समस्याओं के समाधान माँगने का ही प्रयास नया है। भारतीय परम्पराओं में "शिवेतरक्षतये" कहकर उसकी इस स्थिति की ओर संकेत किया गया है और ग्रीक-परम्परा में तो कवि की सामाजिक स्थिति पर समीक्षकों में गहरा मतभेद रहा है। पश्चिम में मध्यकालीन ईसाई-मठ साहित्य के सामाजिक प्रभाव के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। मार्क्सवाद की मौलिकता यह नहीं है कि उसने साहित्य के सामाजिक महत्त्व को पहचाना, उसकी मौलिकता यह है कि साहित्य को उसने अपने राजनीतिक संघर्ष और क्रान्ति-दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-शास्त्र का स्थान दिया और उसके समर्थन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रत्येक युग का साहित्य किसी-न-किसी विशेष वर्ग के प्रचार का साधन रहा है। साहित्य की सामाजिक स्थिति के प्रति यह एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतिवादी दृष्टिकोण है जिसके निराकरण की कई भावभूमियाँ मार्क्स और एंजेल्स से लेकर गोर्की तक के लेखन में मिलती हैं, लेकिन बाद में कुत्सित समाजशास्त्रियों और दलगत स्वार्थों के लिए साहित्य का राजनीतिक दुरुपयोग करने वालों ने इस अतिवादी दृष्टिकोण को विकृति की सीमाओं तक पहुँचा दिया। यह अतिवाद केवल मार्क्सवादी शिविर में ही हो ऐसी बात नहीं है—मध्य काल में जिन धर्मान्ध विजेताओं ने नालन्दा के विशाल पुस्तकालय और कलात्मक वैष्णव-मन्दिरों को कुफ्र करार देकर जला दिया या तोड़ दिया, जिन कैथोलिक पादरियों ने ग्राहम-ग्रीन के उपन्यासों को पापपूर्ण मानने का आन्दोलन चलाया, जिन नाजियों ने आइन्स्टीन को देश-निकाला दिया, जिन राजनीतिक 'कमिसारों' ने 'डास्टावस्की' के साहित्य के पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया, और जिन शुद्धतावादियों ने सूर के साहित्य को कामुक और अनैतिक करार दिया, वे सभी एक ही अतिवादिता के शिकार रहे हैं, वह अतिवादिता; जो अपने एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण साहित्य के सामाजिक उपयोग की सूक्ष्मता को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। ऐसे लोग साहित्य द्वारा समाज का हित चाहते हैं लेकिन अज्ञानपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंग से।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसीमें है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतरकर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी भी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टाल्स्टाय की राजनीति क्या थी, शेक्सपीयर ने अपने समय के किसी दंगे में किसका पक्ष लिया था, तुलसी ने किस सामन्त से दक्षिणा ली थी और टी० एस० ईलियट किस ईसाई-सम्प्रदाय का अनुयायी है, यदि पाठक यह नहीं जानता फिर भी इनका साहित्य उसके हृदय को छूता है, उसकी वृत्तियों को परिष्कृत करता है, उसके सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करता है, उसके व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है, उसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व-भावना को सचेत करता है—संक्षेप में यदि वह उसे जीवन-प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करता है, और समाज की अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता है तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हींका परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसीको पौराणिक और काल्पनिक देश-काल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से, संस्कृति की विराट् प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध उसके माध्यम हैं; और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।

यह तो हुई समग्र रूप में साहित्यिक के सामाजिक देय की बात। वैयक्तिक दृष्टि से भी उसकी कई विलक्षणताएँ होती हैं। प्रत्येक साहित्यकार की समीक्षा-दृष्टि भी उतनी ही पैनी हो यह आवश्यक नहीं। बहुत-से कलाकार ऐसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं जो अनजाने ही इस संस्कृति-निर्माण में अपना देय देते रहते हैं, जबकि वे प्रत्यक्ष रूप से कला की सामाजिक उपयोगिता को न तो स्वीकार ही करते हैं और न अपने को उसका अनुगामी मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी साहित्यकार हैं जो प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष मतवाद के अनुयायी हैं, किन्तु उनके साहित्य में उनकी घोषित नीति के सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। पुनश्च अधिकांश साहित्यकारों में दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं, उनका अनुपात चाहे जो भी हो। और बहुत से कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके घोषित विचार अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। अपनी कला में वे उन्हीं-को प्रतिष्ठित भी करते हैं, किन्तु कहीं-न-कहीं रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध का आश्रय उनसे छूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कला जन-मन में गहरी उतरकर वृत्तियों को संस्कार नहीं प्रदान कर पाती और इसी प्रकार दूसरे ढंग से वह निष्फल सिद्ध होती है।

समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक उपादेयता का मूल्यांकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कुछ सतही, एकांगी और हानिकर दृष्टिकोण उभर आते हैं; जो उसे एक भ्रमपूर्ण स्थिति में डाल देते हैं। संस्कृति केवल धार्मिक कट्टरता, राजनीतिक अवसरवादिता और सतही नैतिकता से अधिक व्यापक है, उसका केन्द्र-विन्दु मनुष्य का समग्र अस्तित्व है; जो कहीं अधिक गहन और बहुमुखी है। संस्कृति और समाज-व्यवस्था के तात्कालिक और दीर्घसूत्री सम्बन्धों के विषय में मार्क्स के बाद के समाजशास्त्रियों ने मानव-शास्त्र (Anthropology) और मनोविज्ञान आदि अन्य कितनी ही वैज्ञानिक पद्धतियों का आश्रय ग्रहण करके इन जटिलताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यदि अपनी विचार-पद्धति में समीक्षक इस नये ज्ञान-क्षेत्र के प्रति जागरूक नहीं रहता तो वह अनजाने ही एकांगिता का शिकार हो जाता है। सामाजिक उपयोगिता पर निर्णय देते समय उसे बहुत गहरे पैठने की आवश्यकता होती है। यह एक खतरनाक किन्तु आकर्षक अस्त्र है और समय-समय पर धर्म, वर्ग तथा राजनीतिक दल समीक्षा के इस अंग का दुरुपयोग करते आए हैं और आज भी कर रहे हैं। निस्संदेह कलाकार और समीक्षक दोनों पक्षधर (Partison) होते हैं किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता का वही रूप नहीं रह जाता जो राजनीतिक स्तर पर रहता है। सेल्डेन राडमन ने एक स्थान पर कहा है: "अगर किसी के लिए भी संघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। अगर किसी के लिए भी संघर्ष में डूबना आवश्यक है तो कलाकार के लिए। उसको पक्ष भी ग्रहण करना चाहिए और फिर भी अपने आधे हृदय की सारी सहानुभूति शत्रु के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए।.....क्रान्ति के दिनों में युद्ध, शान्ति और सामाजिक न्याय की विशाल समस्याओं के सामने वैयक्तिक नैतिक समस्याएँ और जीवन-प्रवृत्तियाँ बिलकुल तिनके के समान लगने लगती हैं—लेकिन कविता यदि कविता बनी रहना चाहती है तो उसे इन सामूहिक समस्याओं का आकलन, इन छोटे केन्द्र-विन्दुओं से उद्भूत भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के आधार पर—दूसरे शब्दों में पार्टी की नीति के बजाय मानवीय मूल्यों के आधार पर करना चाहिए।" आज संसार की जो स्थिति है (और हिन्दी-भाषी प्रदेश उससे अलग नहीं है!) उसमें इन समस्त जटिलताओं में मानवीय मूल्यों के आधार पर कला की सामाजिक उपादेयता समझने की आवश्यकता और भी प्रखर है, क्योंकि शेष आधार कितने अस्थायी, छिछले और हानिकार हैं यह हिन्दी-समीक्षा के पिछले १५ वर्षों में कई बार सिद्ध हो चुका है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीसरे पक्ष अर्थात् रचना-प्रक्रिया और कला की प्रेषणीयता के पक्ष के अध्ययन का तो क, ख, ग भी प्रारम्भ नहीं हुआ है। बहुत समय तक तो इस पक्ष की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया था, किन्तु नई कविता के साथ स्वतः कवियों के वक्तव्यों ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसी अंक में प्रकाशित प्रस्तुत प्रश्न के निबन्धों से स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर एक सर्वथा नई दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। निस्सन्देह इसके लिए विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान एक ठोस आधार हो सकता है; किन्तु सम्यक् रूप से अपनी शास्त्रीय परम्परा से तुलनात्मक अध्ययन किये बिना अपरिपक्व रूप में केवल साहित्यिक फैशन के रूप में पाश्चात्य वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षा-शैलियों को अपनाना सम्भवतः श्रेयस्कर सिद्ध न हो। यही नहीं वरन् यह भी भली भाँति समझ लेना चाहिए कि मनोविज्ञान रचना-प्रक्रिया की यान्त्रिक प्रणाली का ही विवरण देता है। उसकी सजीव प्रेरणा और रागात्मक मूल्य का पूर्ण रहस्योद्घाटन करने में वह आज भी पूर्णतया सम्पन्न नहीं हो पाया है। आस्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिक कार्ल यारचर्स ने मनोविश्लेषण-शास्त्र की कड़ी समालोचना करते हुए कहा है कि "मनोविश्लेषण शास्त्र एक नया विश्वास है जिसके मूल में कुछ अवैज्ञानिक भ्रान्तियाँ हैं।" मनुष्य के व्यक्तित्व को समझने के लिए मनोविश्लेषण जिस सीमा तक सहायक हुआ है उसे वह स्वीकार करता है; किन्तु रुग्ण मन सहज और स्वाभाविक मन का स्थानापन्न नहीं होता। साथ ही मनोविश्लेषण केवल उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है, उसके परिशोधन की ओर उसकी प्रवृत्ति कम है। यहीं पर कार्ल यारचर्स एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता की ओर संकेत करता है जो इन समस्त विचार-सरणियों को समग्रता के एक विराट् दर्शन (Vision) में समाहित कर सके।

जीवन के मौलिक भावों से समीक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने के लिए आज वास्तव में समीक्षक को नया दर्शन (Vision) अपनाना पड़ेगा। इन्हीं अर्थों में पाणिनि और अरस्तू, अभिनव गुप्त और क्रोचे दार्शनिक रहे हैं। किसी ऐसी ही उदार व्यापक भावभूमि में ही उन समस्त विद्वानों, चिन्तन-धाराओं, पद्धतियों और प्रणालियों का सामंजस्य हो सकेगा जो आज इतनी उलझी हुई दीख पड़ रही हैं। वही भावभूमि, हमारे नये साहित्य-सृजन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका बनेगी। उसे प्रस्तुत करने का दायित्व हमारी समीक्षा पर है।

एक ओर हमारे जन-जीवन की ये संकट-पूर्ण संक्रान्ति की घड़ियाँ हैं, हमारे राष्ट्रीय इतिहास का इतना महत्त्वपूर्ण मोड़ है, उससे प्रेरित सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका में समीक्षक का इतना गहन और विराट् दायित्व है और दूसरी ओर हमारी समीक्षा प्रचुर अंशों में अध्ययनशून्य, दायित्वहीन, परम्परा से अनभिज्ञ, दलबन्दियों और पूर्वग्रहों में उलझी हुई है। समीक्षकों की ओर से अक्सर यह आवाज़ उठी है—'साहित्य में गतिरोध', 'साहित्य में बौद्धिक शून्यता', 'बौनों का साहित्य!' किन्तु इन्हीं शब्दावलियों के प्रसंग में कभी हमने अपने समीक्षा-साहित्य की ओर भी ध्यान दिया है? और क्या इसी तैयारी के साथ हम अपने इस विराट् दायित्व को वहन करने जा रहे हैं?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्ध

डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा

भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का क्रमिक विकास : सिन्धु-सभ्यता से रीति काल तक

मनुष्य की सौन्दर्य-अनुभूति केवल व्यक्तिगत ही नहीं होती, उसका एक सामूहिक रूप भी है। इतिहास में जिस काल-विभाग को 'युग' कहा जाता है, उसमें भावना की एकता होती है। उस युग के लोगों का नैतिक दृष्टिकोण उनका धार्मिक विश्वास तथा जीवन के प्रति भाव लगभग समान ही होते हैं, जिसके कारण समाज में सामंजस्य रहता है।

युग-क्रान्ति के साथ जीवन और भावना में भी क्रान्ति उत्पन्न होती है, तथा आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बदल जाने से समाज की व्यवस्था, उसके नियम और अनुशासन, यहाँ तक कि हमारी भावना, विश्वास और जन-रुचि सभी असंगत से प्रतीत होने लगते हैं। यह युग-सन्धि का समय होता है जब एक ओर पश्चिम में अपनी लाल ज्वाल-मालाओं को लिये क्रन्दन, आवेग और पीड़ा के साथ, एक युग अस्त होता दिखाई देता है, और दूसरी ओर दूर क्षितिज में, नवीन युग अपनी प्रस्फुटित किरणों का आकर्षण लिये, उत्साह और उल्लास के साथ उदय होता दृष्टि में आता है। मनुष्य न जाने अब तक कितनी युग-क्रान्तियाँ देख चुका है। इन्हीं क्रान्तियों की कहानी उसका इतिहास है।

आदिम युग :

मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था में किस सौन्दर्य का अनुभव किया, हम इसके विषय में कल्पना ही कर सकते हैं। आदिम मनुष्य ने अपने-आपको अनन्तता से घिरा पाया होगा। उसके चारों ओर अछोर वन, उसके सम्मुख क्षितिज से भी उस पार तक फैला हुआ सागर, उसके ऊपर अनन्त अन्तरिक्ष का नीला आवरण। यद्यपि आज भी ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख हैं, तथापि हमारा अनुभव नगरों, तालाबों, छोटे-छोटे बागीचों और उपवनों आदि से इतना पूर्ण है कि इसमें 'असीम' की अनुभूति को कोई मुख्य स्थान प्राप्त नहीं। आदिम मनुष्य का दूसरा अनुभव स्वच्छन्दता का रहा होगा। अनुशासन, नियम और विधान के अनेक बन्धनों में बँधा हुआ हमारा आज का जीवन इस अनुभव से लगभग अपरिचित-सा है। आकाश में उड़ता हुआ चालक, और जलयान को समुद्र में खेने वाला नाविक भी एक निश्चित मार्ग और नियम का पालन करता है। वह भी 'स्वच्छन्दता' के अनुभव से अनभिज्ञ रहता है, साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या, जो पद-पद पर मार्ग के अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य होता है। आदिम मनुष्य ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने समय में प्रचण्ड आँधियों के वेग को, स्वच्छन्द-गति नदों को और निर्बाध रूप से विचरने वाले पशुओं को देखा होगा। उसके संसार में मार्ग और मर्यादा थे ही नहीं। बन्धन का यह सर्वथा अभाव एक विशेष अनुभूति उत्पन्न करता है, जो (यद्यपि वह आज हमसे दूर है) हमारी सौन्दर्य-अनुभूति के लिए आवश्यक है।

'असीम' और 'स्वच्छन्द' का अनुभव आदिम मनुष्य के जीवन का मुख्य अंग रहा होगा। साथ ही, 'जीवन' का भी स्वयं अनुभव उसने निकटतम होकर किया होगा। सभ्यता और संस्कृति, धर्म और नीति, अर्थ और राजनीति आदि के आवरणों से मनुष्य-जीवन की मूल प्रेरणाएँ आज कुछ तिरोहित और शिथिल-सी हो गई हैं। आदिम अवस्था में प्रतिदिन भीषण झंझा, अग्नि-काण्ड, शिखरों का आस्फालन आदि भयंकर प्राकृतिक घटनाओं का सामना होता होगा। आखेट में जीवन और मृत्यु का निकट से अनुभव होता होगा।

जीवन में 'हर्ष' से भी अधिक प्रेरक-शक्ति 'भय' है। आदिम जीवन में 'भय' का प्रमुख स्थान है। चन्द्र और सूर्य-ग्रहण के अवसरों पर, ज्वालामुखी के उद्गारों, भूकम्पों, ब्रह्माण्डरों, अग्नि-काण्डों और पर्वतों के फटने पर उसका भय कितना तीव्र हुआ होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। सभ्यता के आदि काल में ये प्राकृतिक घटनाएँ प्रायः घटती रहती थीं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में भी नित्य भय का अनुभव करना पड़ता होगा। आदिम मनुष्य ने भय से प्रेरित होकर ही सभ्यता की ओर पग रखा, यह मानना कठिन न होगा। यद्यपि साधारणतया 'भय' उद्वेग उत्पन्न करने वाली भावना है, तथापि आदिम जीवन में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहने के कारण सम्भवतः यही भावना सुख और साहस का भी मूल बन गई होगी। आज भी हमारे सौन्दर्य के अनुभव में, विशेष अवसरों पर, आतंक का पर्याप्त अंश रहता है, जैसे ऊँचे पर्वत-खण्ड, प्रपात, अतल गर्त, जल-प्रवाह आदि भयावह प्राकृतिक दृश्यों को देखने में इनके आकर्षण का मूल इनमें भय उत्पादन करने की शक्ति है। 'भय' का यह आकर्षण आदिम जीवन की एक मूल प्रेरणा थी।

हमने यहाँ आदिम जीवन की व्यापक अनुभूतियों का उल्लेख किया है, ये उस युग की चेतना के मुख्य अंग और आकर्षण थीं। इस चेतना के कोई अवशिष्ट व्यक्त चिह्न तो हमें प्राप्त नहीं, किन्तु कहीं-कहीं गिरि-गुहाओं में गेरू से बने हुए उस समय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र अवश्य पाए जाते हैं। जैसे वन्य वाराह को भाले से छेदने के या किसी भयंकर भैंसे द्वारा पीछा किये जाने के दृश्य गेरू की रेखाओं के माध्यम से अंकित हैं। इन आदिम चित्रों में रेखाएँ सरल हैं, किन्तु उनकी गति स्वच्छन्द है, उनमें चित्र-कला के नियमों की अवहेलना है। परन्तु इसी गति की स्वच्छन्दता से जीवन की तरलता और उसकी उद्दण्ड शक्ति प्रस्फुटित हो उठी है। 'भय' की भावना इन चित्रों का प्राण है।

सिन्धु-सभ्यता :

आदिम अवस्था से लेकर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता तक बहुत समय बीता होगा, ऐसा इतिहासकारों का अनुमान है। इसी अन्ध काल में, हमारे देश में पूर्व की ओर से कई जातियों ने प्रवेश किया और यहाँ के मूल निवासियों की सभ्यता में एक नवीन धारा का संगम हुआ। एक नूतन वातावरण का उदय हुआ, जिसका महत्त्व सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से बहुत है, यद्यपि हमारा घटनात्मक इतिहास इस काल के विषय में मौन है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सौन्दर्य शास्त्र का अनुमान है कि इस काल में 'शिव' चेतना का आविर्भाव हुआ, जो मोहनजोदड़ो और आर्यों के काल तक व्यापक और पुष्ट होकर हमारी तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक भावना का अंग बन चुकी थी। यह 'शिव' क्या है। वस्तुतः यह शिव तत्त्व हमारी आदिम चेतना का जीवन्त प्रतीक है। हमने कहा कि सभ्यता के उदय से पूर्व जब मनुष्य अपने स्वाभाविक रूप में था, तब उसने 'असीम', 'स्वच्छन्द', 'सरल', और 'भयंकर' जीवन का अनुभव किया। यह आदिम अनुभव ही 'शिव चेतना' की मूल भूमि है।

सम्भव है कि पश्चिम की ओर से आई हुई जातियों के सम्पर्क से इसी समय 'शिव-चेतना' में और भी अधिक विकास हुआ हो। उसके साथ शक्ति, त्रिशूल, वृषभ, डमरू, कपाल-माला, ताण्डव नृत्य, प्रलयंकर तृतीय नेत्र आदि वस्तु शिव चेतना को और भी स्पष्ट तथा सजीव बनाने के लिए जोड़ दी हों। कुछ भी हो, आर्य सभ्यता के उदय से पूर्व, शिव की सदेह उपासना व्यापक हो चुकी होगी। ये शिव हमारे सरल, तरल, असीम, स्वच्छन्द किन्तु भयंकर आनन्द के जीवन्त प्रतीक हैं।

वैदिक काल :

वैदिक व्यवस्था में जीवन के प्रति आनन्द और उत्साह की भावना है। परन्तु इसमें दिव्यता और आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। ऋग्वेद-काल के देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि एक ओर तो प्रकृति के दिव्य पदार्थ हैं, किन्तु दूसरी ओर ये आर्य जीवन की ज्वलन्त अनुभूतियाँ हैं। ये उस काल की सौन्दर्य-चेतना के स्फुल्लिंग हैं। आर्य संस्कृति की विराट् कल्पना अपूर्व थी। विराट् जीवन अथवा विश्व-जीवन में पशु, मनुष्य, वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र आदि सभी किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से अपना-अपना काम कर रहे हैं। वह दिव्य शक्ति, जो चराचर की प्रेरक है और जो विराट् जीवन को सँभालती है, 'ऋत्' है। हम विराट् को सत्य भी कहते हैं, क्योंकि उसकी सत्ता है। हमारे अनुभव का सारा जगत् 'सत्य' अथवा सत्ता तथा 'ऋत्' अर्थात् उस सत्ता में व्यवस्था, नियम और विधान से बना हुआ है। ऋत् और सत्य ही विश्व का स्वरूप है, यही हमारे अनुभव का भी स्वरूप है। इसका जन्म 'तप' से होता है। वैदिक साहित्य में 'तप' शब्द का गम्भीर अर्थ है। तप से उत्पत्ति और सृजन होते हैं। वस्तुतः तप का अर्थ सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना होता है।

विराट् जीवन के लिए ही सूर्य तपता और पवन चलता है। सभी प्राकृतिक कार्य 'ऋत्' शक्ति की प्रेरणा से उसी जीवन के पोषण और वृद्धि के लिए चलते रहते हैं। सारे विश्व में कोई भी वस्तु अपने लिए नहीं है। प्रत्येक वस्तु उसीके लिए मानो अपने-अस्तित्व का 'समर्पण' कर रही है। विराट् जीवन के लिए यह आत्म-समर्पण 'यज्ञ' है, जिसमें वन, पर्वत, पशु, मनुष्य और देवता सभी आहुति दे रहे हैं। मनुष्य का जीवन विराट् जीवन का अभिन्न अंग है। वह जितना स्वयं को इस विराट् जीवन से दूर करता है, उसका जीवन भी उतना ही क्षुद्र और दुःखमय बन जाता है। जितना उसके साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करता है, उतना ही वह सुखी, बृहत् और व्यापक हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ही बृहत् और व्यापक है, मनुष्य का मूल स्वरूप ब्रह्म है। इसी विराट् जीवन के साथ 'यज्ञ' द्वारा तादात्म्य प्राप्त करके वह 'ब्रह्मत्व' का अनुभव करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैदिक जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य और धर्म की भावनाएँ अलग-अलग नहीं रह सकती थीं। किन्तु उस समय धर्म ने सौन्दर्य को गम्भीरता और आध्यात्मिकता प्रदान की; और सौन्दर्य के अनुभव ने धर्म को केवल शुष्क आडम्बर ही न रहने दिया प्रत्युत उसे सरस और हृदय-ग्राह्य बना दिया। वेद को धार्मिक साहित्य अथवा काव्य-साहित्य कहना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसमें धर्म की गम्भीरता के साथ-साथ काव्य की सरसता का भी स्वाभाविक सम्मिश्रण है।

रामायण काल :

वैदिक काल से लेकर रामायण काल तक बहुत समय बीत चुका था, क्योंकि अब सामूहिक जीवन का केन्द्र प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से हटकर मानव-जीवन की राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक समस्याएँ बन गई थीं। यदि हम आदिम मनुष्य की अनुभूति को 'प्राकृतिक सौन्दर्य' और वैदिक युग की अनुभूति को 'दिव्य सौन्दर्य' कहें तो हम रामायण काल की अनुभूति को 'मानव-सौन्दर्य' कह सकते हैं। इस समय राजनीतिक परिस्थितियाँ जटिल हो गई हैं; सत्य और असत्य, प्रतिज्ञा-हानि, कर्तव्य-पालन आदि के नैतिक प्रश्न उपस्थित हो गए हैं।

रामायण में संघर्ष दो प्रकार का है। पहला राम और रावण का, जो वस्तुतः जीवन के सामंजस्य और केवल अनियन्त्रित भोग-भावना का संघर्ष है। रावण उस भोग-इच्छा का प्रतीक है, जो नीति, धर्म, पाप, पुण्य आदि के विधान में नहीं रहना चाहती। राम में जीवन के विविध अंगों का सामंजस्य है। परन्तु दूसरा संघर्ष राम के स्वयं व्यक्तित्व में है। यह संघर्ष भोग और भाग्य का संघर्ष है, जिसका मूल रूप रामायण की क्रौंच-कथा में व्यक्त किया गया है। क्रौंच और क्रौंची का वन में स्वच्छन्द विहार भाग्य को कहाँ भाता है? व्याध ने शर-प्रहार से उनके सुख का अन्त कर दिया। ऋषि वाल्मीकि ने जब यह देखा तो इस घटना में उन्हें सम्पूर्ण मानव-जीवन का रहस्य मिल गया। उनका कोमल हृदय शोक से छटपटा उठा और उनकी कवि-प्रतिभा जीवन के इस करुण रहस्य के उद्‌घाटन के लिए उद्‌बुद्ध हो उठी। उनका शोक श्लोक बनकर व्यक्त हुआ। वस्तुतः सौन्दर्य के अनुभव में 'शोक' को इतना महत्त्व देना ही वाल्मीकि की देन है।

रामायण के 'मानव-सौन्दर्य' का सार यह शोक है। केवल अनियन्त्रित भोग और आनन्द से सौन्दर्य-चेतना जाग्रत नहीं होती। शोक की पुट के बिना आनन्द का स्तर नीचा रहता है। शोक आनन्द को उदात्त, तीव्र और स्पष्ट बनाता है। मनुष्य जिसे 'सुन्दर' कहता है, उसके भोग में भाग्य का शर बिंधा हुआ है, उसके संयोग में वियोग का निरन्तर भय विद्यमान है। रामायण के शोक को कर्तव्य, सत्य आदि की नैतिक भावना ने और भी उदात्त बना दिया है। यह शोक रोना-धोना नहीं है। राम अपने जीवन के सम्पूर्ण धैर्य के साथ, अपने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को न त्यागकर नियति के विधानों का सामना करते हैं। इस संघर्ष से सामंजस्य उत्पन्न होता है। सामंजस्य के कारण राम की करुणा साधारण न रहकर अद्‌भुत सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति को उत्पन्न करती है। आनन्द की अनुभूति में राम का 'उदात्त शोक' उसका तत्त्व है। सौन्दर्य में 'करुणा' को उचित स्थान देना रामायण का महत्त्व है।

महाभारत काल :

महाभारत काल की सौन्दर्य-भावना में कई धाराएँ बहती हैं, (क) आदिम काल की स्वच्छन्द भोगेच्छा, किन्तु यह जीवन की जटिलता में इतनी उलझ गई है कि इसका स्पष्ट रूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहीं-कहीं ही दृष्टिगत होता है। (ख) नियति एवं मर्यादा तथा देवताओं का प्रसाद और कोप भी मनुष्य की स्वच्छन्द गति का विरोध करते हैं। (ग) वैदिक काल की विराट् दृष्टि ने भोग और मर्यादा के क्रूर संघर्ष को, रामायण की भाँति करुणा से आप्लावित न करके, वीरता और वैराग्य से मिश्रित कर दिया है। इन तीनों धाराओं के संगम से इस काल का बृहत् सौन्दर्य-प्रवाह बना है। इनकी समष्टि और सामंजस्य कृष्ण के व्यक्तित्व में विद्यमान है।

महाभारत मानसिक जगत् की एक घटना है। यह संघर्ष है, जिसमें एक ओर कौरव-दल के रूप में प्राकृतिक बल, भोग की अनन्त लालसा और ऐश्वर्य का मद है। दूसरी ओर यह सब है, किन्तु साथ ही, नीति, धर्म और मर्यादा का बन्धन है, जिसके कारण पाण्डव सदा भटकते रहे। इस बन्धन को बिना शिथिल किये हुए, आत्मा को वीर बनाने वाला जीवन में विराट् दृष्टिकोण है। महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व कृष्ण ने गीता के उपदेश के रूप में इसी दिव्य दृष्टि के द्वारा अर्जुन को जीवन का विराट् स्वरूप दिखाया। हमारा जीवन काल के अनन्त, अनादि और अगाध स्रोत में एक छोटा-सा प्रवाह है। इसको स्रोत से अलग करने में वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। परन्तु अनन्त और सनातन धारा में सहस्रों सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि बहते दिखाई देंगे। अर्जुन जिन वीरों से भयभीत था और अपनी वीरता का उसे जो मद था, वे सब और स्वयं भी, काल की दाढ़ों में उलझे हुए दिखाई पड़े। हमारी मानव-दृष्टि, जो बहुत दूर आगे या पीछे नहीं जाती, विराट् के इस सनातन और भव्य रूप को देखकर भयभीत हो जाती है। यदि हमें अर्जुन की भाँति दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाय तो हमारे व्यक्तिगत सुख और दुःख, जय और पराजय, पुण्य और पाप, स्नेह और द्रोह, हमारा स्वयं जन्म और मृत्यु, यहाँ तक कि सृष्टि और प्रलय सभी अनन्त प्रवाह की क्षुद्र तरंगों की भाँति प्रतीत होने लगें। जीवन में विराट् दृष्टि से मोह दूर हो जाता है, आँखें उज्ज्वल और तेजयुक्त, गति में वीरता और हृदय में एक अद्भुत प्रसाद का आविर्भाव होता है। व्यास ने हृदय के इस गम्भीर अनुभव को 'शान्ति' कहा है। जिस प्रकार रामायण में संघर्ष के अनन्तर सामंजस्य से 'करुण' अथवा 'उदात्त शोक' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार महाभारत में जीवन के जटिल संघर्ष से कृष्ण के व्यक्तित्व में जो सामंजस्य उत्पन्न होता है, उससे 'शान्ति' अथवा 'शान्त रस' की अनुभूति का जन्म होता है।

'शान्त रस' हमारी सौन्दर्य-चेतना का अंश है। यद्यपि कृष्ण ने जिस 'शान्ति' के अनुभव का उपदेश दिया है, वह संन्यासियों की काषाय-ग्रहण से उत्पन्न शान्ति नहीं है, तथापि उसमें संन्यासियों की त्याग भावना, निर्मोह दृष्टि, और मनःप्रसाद विद्यमान है। जीवन की अनन्तता की उत्कट अनुभूति तो सांसारिक जीवन में संघर्षों से घिरे रहकर ही होती है। विराट् जीवन में व्यक्ति का जीवन लघु तरंग, विराट् यज्ञ की एक आहुति अथवा विशाल सत्ता की अनन्त दिशाओं में बिखरी हुई जड़ों, शाखाओं वाले अश्वत्थ वृक्ष का एक छोटा पल्लव है। गीता के अनुसार संघर्ष से सामंजस्य और सामंजस्य से इस 'शान्ति' कहलाने वाले अनुभव का जन्म होता है। सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ अनेकों कथानकों और प्रसंगों द्वारा इसी 'संघर्ष से सामंजस्य और सामंजस्य से शान्ति' के आविर्भाव की गाथा है।

महाभारतकार ने, अपने युग की नवीन परिस्थिति में, वैदिक काल की विराट् दृष्टि को लाने का प्रयत्न किया था। युद्ध के भयंकर जन-क्रन्दन का शोक ज्यों ही समाप्त होने लगा, सामूहिक जीवन में, नवीन दार्शनिक दृष्टि से, अवश्य ही निर्मलता का आविर्भाव हुआ। निर्मल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और स्वच्छन्द आनन्द की भावना जगी। यज्ञों का प्रचार और विस्तार होने लगा। शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थापना हुई, और कला और साहित्य के सृजन के लिए उत्साह और प्रेरणा मिली। प्राचीनतम पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शकों के प्रस्थान ग्रन्थ, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त, आयुर्वेद आदि शास्त्र, इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र, काव्य आदि साहित्य का निर्माण हुआ। महाभारत का यह उत्तर काल अत्यन्त उर्वर काल रहा है। इस समय की सामूहिक चेतना में आदिम काल से लेकर उस समय तक की सारी प्रवृत्तियाँ आकर मिल गई हैं। अतः जीवन व्यापक, सर्वांगीण और सर्वतोमुखी हो गया है। इस समय के शान्त वातावरण में साहित्य, कला और दर्शन न केवल अंकुरित हुए, प्रत्युत वे पुष्ट और विकसित भी हुए।

हमें इस युग के साहित्य, कला और दर्शन-ग्रन्थों के अतिरिक्त मूर्ति तथा भित्ति-चित्र आदि के रूप में कुछ नहीं मिलता, इन ग्रन्थों के और फिर ईसा पूर्व चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के कला-अवशेषों के आधार पर इस युग की सौन्दर्य-चेतना के विषय में हम अनुमान कर सकते हैं। भरत का नाट्य-शास्त्र (जिसमें नाटक, नाट्य, नृत्य, संगीत, रस, विभाव, अनुभाव आदि का सांगोपांग वर्णन मिलता है) अवश्य ही कई शताब्दियों की विचार-धारा का समन्वय और समष्टि है। पुराणों में दिव्य लोकों की विभूतियों का वर्णन है। नाटकों में भित्ति-चित्र, चित्र-पट आदि का उल्लेख है, अलंकार और वस्त्र-भूषा आदि के वर्णन हैं। दर्शन, साहित्य और निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र में जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों और विभूतियों पर गम्भीर विचार किया गया है। इससे महाभारत के उत्तर काल की सामूहिक और सृजन के लिए उत्सुक चेतना तथा उर्वर प्रतिभा का स्पष्ट पता लगता है।

ईसा-पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दी में सारनाथ के 'सिंह स्तम्भ', साँची, भारहुत तथा अन्य कई स्थानों में पाये गए यक्ष और यक्षिणियों की मूर्तियाँ आदि उस समय की कला के प्रतिनिधि स्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं। ये मौर्यकालीन सौन्दर्य-भावना के प्रस्तर-खण्डों में अंकित अमर प्रतीक हैं।

बौद्ध काल :

प्रत्येक युग चूड़ान्त पर पहुँचने से पूर्व ही अपनी विरोधी प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कर देता है। हम यह तो निश्चय पूर्वक नहीं जानते कि हमारा उपलब्ध दर्शन-साहित्य बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पूर्व या पश्चात् का है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध जीवन से विच्छिन्न-सा हो चला था, गौतम भी इन्हीं दर्शन-केन्द्रों में शान्ति के लिए गए। किन्तु वहाँ उन्हें दर्शन की गूढ़ता और तर्क की नीरसता ही मिली, जिससे जीवन की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और भी उलझ जाती हैं। गौतम की पहली प्रतिक्रिया इसी शुष्क और निर्णयशून्य दार्शनिक शैली का विरोध थी।

बुद्ध का मूल उपदेश केवल इतना ही था कि संसार दुःखमय है, इस दुःख का कारण अवश्य है, इस दुःख का निर्मूलन होना चाहिए, और इसका निर्मूलन होना सम्भव है। सब दर्शनों की उलझन के स्थान पर सीधा, समझने योग्य यह उपदेश था। बौद्ध-धर्म में 'सुख' और 'सरसता' के लिए स्थान न था। जीवन वासनाशून्य होना चाहिए। परन्तु यदि जीवन स्वयं ही अमिट वासना है, तो इस 'शून्यता', अनन्त शून्यता की अनुभूति ही साधना का लक्ष्य है।

एक ओर चेतना की वह धारा, जिसका उद्गम महाभारत के उदात्त आदर्शों से हुआ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

था, अनेक स्रोतों और प्रवाहों को लेकर बह रही थी। इसमें दर्शन की गम्भीर दृष्टि, वेद की व्यापकता, आदिम काल की स्वच्छन्द आनन्द-भावना, यज्ञों के प्रसार से अनेक दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना; नृत्य, संगीत, काव्य के विकास से रस की अनुभूति आदि सभी विद्यमान थे। जीवन की सहस्र धारा जाह्नवी में, दूसरी ओर से बुद्ध की वैराग्यमयी करुणा, शान्ति और शून्यता का संगम हुआ। 'संगम' इसलिए कि वह शून्यता और शान्ति जीवन के प्रवाह में बहुत काल तक अलग न रह सकीं। फलतः इस शून्यता में सरस भावों का आविर्भाव होने लगा। बुद्ध के जीवन के विषय में सरस कल्पनाएँ की गईं। उनके जीवन के चित्रण के लिए रंग और तूलिका, शिला-खण्ड और टाँकी का प्रयोग किया गया। उस विरागी के वैराग्यमय जीवन को व्यक्त करने के लिए पहाड़ों, गिरि-गुहाओं को खोदकर अनन्त धन और अथक परिश्रम द्वारा मन्दिरों और भित्ति-चित्रों का आयोजन किया गया। वस्तुतः बुद्ध ने जीवन के लिए शून्यता रूप नवीन आदर्श उपस्थित किया, किन्तु उसकी तरल धारा ने उस शून्यता को रस, आनन्द और सौन्दर्य के वैभव से भर दिया।

जीवन की इस बहुमुखी धारा की अभिव्यक्ति 'मथुरा की कला' : ईसा की पहली शताब्दी में हुई है। अजन्ता की चित्रकारी का प्रारम्भ इसी युग की सौन्दर्य-चेतना को रंग और रूप देने के लिए हुआ। जीवन के बहुमुखी विकास और वैभव से अवश्य ही आनन्द की प्रखर अनुभूति उत्पन्न हुई होगी, उल्लास और उत्साह उमड़ा होगा, क्योंकि इनके बिना पहाड़ों को खोदकर स्तम्भों, प्रकोष्ठों और मन्दिरों का निर्माण करना, रेखाओं और रंगों से ओज-ऐश्वर्य, अनन्त करुणा, वैराग्य, आनन्द आदि को व्यक्त करना, पत्थर की बुद्ध-मूर्तियों में टाँकी के बल से आध्यात्मिक चेतना और उदात्त जीवन को जागृत कर देना सम्भव नहीं था। आश्चर्य नहीं कि यह चेतना यहीं तक सीमित न रह सकी, और ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशों में स्तूपों, मन्दिरों और मूर्तियों में अभिव्यक्त हुई।

गुप्त काल :

बौद्ध धर्म ने जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, वह हमारे सामूहिक जीवन की पुरातन और गम्भीर धारा में घुल-मिल गई। इसका तिरोभाव अथवा पतन नहीं हुआ, किन्तु रूपान्तरण अथवा संश्लेषण हुआ। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म की शून्यता में निराकार ब्रह्म की स्थापना की गई, निर्वाण का स्थान मोक्ष ने लिया, वैराग्य और संन्यास का स्थान वैसा ही रहा। इस प्रकार एक ओर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का बीजारोपण हुआ। दूसरी ओर इसी शून्यता में सरसता का संचार हुआ, बुद्ध के जातक-ग्रन्थों के साथ ही अवतारवाद ने जन्म लिया, दिव्य लोकों और भोगों की कल्पना प्रारम्भ हुई, पुराणों की रचना से मनोरम भावों के प्रतीक विष्णु, राम, कृष्ण, आदि की लीलाओं का प्रचार हुआ। देश के वैभव-सम्पन्न और शान्त वातावरण में कला, साहित्य, काव्य, दर्शन और शास्त्रों का सृजन हुआ। यह भारतवर्ष में गुप्त काल था। यह स्वर्ण युग था, क्योंकि देश के आनन्द, चेतना और उर्वर प्रतिभा ने अपने चरम विकास पर पहुँचकर अजन्ता, सारनाथ, मथुरा, यहाँ तक कि देशान्तरों में मध्य एशिया से लेकर लंका तक और फ़ारस से लेकर चीन तक, मूर्तियों और चित्रों की सृष्टि की। गुप्त काल की मूर्तियों और चित्रों में मथुरा-कला की अपेक्षा यह विशेषता थी कि रेखा की स्वच्छन्द गति, ओज और उल्लास का स्थान संयम, रूप की कोमल सरसता और गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति ने ले लिया था। शक्ति से अधिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भावना के परिपाक का सम्मान था। इस काल की बुद्ध-मूर्तियों और गुहा-चित्रों में शान्ति, ध्यान-मुद्रा, करुणा, आत्म विजय का आनन्द, वैराग्य आदि आध्यात्मिक वैभव का परिपक्व रूप में अंकन हुआ है। इसके सुन्दर उदाहरण अजन्ता के चित्रों में अवलोकितेश्वर पद्मपाणि का चित्र और सारनाथ की बुद्ध-मूर्तियाँ हैं।

अपने चूड़ान्त विकास को पहुँचकर गुप्त युग की पल्लवित और पुष्पित आनन्द-चेतना शाखाओं में विभक्त होने लगी। कई धाराओं के मिश्रण से यह पुष्ट हुई थी, इसी पुष्टि के फल-स्वरूप इसका भिन्न-भिन्न पहलुओं में विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। धार्मिक भावना और आनन्द-भावना में अन्तर उत्पन्न हुआ, जिससे एक ओर मन्दिरों और मूर्तियों, अवतार और जातक के कथानकों का अंकन हुआ, और दूसरी ओर केवल सौन्दर्य के आस्वादन के लिए, सुन्दरी और उनकी लीला तथा विलासों का ललित कला के रूप में सृजन हुआ। यद्यपि धार्मिक कला और ललित कला का यह भेद मौर्य काल में ही प्रारम्भ हो चुका था तथापि ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में यह स्पष्ट हो गया। इन दोनों धाराओं का विकास भिन्न-भिन्न मार्गों में हुआ। धार्मिक कला में मन्दिरों, मूर्तियों का निर्माण और चित्रण प्रधान था। भाँति-भाँति के देवताओं, अवतारों, दिव्य पुरुषों के मान और माप, उनकी मुद्रा और ध्यान-मन्त्र, देवताओं के वाहन, उनकी पत्नियों और विभूतियों इत्यादि का आविष्कार किया गया। इन विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। मध्य काल के उदय होते-होते वराह भगवान्, सूर्य, नन्दीश्वर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की अनगिनत मूर्तियों से सारा देश परिपूर्ण हो गया। वैष्णव, शैव और शाक्त शाखाएँ भी कला के क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं, जिसके फलस्वरूप उत्तर में विष्णु और वैष्णव धर्म की मूर्तियाँ और मन्दिर बने, दक्षिण में शिव-मूर्तियों और शैव-मन्दिरों का निर्माण हुआ, पूर्व के प्रान्तों में शाक्त मन्दिरों और मूर्तियों का सृजन हुआ। मान-ग्रन्थ लिखे गए। एलोरा, एलीफेण्टा के मन्दिर, नटराज की धातु-मूर्तियों, जगन्नाथ, द्वारिका, सोमनाथ आदि का आविर्भाव इसी धार्मिक कला के विकास के सम्बन्ध में हुआ।

ललित कला भी धार्मिक कला से पीछे न रही। नायक और नायिकाओं के अनगिन भेद हुए, उनके लीला-विलासों, पक्षियों और पशुओं के साथ क्रीड़ा, स्नान, विहार, प्रेम-पत्र आदि लिखना, और इसी प्रकार जीवन के सभी आनन्दपूर्ण अवसरों का चित्रण और अंकन हुआ। भुवनेश्वर, खजुराहो आदि की कला ललित कला के विकास के नमूने हैं। कला का शास्त्रीय रूप भी स्पष्ट होने लगा तथा अनेक शिल्प और मुद्रा-ग्रन्थों की रचना हुई।

आठवीं शताब्दी का सबसे महपूर्णत्व आविष्कार 'ध्वनि' है। वस्तुतः सौन्दर्य-आस्वादन में रस का स्थान तो है ही, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति इस कौशल के साथ होनी चाहिए कि हमारे मन और बुद्धि में आनन्दमयी क्रिया उत्पन्न हो। वह पिहित (ढका हुआ) भी हो, किन्तु घंटा बजाने के पश्चात् जिस प्रकार वह देर तक अनुरणन और स्पन्दन करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी रस की अनुभूति से देर तक अनुरणन करता रहे। रसानुभूति में आनन्द को उत्पन्न करने वाला तत्त्व 'चमत्कार' कहलाया, और रसाभिव्यक्ति का यह प्रकार 'ध्वनि' माना गया।

ध्वनि के आविष्कार के अनन्तर विचार दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक ओर रस-प्रधान और दूसरी ओर ध्वनि-प्रधान शास्त्रों का निर्माण हुआ। इसका प्रभाव कला पर पड़ा। रस-प्रधान कला में भाँति-भाँति से रसों का साक्षात्कार कराने का प्रयत्न किया गया। इनमें शृङ्गार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रस को प्रधानता मिली, और शृङ्गार के प्रतीक 'राधा-कृष्ण' का कला में जन्म हुआ। 'शृङ्गार-तत्त्व' की गवेषणा की गई और काम-तत्त्व के साथ इसकी एकात्मकता स्वीकार हुई। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कला को जन्म देने वाली प्रतिभा और प्रेरणा निर्बल हुई तब इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ ऐसे साहित्य, चित्र और मूर्तियों का निर्माण हुआ जिनमें शृङ्गार के स्थान पर कुरुचि और वासना की गन्ध आती है। उधर, ध्वनि-प्रधान विचार-धारा में रसानुभूति के प्रकार को समझने के लिए 'वक्रोक्ति', 'काव्यानुमिति' आदि का आविष्कार हुआ। कला में इसका प्रभाव मूर्तियों, चित्रों और मन्दिरों के निर्माण में गम्भीरता लाने के लिए हुआ। प्रत्येक रूप, रंग और रेखा के स्पष्ट, साक्षात् अर्थ को छोड़कर उनके ध्वन्यात्मक अथवा ध्वनित अर्थों का पता लगाया गया। फलतः काव्य और कला में गम्भीरता के स्थान पर गूढ़ता और अस्पष्टता आ गई। तन्त्र-शास्त्रों का भी इसी समय प्रचार हुआ। चित्रों की भंगिमा और मुद्राओं का तान्त्रिक अर्थ लगाया गया। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के साहित्य और कला-रचनाओं में प्रसाद गुण नहीं है। वे क्लिष्ट और दुरूह कल्पनाओं से ढक-सी गई हैं।

विदेशी प्रभाव :

मध्यकालीन जीवन को समझने के लिए हमें एक नवीन प्रभाव का अध्ययन करना है, जो पहले यूनान और फिर इस्लाम के सम्पर्क से भारतवर्ष को मिला। यह यूनानी प्रभाव भारतवर्ष में सिकन्दर के साथ आया, और एक विशेष क्षेत्र में इसने कला को जन्म दिया। जिसे हम गान्धार-कला कहते हैं। किन्तु देश की अपनी परम्परा इतनी सजीव थी कि यह उसे आच्छादित या ग्रस्त न कर सका। कुछ समय बाद इसी यूनानी प्रभाव का मुसलमानी संस्करण हुआ, और ग़ौरी तथा ग़ज़नवी के आक्रमणों के साथ यह देश में आया। इस समय परिस्थिति भिन्न थी, देश की मूल चेतना निर्बल और सृजन की शक्ति शिथिल हो चुकी थी, कारण सम्भवतः राजनीतिक रहे हों, किन्तु इस अवस्था में नवीन प्रभाव यहाँ आया और जम गया। देश की सामूहिक चेतना में इसकी धारा मिल गई, किन्तु कुछ कारणों से, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे, यह हमारे जीवन की मूल भावना के साथ एकात्मकता न पा सकी। इसलिए हमने इस प्रभाव को विदेशी कहा है।

प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति दार्शनिकों, गणितज्ञों और साहित्यिकों की सभ्यता और संस्कृति है। इसमें प्लेटो के आदर्शवाद, पाइथोगोरस के गणित और होमर की साहित्य-कला की त्रिवेणी है। गणित और विज्ञान के अध्ययन ने यूनान देश के जीवन में नियम और अनुशासनप्रियता को उत्पन्न किया, गणित में कोमल, करुण आदि भावनाओं के लिए स्थान नहीं। वहाँ नियम का बन्धन और अनुशासन की कठोरता रहती है। गणितज्ञ का आनन्द, यदि हम इसे आनन्द कहें, आधारभूत कल्पनाओं से चलकर प्रत्येक पद पर नियमानुसार, शुद्ध निष्कर्ष तक पहुँच जाना है। नियम में जड़ता, स्थिरता और आदर्श का अनुभव होता है। यूनान में ज्यामिति के अध्ययन से वृत्त, रेखा और इनसे बनी हुई अनेक ज्यामितिक आकृतियों का आविष्कार हुआ। गणितज्ञ ने इन आकृतियों में, स्त्री-पुरुषों की जीवित आकृतियों में नहीं, एक अपूर्व सौन्दर्य का अनुभव किया।

यद्यपि भारतवर्ष में भारतीय मूल चेतना के उदय से यूनानी प्रभाव समाप्त हो गया, फ़ारस आदि मध्य-पूर्व के देशों में यूनानी साम्राज्य के साथ-साथ यह प्रभाव भी जीवित रहा। इस्लाम के आविर्भाव ने उसमें 'एकता' और 'समानता' की भावना को और जोड़ दिया। धार्मिक मतान्धता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तथा अन्य कारणों से अरबी धर्म के साथ कला का विकास तो नहीं हो सका, किन्तु इस्लाम की इन मूल धारणाओं का समस्त प्रभाव जब फ़ारस की सरस भूमि पर पड़ा और यूनानी प्रभाव से इसका सम्मिश्रण हुआ तो एक नवीन सौन्दर्य के आदर्श का जन्म हुआ। यह सौन्दर्य रेखा, वृत्त, ज्यामितिक आकृतियों का सौन्दर्य था। इनको मिलाकर 'एकता' और 'समानता' की भावना उत्पन्न करने से एक 'सुन्दर' आकृति का उदय होता है। भाँति-भाँति के बंकों और रेखाओं के संयोजन से (जिसमें विविधता के साथ समानता, 'अनेक' के साथ 'एक' का सामंजस्य विद्यमान हो) फ़ारस की कला का जन्म हुआ। अरब देशों ने जिस विशालता और स्थिर जीवन का अनुभव किया था, जिसके फलस्वरूप मिस्र के पिरामिडों का निर्माण हुआ। यदि हम इसमें वह प्रवृत्ति और जोड़ दें, तो पूर्णरूपेण 'मुसलमानी कला' का आदर्श हमें मिल जायगा। पत्थरों के विशाल स्मारक और मस्जिदें, गोल गुम्बदें और ऊँची मीनारें, जिनमें पत्थर की कटी जालियाँ, पच्चीकारी, मखमली कोमल फ़र्श, बाग और फव्वारे, किन्तु ये सब मिलकर 'एकता' के सूत्र में ग्रथित, यह मुसलमानी कला की रूप-रेखा है, जिसका प्रभाव, मुसलमानी शक्ति के साथ, इस देश में आया और यहाँ आकर और भी समृद्ध और विकसित हो गया।

मुगल काल :

भारत में मध्य युग का प्रथम प्रहर आरम्भ हुआ। यह आतंक निराशा, पराजय और संघर्ष का समय था। राजपूत राजाओं की विलासप्रियता में पड़कर सौन्दर्य-चेतना और उससे उत्पन्न होने वाली कला भी विलासिनी हो गई थी। ऐसे समय में जब धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर मुसलमानी आक्रमण हुआ तो राष्ट्र का ऐतिहासिक प्रवाह गम्भीर होकर अन्तस्तलों पर बहने लगा। सारा वायु-मण्डल रण-नाद से गूँज उठा, तूलिका के स्थान पर तलवार सँभाली गई, नृत्य समाप्त हुआ।

विजेता और विजित के संघर्ष से सौन्दर्य के स्थान पर शौर्य तथा कोमलता के स्थान पर दृढ़ता का आदर हुआ। मध्य युग के प्रारम्भ में जहाँ एक ओर सन्तों की वाणी ने पुराने आदर्शों के पुनर्जागरण से जन-जीवन को सुरक्षित रखा वहाँ दूसरी ओर दृढ़ दुर्गों के निर्माण हुए। सारा राजस्थान और मध्यभारत इन्हीं दुर्गों से परिपूर्ण है। ये दुर्ग, जो पहाड़ों को काटकर भयंकर घाटियों, वन-प्रदेशों, झीलों आदि के मध्य में बनाये गए हैं, उस समय की वीर-भावना के चिह्न हैं। इनमें विशालकाय फाटक, जिनमें चमचमाती लोहे की कीलें गड़ी हैं, भयंकर तोपें और हथियार, लोहे के कवच और शिरत्राण आदि हैं; जो उस समय की विकट भावना की सूचना देते हैं। इस काल में न मन्दिर बन सके, न मूर्तियों का निर्माण हुआ और न चित्रों का अंकन ही हो सका।

परन्तु समय बीतने पर सम्पर्क से एक-दूसरे के प्रति स्नेह और आदर उत्पन्न हुआ। हिन्दू-संस्कृति की सामंजस्य उत्पन्न करने की शक्ति फिर से जगी। भाषा, भूषा और भाव के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ अपने-अपने अस्तित्व को बिलकुल भुलाकर एक न हो सकीं, तथापि साथ रहने की आवश्यकता ने दोनों में रूपान्तर अवश्य कर दिया। इस समय हम अपने सामूहिक जीवन में तीन स्पष्ट धाराओं को देख पाते हैं, जिनका नीचे उल्लेख है।

(क) इसे हम जीवन की 'राजसी' धारा कहेंगे। दिल्ली के सम्राट्, विशेषतः मुगल-सम्राट् और उनको आदर्श मानने वाले राजा और नवाब वैभव और विलासिता, शक्ति और ऐश्वर्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तथा आतंक के मानो जीवित प्रतीक थे। इस युग के समस्त भौतिक साधन जीवन की इसी राजसी धारा को सँभालने और पुष्ट बनाने में लगे हुए थे। जिसे हम जीवन का ऊपरी स्तर कहते हैं, उसमें आध्यात्मिक गम्भीरता, कवि की वेदना, दार्शनिक की दृष्टि अथवा धर्म की सहृदयता और सरसता का कहीं नाम न था।

इस युग के भवनों, चित्रों और दुर्गों में जाने से इनका 'राजसी प्रभाव' हमें आतंकित-सा करता प्रतीत होता है। अजन्ता के चित्रों अथवा एलोरा आदि के मन्दिरों में हमें दिव्य आनन्द और निर्भय जीवन का अनुभव होता है, किन्तु इस काल की सैकड़ों की संख्या में बनी मस्जिदों में वैभव, शक्ति, राजसी आतंक और विलासिता की भावना उठती है। सिकन्दरा, फतहपुर सीकरी, आगरा, दिल्ली और लखनऊ में जहाँ भी इस भावना की अभिव्यक्ति के चिह्न अवशिष्ट हैं, स्मारक, समाधि अथवा महल, अपनी मूल्यवान् पत्थरों की निर्मित काया से, वर्षों के अथक परिश्रम और अनन्त धन से की गई पच्चीकारी और मीनाकारी से दर्शक के ऊपर अपने आतंक और शान का सिक्का बैठाते हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि हमारी सौन्दर्य की अनुभूति में आतंक और शान का निश्चित स्थान है। इससे हमें 'आनन्द' मिलता है। क्यों? यह एक अलग प्रश्न है। यहाँ इतना पर्याप्त है कि भावना की दृष्टि से इस युग की कृतियों की सुन्दरता का रहस्य इनमें आतंक और शान की भावना को उत्पन्न करने की शक्ति है।

ताजमहल इसी राजसी धारा में मुगल-शक्ति की प्रखर आलोक-रश्मियों से खिला हुआ पूर्ण पद्म है। ताजमहल में भारत का वैभव, फारसी कला की कोमलता, इस्लाम की 'एकता' और 'समानता' की भावना तथा शक्तिशाली मुगल-सम्राट् के उत्कट दाम्पत्य-प्रेम का विलास है। यह सम्भव ही नहीं, सत्य है कि बहुत से मनुष्य शाहजहाँ की भाँति ही अपनी पत्नी से प्रेम करते हैं, तो भी संसार में ताजमहल केवल एक ही बन सका है। इसका उत्तर केवल इतिहास ही दे सकता है। वह उत्तर यह है, इसके निर्माण के लिए भारत की खानें और मणियाँ चाहिएँ, अनन्त धन और श्रम चाहिए, यमुना का नील किनारा और सदा बहार वनस्पति चाहिए, और चाहिए यूनान की गणित और अनुशासन-प्रधान कला, इस्लाम धर्म का उदय, फ़ारस में यूनानी कला का कोमल परिकल्पनाओं से पूर्ण विकास, मिस्र और भारत के पिरामिड, स्तूपों और मन्दिरों के शिखरों, गोलाइयों और गुम्बदों के विकास का इतिहास। ये सब मिलकर शाहजहाँ के प्रेम और मुमताज महल के सौन्दर्य के प्रतीक 'ताजमहल' की सृष्टि करने में समर्थ हो सकते हैं। यह 'राजसी भावना', जिससे ताजमहल का जन्म हुआ, हमारे देश में अंग्रेजी युग के प्रारम्भ तक, क्षीण ही दशा में सही, जीवित रही।

(ख) राजसी स्तर के नीचे जीवन की एक और धारा बहती थी, जिसके प्रतिनिधि यहाँ के छोटे सामन्त और सरदार थे। मनोरंजन और ठाठ-बाट से जीवन बिताना इनका उद्देश्य था। काव्य और कला अपनी पूरी शक्ति से इस उद्देश्य की सिद्धि में लग गए। बिहारी और देव इसी युग-चेतना के प्रतिनिधि हैं। चित्र-कला में अजन्ता की आध्यात्मिक भावना नहीं है, उनमें केवल चित्रण प्रधान है, जिनमें राधा और कृष्ण के विलासों, राज-प्रासाद की क्रीड़ाओं, ऋतुओं तथा उद्यान-विहारों का अंकन हुआ है। मुगल-दरबार में भी चित्र-कला का विकास हुआ था। अधिकतर इसमें दरबार की शान-शौकत, सेनाओं की सजावट आदि के चित्र हैं। अकबर ने महाभारत और रामायण के प्रसंगों का भी चित्रण कराया था। इस काल के सुन्दरतम चित्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'रागमाला' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें 'ध्वनि' को 'रूप' देने का प्रशंसनीय प्रयत्न हुआ है, इसी समय हिमाचल के प्रान्तों में भी कला का विकास इसी उद्देश्य के लिए हुआ है। राजस्थानी और पहाड़ी कलाओं में धनिकों के मनोरंजन की प्रचुर सामग्री है। इनमें सरसता, कोमलता और कान्त कमनीयता की गहरी पुट है।

संगीत में सरसता और कोमलता की प्रधानता के कारण इसका चरम विकास इसी काल में दरबारों के संरक्षण में हुआ, मुसलमानी युग के प्रारम्भ में होते-होते फारसी और अरबी गायन-पद्धति के सम्मिश्रण से एक नवीन भारतीय संगीत-पद्धति का प्रारम्भ हुआ, जिसका पुनरुद्धार हमारे समय में हुआ है। ध्रुपद, ख्याल का आविष्कार इसी समय में हुआ था। यह संगीत के शुद्ध रूप का विकास था, जिसमें स्वरों का वैभव तानसेन आदि गायकों के द्वारा प्रकट हुआ। दक्षिण में यद्यपि विकास का क्रम यही रहा, तथापि भारत में राजनीतिक समृद्धि के साथ-साथ संगीत के साम्राज्य का विस्तार और विकास हुआ। जीवन की यह रंजना और विकास-प्रधान भावना अब तक भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि हमें इस रंजना-प्रधान कला में वास्तविक सौन्दर्य नदिखाई पड़े।

(ग) जीवन की तीसरी धारा वह है जिसका सम्बन्ध न तो सम्राटों के आतंक और अनुभाव से था, और न राजाओं के मनोरंजन से। इसका सम्बन्ध जन-जीवन से था, लोकाराधन ही इसका एक-मात्र उद्देश्य था। यद्यपि इसमें प्रांजल और दरबारी भाषा का अभाव था, तथापि इसमें भारत की मूल भावना का गम्भीर प्रवाह था। इसमें वैदिक जीवन की दिव्यता और गम्भीरता थी, रामायण काल की आदर्शवादिता और मार्मिकता, महाभारत की दार्शनिक दृष्टि, बुद्ध की वेदना, जैन-धर्म की निस्पृहता, राधा-कृष्ण के प्रेम की विह्वलता थी। यह युग-चेतना सूर, तुलसी और मीरा के पदों में आज भी पुलकित हो रही है। कबीर की साखी इसकी साक्षी देती हैं, रसखान की रसमयता इसीकी उपज है। इसके पास राजसी साधन थे, इसीलिए चित्र और वास्तु-कला द्वारा इसकी अभिव्यक्ति न हो सकी। काव्य ही इसका एक-मात्र साधन रहा। आज भी हमारे देश की मूल धारा वही है।

अब हम अपने देश के आध्यात्मिक इतिहास में उस स्थान पर पहुँच गए हैं, जहाँ से वर्तमान युग का प्रारम्भ होता है। हमने देखा है कि हमारे सामूहिक जीवन की जाह्नवी में अनेकों दिशाओं से अनेक धाराएँ आ-आकर मिल गई हैं। 'हमारी चेतना' में आदिम मनुष्य की स्वच्छन्द आनन्द की भावना से लेकर युगों के इतिहास के अनन्तर मुगलकालीन वैभव और विलास की भावना सभी विद्यमान हैं। वर्तमान युग की समष्टि-चेतना के पीछे युगों का इतिहास है। अपने युग के आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिए यह इतिहास आवश्यक है।

अपने इस उत्तराधिकार की विशेषताओं को पूर्णतया ध्यान में रखकर ही हम अपनी सौन्दर्य-चेतना को समझ सकते हैं, अपने कला-जीवन को हृदयंगम कर सकते हैं और अपने अनागत का निर्माण कर सकते हैं। हम अपने इतिहास का विरोध नहीं कर सकते, उसका निषेध नहीं कर सकते और न उसके स्थान पर किसी दूसरी जाति के इतिहास को अपने ऊपर आरोपित कर सकते हैं। अपने अतीत का आकलन आवश्यक है। भविष्य अतीत के गर्भ में पलता है। यही इतिहास का रहस्य है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सी० जे० युङ्ग

साहित्य और मनोविज्ञान[1]

यह तो पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि साहित्य के अध्ययन में मनोविज्ञान का उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि मानस-प्रक्रियाओं का अनुशीलन ही मनोविज्ञान का विषय है और मानव का मानस समग्र कला और विज्ञान का मूल है। मानस-शास्त्र के अध्ययन से हम एक ओर किसी कला-कृति की सर्जना पर तथा दूसरी ओर उन तथ्यों पर प्रकाश पाने की अपेक्षा कर सकते हैं जिनसे व्यक्ति कला का सर्जक बनता है। इस प्रकार मानस-शास्त्री के सम्मुख दो विशिष्ट और भिन्न समस्याएँ उपस्थित होती हैं, जिनका समाधान वह मूलतः दो भिन्न रीतियों से करता है।

किसी कला-कृति का अध्ययन करते समय हमारे सामने एक ऐसी वस्तु होती है जिसकी उत्पत्ति अत्यन्त जटिल मानसिक क्रियाओं से हुई है, किन्तु जो ऊपर से ज्ञानतः और इच्छा से उत्पन्न लगती है। और कलाकार का अध्ययन करने में तो हमें मानस-यन्त्र को ही समझना है। इनमें से प्रथम का अध्ययन करने के लिए हमें एक निश्चित और मूर्त कला-कृति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहिए और दूसरे के लिए एक जीवन्त और सर्जन में समर्थ मानव का एक अद्वितीय व्यक्ति के रूप में विश्लेषण करना आवश्यक है। यद्यपि यह दोनों प्रयास सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित हैं किन्तु उनमें से कोई एक ऐसी व्याख्याएँ नहीं प्रस्तुत कर सकता है जो दूसरे को समझने में उपयुक्त हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कला-कृति से कलाकार के विषय में और कलाकार से कला-कृति के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह अनुमान कभी निश्चयात्मक नहीं हो सकते, अधिक-से-अधिक वे संभाव्य सत्य या अटकल-मात्र हो सकते हैं।

अभी तक मानस-शास्त्र का जितना विकास हुआ है उससे हम अन्य विज्ञानों की तरह अतियथार्थता के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हैं। केवल कुछ मानसेन्द्रिय मूल प्रवृत्तियों और उत्क्षेपों (रिफ्लेक्सेज) में ही हम हेतुहेतुमद्भाव की स्थापना कर सकते हैं। किन्तु उस रेखा से, जहाँ से मानसी स्तर का जीवन आरम्भ होता है, मानस-शास्त्री को मानसिक व्यापारों के यथार्थ के न्यूनाधिक निकट वर्णनों और इस अतीव जटिल मन के तानों-बानों के सुस्पष्ट वर्णनों से सन्तुष्ट रहना पड़ता है। ऐसा करने में उसे किसी एक मानसिक प्रक्रिया को ही अपरिहार्य मानने की भूल से बचना होगा। यदि अभी तक मनोविज्ञान की यह स्थिति न बनी रहती और यदि कला-कृति एवं कलात्मक सृष्टि की प्रक्रिया में कारण-सम्बन्ध स्थापित कर सकने

---

१. "आधुनिक युग के विभिन्न वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तथा चिन्तकों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं उन्हें बिना किसी समीक्षात्मक टिप्पणी के ज्यों का त्यों हम क्रमशः हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। सर्वप्रथम हम फ्रायड के प्रख्यात सहयोगी और मौलिक मनस्तत्त्ववेत्ता युङ्ग के विचारों को दो खण्डों में प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रथम खण्ड में कवि के कृतित्व और द्वितीय में व्यक्तित्व पर विचार किया गया है।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में वह सक्षम होता तो कला का अध्ययन भी उसकी एक शाखा-मात्र बनकर रह गया होता। ऐसी स्थिति होने पर भी इन अत्यन्त जटिल मानस-व्यापारों में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने का दावा मनोवैज्ञानिक को छोड़ना नहीं चाहिए। ऐसा न करने से मानस-शास्त्र को जीवित रहने के अधिकार से ही वंचित करना होगा। फिर भी वह अपने इस दावे को पूर्णतया कभी भी सिद्ध नहीं कर पायगा, क्योंकि जीवन का सर्जनात्मक पहलू तर्क और युक्ति की पकड़ में आने के सारे प्रयास निष्फल कर देता है। किसी भी आघात (स्टिमुलस) की प्रतिक्रिया कार्य-कारण भाव से समझी जा सकती है, किन्तु सर्जनात्मक प्रक्रिया, जो केवल प्रतिक्रिया से मूलतः भिन्न है, मानव-बुद्धि की पकड़ में शायद कभी भी नहीं आ सकेगी। उसके आविर्भाव का केवल वर्णन किया जा सकता है, उसकी धूमिल अनुभूति की जा सकती है, किन्तु पूर्ण रूप से उसे समझा नहीं जा सकता। मनोविज्ञान और कला के अध्ययन को सदा पारस्परिक सहायता अपेक्षित रहेगी, उसमें से कोई भी दूसरे को अमान्य नहीं कर सकता। मानस-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि मानसिक वृत्त अनुमेय हैं। कला की समीक्षा का एक सिद्धान्त है कि प्रत्येक मानस-रचना स्वयं अपने में कुछ है और स्वयं अपने निमित्त है, प्रश्न चाहे कृति का हो, चाहे कृती का। अपनी सापेक्षिकता के बावजूद दोनों सिद्धान्त मान्य हैं।[1]

(१) कला-कृति

किसी भी साहित्यिक-कृति की समीक्षा के प्रति मानस-शास्त्री और साहित्य-समालोचक के दृष्टिकोण में एक मौलिक अंतर होता है। जो बात एक के लिए अन्यतम महत्त्व की है वह दूसरे के लिए नितान्त असंगत हो सकती है। अत्यन्त संदेहास्पद श्रेणी की कुछ साहित्यिक कृतियाँ मानस-शास्त्री के लिए बड़े महत्त्व की हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, तथाकथित 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' मानस-शास्त्री के उतने काम का नहीं होता जितना साहित्य-प्रेमी प्रायः समझते हैं। ऐसा उपन्यास अपनी व्याख्या स्वयं करता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का उसने अपना कर्तव्य सम्पन्न कर डाला और अब मानस-शास्त्री अधिक-से-अधिक या तो उस व्याख्या की आलोचना कर सकता है या उसके विषय में कुछ अधिक कह सकता है। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—अमुक लेखक ने अमुक उपन्यास क्यों लिखा?—का कोई समाधान नहीं होता। इस समस्या को मैं अपने निबन्ध के द्वितीय अंश में विचार करने के लिए छोड़े दे रहा हूँ।

मानस-शास्त्री की दृष्टि से सबसे अधिक काम के उपन्यास वे हैं जिनमें लेखक अपने पात्रों के मन का विश्लेषण नहीं देता और इस कारण उनमें व्याख्या और विश्लेषण की गुञ्जाइश रह जाती है। इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण हैं बिन्वा की कृतियाँ तथा राइडर हैगार्ड और कोननडाएल के जासूसी उपन्यास। मेलवील का माबीडिक भी, जिसे मैं अमरीका का महानतम उपन्यास मानता हूँ, इसी कोटि में आता है। प्रत्यक्षतः मनोवैज्ञानिक विवरणों से रहित रोचक विवरण मानस-शास्त्री के लिए अधिकतम महत्त्व के होते हैं। ऐसी कथाएँ कुछ अस्फुट निर्विवाद मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर आधारित होती हैं और जिस मात्रा में लेखक उनसे अबोध रहता है

१. इस भूमिका के उपरान्त युङ्ग ने कला-कृति और कलाकार (अथवा कवि) का अध्ययन अपने निबन्ध के दो अंशों में अलग-अलग किया है। 'आलोचना' के इस अंक में हम कला-कृति वाला अंश दे रहे हैं। युङ्ग ने अपने निबन्ध में साहित्य और कला को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक-दूसरे का पर्याय माना है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी मात्रा में वे अपने को एक जानकार की दृष्टि में शुद्ध तथा अनिश्चित रूप में प्रकट करती हैं। जबकि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में स्वयं लेखक अपने उपादान को अपक्व घटना-क्रम के स्तर से ऊपर उठाकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या और प्रकाश के स्तर पर ले जाने के लिए उसे नया रूपाकार देने का प्रयत्न करता है। किन्तु यह एक ऐसी क्रिया है जो रचना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को धुँधला या दृष्टि से ओझल कर डालती है। और इन्हीं उपन्यासों को सामान्य पाठक मनोविज्ञान के रहस्यों से अवगत होने के लिए पढ़ता है; जबकि मानस-शास्त्री को दूसरी कोटि के उपन्यास चुनौती देते हैं, क्योंकि वह ही उन्हें एक गहरे अर्थ से समन्वित कर सकता है।

मैं अभी तक केवल उपन्यासों की ही चर्चा करता रहा हूँ, किन्तु जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य के विषय में मैंने ध्यान आकर्षित किया है वह साहित्य के इसी अंग में सीमित नहीं है। उसे हम कवियों की रचनाओं में भी पाते हैं और जब हम 'फ़ाउस्ट' नाटक के दोनों भागों की तुलना करते हैं तो यही तथ्य हमारे सामने आता है। ग्रेचेन के प्रेम की ट्रैजेडी अपनी व्याख्या स्वयं कर देती है, उसमें मानस-शास्त्री ऐसा कुछ भी नहीं जोड़ सकता जिसे कवि ने अपने-आप सुन्दरतम शब्दों में नहीं कह डाला है। परन्तु दूसरे भाग के लिए व्याख्या अपेक्षित है। काल्पनिक उपकरणों की अलौकिक प्रचुरता ने कवि की संघटन-शक्ति को इतना अतिकर्षित किया कि उसमें कुछ भी स्वयं-व्याख्य नहीं रह सका और प्रत्येक पद में पाठक के लिए व्याख्या की आवश्यकता बढ़ती ही जाती है। 'फ़ाउस्ट' के दोनों भाग मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण की चरम सीमाओं के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

इस वर्गीकरण पर बल देने के लिए मैं कलात्मक सर्जन के एक प्रकार को मनोवैज्ञानिक और दूसरे को दर्शन (विज़नरी) कहूँगा। मनोवैज्ञानिक प्रकार में लेखक मानव-बोध के क्षेत्र से उपलब्ध सामग्री का उपयोग करता है, जैसे, ज़िन्दगी से सीखे पाठ, भावात्मक आघात, प्रणय की अनुभूति, भाग्य के संकट; अर्थात् प्रायः वह सब जिससे मानव का चेतन-जीवन निर्मित होता है तथा विशेषतः उसका भावात्मक जीवन। कवि इस सम्पूर्ण सामग्री को आत्मसात् कर लेता है और उसे निरी साधारणता के स्तर से ऊपर उठाकर काव्यात्मक अनुभूति के उच्चतर स्तर पर ले जाता है और उसकी अभिव्यंजना इस तरह करता है कि उससे पाठक को अधिक स्पष्टता और अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होती है। और यह होता है उसकी चेतना में पूर्ण रूप से उसे समाहित करने से; जिसे पहले वह टालता रहता था, जिसकी उपेक्षा कर देता था अथवा जिसकी संवेदना उसे एक मन्द पीड़ा की अनुभूति के साथ होकर रह जाती थी। चेतना की अन्तर्भूत वस्तु तथा शाश्वत पुनरावर्ती अपलायनीय विषाद और हर्षमय मानव-जीवन की व्याख्या तथा प्रकाशन ही कवि-कर्म है। और यदि हम मनोवैज्ञानिक से 'फ़ाउस्ट' के ग्रेचेन में अनुरक्त हो जाने अथवा ग्रेचेन के अपनी सन्तान की हत्या करने के लिए विवश हो जाने के कारणों का विवरण न जानना चाहें, कवि मनोवैज्ञानिक के लिए कुछ कहने को छोड़ता ही नहीं। ऐसे ही विषयों से मानवता का भाग्य बना है, करोड़ों बार उनका पुनरावर्तन होता रहता है, और वे ही पुलिस की कचहरी तथा ताज़ीरात की श्रामक एकरसता के लिए उत्तरदायी हैं। वे किसी दुरूहता में आवृत्त नहीं हैं, वे अपनी सम्पूर्ण व्याख्या अपने-आप कर देते हैं।

साहित्य में अनन्त रचनाएँ इसी प्रकार की हैं : जैसे प्रेम, परिस्थिति, परिवार, अपराध और समाज-सम्बन्धी उपन्यास; उपदेशात्मक काव्य, गीतियों की एक बहुत बड़ी संख्या, दुःखान्त और सुखान्त रूपक आदि। मनोवैज्ञानिक रचना का रूप-विशेष जो भी हो, वह अपनी सामग्री

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का चयन मनुष्य की चेतन अनुभूति के विस्तीर्ण क्षेत्र से, जीवन की सुस्पष्ट अग्रभूमि से ही, करता है। मैंने इस प्रकार के रचन को मनोवैज्ञानिक इसलिए कहा है कि वह अपनी प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक सुबोधता की सीमा का उल्लंघन कहीं भी नहीं करता। अनुभूति और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना के रूप में वह जो भी ग्रहण करता है उसका सम्बन्ध सुबोधता से है। स्वयं आधारिक अनुभूतियों में, यद्यपि वे सयुक्तिक नहीं होतीं, कोई वैचित्र्य नहीं है, वरन् वे तो अनादि काल से परिचित रही हैं—प्रेम और उसका प्रारब्ध-प्रेरित अन्त, भाग्य-चक्र से मनुष्य की पराधीनता, सुन्दर और भीषण प्रकृति, सभी चिरन्तन हैं।

'फ़ाउस्ट' के प्रथम और द्वितीय भागों का गम्भीर अन्तर मनोवैज्ञानिक और दार्शन (विज़नरी) प्रकार के कलात्मक सर्जनों के अन्तर को स्पष्ट करता है। दार्शन रीति मनोवैज्ञानिक प्रकार के सारे नियमों को उलट देती है। वह अनुभूतियाँ, जो कलात्मक सर्जन के उपकरण जुटाती हैं, अब चिर-परिचित नहीं रह जातीं। अब यहाँ सर्जन के उपादान कुछ अद्भुत से हैं, और मानव-मन के अन्तःप्रदेश से उद्भूत हुए हैं, काल के उस अनन्त विस्तार की याद दिलाते हैं जो हमें मानव-पूर्व युग से अलग करता है, अथवा प्रकाश और अन्धकार के वैषम्य से पूरित एक अतिमानव संसार का आवाहन करते हैं। यह एक ऐसी आद्यानुभूति है जो मानव की बुद्धि के परे है और जिससे अवसन्न हो जाने का ख़तरा उसे है। इस अनुभूति की विराट्ता उसे शक्ति और महत्त्व देती है। काल की अनन्त गहराइयों से इसका उद्भव होता है, वह विदेशी और शीतल है, बहुमुखी है, दैत्य है, और विरूप है। यह शाश्वत अन्ध व्यवस्था का भयावह हास्यास्पद नमूना है और हमारे मानवीय मूल्यों तथा लालित्य के आदर्शों का विस्फोट कर देती है। वीभत्स और अर्थहीन घटनाओं का क्षोभक दर्शन या साक्षात्कार (विज़न), जो हर तरह मानव-संवेदना और बुद्धि के परे है, कला की शक्तियों से, जीवन की पूर्वभूमि की अनुभूतियों की अपेक्षा नितान्त भिन्न, माँगें उपस्थित करते हैं। (पूर्वभूमि की अनुभूतियाँ) विश्व पर पड़े हुए पर्दे को नहीं चीरतीं, मानवीय सम्भावना की सीमाएँ भी नहीं लाँघतीं, और इसलिए वे, व्यक्ति के लिए भले ही कितना बड़ा आघात क्यों न हों, कला की माँग तत्काल कर सकती हैं। परन्तु आद्य दर्शन, आद्यानुभव उस यवनिका को ऊपर से नीचे तक चीरकर रख देता है जिस पर एक सुव्यवस्थित जगत् चित्रित है और अभी तक असम्भूत की अतल गहराई की झलक दे देता है। यह दूसरे लोकों का दर्शन है, अथवा आत्मा की मलिनता, अथवा मानव-युग के पहले की सृष्टि, अथवा भावी पीढ़ियों की रूप-रेखा? हम नहीं कह सकते कि वह इनमें से क्या है या कुछ भी नहीं है।

मनोवैज्ञानिक कला-कृतियों पर विचार करते समय हमें उसकी सामग्री और अर्थ के विषय में जिज्ञासा करने की किंचित् आवश्यकता नहीं है। किन्तु दार्शन-कृतियों की मीमांसा करते समय यह जिज्ञासा अनिवार्य हो उठती है। क्योंकि उनकी अन्तर्वस्तु से हम चकित रह जाते हैं, सहम जाते हैं, भ्रान्त हो जाते हैं, सचेत हो उठते हैं, जुगुप्सा तक से भर उठते हैं। और तब हमें व्याख्याओं और टीकाओं की ज़रूरत महसूस होती है। वह सब पढ़कर हमें सामान्य दैनन्दिन मानव-जीवन की कोई बात याद नहीं आती, याद आते हैं स्वप्न, रात्रि के समय के भय, और मन की वे अन्धकारपूर्ण गहराइयाँ, जिनका अनुभव हम शंकाकुल होकर करते हैं। पाठकों की बहुत बड़ी संख्या ऐसे साहित्य को अस्वीकार कर देती है और समालोचक भी उससे हतप्रभ हो जाते हैं। और यह सत्य है कि दाँते और वैगर ने ऐसे साहित्य का रास्ता साफ़ कर दिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दार्शनिक (विजनरी) रचनाओं की अन्तर्वस्तु के उत्स के विषय में अस्पष्टता बड़ी ही अद्भुत और मनोवैज्ञानिक कृतियों के ठीक विपरीत है। कभी-कभी हम यह सन्देह करने के लिए विवश हो जाते हैं कि यह अस्पष्टता अहैतुकी नहीं है। हमें सोचना पड़ता है और फ्रायडीय मनोविज्ञान हमें ऐसा सोचने के लिए प्रोत्साहित करता है कि इस विरूप तमस के पीछे कोई बड़ा व्यक्तिगत अनुभव छिपा है। इसी प्रकार हम इस अन्ध व्यवस्था की झलकों की व्याख्या कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि कभी-कभी ऐसा क्यों लगने लगता है कि कवि ने अपने आधारिक अनुभव को हमसे जान-बूझकर छिपाया है। ऐसी धारणा और इस कथन में थोड़ा ही अन्तर है कि यहाँ हम रुग्ण और विकृत-मज्जोत्पन्न कला की विवेचना कर रहे हैं। और यह अल्प अन्तर समीचीन भी है, क्योंकि इन दार्शन (विजनरी) लेखकों की सामग्री के कतिपय लक्षण विक्षिप्तों की स्वैर कल्पना से बहुत मिलते-जुलते हैं। और इस बात का विलोम भी सत्य है—विक्षिप्तों की स्वैर कल्पना में हमें प्रायः ऐसी अर्थगम्भीरता मिलती है जिसकी अपेक्षा हम महान् प्रतिभा में ही कर सकते हैं। फ्रायड का अनुयायी मानस-शास्त्री ऐसी रचनाओं को विकृति-शास्त्र की एक समस्या के रूप में ग्रहण करेगा। जिसे मैं आद्यानुभूति या आद्य दर्शन (प्राइमोर्डिअल विज़न) कहता हूँ उसके नीचे कोई व्यक्तिगत अनुभव है जो चेतन मन को स्वीकृत नहीं हो सकता, इस धारणा के आधार पर फ्रायडवादी दर्शन या अनुभूति की विचित्र मूर्तियों की व्याख्या यह कहकर करेगा कि आवरक आकृतियाँ हैं और यह मानेगा कि वे उस व्यक्तिगत अनुभव को ढकने का प्रयास हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार वह अनुभव एक ऐसे प्रणय का हो सकता है जो संपूर्ण व्यक्तित्व के विवेक और सौंदर्य-भाव को अंगीकृत नहीं हो सका। कवि ने अपने इस अप्रिय अनुभव को अहंकार के माध्यम से दमित करने और सदा के लिए उसे असम्बोध्य बना डालने के लिए रुग्ण कल्पना-जाल का सहारा लिया। यथार्थ को कल्पना से बदलने का यह प्रयास, असन्तोषजनक होने पर सर्जनात्मक अवतरणों में बार-बार दुहराया जाता है। और इससे काल्पनिक रूपों की विशद सर्जना की व्याख्या हो जाती है। एक ओर वे अग्राह्य अनुभव के प्रतिनिधि हैं, दूसरी ओर वे उसे छिपाने में सहायता करते हैं। फ्रायड के इस मत ने काफी ध्यान आकर्षित किया है और दार्शन (विजनरी) साहित्य को 'वैज्ञानिक' रूप से समझने का यही एक-मात्र मान्य प्रयास किया गया है। मेरी समझ में इस प्रश्न पर मेरा अपना दृष्टिकोण न तो अधिक प्रकाश में आया है और न ठीक समझा गया है। मैं उसके रखने का प्रयास संक्षेप में करूँगा।

यदि हम दर्शन (विजन) को एक व्यक्तिगत अनुभव से उद्भूत मानने पर आग्रह करते हैं तो हमें उस (विजन) को गौण, यथार्थ का प्रतिनिधि-मात्र, मानना पड़ेगा। परिणामस्वरूप हम दर्शन को उसकी आद्या विशिष्टिता से रहित कर देंगे और उसे एक रोग-लक्षण से अधिक कुछ भी नहीं मान सकेंगे। सत्य यह है कि फ्रायडीय दृष्टिकोण हमें कृति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से दूर भटका देता है और उसके स्थान पर हमारे सामने कवि की मानसिक प्रकृति को हमारे सम्मुख ला रखता है। कवि (और कलाकार) का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण समस्या अवश्य है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु कला-कृति का भी स्वयं अपना कुछ महत्त्व है और उसे यों ही उड़ाया नहीं जा सकता। स्वयं कवि के लिए उसकी कृति का क्या अभिप्राय है, वह उसे व्यर्थ समझता है, या एक पर्दा, या व्यथा का माध्यम, अथवा उसे सफलता मानता है, इन बातों पर अभी हमें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। अभी हमें कला-कृति की व्याख्या मनोवैज्ञानिक ढंग से करनी है। इसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के लिए यह अनिवार्य है कि हम दर्शन (विज़न) पर, जो उसकी आधारिक अनुभूति है, गम्भीरता से विचार करें। उसे कम-से-कम हम उतना तो महत्त्व दें ही जितना मनोवैज्ञानिक वर्ग की कलात्मक सर्जना में हम उसके आधारिक अनुभवों को देते हैं और जिनकी सत्यता के विषय में किसी को सन्देह नहीं होता।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरमस के 'शेपर्ड', दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' और गोएटे के 'फ़ाउस्ट' में आरम्भिक प्रेम के अनुभव प्रतिध्वनित हैं। किन्तु इस प्रकार के काव्यों में हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि 'दर्शन' (विज़न) एक सत्य आद्यानुभूति है। यह दर्शन कोई प्रत्युत्पन्न या गौण वस्तु नहीं है और न किसी रोग का निदान या लक्षण है। वह एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है, एक ऐसे पदार्थ की अभिव्यक्ति जिसका अपना अस्तित्व तो है किन्तु जो पूर्णतया ज्ञेय नहीं है। जिस प्रकार प्रेम का आधारिक अनुभव एक सच्चा अनुभव है, उसी प्रकार इस आद्य दर्शन (विज़न) की अनुभूति भी। हमें यह निश्चय करना आवश्यक नहीं है कि दर्शन का विषय भौतिक है, मानस या पराभौतिक। स्वतः उसकी अपनी मानस-सत्ता है और वह भौतिक अस्तित्व से कम यथार्थ नहीं। मानवीय प्रेम सबोध अनुभूति के क्षेत्र में आता है और दर्शन (विज़न) का आधार उसके परे है। अपनी संवेदना के माध्यम से हम ज्ञात की अनुभूति प्राप्त करते हैं, किन्तु हमारी अन्तःस्फूर्ति अज्ञात और गुप्त की ओर इंगित करती है; जो अपनी प्रकृति से रहस्यमय हैं। यदि वे कभी चेतन स्तर पर आ भी जाती हैं तो उन्हें दबा दिया और छिपा डाला जाता है। इसी कारण पुरातन समय से उन्हें रहस्यात्मक, खतरनाक और छलनामय माना गया है। मनुष्य उनसे अपनी रक्षा विज्ञान की ढाल और तर्क के कवच से करता आया है।

जीवन के इस अन्धकारमय पक्ष में दार्शन (विज़नरी) कलाकार ही नहीं आता, वरन् हमारे मर्मी सन्त, द्रष्टा, और पैग़म्बर भी आते रहे हैं। यत्र-तत्र सर्वत्र अनादि काल से मानव उससे परिचित रहा है। आदिम मनुष्य की सृष्टि की रूप-रेखा का यह अनिवार्य अंग है। अन्ध-विश्वास से भय और तत्त्व-ज्ञान के प्रकाश के कारण विकसित मानव ने उसकी उपेक्षा कर दी। फिर भी आज स्वयं हमारे बीच में कवि को इन अन्धेरे लोकों के वासियों की झलक मिल जाती है। वह मानस-जगत् के अल्पांश को ही देख पाता है जो आदिम मानव के हृदय में भीषण भय का संचार करता रहा है। कोई भी आदिम संकृति ऐसी नहीं थी या है जिसमें रहस्य-दीक्षा का स्थान न रहा हो। अतएव कवि से अपेक्षित है कि वह अपनी अनुभूति को उपयुक्ततम अभिव्यक्ति देने के लिए पौराणिक गाथाओं की सहायता ले। यह समझना भूल होगी कि उसकी सामग्री पुरानी और गौण है। उसकी सर्जना का मूल उत्स है उसकी आद्यानुभूति; और सुस्पष्टता से ज्ञेय न होने के कारण उसे रूप-आकार देने के लिए पौराणिक कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ती है। दाँते ने स्वर्ग और नर्क के सारे अधिकारियों से काम लिया है, गोएटे ने ब्लॉक्सबर्ग और ग्रीक पुराणों के नारकीय लोकों का, वैग्नर ने नारडिक पुराणों का, नीत्से ने प्रागैतिहासिक द्रष्टा और उसकी शैली का प्रयोग किया है। ब्लेक ने अपने लिए अवर्णनीय प्रतिमाओं का आविष्कार किया। और इन सारे प्रयासों में दिव्यतम से लेकर विरूपतम के बीच की सारी कथाएँ मिलती हैं।

---

१. इस वैज्ञानिक युग में दर्शन (विज़न) की सभ्यता और उसके महत्त्व में विश्वास हो सकना बहुत कठिन है, फिर भी युङ्ग का मत है कि "दर्शन" (विज़न) के पक्ष का समर्थन आवश्यक है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस बहुरंगी कल्पना-क्रम की व्याख्या करने में मनोविज्ञान असमर्थ है। उससे केवल इतना सम्भव है कि समस्त उपलब्ध सामग्री को अध्ययन के लिए एकत्र करे और उसकी समीक्षा के लिए उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत कर दे। इस शब्दावली के अनुसार दर्शन (विज्ञन) में जिसका आभास मिलता है वह है सामष्टिक अवचेतन। सामष्टिक अवचेतन से हमारा अभिप्राय है आनुवंशिक प्रभावों द्वारा निर्मित एक निश्चित मानस-संस्कार। इसी अवचेतन से चेतना की उत्पत्ति हुई है। जैसे शरीर के निर्माण में हमें विकास की आरम्भिक श्रेणियों का आभास मिलता है उसी प्रकार मानव मनस् के विकास के सम्बन्ध में हम यह उपेक्षा कर सकते हैं कि यह प्रक्रिया भी वंश-विकास के नियमों के अनुकूल हुई होगी। विक्षप्तावस्था और नशे की हालत में अन्तर्मन के विषय तथा कल्पनाएँ ऊपर आ जाती हैं और उनमें हमें आदिम मानस के सारे लक्षण मिलते हैं। उनमें मिलने वाली प्रतिमाएँ ऐसी होती हैं जैसे वे पुरातन रहस्य-दीक्षाओं से प्रेरित हुई हों। आधुनिक आवरण में पौराणिक विषय भी प्रायः सामने आते रहते हैं। सामष्टिक अवचेतन की इन अवतारणाओं में साहित्य के अध्ययन के महत्त्व की वस्तु यह है कि वे सबोध प्रवृत्ति (कांशस ऐटिच्यूड) की पूरक होती हैं। अर्थात् वे एकपक्षीय, विकृत अथवा चेतना की खतरनाक स्थिति में प्रत्यक्षतः एक हितावह सामँजस्य ला देती हैं। स्वप्नों में यह प्रक्रिया बहुत स्पष्टता से घनात्मक रूप में दिखाई पड़ती है। विक्षिप्तावस्था में यह क्षतिपूरक प्रक्रिया ऋणात्मक रूप में पूर्णतया स्पष्ट होती है।

यदि हम गोएटे के 'फ़ाउस्ट' पर विचार करें और इस सम्भावना को अलग कर दें कि वह उसकी सबोध प्रवृत्ति का क्षतिपूरक हो सकता था, तो हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा : इस कृति का कवि की समसामयिक सबोध प्रवृत्ति से क्या सम्बन्ध है ? महान् काव्य अपनी शक्ति मानवता के जीवन से ग्रहण करता है और यदि हम उसका अनुमान व्यक्तिगत तथ्यों से ही करने का प्रयास करें तो उसका अर्थ हम कभी नहीं समझ सकेंगे। जब सामष्टिक अवचेतन एक जीवन्त अनुभूति बन जाता है और वह किसी युग के सम्बोध संस्कार को प्रभावित करता है तो यह घटना एक सर्जनात्मक प्रक्रिया हो जाती है और उस युग में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्त्व की बन जाती है। उससे एक ऐसी कला-कृति की सृष्टि होती है जिसमें अंतर्भूत होता है मानवता की भावी पीढ़ियों के लिए सन्देश। इसीलिए आज भी 'फ़ाउस्ट' प्रत्येक जर्मन की आत्मा को थोड़ा हिला डाले बिना नहीं रहता। इसीलिए गोएटे की कीर्ति अमर है। प्रत्येक युग का एक अपना पक्षपात, अपना विशिष्ट पूर्वग्रह, और अपनी आत्मिक व्याधि होती है। युग एक व्यक्ति के समान होता है। उसके सम्बोध संस्कार की अपनी सीमाएँ होती हैं और उसे एक क्षतिपूरक समायोजन की आवश्यकता रहती है। और इसकी पूर्ति सामष्टिक अवचेतन द्वारा होती है, जिससे एक कवि, द्रष्टा या जननायक अपने को युग की अव्यक्त इच्छाओं से परिचालित होने देता है और अपनी वाणी अथवा अपनी कर्मठता से उन के सम्पादन का मार्ग प्रदर्शित करता है, ऐसा मार्ग जिसे पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अन्धे के समान विकल है और उसे पाने की आशा में है, फिर चाहे इस सिद्धि का परिणाम शुभ हो या अशुभ, एक युग का उपचार हो या विनाश।

—प्रस्तुत कर्ता : आत्मन्

(आगामी अंक में समाप्य)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

हिन्दी-कथाशिल्प में कथानक का ह्रास

प्राचीन काल में, नियमित समाज-व्यवस्थाओं में जब मनुष्य को सुख-शान्ति से अर्जित अवकाश मिला और उस अवकाश को जब वह मनोरंजक साहित्य के सहारे व्यतीत करने चला, तब उसे ऐसी सरल कथाएँ अपेक्षित हुईं, जिनमें उसे न अपनी बुद्धि लगानी पड़ती थी न विशेष स्मरण-शक्ति; बस सहज कौतूहल के सहारे वह दैवी-अदैवी, स्वाभाविक-अस्वाभाविक घटनाओं और कार्य-व्यापारों के इतिवृत्त के पंखों पर उड़ जाना चाहता था। लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य के वही अवकाश के क्षण सीमित हो चले और जीवन संघर्षमय होने लगा, तब कलाकार ने कथा से आगे बढ़कर उसे कहानी-जैसी सुगठित कलात्मक वस्तु दी, जिसमें कथा को उसने बुद्धि-तत्त्व और शिल्प-चातुर्य से परिष्कृत करके कथानक बना दिया।

इस तरह मानव ज्यों-ज्यों विकास करता गया, कहानीकार उसके अनुरूप ही अपने कथानक-निर्माण में उत्तरोत्तर प्रयोग करता गया और यह प्रयोग भावभूमि की दृष्टि से स्थूल-से सूक्ष्म की ओर और शिल्प की दृष्टि से क्रमशः घटना-क्रम के ह्रास की ओर बढ़ता गया।

हिन्दी-कहानियों के विकास के प्रथम चरण से लेकर आज तक की कहानी-प्रगति को देखने से कथा-तत्त्व में यह ह्रास स्पष्ट होता चला गया है। लेकिन वह ह्रास भौतिक तत्त्वों के आधार से कहा गया है, विधानात्मक आधार से नहीं। शिल्प-विधि की दृष्टि से कथानक का भौतिक ह्रास कहानी-कला का उत्थान है, जहाँ कहानी अपने कथानक तत्त्व में बाह्य उपकरणों से आगे बढ़कर आन्तरिक उपकरणों तथा स्थूल से सूक्ष्म तत्त्वों को क्रमशः अपना उपजीव्य बनाती चलती है।

हिन्दी-कहानियों में कथानक का यह ह्रास बहुत ही क्रमिक और कुछ निश्चित विधानात्मक अवस्थाओं और कारणों के फलस्वरूप हुआ है।

प्रेमचन्द और प्रसाद के पूर्व हिन्दी की जितनी प्रारम्भिक कहानियाँ 'सरस्वती' के माध्यम से आईं वे सब कथानक-प्रधान कहानियाँ हैं। इसका निश्चित कारण है। वस्तुतः इन कहानियों के कथानकों पर एक ओर प्रायः शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाटकों के इतिवृत्त की छाया पड़ी थी और दूसरी ओर इनके निर्माण संस्कृत के नाटकों और लोक-कथाओं की कथावस्तु के आधार पर हो रहे थे। इसके उदाहरण में क्रमशः किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती', गिरिजादत्त वाजपेयी का 'पति का पवित्र प्रेम', केशवप्रसादसिंह-कृत 'चन्द्रलोक की यात्रा', लाला पार्वतीनन्दन-कृत 'प्रेम का फुआरा' आदि कहानियों के कथानक लिये जा सकते हैं। शैली, विस्तार और अपने सम्पूर्ण रूप-विधान में उक्त कहानियों के कथानक कथा के समीप चले गए हैं। रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी का कथानक, कथा-तत्त्व की इतिवृत्तात्मकता, विस्तार और सम्पूर्णता का सबसे सुन्दर उदाहरण है। दैवी संयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक भाग्य-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यापारों के बीच से कथानक निर्मित हुआ है और इस निर्माण-सूत्र में तीन लम्बी-लम्बी कथाएँ (प्रथम, स्वयं कहानीकार के मुख से, द्वितीय, कहानी के नायक के मुख से, तृतीय, कहानी की नायिका के मुख से) एक में गुँथकर आई हैं। देश काल-परिस्थिति में इस लम्बे कथानक का विस्तार क्रमशः गाँव के खण्डहर से लेकर बनारस तक, फिर बनारस से कलकत्ता तक, ग्यारह वर्ष की अवधि तक घूमता हुआ एक दैवी-संयोग बिन्दु पर समाप्त होता है।

कथानक का यही रूप-विधान आगे 'सरस्वती' के १९०९ तक के अंकों में प्रकाशित कहानियों-जैसे, बंग-महिला-कृत 'कुम्भ में छोटी बहू', चतुर्वेदी-कृत 'भूलभुलैया', लक्ष्मीधर वाजपेयी-कृत 'तीक्ष्ण छुरी', बंग-महिला-कृत 'दुलाईवाली', वृन्दावन लाल वर्मा-कृत 'राखीबन्द भाई' और 'तातार और एक राजपूत' आदि-में मिलता रहता है।

उक्त समस्त कहानियों के कथानक कथा की-सी इतिवृत्तात्मकता, विस्तार और रूप-विधान लेकर इसीलिए आए हैं, क्योंकि इस प्रारम्भिक विकास-काल में वर्णनात्मकता के पुट से घटनाओं का विस्तार, संयोग और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारों की प्रतिष्ठा से निर्मित कथा-सूत्र ही में पाठक को आनन्द मिलता था। उसे कहीं से भी कथा-सूत्र के साथ चरित्र को देखने या आँकने की अपेक्षा नहीं थी। एक तरह से कथा-निर्माण की प्रक्रिया में चरित्र यों ही आ जाते थे, उनकी कोई भी व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा नहीं थी। अस्तु इस काल की कहानियों में मुख्यता केवल कथानकों की थी, चरित्र की नहीं।

इसके उपरान्त कहानी-क्षेत्र में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द और प्रसाद का आविर्भाव होता है।

यहाँ सर्वप्रथम कथानक और चरित्र को समान विशेषता मिलती है। यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि बिना चरित्र-स्थापना के कथानक का सजीव निर्माण ही नहीं हो सकता। यहाँ यह भी पता चला कि कथा-सूत्र में घटने वाली समस्त घटनाएँ, कार्य-व्यापार, चाहे संयोग या अप्रत्याशित ढंग से ही क्यों न सही, यों अपने-आप वर्णनात्मकता के माध्यम से नहीं होते चलते, वरन् चरित्र स्वयं सामने आते हैं, कार्य-सूत्र अपने हाथों लेते हैं तथा जीवन-संग्राम और काल-चक्रों से थपेड़े खाते हुए अपने अद्भुत किन्तु अत्यन्त मानवीय कथानक अपने-आप निर्मित कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि गुलेरी-कृत 'उसने कहा था', 'सुख-समय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' तथा प्रसाद की प्रथम उत्थान की कहानियाँ, 'सिकन्दर की शपथ', 'जहाँनारा', 'अशोक', 'चित्तौर उद्धार' और प्रेमचन्द की प्रथम उत्थान की कहानियाँ, जैसे, 'रानी सारन्धा', 'पाप का अग्नि-कुण्ड' 'नमक का 'दरोगा', 'पंच परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' आदि अपने कथा-विस्तार में पहले से कुछ कम हैं। बल्कि पहले की अपेक्षा इन कहानियों के कथानक अधिक लम्बे, अधिक विस्तृत और अधिक देश-काल-परिस्थिति के साथ आए हैं। लेकिन इन कथानकों में पूर्ववर्ती कथा के तत्त्व (दैवी संयोग, अस्वाभाविकता, केवल वर्णनात्मकता) नहीं हैं। अर्थात् यहाँ कथानक कथा-तत्त्व के लिए इतने विस्तृत नहीं हुए हैं वरन् चरित्र-चित्रण के लिए कथानक को इतने विस्तार में जाना पड़ा है। 'उसने कहा था' के लहनासिंह और सूबेदारनी, जो बचपन में एक बार बम्बूकार्ट वालों के बीच में मिले थे, उनके सम्पूर्ण चरित्र-चित्रण के लिए कथानक को बम्बूकार्ट से फ्रांस तक खिंचना होता है, बचपन से युवा के पच्चीस वर्षों के अन्तराल को लाँघना पड़ता है। इस तरह यहाँ चरित्र के सम्पूर्ण जीवन को बाँधने में तथा उसके चरित्र आँकने में कथानक को इतना विस्तृत होना पड़ा है, केवल कथा-सूत्र के मनोरंजक विस्तार के लिए नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रेमचन्द के प्रथम उत्थान की कहानियाँ, जो क्रमशः 'सप्त सरोज', 'नवनिधि' और 'प्रेम पचीसी' में आई हैं; इनके कथानकों की लम्बाई और विस्तार पर तो आज आसानी से उपन्यास लिखे जा सकते हैं। एक-एक कथानक के निर्माण और विकास में बीसों मोड़ तैयार किये गए हैं। लेकिन फिर भी इन कथानकों की लम्बाई घटना और कार्य-व्यापारों का इतिवृत्त नहीं, बल्कि विस्तृत जीवन की भावभूमि के खाके अधिक हैं। यहाँ कथानकों का धरातल, विषय के एक प्रसंग के स्थान पर वह पूरा विषय होता था, जिसमें न जाने कितनी अन्य संवेदनाएँ और जीवन की इकाइयाँ आ जाती थीं। फलतः कथानक स्वभावतः लम्बे और विस्तृत हो जाते थे, क्योंकि इनकी लड़ी में प्रेमचन्द एक समूचे परिवार, एक वंश या व्यक्ति के जीवन का पूरा भाग गूँथते थे। यही कारण है कि प्रेमचन्द को उक्त संग्रह की कहानियों के मूल कथानक के साथ सहायक कथानक भी कहीं-कहीं जोड़ना पड़ता था।

प्रसाद की 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की उन कहानियों में, जो ऐतिहासिक इतिवृत्त से निर्मित हुई हैं, कथानक का रूप-विधान प्रायः प्रेमचन्द-सा ही है। लेकिन प्रसाद की इस चरण की वे कहानियाँ जो कल्पना, भावुकता की भावभूमि से निर्मित हुई हैं, जैसे, 'प्रलय', 'प्रतिभा' 'दुःस्वप्न' और 'कलावती की शिक्षा, आदि, इनके कथानक अत्यन्त छोटे और सूक्ष्मता की ओर बढ़े हैं। इन कथानकों में सम्पूर्ण जीवन न लेकर जीवन का एक प्रसंग लिया गया है और उन प्रसंगों में भी एक विशिष्ट भावना का ही प्राधान्य है, घटना या कार्य-व्यापार का नहीं।

प्रेमचन्द के द्वितीय उत्थान-काल, 'प्रेम प्रसून' और 'प्रेम द्वादशी' आदि संग्रह की कहानियां के कथानक छोटे हुए हैं। अब कथानक में सम्पूर्ण जीवन के स्थान पर जीवन का एक अंश लिया जाने लगा है और उस अंश में भी अब अधिक ध्यान चरित्र पर दिया जाने लगा है। कथानक में अब उतने ही मोड़, उतने ही कार्य-व्यापार और घटनाएँ आने लगी हैं, जिनसे चरित्र के जीवन का एक विशिष्ट अंश प्रकाशित हो जाय।

और इस काल में आकर कथानक के छोटे होने के पीछे चरित्र पर मनोविज्ञान की सफल और जागरूक प्रतिष्ठा कारण-स्वरूप है, प्रेरणा-रूप है।

प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी' 'मैकू', 'वज्रपात' और 'डिक्री के रुपये' आदि कहानियों के कथानक उतनी ही सीमा में हैं, जितने से कहानी की मूल-संवेदना और चरित्र का विशेष मनोविज्ञान सम्बन्धित है। अतएव यहाँ सहायक कथानक अपने-आप नष्ट हो गए हैं। कथानकों में कहीं भी द्विपक्षता नहीं, उसके स्थान पर यहाँ संकेतों, व्याख्याओं और कथोपकथनों से काम लिया गया है। यहाँ कथानकों में जीवन की एक इकाई, एक संवेदना और एक प्रसंग लिया गया है, अस्तु कथानक छोटे हो गए हैं और उनके स्थान पर चरित्र उभर आए हैं। 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी' 'मैकू' 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियों के कथानक हमें भूलने लगे हैं; लेकिन सुनार आत्माराम, बूढ़ी काकी, भूखी बूढ़ी काकी, और शतरंजबाज, मीर, और मिर्ज़ा साहब, हमें याद रहने लगे हैं। और इस याद के पीछे उनके जीवन के एक पक्ष का मनोविज्ञान हमें हरदम अभिभूत किये रहता है।

'प्रसाद' के द्वितीय उत्थान-काल की कहानियाँ 'आकाश-दीप' की कहानियाँ हैं। 'आकाश-दीप', 'स्वर्ग के खण्डहर में', 'चूड़ी वाली' और 'बिसाती' कहानियों के कथानक लम्बे अवश्य हैं, लेकिन नाटकीयता के साथ व्यंजना लिये हुए हैं। दूसरी ओर 'हिमालय के पथिक', 'प्रतिध्वनि',

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'वैरागी', 'अपराधी' और 'रूप की छाया' आदि कहानियों के कथानक अत्यन्त छोटे और प्रासंगिक हुए हैं।

'आकाश दीप', 'चूड़ी वाली' और 'बिसाती' में मनोविज्ञान के आधार पर अन्तर्द्वन्द्व और मानवीय संघर्ष की प्रतिष्ठा हुई है और इन कहानियों के कथानक इसी मनोवैज्ञानिक संघर्ष के प्रतिरूप हैं, इन कथानकों का अपना कोई मूल रूप नहीं। यहाँ कथानकों में जीवन की लम्बी-लम्बी संवेदनाएँ, और इतिवृत्त को एक छोटे से कथानक-सूत्र में समेट लिया गया है और उनमें कौतूहल का चमत्कार पैदा कर दिया गया है। प्रसाद ने यहाँ कथानक निर्माण में एक नये कथानक-तन्त्र की सहायता ली है और इस तन्त्र-निर्माण में उन्होंने अपनी नाटकीयता, व्यंजना और सन्दर्भ की सामूहिक सहायता ली है।

कथोपकथनों से कहानी आरम्भ करके कथानक में द्वन्द्व पैदा करना, इसके उपरान्त वस्तु-स्थिति को वर्णन या व्याख्या द्वारा स्पष्ट न करके संकेतों द्वारा स्पष्ट करना; फिर कथोपकथनों द्वारा अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति और अन्त में सांकेतिक वर्णनों से कथानक को चरम सीमा पर सहसा छोड़ देना—कथानक की यही वस्तुस्थिति प्रसाद के तृतीय उत्थान-काल की कहानियों, जैसे, 'पुरस्कार', 'आँधी', 'नीरा', 'दासी', 'गुण्डा' और 'सालवती' आदि में भी पाई जाती हैं।

प्रेमचन्द के तृतीय उत्थान-काल की कहानियों में कथानक का रूप-विधान और भी कलात्मक हो गया है। इनके मुख्यतः तीन धरातल हैं—

१—किसी व्यक्ति के या समस्या के केवल एक पक्ष को धरातल मानकर; जैसे, 'कुसुम', 'गुल्ली डण्डा' और 'मिस पद्मा' आदि।

२—व्यक्ति के बाह्य संघर्ष और आन्तरिक मनोविज्ञान के प्रकाश में उसके जीवन के लम्बे भाग को धरातल बनाकर, जैसे, 'दो कब्रें', 'अल्मयोझा' और 'नया विवाह' आदि।

३—मनोविज्ञान की अनुभूति के धरातल से निर्मित कथानक, जैसे, 'कफ़न', 'मनोवृत्ति' और 'पूस की रात' आदि।

तीसरे धरातल के कथानक अत्यन्त छोटे और व्यंजनात्मक हैं, यहाँ लगता है, जैसे कोई मनोवैज्ञानिक बिन्दु ही कहानी-भर में कथानक के नाम पर सूक्ष्म-सी रेखा बनाता गया हो।

प्रेमचन्द और प्रसाद युग के उपरान्त हिन्दी-कहानियों के विकास-क्रम में जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय कला की दृष्टि से दो महान् क्रान्तिकारी और सफल शिल्पी कहानीकार आते हैं। इनके हाथों से कथानक के रूप-निर्माण और शैली में आश्चर्यजनक प्रयोग हुए। यहाँ इनकी कला का मूल केन्द्र चरित्र बना और इसी चरित्र के मेरुदण्ड से इन्होंने कथानक के प्रयोगों में अपूर्व उद्भावनाएँ कीं। मुख्यतः इसके दो कारण थे—

क. मनोविज्ञान के विकास से उपलब्ध मनोविश्लेषण की पद्धति का प्रयोग होना।

ख. व्यक्तिगत चरित्रों की उद्भावना और अपने व्यक्तित्व में उनका अधिक-से-अधिक अन्तर्मुखी होना।

जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द और प्रसाद के कथानक-विधान से बहुत ही आगे बढ़कर अपने विधान को स्थूल उपकरणों से सूक्ष्मता की ओर बढ़ाया। इनमें सर्वप्रथम बाह्य से अन्तर लाने का आग्रह पूर्ण सफलता से स्पष्ट है। यही कारण है कि जैनेन्द्र की कहानी-कला में कथानक-विधान के नये-नये कौशल, नये-नये प्रयोग हुए हैं और इनमें उन्हें आश्चर्यजनक हस्तलाघव का परिचय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिला है।

जैनेन्द्र की समस्त कहानियों का मेरुदण्ड चरित्र है और उस चरित्र की प्रतिष्ठा उन्होंने मनोविज्ञान पर की है। इस दृष्टि से हम उनकी समस्त कहानियों को चार भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम : जो व्यक्ति के जीवन के एक लम्बे पक्ष को लेकर लिखी गई हैं; जैसे, 'मास्टर जी'।

द्वितीय : जो एक रात या कुछ घण्टों के जीवन-चक्र के आधार पर निर्मित होकर चरित्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन उपस्थित करती हैं, जैसे, 'एक रात'।

तृतीय : जो चरित्र के विशिष्ट क्षेत्रों के आधार पर लिखी गई हैं और वे उसके जीवन के किन्हीं विशिष्ट चित्रों की द्रुत झाँकी उपस्थित करती हैं; जैसे, 'क्या हो'।

चतुर्थ : जो मात्र चरित्र-विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर लिखी गई हैं; जैसे, 'मित्र विद्याधर'।

प्रथम प्रकार में कथानक सुस्पष्ट तथा अपने निश्चित इतिवृत्त के साथ आया है। यहाँ कथानक का निर्माण चरित्र के विकास-क्रमों और घटना-चक्रों के माध्यम से हुआ है। दूसरे प्रकार में कथानक अत्यन्त बौद्धिक धरातल से निर्मित हुआ है। इसके विकास और निर्माण में बाह्य कार्य-व्यापारों की अपेक्षा मानसिक सूत्रों का सहारा लिया गया है। अतएव ऐसे कथानक अत्यन्त सूक्ष्म हो गए हैं। इन्हें हृदयंगम करने के लिए पाठक को भी पूर्ण जागरूक, बौद्धिक और सशक्त रहना होगा। तीसरे प्रकार के कथानक अपेक्षाकृत और सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित हुए हैं। वे कुछ क्षेत्रों की मनःस्थिति की आधार-शिला से मनोद्वेगों, घात-प्रतिघातों के साधन से व्यक्त हुए हैं। ये नाम-मात्र के कथानक हैं। वस्तुतः ऐसी कहानियों में जैसे, कोई भाव ही फैलकर स्वयं कहानी बन गया है और उसमें कथा-तत्त्व, चरित्र आदि इस तरह संकुचित हो गए हों कि इन सब तत्त्वों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही एक-दूसरे में खो गई हो। 'क्या हो' में सब-कुछ स्मृति-चिन्तन द्वारा ही व्यक्त किया गया है, लेकिन फिर भी कथानक-तत्त्व इतने सूक्ष्म स्वरूप में होता हुआ भी अपने में इतना वेग रखता है कि सम्पूर्ण कहानी, जैसे किसी अग्निशिखा-सी प्रतीत होती हो, जो किसी तूफ़ान की गति में जलती-जलती सहसा टूट जाती है। चौथे प्रकार में एक तरह से कथानक का पूर्ण ह्रास हो गया है; क्योंकि ये कहानियाँ चरित्र की आन्तरिकता के रेखा-चित्र हैं, फलतः यहाँ सूक्ष्म भावों, मनोविकारों को स्थूल कथानक में समेटा ही न जा सका है।

कुछ अर्थों में अज्ञेय इस दिशा में जैनेन्द्र से भी आगे बढ़ गए हैं। यद्यपि यह सत्य है कि कथानक-विधान में सबसे पहले क्रान्ति जैनेन्द्र ने ही की है और इसमें प्रयोग के अनेक मार्गों की सम्भावना उपस्थित की है। अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्तिगत पहलू को अपनी कला का केन्द्र बनाकर अपनी सब तरह की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों की चार विभिन्न कोटियाँ हैं—पहली कोटि में, सामाजिक आलोचना-सम्बन्धी कहानियाँ हैं; दूसरी में राजनीतिक बन्दी-जीवन-सम्बन्धी, तृतीय—चरित्रविश्लेषण-सम्बन्धी, और चतुर्थ—प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन-सम्बन्धी। अज्ञेय ने कथा-विधान में नूतन प्रयोग अपनी इन्हीं तृतीय और चतुर्थ कोटि की कहानियों में किया है।

अगर चरित्र संश्लिष्ट है, उसकी मनःस्थिति में गूढ़ ग्रथियाँ हैं, तो कहानी में ऐसे चरित्रों को बाँधने के लिए उन कथानकों की रचना हुई है, जिनके विधान में उस चरित्र से संबन्धित अनेक कर्म-प्रेरणाओं के विवरण दिये गए हैं। 'पुरुष का भाग्य' में एक ऐसे स्त्री-चरित्र का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्लेषण किया गया है जो राह चलते-चलते इस नगण्य संयोग से कँपकर गिरने लगी थी कि उसका पैर एक बच्चे के गीले पैर की छाप पर पड़ गया था।

प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियों में भी कथानक-विधान दो ढंग से प्रयुक्त हुए हैं—

प्रथम : व्यक्ति के आत्म-चिन्तन, तथा उससे सम्बन्धित भूत, वर्तमान और भविष्य की अनेक स्फुट समवेदनाओं के तादात्म्य से, जैसे, 'पठार का धीरज', 'सिगनेलर' और 'नम्बर दस' के कथानक।

द्वितीय : चिन्तन और छोटी-छोटी घटनाओं के मेल से; जैसे, 'साँप', 'कोठरी की बात' और 'पुलिस की सीटी' आदि के कथानक।

कथानक-विधान का यही स्वरूप इलाचन्द्र जोशी की उन कहानियों में सफलता से मिलता है जो व्यक्ति के अहं-विश्लेषण और अहं की एकान्तिकता पर निर्भय प्रहार के लक्ष्य से लिखी गई हैं; जैसे 'मैं', 'मिस एल्किन्स', 'रात्रिचर', 'पागल की सफाई' और 'मेरी डारी के दो नीरस पृष्ठ'। इन कहानियों में कथानक अपने व्यंजनात्मक रूप में केवल भावों, मनोद्वेगों के विश्लेषण के बीच से चला है। 'मैं' में तो कोई कथानक ही नहीं है, बस केवल आत्म-विश्लेषण के आधार पर चिन्तन की एक स्फुट झाँकी है। इसे हम कहानी न कहकर निबन्ध भी कह सकते हैं।

इस काल में जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और यशपाल की कुछ कहानियों के कथा-तत्त्व में यही सूक्ष्मता सफलता से आई है। 'अश्क' की दो कहानियाँ 'पिंजरा' और 'पत्नी-व्रत' में कथा-सूत्र अपनी इतिवृत्तात्मकता को एकदम से छोड़कर टुकड़ों में बँटा हुआ है; जिसे पाठक अपनी ओर से जोड़कर कथानक की एकसूत्रता को समझ सकता है, सीधे कहानी से नहीं।

हिन्दी-कहानियों में कथानक का यह ह्रास आज के नव-कहानीकारों—जैसे, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, जनार्दन मुक्तिदूत, मोहन राकेश, कृष्णनन्दन सिनहा, रघुवंश, मदन वात्स्यायन, ओंकार शरद, सत्येन्द्र, शमशेर आदि—की कला में सर्वत्र स्पष्ट है। युग ज्यों-ज्यों बौद्धिक होता जा रहा है, चरित्र ज्यों-ज्यों संश्लिष्ट, अन्तर्मुखी और दुरूह होते जा रहे हैं, हमारे चेतन और अवचेतन से अनुपात न होने के कारण ज्यों-ज्यों मानव मन अज्ञेय होता जा रहा है, उसीके अनुरूप आज का कहानीकार कथानक को पीछे छोड़ता हुआ केवल चरित्र-विश्लेषण, और अध्ययन के लिए दौड़ रहा है। इसके फलस्वरूप कथानक अपने मूल रूप में नष्ट होता हुआ निम्न लिखित रूपों में देखने को मिलता जा रहा है—

(१) बिखरे हुए टुकड़ों के रूप में कथा-सूत्र।

(२) सांकेतिक और व्यंजना के रूप में।

(३) कहानी जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से कथानक आरम्भ होता है।

(४) कहानी की चरम सीमा पर कथा-सूत्र स्पष्ट होता है।

(५) कथानक कहानी में रहकर पाठक को अपने मन में उसकी कल्पना करते चलना पड़ता है।

कथानक के उक्त पाँच रूपों में टूटकर बिखर जाने के पीछे प्रायः इतने ही कारण और स्थितियाँ भी गिनाई जा सकती हैं। आज कहानी-निर्माण का समूचा और एक-मात्र सूत्र चरित्र होने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के नाते, कहानी की शिल्प-रेखाएँ अत्यन्त कोमल पर अन्तर्मुखी हो गई हैं, इस विधान का सबसे बड़ा प्रभाव कहानी के चरित्र पर पड़ा है। चरित्र निष्क्रिय हो गए हैं, फलतः आज की कहानियों के पात्र प्रायः स्थिर होने लगे हैं। वे कार्य-रत न होकर चिन्तन-रत हो गए हैं, फलतः कहानी में आज न घटनाएँ घटती हैं, न कार्य-व्यापार होते हैं, और जो-कुछ होते भी हैं, वे चरित्र के मन में होते हैं। चूँकि आज के चरित्र का मन अनेक कुण्ठाओं, भ्रान्तियों, अविश्वासों और विशृङ्खलताओं से अभिभूत है, और उसी मन की देश-काल-परिस्थिति में कहानी का निर्माण हो रहा है, फलतः कहानी में कथानक का किसी भी रूप में टूटकर बिखरते जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। कथा-सूत्र की इसी विशृङ्खलता के फलस्वरूप कहानी के विधान में आज नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। वस्तुतः आज प्रत्येक कहानी अपने में नये विधान प्रतिष्ठित करने की दावा करने जा रही है। सच तो यह है कि इसी कारण आज की कहानी-कला आधुनिकतम चित्र-कला के दिनोंदिन समीप आती जा रही है।

किन्तु इससे कथा की रोचकता अवश्य नष्ट हुई है। कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और चरम परिणति में अस्पष्ट और रहस्यात्मक होती जा रही हैं। इनमें निश्चित इतिवृत्त तथा स्पष्ट सहानुभूति से निर्मित कथानक का इतना ह्रास होता चल रहा है कि आज की कहानियों को सरलता से समझना साधारण पाठकों के लिए असम्भव हो गया है। विकास की दृष्टि से, प्रयोग के मोह में पड़कर इसे उत्तरोत्तर इसी पथ पर बढ़ाते चलना बहुत स्वस्थकर नहीं है, यह निश्चित है।

संसार के कहानी-साहित्य में आदि काल से लेकर आज तक जितनी भी कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई हैं, उन सबमें किसी-न-किसी रूप में कथानक की कुशल प्रतिष्ठा है। कला की दृष्टि से किसी भी रूप में कथानक का विधान कहानी-कला के विकास का एक ऐसा राजमार्ग है, जिस पर चलकर कहानी अभी भी उत्तरोत्तर अपने स्वर्णिम युग को प्राप्त हो सकती है, बिना इसके कहानी आधार हीन हो जायगी और उसका विकास समाप्त हो जायगा और उसके स्थान पर निबन्ध आ जायगा।

आज भी पश्चिम के कुछ बड़े जगद्विख्यात कहानीकार—जैसे, स्टीनबेक, सरोयान, ग्राहम-ग्रीन आदि—कहानी-कला में निश्चित कथानक प्रतिष्ठा के पक्ष में है, फिर कुछ हिन्दी-कहानियों ही में प्रयोग के नाम पर कथानक को नष्ट कर देना, कहाँ तक उचित है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० देवराज

समकालीन आलोचना : कुछ ख़तरे

: १ :

आलोचना के प्रधान उद्देश्य दो कहे जा सकते हैं—आलोच्य कृति या कृतियों का विश्लेषण, और उस विश्लेषण द्वारा पाठकों की रुचि का परिष्कार। कृति-विशेष का विश्लेषण और मूल्याङ्कन प्रायः साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि विश्लिष्ट तत्त्वों में कुछ कृति के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं और कुछ उसे कम करने वाले। साहित्यिक सिद्धान्त इन्हीं तत्त्वों के बारे में सामान्य-कथन-रूप होते हैं। श्रेष्ठ आलोचक पाठकों की रुचि को ऊँची एवं सूक्ष्म संवेदना के धरातल पर प्रतिष्ठित करता हुआ उस (रुचि) का परिष्कार करता है। वह पाठकों में मूल्यांकन के सही सूत्रों की मूर्त्त चेतना भी उत्पन्न करता है।

हमने कहा कि श्रेष्ठ आलोचना पाठकों की रुचि का परिष्कार करती है। इससे सम्बद्ध ही सत्य यह है कि खराब आलोचना पाठकों की रुचि में विपर्यय भी उत्पन्न कर सकती है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि समय-समय पर 'समीक्षा की समीक्षा' भी होती रहे—आलोचक-विचारक एक-दूसरे की मान्यताओं तथा समीक्षा-प्रणालियों की सतर्क परीक्षा करते रहें। इस परीक्षा की सफलता के लिए एक और चीज़ आवश्यक है—सतर्क पाठकों का एक समुदाय; जो आलोचनात्मक विवादों में मध्यस्थ बन सके, जो विशुद्ध जिज्ञासा की भावना से प्रेरित हो और वादों तथा दलबन्दियों के ऊपर हो।

सब प्रकार के पाठकों से क्षमा-याचना करते हुए हम एक वक्तव्य दें—यह कि हिन्दी आलोचना अभी तक नितान्त अविकसित दशा में है। यह बात उसके सिद्धान्त-पक्ष और व्यावहारिक पक्ष दोनों पर लागू है। इस अविकसित स्थिति के अनेक संकेत और हेतु हैं। पिछले पचास-साठ वर्षों में हिन्दी ने किसी तेजस्वी, मौलिक विचारक को जन्म नहीं दिया—ऐसे विचारक को, जो दूर से भी टॉलस्टाय, क्रोचे, टी० एस० इलियट आदि का समकक्ष हो सके। ग्रन्थों की दृष्टि से देखें तो हिन्दी में शायद ही कोई कृति निकले जिसे "शेक्सपीरियन ट्रेजडी", "ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोयट्री", "प्रिन्सिपिल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म"—जैसी प्रौढ़ रचनाओं से तुलित किया जा सके।[1] अवश्य ही इधर कुछ पाण्डित्यपूर्ण अन्वेषण-ग्रन्थ[2] हमारे सामने आए हैं, किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ विशुद्ध आलोचना की कोटि में नहीं आतीं। जब हम आलोचकों और आलोचना-पुस्तकों की बात करते हैं, तो हमारा मतलब प्रायः उन लेखकों और कृतियों से होता है जिनकी हमारे युग और उसके सृजनात्मक साहित्य के लिए प्रासङ्गिकता है।

यह नहीं कि आज हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना नहीं लिखी जा रही है, अथवा

१. यह लिखते हुए शुक्ल जी की कृतियाँ मेरी दृष्टि में न हों, ऐसा नहीं है।

२. जिनमें श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की कृतियों का विशेष स्थान है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की जा रही है; पर यह सब ऐसे अपरिपक्व ढङ्ग से हो रहा है कि उच्च कोटि की समीक्षा-पुस्तकें प्रस्तुत नहीं हो पातीं। यहाँ 'उच्च कोटि की' से हमारा मतलब है, ऐसी रचनाएँ, जो विश्व-साहित्य की सजातीय रचनाओं के धरातल को छूती हों।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। हमारे देश में वैसी आलोचना-परम्परा नहीं रही जैसी कि यूरोप के कुछ देशों में रही। दूसरे, हिन्दी में ऐसे समीक्षक कम हैं जो क्लासिकल संस्कृत-साहित्य तथा आधुनिक यूरोपीय साहित्य दोनों से सुपरिचित हों। तीसरे, हमारे अधिकांश आलोचक-बन्धु साहित्य से बाहर की समस्याओं एवं विचार परम्पराओं से वैसा घना सम्पर्क नहीं रख पाते जैसा कि यूरोपीय समीक्षकों का होता है—उदाहरण के लिए रिचर्डस् ने शब्दार्थ-सम्बन्ध-जैसे दुरूह दार्शनिक विषय पर पुस्तक लिखी है; और टी० एस० इलियट ने सांस्कृतिक-धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन किया है। इस दृष्टि से हमारे अधिकांश लेखकों-आलोचकों की मार्क्सवाद से आगे पहुँच नहीं है, और उस वाद को भी वे विश्व की महत्त्वपूर्ण विचार-धाराओं के बीच रखकर कम देख पाते हैं। चौथा और विशेष महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि देश का साम्प्रतिक वातावरण लेखक को लम्बी, एकान्त साधना नहीं करने देता। हिन्दी का प्रतिभाशाली लेखक शीघ्र ही अपनी शक्तियों को इधर-उधर बिखेरने को विवश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह ठोस सृष्टि नहीं कर पाता। विज्ञापनबाज़ी, दलबन्दी, तथा नारेबाज़ी (जो विज्ञापन का ही एक ढङ्ग है) भी हमारे साहित्य का स्तर ऊँचा उठने में बाधक हो रहे हैं।

हिन्दी की विचारात्मक समीक्षा का दायरा इस समय बहुत संकुचित है। इने-गिने प्रश्नों पर विवाद होता है, और वह भी उन पर जिनका साहित्य से सीधा सम्बन्ध कम है। ऐसे वातावरण में यदि कोई दूसरे प्रश्न उठाता है तो उन पर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः प्रतिभाशाली के सामने एक ही रास्ता रह जाता है—नारेबाज़ी। जब तक आप कोई सनसनीपूर्ण बात न कहें, तब तक इसकी उम्मीद नहीं कि आपकी बात सुनी जायगी। आपका नारा कितना ही मूर्खतापूर्ण क्यों न हो, वह निश्चय ही ध्यान आकृष्ट करेगा। इसके विपरीत नारेबाज़ी के बिना लोग आपकी ओर ध्यान देंगे, इसकी सम्भावना कम है। खेद यही है कि नारेबाज़ी के बल पर प्राप्त किया हुआ साहित्यिक गौरव स्थायी नहीं होता। यही कारण है कि पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में हिन्दी में जहाँ दर्जनों प्रतिभाशाली लेखकों ने जोर-शोर से लिखना शुरू किया है, वहाँ प्रौढ़ परिणति की ओर बढ़ते बहुत कम दिखाई देते हैं। हिन्दी के अधिकांश लेखक पहली ख्याति पाते समय जिस सांस्कृतिक एवं रागात्मक धरातल पर होते हैं उससे ज्यादा आगे कम पहुँच पाते हैं। इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि हमारा सांस्कृतिक वातावरण गम्भीर साधना के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारी समझ में इस वातावरण को उत्पन्न करने की ओर पहला कदम यह होगा कि हिन्दी-समीक्षा स्वयं अपने से अधिक सही एवं सतर्क, गहरे, ऊँचे तथा दूरगामी विश्लेषण और सन्तुलित मूल्यांकन की माँग करे। यह माँग जहाँ स्वयं समीक्षकों को सावधान और जागरूक बनायगी, वहाँ साधनशील लेखकों को भी आश्वस्त कर सकेगी। अवशिष्ट निबन्ध में हम ऐसी ही माँग का व्यावहारिक रूप पेश करेंगे।

: २ :

प्रस्तुत लेखक ने अपने निबन्धों में जहाँ-तहाँ अनेक साहित्यकारों के सम्बन्ध में ऐसे निर्णय दिये हैं जो प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध पड़ते हैं। उदाहरण—(१) रवीन्द्रनाथ उच्चतम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कोटि के कवि नहीं हैं। उनका स्थान कालिदास से नीचे है, ठीक जैसे कालिदास का शेक्सपियर और वाल्मीकि से नीचे है। (२) छायावादियों का यह विचार कि उनका सांस्कृतिक स्तर रीति-कालीन कवियों से उच्चतर है, ग़लत है। (३) 'कामायनी' की अधिकांश प्रशंसा का कोई ठोस आधार नहीं है। (४) प्रेमचन्द में धार्मिक-दार्शनिक अनुभूति की सिम्त (डाइमेन्शन) नहीं मिलती, अतः उनकी कला में ऊँचाई नहीं है। (५) ल्यूकैक्स का यह (मार्क्सवादी) मन्तव्य कि कला सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन से समृद्ध बनती है दास्ताएव्स्की के महत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ है, इत्यादि।

मैं जानता हूँ कि हिन्दी के कई अच्छे आलोचक उक्त निर्णयों से सहमत नहीं हैं। किन्तु उनमें से किसी ने, अपने प्रिय लेखकों के मण्डल में भी, मेरे मन्तव्यों की सूक्ष्म परीक्षा करने का कष्ट नहीं किया। ऐसी स्थिति में यदि उन लेखकों के सम्बन्ध में, मेरे या किसी दूसरे के द्वारा, गलत धारणाओं का प्रचार हो तो उसका दायित्व उक्त सीमक्षकों पर भी होगा। यह भी कहा जा सकता है कि मौन सम्मति का लक्षण है। शिकायत की बात यह है कि ऐसी स्थिति में हिन्दी-पाठकों को यह पता नहीं चल पाता कि मेरी स्थापनाओं में, विश्व-साहित्य के वस्तुपाती मूल्यांकन की दृष्टि से, कहाँ कितनी सचाई या कमी है। मेरी दूसरी शिकायत यह है कि हिन्दी के आलोचक, विश्लेषणात्मक पद्धति से आलोचना-प्रत्यालोचना अथवा बहस करके, मेरे चिन्तन को आगे बढ़ाने में सहायक नहीं होते रहे हैं। इस दृष्टि से विरोध उतना ही लाभप्रद हो सकता है जितनी कि सन्तुलित स्वीकृति। केवल निन्दा या प्रशंसा कोई अर्थ नहीं रखती।

अपने बारे में इतना कहकर अब मैं दूसरों की चर्चा करूँ।

हिन्दी के प्रतिभाशाली तरुण लेखक श्री धर्मवीर भारती ने काफ़ी पहले 'प्रतीक' में दो लेख दिए थे, जिनका शीर्षक था—'आधुनिक विश्व-उपन्यास के नायकों में पुंस्त्वहीनता।' भारती की यह निश्चित धारणा है कि श्रेष्ठ उपन्यासों के नायकों को कर्मठ होना चाहिए। कर्मठ व्यक्ति वे होते हैं जो किसी चीज की प्राप्ति के लिए, किसी उद्देश्य की सफलता अथवा किसी प्रतिपक्षी पर विजय पाने के लिए, दत्तचित्त होकर प्रयत्न करते हैं। संक्षेप में, कर्मठ व्यक्ति संघर्षशील होते हैं और परिवेश की चुनौतियों का उत्तर निष्क्रिय भावुकता से नहीं वरन् क्रियात्मक रूप से देते हैं। भारती का विचार है कि आधुनिक विश्व-उपन्यासों के अधिकांश नायक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। प्रस्तुत लेखक के प्रकाशित उपन्यास 'पथ की खोज' की काफी प्रशंसा करते हुए भी, उन्होंने उसकी इस कमी का संकेत किया है। यहाँ प्रश्न उठता है—भारती ने अपनी इस कसौटी को कहाँ से अथवा किस प्रक्रिया से प्राप्त किया है? और वे उस कसौटी की उपादेयता को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं? उनके उल्लिखित निबन्ध से यह स्पष्ट है कि उन्हें आधुनिक विश्व-उपन्यास के अधिकांश नायकों के चित्रण से असन्तोष है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपनी कसौटी आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यासों को पढ़कर प्राप्त की है। प्राचीन काल में तो ऐसे उपन्यासों का चलन ही नहीं था, अतः वहाँ से उक्त मानदण्ड के प्राप्त किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक दूसरी तरह भी उक्त कसौटी की सत्यता सिद्ध की जा सकती है—यह दिखाने से कि कर्मठ नायकों वाले उपन्यास भिन्न कोटि के नायकों वाले उपन्यासों से आवश्यक रूप में श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु भारती ने अपनी कसौटी को उचित प्रमाणित करने का इनमें से कोई भी तरीका अख्तियार नहीं किया है; वे ऐसा मानकर चले हैं मानो उनकी कसौटी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक स्वयंसिद्ध सत्य हो।

किन्तु क्या सचमुच उक्त कसौटी ग्राह्य अथवा सत्य है ? क्या विश्व के श्रेष्ठ उपन्यास इस पैमाने को प्रामाणिकता का अवलम्ब देते हैं ? हमें इसमें सन्देह है। इसके विपरीत हमें लगता है कि श्रेष्ठ उपन्यासों के अधिकांश नायक विशेष कर्मठ नहीं होते। उदाहरण के लिए 'गोदान' का नायक होरी एक निरीह-सा व्यक्ति है, जब कि 'रंगभूमि' के विनय एवं सूरदास अपेक्षाकृत अधिक कर्मठ हैं, किन्तु फिर भी 'गोदान', 'रंगभूमि' से श्रेष्ठतर उपन्यास समझा जाता है। इसी प्रकार गाल्सवर्दी के वृहत्काय उपन्यास 'फोर्साइट सागा' की नायिका एवं उसका प्रेमी दोनों ही कर्मठ व्यक्ति नहीं हैं। 'अन्ना केरीनिना' का महत्त्वपूर्ण पात्र लेविन एक नितान्त अकर्मण्य व्यक्ति है। इसके विपरीत अन्ना का प्रेमी एक कर्मठ किन्तु महत्त्वशून्य पात्र है। एक प्रसिद्ध आलोचक के अनुसार तो वह टॉल्स्टाय का सबसे खराब चित्रित पात्र है। इसी प्रकार 'वार एण्ड पीस' का सबसे महत्त्वपूर्ण नायक पीयरे, नितान्त अनिश्चित एवं अकर्मण्य मनोवृत्ति का व्यक्ति है। शेक्सपियर का हैमलेट तो प्रसिद्ध ही है। सच यह है कि गम्भीर मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक गुत्थियों से उलझने वाले आधुनिक उपन्यासों में स्थूल रूप में क्रियाशील नायकों के लिए अवकाश नहीं है। वस्तुतः कर्मठ नायकों के चित्रण का उपयुक्त माध्यम नाटक है, न कि उपन्यास। इस सम्बन्ध में महाकवि गेटे ने कहा है—

In a novel it is pre-eminently mental attitudes and events that are to be presented, in the drama characters and deeds. The novel should proceed slowly and the mental attitudes of the principal character in it should by whatever means available hold back the progress and development of the whole...*the hero of the novel should be a sufferer, or at least not highly active*; of the dramatic hero one demands activity and deeds.

अर्थात् उपन्यास में मनोवृत्तियों का चित्रण प्रधान होता है, चरित्र और कर्म का नहीं। उपन्यास की गति धीमी होनी चाहिए। उपन्यास के नायक को मुख्यतः सहन करने वाला होना चाहिए, न कि कर्मण्य; इसके विपरीत नाटक के नायक से क्रियाशीलता एवं कर्म की आशा की जाती है।

गेटे के इस उद्धरण को प्रसिद्ध आलोचक ल्यूकैक्स ने अपनी 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज़्म' (पृष्ठ १७६-८०) में उद्धृत किया है, और प्रायः उसकी सत्यता को स्वीकार किया है। यहाँ पाठक याद रखें कि गेटे स्वयं एक महत्त्वपूर्ण नाटककार है, और इस नाते कर्मठ पात्रों की सृष्टि का अभ्यस्त है।

सच यह है कि महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि के पात्रों के सम्बन्ध में कोई ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि उन्हें विशिष्ट वर्ग अथवा स्वभाव का होना चाहिए। प्राचीन संस्कृत-काव्यों तथा नाटकों के अधिकांश नायक राजा या अलौकिक पुरुष अथवा देवता हैं; उन्हें देखकर ही प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए। हम जानते हैं अब वे नियम अर्थहीन हो गए हैं। और आज तो मानव-जीवन एवं साहित्य में इतनी विविधता है कि इस तरह के नियामक सिद्धान्त बनाए ही नहीं जा सकते।

हमें आश्चर्य है कि भारती के प्रस्तावित पैमाने की अपर्याप्तता की ओर ध्यान दिलाने का कष्ट हिन्दी के किसी नये-पुराने समीक्षक ने अब तक नहीं किया। यह अजागरूकता अथवा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उदासीनता हमारे साहित्यिक विकास के लिए खतरनाक है।

: ३ :

प्रायः डेढ़ वर्ष पूर्व, साहित्यिक संघ काशी के अधिवेशन के अवसर पर, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, जिनके व्यक्तित्व में प्रस्तुत लेखक को विशेष आस्था और श्रद्धा है, एक मनोरंजक किन्तु खटकने वाली बात कही थी—"जब हमारा आलोच्य ही महान् नहीं है, तो हमारी आलोचना कैसे महान् हो सकती है।" बात लोगों को जँची थी, किन्तु कभी-कभी अधूरे सत्य भी लोगों को जँचते हैं, जैसे स्वर्गीय जिन्ना का दो राष्ट्रों का सिद्धान्त। वक्तव्य का मतलब स्पष्ट है—'जी, हम तो अपना काम कर रहे हैं, कुसूर सब आपका (यानी लेखकों का) है।' दूसरा अर्थ है—'हम अपना काम कैसे करते, जब उन्होंने ही अपना काम नहीं किया।' इस अर्द्ध-सत्य से हिन्दी का आलोचक सन्तोष कर सकता है, पर वास्तव में यह एक लचर तर्क है। काफी पहले एक अमरीकी आलोचक ने द्विवेदी जी से बिलकुल भिन्न बात कही थी :

'Before we can have an American literature, we must have an American criticism.'[1]

अर्थात् 'इससे पहले कि हम श्रेष्ठ अमरीकी साहित्य उत्पन्न कर सकें, हमें अमरीकी आलोचना की प्रतिष्ठा करनी होगी।' उसी लेखक का कहना था :

American critics are doing altogether the most original and aggressive work we can show to the world.

एक दूसरे लेखक ने प्रायः पच्चीस वर्ष बाद इसी दावे को निम्न शब्दों में दुहराया था :

The critical movement is undoubtedly the most significant movement in our literature during the last decade or so.[2]

अर्थात् 'पिछले दशक में, या उसके आस-पास, समीक्षात्मक आन्दोलन हमारे साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन रहा है।'

यह ठीक है कि ऐतिहासिक क्रम में आलोचना का जन्म साहित्य के बाद होता है; लेकिन हिन्दी-आलोचना के जन्म या विकास के लिए यह आवश्यक नहीं कि आधुनिक हिन्दी में पहले श्रेष्ठ साहित्य का प्रणयन हो। आज के आलोचक के सामने विश्व का समूचा साहित्य खुला हुआ है, जिसके अध्ययन से वह अपनी रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार कर सकता है। विश्व में आलोचना-साहित्य की भी कमी नहीं है।

मुझे प्रसन्नता होती यदि मैं हिन्दी-समीक्षा के लिए कुछ अंश तक भी वैसा दावा कर सकता जैसा कि उक्त लेखकों ने अमरीकी समीक्षा के लिए किया है। इसके विपरीत मेरा विचार है कि हिन्दी-आलोचना अपना कार्य काफी निचले स्तर पर नितान्त अव्यवस्थित, उलटे-पुलटे ढंग से करती रही है। सच पूछिए तो हिन्दी-समीक्षा सृजनात्मक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करने के बदले उसमें रुकावट और बाधाएँ डालती रही है। आज हिन्दी में कितने आलोचक हैं जो नई (तथाकथित प्रयोगशील) कविता की समस्याओं को समझते हैं? मेरा अनुमान है कि इस दिशा में जो कुछ भी स्पष्टीकरण किया गया है वह स्वयं लेखकों अथवा कवियों द्वारा। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि आज समीक्षा का कार्य भी मुख्यतः लेखकों को ही करना पड़ रहा है, और

१. (Paul Elmer More, 1904)

२. (Vanwyck Brooks, 1928).

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अधिकांश समीक्षक पुराने-नये मान्यता-प्राप्त साहित्यकारों पर पुस्तकें लिखकर विद्यार्थियों का उपकार कर रहे हैं।

सच यह है कि अधिकांश हिन्दी-समीक्षकों में न तो विश्व-साहित्य पढ़ने का चाव है, न सुलझा हुआ मौलिक चिन्तन करने की क्षमता। दुर्भाग्य यह है कि ऐसी स्थिति में भी वे बेचारे लेखकों पर रौब जमाने की लालसा से बाज नहीं आते।

: ४ :

समीक्षा-पद्धति में इस क्रिया को एक कला के रूप में अनुष्ठित करने वालों में बिहार के श्री नलिनविलोचन शर्मा का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए। विश्व-साहित्य का अध्ययन एक धैर्य एवं श्रमसाध्य काम है; बढ़िया चिन्तन और आलोचना कर सकना प्रतिभा तथा साधना दोनों ही की अपेक्षा रखता है। इन चीजों के न्यूनाधिक अभाव में भी एक लेखक की समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण कहला सकती हैं, कम-से-कम वर्त्तमान हिन्दी में, इसका प्रत्यक्ष एवं विपुल प्रमाण उक्त लेखक की समीक्षाएँ है। शर्मा जी समीक्षक हैं, कहानीकार हैं, और नकेनवाद के आद्य-प्रवर्त्तक कवि भी हैं। समीक्षक के रूप में नलिन जी का एक संग्रह 'दृष्टिकोण' निकला था, जिसकी प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक निबन्ध में और कहीं-कहीं, एक पृष्ठ पर दर्जनों लेखकों-चित्रकारों आदि के नाम पढ़ने को मिल सकेंगे। खेद यही है कि विचारशील पाठक 'क्लासिक्स' के नामरूपात्मक परिचय से प्रभावित न होकर उनके अन्तरंग अध्ययन से विकसित प्रौढ़ संवेदना की तलाश करते हैं। 'प्राची' (जून, १९५२) में प्रकाशित एक इण्टरव्यू में (और इण्टरव्यू बड़े ही लेखकों का लिया जाता है।) नलिन जी ने स्पष्ट बतलाया है कि उनका, स्कूल के दिनों से ही, हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार रहा है—वे उन्हें लिख-बोल सकते रहे हैं, और तभी से हिन्दी तथा अंग्रेजी में पद्य, कहानी आदि भी लिखते रहे हैं। ये सब रोचक बातें हैं, और प्रभावित करने वाली भी। आगे हम उक्त प्रतिभा का व्यावहारिक रूप देखेंगे नलिन जी किस प्रकार मौलिक ढंग से तर्क करते हैं इसका एक नमूना देखिए :

"हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में क्यों राजकीय स्वीकृति मिलनी चाहिए थी, इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित किये गए·····जो तर्क सर्वथा अकाट्य था उसे किसी हिन्दी-प्रेमी ने कभी गर्व के साथ उपस्थित किया इसका ज्ञान इन पंक्तियों के लेखक को नहीं है। भारत की सभी आधुनिक भाषाओं के जीवित कवियों में एक-मात्र हिन्दी को ही 'निराला' का दावा करने का सौभाग्य है।"···इत्यादि।

क्या उक्त तर्क से अच्छा यह तर्क नहीं है कि "एक-मात्र बँगला को ही रवीन्द्र तथा शरद का दावा करने का सौभाग्य है इसलिए"···इत्यादि ?

लेकिन मेरा अनुरोध दूसरा है; पाठक उक्त वाक्यावली की आन्तरिक ध्वनि पर ध्यान दें—"इसका ज्ञान इन पंक्तियों के लेखक को नहीं है।" नलिन जी एकदम एक मौलिक बात कर रहे हैं।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' के प्रकाशित होने से पूर्व ही भविष्यद्वक्ता नलिन जी ने लिखा था : " 'नदी के द्वीप' के बारे में हम आशान्वित भी हैं और सशंक भी। सशंक विशेष रूप में इसलिए कि उनके सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'प्रतीक' में 'बारहखम्भा' का बचपना चल रहा है।"[1] बाद में 'नदी के द्वीप' की समीक्षा करते हुए उन्होंने जो एक-मात्र

१. दृष्टिकोण, सितम्बर, १९५१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और सबसे मौलिक बात उस उपन्यास के बारे में भूमिका पूर्वक कही, वह यह थी कि उपन्यास का नामक भुवन और कोई नहीं शेखर ही है—स्वयं 'अज्ञेय' है। यदि इतने मात्र से पाठक की जिज्ञासा और विश्लेषणात्मक समीक्षा की भूख न मिटे—यदि वह यह कहे कि समीक्षक ने एक जासूस का काम किया है, स्वयं अपना नहीं—तो सम्भवतः यह उसी का दोष होगा, नलिनविलोचन शर्मा का नहीं।

यह आश्चर्य की बात है कि 'नदी के द्वीप' (और 'पथ की खोज' पर भी) इस प्रकार आक्रामक टिप्पणियाँ करने के बाद वे 'प्राची' वाले इण्टरव्यू में कहते हैं : "आधुनिक हिन्दी-साहित्य किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा और गतिशील है—बंगला से भी अधिक" आपने इस सम्बन्ध में अपनी हाल की पढ़ी हुई बंगला के 'कालिन्दी' को हिन्दी के 'पथ की खोज' या 'नदी के द्वीप' से स्पष्टतया निम्न कोटि का बतलाया।'

इसे हिन्दी का अनर्गल प्रेम कहा जाय या समीक्षात्मक असन्तुलन ? यह मानते हुए भी कि निराला जी एक श्रेष्ठ कवि हैं हम उक्त सम्मति को विशेष अतिरंजनापूर्ण मानते हैं। नलिन जी शायद समझते हैं कि आलोचक जिस लेखक को जितना चाहे ऊँचा उठा सकता अथवा नीचे गिरा सकता है। यह भयंकर भ्रान्ति है। ऐसी सम्मतियाँ प्रकट करने से आलोचक स्वयं अपने को हल्का बनाता है। श्रेष्ठ आलोचक केवल सम्मति ही नहीं देता, वह अपनी बात को, विश्लेषण द्वारा, पाठकों के मन में उतार देता है। नलिन जी को शिकायत है हिन्दी वालों ने निराला का समुचित आदर नहीं किया। इसका ठीक प्रतिकार यही है कि वे स्वयं निराला पर पुस्तक लिखकर उनकी महत्ता को विश्लेषित और प्रमाणित करें। अच्छा हो यदि वे ऐसी पुस्तक अंग्रेजी में लिखें, और विश्व के साहित्य-प्रेमियों के समक्ष निराला के महत्त्व का दावा तथा घोषणा करें। ऐसे प्रयत्न के अभाव में उनकी लम्बी-चौड़ी बातों का एक यही अर्थ हो सकता है कि वे अर्ध-शिक्षित पाठकों पर अपनी समीक्षा-बुद्धि की मौलिकता का रौब जमाना चाहते हैं।

किसी भी हिन्दी-प्रेमी लेखक के लिए ऐसे असन्तुलित वक्तव्य सुनकर मौन रह जाना लज्जा की बात है। यदि हम हिन्दी-आलोचना तथा साहित्य को एक ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित होते देखना चाहते हैं तो हमें इसका ध्यान रखना होगा कि हमारे लेखक ऐसी गैर जिम्मेदारी की बातें न करें।

: ५ :

हिन्दी-समीक्षा में एक-मात्र जागरूक वर्ग प्रगतिवादियों का है। किन्तु उनकी जागरूकता राजनीतिक अधिक है, साहित्यिक कम। यही कारण है कि हमें प्रगतिवादी समीक्षा में रसग्राहिता की अपेक्षा कट्टरता का ही अधिक प्रमाण मिलता है। किसी भी साहित्यिक वाद को मान लेने भर से कोई व्यक्ति समीक्षक नहीं बन जाता। समीक्षक होने से पहले किसी लेखक का एक रसज्ञ पाठक होना जरूरी है। साम्प्रदायिक आलोचक इस तथ्य को समझते-स्वीकार करते नहीं दीखते। 'नदी के द्वीप' एक खास साहित्यिक सिद्धान्त के कठघरे में फिट नहीं होता, इसलिए श्री शिवदान-सिंह चौहान को उसमें कोई भी अच्छाई दिखाई नहीं देती। किन्तु उस दशा में उन्हें यह सन्देह भी हो सकता है—होना चाहिए—कि उनकी रसग्राहिता में कोई गहरी कमी है।

इधर प्रगतिवादी समीक्षक 'यथार्थवाद' और 'प्रकृतवाद' के भेद पर गौरव देने लगे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। कभी-कभी तो सन्देह होता है कि हिन्दी के समीक्षक इनके अन्तर को समझते भी हैं। उदाहरण के लिए श्री गोपालकृष्ण कौल ने 'आजकल' के एक अंक (फर्वरी, १९५२) में एक लेख में निम्न मनोरंजक वाक्य लिखा है : "प्रकृतवाद यदि सागर की लहरों का रूपांकन करता है तो वास्तववाद सागर की अतलस्पर्शी गहराई को स्पर्श करता है।" हमारा अनुमान है कि उक्त भेद-निरूपण मार्क्सवादी साहित्यिक मान्यताओं से भिन्न है। यथार्थवादी साहित्य वह है जो सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करे। इस दृष्टि से 'मेघदूत' यथार्थवादी नहीं, प्रकृतिवादी काव्य है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार 'मेघदूत' (तथा रवीन्द्र का काव्य) श्रेष्ठ साहित्य नहीं हो सकता।

हम कुछ और कहना चाहते हैं—साहित्यिक सिद्धान्त-सूत्रों का यन्त्रवत् प्रयोग सम्भव नहीं है। किसी भी सूत्र को हृदयंगम करने के लिए अध्ययन और साधना की अपेक्षा होती है। 'सामाजिकता' के सूत्र से परिचित होते हुए भी यह सम्भव है कि प्रगतिवादी समीक्षक किसी कृति के सामाजिक पहलू को देख और पकड़ ही न सके। सामाजिकता के पैमाने को ल्यूकैक्स ने भली भाँति आत्मसात् किया है—अपने अध्ययन के क्षणों में उसकी सत्यता का अनुभव किया है—इसीलिए वह 'स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म'-जैसी सुन्दर पुस्तक लिख सका है। इस तथ्य को समझे विना प्रगतिवादी समीक्षक हिन्दी को कभी भी वैसी पुस्तकें नहीं दे सकेंगे। इसके विपरीत पाठकों, लेखकों तथा स्वयं अपने को विभ्रम में डालते हुए वे हिन्दी-साहित्य का स्तर गिराकर उसका अहित ही करेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० एस० पी० खत्री

अँग्रेज़ी काव्य-धारा : बीसवीं शताब्दी

: १ :

अँग्रेजी साहित्य की आधुनिक कविता का पूर्णरूपेण अध्ययन तथा उसका साहित्यिक विवेचन तभी सम्भव तथा फलप्रद होगा जब हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों को हृदयंगम कर लें जो साहित्य की रूपरेखा बनाने-बिगाड़ने में आज से नहीं वरन् प्राचीन युग से कार्य-रत हैं; क्योंकि इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में हमें अँग्रेज़ जाति के राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण उल्लेख मिलेगा जहाँ समय की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन साहित्य तथा नई कविता का जन्म हुआ और जिसका उत्तरोत्तर विकास होता चला आ रहा है। अँग्रेजी साहित्य के सभी विचारक प्रायः इसी विचार से सम्मत हैं कि किसी भी युग का साहित्य अपने पुराने युग के साहित्य से सन्तुष्ट नहीं रहा।

जब उन्नीसवीं शती का साहित्य अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था उसी समय साहित्यिक चेतना ने पुनः पलटा खाया और बीसवीं शती के प्रथम चरण में ही वह साहित्य हीन, निकृष्ट तथा निरर्थक प्रमाणित कर दिया गया। आज तिरपन वर्ष का साहित्य प्राचीन परम्पराओं का शत्रु है और इस प्रयत्न में दत्तचित्त है कि नव-निर्मित साहित्य में इतनी शक्ति, इतनी प्रगल्भता, इतनी कला तथा इतनी शालीनता ले आई जाय, जो साहित्य की अमर विभूति बन जाय। समय की प्रतिक्रिया ने ही नई कविता को जन्म दिया है।

किन्तु आधुनिक युग के पाठकवर्ग की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह अनेक रूप में उन्नीसवीं शती के साहित्यादर्शों का दास है। जो श्रेष्ठ साहित्य-सिद्धान्त रोमांचक युग तथा उन्नीसवीं शती में निर्मित हुए उनकी मर्यादा ने हमारे मानस के अधिकांश में अपना घर बना लिया है और जिस प्रकार सिन्दबाद जहाजी के कन्धे पर एक बूढ़ा व्यक्ति सदैव सवार रहा करता था और उसके स्वतन्त्र क्रिया-कलाप में बाधा प्रस्तुत करता था उसी प्रकार आज का पाठक और आधुनिक आलोचक प्राचीन रूढ़ि का बोझ वहन कर रहा है। साधारणतः कभी-कभी हमें यह भी आभास मिलेगा कि वह इस बोझ को दुःखदायी भी समझ रहा है परन्तु इस मर्ग के अधिकांश लोग यह बोझ उतार फेंकने को तत्पर नहीं।

चूँकि आधुनिक अंग्रेजी-काव्य का जन्म उन्नीसवीं शती के विरुद्ध मानसिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही हुआ है अतः उसकी रूपरेखा का पूर्ण ज्ञान तथा उसमें निहित काव्य-रस का रसास्वादन तभी सम्भव होगा जब इस प्रतिक्रिया के मूल आधारों को भली भाँति हृदयंगम कर लिया जाय। इंग्लिस्तान का उन्नीसवीं शती का साहित्य उस शताब्दी के सम्पूर्ण जीवन का पूर्ण परिचायक है। इस समय इंग्लिस्तान का राष्ट्रीय, सामाजिक, औद्योगिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक जीवन अपनी पराकाष्ठा पर था। करीब-करीब आधी दुनिया पर अंग्रेजी साम्राज्य का ध्वज-वन्दन होता था और यह एक लोकोक्ति-सी हो गई थी कि अंग्रेजी साम्राज्य पर सूर्यास्त नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता। ऐसी परिस्थिति में राज्यमहिषी को देवी-तुल्य कौन नहीं समझता ? ईश्वर की सत्ता पर कौन विश्वास नहीं करता ?

उद्योग ने अर्थ को जन्म दिया और अर्थ ने श्रद्धा तथा सन्तोष की मर्यादा स्थापित की। इस युग के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा समय आया हो जब इंग्लिस्तान के गिर्जाघरों में तुमुल नाद से भगवद्-भक्ति हुई हो। आर्थिक सम्पन्नता ने आध्यात्मिक तुष्टि का प्रसार किया और अंग्रेजी समाज पूर्णतः सुख-सौख्य की लोरियों को सुनता हुआ जीवन-यापन करने लगा। अंग्रेजी काव्य राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवादिता; देश-प्रेम तथा परिवार-प्रेम; सन्तोष तथा श्रद्धा; भावुकता तथा भावावेश; गर्व तथा अभिमान; धर्म तथा विश्वास; सौन्दर्य तथा चन्द्रिका का गुण-गान कर रहा था। परन्तु कभी-कभी मेघ-विहीन आकाश से भी वज्र-शलाका गिरी है; अंग्रेजी जाति इस अनुभव से अनभिज्ञ थी। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में ही वज्र की शलाका अंग्रेजी जीवनाकाश में कड़की; गिरी और श्रद्धा तथा सन्तोष के ललित वितान धराशायी हो गए : चारों ओर विज्ञान की लपटें प्रज्वलित होने लगीं और उसी प्रज्वलित अग्नि-शिखा की ज्योति में मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि वह ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं; वह पंच तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विकासवाद का एक रूप-मात्र है। उसके निकट पूर्वज वानर-वृन्द हैं।[1] ईश्वर उसके जन्मजात भय का प्रतीक-मात्र है। स्वर्ग और नर्क का न तो वह स्रष्टा है; और न उसका कोई अस्तित्व ही है। जीवन-शक्ति, विकासवाद का सिद्धान्त मानती हुई महा मानव के अवतरण के लिए, पंच तत्त्वों की समिधा लिए, महायज्ञ कर रही है।[2] जहाँ विज्ञान ने आधुनिक मनुष्य को तीसरा नेत्र प्रदान किया वहाँ नवीन समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों ने साम्राज्यवादी सिद्धान्तों के खोखलेपन पर कुठाराघात आरम्भ किया और प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक संगठन छिन्न-भिन्न होने लगे।[3] पूँजी और पूँजीवाद के संरक्षक और प्रचारक साम्यवादी तर्क के सम्मुख निष्प्रभ से हो गए और सामाजिक आदर्शों में एक महान् क्रान्ति का जन्म हुआ जिसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता तथा निर्णायक प्रमाणित किया गया। औद्योगिक उन्नति ने साम्यवादी आदर्शों की पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार कर रखी थी। समाज का मध्यवर्ग धीरे-धीरे अपनी महत्ता खोने लगा और नरम दल के आदर्शों की छत्र-छाया में अपने कल्याण-मार्ग सुरक्षित करने लगा। श्रमिकवर्ग की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी और वे समाज के महत्त्वपूर्ण अंग समझे जाने लगे। इसी वर्ग तथा इसके उन्नायकों ने पदार्थवाद की दुन्दुभि बजाई जिसके तुमुल नाद के सम्मुख अन्य छोटी-छोटी चिन्तन-धाराएँ अपनी वाणी खो बैठीं। श्रमिकवर्ग की वृद्धि के साथ-साथ भूख तथा ग़रीबी के प्रश्न साकार होने लगे; मध्ययुगीन समाज-शास्त्र पर से श्रद्धा हटने लगी; ईश्वर को तो देश-निकाला मिल ही चुका था; देवालय भी सूने हो गए; सन्तोष और श्रद्धा अंग्रेजी जीवन से सदा के लिए (?) विदा हो गए। राष्ट्रीय[4] तथा सामाजिक रूढ़ियाँ अपनी अन्तिम साँस लेने

---

१. डार्विन—'ऑरिजिन ऑन स्पीसीज़'; डिसेण्ट ऑव मैन। २. बर्नर्ड शॉ। ३. कार्ल मार्क्स।
४. बीसवीं शती के प्रथम चरण में छेड़े हुए साम्राज्यवादी 'बोअर युद्ध' ने यद्यपि राष्ट्रीय आदर्शों को थोड़ा-बहुत सँभाला तो अवश्य परन्तु उसकी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र तथा व्यापक हुई कि उसका प्रभाव इंग्लिस्तान के सामाजिक जीवन पर ही नहीं, वरन् भारत के राजनीतिक जीवन पर भी गहरे रूप में पड़ा। अंग्रेज़ जाति के राजनीतिक प्रपंच के प्रति गांधीजी की अश्रद्धा का बीजारोपण यहीं से होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगीं। इतने में ही यूरोपीय आकाश पर युद्ध के बादल घिरने लगे और बीसवीं शती के चौदहवें वर्ष के अन्त में होते-होते वज्र की शलाका पुनः युद्ध-रूप में अंग्रेजी समाज पर गिरी और पूरे चार वर्ष तक खन्दकों की कीचड़ में खड़ी-खड़ी अंग्रेजी सेनाएँ माँस के लोथड़ों में परिवर्तित होती गईं। मृत्यु की विभीषिका ने मनुष्य के रहे-सहे सभी सहारे छीन लिये। उन्होंने राष्ट्रीयता की ओट में पूँजीवाद की लोलुपता; देश-भक्ति की ओट में नरमेध तथा राजनीतिज्ञों के गगन-भेदी नारों की ओट में छल तथा प्रपंच, ईर्ष्या तथा दम्भ का नग्न नृत्य देखा। बाह्य जगत् की विभीषिका तथा मरीचिका से मानव निराश तथा हतभाग्य हो गया। परन्तु मृत्यु का दर्शन मनुष्य को दर्शनज्ञ बना देता है; निर्जीव शरीर की ठण्डी सिहरन मानव-मस्तिष्क में आग लगा देती है। अतः जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी सभी समस्याएँ दल-बादल समेत मानव-मस्तिष्क तथा मानव-हृदय को त्रस्त करने लगीं। बीसवीं शती का मनुष्य इन्हीं त्रासों द्वारा त्रस्त रहने लगा। जिस प्रकार मृत्यु का आलिंगन पाते ही मनुष्य की आँखें पलट जाती हैं उसी प्रकार बीसवीं शती के मनुष्य ने अपनी पार्थिव मृत्यु देखकर अपनी आँखें अपने अन्तरतम की ओर पलट दीं। दोनों ही नवीन संकेत के परिचायक हैं।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ बीसवीं शती के अंग्रेजी समाज की मानसिक अव्यवस्था की समाप्ति नहीं हुई अपितु यह अव्यवस्था बढ़ती ही गई। यद्यपि इस बात का ध्रुव प्रयत्न किया गया कि समाज की खोई हुई थाती लौट आय और मनुष्य पुनः सन्तोष और श्रद्धा-पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे, परन्तु 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' युद्ध इसलिए छेड़ा गया था कि युद्ध सदा के लिए समाप्त हो जाय, परन्तु हुआ उसका उलटा। वर्साई की सन्धि : अलेक्जाण्डर तथा पोरस की सन्धि न थी। विजेताओं ने विजितों को पंगु बनाने की चेष्टा की; उनकी सदियों की धरोहर को लूटने का प्रयत्न किया, उनके राष्ट्रीय गर्व को चूरकर उन्हें बिना पंख के पक्षी के समान देश की सीमा को और भी छोटा करके उसमें बन्दी बना दिया। विजित राष्ट्र क्रोध और प्रतिशोध की अग्नि में तपने लगा। यूरोप के एक छोर पर जहाँ क्रोध और प्रतिशोध की भावना जोर मार रही थी और जो पन्द्रह वर्ष तक राष्ट्र की छाती में छिपी रहीं, वहाँ दूसरे छोर पर रूस में क्रान्ति की बाढ़ आई और महान् जार की अंत्येष्टि क्रिया करने वाला कोई राजवंश का व्यक्ति जीवित न रह सका। रूस में साम्यवाद की स्थापना हुई और श्रमिकवर्ग नूतन विहान का नवीन स्वप्न देखने लगा। श्रमिकवर्ग समाज का श्रेष्ठ केन्द्र बन ही चुका था और यह आशा की जाने लगी कि समस्त संसार में श्रमिकवर्ग अपनी आवाज ऊँची करेगा; संसार को एक-सूत्र में बाँधेगा और एक महान् श्रमिक-राज्य की स्थापना होगी जहाँ न तो गरीबी होगी, न भूख सतायगी और न बेकारी होगी। समस्त संसार में शान्ति का साम्राज्य होगा : 'जीवन में सदा दिवाली ही रहेगी। यह स्वप्न देखा ही जा रहा था कि पुनः यूरोपीय आकाश पर युद्ध के बादल मंडराने लगे और नरम दल के बहुत-कुछ बहलावे पाने के उपरान्त भी जर्मन जाति ने अपनी प्रतिशोध की भावना शान्त न की और उन्होंने एक महान् जर्मन साम्राज्य की स्थापना की आशा में नरमेध का शंखोच्चार कर ही तो दिया। प्रजातन्त्र तथा नाजीवाद घमासान युद्ध में संलग्न हुए और कुछ ही दिनों बाद साम्यवाद ने नाजीवाद की चुनौती स्वीकार करके अपनी सेनाओं की बाढ़ चला दी। यूरोप प्रायः आठ वर्ष तक, मानव के इस महायज्ञ का हवन-कुण्ड बना रहा और जिसकी पूर्णाहुति नागासाकी तथा हिरोशिमा में अणु-बम द्वारा की गई। इस महायुद्ध की समाप्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होते ही मित्र-राष्ट्रों की मैत्री भी समाप्त हो गई। मैत्री भय में परिणत हुई और भय ने सभी राष्ट्रों के बीच एक गहरी खाई खोद दी। और आज का यूरोप पुनः एक ऐसे युद्ध की कल्पना कर रहा है जिसका अन्त शायद प्रलय रूप में ही होगा।

: २ :

अंग्रेजी समाज तथा उससे सम्बन्धित अन्यान्य यूरोपीय घटनाओं की उपरोक्त संक्षिप्त समीक्षा के उपरान्त यह कहना शेष है कि इस विचित्र वातावरण में किस प्रकार की काव्य-रचना सम्भव हुई और उसके गुण-विशेष क्या हैं तथा अन्यान्य वादों के जन्म का कारण क्या है?

साधारणतः ऐसा देखा गया है कि जब व्यक्ति प्रस्तुत प्रश्नों का हल ढूँढ़ नहीं पाता; जब युग के आग्रह को वह अपना नहीं पाता और जब अपने को शिथिल एवं निरूपाय समझने लगता है तो वह अपने मनबहलाव के अन्य साधन जुटाने में एकाग्रचित्त हो जाता है। इसी अनुभव के अन्तर्गत, उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, कुछ लेखकों ने अपनी एक अलग गोष्ठी[1] बनाई और सौन्दर्य-साधना में संलग्न हो गए। इस साधना के प्रवर्त्तक फ्रांस में थे फलतः इंग-लिस्तान में इसकी मान्यता कुछ श्रेष्ठ वर्गों तक ही सीमित रही और उन्होंने 'कला, कला के लिए' है नामक सिद्धान्त का व्यापक प्रचार करना चाहा। इस सिद्धान्त के विधाताओं तथा समर्थकों ने काव्य के वस्तु-तत्त्व को अत्यन्त गौण स्थान दिया; समाज तथा पाठकवर्ग को भी कोई महत्त्व नहीं दिया और केवल आनन्द के क्षणों की व्यक्तिगत अनुभूति में ही काव्य तथा कलाकार की सफलता देखी। जिस प्रकार नदी में बाढ़ आने पर छोटे-मोटे फेन-पुञ्ज इधर-उधर किनारे पर तैरा करते हैं उसी प्रकार युग के आग्रह से दूर ये सौन्दर्य-साधक अपनी आनन्ददायी सौन्दर्य-वाटिका सुसज्जित करने में व्यस्त रहे। इस साहित्यिक गोष्ठी के समान काव्य की प्रेरणा पाए हुए कुछ श्रेष्ठ कवि अपनी कविताएँ स्वतन्त्र रूप में लिख रहे थे और उनकी कविता पर आधुनिकता की छाप बहुत-कुछ है। किसी[2] ने बीसवीं शती के विफल मानव को करुण स्वरों में पुकारा और उन्होंने मनुष्य के साथ दुर्भाग्य तथा क्रूर भाग्य के खिलवाड़ के नग्न-चित्र खींचे; कुछ[3] ने तत्कालीन अंग्रेजी समाज की दुविधा, उसके मानसिक संशय तथा भय को काव्य-नाटिकाओं में वर्णित किया; किसी[4] ने पुनः सौन्दर्य की ओर दृष्टि उठाई और सौन्दर्य के तत्त्व और उसकी आत्मा को परखने का प्रयत्न किया; और किसी[5] ने दारुण दुःख सहते हुए प्राणी में मानवीय गौरव के दर्शन किये और साश्रु-नेत्रों का बोझ सँभाले जीवन-पथ पर अडिग मानव की प्रशंसा की : दारिद्र्य और दुःख में पनपता हुआ मानव किस की श्रद्धा का पात्र नहीं होगा? ऐसे ही मानव की श्रेष्ठता आधुनिक कवि स्वीकार करता है।

इन अनेक कवियों की फुटकल रचनाओं में यद्यपि हमें आधुनिकता के दर्शन होते तो हैं परन्तु हम उन्हें पूर्णतः आधुनिक नहीं कह सकेंगे। इन्हें हम किसी एक वर्ग के अन्तर्गत रख भी नहीं सकते, और न किसी एक सामूहिक नाम से पुकार ही सकते हैं। परन्तु आधुनिक युग में कुछ कवि ऐसे भी हुए जिन्हें सामूहिक नाम दिया भी गया और उनकी रचनाओं में समानता भी बहुत कुछ मिलेगी। पंचम जार्ज के समकालीन कवि एक ऐसे वर्ग[5] के अन्तर्गत आते हैं जिनमें व्यापक समानता है। यद्यपि इनका उद्देश्य उन्नीसवीं शती की परम्पराओं का बहिष्कार तथा नवीन

---

१. द ईस्थेटिक मूवमेण्ट : फ्लाबेयर, ह्विसलर, पेटर, वाइल्ड, साइमन्स। २. टॉमस हार्डी ३. डाउटी ४. रॉबर्ट ब्रिजेज़। ५. हाउस २. द जरिमेण्ट।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कविता का बीजारोपण था परन्तु ये अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। उन्होंने धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों पर प्रतिबन्ध लगाया और साम्राज्यवादिता से कुछ अंश तक विमुख रहे परन्तु वे पूर्णरूपेण आधुनिक होने से भय खाते रहे। उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य की सराहना की और प्रेम की मधुरता घोषित की; शैशवावस्था की ओर वे अपलक निहारने लगे तथा सन्तोष-धन को ही जीवन का महान् सुख समझने लगे थे। इन कवियों में उन्नीसवीं शती की आत्मा पुनः साकार होने का विफल प्रयत्न करती हुई दिखाई देती है; उनकी शैली में प्राचीन रूढ़ि तथा उनके शब्द-चयन में उसी लालित्य के दर्शन होंगे जिसे देखते-देखते आधुनिक व्यक्ति थक गया था।

जैसा कि हम सिद्धान्त रूप में स्पष्ट कर चुके हैं—पंचम जार्ज के समकालीन कवियों के साहित्यिक दृष्टिकोण, विषय-चयन, शैली, भाषा इत्यादि के विरुद्ध प्रतिक्रिया समय के कुछ पहले ही आरम्भ हो गई। कारण स्पष्ट है; प्यासा व्यक्ति घूँट-घूँट पानी नहीं पीना चाहता। यद्यपि दो-एक कवियों ने अपने काव्य के अधिकांश में आधुनिकता को प्रश्रय दिया परन्तु व्यापक अरुचि के सम्मुख वे भी लोकप्रिय न हो सके। इस वर्ग के विरोध में जो कवि आगे आए और जिन्होंने नवीन काव्य को जन्म दिया उन्होंने 'मूर्तवाद'[1] की स्थापना की। इस 'वाद' का श्रीगणेश उन्नीस सौ आठ ईसवी के लगभग हुआ और लगभग दस वर्ष के विकास के उपरान्त उसकी इतिश्री भी हो गई। मूर्तवाद नई कविता का प्रथम चरण कहलायगा। इसी 'वाद' ने रोमांचकवादी काव्य के विषय, भाषा, शैली इत्यादि का बहिष्कार किया और काव्य-क्षेत्र में नव विहान की झाँकी दिखलाने का प्रयास किया। उन्होंने विज्ञान तथा उसकी विश्लेषक शक्ति को अपनाया; नये विचारों तथा नूतन आधारों को प्रतिष्ठित किया; नवीन आविष्कारों की महत्ता को घोषित किया और रूढ़ि तथा परम्परा को प्रगति तथा उन्नति में बाधक प्रमाणित किया। तर्क और अनुभव ने विश्वास तथा श्रद्धा का स्थान ले लिया; निरीक्षण तथा विश्लेषण ने रूढ़ि तथा परम्परा को पद-च्युत कर दिया। ऐसी मानसिक पृष्ठभूमि के सहारे ही नई कविता का बीजारोपण सम्भव हुआ।

मूर्तवादियों का विचार था कि किसी भी कविता में काव्य-श्री तथा कवि की प्रतिभा दो ही चार पंक्तियों में प्रकाश पाती है; शेष कविता केवल अनावश्यक अथवा अर्थहीन ही रहती है। किसी भी युग की लम्बी कविता पढ़ने के उपरान्त यह विचार सहज ही स्पष्ट हो जायगा। फलतः यदि कवि दो-चार पंक्तियों की कविता में काव्य की आत्मा को मूर्त कर सकता है तो वह कवि सफल है; श्रेष्ठ है। उनका यह भी विचार था कि जब हम कोई दृश्य देखते हैं अथवा कुछ अनुभव करते हैं तो उस दृश्य अथवा अनुभव के कुछ विशिष्ट अंग अथवा तीक्ष्ण क्षण ही हमारी आँखों के सम्मुख साकार होते हैं और यदि कवि इन्हें शब्द-रूप, एवं मूर्त-रूप दे सकता है तो वह काव्य उच्चकोटि का होगा। पारिभाषिक रूप में मानसिक अनुभूतियों अथवा जटिल मनोवेगों के मूर्त रूप ही में श्रेष्ठ काव्य की झलक मिलेगी और हो सकता है कि श्रेष्ठ कविता के लिए दो-चार पंक्तियाँ भी आवश्यक न हों और केवल दो-एक शब्द जो काव्य की आत्मा प्रस्फुटित कर सकें कविता के लिए पर्याप्त होंगे। जिस प्रकार आकाश में प्रज्ज्वलित उल्का आस-पास का आकाश-क्षेत्र ज्योतिर्मय कर देती है और अनन्त में विलीन हो जाती है उसी प्रकार मूर्तवादी कविता हमारे दो एक अनुभव ज्योतिर्मय करके, अनेक सहयोगी भावनाओं की झाँकी दिखलाकर हमारे मानस में विलीन हो जायगी।

---

१. इमेजिज़्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वास्तव में 'मूर्त्तवादी' कविता, उन्नीसवीं शती की लम्बी वर्णनात्मक तथा नैतिक कविताओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लिखी गई और बहुत-कुछ अंश में उनकी शब्दावली उन्नीसवीं शती के कवियों की ही शब्दावली थी जिनके द्वारा वे अपनी मधुर कल्पना को रुचिकर रूप दिया करते थे। इस दृष्टि से मूर्त्तवादी कलाकार मौलिक न थे ; उन्होंने प्रतीकवादियों[1] की ही विचार धारा बहुत कुछ अंश में अपनाई थी और उन्हीं से बहुत कुछ अंशों में प्रेरणा भी ग्रहण की। प्रतीकवाद कुछ सुलभ प्रतीकों द्वारा जीवनानुभव पाठक-वर्ग तक पहुँचाता है और यह सिद्धान्त रूप में मानता है कि स्पष्ट अथवा व्यक्त रूप में वर्णित अनुभव न तो आकर्षक होता है और न वह पाठक के मानस में अपना घर ही बना पाता है। इसके विपरीत सांकेतिक अथवा अव्यक्त रूप में प्रदर्शित अनुभव अत्यन्त हृदयग्राही होता है ; उसके द्वारा अनेक सहयोगी अनुभवों का कोष खुल जाता है और हमारी स्मृति-चेतना उन्हें स्मरण करते हुए एक विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव करती है। इस प्रयोग में कवि को ऐसे शब्दों का चयन करना चाहिए जो अनेक मनोवेगों का कोष खोल दें और अनेक पूर्व अनुभवों की प्रतिध्वनि प्रस्तुत करते चलें। प्रतीकवाद का मूल आधार, फलतः शब्द-शक्ति ही रहेगा। जिस प्रकार संगीत केवल नाद की मधुरता से अभीष्ट-सिद्धि कर लेता है उसी प्रकार प्रतीकवाद की यह चेष्टा रहती है कि शब्दों को अर्थ के स्तर से इतना ऊँचा उठा दिया जाय कि उनका यह पार्थिव उत्तरदायित्व हट जाय और वे अपने विशुद्ध रूप में नाद-समान ही भावों का संचार करते रहें। संकेत ही काव्य का प्राणरूप है और जो शब्द ये संकेत जितने व्यापक रूप में दे सकेंगे उतने ही काव्य-पूर्ण तथा ग्राह्य होंगे। मूर्त्तवाद ने, जैसा स्पष्ट है, प्रतीकवाद को कुछ ही अंशों में अपनाया और उनका प्रमुख उद्देश्य यही था कि पंचम जार्ज के समकालीन कवियों की न्यूनता स्पष्ट की जाय और उनकी काव्य-परम्पराओं को अग्राह्य प्रमाणित कर दिया जाय। गागर में सागर भरने का प्रथम प्रयास, आधुनिक काव्य-क्षेत्र में, मूर्त्तवाद ने ही किया और अपनी इस कार्य-शैली और इस काव्य-सिद्धान्त द्वारा उन्होंने प्राचीन काव्य-परम्परा को सदा के लिए विदा कर दिया। उनके विषय नवीन थे; उनकी भाषा मौलिक थी; उनकी शैली नूतन थी ; उनके काव्याधार अलौकिक थे। परन्तु इस कठिन शैली को विरले[2] ही अपना सके और यद्यपि मूर्त्तवाद ने साहित्य-क्षेत्र में एक विशाल क्रान्ति का आयोजन तो किया परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका। मूर्त्तवाद ने जिन काव्य-सिद्धान्तों की प्रशंसा की उसका पूर्ण सम्बन्ध आधुनिक युग की नई कविता से प्रमाणित है क्योंकि इन्हीं की प्रेरणा, जो अस्थायी होते हुए भी महत्त्व-पूर्ण रही, नई कविता के कलाकारों का पथ-प्रदर्शन करती रही और उन्होंने बहुत-कुछ विद्रोह की भावना मूर्त्तवाद से ही ग्रहण की। मूर्त्तवाद ने भाषा को साधारण-से-साधारण जीवन के निकट लाने के साथ-साथ इस बात का भी प्रयत्न किया कि केवल वही शब्द-समूह, वही समासपूर्ण शब्द प्रयुक्त किए जायँ जो भाव को नग्न-रूप में व्यक्त कर सकें। शब्द वही हितकर होंगे जो यथार्थतः शुद्ध होंगे और जो सटीक बैठेंगे ; श्रेष्ठ काव्य का ऐसे शब्दाडम्बर में कोई प्रयोजन नहीं जिनका प्रयोग कोरे लालित्य के लिए हो ; रुचिकर वातावरण प्रस्तुत करने के लिए हो ; भावों को सुसज्जित करने के लिए हो।

---

१. सिम्बोलिस्टस २. टी० एस० इलियट; एज़रा पाउण्ड; टी० ई० ह्यूम; एफ० एस० फ्लिंट; रिचर्ड ऐल्डिंग्टन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शब्द-प्रयोग को रूढ़ि से मुक्त करने के पश्चात् उन्होंने शब्दों द्वारा प्रस्तुत लय, टेक, तुक इत्यादि के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई। प्राचीन, मध्ययुगीन तथा उन्नीसवीं शती का काव्य तुक, टेक तथा लय से परिपूर्ण रहा है। एक छन्द में एक लय और एक लय-विशेष के साथ एक छन्द-विशेष की साहित्यिक परिपाटी सी चल पड़ी थी। काव्य इतना सुमधुर तथा लय-पूर्ण हो गया था कि मस्तिष्क को जरा भी किसी बात का प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। जिस प्रकार आलसी व्यक्ति यही चाहता है कि उसके मुख में शहद की बूँद टपकती रहे और लेटा-लेटा वह उसका मधुर स्वाद लेता रहे उसी प्रकार लय-रूपी मधुर मधु का पाठक-वर्ग अभ्यस्त हो गया था। इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि लय की उपस्थिति हमारी मानसिक सुव्यवस्था की भी तो परिचायक है; सूक्ष्म रूप में वह यह भी संकेत देती है कि मानवी मस्तिष्क जिसके द्वारा यह लय प्रवाहित है उसमें किंचित मात्र भी वैषम्य नहीं और वह गहरे कमल-सरोवर की भाँति सन्तुष्ट तथा शान्त है। परन्तु आधुनिक मानवी मस्तिष्क न तो गम्भीर सरोवर-सा शान्त है और न वहाँ कमल ही खिलते हैं। जीवन के कटु तथा क्रूर अनुभव उसमें ईर्ष्या तथा लालसा; स्नेह तथा लोलुपता; गर्व तथा अभिमान; भूख तथा सेक्स; अवैध प्रेम तथा शास्त्रोक्त प्रेम इत्यादि उसमें बवण्डर लाते रहते हैं। जब आज के मनुष्य का मानस विरोधी-भावनाओं का कुरुक्षेत्र बना हुआ है तो फिर उसे लय तथा छन्द से प्रेम क्योंकर हो। यदि मानव-मस्तिष्क में सुस्थिर, सुव्यस्थित विचारधारा नहीं तो काव्य में वह क्यों कर प्रतिष्ठित की जाय; अशान्त मानव की विचारधारा भी अशान्त रहेगी; फलतः विचारकों ने काव्य को लय के बन्धन से पूर्णतः मुक्त कर दिया। यद्यपि-रोमांचक कवियों[1] ने लय को काव्य-रचना के लिए नितान्त आवश्यक सिद्धान्त-रूप में तो नहीं माना परन्तु प्रायोगिक रूप में वे उसको अपनाते अवश्य रहे क्योंकि उनमें आशा थी; भविष्य पर श्रद्धा थी। परन्तु आधुनिक युग की नई कविता ने अतुकान्त ही नहीं वरन् पूर्णतः मुक्त छन्दों अथवा छन्द-मुक्त रचना को ही प्रश्रय दिया। उनकी मानसिक अवस्था में ऐसा होना उचित भी था। कविता छन्द-मुक्त रूप में अबाध गति की अधिकारिणी हो गई; रूढ़ि ने उसे छन्द के हाथों बन्दी बनाकर उसे गतिहीन तथा निश्प्राण कर दिया था। जब लय तथा छन्द दोनों रूढ़िग्रस्त बन्धनों से काव्य मुक्त हो गया तो कवियों को विषय-चयन में पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना स्वाभाविक ही था। काव्य के विषयाधार अत्यन्त विस्तृत कर दिये गए : जीवन के किसी भी क्षेत्र से काव्य-विषय चुने जा सकते थे और किसी भी प्रकार के काव्य-विषय पर निषेध न था। इस स्वतन्त्रता ने जीवन के समस्त व्यापक स्थलों की ओर कवि की दृष्टि एकाग्र की। उन्नीसवीं शती के कुछ श्रेष्ठ विचारकों[2] का यह सिद्धान्त-सा था कि कुछ विषय ही काव्य के लिए उपयोगी होंगे और कुछ नहीं। अब जीवन के अनेक छोटे-मोटे स्थल, जो सदा से कवियों की दृष्टि से दूर रहे, पुनः काव्य की परिधि में आ गए और विषय-सम्बन्धी रूढ़िगत सिद्धान्तों का समूल विनाश हो गया। परम्परागत विषय, छन्द तथा लय के बन्धन से मुक्त होकर काव्य के ऊपर यह उत्तरदायित्व रखा गया कि अनुभूति की तीव्रता ही काव्य का श्रेष्ठ लक्षण होगी और वही कविता श्रेष्ठ कविता कहलाएगी जो अपने यथार्थ एवं नग्न रूप में सीधे हृदय पर चोट करे।

एक ओर जहाँ कवि तथा विचारक काव्य-सिद्धान्तों का नव-निर्माण कर रहे थे दूसरी ओर उस नवीन कविता के लिए नूतन वातावरण तथा नवीन पृष्ठभूमि का भी निर्माण हो रहा था।

१. वर्ड्सवर्थ २. मैथ्यू आरनल्ड

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ नागरिक जीवन में नवोत्साह आने लगा था और इस नवोत्साह ने ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्र मानव के स्वच्छन्द विचरण के लिए सहज ही प्रस्तुत कर दिये थे। उन्नीसवीं शती के काव्य-साधकों की प्रकृति-प्रियतमा परित्यक्ता नारी समान श्रीविहीन होने लगी थी और नगर-निवासी श्रमजीवी बादलों की छटा सड़कों की कँकरीली जमीन अथवा कोलतार से पुते हुए राज्य-मार्ग से ही देख सकते थे। आधुनिक मनुष्य ने बाल-सूर्य की रक्ताभ लालिमा में प्रकृति की रक्त-पिपासु-मुद्रा की छाया देखी। वह उसके नग्न स्वरूप को देख चुका था; वह उसके भ्रामक आकर्षण से कहीं दूर जा चुका था। आधुनिक युग का मानव कोयले की खदानों में, माता वसुन्धरा के विषैले उच्छ्वासों में झुलस चुका था; महासागरों की थिरकती हुई जल-राशि में वह मानवी-जीवन के भूखे विकराल काल के दर्शन कर चुका था; उसके लिए जीवन मृत्यु-मय था, जीवन-मय नहीं। इन्हीं नवीन अनुभवों ने नई कविता की रूप-रेखा बनाने का बीड़ा उठाया। बीसवीं शती के प्रथम बीस-वर्षों में युद्ध-सम्बन्धी जो नवीन अनुभव अँग्रेजी समाज को हुए उनके द्वारा भी नई कविता को कम प्रोत्साहन नहीं मिला। यद्यपि युद्ध-सम्बन्धी काव्य में, बहुत कुछ अंशों में हम पुरानी काव्य-रूढ़ियों की पुनः अवतारणा देखेंगे परन्तु जहाँ तक अनुभव-क्षेत्र का प्रश्न था वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य विस्तृत हुआ। राष्ट्र तथा देश-भक्ति की भावना पुराने परम्परागत नारे लगाकर ही प्रज्वलित की जा सकती थी और हुआ भी ऐसा ही। युद्ध के प्रथम चरण के कवियों ने देश की रक्षा के लिए नवयुवकों को चुनौती दी; राजनीतिज्ञों ने उन्हें राष्ट्र के संरक्षकों के नाम से पुकारा और चुनौती स्वीकार करते हुए सैकड़ों नहीं लाखों नवयुवक युद्ध की बलिवेदी पर बलि हो गए। परन्तु युद्ध की समाप्ति के साथ-साथ नवीन अनुभवों की बाढ़-सी आई। राष्ट्र-भक्ति तथा देशभक्ति के खोखलेपन के तीव्र अनुभव समाज को प्राप्त हुए; राष्ट्र के संरक्षक अपनी बेकारी की अवस्था में अप्रिय सम्बोधनों से सम्बोधित होने लगे : राष्ट्र के हित अपना खून बहाने वाले मैदान से लौटते ही राष्ट्र की आँखों में गिर गए। युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने मृत्यु का नग्न रूप देखा था; घर लौटते ही उन्होंने राजनीति का नग्न रूप देखा। हथेली पर जान रखकर लड़ने वालों का विश्वास परम्परागत वीर-आदर्शों पर से सदा के लिए उठ गया।[1] खन्दकों में सड़ती हुई लोथों ने देशभक्ति की भावना को काफूर कर दिया; गोलियों से छिदी हुई छातियों से निकलते हुए खून के फौवारों ने राजनीतिज्ञों की कलई खोल दी : युद्ध-जनित काव्य में वीभत्स-रस अविरल गति से बह चला। करुण रस की गोदी में वीभत्स का संयत नर्तन ऐसा आभास देता था मानो अबोध बालक नरमुण्ड के प्याले से, मुस्कराता हुआ दूध की घूँट पी रहा है।

जीवन के इस व्यापक अनुभव ने काव्यादर्शों में महान् परिवर्तन ला दिया; काव्य-कला अब अनुकरण-मात्र नहीं; उसका प्रमुख ध्येय है—अनुभव-विकास। श्रेष्ठ काव्य वही है जो दूसरों को अनुभूति दे; जाग्रत करे। और जब तक कवि के विकसित अनुभव पाठक-वर्ग के हृदय में आसीन नहीं होते काव्य श्रेष्ठ स्तर नहीं ग्रहण कर पाएगा। बिजली का बटन दबाते ही कमरा रोशनी से जगमगा उठता है; काव्य की पंक्ति दुहराते पाठक का मानस जगमगा उठना चाहिए। इस नवीन काव्यादर्श ने नई कविता को नवीन विषयाधार दिए; नवीन शब्द दिए; नवीन भाषा दी; नवीन अलंकार दिये, नवीन शैली दी; नव-जीवन दिया।

---

१. सिगफ्रिड सैसून; रॉबर्ट निकल्स; ओवेन।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

: ३ :

जैसा कि हम पिछले विवेचन द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं, आधुनिक जीवन में नवीन अनुभवों ने कवियों के सम्मुख अनगिनत विषयाधार प्रस्तुत कर दिए; उनकी दृष्टि में न तो कोई विषय काव्य-निर्माण की दृष्टि से हीन है और न निकृष्ट। यदि कवि का अनुभव श्रेष्ठ है तो विषय स्वतः काव्यमय हो जायगा। अनुभव की श्रेष्ठता ही उनके लिये मूल्यवान् है और कुछ नहीं। अनुभव का प्रकाश तथा उसका विकास ही कवि का श्रेष्ठ गुण रहेगा। फलतः झिलमिलाती मोमबत्ती[1], मृत्यु का अग्रिम अनुभव;[2] मीनार से;[3] जहाजों के गोदाम के निकट;[4] निर्वासित का पत्र[5] बंजर धरती[6] घोंघे से;[7] साँप;[8] मानवी लोथों का ढेर;[9] खन्दकों का सवेरा;[10] विफलता;[11] पागलों की बस्ती;[12] क़ैदी;[13] सड़क;[14] विकराल काल;[15] इत्यादि ऐसे नवीन विषयाधार कवि को मिले जो उसे काव्य-रचना के लिए प्रेरित करने लगे। इन विषयों द्वारा आविर्भूत काव्यानुभव ऐसे न थे जो परम्परागत शब्दों द्वारा व्यक्त हो सकते। रूढ़िगत काव्य में प्रयुक्त शब्दों के प्रति तो यों ही कवियों की विमुखता पहले ही से थी, अतएव इन नवीन विषयाधारों के लिए नवीन शब्दावली की भी खोज दूने उत्साह से आरम्भ हुई। इस अनुसन्धान में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, मन्तस्तल-शास्त्र सभी ने अपना सहयोग दिया और कवि को एक ऐसी नवीन शब्दावली मिली जिसकी शक्ति अपार थी और जो काव्य-प्रयोग की दृष्टि से नितान्त अछूते थे। कवियों के सम्मुख नवीन संज्ञाएँ, नवीन विशेषण, नवीन अव्यय, नवीन क्रिया-विशेषण, नवीन क्रियाएँ रह-रहकर आने लगीं और उन्होंने उनका मनोनुकूल प्रयोग भी किया। वाक्य-विन्यास ने नित-नूतन रूप लेने आरम्भ किये और कवि उनकी रूढ़िगत सुव्यवस्था के प्रति विमुख हो गया। संज्ञाओं ने संकेतों का अक्षय कोष खोल दिया और मौलिक अनुभूतियों को स्पष्ट करने में नितान्त मौलिक विशेषणों का प्रयोग होने लगा। उपमा तथा उपमान क्षेत्र में विशेष क्रान्ति आई और मानवी अनुभवों के सुदूर क्षेत्र से नहीं वरन् दिन-प्रतिदिन के अनुभव-कोष से नवीन उपमाओं तथा रूपकों की सृष्टि होने लगी।[16] अँग्रेजी भाषा की तलछट तक का अनुसन्धान इसलिए होने लगा कि ऐसे शब्द पुनः जीवित कर दिये जायँ जो काव्य की आत्मा के प्रतिकूल समझे गए थे और उनमें नव-जीवन फूँक दिया जाय। अध्ययन का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि किसी भी क्षेत्र से शब्द-चयन किया जा सकता था। इसके साथ-ही-साथ शब्दों को नवीन सन्दर्भ मिलने आरम्भ हो गए और प्रत्येक शब्द में निहित नाद-शक्ति, संकेत-शक्ति, आह्वान-शक्ति का पूर्ण उपभोग काव्य में सम्भव किया गया। अक्षरों द्वारा निर्मित शब्द केवल थोथे अथवा कोरे अक्षर नहीं होते; उनमें सदियों की मानवी अनुभूतियाँ निहित रहती हैं; उनके संकुचित गागर में संकेतों का सागर छिपा रहता है; इन्हीं निहित संकेतों को नवीन कवि नई कविता में सुस्पष्ट करने में संलग्न है।

यह एक बहुत पुराना साहित्य-सिद्धान्त है कि शैली व्यक्तित्व की परिचायक है और जिस

---

१. द कैण्डिल इनडोर्स २. ऐन आइरिश एयरमैन फोरसीज़ हिज़ डेथ ३. द टॉवर ४. एबव द डॉक्; ५. एक्जाइल्स लेटर ६. वेस्ट-लैण्ड ७. टु ए स्नेल ८. स्नेक ९. डेड मैन्स डम्प १०. ब्रेक आव डे इन द ट्रेंचेज़ ११. फ्युटिलिटी, १२. मेन्टल केसेज १३. द प्रिजनर्स १४. द रोड १५. टाइम ईटिंग। १६. टी. एस. इलियट : वेस्टलैण्ड

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कवि का व्यक्तित्व जितना ही अधिक मौलिक तथा महान् होगा उतनी ही उसकी कविता शक्तिमय होगी। नई कविता के कवि का व्यक्तित्व इतना जटिल तथा उसकी विचारधारा इतनी गम्भीर है कि उसका स्पष्ट विवेचन असम्भव-सा हो।। इसका कारण यह है कि जब जीवन के पार्थिव स्तम्भ नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं; जब प्राचीन मान्यताएँ अपना खोखलापन लिए मुँह चिढ़ाती फिरती हैं और जब जीवन के सभी बाह्याधार जिन पर जीवन को विश्वास था, श्रद्धा थी, एकाएक धूप में मोम के समान गलने लग जाते हैं तो मानवी व्यक्तित्व इनकी चपेट में आकर झुँझला उठता है; उसकी आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। यथार्थ आदर्श को चुनौती देने लगता है। और इसी चुनौती को स्वीकार कर आज का कवि अन्तर्मुखी हो गया है। उसने जीवन के यथार्थ को परख लिया; अब वह अपने को स्वयं परखना चाहता है। उसकी आँखें पहले बाह्य-जगत् पर थीं, अब वे अन्तरजगत् पर एकाग्र हो गईं। उसका अनुभव बार-बार पुकारकर कह रहा था कि उसकी अर्जित सम्पत्ति उसका साथ नहीं देगी; अब वह यह जानना चाहता है कि क्या उसकी प्रकृतस्थ सम्पत्ति उसका साथ देगी? क्या वह उस पर विश्वास करे? क्या वह जीवन-मरण का प्रश्न हल कर देगी?

ऐसे विषम वातावरण में, जिसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं, नई कविता का कवि बुद्धिवादी हो गया; मनोविज्ञानज्ञ हो गया; मनस्तलशास्त्री हो गया। अपनी आँख अन्तरतम की ओर पलटते ही उसे बुद्धि के विशाल साम्राज्य का दर्शन हुआ जिसका वह निरीक्षण और अनुसन्धान करना चाहता है। बाह्य-जगत् की मृग-मरीचिका ने उसे सन्तप्त तथा त्रस्त कर निराश्रित छोड़ दिया। अब वह बुद्धि के विशाल-साम्राज्य में स्वच्छन्द विचरण करेगा और अपनी शान्ति-प्राप्ति के उपकरण वहीं ढूँढेगा। बालक जब गुड्डों-गुड़ियों के विवाहोपरान्त उनसे ऊब उठते हैं तो उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर यह देखना चाहते हैं कि उनके अन्दर क्या है, अथवा जब घड़ी बन्द हो जाती है और बहुत हिलाने डुलाने पर भी टस-से-मस नहीं होती तो हम उसके पुरजे-पुरजे खोल कर ही दम लेते हैं। नई कविता का कवि अपने व्यक्तित्व की समुचित परख करना चाहता है। जटिल व्यक्तित्व की शैली जटिल हो तो आश्चर्य क्या!

मानव मस्तिष्क का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है। जिस प्रकार पौराणिक कथाओं के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल इत्यादि में विभाजित है, उसी प्रकार मानव-मस्तिष्क के भी अनेक स्तर हैं: प्याज के छिलके समान सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और अपनी अलग-अलग क्रियाओं में व्यस्त हैं। मधुमक्खी के छत्ते समान उसके छिद्रों में विद्युत गति के समान यातायात लगा हुआ है, इसीलिए तो एक क्षण में ही वह जमीन-आसमान के कुलावे मिला लेता है। ऐसे जटिल मस्तिष्क के रहस्योद्घाटन में नवीन युग का कवि व्यस्त है, फलतः उसकी शैली में नैसर्गिक दुरूहता अनिवार्य है। मस्तिष्क के कुछ स्वर तो सजग हैं और हमारे क्रिया-कलाप के उत्तरदायी हैं परन्तु कुछ ऐसे हैं जो सजग नहीं परन्तु अर्ध-सुप्तावस्था में कार्य-रत हैं और ऐसे अर्ध-सुप्तावस्था के मस्तिष्क का अनुसन्धान यदि अर्ध-स्पष्ट शैली को जन्म दे तो यह स्वाभाविक ही होगा। इसके साथ-साथ मानव-मस्तिष्क के कुछ ऐसे भी स्तर हैं जो पुरानी कहानियों में वर्णित राजसुन्दरी के समान हजार वर्षों की निद्रा में सुप्त हैं और जिस प्रकार गड़े हुए धन पर, किंवदन्तियों के अनुसार, मृत आत्माएँ अपना एकाधिकार जमा लेती हैं उसी प्रकार अनेक संचित अनुभूतियों पर इनका एकाधिकार है। उनमें न तो हम पैठ पाते हैं और न उनका स्पष्ट

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिचय ही हमें प्राप्त है। हमारी निद्रावस्था अथवा प्रलापावस्था में यदा-कदा वे कुछ संकेत-मात्र दे जाते हैं। वे अक्षय, अस्पष्ट अनुभूतियों के कोष को अपने दामन में छिपाए बैठे रहते हैं और हमारे तर्कहीन क्रिया-कलाप के कभी-कभी उत्तरदायी समझे जाते हैं। मानस के ऐसे स्तर को स्पष्ट करने में तर्क-विहीन शैली का प्रयुक्त होना अस्वाभाविक नहीं। फलतः नई कविता की शैली इसीलिए दुर्बोध है कि वह मानवी मस्तिष्क के जटिल अन्वेषण में व्यस्त रहती है। वास्तव में एक क्षण में ही अपनी बुद्धि द्वारा हम न जाने क्या-क्या सोच लेते हैं। तार के स्वीकृति-पत्र पर हस्ताक्षर करते-करते हजारों विचार हमारे मस्तिष्क पर चोट कर जाते हैं और यदि तार थोड़ी देर न पढ़ा जाय तो पसीना छूट पड़ता है, उसी प्रकार मस्तिष्क की गति-विधि अत्यन्त शीघ्रगामी है; उसमें विद्युत की तीव्रता है; सागर की गम्भीरता है; आकाश की विशालता है। इसलिए कहीं तो नई कविता लम्बे डग मारती दिखाई देती है; कहीं छोटे-छोटे शब्द-समूहों द्वारा अनगिनत संकेत देने का प्रयत्न करती है और कहीं अनेक मानसिक अनुभव, विविध प्रतीकों को समाहरित कर, हम तक पहुँचाने का प्रयत्न करती है। भानमती के पिटारे-समान हमारा मानसिक जगत् अनेक, अपूर्व, असम्बद्ध तथा असमन्वित अनुभवों को लिए फिरता है और आधुनिक कवि इसी प्रयत्न में संलग्न रहता है कि वे ही अनुभव पाठकों तक शीघ्र-से-शीघ्र, स्पष्ट-से-स्पष्ट तथा नग्न-से-नग्न रूप में पहुँचाए जायँ। जिस प्रकार लोहे के अनेक अनगिनत छोटे-मोटे कणचुम्बक से चिपक जाते हैं उसी प्रकार हमारे एक मानसिक अनुभव के साथ अनगिनत छोटे-मोटे अनुभव लिपटे रहते हैं। इन्हीं सामूहिक अनुभवों का प्रकाश तथा विकास नई कविता का प्रमुख लक्ष्य है और इसी कारण सामूहिक अनुभवों को व्यक्त करने वाली शैली भी अनेक अप्रयुक्त उपकरणों का सहयोग ढूँढ़ती है। कहीं वह नैतिकता तथा मनोविज्ञान की कशमकश स्पष्ट करती है; कहीं इच्छा-शक्ति तथा कार्य-शक्ति के वैषम्य का दिग्दर्शन कराती है; कहीं सेक्स की विषम भावनाओं का निरूपण करती है। आधुनिक कवियों की नई कविता की शैली इसी उत्तरदायित्व से अत्यन्त बोझिल है और उसकी दुर्बोधता का यही रहस्य है।

परन्तु यदि सुस्थिर रूप में देखा जाय तो नई कविता की शैली इतनी जटिल तथा दुर्बोध नहीं जितना आज का पाठक-वर्ग उसे समझ रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि नई कविता लेटे-लेटे नहीं पढ़ी जा सकती; अनेक सन्दर्भों का परिचय व्यापक पठन-पाठन द्वारा पहले ही हमें प्राप्त होना चाहिए, तभी हम उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकेंगे। उपमाओं की मौलिकता भी हम थोड़े-बहुत चिन्तन के पश्चात् स्पष्टतः समझ सकते हैं और अनेक समाहरित उपमाओं की समष्टि के सौन्दर्य को भी सहज ही परख सकते हैं। कहीं-कहीं हमें समस्त कविता छोटे अक्षरों में ही लिखी मिलेगी; कहीं पर विराम-चिन्हों का पूर्ण लोप होगा[1]; कहीं रेखागणित तथा बीजगणित के सिद्धान्तों का अनुसरण दिखाई देगा और कहीं ऐसे विचित्र शब्दों का प्रयोग होगा जो अपनी अर्थ-शक्ति नहीं वरन् आह्वान-शक्ति के कारण प्रयुक्त हुए हैं।[2] कहीं एक अनुभव-विन्दु से छिटकते हुए अनेक असम्बद्ध अनुभवों की फुलझड़ी-सी छूटती दिखाई देगी।[3] प्रायः नई कविता नई शैली द्वारा हमारे सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के वैषम्य, वैयक्तिक जीवन के संशय तथा भय और नैतिक तथा आध्यात्मिक एवं बौद्धिक आग्रह-दुराग्रह को पूर्णतः स्पष्ट करना चाहती है। और इसमें सन्देह नहीं कि इन नवीन कविताओं को हृदयंगम करने में हमें कल्पना का सहारा अधिक

१. कमिंग्स। २. आडेन तथा स्पेंडर। ३. डे लिविस तथा आइशर वुड।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लेना पड़ेगा तभी हमें उनके शब्द-प्रयोग और उनकी शैली की पूर्ण शक्ति का परिचय मिलेगा। बाह्य रूप में प्रदर्शित जटिल शब्द-प्रयोग, अव्यवस्थित वाक्य-विन्यास तथा लयहीन पंक्तियों में हमें सूक्ष्म रूप में देखने पर नवीन भाव-समन्वय, नूतन लय तथा नवीन अर्थ के दर्शन होंगे।

प्रायः पाठक सहज ही यह पूछ बैठते हैं कि नई कविता में किस रस की निष्पत्ति सम्भव हो रही है। यद्यपि नई कविता करुण के मूल स्रोत से आविर्भूत हुई और करुण तथा वीभत्स का समन्वय कहीं-कहीं अब भी स्पष्टतः दृष्टिगत हो जाता है परन्तु इसकी परख अन्य सिद्धान्तों द्वारा ही सम्भव होगी। रस-परिपाक परिपाटी द्वारा काव्य का मूल्यांकन स्वयं एक रूढ़िगत सिद्धान्त है। षट्रस-व्यंजन एक साथ खाने से कौन स्वाद का विवेचन कर सकेगा। बुद्धिवादी समाज बौद्धिक गुणों से ही नई कविता को परख रहा है। नई कविता रोमांचक युग के श्रेष्ठ कवि शैली का सिद्धान्त दूसरे शब्दों में पुनः दुहरा रही है—'मेरे पास मदिरा की घूँट है; गोश्त के टुकड़ों के लिए और कहीं जाइए।'

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य की नई कविता का व्यापक अध्ययन, उसके मूल आधारों का समुचित विवेचन तथा उसकी कला और उसकी प्रभावोत्पादकता का तर्कपूर्ण विश्लेषण अनेक आलोचकों ने यथाशक्ति किया है। कुछ सहानुभूतिपूर्ण आलोचकों ने इस नई कविता को हृदयंगम करने, उसकी आत्मा को परखने, तथा उसकी कला को समादरित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी है और उनका प्रयत्न किसी हद तक सफल भी हुआ है; परन्तु इतना होते हुए भी नई कविता आधुनिक पाठक-वर्गों के मन में वह स्थान न बना पाई जो अन्य युगों की कविता ने सहज ही बना लिया। उसके प्रति विरोध ही नहीं विद्रोह की भावना भी यदा-कदा दृष्टिगत होगी परन्तु इस विरोध और विद्रोह के होते हुए भी नई कविता अपना नवीन नीड़ निर्माण कर रही है और धीरे-धीरे जन-मन में उसके प्रति प्रेम का आविर्भाव हो रहा है, और उसके आकर्षण की परिधि में विस्तार होता जा रहा है, और यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में यह नवीन काव्य-धारा वेगवती होती जायगी और अपनी नूतन-शक्ति द्वारा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफल होगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

जगदीश गुप्त

नई कविता में रस और बौद्धिकता

नई कविता नये युग की नई चेतना से उत्पन्न हुई है और उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली वही नहीं है जैसी सामान्यतया काव्यशास्त्रियों द्वारा जानी समझी गई है। शास्त्र और उसके सिद्धान्त साहित्य के किन्हीं रूपों के आधार पर निर्मित होते हैं। नये रूपों के विकास के साथ प्रायः नये शास्त्र और नये सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। रस-सिद्धान्त अथवा अन्य किसी काव्य-सिद्धान्त को सार्वभौमिक, शाश्वत और सर्वव्यापी मानने का मोह कभी-कभी नवीन साहित्य के मूल्यांकन में बाधक भी होता है।

बीसवीं सदी के मनुष्य की मनस्थिति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण इतनी दूर तक बदल चुकी है कि वह अपने रागात्मक सम्बन्धों को न तो "फिलासफाइज़" करके सन्तुष्ट हो पाता है, न किसी देवता के चरणों पर आत्मसमर्पण करके मुक्ति-लाभ कर पाता है। एक गहरा असंतोष, सहज अनास्था और "फ्रस्ट्रेशन" उसके हृदय में व्याप्त हो गया है जिसके कारण विश्वास ठहर नहीं पाते। बुद्धि और तर्क उन्हें टिकने नहीं देते। एक ओर भौतिकता की जड़ उपासना से उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता और अखण्ड अनाहत आनन्द की उसे अनुभूति नहीं हो पाती। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के संघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धान्तों के द्वन्द्व ने जीवन में एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। आदर्शों में शताब्दियों से प्रतिष्ठित भारी अराजकता आ गई है, तथा आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक संघात घनीभूत हो गया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र में आने वाली नई कृतियाँ स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही हैं। केवल वर्तमान आर्थिक कारणों से ही यह असन्तोष और अनास्था उपजी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों और संस्कारों में आई हुई संक्रान्ति से भी है जिस पर वैज्ञानिक युगीन बौद्धिकता की गहरी छाया है। बुद्धि भावों को स्थायी नहीं होने देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते। रस एक विशेष मनस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस विषण्ण युग के कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति की ओर नहीं जाती और अधिकांश नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है। पाठकों और श्रोताओं को अगर नई कविता रसमग्न नहीं कर पाती तो मुझे न इसमें कोई खेद होता है और न आश्चर्य। नई कविता को समझने के लिए नई अभिरुचि और नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जिनके पास वह अभिरुचि या दृष्टिकोण है उन्हें वह रुचिकर लगती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस प्रकार रस ग्रहण के लिए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचार्यों ने श्रोता में अनेक गुणों की आवश्यकता बतलाई है उसी प्रकार नई कविता का आस्वाद ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक संस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है।

नई कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है, अतः उसमें एक अन्तर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है; यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शैलीगत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान, आदि जिन्हें नई कविता की प्रमुख विशेषताएँ कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है। आर्नाल्ड की परिभाषा 'Poetry is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty,' यदि कहीं सर्वाधिक चरितार्थ होती तो कदाचित् नई कविता पर ही।

रस-सिद्धान्त और नई कविता न केवल भिन्न आधारों पर आधारित हैं, वरन् उनमें कुछ दूर तक परस्पर वैपरीत्य अथवा विरोध भी है। दोनों की प्रभाव-प्रक्रिया में सूक्ष्म अन्तर है जिसको परिलक्षित किए बिना नई कविता को न तो समझा ही जा सकता है और न उसके साथ न्याय किया जा सकता है। नई कविता आकर्षण को ही नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है। कहते हैं सताए जाने में भी एक मज़ा होता है। कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमें सहमा देती है—उन तथ्यों की ओर जिनको हम सहज रूप में शायद कभी नहीं देख पाते। रसानुभूति भावों के एक गहरे सामंजस्य को लेकर चलती है; नई कविता प्रायः पाठक को असमंजस में डाल देती है। यदि कोई कलाकृति हमें स्पर्शहीन छोड़ दे तो हम उसे कुछ भी नहीं मानेंगे पर नई कविता हमें स्पर्श करती है, ऐसा मैं स्वानुभव के आधार पर बलपूर्वक कह सकता हूँ। हाँ, उसके स्पर्श करने की प्रणाली अवश्य भिन्न है जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। इस भिन्नता को भी परखना होगा।

रसवादी शुक्ल जी के अनुसार 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है'। ज्ञान ऊपरी सतह है जिससे चीरकर काव्य हृदय में अन्तर्निहित रसानुभूति को जगा देता है। रस 'वेद्यान्तर सम्पर्कशून्य' होता है अर्थात् रसास्वादन के क्षणों में चेतना के बौद्धिक व्यापार शान्त हो जाते हैं अथवा यों कहें कि रसात्मक और अन्तर्मुखी हो जाते हैं। भाव और बुद्धि के बीच ऊपरी और निचली, या बाहरी और भीतरी सतहों की कल्पना औपचारिक प्रतीत होती है और यह आत्यन्तिक सत्य नहीं लगता। आदिम रूप में चेतना कुछ भी रही हो परन्तु युगों के विकास के बाद आज बुद्धि और हृदय की जो परस्पर संगुफित स्थिति है उसमें दोनों को इस प्रकार विभाजित करके नहीं देखा जा सकता। अगर ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार होता है तो यह कहना भी असत्य नहीं है कि भाव-प्रसार के भीतर ज्ञान-प्रसार होता है। भावों की संकीर्ण दीवारें मनुष्य के ज्ञान को संकुचित बनाए रखती हैं। बुद्धि-प्रसूत कभी कोई सशक्त विचार भावधारा को छिन्न-भिन्न कर देता है और कभी किसी भाव का वेग विचारों की शृंखला को विच्छिन्न कर देता है। दैनिक अनुभव का यह सामान्य सत्य अपनी विशेष व्याख्या नहीं चाहता। वास्तविकता यह है कि रस-प्रक्रिया भाव को ही केन्द्र में रखकर चलती है जब कि नई कविता बहुधा विचारों को छोड़ नहीं पाती क्योंकि बुद्धि को असन्तुष्ट अथवा स्पर्शहीन रखकर वह भावों तक जाना नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहती। नये युग का सतर्क वातावरण उसे ऐसा करने नहीं देता। भावों और विचारों के परस्पर उलझे सूत्रों में वह विचारों के सूत्र खींचकर भावों के सूत्रों को छेड़ने का यत्न करती है। बुद्धि से हृदय तक विचारों और रागों के मिले-जुले अनन्त स्तर हैं। आज की कविता इनमें से किसी को भी छू लेने में अपनी सार्थकता मानती है। लाक्षणिता का—जो नये-नये रूपों में सामने आ रही है—उसको बहुत बड़ा बल है। वह रूप और भावों को ही नहीं वरन् उनसे सम्बन्धित विचारों के भी प्रतीक गढ़ती रहती है। उसकी अभिव्यंजना प्रायः वक्री होकर चलती है जिसे समझने में बुद्धि की विशेष आवश्यकता होती है। जब कोई कवि अस्त-व्यस्त वस्त्र-विन्यास का वर्णन करता हुआ अन्त में कह उठता है कि 'वह देखो आया सन् तिरपन' (१९५३ : लक्ष्मीकान्त वर्मा) तो भले ही हम रसमग्न न हो सकें परन्तु आने वाले वर्ष की यह रूप-रेखा सहसा हमारे जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती-सी जान पड़ती है और सारे जीवन पर एक कठोर व्यंग्य बन जाती है। पहले मूर्त की कल्पना को उभारकर अन्त में उसे अमूर्त पर आरोपित करके नया अर्थ दे देने में एक विचित्र कलात्मकता भी है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली कविताओं में से ऐसे एक नहीं सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें नया लक्षण-विधान तथा नई अभिव्यंजना-शैली का प्रयोग किया गया है। कविताओं के शीर्षक तो प्रायः प्रतीकात्मक ही होते हैं और कविताएँ उनके प्रतीकार्थों का विस्तार। प्रतीकात्मकता की इस बाढ़ के पीछे भी बौद्धिकता का ही आग्रह दिखाई देता है।

अभिव्यक्ति की इस सारी प्रक्रिया में भाव निश्चित रूप से उतनी सात्विकभावमयी, शिरश्चालनयुक्त, विगलित दशा को नहीं पहुँच पाते जिस तक उन्हें रसवादी कविता सहज ही पहुँचा देती है। विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोजन का इसमें आग्रह दिखाई नहीं देता। यही क्या, रसवादी कविता के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण नई कविता में नहीं मिलते यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त, छन्द, गेयता तथा पुनरावृत्ति आदि का अभाव या इनके प्रति उदासीनता भी बौद्धिकता का ही सहज परिणाम है। आलाप, प्रलाप और विलाप से कविता अब काफी दूर हट गई है। उसके सौन्दर्यबोध में अन्तर आ गया है। अनगढ़पन में ही वह निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढ़ाने और माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है। कुछ लोगों को इसी कारण नई कविता से क्षोभ होता है। वस्तुतः भाव-प्रणाली की अपेक्षा नई कविता की प्रभाव-प्रणाली परम्परा से कहीं अधिक भिन्न हो गई है। गद्य-साहित्य के अपूर्व सर्वांगीण विकास के कारण कविता और उसके बीच एक व्यवधान आ गया है। नई कविता इस व्यवधान को पूरती हुई आगे बढ़ रही है। प्राचीन और मध्यकाल में गद्य कविता के समीप था; आज कविता गद्य के समीप आ रही है। विकास और परिवर्तन के इस क्रम को कोई सिद्धान्त और कोई शक्ति रोक नहीं सकती। नई कविता किसी प्रतिक्रिया से नहीं उपजी है, वह आधुनिक मानस की सहज परिणति है। पर उसे रसमय कविता को स्थानापन्न करने का दावा नहीं करना चाहिए और न ऐसा सर्वथा सम्भव ही है। समग्र रूप में वस्तु-स्थिति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि काव्य के अनेक रूपों में वह एक ऐसा नवीन रूप है जिसमें अगणित सम्भावनाएँ छिपी हैं। उसका निषेध-मात्र तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। काव्य-शास्त्रियों को उसे किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा देनी ही होगी।

मैं कविता और रस के सम्बन्ध को एक मौलिक प्रश्न के रूप में ग्रहण करता हूँ और ऐसा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं मानता कि इसका उत्तर अब आगे खोजना ही नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य की आत्मा खोजने का जो अथक प्रयास किया है, उसका ज्ञान नई कविता के समझने में सहायक हो सकता है। भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें रस का समावेश नहीं है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन आचार्यों ने काव्य में रस-तत्त्व का महत्त्व नहीं समझा। कुछ ने तो रस-सिद्धान्त और साधारणीकरण की समस्या पर बड़ी गम्भीरता से मौलिक रूप में विचार किया है। सारी परिभाषाओं में विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ही ऐसी है जिसने रस को ही काव्य का अनिवार्य लक्षण माना है। रस की महत्ता पहले भी स्वीकार की गई जैसे नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण और चन्द्रालोक आदि में। भरत के द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त विशेषतः दृश्य-काव्य के लिए हैं। श्रव्य-काव्य के लिए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि के सिद्धान्त बने। बाद में ध्वनि-सिद्धान्त को व्यापक बनाकर अभिधामूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस को भी समाविष्ट कर लिया गया। नव रसों का विधान प्राचीन ग्रन्थों में या तो नाटकों के लिए मिलता है या महाकाव्यों के लिए। दोनों में ही कथा और विस्तार रहता है। रस की निष्पत्ति के लिए स्थायी-भाव, विभाव, संचारी भाव और अनुभवों के योग की जो बात आवश्यक है वह स्फुट-काव्य में उस रूप में सम्भव नहीं है। इसीलिए प्राचीन मुक्तक-काव्य में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य आदि की प्रधानता मिलती है। काव्य में उत्तम, मध्यम और अधम यह तीन भेद करके भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। स्वयं विश्वनाथ ने जब काव्य के लिए रस की शर्त को पूरा पड़ते नहीं देखा तो रस-तत्त्व की प्रधानता वाले उत्तम काव्य के साथ अन्य विशेषताओं वाले काव्य को गौण-काव्य कहकर मान्यता प्रदान की। केवल रस की दृष्टि से नई कविता निश्चय ही उत्तम कोटि में नहीं आती पर जहाँ तक मैं सोचता हूँ हिन्दी की समस्त नई कविता को रस की कसौटी पर कसकर खरा-खोटा बता देना उचित नहीं है। जैसा निर्देश किया जा चुका है, उसमें लक्षणा-शक्ति का नवीन विकास हुआ है और उक्ति-वैचित्र्य की नई परम्परा का सूत्रपात हुआ है जो बौद्धिकता में सूर के कूटों और कबीर की व्यंग्योक्तियों से सर्वथा भिन्न और कहीं अधिक सूक्ष्म तथा श्रेष्ठतर है।

अच्छी कविताओं के साथ बुरी कविताएँ सदा ही रची जाती रहीं। छायावाद के नाम से जितनी कविताएँ सामने आईं, क्या सभी में संवेदनीयता मिलती है? इसी तरह नई कविता पर भी यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। कुछ नये कवि ऐसे भी हैं जिनकी कविता रागात्मक सम्बन्ध को पर्याप्त महत्त्व देती है। व्यक्तिगत रूप में मुझे विश्वास है कि भविष्य में हिन्दी कविता बुद्धि और हृदय, विचार और राग के बीच अधिक संतुलन स्थापित कर सकेगी और उसे जन-रुचि का आश्रय भी मिलेगा। विदेशी प्रभाव के आत्मस्थ तथा समन्वित हो जाने पर नई कविता विशेष प्राण-शक्ति पाकर फले फूलेगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल'

मराठी नव-काव्य और रस-विचार

नवीन काव्य और रस पर विचार करते समय पहला प्रश्न यही उठता है कि नवीन काव्य के प्रसंग में रस पर विचार करना क्यों आवश्यक है ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से ज्यादा परिचित आधुनिक आलोचकों का मत है कि परम्परागत संस्कृत साहित्य-शास्त्र नये काव्य की विवेचना करने के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। उसके अन्तर्गत मुख्य रस-व्यवस्था इतनी स्थूल है कि वह नव-काव्य की अनेक सुन्दर कृतियों पर भी लागू नहीं होती। नायक-नायिका तथा अलंकार आदि के सूक्ष्म भेद-उपभेदों का निरर्थक निरूपण, न केवल नवीन काव्य, बल्कि प्राचीन काव्य को भी समझने में सहायक नहीं सिद्ध होता। अमुक कविता में रस-शृंगार है, रति स्थायी-भाव है, नायक धीर-ललित है, नायिका मुग्धा है तथा अलंकार भ्रान्तिमान है, इस तरह की विवेचना काव्य का रहस्य समझने में सहायक नहीं होती, अतः यही बेहतर होगा कि नवीन काव्य पुराने साहित्य-शास्त्र का आश्रय छोड़ दे। चूँकि वह ज्यादातर पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है अतः तत्सम्बन्धी विवेचना करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र ही ज्यादा उपयोगी होगा।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के पण्डितों का मत संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विरुद्ध क्यों है, इसके कुछ कारण हैं। प्राचीन-काल में संस्कृत-साहित्य के पण्डितों ने मराठी के नवीन-काव्य का स्वागत करने के बजाय उसका तिरस्कार ही किया। हालाँकि यह तिरस्कार लिखित रूप में नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि संस्कृत के पण्डित मराठी के नव-काव्य को इस योग्य नहीं समझते थे कि उसे अपने परिश्रम का विषय बनाते। किन्तु मौखिक वादविवाद में समय-समय पर नवीन कवि अपने को उपेक्षित अनुभव करते थे। साहित्य-शास्त्र का गहन अध्ययन करने वाले पुराने पण्डितों के साथ जिन्होंने नये काव्य के सम्बन्ध में वादविवाद किया होगा उनके पास उस विषय के अनेकों उदाहरण होंगे। ये पुराने पण्डित मराठी के नव-काव्य के प्रथम प्रवर्तक केशवसुत की कविताओं की भी उपेक्षा किया करते थे। वे कहा करते थे कि केशवसुत की कविताओं में न तो रस है और न अलंकार ही, ऐसी हालत में उनको 'काव्य' नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वे नये काव्य की निन्दा करते और शृंगार-रस के संस्कृत के किसी श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उत्तम काव्य के सम्बन्ध में उपदेश दिया करते थे।

शायद ऐसे ही पण्डितों को दृष्टि में रखकर श्री केशव सुत ने एक कविता लिखी थी जिसका आशय यह था कि "कविता ऐसी लिखी जानी चाहिए, ऐसे नहीं लिखी जानी चाहिए—यह उपदेश कवियों को देने का आपको क्या अधिकार है ?"

मराठी के नवीन काव्य की शुरुआत के ३०० साल पहले से ही संस्कृत साहित्य-शास्त्र गतिशून्य हो गया था। उसका विकास रुक गया था। वह परम्पराबद्ध और अगतिशील बन गया था। स्वभावतः उसका अध्ययन करने वाले पुराने पण्डित भी परम्पराप्रिय तथ कुंठित मति बन गए थे। वे यह नहीं समझ सकते थे कि साहित्य-शास्त्र परिवर्तनशील है और उसको विकसित कर उसे नव-काव्य की विवेचना करने में समर्थ बनाया जा सकता है।

सौभाग्य से यह स्थिति खत्म होने का क्षण दिखाई पड़ रहा है। जबसे संस्कृत और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों का अध्ययन करने वाले नये पण्डितों ने साहित्य-शास्त्र की आलोचना करनी शुरू की है, तबसे उसकी कुंठित अवस्था समाप्त होने लगी है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य रस-सिद्धान्त को परिवर्द्धित करने की अनेक महानुभावों ने कोशिश की है। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'उदात्त' नामक एक स्वतन्त्र रस मानने का सुझाव दिया। श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने यह अनुरोध किया कि नवमतवादी साहित्य-शास्त्र का निर्माण करने का समय अब आ गया है। श्री श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने रसों का एक स्वतन्त्र आधार प्रस्तुत किया और शान्त एवं शान्तोत्तर नामक रसों के दो विभाग किये। ज्ञानकोशकार श्री केतकर ने यह मत प्रकट किया कि यदि मराठी साहित्य-शास्त्र का सुव्यवस्थित ढंग से निर्माण किया गया होता तो नई विचारधाराएँ उत्पन्न होतीं और गति-शून्य संस्कृत-शास्त्र की प्रगति अवश्य हुई होती। डॉ० माधव गोपाल देशमुख ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में मराठी साहित्य-शास्त्र की सुव्यस्थित रचना की। श्री रा० श्री० जोग, श्री द० के० केलकर तथा डॉ० बारवे ने रस-व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया और रस के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। इसके अतिरिक्त उन्होंने मराठी के नवीन काव्य के उदाहरण प्रस्तुत कर उसकी रसात्मक विवेचना को प्रोत्साहन दिया।

निश्चय ही इन प्रयत्नों से संस्कृत साहित्य-शास्त्र को विकसित होने की प्रेरणा मिली। फिर भी सवाल उठता है कि नवीन काव्य की विवेचना के लिए क्या ये प्रयत्न आवश्यक हैं? पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर यदि यह विवेचना सम्भव है तो फिर इन प्रयत्नों की क्या जरूरत है?

मैं समझता हूँ कि यह सवाल ज्यादातर उन्हीं लोगों द्वारा उठाया जाता है जो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से अपरिचित हैं। वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने वालों की समझ में यह बात फ़ौरन आ जाती है कि भरत मुनि से लेकर जगन्नाथ पंडित तक संस्कृत साहित्य-शास्त्र का विकास निरन्तर होता गया। काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त और क्रान्तिकारी मत प्रकट किये गए। इस प्रकार रसों की संख्या में वृद्धि हुई। इस शास्त्र ने १६वीं सदी तक के साहित्य की समुचित विवेचना की। उसके सिद्धान्त सही हैं। फिर भी यदि उसे विकसित कर नया रूप प्रदान किया गया तो निस्सन्देह वह नव-काव्य की विवेचना के लिए योग्य और समर्थ बन सकता है। इस प्रकार के प्रयत्नों से साहित्य-शास्त्र में क्रान्ति होकर नये साहित्य-शास्त्र का निर्माण होगा और यही नया साहित्य-शास्त्र नये काव्य की विवेचना करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से भी ज़्यादा लाभप्रद साबित होगा।

केशवसुत तथा उनके बाद के काव्य की रसात्मक विवेचना करने की जिन्होंने कोशिश की उनका दृष्टिकोण यह था कि रसों के स्थायी भाव बदले जायँ और भक्ति तथा वत्सल आदि पूर्व-मान्य रसों को स्वीकार किया जाय। अतः रस-सिद्धान्त की दृष्टि से नव-काव्य की विवेचना करने के कार्य में उनसे ज्यादा मदद नहीं मिली। इसके विपरीत, इस व्यवस्था के अपर्याप्त या अपूर्ण होने का ही अनुभव ज़्यादा होने लगा। प्राचीन साहित्यकारों ने उन्हीं भावों को रस माना जिनकी अभिव्यक्ति का उन्हें स्थायी रूप से अनुभव हुआ। फलतः उन्होंने रसों की संख्या भी बढ़ाई। शान्त भक्ति-जैसे नये रस प्रायः सर्वमान्य हो गए। उस समय जिन भावों की अभिव्यक्ति का स्थायी रूप से अनुभव नहीं हुआ था उनको पहले से ही मानना प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिए सम्भव नहीं था। यह काम वास्तव में भावी साहित्य-शास्त्रियों का था। किन्तु इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण ही आज अनेक पंडित प्राचीन रस-व्यवस्था के अनुसार नवीन काव्य की विवेचना किये जाने का अनुग्रह करते हैं। निस्सन्देह यह दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्र के विकास में बाधक है।

उदाहरण के तौर पर यहाँ हम केशवसुत की सुप्रसिद्ध कविता "तुतारी" (तुरही) की विवेचना प्राचीन रस-संख्या के अनुसार करेंगे। डा० बारवे संस्कृत साहित्य-शास्त्र को परिवर्तन-शील मानने वालों में हैं, किन्तु उन्होंने भी इस कविता को वीर-रस की कविता माना है। प्रस्तुत कविता में समाज की अन्यायपूर्ण रूढ़ियों का जो विरोध किया गया है वही उनके मत में वीर-रस का विभाव है। किन्तु प्राचीन पंडितों के मत में वीर-रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है और उत्साह का लक्षण है : "कार्यारम्भेषु संरंभः स्थेयानुत्साह उच्यते"। इस उत्साह की जड़ में जीतने की इच्छा रहती है। किन्तु "तुतारी" कविता पढ़ते समय इस प्रकार के स्थायी रस का अनुभव सहृदयों को प्राप्त नहीं होता। डा० बारवे के मतानुसार "उत्साह" स्थायीभाव ही नहीं है। यह मान लेने पर वीर-रस का लोप होता है। अतः उनका सुझाव है कि वीर-रस का स्थायीभाव "अमर्ष" माना जाय। हालाँकि प्राचीन पंडितों ने "अमर्ष" का लक्षण 'सहन न करना' बताया है, फिर भी वह दूसरों द्वारा की गई निन्दा, अपमान तथा आज्ञाभंग को सहन न करने तक ही सीमित है। अतः डा० बारवे को 'अमर्ष' का अर्थ यह करना पड़ा कि "अपने अधिकारों का अनुचित अतिक्रमण सहन न करना।" इस प्रकार उन्होंने "अमर्ष" को वीर-रस का स्थायीभाव बनाया और "तुतारी" कविता को वीर-रस की कविता बनाया।

रस-विवेचना की दृष्टि से यह प्रयत्न स्वागत-योग्य होने पर भी उससे केशवसुत के काव्य का अन्तरंग समझने की इच्छा रखने वाले सहृदय पाठकों को सन्तोष-लाभ न होगा। क्योंकि "तुतारी" (तुरही) कविता पढ़ते समय उनको वीर-रस का आनन्द प्राप्त नहीं होता और उस आनन्द के उत्पादक "अमर्ष" नामक स्थायी भाव का भी अनुभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में मेरी राय में यह ठीक नहीं है कि पुराने रसों के नाम ज्यों-के-त्यों रखकर केवल सदियों से प्रचलित उनके अर्थ बदल दिये जायँ। क्योंकि इससे पुराना साहित्य-शास्त्र जो पुराने काव्य-क्षेत्र पर यथोचित रीति से लागू होता है, बाधित हो जाता है। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से उचित यही होगा कि नवीन काव्य में प्रतीत होने वाले महत्त्वपूर्ण नये रसों और उनके स्थायीभावों को नया नाम दिया जाय। केशवसुत तथा उनके बाद की कुछ कविताओं में उत्कट रूप में प्रकट होने वाला रस पुराने ९ या १२ रसों से बिलकुल भिन्न है, अतः उसका स्थायीभाव भी विभिन्न माना जाना चाहिए। लेखक ने अपनी यह राय १९४६ में पूना में आयोजित साहित्य-परिषद के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए जाहिर की थी। केशवसुत के काव्य का प्रारम्भ होने के पहले से ही पाश्चात्य साहित्य में इस रस का अनुभव हो रहा था। सम्पूर्ण दृष्टि से एकरस होने वाले कवियों और साहित्यकारों को भी अपने जीवन में एकता की अनुभूति हो रही थी। उनको जनता पर होते अन्यायपूर्ण आक्रमण तथा दलित जनों का उत्पीड़न देखकर दुःख हो रहा था। उनके हृदय में संवेग उत्पन्न होकर क्षोभ भी होता था। उसी क्षोभ को वे अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी ललित कृतियों में प्रकट करते थे। इन कृतियों का रसास्वादन करने वाले सहृदय पाठकों के हृदय में भी यही संवेग और क्षोभ उत्पन्न होता था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केशवसुत के काव्य के अन्तर्गत रसधारा भी इसी तरह की है। इनकी "तुतारी" (तुरही) कविता का ही उदाहरण लीजिए। उनको लाठियों और जुल्मों से मानवता के पीड़ित होने का तीव्र ज्ञान है। यह पीड़ा देखकर उनके दिल में उसे बरदाश्त न करने और जनता को उचित समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रेरित करने का "संवेगात्मक भाव" उत्पन्न होता है। इसी संवेग से उत्पन्न क्षोभ उनकी प्रस्तुत कविता में भी मौजूद है।

केशवसुत के काव्य का अन्तरंग जानने वाले सहृदयों का उनके काव्य में निहित नवीन रस—जो प्राचीन रस-व्यवस्था में शामिल नहीं हैं—की अनुभूति होती है और इस रस को स्वीकार करने के लिए यही अनुभूति काफी है। सहृदयों की अनुभूति ही साहित्य-शास्त्र द्वारा मान्य रसाभिव्यक्ति का प्रमाण है। यह नया रस "वीर-रस" नहीं है। क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव 'उत्साह' होता है और जीतने का उद्देश्य रखता है। किन्तु इस प्रकार का उद्देश्य इस नये रस के स्थायीभाव में नहीं है, "तुतारी" की कुछ पंक्तियों में उत्साह केवल संचारी-भाव की तरह दिखाई पड़ता है। "तुतारी" पढ़ते समय जिस स्थायीभाव का अनुभव होता है वह रूढ़ियों और अत्याचारों के खिलाफ संवेग का भाव है। चूँकि रसिकों की अनुभूति ही प्रमाण मानी जाती है, अतः प्रस्तुत कविता में कौनसा रसास्वादन होता है, यह सूक्ष्म दृष्टि से देखना आवश्यक है।

मराठी काव्य के समालोचक तथा सहृदय रसिक आचार्य जावडेकर ने यह मत प्रकट किया है कि इधर मराठी काव्य और अन्य साहित्यिक कृतियों में एक नया रस निर्माण हो रहा है और उसकी अनुभूति केशवसुत के काव्य में प्राप्त होती है।

जहाँ तक नए रस की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, मैं उनके विचारों से समहत हूँ। किन्तु नये रस के नाम, उसके विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव आदि के बारे में मेरा उनसे मतभेद है।

आचार्य जावडेकर इस नए रस को "क्रान्ति रस" का नाम देते हैं और पुरानी तथा नवीन बातों के संघर्ष को उसका आलम्बन-विभाव तथा नया समाज-निर्माण करने की प्रवृत्ति को उसका स्थायीभाव मानते हैं।

नाम देने का सवाल चाहे अन्य क्षेत्रों में गौण हो पर साहित्य-शास्त्र में परिभाषा की दृष्टि से उसका महत्त्व है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के संयोग से स्थायीभाव का रूपान्तर होता है। व्यक्त रूप को रस का नाम दिया जाता है। रसोत्पत्ति की यह प्रणाली ध्यान में रखकर ही रस तथा उसके स्थायीभाव का नाम आदि निश्चित करना हमारे लिए उचित होगा।

आचार्य जावडेकर द्वारा स्वीकृत 'नया समाज निर्माण करने की प्रवृत्ति' दरअसल भाव ही नहीं है। यह जरूरी है कि स्थायीभाव की जड़ मानव की स्वाभाविक वृत्ति में जमी हो। यह बात उदाहरण से स्पष्ट होगी। 'तुतारी' कविता को पढ़ते समय हमें यह देखना होगा कि 'नये समाज का निर्माण करने की प्रवृत्ति' की अनुभूति होती है या नहीं। मेरे खयाल से वह कविता पढ़ते समय 'सहन न करने' के भाव की ही अनुभूति होती है। अनुभूति तो किसी भाव की ही हो सकती है और उसी भाव को स्थायीभाव माना जा सकता है। इस भाव को 'अमर्ष' कहा जा सकता है, किन्तु इस शब्द से भी प्राचीन साहित्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित लक्षण जुड़े हुए हैं। ये लक्षण प्राचीन साहित्य-शास्त्र के उदाहरणों पर अच्छी तरह लागू होते हैं। उनको व्यापक बनाने के बजाय नये शब्द का निर्माण करना ही बेहतर होगा। इसी कारण मैंने उस स्थायीभाव को 'संवेग' का नाम देने का सुझाव दिया है और उसका लक्षण यह किया है—'संवेगो नाम पर-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पीड़ा दर्शने सहसंवेदेनतितिक्षारहितत्वात् प्रतिकारे मनसः प्रवृत्ति नवजगद्रचनात्मिका।"

रस स्थायीभाव का परिणत व्यक्त रूप होता है। अतः स्थायीभाव से सम्बन्ध रखकर ही उसको (रस) नाम दिया जाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि 'क्रान्ति रस' यह नाम उपरि-निर्दिष्ट स्थायीभाव का परिणत स्वरूप दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकता। क्रान्ति का अर्थ भावोद्रेक नहीं है। वह पुरानी स्थिति की समाप्ति के बाद नई स्थिति का निर्माण है। रस को इस प्रकार का नव-निर्माण वाचक नाम देना उचित न होगा। जिस काव्य में यह नया रस प्रतीत होता है उसमें हमेशा क्रान्ति का रहना भी आवश्यक नहीं है। कभी-कभी मानवता, जीवनानन्द और विकास अभीष्ट होता है। 'क्रान्ति रस' के प्रयोग से नये रस का रूप संकुचित होने की सम्भावना है। इसीलिए मैंने उस रस को 'प्रक्षोभ' नाम दिया है जो पूर्वोक्त संवेग नामक स्थायी-भाव का परिणत व्यक्त स्वरूप है।

'प्रक्षोभ' नामक नया रस स्वीकार करने से केशवसुत से लेकर मर्ढेकर तक के नव-काव्य में दिखाई पड़ने वाले नये रस की, जिसका प्राचीन रस-व्यवस्था में अभाव है, संगति अच्छी तरह बैठाई जा सकती है। यहाँ हम मर्ढेकर के काव्य को उदाहरण-स्वरूप पेश कर सकते हैं। परम्परा-गत गतिशून्य साहित्य-शास्त्र की रस-व्यवस्था की सीमा के अन्दर यदि उनकी विवेचना करनी हो तो हम कह सकते हैं कि वह वीभत्स रस का है और उसका स्थायीभाव 'जुगुप्सा' (घृणा) है। किन्तु यह विवेचना काव्य के अन्तरंग की नहीं होगी। वास्तविक स्थिति उसके विपरीत है। दर-असल मर्ढेकर के काव्य में घृणा या वीभत्स रस का अनुभव नहीं होता, बल्कि आर्थिक घटनाओं से उत्पन्न स्थिति के विरुद्ध संवेग का भाव पैदा होकर 'प्रक्षोभ' रस की ही प्रतीति होती है। घृणा भाव या वीभत्स रस उसमें संचारीभाव का काम करते हैं और मुख्य रस 'प्रक्षोभ' की निष्पत्ति में सहायक होते हैं।

मैं केवल यही बताना चाहता था कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र में वर्णित रस नवीन काव्य के महत्त्वपूर्ण विषयों की विवेचना करने में नाकाफ़ी है। अतः नये रसों को स्वीकार करना जरूरी है। इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि सिर्फ रसों की विवेचना करने से ही काव्य का अन्तरंग समझ में आ जायगा। यदि हम चाहते हैं कि हमारा पुराना साहित्य-शास्त्र नये काव्य की अच्छी तरह विवेचना करने में सहायक बने तो हमें उसका परम्परागत रूप बदलना और उसमें नई विचारधाराओं को सम्मिलित करना होगा। इन प्रयत्नों का उपहास उड़ाया जा सकता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि उनको निश्चित रूप से मान्यता प्राप्त होगी और इससे साहित्य-शास्त्र का पुनरुत्थान ही होगा।

अनुवादक—बालाजीराव जोशी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लक्ष्मीकान्त वर्मा

नई कविता में वर्ग-उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ

समकालीन कलाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों में संस्कारगत मान्यताओं और बाह्य वस्तु-परिस्थितियों का संघर्ष विभिन्न रूप में व्यक्त हुआ है। विशेषतया उसमें अन्तर्विरोधी और आत्म-विरोधी तत्त्वों का एक विचित्र सम्मिश्रण कुत्सित और भ्रष्ट परम्परा के रूप में दिन-पर-दिन पनपता जा रहा है। एक ओर कलाकार की सहज, स्वाभाविक चेतना की बरबस पकड़ है और दूसरी ओर वस्तु-स्थिति, वस्तु-सत्य और यथार्थ का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव। इन दोनों सीमाओं में उसका बौद्धिक ह्रास और उसकी अस्वाभाविक अभिव्यक्ति उसकी कृति के मूल्य, शिल्प और वस्तु तीनों को नष्ट कर रही है। इस मानसिक उत्पीड़न से ग्रस्त होकर कलाकार यह भूल जाता है कि उसका उद्देश्य जीवन के प्रति एक समुचित और सबल दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है न कि किसी दृष्टिकोण को आतंक रूप में अपने ऊपर लाद लेना। आज की नई कविता में इसी प्रकार के विरोधी तत्त्वों के कारण एक ओर अस्वाभाविक, अनियन्त्रित, रसहीन, यन्त्रवत् टकसाली रचनाएँ बढ़ती जा रही हैं और दूसरी ओर अन्यथा रूप से संस्कार-च्युत रचनाएँ प्रस्तुत हो रही हैं जिनमें केवल विशृङ्खल, बनावटी और खोखली भावनाएँ और मानसिक विक्षिप्तता ही दृष्टिगोचर होती है। यह बात केवल नई पीढ़ी के कलाकारों, कवियों अथवा लेखकों में ही नहीं है वरन् पुरानी पीढ़ी के कवियों में भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में कुछ सामाजिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी भ्रान्तियों को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ लेना आवश्यक है :

☆ कवि का व्यक्तित्व और उसकी यथार्थ वास्तविकता (Artist's Personality & Social Reality) का विरोध तथा उसकी व्यक्तित्वहीन कृतियों का बाहुल्य उस स्थिति के परिणाम हैं जिसमें व्यक्ति अपने संस्कारों से च्युत होने के कारण कला, साहित्य और कविता में मिथ्या स्वप्न-सृजन (Day-dreaming) नकली साहसिकता (Pseudo-adventurism) और चमत्कारिक प्रयोग (Novice experiments) के भ्रम में सच्ची अनुभूतियों को ग्रहण करने में असमर्थ हो रहा है।

☆ भौतिकवाद का मूल दर्शन काल्पनिक आदर्शवाद का पलायन बनकर मनमाने स्वप्न गढ़ता जा रहा है जिसके कारण आज के साहित्य, कला और कविता में अस्वस्थ, नीरस और निराशावादी प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती जा रही हैं। भौतिकवाद के आधार में जिन वैज्ञानिक तथ्यों और अन्वेषणों का सहारा लिया जाता है, काल्पनिक आदर्शवाद उसके बिना चलना चाहता है किन्तु भौतिकवाद के बाह्य रूप को वह अस्वीकार भी नहीं कर पाता, फलस्वरूप कृतियों में उलझन, अनास्था, आत्म-पीड़न और विद्रूप की प्रवृत्तियाँ उभर आती हैं।

☆ व्यक्ति और समाज का संघर्ष, चेतन और उपचेतन मानसिक स्तरों में जिन कुण्ठाओं को विकसित करता है, उनका प्रभाव आज की कविता में स्पष्ट रूप से मिलता है। व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखने की एक प्रवृत्ति है जो एकांगी और संकीर्ण सीमाओं में बँधी है। समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखने की प्रवृत्ति में मिथ्या आतंक और अनावश्यक यान्त्रिकता उभर आती है जिसमें सतही तरीकों से अनुभूतियों को अपाहिज बनाकर व्यक्त किया जाता है।

☆ इसी से मिलती-जुलती हुई वर्ग-उन्मूलन से प्रभावित रचनाएँ हैं जिनमें स्वतः लादी हुई मान्यताओं को फैशन के रूप में स्वीकार करके स्वाभाविक प्रवृत्तियों और संस्कारगत भावनाओं की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवहेलना बिना किसी उचित धारणा या वास्तविक ज्ञान के की जाती है। वर्ग-उन्मूलन की भावना को अस्वस्थ ढंग से स्वीकार करके आज का एक साहित्यिक वर्ग, कला की मान्यताओं की अवहेलना को ही सृजन की शक्ति मान बैठा है। सामाजिक उपयोगितावाद को अतिशय रूप में स्वीकार करके अस्थायी और रुग्ण साहित्य पैदा किया जा रहा है जिसकी मान्यताएँ स्वयं सामाजिक यथार्थवाद के मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ अनास्थावादी साहित्य को प्रोत्साहन दे रही हैं। यह अनास्था किसी व्यवस्था-विशेष के प्रति न होकर स्वयं अन्तर्मुखी होकर अनियन्त्रित चीख-पुकार के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाती।

मानसिक विक्षिप्तता भी इसी संस्कार-च्युत भ्रमित काव्य-परम्परा की देन है जिसमें परम्परागत संस्कारों को अमान्य समझने की वर्तमान अनास्था में व्यक्ति के मानसिक विकास और जिज्ञासा को सँभालने की क्षमता नहीं है। परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखी विक्षिप्तता अथवा बहिर्मुखी असंगत भवितव्यता का विकसित होना स्वाभाविक है।[1]

इसके साथ-साथ मार्क्सवादी विचार-धारा का सैद्धान्तिक पक्ष भी नई कविता में उपयुक्त भावनाओं को उत्प्रेरित करने में सहायक है क्योंकि कम्युनिज़्म में कवि अथवा कलाकार के व्यक्तित्व को जान-बूझकर दबाने की प्रवृत्ति है। सामयिक साहित्य को महत्त्व प्रदान करके मार्क्सवादी समीक्षक लेखक की आन्तरिक अनुभूतियों की स्वाभाविकता को पथभ्रष्ट कर देता है और केवल भौतिक और उपयोगी साहित्य के निर्माण के लिए बाध्य भी करता है।

किन्तु इसी प्रकार का अतिवादी आदर्शवाद, व्यक्तिवाद और रूमानी साहित्य भी उन्हीं दोषों को अपना लेता है जो एक यान्त्रिक कम्युनिस्ट अपनाता है। दोनों ही अतिवादी बन जाते हैं और इस प्रकार या तो विकृत भौतिकवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं या घोर बुद्धिवादी के रूप में पहेली बुझाने लगते हैं। अपने वर्ग के संस्कारों से लदे हुए भी किसी अन्य वर्ग की भावना को जबरदस्ती अपने ऊपर आरोपित कर लेते हैं और उसकी प्रतिक्रिया उनके कृतित्व पर असंगत, असाधारण ग्रन्थि के रूप में व्यक्त होती है। इसके प्रमाण पन्त, निराला, नवीन से लेकर बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर और अन्य तरुण कवियों में भी पाए जाते हैं।

पन्त जी की नई कविताओं में ऐसी भावनाओं का प्रत्यक्ष प्रमाण समय-समय पर मिलता है। पन्त जी 'पल्लव' में सूक्ष्म छायावादी रूमानी कवि थे। "'पल्लव' काल में मुझसे (पन्त जी से) प्रकृति की गोद छिन जाती है, 'पल्लव' की रूप-रेखा में प्राकृतिक सौन्दर्य तथा उसकी रंगीनी तो वर्तमान रहती है, किन्तु प्रभावों के रूप में उससे वह सान्निध्य का सन्देश लुप्त हो जाता है। प्रकृति के उपकरण राग-वृत्ति के स्वर बन गए हैं।" यह सूक्ष्म रूमानी भावना ही उनकी अपनी स्वाभाविक भावना है। किन्तु जहाँ वह अपनी इस आधार-पीठिका को छोड़कर आरोपित गतिविधि

---

१. The Neurotic is himself a symptom of the modern conflict between the individual and Society, a conflict which might, in other ages, have been productively surmounted in artistic creation···Everyone suffers--individual, community and not the least arts as an ideological expression of their inter-relation, Otto Rank : ART & ARTIST.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को अपनाते हैं वहीं उनकी कविता में शिथिलता और भावभूमि में बौद्धिकता[1] भी बढ़ जाती है। 'ग्राम्या', 'युगवाणी' और 'युगान्त' तक की रचनाओं में पन्त जी की यह अनिश्चित और दुविधापूर्ण स्थिति रहती है। एक जगह पर तो वह "मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना को उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिविम्ब" मानते हैं, इसीलिए वह कम्युनिज़्म से प्रभावित होकर यह भी कहते हैं कि "मेरे प्राण सौन्दर्यवादी हैं और मेरा सौन्दर्य लोक-प्राण है···मैं चाहता हूँ कोई प्रतिभाशाली कवि कम्युनिज़्म के लोक-प्राण कल्याणकारी सौन्दर्य को राजनीति और अर्थनीति की शृङ्खलाओं से मुक्तकर विश्व के हृदय-शतदल में प्रतिष्ठित कर दें जिससे लोग उसे अनायास ही ग्रहण कर सकें।" किन्तु दूसरी ओर राष्ट्रवादी भावनाओं, गांधीवादी आन्दोलन और कम्युनिज़्म के बीच उनका सौन्दर्यवादी, प्रकृति-उपासक और सूक्ष्म रूमानी कवि भटकाव में पड़ जाता है। पन्त जी को "जब वस्तु-जगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना की उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है···यही कारण है कि मेरी रचनाएँ भावात्मक न रहकर बौद्धिक बनती गईं।"[2] यह सूनापन निश्चय ही उनकी मानसिक ग्रन्थियों का सूनापन था जो प्रतिक्षण एक समझौते की ओर उन्हें खींचता रहा। यही कारण है कि इस समझौते में उनकी संस्कार-च्युत भावना पराजित और पीड़ित आत्मग्लानि के रूप में व्यक्त होकर यहाँ तक कह देती है :

देह-मना मानव मुर्झाता, आत्म-मना मानव दुःख पाता
इस युग में प्राणों का जीवन, बहता जाता, बहता जाता।

पन्त के बाद निराला की नई कविताओं का आकलन आवश्यक है। 'परिमल' की कविताओं में उनकी आस्थावादी प्रवृत्ति है जो 'अनामिका' तथा 'तुलसीदास' तक चलती है किन्तु 'बेला', 'नये पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' में जब वह वस्तु-सत्य और अपनी शास्त्रीय चेतना को एक साथ बैठाने का प्रयास करते हैं तो उनकी कविता में असाधारण संस्कार-च्युत अतिवादिता का प्रत्यक्ष विस्फोट-सा हो जाता है। 'कुकुरमुत्ता' जहाँ विषय-वस्तु के संचयन और व्यापक जीवन से प्रेरणा लेने का सही संकेत देता है, वहीं वह असन्तुलित वर्ग-उन्मूलन का आक्रोश भी व्यक्त करता है, जिसमें काव्यानुभूति की अपेक्षा एक 'वस्तुवादी' वर्ग-भावना की अपरिष्कृत अभिव्यक्ति है :

"अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू याँ ओ' आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,
× × ×

---

१. "भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं···इस ह्रास और विश्लेषण-युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज में ही व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है, अतएव उससे अधिक कला-नैपुण्य की आशा नहीं रखनी चाहिए।"···पन्त जी। २. 'आधुनिक कवि'।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रोज़ पड़ता रहा पानी
तू हरामी ख़ान्दानी,
× × ×
ख़ाब में डूबा चमकता हो सितारा
पेट में डंड पेलते चूहे, ज़बाँ हर लफ्ज़ प्यारा"

क्रमशः यह प्रवृत्ति और भी भौंडी सीमा तक बहक जाती हैं। यह प्रवृत्ति 'सम्पादकीय' और 'साहित्यिक कृति' के मौलिक भेदों को भुलाकर डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाती है जिसमें अनुभूति की हेयता, अनियन्त्रित आक्रोश, क्रोध और खीझ अधिक है। निराला जी के स्वर में शक्ति, शिल्प में सन्तुलन और सौन्दर्य-बोध में निश्चित मर्यादित गम्भीरता रही है, उनके प्रयोग भी एक युग के लिए नये अध्याय का उद्घाटन करते हैं किन्तु उनकी स्वयं की रचनाएँ वर्ग-उन्मूलन की अतिवादिता में पड़कर अपने वास्तविक स्तर से हट गई हैं और यही कारण है कि अन्त में चलकर वह 'अर्चना' के गीतों में विशुद्ध शास्त्रीयता की ओर उन्मुख हुए हैं। 'अर्चना' में भाव, छन्द, शब्द, ध्वनि के प्रयोग अधिक सफल इसलिए हुए हैं क्योंकि अतिवादी विकृतियाँ उसमें नहीं हैं। उसमें विशुद्ध मानवीय भावनाएँ हैं जो रागात्मक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। स्वयं 'कुकुरमुत्ता' में जहाँ भावावेश ढीला पड़ता है, कविता शिथिल हो जाती है। केवल आक्रोश कविता के लिए अपेक्षित नहीं है; उसके लिए तो अनुभूति और निश्चित दृष्टि (Vision) चाहिए।

निराला जी जिस समय इस अतिवादी प्रवृत्ति से विलग होकर 'अर्चना' के कवि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हुए उस समय भी वह पुराने रूमानी स्तर को नहीं ग्रहण कर सके, न वस्तु-स्थिति और वस्तुवाद की व्यापक पृष्ठभूमि को ही अपना सके, इसलिए 'अर्चना' नवीन प्रयोग होते हुए भी बादल-राग की ध्वनि और शक्ति को अपने अन्दर नहीं सँजो पाई है। यह प्रवृत्ति, जो 'नये पत्ते' और 'बेला' में बाह्य रूप में मौजूद मिलती है, 'अर्चना' में अन्तर्मुखी रूप धारण कर लेती है और यह अन्तर्मुखी भावना घोर व्यक्तिवादी सीमाओं में फँसकर एजरा पाउण्ड की कृतियों की भाँति व्यक्तिगत बिम्बों और भावनाओं में बँधकर गूढ़ और अस्पष्ट बन जाती है।

नवीन, बच्चन और नरेन्द्र प्रमुखतः रूमानी कवि हैं जिनको मुख्य रूप से गीतकार कहा जा सकता है, किन्तु नवीन जी की परोक्षवादी भावना बड़ी ही दुर्बल रूप में व्यक्त होती है और उनकी आधुनिकतम रूमानी भावना भी दिग्भ्रम के कारण रीतिकालीन तत्व ग्रहण कर लेती है जिसमें केवल रूढ़िवादिता के सिवाय कुछ शेष नहीं बचता। बच्चन का सफल कवि जब वस्तुवाद का आवरण ओढ़ लेता है और 'बंगाल का काल' अथवा 'खादी के फूल' की रचना करता है तो वह इतना खोखला नारेबाज बन जाता है कि उसकी सारी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। बच्चन की फिर भी एक विशेषता रही है कि अपनी वास्तविक भावभूमि से वह बहुत कम भटके हैं और अपने को अतिवादी बनने से उन्होंने काफी बचाने की चेष्टा की है किन्तु इधर उनकी फुटकर रचनाएँ जो प्रकाशित हो रही हैं उनमें तो एक भयंकर तूफान है जो उनकी निजी दिशा न होने के कारण सरकते हुए पारे के समान ऊपर-नीचे खिसकता-सा प्रतीत होता है। लेकिन बच्चन का भविष्य कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी सम्भावनाएँ अपरिमित हैं।

इसके विपरीत नरेन्द्र निश्चय ही तथाकथित प्रगतिवादी प्रवृत्ति से हटकर अध्यात्मवादी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बनने में अपना कवि समाप्त करने लगे। नरेन्द्र की इधर की कविताएँ घोर अन्तर्मुखी या उपदेशात्मक रूप में प्रस्तुत हुई हैं जिसके कारण उनका व्यक्तित्व नष्ट हो चुका है। ऐसा लगता है कि इस भाग-दौड़ की दुनिया में नरेन्द्र के भावना-प्रधान व्यक्तित्व में किसी ने भारी पत्थर बाँध दिया है जिसके कारण वह दौड़ तो नहीं पाते, किन्तु निश्चय ही उस गले पड़े पाहन को पूज-पूजकर ईश्वर बनाने पर तुल गए हैं। इस प्रवृत्ति में भी नरेन्द्र उतने ही हल्के कवि हैं जितने कि 'लाल निशान' में हैं और यह भ्रमण उन्हें किस दिशा में ले जायगा, यह भी स्पष्ट नहीं है।

अंचल जी स्वभावतः गीतकार हैं। जहाँ अंचल को प्रणय-सम्बन्धी गीतों में सफलता मिल सकती थी वहीं आज वह अपनी स्वाभाविक भाव-भूमि के अभाव में संस्कार-च्युत होने के कारण एक बहुत बड़ी असफलता को अपना बैठे हैं। यही कुछ शम्भूनाथसिंह के 'मन्वन्तर' काव्य-संग्रह में भी है। बच्चन के बाद गीत-काव्य में जिस तेजी से शम्भूनाथसिंह बढ़ रहे थे और उस दिशा में जिस बड़ी सफलता की आशा उनसे की जाती थी, 'मन्वन्तर' उसे भ्रमपूर्ण सिद्ध करता है। 'समाजवाद' के सिद्धान्तों को गद्य में भी लिखा जा सकता था। उसके लिए अपनी स्वाभाविक गीत-शैली को छोड़कर व्यर्थ के लिए मुक्त छन्दों में कुछ बातें कहना भी इस बात को सिद्ध करता है कि कवि संस्कार-च्युत होकर व्यर्थ के झंझटों में पड़कर अपनी स्वाभाविकता नष्ट कर बैठा है। अंचल आज भी अपनी वास्तविक स्थिति की भाव-भूमि नहीं अपना सके हैं। शम्भूनाथसिंह अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित और सबल भावना का निर्वाह नये गीतों में कर रहे हैं और यह आशा की जाती है कि उनके भीतर की ग्रन्थि धीरे-धीरे साफ हो रही है और वह अपनी वास्तविक गीत-शैली को पुनः ग्रहण करने में सफलता प्राप्त कर रहे हैं।

विशुद्ध प्रगतिशील कवियों में नागार्जुन और केदार अग्रवाल की रचनाओं में एक प्रकार की रूढ़ि का भास मिलता है जिसको जबरदस्ती अपने ऊपर लादने में उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। केदार में नागार्जुन से अधिक सफल कवि होने का तत्त्व है लेकिन वह जिस यथार्थ को चित्रित करने का प्रयास करते हैं, वह स्वयं उनके व्यक्तित्व को विभाजित करता है। उनका मसीहा स्वयं ही इतना पीड़ित है कि उसकी असफलता और रुग्णता उनकी रचनाओं में अनायास ही झलक जाती है। नागार्जुन 'फौजी' (Militant) कवि हैं। वे अगर अर्जी दावा भी लिखेंगे तो उसे कविता में कहने में नहीं हिचकिचायँगे। यही कारण है कि 'सिन्दूर तिलकित भाल'-जैसी सुन्दर कविता की रचना करने वाला जब 'भुस भरा पुतला' या 'चना जोर गरम का लटका' भी लिखने का प्रयास करता है तो उसकी सारी बौद्धिक चेतना और अनुभूति-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। यदि देखा जाय तो केदार भाव-क्षेत्र में असंगत रूढ़ियों में उलझकर संस्कार-च्युत हो जाते हैं। नागार्जुन भी जबरदस्ती अपनी कविता को फौजी जामा पहनाकर उसकी स्वाभाविकता नष्ट कर देते हैं। नागार्जुन की अधिकांश कविताओं में इसी 'बौखलाहट' और भौंड़ेपन का परिचय मिलता है।

इस दृष्टि से दो सप्तकों में प्रकाशित कविताओं का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहले सप्तक के सात कवियों में से प्रायः सभी मध्यवर्गीय कवि हैं और यद्यपि वक्तव्यों में अपने को प्रगतिशील मानते हैं फिर भी सर्वप्रथम वे मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और फिर किसी और 'वाद' का। सभी कवियों में एक आन्तरिक विघटन है, किन्तु वस्तु-स्थिति और काव्य-कला के प्रति ईमानदारी है और प्रायः सभी सामाजिक तत्त्वों को अपने वर्ग की दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं। जहाँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और जिस भी कवि ने अपनी वर्ग-भावना की अवहेलना करके बढ़ने का प्रयास किया है वहाँ उसकी असफलता भी स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। सभी पीड़ित और व्यथित हैं किन्तु व्यथा को चित्रित करने में वह ईमानदार हैं :

क. "मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख, इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।"

—गजानन मुक्तिबोध

ख. "मेरा विश्वास है कि सौन्दर्य का आकर्षण पलायन की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता···किन्तु सौन्दर्य की अनुभूति तो जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्ति में सौन्दर्य-बोध अत्यन्त क्षीण है वह कहाँ तक जीवित कहा जायगा यह कहना कठिन है।"···

—नेमिचन्द्र जैन

जब यह कवि अपनी कला की बात करते हैं तो :

क. "मैं कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रकृति पर बहुत जोर देता हूँ, कला का केन्द्र व्यक्ति है पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है·····"

—गजानन मुक्तिबोध

ख. "···स्वभाव से ही कला मानव-मुक्ति का आलोक है इसीसे आज निरा कवि कोई कलाकार नहीं—"

—नेमिचन्द्र जैन

इन दोनों कवियों के कथन और कृतित्व में एक अन्तर्विरोधी भावना है। गजानन मुक्तिबोध की निराशावादी, व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी चेतना बड़ी सबल रूप से उभरकर व्यक्त हुई है। उनकी निराशा व्यक्तिगत है लेकिन वह उसको सामाजिक जीवन पर उतारकर फेंक देना चाहते हैं। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों में वे इतने उलझे हुए हैं कि उनकी सौन्दर्यानुभूति घुटकर रह जाती है और यह सब इसलिए है क्योंकि वह कला को, साहित्य को और जीवन को एक भिन्न मापदण्ड से देखते हैं जिसको अपनी कृति में साकार कर सकने की क्षमता उनमें नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन और घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी वह विश्व-मानव, 'विश्व-चेतन' और इस प्रकार की अन्य आदर्शवादी मान्यताओं में बँधे हुए हैं।

नेमिचन्द्र जैन की वैयक्तिक कविताओं में सौन्दर्य, काव्य-गुण और भावनाभिव्यक्ति का सफल चित्रण है लेकिन जहाँ वह एक मत विशेष का प्रतिपादन करते हैं वहीं उनका शिल्प लचर और कवि दुर्बल हो जाता है। 'कवि गाता है' शीर्षक कविता में यद्यपि वह बड़ी जोर-जोर से यह कहना चाहते हैं कि "कवि गाता है·····वह कलाकार है·····व्याकुल मानवता की संस्कृति की रक्षा का·····उसके ऊपर आज भार है·····"किन्तु इस भार से उनका कवि लद गया है, क्योंकि वहीं जब बिना सजग चेष्टा के "डूबती सन्ध्या" में "अनजाने चुपचाप"··· "इस क्षण में" लिखने बैठते हैं तो उनमें उनकी सौन्दर्य-भावना, उनका कला-बोध अधिक सुगठित रूप से व्यक्त होता है।

किन्तु उसी संग्रह में दो उच्च कोटि के भी कवि हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कविता इस दृष्टिकोण से सफल है। विषय-शिल्प, व्यंजना-शक्ति और आत्मानुभूति के तत्त्व उनकी कविता में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ईमानदारी से रखे गए हैं। भारतभूषण अग्रवाल की सजग प्रगतिशीलता और प्रभाकर माचवे के चमत्कारिक प्रयोगों की अपेक्षा गिरिजाकुमार माथुर की रचनाएँ प्रभावपूर्ण और हृदयस्पर्शी हैं। प्रतीकों और बिम्बों का प्रतिपादन भी उनकी शिल्प-निपुणता का परिचायक है। जहाँ 'बुद्ध', 'विजय दशमी' और 'क्वार की दोपहरी'-जैसी रचनाएँ उनके 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण का परिचय देती हैं वहाँ 'चूड़ी का टुकड़ा' और 'ऐसोसिएशंस' में आत्म-पक्ष का भी परिचय मिलता है।

अज्ञेय इनसे भी अधिक जागरूक हैं। अज्ञेय यह मानते हैं कि "मैं स्वान्तःसुखाय नहीं लिखता,·····कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने-आपको असमर्थ पाया है।" किन्तु यह होते हुए भी अज्ञेय जी आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व कम नहीं मानते और इन दोनों का सन्तुलन भी अभीष्ट है, क्योंकि "समस्याएँ अनेक हैं काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनःसंस्कार की, आदि किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है क्योंकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और निवेदन की समस्या है।" बाद में भी कवि रूप में अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर का ही सतत विकास होता चलता है और 'हरी घास पर क्षण भर' में अज्ञेय की कविता अपने पूर्ण निखार पर पहुँचती है। वे कुण्ठाएँ जो 'नदी के द्वीप' में हैं, 'हरी घास पर क्षण भर' उनसे बहुत-कुछ मुक्त है।

जहाँ पहले सप्तक के कवियों में पथ की अनिश्चितता, दुरूहता का आतंक और दिग्भ्रम का दोष है, वहीं दूसरे सप्तक के कवियों में जीवन के प्रति यह भ्रम नहीं है। उनको अपनी स्थिति का ज्ञान है और अपना पथ भी मालूम है और इसीलिए दूसरे सप्तक के कवियों में वह आत्म-हीनता नहीं है। उनका वस्तुवाद तथा उनकी सांस्कृतिक चेतना अधिक स्पष्ट है। वे परिस्थितियों को समझ चुके हैं, इसलिए न तो वे अपनी वर्गहीनता का मरसिया पढ़ते हैं और न किसी विशेष वाद पर कसीदा लिखते हैं; वे वस्तु-सत्य को स्वीकार करके, उनको व्यंग्य से सजीव रूप में ग्रहण करते हैं और इसीलिए उनमें 'कुण्ठाएँ' नहीं हैं। कविता के तत्त्व भी इन कवियों में अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। इन बातों से भी अधिक तत्त्व की बात यह है कि यह राजनीतिक नारों के और साहित्यिक कृतित्व के भेद को समझते हैं :

१. "कभी कोई दर्शन, वाद या जिसे टैकनिक कहते हैं मैंने नहीं सोचा।"

—भवानीप्रसाद मिश्र

२. "और अन्त में यह कि कविता जीवित हो, अर्थात् वह जीवन के वास्तविक वातावरण और परिस्थितियों की जमीन पर जन्म ले·····"

—शकुन्तला माथुर

३. "कविता एक सपनों का संसार है और यह संसार यदि नये जीवन के क्रीड़ा-स्थल नये जगत् की रंगीनी से सिक्त हो तो कवि का कर्म और उसका सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाते हैं।"

—हरिनारायण व्यास

४. "टूटते हुए मध्य-वर्ग के मुझ-जैसे कवि उस भेद को, जहाँ वह है वहीं से पा सकते हैं, वे उसके पाने की कोशिश में लगे हुए हैं। कविता में हम अपनी भावनाओं की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सचाई खोजते हैं। उस खोज में उस सचाई का अपना खासा रूप भी हमें मिलना ही चाहिए जिस हद तक भी मुमकिन हो, क्योंकि किसी भी चीज का असली रूप उस चीज से अलग तो सम्भव नहीं।"

—*शमशेर बहादुर सिंह*

५. "संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति की शोध तो की ही जा सकती है और हम मनुष्य के आदि काल के काव्य से भावों की विराटता ग्रहण करके सुन्दर कल्पना-प्रधान साहित्य रच सकते हैं।·····क्योंकि किसी भी प्रकार के प्रभाव से लिखी गई कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा और यह द्वितीय वाली बात मुझे नहीं पसन्द है।"

—*नरेश मेहता*

६. "मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता। उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाने वाले ढुलमुल यकीन को, अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रहकर एक दृष्टिकोण बनाना होगा।"

—*रघुवीर सहाय*

७. "·····कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक-मात्र न रहकर प्रभाव डालना हो गया है·····जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, भारती वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को अभी अंशतया ही स्वीकृत कर पाया है, कहाँ किस अंश तक, यह प्रसंगान्तर की बातें हैं। सीधी-सादी बात यह है, भारती कविता में किसी भी विषय को उठाये बिना नहीं रह सकता, बशर्ते वह जीवन और अनुभूति की लय से मेल खाता हो। लेकिन ऊपर से कुछ भी थोपना-लादना भारती प्रतिभा की पराजय मानता है और साहित्य की राजनीतिक गुलामी को तो सरासर फ़ासिज़्म।"

—*धर्मवीर भारती*

यही कारण है कि प्रथम सप्तक में कलाकार के प्रति एक अनास्था है जो दूसरे सप्तक में नहीं शेष रही है। भारती की "कविता की मौत", "सृजन की थकान भूल जा देवता" आदि में एक आस्था का स्वर मिलता है। अपनी आत्माभिव्यक्ति के प्रति भी दूसरे सप्तक के कवि में अधिक आत्म-विश्वास है। जैसा शमशेर कहते हैं :

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही।

दूसरे सप्तक के लगभग सभी कवि आतंक से दूर हैं। उनकी सांस्कृतिक और मानवीय संवेदनाओं में स्पष्टता और गम्भीरता है। प्रथम सप्तक के रामविलास शर्मा के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के व्यंग्य को लीजिए और भवानीप्रसाद मिश्र के 'गीत फ़रोश' को लीजिए तो यह बात सिद्ध होगी कि दूसरे सप्तक के कवि अधिक स्पष्ट और सत्य के मर्मज्ञ हैं।

लेकिन इसके विपरीत जहाँ कहीं भी अपने वर्ग से अलग किसी कल्पित वर्ग-भावना को ओढ़ने की चेष्टा की गई है वहाँ कविता केवल पद्य बन गई है :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाम वाम वाम दिशा
समय, साम्यवादी
पृष्ठभूमि का विरोध
अन्धकार, क्षीन व्यक्ति
कुहाऽस्पष्ट हृदय, भार आज दीन
हीन भाव, हीन भाव, हीन भाव,
मध्य वर्ग का समाज दीन।

(शमशेर)

शमशेर बहादुर सिंह में ऐसी प्रवृत्तियों का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। उनके विचार और काव्यानुभूति के बीच एक खाई है जो उनके व्यक्ति और आदर्श को विभाजित कर देती है और वह अपने ही में उलझकर रह जाते हैं। वस्तुतः जिन रोमाण्टिक और क्लासिकल भावनाओं को शमशेर जी अपनी आत्मा में अनुभव करते हैं, जब उनसे पृथक् वह नागार्जुन की शैली का प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं तो केवल नारों तक ही रह जाते हैं। जैसे :

साम्राज्य पूँजी का क्षत होवे
ऊँच-नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे
जो समाजवाद जय पुकारती।

उपर्युक्त पद्यांश में अनुभूति कुछ नहीं है। अभिव्यक्ति में शमशेर जी की शिल्पगत शैली भी नहीं है। केवल एक ऐलान है जिससे कोई असहमत नहीं हो सकता, किन्तु जिससे कोई प्रभावित भी नहीं होता। शमशेर की संस्कार-च्युत, वर्ग-उन्मूलित भावना उनकी गज़लों और रूबाइयों को नहीं प्रभावित कर पाती और वैसे उनकी दूसरी कविताओं में भी यह प्रवृत्ति कम है लेकिन जहाँ उन्होंने जबरदस्ती इस भावना को ठूँसना चाहा है वहाँ उनको निश्चय ही असफलता भी मिली है।

भवानीप्रसाद मिश्र का दूसरे सप्तक में वही स्थान है जो प्रथम सप्तक में गिरिजाकुमार माथुर का है। 'गीत फ़रोश' में उनका कवि ही अधिक उभरता है, प्रचारक नहीं। भवानीप्रसाद मिश्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी केवल इसलिए कर पाए हैं क्योंकि इन गीतों में उनकी आत्मानुभूति आत्मपरक (Subjective) है। अन्य कवि वस्तु-दृष्टि (Objectivity) के पीछे इतने पड़ जाते हैं कि उनकी आत्माभिव्यक्ति उसमें खो जाती है।

नरेश मेहता की कविता 'समय देवता' इस वस्तु-दृष्टि (Objectivity) की असफलता का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है, जिसमें विषय-वस्तु का तो पता नहीं चलता अलबत्ता उसमें अनावश्यक रूप से मानवीय संस्कृति की शोध की चेष्टा अवश्य की गई है जो असंगत और विशृङ्खल है। समस्त संसार का एक भौगोलिक चित्रण जहाँ बड़ा ही सफल और काव्यात्मक शैली में व्यक्त हुआ है वहीं उसकी भावभूमि की शिथिलता उसे फीका बना देती है। भारत का चित्रण करते हुए कवि को केवल 'फसल जल रही, मनुज मर रहा' ही दिखलाई पड़ता है। वर्ग-उन्मूलित, कुण्ठित कवि-भावना को भारत में के केवल :

कलकत्ते के फुटपाथों पर
मनुज ख़ून में लथपथ डूबा, अपनी सारी संस्कृति से ऊब-ऊब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आस्मान का गट्ठर बाँधे चला आ रहा पूर्व क्षितिज में
शुतुर्मुर्ग की टाँगों-जैसा नंगा-नंगा
धर्म-घृणा की इस ज्वाला में जले-भुने वे देव स्वर्ग में मनुज धरा पर
आज मात्र शरणार्थी बन गये

नरेश मेहता की एकांगी अनुभूति ने एक ओर चीन और रूस की प्रशस्तियाँ लिखने में कोष-का-कोष रिक्त कर दिया है किन्तु भारत की स्थिति में उन्हें केवल खून और लूट-मार ही दिखलाई पड़ा। इस खून और लूट-मार में भारतीय आत्मा की जो एक स्वर-सिद्धि अपनी छाती पर समस्त कल्मष को झेलकर भारतीय सांस्कृतिक एकता को अमरत्व प्रदान कर गई उसका नाम तक नहीं लिया गया। यदि लेनिन की हुङ्कार कोटि कण्ठों की पुकार बन सकती है तो आज गांधी की आवाज और गांधी का प्रदर्शित किया हुआ मार्ग विश्व-विध्वंस की विभीषिका को शान्त कर सकता है, कोरिया की जनता को मुक्ति दे सकता है, किन्तु कवि उन भारतीय संस्कारों से च्युत है, अपने देश में प्रवासी है और अपनी जड़ें खोजता हुआ दुनिया-भर में भटकता है।

. अज्ञेय ने अपने वक्तव्य में जिन पाँच बातों को उठाया है उनके सम्बन्ध में पिछले सप्तक के वर्ग-उन्मूलित कवियों की स्थापनाएँ आज मिथ्या सिद्ध हो रही हैं। जहाँ तक 'सामाजिक उत्तरदायित्व' का प्रश्न है, आज मानवात्मा की सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति उभरते हुए नये कवियों में उत्तरोत्तर जागरूकता बढ़ती जा रही है। वह एकांगी वाद-विशेष के माध्यम से वस्तुस्थिति को न देखकर एक व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। 'संवेदनाओं का पुनः संस्कार' जो प्रथम सप्तक के कवियों में उलझकर व्यक्त हुआ है आज पहले की अपेक्षा मँजकर प्रकाश में आ रहा है। 'साधारणीकरण' और 'निवेदन' की कठिनाइयाँ पहले सप्तक में अधिक रही हैं। आज उसको समझने की प्रवृत्तियाँ भी पहले से अधिक मात्रा में हैं, क्योंकि आज का प्रयोग केवल प्रयोग के मन्तव्य को लेकर नहीं चल रहा है वरन् उसमें नई शक्ति और निवेदन के सफल नियोजन की भावना भी विकसित हो रही है। आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति में ईमानदारी की मात्रा अधिक होती जा रही है। यही स्थल ऐसा है जहाँ नई कविता के लिए आशा का संचार होता है और उसके भविष्य में विश्वास जमने लगता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रादेशिक साहित्य

ति० शेषाद्रि

तमिल भाषा और साहित्य की समस्याएँ

तमिल भाषा हिन्दी की तुलना में बहुत प्राचीन है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि तमिल भाषा संस्कृत से भी पुरानी है किन्तु यह केवल धारणा मात्र है, इसका कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो मिलता है वह "तोलकाप्पियम" नामक व्याकरण है और उसमें भी संस्कृत के शब्द मिलते हैं। अतः शुद्ध तमिल का आन्दोलन चलाने वाले परेशान हैं कि वे कोई ऐसा तमिल का ग्रन्थ नहीं निकाल पा रहे हैं जिसके आधार पर यह साबित कर सकें कि तमिल संस्कृत से पुरानी भाषा है।

पर यह बात भी सही है कि तमिल आर्य-कुल की भाषाओं से भिन्न द्रविड़ कुल की भाषा है। यह भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि संस्कृत शैली या शब्दावली से अछूती तमिल भाषा में किसी भी विषय पर घण्टों बोला जा सकता है या बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, लेकिन यह हुआ नहीं कि तमिल संस्कृत भाषा तथा साहित्य से अछूती रहती। जो हो आज स्थिति यह है कि तमिल भाषा तथा साहित्य दोनों संस्कृत भाषा व साहित्य से खूब प्रभावित हैं। तमिल भाषा में बहुत से संस्कृत शब्द इस तरह घुल-मिल गए हैं कि सश्रम प्रयास करने पर भी उनकी जगह तमिल के शब्द नहीं बैठ पाते। इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृत शब्दों का युगों से व्यवहार होता रहा है। संस्कृत ब्राह्मणों की प्रिय भाषा रही है जो समाज और साहित्य के नेता रहे हैं। ब्राह्मण द्रविड़ समाज के नेता कैसे बने, इसकी कथा बड़ी विलक्षण है। इसके लिए उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टि डालनी होगी। वैसे तो आज दोनों संस्कृतियाँ घुल-मिलकर एक हो गई हैं किन्तु प्रारम्भ में दोनों में कुछ विशेषताएँ और विलक्षणताएँ थीं जो एक-दूसरी को पृथक् करती थीं। उत्तर की आर्य-संस्कृति धर्ममूलक थी जो ईश्वर, उसके विविध रूप और उसकी निस्सीम शक्ति पर विश्वास करती थी, ब्राह्मणों या पुरोहितों के महत्त्व पर जोर डालती थी और जन्म से ऊँच-नीच मानने की प्रवृत्ति रखती थी। (किन्तु यहाँ यह कह देना चाहूँगा कि यह अन्तिम प्रवृत्ति उस जगह पर आज ज्यादा नहीं पाई जाती जहाँ से इसका जन्म हुआ, वरन् उसी दक्षिण में जोर पकड़े हुए है जहाँ इसके प्रति घोर विरोध तभी से आज तक किया जा रहा है।)

इसके विपरीत मूल द्रविड़ संस्कृति नैतिकता पर जोर डालती थी, प्रकृति के नियम को मानती थी और जन्म से किसी को ऊँच, किसी को नीच मानने की प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। अब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में आपको कहीं भी इस जाति-बन्धन का उल्लेख तक नहीं मिलेगा।

ये दो परस्पर-विरोधी संस्कृतियाँ एक-दूसरे के निकट आईं। संस्कृत भाषा की सशक्तता या आर्यों की सबलता, या द्रविड़ों की उदारता, या आर्य-द्रविड़ दोनों जातियों की सद्भावना के कारण दोनों संस्कृतियाँ बहुत निकट आईं और कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ आर्य-संस्कृति द्रविड़-संस्कृति पर हावी हो गई। तमिल भाषा का रूप बदला, साहित्य की दिशा बदली और समाज-संगठन का ढाँचा दूसरा हो गया। पर यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि परिवर्तन होने पर भी अन्दर-ही-अन्दर कुछ हद तक वे पुरानी चीजें अपने अन्यतम रूप में ही रहती आईं। इसी मिलन में वहाँ की भाषा-सम्बन्धी या साहित्य-सम्बन्धी आदि समस्याओं की जड़ें हैं, जो हिन्दी-भाषा की समस्याओं से बहुत मेल खाती हैं।

तमिल की समस्या के बारे में सोचते वक्त तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) दक्षिण भारत उत्तर की उथल-पुथल से काफी परे था। उत्तर भारत में परिस्थितियाँ ऐसी आई हैं कि लोगों को मजबूर होकर अपनी भावनाओं, मान्यताओं, विश्वासों पर पुनः सोचना पड़ा और उनमें बार-बार परिवर्तन लाना पड़ा, बाहरी आक्रमण भी काफी हुए और संघर्ष-स्थल यही उत्तर रहा। बहुत से राज्य उठे और गिरे। भिन्न मतावलम्बियों के क्रूर संघर्ष से जहाँ एक कट्टरता आई वहाँ यह विवशता भी कि लोगों ने एक-दूसरे से निभाने के लिए अपनी धार्मिक भावनाओं को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन से विशाल बनाया। पर दक्षिण में इतनी लड़ाइयाँ नहीं हुईं। हुईं भी तो भाई-भाई की लड़ाई जिसमें पिता की मान्यताओं पर आघात न करने का पूरा प्रयास किया जाता था। इस भावना का अच्छा उदाहरण आपको एक सन्धि-कालीन पद्य के एक अंश के अनुवाद में मिल जायगा। एक राजा की प्रशंसा में एक पुलवर (चारण) ने कहा कि "हे राजा! तुम नीति के सिद्धान्तों के इतने हिमायती हो कि जब कभी तुम लड़ाई पर जाते हो तो पहले ही यह घोषणा कर देते हो कि गायें, गायों के समान सीधे-सादे ब्राह्मण···तथा अन्य लोग, जिनका पालन आवश्यक है, वे सब गढ़ के अन्दर ही रहें, मैदान में न आयँ।" इस प्रकार लड़ाई भी होती थी तो संस्कृति का संरक्षक और पिता—ब्राह्मण—अवश्य बचा लिया जाता था।

(२) दूसरी बात यह है कि दक्षिण में पढ़ने वाला दल ही अलग बन गया था। यानी संस्कृत जब देव-भाषा बनकर आई तो पढ़ने-पढ़ाने का काम ब्राह्मणों को सौंप दिया गया। उनका काम था देव-भाषा का अध्ययन करना और समाज का नेतृत्व करना। उनके मुख से जो भी बातें निकलीं वे वेद-तुल्य मानी जाने लगीं और सभी उसके अनुचर बने। यहाँ तक कि उनके लिए अध्ययन-अध्यापन को छोड़कर दूसरा काम करना ही अनर्थमूलक समझा जाने लगा। आज भी यदि ब्राह्मण पुलिस का सिपाही बनता है तो दक्षिण के लोग विस्मय से देखते हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि आर्य-संस्कृति और द्रविड़-संस्कृति का मिलन एक अधविच समझौते के रूप में हुआ। पण्डिताई, पुरोहिताई तथा अध्ययन-अध्यापन का काम करने वाले ब्राह्मण ऊँचे समझे जाने लगे और बाकी सब आपस में ऊँच-नीच नहीं मानते थे। इसलिए आज भी दक्षिण में क्षत्रिय-वैश्य के वर्ग आपको स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देते। ब्राह्मण, उसके बाद शूद्र। सभी शूद्र कहे गए। यह भी एक अनर्थकारी बात सिद्ध हुई। समाज के एक विशाल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अंग को शूद्र कहकर नीच कहा गया तो उनको भी अपनी ऊँच-भावना को तृप्त करने का एक ही रास्ता मिला और वह यह कि उन्होंने अन्त्यजों पर रौब जमाया, उनको नीच बनाकर दूर रखा।

अब इन तीनों बातों के आधार पर तमिल भाषा की आज की समस्याओं पर विचार करना चाहिए। भाषा का रूप स्थिर करना संस्कृत-शिक्षित लोगों के हाथ में आ गया था। संस्कृत का गुण ऐसा ही है कि वह अज्ञात रूप से भी अपना रंग दूसरी भाषा पर चढ़ा देती है। आश्चर्य नहीं कि तमिल भाषा संस्कृत के शब्दों से भर गई और तमिल का रूप ही बदल गया। भाषा के रूप के अलावा संस्कृत-साहित्य की भी एक विशिष्ट देन थी ईश्वरीय भावना, धार्मिक-विश्वास और विधि के विधान पर अटूट भक्ति और उनके अवश्यम्भावी फल। संस्कृत-शिक्षित लोगों ने "ग्रन्थम्" नामक वर्णमाला का भी आविष्कार किया, और "मणिप्रवालं" नामक शैली का भी, जिससे स्पष्टतः उनका संस्कृत-प्रेम लक्षित है। इन कारणों से तमिल का ऐसा रूप बन गया है कि कोई भी बाहर से देखेगा तो समझेगा कि तमिल भाषा संस्कृत का ही दूसरा रूप है। इससे हम असहमत हैं, किन्तु यह भूलना नहीं चाहिए इस तरह की शैली का व्यवहार करने वालों का उद्देश्य अखंड भारतीयता का प्रचार तथा सांस्कृतिक एकता को असम्भव बनाने वाली भाषा की दीवार को ढहाकर एक-दूसरे को निकट लाना था।

जब जमाना बदला और अँग्रेजी राज्य आया तो उन्होंने इस स्थिति का फायदा उठाया। पढ़े-लिखे लोग संस्कृत-शिक्षित थे। उन्होंने अँग्रेजी भी सीखनी शुरू की और फिर भी समाज के नेतृत्व का काम उन्हीं के हाथों में आया। अब अँग्रेजी और संस्कृत पनपीं और तमिल भाषा उपेक्षित रहने लगी।

तमिल का भाग्य था कि ऐसी स्थिति बहुत दिन तक रह नहीं सकी। शैव-मठों ने तमिल की इस अवस्था में भी उसे नहीं भुलाया और बन्दिनी की अवस्था में ही सही उसका पालन और पोषण किया। बाद में अँग्रेजों की नीति भी बदली और उन्होंने जैसे उत्तर भारत में देशी भाषाओं की उन्नति स्वयं करने का भार उठाया वैसे ही तमिल भाषा को भी प्रोत्साहन दिया। तब भी वही समस्या उठ खड़ी हुई जो उत्तर भारत में उठ खड़ी हुई : हिन्दी-उर्दू का झगड़ा। तमिल का संस्कृत-विहीन रूप या संस्कृत-बहुल रूप ? अब संस्कृत की शिक्षा से वंचित बहुत-से लोग ऊपर आए और उन्होंने सोचा कि संस्कृत-शिक्षित दल ने, जिसमें ब्राह्मण ही ज्यादा थे, तमिल की इतनी दुर्गति करा दी। उन्होंने संस्कृत-प्रभाव के विरुद्ध आन्दोलन करना शुरू किया—उनमें कटुता और घृणा के भाव बहुत तीखे थे। उनका एक नमूना एक कवि के इन शब्दों में पाया जा सकता है :

वडमोचि एन्नुं उडै पल्लिगै वारि एन् मीदु इरैक्कि नीर—

"संस्कृत नाम के टूटे काँच के टुकड़ों को मुझ पर फेंक रहे हो।"

इसमें एक-एक शब्द घृणा से भरा है—गुस्से से भरा है। वडमोषि या उत्तरीय भाषा ! संस्कृत तक कहना कवि ने उचित नहीं समझा। मतलब है कि तमिल भाषा के शुद्ध रूप के ये पक्षपाती उस भाषा के संस्कृत-प्रभावित रूप से भड़क उठे और अपनी मातृभाषा को उस दयनीय स्थिति से मुक्त करना अपना कर्तव्य समझने लगे और उसी की सिद्धि में ताल ठोककर अग्रसर हुए। ये "कम्बरामायण" से भी घृणा करने लगे, क्योंकि वह संस्कृत की लाई हुई आर्य-संस्कृति की समर्थक है !

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो हो, तीन दल अब भी दक्षिण में विद्यमान हैं : एक वह जो संस्कृत-बहुल भाषा का पक्षपाती है। दूसरा वह जो दूसरे छोर पर बैठा है और तमिल भाषा से संस्कृत के शब्दों को वैसे ही निकालकर बाहर फेंकना चाहता है जैसे जामुन के फल पर जमी धूल को उड़ाता हो। तीसरा वह दल है जो इन दोनों की एकांगिता पर आप-ही-आप हँसता है और तमिल का एक स्वस्थ, सुन्दर रूप तैयार कर रहा है जिसमें ये अतिरंजनाएँ नहीं हैं, न वह पहले ही आए हुए शब्दों को दूर करने का प्रयास करता है, न संस्कृत के तत्सम शब्दों को लाकर 'सुस्थापित' करने की कोशिश करता है। इसी दल के हाथों सुन्दर तथा ठोस कार्य हो रहा है। यह दल आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के ही क्या अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को भी ज्यों-का-त्यों लेने से इन्कार नहीं करता। इस दल की भाषा की आप हिन्दी की उस शैली से तुलना कर सकते हैं जो प्रेमचन्द की भाषा-शैली है।

दलों के भाषा-सम्बन्धी दूसरे सुधार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। पद्य-काल के बाद गद्य-काल में पण्डिताऊ भाषा का जोर रहा, जिसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। हिन्दी में भी जब संस्कृत के गम्भीर शब्द-विन्यास का उपयोग होता है तो एक तरह की स्थूलता आ जाती है, जो सुन्दर नहीं लगती। उसके विपरीत बोल-चाल की वह शैली, जिसमें बातों को एक सहज-सुन्दर रूप से कहा जाता है, लोकप्रिय है। उसमें उर्दू का भी समुचित स्थान है तथा वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन एक असर लिये हुए हैं। तमिल भाषा में वही शैली विकसित होती जा रही है।

अब साहित्य की ओर ध्यान दें।

पहले ही कहा गया है कि तमिल-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का खूब प्रभाव था। संस्कृत के उच्चतम ग्रन्थ तमिल में अनूदित हुए। अब यह संयोग की बात है कि तमिल-साहित्य जहाँ बीच में अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित रहा अब फिर से संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी से प्रभावित हो रहा है। प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियों के अनुवादों ने तमिल भाषा की कहानी के अंग को पुष्ट किया। अब भी कहानियों में प्रेमचन्द का प्रभाव देखने में आता है। उसके बाद भी प्रेमचन्द ही के उपन्यास और अन्य कहानीकारों की कृतियाँ अनूदित हुईं। यद्यपि बंगला, महाराष्ट्री साहित्य का भी प्रभाव है, तो भी हिन्दी का ही प्रभाव अधिक पड़ रहा है।

अब भी तमिल-साहित्य की तीन प्रवृत्तियाँ देख सकते हैं। एक शान्तिप्रिय दल साहित्य के उस अंग को पुष्ट करने में लगा है जो साधारण मानवीय दुर्बलताओं या गुणों का विश्लेषण करते हुए प्रभावोत्पादक कृतियाँ तैयार करता है। उसका राजनीतिक हलचल से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं। यह दल समस्याओं से अपने को बचाते हुए भी लोकप्रिय साहित्य तैयार करता है। दूसरा दल, संस्कृत तथा उस भाषा की वारिस हिन्दी तथा उसके बोलने वालों से घृणा करता है तथा उत्तर भारत तथा दक्षिण को अलग-अलग संस्कृति का प्रदेश मानता है, और अपने को रावण की सन्तान मानकर घृणा तथा विद्वेष का साहित्य तैयार करता है। तीसरा दल, समस्याओं से नहीं कतराता वरन् उन पर गांधीवादी ढंग से विचार करता है। पहले और तीसरे दल के हाथों जो साहित्य तैयार हो रहा है, वह आजकल लोकप्रिय है।

प्रगतिवाद के नाम से हिन्दी में जो साम्यवादी साहित्य तैयार हो रहा है उससे तमिल साहित्य आज कम प्रभावित है। पर सम्भावना इसकी जरूर है कि वह भी तमिल भाषा में उतर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आय। लेकिन स्वयं उत्तर भारत में भी साहित्य का वह रूप कई कारणों से सबल नहीं हो पा रहा है। दूसरी बात यह है कि यहाँ उत्तर भारत में प्रगतिवादी साहित्य के जड़ जमाने के पहले ही साहित्य में अन्य सशक्त प्रवृत्तियाँ उदित होने लगी हैं। अतः इसका दक्षिण में प्रचार होना अब असम्भव-सा लग रहा है।

फिर भी साम्यवादी विचार तो उधर भी हैं ही। पर उसका टेठ अपरिष्कृत रूप दक्षिण को ग्राह्य नहीं। अतः वहाँ के साहित्य में साम्यवाद को समाजवाद तथा गांधीवाद के आधार पर संशोधित करके उसका एक अहिंसात्मक ग्राह्य रूप बना लेने का प्रयास स्पष्ट रूप से लक्षित है।

अब प्रश्न है कि क्या हिन्दी भाषा तमिल को अपना साहित्यिक प्रभाव देगी या तमिल हिन्दी को? इसकी भी सम्भावना है कि दोनों का सर्वथा अलग विकास हो। हम यह मानते हैं कि दोनों के निकट आने में और एक-दूसरे से प्रभावित रहने में ही भारत का कल्याण है। अगर यह बात सर्व सम्मति से मानी जाय तो हिन्दी के लेखकों का एक कर्तव्य हो जाता है कि उनको तमिल प्रदेश की सच्ची स्थिति से परिचय प्राप्त करना चाहिए और भाषा के क्षेत्र में हिन्दी को वह शैली अपनानी चाहिए जिसमें संस्कृत के गम्भीर-से-गम्भीर शब्द ठूँसने का प्रयास न किया जाय—क्योंकि तमिल के अधिकतर लोग चाहे संस्कृत शब्द सुन-सुनकर उनके अभ्यस्त हो गए हों—तो भी वे मौलिक रूप से उनके परिचित नहीं हैं या वे शब्द उनकी भाषा के अक्षुण्ण अंग नहीं बने हैं।

साहित्य के क्षेत्र में भी हिन्दी को अपनी परम्परा का खयाल रखना चाहिए। अपनी धर्ममूलक संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं से अछूता साहित्य तैयार करने में हिन्दी के लेखक प्रवृत्त हो जायँ तो चाहे तमिल का वह संकुचित दल, जो आर्य-विरोधी है, उनका साथ दे—(इसकी भी सम्भावना नहीं क्योंकि वह दल तो अपने को रावण की सन्तान मान बैठा है) किन्तु अधिकांश लोग उनका साथ नहीं दे सकते। अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से विच्छिन्न हिन्दी-साहित्य तमिल को प्रभावित नहीं कर सकता।

तमिल भाषा हिन्दी भाषा से अप्रभावित नहीं रह सकती। उसे ऐसा रहना भी नहीं चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में पहले ही वह निकट आ चुकी है और उसको उसी प्रवृत्ति को बनाए रखना चाहिए। दोनों भाषाओं के लेखकों को फिर से अपनी समस्याओं पर भारतीय दृष्टिकोण से सोचकर उचित साहित्य तैयार करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य और ललित कलाएं

असितकुमार हालदार

शान्तिनिकेतन-कला-शैली

विकास गत्यात्मक होता है और जिस प्रकार राष्ट्र की प्रगति के लिए स्वशासन आवश्यक है, उसी प्रकार कला के विकास के लिए परम्परा का होना जरूरी है। दूसरों से उधार ली हुई कला, शैली तथा रसानुभूति से कोई प्रगति नहीं हो सकती। एक समय था जब कि विभिन्न प्रान्तीय उपभाषाओं के रहते हुए भी भारत की एक समान भाषा—संस्कृत—थी, जिसके द्वारा कि कला और साहित्य में भारत के आदर्श की अभिव्यक्ति का संस्कृति के अन्तर-प्रान्तीय क्षेत्र में प्रसार होता था। इसी प्रकार कलाकार की काल्पनिक एवं मानसिक अभिव्यक्ति के लिए भी भारतीय कला की एक ही भाषा थी और उसकी शैली एवं सिद्धान्त (ध्यान) भी समान था। यही कारण था कि चित्र-कला, मूर्ति-कला, नृत्य एवं साहित्य के क्षेत्रों में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक अबाध सांस्कृतिक प्रगति हो सकी। उस समय कला आज की तरह कलकत्ता-निकाय (स्कूल), शान्तिनिकेतन-निकाय, बम्बई-निकाय, मद्रास-निकाय के रूपों में बँटी हुई नहीं थी। उस समय का कलाकार यूरोपीय दृष्टिकोण के अनुरूप फक्कड़ एवं अलमस्त न होकर योगी अथवा ब्रह्मचारी हुआ करता था। उसे अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए सतत साधना करनी पड़ती थी। उसके मार्ग-प्रदर्शन के लिए वाल्टर पीटर, रस्किन, अथवा हरबर्ट रीड की तरह विद्वान् आलोचक नहीं थे। आध्यात्मिक एवं भौतिक अस्तित्व और कलाकार के बीच सेतु ही उसका मार्ग-प्रदर्शन करता था। अतएव भारतीय कलाकार किसी वस्तु को जैसी-की-तैसी चित्रित करने की अपेक्षा उसको चित्रित करने से पूर्व उसमें एकात्म हो जाता है। हिन्दू-बौद्ध-कला की इसी धार्मिक परिकल्पना के कारण प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के बीच एक खाई पड़ गई है। भारतीय कला के इसी सिद्धान्त ने प्राचीन एशिया के अन्य देशों—खोतन, मीरान, तुर्फान, जापान, चीन, बर्मा, तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया को प्रभावित किया। हम इस सिद्धान्त की तुलना केवल यूरोप की उस रहस्यवादी बैजेण्टाइन कला के सिद्धान्त से कर सकते हैं जिसका पादरियों ने सृजन किया था। इटली के पुनर्जागरण युग के दौरान में तथा यूरोप की आधुनिक कला में आज कला के वास्तविक रूप में परिवर्तन का कोई भी कारण रहा हो किन्तु भारतीय कला विक्टोरिया के युग तक अपने सिद्धान्त—कल्पना का अत्यधिक पुट—को जो दो सहस्र वर्षों से अबाध रूप से उसकी प्रेरणा-शक्ति रहा था, सुरक्षित बनाए रख सकी। इसके विपरीत—यूरोप में कल्पना को दासत्व ग्रहण करना पड़ा और कलाकार को अपनी कला-वस्तु को भौतिक पूर्णता देने के लिए मॉडलों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तथा 'बैठने वालों" की आवश्यकता पड़ने लगी। भारतीय कला में उस भौतिक दृष्टिकोण का कभी भी आविर्भाव नहीं हुआ। फोटोग्राफी के आविष्कार से यूरोप की यथार्थवादी कला की प्रगति में बाधा पड़ी। कला को प्राकृतिक अनुकृति से बचाने के लिए पाश्चात्य जगत् को नूतन कलाभिव्यक्ति की खोज करनी पड़ी और यूरोप की आधुनिक कला में अभिव्यक्तिवाद तथा अति-यथार्थवाद (सुररियलिज्म) इत्यादि का जन्म हुआ! यूरोप की आधुनिक कला प्रकृति के वास्तविक रूप में अंकन के उन्मूलन के हेतु जान-बूझकर दी गई एक चुनौती के समान है और इसी कारण वह उस प्रणाली को, जो सार्वभौम थी, स्वीकार करने की अपेक्षा आदिम प्रागैतिहासिक तथा बालकों की कला एवं उसकी शैली की शरण ले रही है। इस प्रकार इन परीक्षणात्मक रूपों में सत्व अथवा शान्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। आज का यूरोपीय कलाकार तामसिक विचारों में उलझा हुआ है। इसी कारण कला-वस्तु में शरीर-रचना के नियमों की अवहेलना की जाती है। उन्हें अप्सरा की अपेक्षा एक विकलांग वामन (बौना) अधिक ग्राह्य है। इसकी प्रतिक्रिया बायरन द्वारा की गई कला की समीक्षा से आँकी जा सकती है। बायरन ने लिखा है कि 'मेरे विचार में रूबेन बहुत बड़ा रंग छोपने वाला है। मैं वान डाइक को उससे सैकड़ों गुना पसन्द करता हूँ। लेकिन यह भी सच है कि मैं इस बारे में जानता कुछ भी नहीं हूँ। रूबेन की सारी स्त्रियों के लबादे और कंधे गहरे लाल रंग के होते हैं। मैं उनकी गर्दनों के बारे में, जो आकर्षक होने की बजाय भारी भरकम अधिक होती हैं, कुछ नहीं कहूँगा। यह सब-कुछ सम्भवतः बड़ा सुन्दर है। मेरे विचार में यह कला हो सकती है, क्योंकि यह स्वाभाविक नहीं है।'

आधुनिक युग में हम भारतीयों ने भी यूरोपीय संस्कृति एवं शिक्षा से सम्पर्क के फलस्वरूप अपने कला के उत्तराधिकार को ऐसी ही विदेशी भावना से देखा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय विद्वानों एवं विद्यार्थियों के लिए मूल भारतीय कला अपरिचित-सी ही बनी रही। शैली के क्षेत्र में भी भारतीय कला छाया और प्रकाश तथा दृश्यांकन की सुपरिचित पाश्चात्य शैली को न पा सकी। भारतीय चित्र बहिर-रेखा-मात्र होते थे, जिनमें एक-से रंगों को भर दिया जाता था। उनमें त्रि-आयामिक फोटोग्राफिक अनुरूपता का, जैसी कि पाश्चात्य कला में हमें आम तौर पर मिलती है, सर्वथा अभाव रहता था। बंगाल के विभाजन के समय एक महान् परिवर्तन आया, जिससे हमारे राजनीतिक एवं राष्ट्रीय जीवन में एक नई जागृति उत्पन्न हुई।

जिस प्रकार कि राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके भारतीय विचार-धारा को एक नई गति प्रदान की और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य, नृत्य एवं संगीत-कला को भारतीय परम्परा पर आधारित एक नया जीवन एवं आदर्श प्रदान किया, इसी प्रकार शिल्पी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन भारतीय कला-परम्परा की समुचित प्रेरणा से कला-क्षेत्र में नई जागृति का सूत्रपात किया। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि स्वयं अवनीन्द्रनाथ ने अपनी किसी प्रान्तीय कला को जन्म दिया था और उनका कृतित्व उन्हीं तक सीमित था और वह उनके प्रिय शिष्य डॉ० नन्दलाल वसु के साथ समाप्त हो जायगा। अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय चित्रकारों को मॉडलों आदि के सूक्ष्म रूपांकन की सहायता से प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करने, मानव-आकृतियों तथा चित्रों को बनाने की पाश्चात्य शैली का अनुकरण करने से बचाया और उनके लिए एक सर्वथा नवीन मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने भारतीय चित्रकारों का अपने परम्परागत आदर्श के, जो मुख्यतया जीवन के विभिन्न पहलुओं एवं विषय-वस्तु की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यापक कल्पना पर आधारित था, मूल्यांकन के लिए आह्वान किया। भारतीय कला एवं उसके आधार-सिद्धान्त के सम्यक् दिग्दर्शन के लिए अजन्ता सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

अवनीन्द्र ने अपने कृतित्व से यह दिखा दिया कि परम्परागत कला में भी जीवंत-शक्ति है और वह कलाकारों की अनेक पीढ़ियों को प्रेरणा प्रदान कर सकती है। यदि प्राचीन भारतीय कला का, जो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक लगभग २००० वर्षों से चली आ रही थी, उसकी समुचित पृष्ठभूमि में मूल्यांकन किया जाय और हमारे कलाकार देश के विस्मृत-सिद्धान्तों की, जो भारत की अपनी विशेषताएँ हैं, पूर्ण मनोयोग से पुनः खोज करने का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयत्न करें तो हम वास्तव में प्रगति कर सकेंगे।

अवनीन्द्र अपने इन विचारों से भारतीय कला के विभिन्न प्रान्तीय निकायों के बीच राजनीतिक खाई पैदा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपने शिष्यों से यह आम संकेत कर दिया था कि वे स्वयं अपने गुरुओं का अध्ययन करें और अपनी मातृ-कला के भी उतने ही सुज्ञाता रहें जितने कि वे अपनी मातृ-भाषा के रहते हैं। तभी वे स्वानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी सीमा के पार देख सकते हैं।

कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत के कला-क्षेत्र में पुनर्जागरण उत्पन्न करने में अपने भतीजे अवनीन्द्रनाथ के विकास को बड़ी दिलचस्पी से देखा था। इस महान् आन्दोलन का सांस्कृतिक महत्त्व, उनकी पैनी दृष्टि से न बच सका। अतएव वे इन पंक्तियों के लेखक को सन् १९११ में कलकत्ता में अवनीन्द्रनाथ की देख-रेख में अपनी कला-शिक्षा समाप्त कर चुकने को बाद ही शांतिनिकेतन ले आए। डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लगभग १२ वर्षों तक अपने संगीत, कविता तथा साहित्य से लेखक को प्रेरणा प्रदान की। इस प्रकार शान्तिनिकेतन में कला-भवन की नींव पड़ी। आधुनिक भारतीय कला के बारे में कवि रवीन्द्रनाथ के विचारों को उनके एक पत्र से, जो उन्होंने लेखक को लिखा था, जाना जा सकता है :

"मैंने यह चीज कभी पसन्द नहीं की कि हमारे विद्यार्थी अंग्रेजी स्कूलों में जायँ और वहाँ की छाप लेकर लौटें। इसका फल यही होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य उनकी अपनी प्रतिभा पर अपनी पसन्दगी की मुहर लगाता रहेगा। यदि हमारी कला रोथन्सटाइन की अनुचर हुए बिना समुचित मान्यता प्राप्त न कर सके तो वह ब्रिटिश साम्राज्य की रद्दी की टोकरी में ही पड़ी रहती है, क्योंकि भाग्य उसे वहाँ पहुँचा देता है। अभी तक हम ब्रिटिश स्कूल-मास्टरों के छात्रों का ही पार्ट अदा करते रहें हैं, किन्तु स्कूल के कमरे के बाहर एक विस्तृत खेल का मैदान है जहाँ पर कि हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं। वहाँ पर भारतीय प्रतिभा की देवी का आसन है और वह जिस व्यक्ति के मस्तक पर विजय का टीका लगाती है वही भाग्यशाली बन जाता है। इस सम्मान पर साउथ केनसिंगटन स्कूल ऑफ आर्ट की मुहर नहीं लगती है।"

अवनीन्द्र और रवीन्द्र के बाद के भारतीय कलाकारों पर अति-यथार्थवाद (सुररियलिज्म) का, जो यूरोप की हाल ही की एक देन है, भारी प्रभाव पड़ा है और भय है कि यह हमें कहीं का भी न छोड़ेगा।

—अनुवादक : सुशील दीक्षित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शम्भुनाथ मिश्र

शान्तिनिकेतन की कला-शैली और छायावादी काव्य

शान्तिनिकेतन की कला-शैली आधुनिक भारतीय कला-शैलियों में एक विशिष्ट एवं स्थानीय लोक-भावना से प्रेरित महत्त्वपूर्ण शैली है। उसका रवीन्द्र काव्य-धाराओं से व्यापक सम्बन्ध है। शान्तिनिकेतन के कलाकारों ने अपने तीस वर्ष के अनवरत परिश्रम तथा साधना द्वारा रवीन्द्र-काव्य-धारा एवं अवनीन्द्र-चित्र-परम्परा का एक संगम स्थापित कर दिया है। शान्तिनिकेतन का निजी वातावरण रवीन्द्र-संगीत, रवीन्द्र-नाट्य एवं रवीन्द्र-नृत्य की विभिन्न योजनाओं से पूरित रहा है। इस प्रेरणा में शान्तिनिकेतन के कला-भवन ने अपनी रचनात्मक आहुतियाँ प्रदान की हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ की चित्र-कला ने शान्तिनिकेतन की कला-शैली के प्रारम्भिक रूपों का नवसंस्कार करके उसे शान्तिनिकेतन-कला-शैली के मौलिक क्षेत्र में रूपान्तरित कर लिया।

शान्तिनिकेतन-कला-शैली का प्रारम्भिक रूप क्या था, इस ज्ञान के निमित्त हमें आधुनिक भारतीय कला के नव जागरण की ओर ध्यान देना चाहिए। सन् १९०५ में स्वर्गीय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से कलकत्ता के आर्ट स्कूल में भारतीय चित्र-कला-विभाग की स्थापना हुई। उसमें आधुनिक चित्र-कला के प्रमुख आचार्यों ने शिक्षा प्राप्त की, जिनमें सर्वश्री नन्दलाल वसु, असित-कुमार हालदार, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, शैलेन्द्रनाथ दे तथा वेंकटप्पा आदि थे। इसके अतिरिक्त १९०७ में कलकत्ता की प्रसिद्ध सार्वजनिक संस्था 'इण्डियन सोसाइटी आफ़ ओरियण्टल आर्ट' की स्थापना हुई। इस संस्था के द्वारा अवनीन्द्र-शिष्य-परम्परा का वास्तविक विकास हुआ और भारतीय कला-सम्बन्धी नये आन्दोलन का व्यापक प्रचार हुआ। इस संस्था ने बहुत-से प्रकाशन-कार्य किये और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस संस्था की भारी ख्याति हुई थी। इस प्रकार अवनीन्द्र-नाथ ने भारतीय कला-शैली का जो बीजारोपण कर दिया था उसमें रवीन्द्र-काव्य-धारा भी अपेक्षित रही किन्तु उसमें प्रधानतः संस्कृत की प्राचीन काव्य-धाराओं की प्रतिष्ठा हुई थी। अवनीन्द्रनाथ ने कालिदास के काव्य-ग्रन्थ, रामायण तथा महाभारत के उपाख्यानों को ग्रहण किया और उनकी शिष्य-परम्परा की कृतियों में भी इसी प्राचीन काव्य-धारा की पयस्विनी बही।

सन् १९१३ के लगभग शान्तिनिकेतन में कला-भवन की स्थापना हुई और उसके सर्वप्रथम अध्यक्ष श्री असितकुमार हालदार नियुक्त हुए। इसके पश्चात् १९२३ में श्री नन्दलाल वसु शान्तिनिकेतन-कला-भवन के अध्यक्ष हुए और असित बाबू जयपुर आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल होकर चले गए। असित बाबू रवीन्द्रनाथ से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने रवीन्द्र-काव्य-धारा के साथ ठाकुर चित्र-शैली में एक विशेष सामंजस्य उत्पन्न किया। नन्दलाल वसु ने भी अपनी कला तथा रवीन्द्र-काव्य-धारा में इतना गहरा रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित किया कि डॉ० आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि रवीन्द्रनाथ की कविताएँ एक-एक चित्र हैं। रवीन्द्रनाथ की एक कविता 'माझी' तथा नन्दलाल वसु के एक चित्र 'माझी' में कितनी समता है :

"आय रे आय तोरा के जाबि पारे,
आमि तरी निए बोशे आछि नदीर धारे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ओ पारे कतो खेला कतो जने,
ए पारे धू धू करे मरि, वारि नाहिं।"

"आओ रे आओ! तुम लोग कौन-कौन उस पार चलोगे? मैं नदी-किनारे नौका लेकर बैठा हूँ। उस पार अनेकों खेल तथा क्रीड़ाएँ हो रही हैं। अनगिनती लोग वहाँ हैं। इस पार तो केवल प्रभंजन धू-धू कर रहा है। अभी वर्षा नहीं हुई है और मैं मर रहा हूँ।"

रवीन्द्रनाथ का समस्त काव्य तीन भागों में विभक्त है, जिनमें विविध विषय, जातीय संगीत, और ब्रह्म संगीत हैं। शान्तिनिकेतन की कला-कृतियाँ भी इन्हीं तीन विषयों में विभक्त हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविताओं में लोक-भावना एवं लोक-दृश्यों को प्रतिष्ठित किया है। शान्ति-निकेतन की कला-शैली भी लोक-भावना एवं लोक-जीवन के विभिन्न दृश्यों को उद्घाटित करती है। इस प्रसंग में असितकुमार हालदार का एक चित्र 'छुटीर दिने' तथा रवीन्द्र की प्रसिद्ध कविता 'छुटीर दिने' तुलनीय हैं।

एक प्रश्न यह उठता है कि इस लोक-भावना और रहस्यवादी या छायावादी अध्यात्म-भावना में क्या सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी कुछ कलाएँ ऐसी हैं जो हमारे अलौकिक तथा आध्यात्मिक जगत् से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हैं। उन कलाओं के द्वारा हम इस विशाल प्रकृति एवं उसके अन्तस्तल में स्थित अदृश्य एवं व्यापक शक्ति का अनुभव करते हैं। वे कलाएँ हैं : चित्र-कला, मूर्ति-कला, नृत्य, अभिनय तथा काव्य-कला। भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में ज्ञान की इस परम अनुभूति के लिए नियम बने, शास्त्र बने, और समस्त कलाओं के मध्य संस्कार रूपी एक ऐसा सूत्र स्थापित हुआ जिसमें हमारे संकल्प हैं। जिनकी एक पुरानी परम्परा है। जिस समय धर्म का सूत्र ग्रहण करते समय भिक्षु कहता था : "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि"—उस समय वह भावना के उस व्यापक सिद्धान्त के साथ अपना जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जोड़ता था। ऐसी ही भावनाओं के साथ भारत में अनेक लोक-कला-शैलियों का विकास हुआ और लोक-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इस ज्ञान-सूत्र के साथ परम्परागत सिद्धान्तों के अनुसार युग-युग में भारतीय कला-धारा प्रवाहित हुई।

इतिहास में ऐसे बहुत से अवसर आए जब कि प्राकृतिक एवं राजनीतिक कारणों से बहुत से विप्लव हुए और परम्पराएँ नई हो गईं। कला और काव्य के व्यापक संस्कार-सूत्र अदृश्य हो गए। लोग उसे भूल गए।

भारतीय इतिहास में उत्तर-मध्यकालीन कला-शैली तथा हिन्दी-काव्य-धारा का जो एक नया युग आरम्भ हुआ उसमें हमारी परम्परागत भावनाओं का पुनः संस्कार हुआ। रामानन्द, कबीर, सूर और तुलसी इस नये संस्कार के गुरु हुए। उन्होंने लोक-भावना का स्तर पुनः ऊँचा किया। कला की दृष्टि से हमारे मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का इतिहास बड़ा ही समृद्ध रहा है। राम और कृष्ण हमारी हिन्दी-काव्य-धारा एवं कला के आधार रहे हैं। १६वीं शताब्दी के राजनीतिक विप्लवों के कारण एक बार पुनः भारतीय कला तथा काव्य के परम्परागत सम्बन्ध भंग हो गए। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थानीय कला-शैलियों की सीमाएँ निर्धारित होकर भावना की सरस्वती पुनः अदृश्य हो गई। संगीत और नृत्य की भी दशा स्थानीय नवाबी-क्षेत्र के बाजार में उस्तादों के हाथ बिक गई थी। १६वीं शती तथा २०वीं शती के सन्धि-काल में भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन का अभ्युदय 'भारतमाता' की दुर्दशा के प्रति करुण एवं क्रांतिकारी भावना के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साथ बंगाली नाट्य-मंच पर अवतरित हुआ। सन् १८७२ में प्रसिद्ध अभिनेता श्री गिरीश घोष ने कलकत्ता में 'नैशनल थियेटर्स' की स्थापना की। यही करुणा तथा क्रान्ति, तपःपूत स्वरों में बंकिम के 'वन्देमातरम्' की हुंकार से धीरे-धीरे एक सांस्कृतिक चेतना और वैयक्तिक साधना में बदलकर रवीन्द्र की 'गीतांजलि' में गुञ्जित हो उठी। 'गीतांजलि' के शब्दों में उसने भारतीय लोक-जीवन को यह सन्देश दिया :

अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे।
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे॥

बंकिम बाबू तो "सुजलां सुफलां तथा मलयज शीतलां" कहकर चुप हो गए थे किन्तु रवीन्द्र ने एक ही "सुजलां" के व्यापक अर्थ किए और आँखों में भी "सुजलां" की धारा बही :

तोमार सोनार थालाय साजबे आज दुखेर अश्रुधार।
जननीगो गांथिबो तोंमार गलार मुक्ताहार॥

"हम तुम्हारे सुनहरे थाल में अपने दुःखों की अश्रु-धारा सजायँगे। हे जननी, तुम्हारे गले के लिए हम मुक्ताहार गूँथेंगे।"

'गीतांजलि' की यह करुणा-धारा देश के विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में अज्ञात ही प्रवाहित हुई। हिन्दी के छायावादी कवि भी इस धारा से प्रभावित हुए। जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' तथा महादेवी की 'नीरजा', और पन्त तथा निराला के 'पल्लव' एवं 'गीतिका' में एक अद्भुत समता मिलती है।

वैसे मेरी स्पष्ट मान्यता यह है कि हिन्दी-काव्य-धारा की छायावादी प्रवृत्ति अपने स्थान पर स्वयं मौलिक रही है। वैदिक काल से आधुनिक काल तक हमारा आध्यात्मिक काव्य लोक-भावना की परम्परा से बँधा रहा है। वह बन्धन कुछ सीमा तक छायावाद में भी है। कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि हिन्दी में छायावाद की लहर बंगाल से ही आई। संयोग से हिन्दी के महाकवि निराला का जन्म बंगाल के महिषादल में हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि निराला जी रवीन्द्र-साहित्य के भक्त हैं। अतः यदि निराला जी की काव्य-धारा रवीन्द्र से प्रेरित हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। किन्तु प्रसाद, पंत और महादेवी के सम्बन्ध में भी यह कह सकना कठिन है। वैसे तो देश की एक परिस्थिति ने ही इन सबों की प्रवृत्तियों को समान रूप से जन्म दिया है। शान्ति-निकेतन-कला-शैली और विभिन्न भाषाओं का रहस्यवादी काव्य एक ही परिस्थिति की उपज हैं। पर सबकी अलग विशेषताएँ हैं। हृदय के एक तार से अनेक एकतारों की सृष्टि सम्भव है। किन्तु एकतारों की ध्वनियों में अपनी-अपनी व्यक्तिगत झंकारें हैं। उन झंकारों के मूल में एकता भी है।

वैसे हिन्दी-क्षेत्र में बंगला की तरह काव्य और कला का व्यापक सहयोग नहीं हुआ है। हिन्दी में अभी तक शान्तिनिकेतन-जैसी कलात्मक प्रवृत्तियाँ नहीं जागीं। संतोष तो इतना ही है कि हिन्दी-जगत् के मध्य महादेवी की काव्य-धारा के साथ भारतीय कला की परम्परा सुरक्षित है, जो हिन्दी-साहित्य में कलात्मक जागृति का मार्ग प्रशस्त करेगी। वैसे हिन्दी-काव्य-धारा तथा हिन्दी-क्षेत्र की कला की अपनी स्वतन्त्र शैली होगी। फिर भी छायावादी काव्य की आलोचना और उसका दिग्दर्शन करते समय रवीन्द्र-काव्य-धारा एवं शान्तिनिकेतन-कला-शैली को ध्यान में रखना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मूल्यांकन

इलाचन्द्र जोशी

रवीन्द्र-गद्य-साहित्य में रहस्य-चेतना और कथा-तत्त्व

रवीन्द्र-गद्य-साहित्य की आलोचना करने के पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि कौन मूल प्रवृत्ति (या प्रवृत्तियाँ) उनकी प्रतिभा को प्रधान रूप से परिचालित करती रही है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे ध्यान में सबसे पहले यह बात आती है कि यथार्थ की स्थूल अभिव्यक्ति के परे सूक्ष्म की जो एक चित्रात्मिका मोहिनी माया कभी अपने विविध रूप, रस, वर्ण और गन्धमय सौन्दर्य-वैचित्र्य से और कभी अव्यक्त और अतीन्द्रिय रहस्यात्मक भाव-छाया के माध्यम से अपने को नाना इंगितों द्वारा प्रस्फुटित करती रहती है, उसीको पकड़ने के लिए कवि के प्राण निरन्तर आकुल रहे हैं। यदि हम रवीन्द्र के प्रारम्भिक काल से लेकर अन्त तक लिखी गई कविताओं का अध्ययन भली भाँति करें तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उनके दीर्घ जीवन के विविध युगों के विकास के अन्तराल में एक विशेष धारा आदि से अन्त तक सुस्पष्ट और सुनिश्चित रेखा आँकती हुई चली गई है। और वह है वही रहस्यात्मिका धारा जिसका अनुसरण करने पर हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ के मूल प्राणों को सदा व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त ने, प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष ने, निकट की अपेक्षा दूर ने, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म ने, यथार्थ की अपेक्षा स्वप्न ने, 'कंक्रीट' की अपेक्षा 'एब्सट्रेक्ट' ने अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने स्वयं अपने प्राणों की मूल प्रवृत्ति के इस एकतरफा दबाव को अपनी विविध कविताओं में स्वीकार किया है।

यह प्रवृत्ति रवीन्द्रनाथ में जन्म-जात रही है। 'मेरा बचपन' में उन्होंने बताया है कि छुटपन से ही वह अपने चारों ओर के कर्म-कोलाहलमय वातावरण के बीच में स्वयं अपने ही भीतर से एक स्वप्न-राज्य की सृष्टि करके उसमें एकाकी मग्न रहने में दुःख पाते थे। उनका कलकत्ता वाला बहुत बड़ा पैतृक मकान विविध कामों में व्यस्त आदमियों से भरा-पूरा रहता। पर उन्होंने उस लोक-समागम से कर्म-मुखर भवन में भी अपने लिए स्वप्न-लोक का निर्जन रेगिस्तान खोज लिया था। वह लिखते हैं: "मेरे जीवन में बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था। ...उस छत पर पहुँचना मानो बस्ती के सीवानी पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था। वहाँ जाने पर कलकत्ता के सिर पर पैर रखकर मन कहाँ चला जाता है जहाँ आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है। मैं अकसर छिपकर दुपहरी को इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छत पर चढ़ जाता था। दुपहरी सदा मेरे मन को भुलाए रही है। वह मानो दिन की रात है, बालक संन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है। यह छत मेरे लिए किताब में पढ़ा हुआ रेगिस्तान था। चारों ओर धाँय-धाँय जल रहा है, गरम हवा सनसनाती हुई धूल उड़ाती निकल जाती है, आसमान का नीला रंग फीका हो जाता है। इस छत के रेगिस्तान में एक 'ओएसिस' भी दिखाई दिया था। नहाने वाला घर है, जहाँ छिपकर घुस पड़ा हूँ। इसे मानो बंगाल के शिशु लिविंगस्टन ने अभी खोज निकाला है।"

जो बालक अपनी कल्पना द्वारा एक क्षण में ठोस छत को स्वप्न-लोक के रेगिस्तान में परिणत करने और वहीं एक नखलिस्तान भी खोज निकालने, भरी दुपहरी को दिन को रात के रूप में ग्रहण कर सकने की क्षमता रखता हो उसकी रहस्यवादी कल्पना साधारण कदापि नहीं समझी जा सकती।

पर यह होने पर रवीन्द्र की प्रतिभा ऐसी विराट् और व्यापक थी कि वह एकांगी नहीं रह सकती थी। स्वप्न-लोक के अपार रहस्यमयी माया के तीव्र और अप्रतिरोधनीय आकर्षण की ही यह प्रतिक्रिया थी कि रवीन्द्रनाथ को बीच-बीच में पद्य छोड़कर गद्य पर उतरना पड़ा और स्वप्न को बरबस दबाकर यथार्थ को अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई। पर यथार्थ को अपनाने पर भी वह अपनी छायात्मक भावना और कल्पना के विकास से एकदम मुक्त नहीं हो पाए। यह ठीक है कि अपनी कहानियों और उपन्यासों में वह अपने अन्तर के छायालोक की तन्मयता से बहुत-कुछ उबरे हैं और यथार्थ जीवन के संघर्ष की अनुभूति और सामाजिक चेतना उनमें काफी हद तक जगी है; पर फिर भी वह यथार्थ पर पूर्णतः यथार्थवादी दृष्टि से विचार करने और बाह्य जीवन के कठोर संघर्ष का विवेचन और विश्लेषण निर्मम वास्तविकता की तटस्थ दृष्टि से करने में उतने सफल न हो सके। उनके अधिकांश उपन्यासों में हम जीवन की गम्भीर, दार्शनिक और आदर्शात्मक व्याख्या अवश्य पाते हैं, पर नहीं पाते यथार्थ जीवन का ठोस और सच्चा स्वरूप, नहीं पाते यथार्थ की कठोर मिट्टी को फोड़कर जीवन के केन्द्र से बाहर निकलने वाली वास्तविक जीवन के कीचड़ से सनी, अकल्पित, जीवित लोक की समस्याएँ। उनके उपन्यासों के पात्र जीवित लोक के प्राणी न होकर मनुष्य के अन्तर के विभिन्न भावों के पृथक्-पृथक् प्रतीक की तरह लगते हैं। जब कहीं उनके कोई दो पात्र आपस में बातचीत करते हैं तब लगता है कि मानव-हृदय की दो परस्पर विरोधी आदिम प्रवृत्तियाँ समूर्त होकर आपस में वाद-विवाद कर रही हैं। मनुष्य की सनातन प्रवृत्तियों और परम्परागत भावों को समूर्त रूप देकर उनके बीच परस्पर बातचीत करवाने का ढंग रवीन्द्रनाथ को कथा-साहित्य के अलावा भी कितना प्रिय है इसका उदाहरण हम उनके 'विचित्र निबन्ध' नामक निबन्ध-संग्रह के 'पंचभूत' शीर्षक दीर्घ निबन्ध में पाते हैं; जिसमें आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु को व्योम, स्रोतस्विनी, दीप्ति, क्षिति और समीर इस तरह के नाम देकर उन्हें मानवीय रूप में खड़ा करके उनके द्वारा जीवन के विविध विषयों पर मानवीय दृष्टिकोण से ही बहुत दिलचस्प बातचीत कराई गई है। उनकी बातें सुनने पर लगता है जैसे वे सचमुच में विभिन्न प्रवृत्तियों वाले मानवीय प्राणी हों। यही हाल हम उनके उपन्यासों में पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके 'चतुरंग' नामक उपन्यास को लीजिए।

इस उपन्यास के दो मूल पात्र—शचीश और दामिनी—कुछ ऐसी अजीब कल्पना के रंग में रँगे हुए, अनोखे और अस्वाभाविक प्राणी लगते हैं कि उन्हें वास्तविक जीवन की सहज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दृष्टि से देखने पर न तो उनके जीवन की बाहरी गति-विधि का ही कोई ठीक तारतम्य बिठाया जा सकता है, न उनके अन्तर्जीवन में चलने वाले अजीब और रहस्यात्मक संघर्ष का कोई सुस्पष्ट आभास ही छायात्मक परदे के भीतर से झलक पाता है। 'चतुरंग' की कहानी संक्षेप में, मोटे तौर पर, इस प्रकार है : जगमोहन और हरिमोहन दो भाई थे—जगमोहन बड़े और हरिमोहन छोटे, पर दोनों भाइयों की अन्तःप्रवृत्तियाँ और जीवन की दिशाएँ दिन और रात की तरह एक-दूसरे के विपरीत पड़ती थीं। जगमोहन एकदम नास्तिक थे, पर थे हृदय के सच्चे और स्वभाव के सीधे और साफ़। सांसारिक कूटबुद्धि उन्हें छू तक नहीं गई थी, पर मानवात्मक दृष्टि, सामाजिक चेतना उनमें अत्यन्त जाग्रत थी। पुरानी पीढ़ी के होने पर भी छुआछूत वह तनिक भी नहीं मानते थे और हरिजनों और मुसलमानों के साथ खान-पान का सम्बन्ध बराबर रखते थे। इसके विपरीत हरिमोहन धर्माधर्म, आचार-विचार और पूजा-पाठ की दृष्टि से जैसे ही पाखण्डी थे, सांसारिक कूट-बुद्धि भी उनकी वैसी ही तीव्र थी। जगमोहन अविवाहित थे और हरिमोहन के छोटे लड़के शचीश को उन्होंने एक प्रकार से अपना पोष्य पुत्र-सा बना लिया था। शचीश भी उन्हीं-के साथ रहता और उन्हें ही वह अपना गुरु मानता था। जब हरिमोहन ने देखा कि शचीश हर बात में उनके नास्तिक भाई का पक्का चेला बन चुका है, तब हरिमोहन बहुत चिन्तित हुए, उन्होंने हर हालत में शचीश को अपने अधार्मिक भाई के कब्जे से छुड़ाने की कोशिश की, पर शचीश टस-से-मस न हुआ। एक काण्ड और हो गया, जिससे हरिमोहन बड़े भाई पर और अधिक बिगड़ उठे। ननीबाला नाम की एक अनाथप्राय लड़की का धर्म नष्ट करके शचीश के बड़े भाई पुरन्दर ने खदेड़ दिया था। उसको गर्भ भी रह चुका था। शचीश उसे अपने ताऊजी के यहाँ ले आया और सारी स्थिति उन्हें समझाकर उसने उस अभागिनी लड़की से 'सिविल मैरिज' करने के अपने इरादे से उन्हें सूचित किया। जगमोहन ने उसकी पीठ ठोंकी, पर पुरन्दर ने उस विवाह के विरुद्ध बड़ा उपद्रव मचाना शुरू किया। अन्त में तंग आकर ननीबाला ने आत्म-हत्या कर ली। इस घटना के कुछ समय बाद जगमोहन चल बसे। शचीश के भीतर न जाने किस अज्ञात कारण से क्या उथल-पुथल मचने लगी। एक दिन उनके मित्र श्रीविलास को पता चला कि वह स्वामी लीलानन्द के दल में भरती होकर कीर्तन में भाग लेने लगा है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह शचीश के प्रति स्नेहवश स्वामी जी के पास गाँव में जा पहुँचा। वहाँ जाकर क्या देखता है कि वहाँ भक्तों का बड़ा समारोह है और शचीश एकान्त मन से स्वामी जी की सेवा में व्यस्त है— कभी उनके लिए चिलम भरता है कभी पाँव दबाता है। शाम को पाँच से लेकर दस बजे रात तक कीर्तन हुआ और शचीश तद्गत होकर उसमें भाग लेता रहा। बाद में श्री-विलास को यह भी पता चला कि स्वामी जी शिवतोष नामक जिस व्यक्ति के मकान में भक्तों-सहित अड्डा जमाए हुए हैं वह उनका पक्का चेला था और अब मर चुका है। मरने के पहले वह अपनी सारी सम्पत्ति (जिसमें कलकत्ता का एक मकान भी है) स्वामी जी को भक्ति-प्रचार के लिए सौंपकर अपनी निःसन्तान स्त्री को केवल जीवन-निर्वाह का सत्त्व भर दे गया है। श्रीविलास को यह जानने में भी देर न लगी कि दामिनी स्वामी लीलानन्द की कीर्तन-मण्डली में तनिक भी दिल-चस्पी नहीं रखती। स्वामी जी के दर्शनों के लिए दामिनी के यहाँ स्त्रियों और पुरुषों की अपार भीड़ उमड़ती रहती थी, पर दामिनी, जिसे स्वामीजी सहज-सुलभ थे, उनके प्रति एकदम उदासीन थी। दामिनी युवती थी, रूपवती थी और श्रीविलास को लगा कि अन्तर से वह रसवती भी है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वास्तव में सावन की काली घटाओं के बीच में रह-रहकर झलक जानी वाली दामिनी ही थी। पर उसका वह विद्युत्तेज, वह सावन के डबाडब भरे हुए बादलों का अन्तर-रस किसके लिए था? श्रीविलास को लगा कि पत्थर के देवता शचीश की मानसी मूर्ति पर वह अपना सिर पटक रही है, पर शचीश का मनोभाव उसके प्रति क्या था इसका कोई आभास न शचीश की किसी बात से, न व्यवहार से मिलता है। केवल उनकी डायरी के एक पन्ने से श्रीविलास ने उसके सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। उनमें शचीश ने लिखा है: "ननीबाला में मैंने नारी का एक विश्व-रूप देखा था—अपवित्रता के कलंक को जिस नारी ने खुद ही वरण किया, पापी के लिए अपना जीवन दे डाला। किन्तु दामिनी में नारी का एक अन्य विश्व-रूप देखा। उस नारी का मृत्यु से कोई नाता नहीं, वह केवल जीवन-रस की ही रसिक है। वसन्त के मोहक पुष्प-वन के समान वह सौरभ और लुनाई की हिलोर से छलक-छलक उठती है। संन्यासी को घर में स्थान देते हुए वह तनिक भी राजी नहीं। वसन्त के दक्षिण पवन के मुकाबिले उत्तर की शीतकालीन ठण्डी हवा को वह कौड़ी-भर लगान न देगी ···!"

पर डायरी की इन पंक्तियों के अतिरिक्त शचीश के मनोभाव को जानने का कोई जरिया पाठक को सुलभ नहीं है—केवल दामिनी के सम्बन्ध में ही नहीं, शचीश के स्वयं अपने भीतरी विकास—या ह्रास—के सम्बन्ध में भी। सारे उपन्यास में कथा के रिपोर्टर श्रीनिवास द्वारा केवल इतनी ही सूचना हमें मिलती है कि शचीश पहले घोर नास्तिक था, उसके बाद सहसा—मन की किसी अज्ञात खाम-खयाली के फलस्वरूप—स्वामी लीलानन्द के साहचर्य में घोर आस्तिक बन बैठा, और खान-पान, छूआछूत, आचार-विचार का पूरा ध्यान रखने के साथ ही कीर्तन-भजन में पूरे मनोयोग से शरीक हो गया; और उसके बाद एक दिन अचानक ही उस मण्डली से भी अलग हो गया। पर अलग होने पर, श्रीविलास के ही शब्दों में, "उसने क्या माना और क्या नहीं, कुछ समझ में नहीं आया!" क्या दामिनी की मौन अन्तर्वेदना को कभी समझने का प्रयत्न उसने किया? और स्वयं उसके अपने भी मन में उसके प्रति वेदना की कोई हल्की-सी भी तरंग कभी उठी? दो-एक अत्यन्त अस्पष्ट इंगितों से लगता है कि शायद उठी थी। पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। निश्चित जो-कुछ है वह केवल यह कि उसने दामिनी को कभी पास नहीं फटकने दिया। और अन्त में पाठक आश्चर्य के साथ देखता है कि एक दिन श्रीविलास के साथ दामिनी का विवाह हो जाता है। पर दामिनी जिस अज्ञात मानसिक और शारीरिक पीड़ा को बहुत दिनों से दबाती आ रही थी, विवाह के बाद वह बाहर फूटकर दिन-पर-दिन बढ़ती चली जाती है। मरने के पहले वह श्रीविलास के पाँवों की धूल लेती हुई कहती है: "जी की साध नहीं मिटी, असीस दो कि अगले जन्म में तुम्हें फिर पा सकूँ!"

इस तरह यह विचित्र उपन्यास नायक शचीश के मन का रहस्य तनिक भी प्रकट किये बिना ही अजीब ही ढंग से समाप्त होता है। सारे उपन्यास में 'डायलाग' बहुत थोड़ा है, और जितना कुछ है भी उसमें केवल तात्विक और काव्यात्मक विवेचन ही मिलता है। रहस्यवादी रवीन्द्रनाथ इस उपन्यास में भी प्रत्यक्षवादी नहीं हो पाए। केवल उपन्यास का प्राण ही नहीं, उसका बाहरी ढाँचा भी रहस्यात्मकता से ओत-प्रोत है।

पर विचारणीय विषय यह है कि क्या इस रहस्यात्मकता के कारण 'चतुरंग' का औप-न्यासिक रस सूख गया है? मेरी तो अपनी यह धारणा है कि उसके रस की वृद्धि ही हुई है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकदम नीरस, अन्तःसार-रहित यथार्थवादी दृष्टिकोण और यथार्थवादी ढाँचे को अपनाने से ही कोई औपन्यासिक रचना श्रेष्ठ नहीं हो जाती। रहस्यात्मक दृष्टि को अपनाने में यह लाभ होता है कि प्रत्यक्ष स्थूल के भीतर निहित जो सूक्ष्म अन्तरीण सत्य है वह भी आभासित हो उठता है। अन्तरीण भक्त ही मूल भक्त है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है, और जब वह किसी महान् अन्तर्दर्शी कवि की रहस्यात्मक शैली द्वारा अभिव्यंजित हो उठता है तब उसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। 'चतुरंग' में यथार्थवादी शैली के अभाव के कारण शचीश के व्यक्तित्व के ऊपरी स्तर हमारे आगे सुस्पष्ट नहीं हो पाते, यह ठीक है, पर कवि की रहस्यात्मक शैली के प्रभाव से उनकी आत्मा के अन्तरतम स्वरूप का आभास सीधे पाठक की आत्मा को मिलने लगता है। उपन्यास के पात्र और पाठक के बीच का वह सीधा आत्मिक सम्बन्ध केवल उसी लेखक द्वारा स्थापित हो सकता है जो महान् कवि और महान् द्रष्टा होने के साथ ही महान् कलाकार भी हो।

रवीन्द्रनाथ के दूसरे उपन्यासों में भी हम उनकी इसी शैली की प्रधानता पाते हैं। उदाहरण के लिए 'दो बहनें' नामक उपन्यास को लीजिए। शर्मिला और ऊर्मिमाला दो बहनें हैं। शर्मिला अपने पति शशांक की अत्यधिक हित-चिन्तना के खयाल से उसके ऊपर सब समय अत्यन्त कड़ा नियन्त्रण रखती है। उसके स्नान-ध्यान और खान-पान से लेकर उसके उठने-बैठने और बाहर जाने-आने तक के सभी कामों की देख-रेख वह बड़ी ही लगन और पूरी निगरानी के साथ करती रहती है। शशांक की आदत हर बात में अपनी पत्नी पर पूर्णतया निर्भर रहने की पड़ गई है। वह अक्सर छोटी-छोटी चीजों, छोटी-छोटी बातों को भूलता रहता है और शर्मिला सस्नेह उसकी भूली हुई चीजों को ठीक स्थान पर सम्भालती हुई, भूली हुई बातों की याद दिलाती हुई, बताती रहती है कि किस समय शशांक को क्या करना होगा, बाहर जाकर मित्रों के साथ कितनी देर तक रहना होगा, कब क्या पहनना होगा, क्या खाना होगा, कब सोना होगा, कब उठना होगा आदि। सभी बातों के सम्बन्ध में वह स्नेहपूर्ण आदेश उसे देती रहती है। उसके अनुशासन में शशांक का जीवन बँधे हुए ढाँचे के अनुसार चलता रहता है। बाद में जब शर्मिला किसी बीमारी से पीड़ित होकर बिस्तर पर पड़े रहने के लिए बाध्य होती है तब इतने दिनों तक अपने हाथों में कठपुतले की तरह सजाकर रखे हुए पति-देवता की देख-भाल के लिए वह अपनी छोटी बहन ऊर्मिमाला को बुला भेजती है। ऊर्मिमाला का विवाह उसके जमींदार पिता ने एक ऐसे व्यक्ति के साथ तय कर लिया है जो अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का है और बहुत ही कड़े आदर्शात्मक अनुशासन का पाबन्द है। उस लड़के का नाम नीरद है। वह डॉक्टरी पढ़ता है और विलायत जाने की तैयारी कर रहा है। ऊर्मि के यहाँ उसका आना-जाना बराबर बना रहता है और वह अपनी भावी पत्नी को जीवन में अत्यन्त गम्भीर आदर्शों को निभाने की ओर प्रेरित करता है। ऊर्मि सच्चे भाव से उसका अनुशासन मानकर चलना चाहती है, पर उसका चंचल मन भीतर-ही-भीतर जीवन की सहज गति से प्राप्त होने वाले मुक्त आनन्द की प्राप्ति के लिए छटपटाता रहता है। इसलिए जब वह अपनी दीदी शर्मिला के बुलाने पर उसके घर के बिखरे कारोबार को सँभालने और शशांक की 'देख-रेख' करने के लिए उसके यहाँ जाती है तो उसे लगता है बहुत दिनों से किसी बड़े भार में जुते हुए उसके मन को छुट्टी मिली। शशांक भी उसके समान खुशदिल, चंचल और सहृदय लड़की को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठता है। वह भी अपने को एक बहुत बड़े अनुशासन से मुक्त हुआ अनुभव करता है। दोनों (शशांक और ऊर्मि) एक-दूसरे के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहचर्य में आनन्द के 'हवाई ईथर' में उड़ने से लगते हैं, शर्मिला के अनुभूतिशील नारी-हृदय से शशांक के मन का यह आश्चर्यजनक परिवर्तन छिपा नहीं रहता। उसने ऊर्मि को बुलाया तो इसलिए था कि वह घड़ी के काँटे की-सी नियमित रीति से शशांक के प्रतिदिन के जीवन को इसी तरह व्यवस्थित रखे जिस तरह वह इतने दिनों तक स्वयं रखती चली आती थी, पर वह देखती है कि ऊर्मि के आने के बाद से सब-कुछ उलटा हो रहा है। अब शशांक न समय पर काम पर जा पाता है, न अपने व्यवसाय से सम्बन्धित विषयों को नियमित रूप से देख पाता है, और समय-असमय साली-बहनोई दोनों या तो गप-शप में या घूमने-फिरने में मग्न रहते हैं। पर साथ ही शर्मिला यह भी देखती है कि शशांक अब पहले से सुखी है और 'देख-रेख' के बिना ही उसका स्वास्थ्य भी अब पहले से अच्छा हो रहा है। इसलिए ऊर्मि को वह डाँट भी नहीं पाती, धीरे-धीरे यह सत्य उसके आगे उद्घाटित हो जाता है कि उसने अपने पति की अत्यधिक हित-चिन्ता में उसका जीवन ही निरानन्द बना दिया था और जीवन का सहज सुख और उल्लास सेवा और जतन के नियमों के बन्धनों में बाँधने से नहीं, बल्कि अनियम में ही मुक्त छोड़ देने से दिया जा सकता है। इधर नीरद की घनिष्ठता उसके विलायत जाने पर, किसी यूरोपीय महिला से हो जाती है और वह चिट्ठी द्वारा यह सूचित करता है कि वह ऊर्मि से सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता है। ऊर्मि पत्र पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हो उठती है। शर्मिला एक दिन साहस करके ऊर्मि के आगे यह प्रस्ताव रखती है कि वह बहन की सौत होना स्वीकार कर ले। ऊर्मि के भीतर बड़ा द्वन्द्व मचता है और एक दिन वह भी भागकर यूरोप चली जाती है— अध्ययन के लिए।

इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने क्या बात दिखानी चाही है इसका कुछ-कुछ आभास उपन्यास के आरम्भ में दिये गए रवीन्द्रनाथ के ही निम्न शब्दों में मिल सकेगा :

"स्त्रियाँ दो जाति की होती हैं, ऐसा मैंने किसी-किसी पण्डित से सुना है। एक जाति प्रधानतया माँ होती है, दूसरी प्रिया। ऋतुओं के साथ यदि तुलना की जाय तो माँ होगी वर्षा ऋतु—वह जल देती है, फल देती है, ताप-शमन करती है, ऊर्ध्वलोक से अपने-आपको विसर्जित कर देती है, शुष्कता को दूर करती है, अभावों को भर देती है। और प्रिया है वसन्त ऋतु। गम्भीर है उसका रहस्य, मधुर है उसका माया-मन्त्र। उसकी चंचलता रक्त में तरंग लहरा देती है और चित्त के उस मणिकोष्ठ में पहुँचती है जहाँ सोने की वीणा में एक निभृत तार चुपचाप, झंकार की प्रतीक्षा में पड़ा हुआ है; झंकार—जिससे समस्त देह और मन में अनिर्वचनीय की वाणी झंकृत हो उठती है। शशांक की स्त्री शर्मिला माँ जाति की है।"

इसके आगे एक वाक्य हम अपनी ओर से जोड़ सकते हैं : "और उसकी छोटी बहन ऊर्मिमाला प्रिया जाति की है।"

ऊपर जिस 'अनिर्वचनीय की वाणी' को झंकृत करने वाली बात रवीन्द्रनाथ ने कही है उससे इस बात का एक और प्रमाण मिल जाता है कि अपने कथा-साहित्य में भी वह अपने काव्य-साहित्य की ही तरह यथार्थ के बाहरी प्रकट रूप के अन्तर में निहित अतीन्द्रिय, 'एब्सट्रेक्ट' और रहस्यात्मक सौन्दर्य को पकड़ने की उत्सुकता से विरत नहीं हुए हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में यथार्थ जीवन का चित्रण केवल एक अवलम्ब है, उनका मूल उद्देश्य है प्रतिदिन के सुख-दुःखमय जीवन के घात-प्रतिघातमय रूपों के भीतर भी उसी अरूप की मोहिनी-माया की खोज, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'फुलवाड़ी' नामक एक तीसरे उपन्यास में वही समस्या प्रायः उसी रूपक के (ढाँचे के) भीतर रखी गई है जो हम 'दो बहनें' में पाते हैं। नीरजा का पति आदित्य विलायती ढंग से 'कल्चर' किये गए फूलों का व्यवसाय करता है और उसकी पत्नी नीरजा इस व्यवसाय की उन्नति के लिए फुलवाड़ी को ठीक तरह से सजाकर तैयार करने में अत्यन्त प्रेम और आनन्द से उसका साथ देती है। पर बाद में वह 'दो बहनें' की शर्मिला की ही तरह बीमार पड़ जाती है और फुलवाड़ी के काम में उसके पति आदित्य का हाथ बटाने के लिए आदित्य की कोई दूर के रिश्ते की बहन सरला आती है। नीरजा अपनी विवशता से परेशान है, तथापि इस कारण से उसकी ईर्ष्या और अधिक तीव्र हो उठती है और वह सरला को बागबानी के कामों में एकदम अनाड़ी साबित करने में कोई बात उठा नहीं रखती, हालाँकि मन-ही-मन वह जानती है कि इस काम में सरला उससे कई गुनी अधिक निपुण बल्कि विशेषता रखती है। जब एक दिन उसकी अदम्य ईर्ष्या का पता आदित्य को लगता है तब उसका उलटा प्रभाव उस पर पड़ता है। इतने दिनों तक उसके अवचेतन में सरला के प्रति प्रेम की जो भावना दबी पड़ी थी वह इस मुसकान में अकस्मात् उभर उठती है। नीरजा अपने से ही लड़ती हुई धीरे-धीरे स्थिति की कड़वी और कठोर वास्तविकता को जी कड़ा करके यथारूप ग्रहण करने का प्रयत्न करती है और भरसक उदार दृष्टिकोण को अपनाना चाहती है, पर उसका प्रयास विफल सिद्ध होता है। वह अपने पति पर प्रेम का एकाधिपत्य चाहती है, अकेले ही उसे समग्र रूप से पाने के लिए उसके चारों ओर मकड़ी की तरह अपनी आत्मा के लालारस से आन्तरिक भावों के ताने-बाने बुनकर लपेटे रखना चाहती है। पर सरला को यद्यपि आदित्य के विवाह के पहले से ही उसके साथ एकान्त सौहार्द के सम्बन्ध में बँधने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, तथापि वह अपने को अलग रखकर उसे बराबर खुली छूट दिये रहती है। इसका मनोवैज्ञानिक परिणाम ठीक वैसा ही निकलता है जैसा 'दो बहनें' में। प्रेम का सर्वग्रामी, एकाधिपत्य वाला रूप अपने उद्देश्य में स्वयं अपने ही कारण से व्यर्थ सिद्ध होता है और प्रियजन को मुक्ति देकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त तीनों उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ का या तो रहस्यवादी का रूप हमारे सामने आता है या दार्शनिक का। जीवन का जो तत्त्व और दर्शन से रहित कठोर यथार्थ विविध संघर्ष-विघर्षमय चक्रों के ताने-बाने के बीच अपने-आपमें ही एक विशेष महत्त्व रखता है उसकी कुटिल काँटेदार पेंचों की उलझनों से रवीन्द्रनाथ सदा बचकर चले हैं। वे उलझनें बिना किसी ऊपरी आदर्शमूलक अथवा रहस्यात्मक आरोपों के स्वयं अपने भीतर से जीवन के महासत्य को समझाने में सहायक हो सकते हैं, इस बात की परख करने की कोई उपयोगिता ही उन्हें सम्भवतः कभी महसूस नहीं हुई। पर मैं फिर इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि इस कारण से उनके उद्देश्य की महत्ता तनिक भी खण्डित नहीं हुई है, बल्कि अपनी इस 'रहस्य-वादात्मक एप्रोच' से उन्होंने जीवन के मर्म-बिन्दु को समझने की एक और महत्त्वपूर्ण कुञ्जी हमें दी है, जो यथार्थ आदर्शवादी उपन्यासकारों को सुलभ नहीं थी।

केवल उपन्यासों में ही नहीं, नाटकों में भी रवीन्द्र की वही रहस्याराधना, अनिर्वचनीयता की वही अरूपात्मक अव्यक्त साधना किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। उदाहरण के लिए 'नटी की पूजा' नामक नाटक को लीजिए। यह नाटक 'अवदानशतक' के एक व्याख्यान पर आधारित है। महाराज बिम्बिसार बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर, सारा राज-काज अपने सिंहासन-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोभी और बुद्ध-विरोधी पुत्र अजात शत्रु को सौंपकर, राजधानी से अलग, बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में रहने लगे हैं। भगवान् बुद्ध ने राज-वाटिका के अशोक-तले कभी उपदेश दिया था, वहीं पर उनकी स्मृति में महाराज विम्बिसार ने एक चैत्य की स्थापना करके वहाँ प्रतिदिन संध्या को भगवान् बुद्ध के प्रति अर्घ्य-निवेदित करने के लिए राज-भवन की स्त्रियों को प्रेरित किया था। बुद्ध के जन्म-दिन के पुण्य अवसर पर उसी चैत्य में पूजा का आयोजन हो रहा है। राज-भवन की स्त्रियों का एक दल पूजा की सामग्री लेकर स्तूपमूल की ओर पूजा करने के लिए बढ़ता है। उनके साथ राजनटी श्रीमती भी बुद्ध के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा का अर्घ्य चढ़ाने के लिए जाती है। पर पता चलता है कि अजात शत्रु की आज्ञा से पूजा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। इतना ही नहीं, अशोक-तले जिस आसन पर बुद्ध कभी बैठे थे उसे तुड़वा दिया गया है और वहाँ पूजा करने वाले को प्राण दण्ड का आदेश है। इधर राज-महिषी लोकेश्वरी, जिन्होंने एक दिन बुद्ध, धर्म और संघ की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया था, अपने एकलौते पुत्र चित्र के चीवर धारण कर लेने पर अपनी गार्हस्थिक स्थिति को एकदम उजड़ा हुआ पाती हैं और उस धर्म के विरुद्ध, जिसने उनके पुत्र को उनसे छीन लिया, उनके मन में तीव्र प्रतिहिंसात्मक प्रतिक्रिया जग उठती है। वह भी इस बात पर तुल जाती हैं कि पूजा न होने पाय, बल्कि उलटे बुद्धवेदी को अपमानित किया जाय। और यह अपमान इस रूप में हो कि राजनटी श्रीमती पूजा करने के बजाय बुद्धवेदी पर नाचे—और इस प्रकार अपने को और बुद्ध की पुण्य-स्मृति को भी कलंकित करे। राजनटी श्रीमती उस आदेश को मान लेती है। वह गहनों और कपड़ों से सज-धजकर भगवान् के ध्वस्त स्तूप के आगे ध्यानमग्न होकर खड़ी हो जाती है। राजमहिषी लोकेश्वरी उसे विष देती हुई कहती हैं कि वह नाच द्वारा अपने देवता को कलंकित करने से यदि बचना चाहती है तो उस विष को पीकर नरक-भोग से मुक्ति पा सकती है। पर श्रीमती कहती है कि नहीं, वह नाचेगी, और मन-ही-मन यह प्रार्थना करती हुई कि उसके नृत्य की प्रत्येक भंगिमा भगवान् की वन्दना के रूप में व्यक्त हो उठे, वह तद्गत होकर नाचती हुई गाती है :

"मुझे क्षमा करो, हे, क्षमा करो! तुम्हें नमस्कार करती हूँ, हे निरुपम, तुम्हें स्मरण कर, मेरा चित्त नृत्य-रस से छलककर बज रहा है। मेरी सारी देह के आकुल रव में, तुम्हारे मन्त्रहीन स्तव से, नव-जन्म के अवसर पर दाएँ-बाएँ दोनों ओर छन्द झर रहे हैं। आज मेरी प्रत्येक भंगिमा में, मेरे संगीत में तुम्हारी वन्दना विराज रही है।

"यह कैसी परम व्यथा प्राणों को कम्पित कर रही है। वह कम्पन मेरे अन्तर को झक-झोर रहा है। शान्ति-सागर में लहरें खेल रही हैं, उसमें 'सुन्दर' जग रहा है। मेरी सारी चेतना और सारी वेदना ने यह कैसी आराधना रच डाली है! मेरी साधना तुम्हारे चरणों में लाज से मर न जाय।

"मैंने पूजा के लिए कानन से फूल नहीं चुने, फल भी मुझे नहीं मिले, अपने सूने से कलश में तीर्थ-जल भी मैंने नहीं भरा। पर मेरे अंग-अंग में मेरा बन्धनहीन हृदय अधरा-धारा ढाल रहा है। वह अर्घ्य पूजा के पुण्य-कार्य में तुम्हारे चरणों में अर्पित हो। आज मेरे नृत्य की प्रत्येक भंगिमा में, मेरे संगीत के प्रत्येक स्वर में तुम्हारी वन्दना विराजे, यह आशीर्वाद दो!"

और सचमुच उसकी प्रत्येक भंगिमा में, संगीत के प्रत्येक स्वर में एकान्त भक्ति का ऐसा मादक रस छलक उठता है कि उस रस-धारा के उद्दाम प्रवाह में राज-महिषी लोकेश्वरी का सारा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विरोध बह जाता है वह बीच-बीच में भावमुग्ध होकर बोलती जाती हैं : "रुको मत, श्रीमती रुको मत ! गाओ, गाओ, नाचो, नाचो !"

श्रीमती आत्म-विस्मृत होकर नाचती-गाती हुई आनन्द की विह्वलता से अपने एक-एक गहने को उतार-उतारकर भग्न स्तूप की आवर्जना के ऊपर फेंकती चली जाती है, नृत्य के अवसर के लिए पहने गए एक-एक वस्त्र को भगवान् की वेदी पर चढ़ाती चली जाती है, और भीतर रह जाता है केवल एक वस्त्र—भिक्षुणी का पीला चीवर। और तब नटी उसी प्रेमोन्माद में राजाज्ञा को भूलकर घुटने टेककर बोल उठती है, "बुद्धं शरणं गच्छामि !" चारों ओर से भयजनित पुकारें उठती हैं : "रुक, रुक, दुस्साहसिका, राजाज्ञा का उल्लंघन करके मौत के मुँह में मत जा दीवानी !" पर वह सुनती हुई भी नहीं सुन पाती और आँखें मूँदकर कहती चली जाती है : "धम्मं शरणं गच्छामि ! संघं शरणं गच्छामि !" और राज-महिषी भी अपना सारा विरोध भूलकर उसके स्वर-में-स्वर मिलाकर बोल उठती हैं : "बुद्धं शरणं गच्छामि !···"इतने में रक्षिणी का तीखा अस्त्र नटी के ऊपर पड़ता है और वह गिर पड़ती है।

नाटक निस्सन्देह बहुत सुन्दर है। पर उसका सारा सौन्दर्य नटी की नृत्य और गीतों द्वारा की गई बुद्ध भगवान् की पूजा में बँधा हुआ है। न नाटक में वर्णित या व्यंजित क्रिया-कलापों में हम कोई विशेषत्व पाते हैं, न कथोपकथन में कोई चमत्कार; स्वयं नटी नृत्य और गीत के सिवा न तो कथोपकथन में कोई विशेष भाग लेती है न किसी नाटकीय क्रिया में। पर बीच-बीच में जो गीत वह गाती है उनके भीतर निहित रहस्यात्मक भाव और भावात्मक रस ऐसे अनिर्वचीय माधुर्य का सृजन करते हैं, अन्तर के तार-तार को झंकृत, अणु-अणु को तरंगित करने वाली ऐसी उदात्त भावनाओं को जगाते हैं कि शाश्वत साम-मन्त्र की तरह उस महागीत का महा सुर अपने माया-बल से अपरूप को रूप में बाँधकर, अव्यक्त को व्यक्त करके चिर-शान्ति, चिर-प्रेम चिर-कल्याण और चिर-अहिंसा की जय-ध्वनि घोषित करता है। बुद्ध के रूपक में रवीन्द्रनाथ ने व्यक्त के मूल में निहित चिर-अव्यक्त के उसी अनिर्वचनीय महा सौन्दर्य की आराधना की है जो उनकी प्रायः समस्त साहित्यिक कृतियों का मूल प्रेरणा-स्रोत रहा है। और नटी रोग-शोक, दुःख-दैन्य, शासन-बन्धन द्वारा पीड़ित उस मानवात्मा का प्रतीक है जो अपनी चिर-बन्धनावस्था की विवशता के भीतर से भी प्रतिक्षण, विवशता के उपकरणों द्वारा ही, चिर-मुक्त, किन्तु चिर-अव्यक्त विश्वात्मा के प्रति ज्ञात में या अज्ञात में उन्मुख होती रहती है।

ऊपर आलोचित प्रायः सभी पुस्तकों का अनुवाद बहुत सुन्दर रीति से हुआ है। अनुवाद में मूल की रक्षा काफी हद तक की गई है। अनुवाद की भाषा भी बहुत सरल और स्वाभाविक लगती है, यद्यपि बीच-बीच में कहीं-कहीं पर बँगला-मुहावरों का हिन्दी-प्रयोग अखरने लगता है।[1]

१. 'मेरा बचपन', 'चतुरंग', 'दो बहनें', 'फुलवाड़ी', 'नटी की पूजा'—ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर। प्रकाशक—विश्वभारती, कलकत्ता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विजयदेवनारायण साही

हिन्दी-गीत-परम्परा का नया उत्थान

टेक, तुक, लय और गेयता का आधार लिये हुए छायावादी कवियों ने, विशेषतः महादेवी, प्रसाद और रामकुमार वर्मा ने गीतों का निर्माण आधुनिक युग में किया। कवि की व्यक्तिगत और संक्षिप्त भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के लिए इस गीत-शैली ने एक आवश्यक और मार्मिक इकाई की सृष्टि की। वह धारा छायावाद-रहस्यवाद की भावभूमि तक ही सीमित न रह सकी। छायावाद के उत्तर-काल में जहाँ महादेवी की ऋचाओं, निराला की अर्चना तथा पन्त के अरविन्द-दर्शन में उसकी परिणति प्रत्यक्ष धार्मिक आध्यात्मिक विचारों और भावनाओं में हुई, वहाँ बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली, शम्भूनाथसिंह आदि कवियों ने उसे एक ऐसी दिशा में मोड़ा, जो छायावाद के सर्वथा विरुद्ध न होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में उससे भिन्न थी। आज भी काफ़ी संख्या में नये गीतकार उसी पथ को प्रशस्त कर रहे हैं।

महादेवी ने 'स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण' छायावादी-काव्य को 'वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम' कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी कवियों ने 'अहं' और 'स्व' की स्थापना की। उनके परवर्ती गीतकारों ने इस स्थापना का कुछ अधिक ज़ोर से समर्थन किया। परन्तु छायावादियों और परवर्ती गीतकारों के 'स्व' में बहुत बड़ा अन्तर था। दोनों की भिन्नता का प्रारम्भ यहीं से होता है। छायावादी का 'स्व' अधिकतर एक रहस्यमय प्राणी है जिसके चारों ओर एक दार्शनिक दृष्टिकोण, कुतूहल-मिश्रित जिज्ञासा, सूक्ष्म भावना और व्यापक कल्पना का झिलमिला कुहासा लिपटा हुआ है। अपनी सर्वात्मवादी कल्पना में वह सारे संसार को समेट लेना चाहता है। वह अपने वैयक्तिक उल्लास-विषाद को निखिल विश्व में झंकृत होता हुआ देखता है। उसके बिम्ब में मानवता के अतिरिक्त प्रकृति भी शामिल है। भावनाओं को अशरीरी, अलौकिक और सर्वव्यापी रूप देने के प्रति उसका विशेष आग्रह है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह चिन्तन, दर्शन तथा आध्यात्मिकता का सहारा लेता है। उसे अपने 'स्व' के निरन्तर परिष्कार एवं आदर्शीकरण की विशेष चिन्ता है। उसके समर्थक इसे उसकी 'महानता' कहते हैं, कटु आलोचक शायद ईमानदारी पर सन्देह करते हैं परन्तु यह सत्य है कि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की तरह 'साधारण में असाधारण' अथवा 'असाधारण में साधारण' की खोज को वह अपनी विशेषता मानता है।

इसके विपरीत परवर्ती गीतकारों ने अपने को साधारण कोटि में ही रखा। बच्चन ने प्रारम्भ में ही कहा 'औलिया-आचार्य बनने की नहीं अभिलाष मेरी।' इन कवियों ने उन सभी तत्त्वों का बहिष्कार किया जो उनके 'स्व' की 'महानता' के दावेदार हो सकते थे। वैयक्तिक उल्लास-विषाद से उनका अर्थ जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाएँ, व्यक्तिगत अनुभव और तज्जनित भावावेश ही था। इस सम्बन्ध में पहली वस्तु जो उन्हें भारी लगी और जिसे उन्होंने उतार फेंका, वह था चिन्तन, दर्शन और आध्यात्मिकता का लबादा। इसका यह अर्थ नहीं कि इन कवियों के पास कोई दृष्टिकोण नहीं है परन्तु उसे वे जीवन-दर्शन या विश्व-दर्शन बनाने की चेष्टा नहीं करते। इसका स्थान भावुकता और आवेग ने ले लिया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण इन कवियों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में मिलता है। छायावादियों की कुतूहल-मिश्रित जिज्ञासा,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और प्राकृतिक सौन्दर्य में सत्यं और शिवं की उपलब्धि एक प्रकार का बौद्धिक प्रक्षेप ही था। दार्शनिकता के अभाव में यह सारा क्षेत्र ही अनावश्यक हो गया। अधिक आग्रह व्यक्ति और उसके दुःख-सुख पर होने के कारण, प्रकृति उद्दीपन का अवलम्ब हो गई। कभी-कभी प्रकृति का मात्र सौन्दर्य-विलास उन्हें आकृष्ट करता है, परन्तु एक नशे की तरह। उसी तरह भावनाओं की अलौकिकता तथा अनुभूतियों की अतीन्द्रियता का स्थान प्रत्यक्ष लौकिक एवं पार्थिव अनुभवों ने लिया। इनमें से जिन कवियों ने स्थूल ऐन्द्रिक वासनाओं से परहेज किया है उनके भी सुख-दुःख का माध्यम इन्द्रियाँ ही रही हैं, यह स्पष्ट है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की भाषा, अनुभूति, विकलता, आह्लाद, सुख, दुःख साधारण जनों के अधिक निकट हो गए। उनकी लोकप्रियता का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

छायावाद में से यह सब निकाल देने के बाद प्रेम ही एक ऐसा विषय बचा जो इन कवियों को ग्राह्य था। उन्होंने इसकी निर्झरिणी प्रवाहित कर दी। और इसलिए कि पुरानी आध्यात्मिकता का कोई भी कण शेष न रह जाय, उन्होंने खुले शब्दों में अपने प्रेम को 'प्यार' कहना शुरू कर दिया।

छायावादियों के प्रेम का लक्ष्य जहाँ अज्ञात है, वहाँ इन कवियों का ज्ञात है। उन्होंने अपने 'इश्क मजाज़ी' को कभी 'इश्क हक़ीक़ी' बताने की चेष्टा नहीं की। छायावादियों के प्रेम में प्लेटोनिक और वैष्णवी भावनाओं का सम्मिश्रण है। परवर्ती गीतकारों के प्रेम का आधार यौवन और सेक्स का चुम्बकीय आकर्षण है। यहाँ पर स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि इन गीतकारों का 'प्रेम' रीतिकालीन भावना से भी भिन्न है। यों आचार्य शुक्ल ने तो छायावादियों के बारे में भी कहा था :

"रीतिकाल की शृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृङ्गारी कविता कभी रहस्य का परदा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर, फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।"

परन्तु जहाँ रीतिकालीन कविता में मात्र काम-वासना की दरबारी तृप्ति के ही साधन अधिक एकत्र किये गए हैं, इन गीतकारों का आग्रह प्रेम के भाव पक्ष, निष्ठा, मार्मिकता, संवेदना और रोमांस की ओर है। जहाँ छायावादी प्रेमी अपने प्रेय से दूर प्रेम में ही तुष्ट हैं, और रीतिकालीन प्रेमियों ने प्रेयसियों पर कब्जा कर रखा है वहाँ ये नये प्रेमी-प्रेयसि एक दूसरे के पूरक हैं, संगी-साथी हैं। सम्भवतः इनके प्रेम की सफलता विवाह में है। यह निश्चित है कि इस दृष्टिकोण से ये नये कवि यथार्थ के अधिक निकट हैं।

वस्तुतः ये सभी कवि यौवन और भावुक उद्वेगों के कवि हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःख को अत्यधिक तीव्रता से अनुभव करने के कारण उनकी अनुभूतियाँ अधिक-से-अधिक स्वकेन्द्रित होती जाती हैं। इसलिए इन कवियों का एकाकीपन या सूनापन अधिक उभरकर आया है। उनके प्रेम की सार्थकता तभी है जब उसमें कोई बटवारा करने वाला न हो। कहा जाता है कि ये कवि निराशावादी हैं। पूर्णतया यह सत्य नहीं है। परन्तु आज की सामाजिक स्थिति में शायद प्रेम की असफलता अधिक होने के कारण दुःखपूर्ण गीतों की बहुतायत है। ऐसी स्थिति में इन दुखित प्रेमियों का सब से तीखा आक्रोश 'संसार' और 'नियति' के विरुद्ध व्यक्त होता है, जिनसे उनका तात्पर्य सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। यों अकेलापन तो छायावादी भी महसूस करते थे, और संसार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के प्रति उन्हें भी शिकायत थी, परन्तु उसका आधार उनकी अपने को अलग समझने की भावना ही थी। इन कवियों का कहना है कि न सिर्फ संसार उनकी उद्दाम भावना की सचाई को नहीं देखता, बल्कि उनकी साधारण-सी अभिलाषाओं को भी कुचलने के लिए तैयार रहता है। जहाँ तक व्यक्तिगत प्रेम और हार्दिकता का सवाल है—सामाजिक रूढ़ियों के प्रति इन कविताओं से ज्यादा तीखा विद्रोह किसी में नहीं मिलेगा।

काल, वय और व्यापक प्रभाव की दृष्टि से इस धारा के उन्नायक और काफ़ी हद तक उसकी सम्भावनाओं को विकसित करने वाले बच्चन ही हैं। इधर भारती भण्डार से 'सोपान' नाम से उनकी अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में से चुनी हुई ११८ कविताओं का एक अच्छा संग्रह निकला है। इन कविताओं का संकलन स्वयं बच्चन ने किया है। बीस वर्ष की लम्बी अवधि में लिखी गई इन कविताओं में एक स्थायी स्वर है—वह है बच्चन का एण्टी इण्टलेक्चुअलिज़्म, बौद्धिकता-विरोध। प्रारम्भ में उनका 'हालावाद' और 'उमर खैयाम' के प्रति आकर्षण इसका एक अंग ही था। यही वस्तु उनके और 'उमर खैयाम' के बीच अन्तर को भी स्पष्ट करती है। क्योंकि 'उमर खैयाम' की मस्ती, करुणा और निराशा में एक गहरा दार्शनिक पहलू भी है, जिसे बच्चन छू नहीं पाते। 'मधुशाला' और 'बंगाल का काल', 'खादी के फूल' तथा 'सूत की माला' को जोड़ने वाली कड़ी भी यही है। आज के घोर बुद्धिवादी युग में बच्चन की वह स्थायी दृष्टि, प्रारम्भ में कुछ ताज़गी देने वाली थी, अब विस्मय अधिक उत्पन्न करती है। बच्चन कभी धक्का देने या झकझोरने का प्रयास नहीं करते। यदि वे साधारण, नितान्त साधारण, नहीं हैं, तो कुछ भी नहीं हैं। अपनी भूमिका में वे कहते हैं, "मेरी समझ में कविता ऐसी होनी चाहिए जो न तो अपने गुण और शक्ति से पाठक को दबा दे और न ऐसी हो कि उसे कवि की प्रशंसा में उछाल दे।" यदि सचाई, स्थिरता और भावमय प्रक्रिया उच्च कविता के लिए पर्याप्त होती तो बच्चन निस्सन्देह कवियों में अग्रणी होते। परन्तु उच्च कविता केवल अनुभूति ही नहीं हैं। उसे मूल्यवान अनुभूति भी होना चाहिए। यही बच्चन की सीमा है। परन्तु उनके नितान्त घरेलू वातावरण, हार्दिक भावुकता, बातचीत की शैली, सीधी-सादी प्रत्यक्ष आस्थाओं, विश्लेषण के अभाव, और ग्रन्थिहीन मानसिक प्रतिक्रियाओं ने उन्हें वह लोकसिद्धि प्रदान की है, जो और किसी को प्राप्त नहीं हो सकी। बच्चन रोमांटिक नहीं हैं, वे 'डोमेस्टिक' कवि ही कहे जायँगे।

जीवन बच्चन के लिए एक रूपक है। जब-जब बच्चन की सामान्य अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन हुआ है—और इसके अवसर अक्सर आए हैं—बच्चन ने अपनी शंका का समाधान रूपकों से ही कर लिया है। इन मार्मिक स्थलों पर ही बच्चन की विशेषता उभरकर आई है, और यहीं वे पाठक के हृदय को छू सकने में समर्थ हो सके हैं। साधारण भावनाओं को साधारण, सरल और सीधी भाषा में व्यक्त करना बच्चन की विशेषता है। प्रारम्भ में बच्चन की भाषा में इस सीधेपन के कारण प्रवाह और सहज बोधगम्यता आई। परन्तु इस शैली में एक बहुत बड़ी कमी भी है, जिसने वड्सवर्थ-जैसे कवि को भी 'मिडियाकर' बना दिया। आगे चलकर बच्चन इस शैली को ही सम्भवतः अपनी लोकप्रियता का आधार मान बैठे। परिणाम यह हुआ कि अक्सर कविताएँ प्रभावहीन हो गई हैं। 'बंगाल का काल', 'खादी के फूल' और 'सूत की माला' में बच्चन की असफलता उनकी शैली और सामर्थ्य की सीमा का अच्छा उदाहरण है। अपनी भूमिका में बच्चन ने अपने प्रति आलोचकों के मौन और हिन्दी जनता की प्रशंसा, प्रेम और प्रोत्साहन का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिक्र किया है। इन दोनों के कारण वे पाठक और कवि के हृदय को जोड़ने में समर्थ हो सके, इससे अच्छी क्या बात होगी ? परन्तु एक खतरे से आगाह करना आवश्यक है कहीं यह सम्बन्ध शुद्ध व्यापारी न हो जाय।

जिस प्रकार छायावादी कवियों की सफलता का मापदण्ड अनुभूतियों और कल्पना का उदात्तीकरण है, उसी प्रकार परवर्ती गीतकारों की कसौटी उनकी भावना का आवेग और तीखापन है। इस दृष्टिकोण से 'अग्निमा' के लेखक गिरिधर गोपाल में हमें एक अत्यन्त अनुभूतिशील और छा जाने वाले कवि का परिचय मिलता है। गिरिधर पर बच्चन की अस्पष्ट-सी छाप है ; परन्तु गिरिधर में एक प्रवेग और शक्ति है जो उनकी अपनी वस्तु है। 'अग्निमा' के अधिकतर गीत मृत्यु की डरावनी छाया में बैठकर लिखे गए हैं। परन्तु मृत्यु के इस दिल हिला देने वाले साक्षात्कार ने गिरिधर को उदास, विरक्त या निष्क्रिय नहीं बनाया है। उनकी तीखी-से-तीखी पुकार के पीछे यौवन और जीवन की वह आवेगमय गति ही है जो सबके बावजूद अपना आधार खोजती है, शिकंजे से निकल भागना चाहती है। अन्तिम कविताओं में अन्धकार के बीच प्रकाश की एक रेखा आई है और कवि सामंजस्य की ओर लौटता है। यों प्रकाशवादी कवि आज बहुत हैं परन्तु गिरिधर का अनुभव जितना गहरा, आत्मीय और प्यारा है, उतना कम का होगा। क्योंकि शायद अन्धकार का साक्षात्कार किसी ने इतनी शक्ति से नहीं किया। गिरिधर की तीव्र अनुभूति ने उनकी उपमाओं, चित्रों, शैली और भाषा में एक अजब जादू पैदा कर दिया है, जो अपनी मौलिकता के कारण नये-से-नये प्रयोगवादी कवियों को भी चकित करने का सामर्थ्य रखता है। गीतकारों के शब्दों में इतनी अधिक व्यञ्जना, और चित्रों में इतनी अधिक सजीवता अन्यत्र दुर्लभ है। यदि अन्धकार का साक्षात्कार ही गिरिधर की सीमा न बन गया, तो वे निश्चय ही प्रभावपूर्ण कवि होंगे।

रमानाथ अवस्थी का 'आग और पराग' पिछले पाँच वर्ष में लिखे गए ४० गीतों का संग्रह है। कवि-सम्मेलनों में रमानाथ ने बड़ी ख्याति प्राप्त की है। उनकी शैली में इसकी ध्वनि है। पंक्तियों का चमत्कार और सम की तरह टेक पर टूटने वाली लय, उनके प्रभाव की विशेषता है। उर्दू की ग़ज़ल की लय और आत्मा उनके गीतों को आकर्षक बनाती है। विवशता और प्यास के इस कवि ने दिल खोलकर प्यार करना ही आदमी की बड़ी भारी निधि माना है। इसी कारण उनकी विवशता और प्यास में घुटन नहीं है, है केवल एक उन्मुक्त हृदय, जो हँस-रोकर जिन्दगी काटने के पक्ष में है, उसे बोझ बनाने के पक्ष में नहीं। इन कविताओं के पीछे एक सरल और मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व की झलक है। "ये कविताएँ देवता नहीं वरन् मनुष्य की छाया के ही नीचे बैठकर सोची और गढ़ी गई हैं।" रमानाथ की 'रेटरिक' शैली ने जहाँ उनकी कविताओं को शक्ति दी है वहीं भावना के आवेग को कम भी कर दिया है। उनका सफल गीत 'सो न सका कल याद तुम्हारी आई सारी रात, और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात' इसका प्रमाण है।

कोमल-कान्त-पदावलियों के प्रेमी श्रीपालसिंह 'क्षेम' के गीतों का पहला संग्रह 'जीवन-तरी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इतनी मृदुल, मधुर और सौन्दर्य-स्वप्न में डूबी हुई कविताओं का प्रकाशन जरा और सुन्दर ढंग से हुआ होता तो आँखों और मन दोनों ही को सन्तोष मिलता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भूमिका में लिखा है, "भाषा के माधुर्य और लाक्षणिकता में, कल्पनाओं की सज्जा और रूपमत्ता में, तथा भावों की सरल और स्वच्छन्द गति में ये गीत तरुण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कवि के कितने उपयुक्त हैं और हिन्दी की गीत-शैली की नवीन कड़ियों का कैसा सुन्दर निर्माण और संगुम्फन करते हैं। विना किसी बौद्धिक चेष्टा या उपचार के भी इसमें कितना स्वाभाविक आकर्षण है।" सागर के पानी में डूबे हुए फूलों की तरह सपनों की मधुराई है, जिसके लिए शैली ने कहा है, "इतने मीठे, कि कल्पना करते-करते ही चेतना नशे में बेहोश हो जाती है।" लगता है कवि किसी ऐसे स्थान पर खड़ा है जहाँ स्वप्न और सत्य घुल-मिलकर एकाकार हो गए हैं; और जीवन आस्था, विश्वास और हार्दिकता का सन्देश देता है। 'क्षेम' यदि छायावादी विशेषणों का मोह छोड़ सकें, तो यह अनुभव अधिक वास्तविक होकर बहुतों के घाव सहला सकता है।

नई कवयित्रियों में श्रीमती शान्ति एम० ए० ने अपने गीतों द्वारा लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। इधर काफी शीघ्रता से उनके स्वर का विकास हुआ है और उसमें प्रौढ़ता आई है। गीतों का एक नया ही प्रयोग उन्होंने अपनी नई पुस्तक 'चाणक्य' में किया है। चाणक्य-जैसे विषय का गीतों के लिए चयन साहस का कार्य था। परन्तु उसका निर्वाह सफलता से किया गया है। यों प्रसाद जी ने चाणक्य को, महत्त्वाकांक्षा और वेगवान तेज के कारण, 'लीरिकल' बना दिया था। फिर भी श्रीमति शान्ति ने चाणक्य के चारों ओर जन-कल्याण और निष्काम कर्म का आवरण लपेटकर उसकी एक नई कल्पना प्रस्तुत की है। पुस्तक ऐतिहासिक खण्ड-काव्य नहीं है; छोटे-छोटे गीतों में नायक के 'रागात्मक मनोभावों के संकलन एवं आत्म-विश्लेषण' का संग्रह है। बहुत-कुछ टेनीसन के 'माड' की तरह। महत्त्व की बात यह है कि कवयित्री ने चाणक्य को शुष्क बौद्धिकता की परम्परा से छुड़ाकर एक सहृदय, उदार और भावमय किन्तु संयमी और कर्तव्यशील व्यक्ति की भाँति चित्रित करने का प्रयास किया। यही इन गीतों का प्राण है। प्रेमाख्यान के अभाव में गीत मधुर हो सकते हैं; इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। श्रीमती शान्ति के पास अभिव्यंजना के लिए वस्तु और सामर्थ्य दोनों हैं, यह स्पष्ट है।

क्षेम की 'जीवन-तरी' की भूमिका में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "जिस समय हमारे साहित्य को, और विशेषकर रचनात्मक साहित्य को, नाना नवीन वादों के प्रयोग जकड़ते चले जा रहे हैं···स्वच्छन्द गीति-परम्परा को आगे बढ़ाने वाली सृष्टियाँ हिन्दी-कविता की मुक्तिकारिणी शक्ति के रूप में ही ग्रहण की जानी चाहिए।" वाजपेयी जी के इस व्यापक निर्णय से सहमत होना कठिन है, परन्तु यह निर्विवाद है कि प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के कोलाहलमय विवाद के बावजूद भी, लगन और धीरज के साथ सौन्दर्य-निर्माण में लगे इन गीतकारों के नये मूल्यांकन की आवश्यकता है। सहसा इन पर लगाए हुए पलायनवाद और बासीपन के दोनों ही आरोप थोथे और असत्य हैं। वस्तुतः ये कवि मानवतावादी हैं। उनकी आस्था, मनोरम-हार्दिकता और स्वप्नमयता निश्चय ही छोटे आदमी की उन साधारण आकांक्षाओं का भावमय समर्थन है जिनके कारण जिन्दगी जीने लायक बनती है और सीधी, उन्मुक्त और सरल आदमियत पर विश्वास जमता है। चाहे एटम-बम का विनाशकारी गर्जन हो, या तानाशाही का साम्राज्यवाद और सामाजिक रूढ़ियों का शिकंजा, इन सबके बीच इन कवियों की प्यार और बन्धुत्व से भरी हुई वाणी निश्चय ही एक दृढ़ स्वर की परिचायक है। सामाजिक रूप से इन कवियों की इकाई परिवार में है। न तो एकाकी, अप्रेषणीय व्यक्तित्व ही इनका गन्तव्य है, और न सर्वव्यापी सामाजिक महा सत्ता ही। और यह बात निश्चित है कि पारिवारिक सुख, प्रेम, दुःख, विषाद, उल्लास,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आकर्षण आज भी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं और सम्भवतः इसके मूल्य को अधिक ज़ोर से प्रकाशित करने की आवश्यकता भी महसूस हो रही है। नहीं तो बड़े-बड़े अभियानों में रत विभिन्न उद्देश्यों के राजनीतिक नेतागण—जैसे स्टालिन, हिटलर, चर्चिल, जवाहरलाल, माओ-त्से-तुङ्ग आदि—हँसते हुए बच्चों के बीच अपनी तसवीरें खिंचवाकर दुनिया भर में न बटवाते। यह कहना गलत है कि प्यार में डूब जाने के कारण इन कवियों में सामाजिक संघर्ष और विद्रोह की क्षमता नहीं रह गई है। हो सकता है ये सच्चे और भावुक लोग कुरसियों पर बैठकर इस युग में कूटनीति की गोटें न बैठा सकें, परन्तु ये उन लोगों के उत्तराधिकारी हैं जो मध्यकाल में अपनी प्रेयसी से माथे पर तिलक लगवाकर युद्ध-भूमि में जाते थे और दूसरे सिपाहियों से अच्छा ही लड़ते थे। मैक्सिम गोर्की के अनुसार "कितने युगों से हर काल और राष्ट्र के महान् कवि इस प्रक्रिया को उदात्त बनाने और इन्सान के गौरव के अनुसार उसे सजाने-सँवारने में अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को लगाते रहे हैं ताकि इन्सान अपने को बकरियों, बैलों और सूअरों के स्तर तक न गिरा डालें। सैकड़ों, हज़ारों शानदार कविताएँ प्रेम की प्रशंसा में लिखी गईं। प्रेम पुरुषों और स्त्रियों की रचनात्मक शक्ति का प्रेरक रहा है। प्रेम ने ही आदमी को सबसे अधिक समझदार जानवरों से भी कहीं अधिक सामाजिक प्राणी बनाया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में क्रियाशील, स्वस्थ और लौकिक रोमांसवाद की कविता सामाजिक शिक्षा का एक अत्यन्त मूल्यवान तत्त्व रही है। शिलर ने कहा, 'प्रेम और भूख ही दुनिया को चलाते हैं।' वस्तुतः प्रेम संस्कृति का आधार है और भूख सभ्यता का[1]।"[2]

●

बच्चनसिंह

छायावाद युग

छायावाद के सम्बन्ध में स्फुट रूप से बहुत-कुछ बातें कहीं जा चुकी हैं, किन्तु इस युग का समग्र रूप से आकलन 'छायावाद युग' में पहली बार हुआ है। इस युग के आकलनकर्ता श्री शम्भूनाथसिंह वाद की संकीर्णताओं में न बँधकर मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय अतियों से भी मुक्त हैं। उन्होंने समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियों के समन्वय का प्रयास किया है।

'छायावाद युग' तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पुनरुत्थान युग (द्विवेदी युग),

---

१. फ़ैट मैन्स म्यूज़िक।

२. 'सोपान'; लेखक—हरिवंशराय बच्चन; प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग। 'अग्निमा' लेखक—गिरधर गोपाल एम० ए०; प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, प्रयाग। 'आग और पराग' लेखक—रमानाथ अवस्थी; प्रकाशक—सीता प्रकाशन, कानपुर। 'जीवन-तरी' लेखक—श्रीपालसिंह 'क्षेम'; प्रकाशक—शशांक प्रकाशन-गृह, जौनपुर 'चाणक्य' लेखिका—शान्ति एम० ए०; प्रकाशक—अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विद्रोह युग (छायावाद युग), विद्रोह युग की कविता और दार्शनिक पीठिका का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा विषय-वस्तु का विवरण-विश्लेषण है। तृतीय खण्ड में आठ अध्यायों के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया, काव्य के रूप, अभिव्यक्ति, अलंकार-विधान, चित्रण-कला, शैलीगत विशेषताएँ, भाषा और शब्द-चयन और छन्द और लय के सम्बन्ध में विचार किया गया है। दूसरे शब्दों में प्रथम खण्ड को पृष्ठभूमि और परिचय, दूसरे खण्ड को प्रवृत्तियाँ और विषय-वस्तु और तीसरे को रचना-प्रक्रिया और कला-सौष्ठव कहा गया है।

'छायावाद युग' का तीसरा खण्ड पुस्तक का आधे से अधिक भाग घेर लेता है। तीसरे खण्ड में कुल २०८ पृष्ठ खर्च किये गए हैं, और पहले और दूसरे खण्ड में १८४। इससे पुस्तक के सन्तुलन में बाधा पड़ गई है। यदि तीसरे खण्ड के कुछ पृष्ठों का उपयोग द्वितीय खण्ड में किया गया होता तो तीसरे खण्ड के कुछ प्रसंगों की विवृति कम हो गई होती और द्वितीय खण्ड को आवश्यक विस्तार का अवसर भी मिल जाता।

द्विवेदी युग को शम्भूनाथसिंह जी ने पुनरुत्थानवादी युग कहा है। इस युग की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—पुनरावर्तन और समझौते—का विवेचन ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया गया है। समझौते का अर्थ है सामन्तवाद और पूँजीवाद का समझौता। सांस्कृतिक आन्दोलनों के कारण पुनरावर्तन और राष्ट्रीयता (हिन्दू राष्ट्रीयता ?) की प्रवृत्ति बढ़ी। सामन्तवाद और पूँजीवाद के समझौते का परिणाम तीन रूपों में दिखाई पड़ा—(१) भाषा संस्कृत गर्भित हुई, (२) काव्य-विषय को युग की मान्यताओं के अनुरूप बनाया गया, और (३) मर्यादा और नीतिमत्ता के प्रति कवियों का रुझान अधिक दिखाई पड़ा।

सांस्कृतिक आन्दोलनों तथा सामन्तवाद-पूँजीवाद के समझौते के प्रभाव-क्षेत्रों को अलग-अलग नहीं बाँटा जा सकता। प्रत्येक प्रभाव-क्षेत्र को समन्वित रूप से दोनों प्रभावित करते हैं। सामन्तवाद और पूँजीवाद के समझौते के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उनके पीछे सांस्कृतिक आन्दोलनों का भी हाथ था। पहले और तीसरे निष्कर्षों को आर्य समाज की सात्विक (Puriton) भावना ने प्रभावित किया तो दूसरे निष्कर्ष को पाश्चात्य विचार-धारा से संवलित ब्रह्म-समाज तथा थियोसॉफी के आन्दोलन ने।

'विद्रोह युग' में छायावादकालीन उद्योग-धन्धों तथा राजनीतिक आन्दोलनों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। विकासोन्मुख पूँजीवाद को स्पष्ट करने के लिए वैसा करना अनिवार्य था। इतना अवश्य है कि ऐतिहासिक ब्यौरों और आर्थिक आँकड़ों की निवृत्ति आवश्यकता से अधिक हो गई है।

'विद्रोह युग की कविता' अध्याय खूब जमकर लिखा गया है। इस अध्याय को लिखने में काडवेल की विचार-पद्धति लेखक के सामने बराबर रही है। ग्रन्थ के प्राक्कथन में लेखक ने काडवेल के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है। उसकी विचार-सरणि को दृष्टि में रखते हुए लेखक ने यहाँ की आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखा है। यह उसकी विचारणा और स्वतन्त्र चिन्तन का द्योतक है।

इस युग को शम्भूनाथ जी ने दो मंजिलों में बाँट दिया है। १९१९ से '३० तक पहली मंजिल है; और १९३० से १९३९ तक दूसरी मंजिल। इन दो मंजिलों की विभाजक रेखा पूँजीवादी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वतन्त्रता के भ्रम का ध्वंस है। पहली मंजिल में पूँजीवादजन्य वैयक्तित स्वतन्त्रता के भ्रम का पूरा-पूरा उद्घाटन किया गया है। इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता के भ्रम के फलस्वरूप पुनरावर्तन का भ्रम, छायावाद का भ्रम तथा समाज से मुक्ति पाने का भ्रम उत्पन्न हुआ। अन्तिम भ्रम की सृष्टि के साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और सामाजिकता की प्रवृत्ति लुप्त-सी हो जाती है। छायावाद की दूसरी मंजिल में पूँजीवाद अपने नग्न रूप में दिखाई पड़ता है, और भ्रम की रेखाएँ मिटने लगती हैं। इस काल की रचनाएँ दो रूपों में व्यक्त हुईं—मृत्यु-पूजा, क्षयी रोमांस, अस्वस्थ ऐन्द्रिकता के रूप में और मानवतावादी आदर्शात्मक प्रवृत्तियों के रूप में। प्रथम के मूल में घोर निराशा की भावना है तो द्वितीय के मूल में दार्शनिक चिन्तन की प्रेरणा।

शम्भूनाथ जी ने जिस पूँजीवादी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है वह सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी अस्त्र का काम करती है। पूँजीवाद उत्पादन के साधनों को ही नहीं बदलता बल्कि वितरण की व्यवस्था में भी आमूल परिवर्तन करता है। इस नई व्यवस्था के कारण व्यक्तिवाद का जन्म होता है। कालान्तर में यह पूँजीवादी वर्ग इसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अस्त्र से दूसरे वर्गों का शोषण करता है। पूँजीवादी स्वतन्त्रता का अन्तर्विरोध उसे सर्वहारा-वर्ग का साथी बना देता है। सब मिलाकर छायावादयुगीन पूँजीवाद का रोल क्रान्तिकारी ही कहा जायगा। गोर्की ने एक स्थान पर कहा है कि जब कभी मार्क्सवादी दृष्टि से संस्कृति का इतिहास लिखा जायगा, बुर्जुआवर्ग की सांस्कृतिक देन का अतिरिक्त मूल्यांकन होगा। साहित्यिक क्षेत्र में इस मूल्यांकन का विशिष्ट महत्त्व होगा। शम्भूनाथसिंह जी ने पूँजीपतिवर्ग की सांस्कृतिक देनों तथा ह्रासोन्मुखी काल में उसकी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का अच्छी तरह विचार किया है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में छायावाद युग की प्रमुख प्रवृत्तियों और विषय-वस्तु का विवेचन हुआ है। इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियों—वैयक्तिकता की भावना, कल्पना-लोक और आध्यात्मिकता, वेदना का स्वर, निराशावाद आदि—पर विचार करते हुए इनके मूल कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। विषय-वस्तु को चार भागों में बाँटा गया है—प्रेम-भावना, सौन्दर्य-भावना और प्रकृति, तत्त्व-चिन्तन और यथार्थ की ओर। प्रत्येक भाग की विवेचना अलग-अलग अध्याय में की गई है।

'प्रेम-भावना' में प्रेम के लौकिक और पारलौकिक रूपों का विवेचन हुआ है। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य की स्थिति वस्तु में न मानकर अपने मन में ही मानी। इसके लिए शंभूनाथ-सिंह जी ने दो कारणों का उल्लेख किया है—(१) पूँजीवाद के विकास के समय सौन्दर्य को विषयी-निष्ठ मानने वाली पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव और (२) काण्ट, हीगेल, गेटे, बर्गसाँ के सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का प्रभाव।

पूँजीवाद के विकास के समय सौंदर्य को विषयी-निष्ठ मानने का समाजशास्त्रीय कारण क्या है। इस पर अच्छी तरह विचार नहीं हुआ है। पूँजीवाद की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी प्रकार के मूल्यों (Values) की निहिति व्यक्ति में ही मानती है। उसके लिए परिवेश का कोई महत्त्व नहीं है। परिवेश में किसी प्रकार के मूल्य का आरोप करके पूँजीवाद की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसके साथ सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहती। इसलिए सौन्दर्य की स्थिति भी व्यक्ति के मन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में ही मानी गई। छायावाद का विकासोन्मुख पूँजीवाद बहुत-कुछ इस भावना के अनुकूल था।

शंभूनाथसिंह जी मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुरूप मनुष्य और प्रवृत्ति का सम्बन्ध संघर्षजन्य मानते हैं। उसके अतिरिक्त प्रवृत्ति में परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति, प्रतीक, संकेत आदि की सूक्ष्म दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। छायावादी तत्त्व-चिन्तन को भारतीय परम्परा की अविच्छिन्न शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में देखने का परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न युगों की चिन्ता-धारा की विशेषताएँ भी उद्घाटित होती गई हैं। सन् १९३०-३९ तक की कविताओं में राष्ट्रीयता, वर्ग-संघर्ष की भावना, अहं और निराशा, मधुचर्या और ऐन्द्रिकता का प्राधान्य हुआ। ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद की पीठिका पर उपर्युक्त प्रवृत्तियों का विश्लेषण हुआ है।

छायावाद युग के तृतीय खण्ड में नौ लम्बे-लम्बे अध्याय हैं। यद्यपि इस विस्तार के कारणों का उल्लेख शंभूनाथसिंह जी ने प्रारम्भ में ही कर दिया है, तथापि इस खण्ड का इतना विस्तार अपेक्षित न था। रीति-विचार से छायावाद का कोई सम्बन्ध नहीं था, इसे छोड़ा जा सकता था। वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद की इतनी विस्तृत व्याख्या विवेच्य के मेल में नहीं है। यही बात शैली की मनोवैज्ञानिक विवेचना के सम्बन्ध में भी अंशतः लागू है।

काव्य-रूपों का स्वरूप-विवेचन तो शंभूनाथसिंह जी ने बहुत-कुछ सुलझे हुए ढंग से किया है किन्तु जहाँ पाश्चात्य काव्य-रूपों के आधार पर उन्होंने हिन्दी-कविता की जाँच की है वहाँ सम्भवतः शीघ्रता के कारण कई अशुद्धियाँ रह गई हैं। 'रामचरितमानस' और 'यमुना के प्रति' को उन्होंने वीर-गीति माना है। वीर-गीति (Ballad) के सम्बन्ध में डब्ल्यू० पी० केर का कथन है : "The ballads...are like the true heroic poem in the essence of their plots." 'रामचरितमानस' भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है, वीरता-प्रधान नहीं। 'यमुना के प्रति' में तो कथावस्तु है ही नहीं। यह सम्बोध-गीति (Ode) है। प्रसाद का 'आँसू' और पन्त का 'उच्छ्वास' शोक-गीति (Elegy) नहीं हैं, ये वियोग शृङ्गार की रचनाएँ हैं। 'सरोज-स्मृति', जो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक-गीति (Elegy) है, व्यंग्य-गीति के अन्तर्गत रख दी गई है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें एक स्थान पर अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य-विधान है, पर उसका मूल स्वर वैयक्तिक शोक से युक्त है।

रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि की शास्त्रीय विवेचना करते हुए शम्भूनाथसिंह जी ने परिवर्तित युग-प्रवृत्तियों के अनुरूप नये औचित्य की बात उठाई है। लेखक ने जड़ प्रकृति में चेतना का आरोप होने के कारण 'जुही की कली' और 'पवन की रति-क्रीड़ा'-वर्णन को शृङ्गार रस माना है। यह स्थापना नवीन दृष्टि से एक विचारणीय समस्या उपस्थित करती है। मेरी दृष्टि में न तो यह शास्त्रीय दृष्टि से ही शृङ्गार की कोटि में रखी जा सकती है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद का विस्तृत परिचय देते हुए छायावादी कवियों की कविताओं में इन्हें एक साथ ढूँढ निकालने का प्रयास श्रमसाध्य तथा नवीन है।

'भाषा और शब्द-चयन' वाला प्रसंग बड़े परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है। कविता की भाषा का वैशिष्ट्य, लय, छायावादी कविता की भाषागत नवीनता आदि के मूल में पैठकर उनकी बारीकियों की छानबीन की गई है। शब्दों की आत्मा का ज्ञान, शब्द-भ्रम, पुनरुक्ति, ग्राम्य-प्रयोग, शब्द-मोह की विवेचना के साथ ही छायावादी कवियों की कविताओं में इन्हें ढूँढ निकालने से इस विवेचना का मूल्य और बढ़ गया है। शम्भूनाथसिंह जी स्वयं कृती कवि हैं। अतः शब्द की बारीकियों की पहचान उनके लिए स्वाभाविक है। वैसे शब्दों पर विचार करते समय एकाध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगह वे जरूर चूक गए हैं। 'तन्वि' से उन्होंने केवल 'विरह-दुर्बल नायिका' अर्थ लेकर निराला की 'सरोज-स्मृति' में इसके प्रयोग में अनौचित्य देखा है। पर इस शब्द का मूल अर्थ केवल कृशांगी स्त्री ही है—'अप्रभूतमतनीयसि तन्वी' (माघ)।

'छन्द और लय' के प्रकरण में लेखक ने बतलाया है कि शारीरिक गठन की भिन्नता के कारण लय आत्मगत होती है। किन्तु सहजात प्रवृत्तियों की समानता के कारण लय समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एकसूत्रता में बाँधती हैं। इस सम्बन्ध में उस प्रक्रिया का विवेचन छूट गया है जिससे लय अन्तर्मुखी भावात्मक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक सम्बन्धों में सन्तुलन स्थापित करती है। बाह्य सामाजिक एकरूपता की चेतना बुद्धिजन्य होती है और सहजात (भावजन्य) एकरूपता रागजन्य। लय बाह्य सामाजिक एकरूपता से दूर खींचकर सहजात एकरूपता के आधार पर सामाजिक प्राणियों में एकसूत्रता स्थापित करती है।

छन्द में लय (Rhythm) सामंजस्य (Harmony) और संगीत-तत्त्व (Melody) की निहिति मानी गई है। शम्भूनाथसिंह जी ने इन तीनों तत्त्वों पर अच्छी तरह विचार किया है। प्रगतिवादी विचार-धारा के अनुसार मुक्त छन्द का आरम्भ तब होता है जब कवि छन्द और लय का तिरस्कार करके 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को मान लेता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं—क्या छायावाद के जिन कवियों ने मुक्त छन्द का प्रयोग किया है वे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं? कुछ प्रगतिवादी कवियों ने प्रायः लय-छन्द-शून्य मुक्त छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु उनके माध्यम से जनवादी भावनाएँ व्यक्त की हैं। इनका मेल उक्त सिद्धान्त से किस प्रकार होगा? किन्तु इन प्रश्नों को वहाँ नहीं उठाया गया है। छन्द और लय पर जिस ढंग से विचार किया गया है, वह हिन्दी के लिए नवीन है।

संक्षेप में 'छायावाद युग' अपने ढंग की पहली और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। यद्यपि इसके मूल्यांकन का मूलाधार समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति है तथापि यथास्थान मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली का भी सहारा लिया गया है। मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियों के भीतर-भीतर लेखक की समाजशास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहती रहती है। लेखक ने जिस वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण समीक्षा-प्रणाली का सहारा लिया है उसमें विश्लेषण की गहराई प्रायः सर्वत्र मिलेगी। इस पुस्तक के रूप में नवीन सम्भावनाओं से युक्त जो स्वस्थ साहित्यिक दृष्टिकोण सामने आता है वह हिन्दी-समीक्षा-साहित्य के उन्नयन में निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।[1]

1. लेखक—शम्भूनाथसिंह; प्रकाशक—सरस्वती मन्दिर, बनारस।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डा० रांगेय राघव

नये युग में पुराने सन्देह

संस्कारों की अनुभूति पीछे खींचती हुई भले ही दिखाई दे, कवि का चिन्तन यदि आगे बढ़ाने वाला है तो उसी भाग को ग्रहण करना विकास की सहायता करना है 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युग दीप' इसके उदाहरण हैं। दोनों पुस्तकें हिन्दी के पुराने गण्यमान्य लेखकों में से एक व्यक्ति ने लिखी हैं और इनमें नवीन विचार-धाराओं का आभास ही नहीं प्रतिफलन मिलता है। 'यथार्थ और कल्पना' की भूमिका में लेखक ने साहित्य के दीर्घ पथ की तीस-बत्तीस वर्ष की यात्रा करके कुछ अपने निष्कर्ष निकाले हैं। कविता के विषय में स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्र ने कालिदास को सम्बोधित करके आज के युग की यथार्थ वास्तविकता का मज़ाक के तौर पर वर्णन किया था, भट्टजी ने भी उसी रूप में आज की कविता को उच्छृङ्खल माना है। हर्ष है कि नवयुग के नव रूपों के इस अन्वेषण को उन्होंने व्यावहारिकता के रूप में अंततोगत्वा स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता की सामंतीय वेश-भूषा उतर गई है और नया समाज क्योंकि स्वयं अभी फटे वस्त्र पहने है, काव्य भी उन्हीं में दिखाई दे रहा है। किन्तु कविता के भविष्य के विषय में कवि को जितना भय है, उतने की वास्तव में आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ और सुन्दर समाज के विकास की भाँति काव्य भी सुन्दर और स्वस्थ होता जायगा। जब भी साहित्य में कोई युग बदलता है, तब प्रारम्भ में अनर्गलताएँ होती हैं, परन्तु समय उनको धो देता है। जहाँ तक काव्य के ध्येय में मनुष्य का मनुष्य से युद्ध है, वह तब तक है जब तक मनुष्य पर मनुष्य अत्याचार कर रहा है, उसके बाद वह प्रकृति से संघर्ष करेगा और 'ईश्वर' की खोज करेगा, उससे युद्ध नहीं। जिसे हम ईश्वर कहते हैं, उसका कोई एक रूप नहीं है। विभिन्न सम्प्रदाय और आचार्य भी ईश्वर के विषय में एकमत नहीं हैं। वास्तव में ईश्वर का अर्थ है—सृष्टि के रहस्य की खोज। और मानव उसीमें लगेगा, उसी समाज को लाने के लिए; जिसमें मनुष्य को इतना अवकाश होगा, बुद्धि होगी; आज का यह विप्लवी संघर्ष चल रहा है, और काव्य भी उसकी शक्तियों के अनेक रूपों में से एक है। विश्व-मंगल की कामना भी युगान्तर के संघर्ष का ही विचार है जब कवि आशीर्वाद देता है कि युगों से लड़ते मानव, तू एक दिन सुखी हो, तुझे सुख प्राप्त हो।

प्रेम का रूप सबसे अधिक काव्य में प्रकट होता है। प्रेम न कोई कल्पना की चीज़ है, न पलायन है। प्रेम हमारे अस्तित्व का विश्वास है, हमें एक-दूसरे से जोड़े रखने की गम्भीर साधना है।

हिन्दी में जो तथाकथित प्रगतिशील मार्क्सवादियों में बहुत से कुत्सित समाजशास्त्री भी हैं? वे भौतिकवाद को ही अन्त मानते रहे हैं। परन्तु भौतिकवाद आधार होते हुए भी, विकास के क्षेत्र में अधूरा है, जब तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार नहीं किया जाय। यदि भट्टजी 'मैं' और 'हम' की अनुभूतियों के पड़ावों को इस सतत गतिशीलता की कसौटी पर देखेंगे तो वे दूसरे ही निष्कर्षों पर पहुँचेंगे। प्रगति का कोई भी रूप 'स्फटिक स्वच्छ सरोवर-तट पर चिन्तन के आत्म-विभोर कल्हारों का मधुर मकरन्द आज भी भीनी-भीनी सुरभि लेकर शान्त पथिकों को तृप्ति दान करता आ रहा है' जैसी भावना का विरोधी नहीं है। वह नये सरोवर बनवाने के पक्ष

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में है, जहाँ और अधिक कल्हार उग सकें।

प्रगतिवाद के विश्वास, उसकी आर्थिक योजना की महत्ता की स्वीकृति को भट्टजी 'भारतीय जीवन के परम्परा-प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक में विश्वास' से अलग समझते हैं। यह वास्तव में कुत्सित समाजशास्त्रियों के अनर्गल प्रलापों का परिणाम है कि वे बरगला गए हैं। हमारे भारतीय जीवन के परम्परा-प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक के विश्वास' में चिन्तन के आस्तिक और नास्तिक दोनों ही रूप हैं। अतः अभिव्यक्ति के जिस विश्वास और भक्ति पक्ष को भट्टजी लेकर चले हैं केवल वह ही भारतीय चिन्तन हो, सो तो नहीं कहा जा सकता। बौद्ध और जैन दृष्टिकोण से वेदान्त के यह क्षीण स्वराभास भी एक सम्प्रदायानुकरण ही समझे जायँगे। अतः अभिव्यक्ति के रूपों को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखने पर प्रकट होगा कि हमारा चिन्तन एक दीर्घ पथ है, उस पर अनेक विचार हैं। उन्हें लघुता या एकान्तीकरण की परिसीमा में बाँधा नहीं जा सकता। हमें बौद्धिक स्वतन्त्रता की जो विरासत भारतीय चिन्तन ने दी है, वह पाश्चात्य संस्कृति कहाँ देती है। मनुष्य के कल्याण का प्रत्येक स्वर हमारी परम्परा की विरासत है और वही अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। इस दृष्टिकोण से देखने पर हमारे सामने भट्ट जी के भय सन्देह-मात्र बन कर आते हैं, जैसे वे स्वयं जिज्ञासु हैं। यही 'युग दीप' की भूमिका में भी प्रकट होता है। उन्होंने युद्ध-काल की कविताओं का आधार 'पर्सनल' रखा है, जब कि वह संघर्ष सामूहिक था। अभिव्यक्ति का व्यक्तिगत होना काव्य की एक शैली है, किन्तु चिन्तन के आधार का व्यक्तिमूलक होना, वही भय है जिसकी ओर हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। आर्थिक जीवन ही सब-कुछ है, भट्ट जी को कुत्सित समाजशास्त्रियों ने बार-बार उलझाया है, और स्वतन्त्र-चेता कवि जीवन के एक ही पक्ष से सब-कुछ कभी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह संस्कृति का पहरुआ होता है। अतः भट्ट जी ने भी उसे स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उसके बाद जो उनकी स्वीकृति है, वह व्यक्तिमूलक है, आस्तिकवादीन परम्परा के सम्प्रदायों के निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत है। केवल वही सब-कुछ है, कहकर उसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व निश्चय ही बदल रहा है। क्योंकि उसके व्यक्ति के निर्माता सामाजिक आधार बदलते जा रहे हैं। सारा झंझट है कि भट्टजी राजनीतिक पर्चों को छन्दबद्ध करने में इति नहीं समझते, और यह करना भी नहीं चाहिए। परन्तु फिर जो उन्होंने कहा है, वह असंगतिजन्य नहीं, परम्परा के मोहजन्य परिणामों में से एक है, किन्तु सबसे बड़ा हर्ष है उनका स्वर व्यावहारिक रूप से सचेत है और नवयुग के प्रति ही अधिक है। उनका सन्देह दोनों काव्यों में उतना बड़ा नहीं, जितना बड़ा उनका नया रूप है, क्योंकि पाठक पर नये विचारों का ही प्रभाव अधिक पड़ता है। तभी वे कहते हैं :

मैं श्वास छोड़ता चलता नव आशा स्वप्न सँजोकर
विश्वास जोड़ता चलता जीवन में हास भिगोकर।[1]

अपने इसी विश्वास में वे अनुभव करते हैं कि आज उनके साथ नया जीवन चल रहा है, अर्थात् वे स्वयं नवजीवन के एक अंश हैं। कवि का यह मैं प्रकृति, सृष्टि, समय सबमें चलता है, परन्तु वे स्वयं मनुष्य के विषय में लिखकर कविता का अन्त करते हैं :

मैं चलता मेरे साथ जाति, संस्कृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ संचिता स्मृति चलती है।[2]

---

१. यथार्थ और कल्पना, पृष्ठ १। २. वही, पृष्ठ ३।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संस्कृति एक व्यक्ति की नहीं, परम्परा से प्राप्त है, यह 'संचिता' से प्रकट होता है।

'साहित्य-स्रष्टा मैं' एक तीखा व्यंग्य है, जिससे कवि आज की एँग्लो इंडियन अधकचरी संस्कृति पर चोट करता है। यहाँ कवि अपने को मानववादी स्वीकार करता है। और इसीसे वह आगे कहता है :

समय के सभी साथ जीवन बदलते,
समय को बदलता हुआ तू चला चल।[1]

'मैं' की यात्रा और 'आत्म-सम्मान' की भूख क्यों कवि को सता उठी है? क्योंकि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विषमता ने मनुष्य के निजत्व को रुपयों के बल पर आँकना सीख लिया है। उसी अहं का गौरव पुकारता है :

प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी,
कदम ये रुके हैं, न रुक पायँगे ही।[2]
न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति का रूप धरना।[3]

कवि का मन अपने विश्वासों से यहाँ नहीं चलता। उसके विचार और अनुभूति उसे सत्य की भूमि पर ला पटकते हैं, और वह कहता है :

सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे,
चलूँगा सभी विश्व को साथ घेरे।[4]

इसी व्याप्ति का नाम सामाजिकता का आधार है। उसका वही स्वप्न है जो भट्टजी ने स्वयं खींचा है :

जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर,
जहाँ संघ में प्राण अनुरक्ति होगी,
वहाँ प्रेम होगा, वहीं शक्ति होगी,
वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में—
किसी दिन कभी तो पहुँच जायेंगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी,
कदम ये रुके हैं, न रुक पायेंगे ही।[5]

किन्तु स्वतन्त्रता पर लिखी कविता सप्राण नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता स्वयं सप्राण नहीं थी। कवि ने और आगे बढ़ने का यत्न किया है। क्लर्क का चित्रण बहुत स्वाभाविक हुआ है :

निर्बल कन्धों पर ढो-ढोकर
नित काग़ज़ के नये ताज़िये—
जिस पर यह सरकार खड़ी है।
न्याय पताका लहरित, शोषित,...

अफ़सरों के जघन्य और विकृत जीवन पर कवि ने लिखा है :

साधारण मानव से जिसको—

---

१. 'यथार्थ और कल्पना', पृष्ठ २४। २. वही, पृष्ठ ३५। ३. वही, पृष्ठ ३७। ४. वही, पृष्ठ ३७। ५. वही, पृष्ठ ३८।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हँसना, करना बात मना है,
पैदल चलना जिसे मना है,
केवल उसका निज समाज है—
अमलतास-सा लम्बा सुन्दर।

'सुन्दर' न लिखकर और कुछ लिखते तो कहीं ठीक रहता।

'युग दीप' की कविताओं में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अधिक सफल हुई है। कवि क्या कहता है, वही नहीं, कितने सुन्दर ढंग से कहता है, यह ही उसका गुण है :

संध्या-प्रभात, दिन-रात पिये, अगणित बसन्त, बरसात पिये
अगणित गरमी हिम-पात पिये
तूफ़ान मिले न हुआ धुंधला,—धीरे-धीरे युग दीप जला।[1]

मानव की अर्थ, स्वार्थ तथा शुद्धपरायणता का रक्त पीकर वह उजला हुआ है। मानव की चर्बी से भरकर, लाशों की बत्ती बनाकर, अनन्त संघर्ष निगलकर, भू का आलोकित सीप ही वह दीप है, जो युग-दीप बनकर जल रहा है। युद्ध ने जो सबको घेरा है तो कवि कहता है :

मनुष्य-मात्र एक है, मनुष्य ही विवेक है,
मार्ग यदि अनेक हैं— लक्ष्य एक उज्ज्वल।[2]

इस उज्ज्वल लक्ष्य के करण ही कवि ने कहा है :

आशा ही आशा में मेरा सारा जीवन बन गीत गया।[3]

आशा से जीवन का गीत बन जाना निश्चय ही कल्याण का द्योतक है। दीपक अनन्त अन्धकार को सिर पर धरकर अकेला जीवित है। उदय ही मरण का पन्थ बनता जा रहा है। दीप और अन्धकार की बात में दीपक ही विजयी होता है। युद्ध की भयानकता देखकर अवश्य कवि घबरा जाता है। तब वह विभ्रम से सन्देश के अनेक स्वर उठाता है, पर उसका अपनत्व चिल्लाता है :

मैं कब हारा, मैं कब हारा,
सागर में गोते खा मैंने पाया सही किनारा।[4]

तभी उसका विद्रोही कहता है :

गीत गाता हूँ इधर, भीतर उधर है आग।[5]

इस समाज में व्यक्ति को सुख नहीं मिलता क्योंकि विषमताएँ उसे हर ओर घेरे रहती हैं :

आज सैंतालीस वर्षों के समीक्षण मूक···
···मैं नहीं वह मैं, न मेरी उलझती चितवन ?[6]

और यह निराशा और भी बढ़ती है :

ऊब चुका हूँ मैं जीवन से
मरण माँगने को अति आतुर
मेरे रोम रोम के चिन्तन
लगा न मुझको सके किनारे।[7]

---

१. 'युग दीप', पृष्ठ १। २. वही, पृष्ठ २। ३. वही, पृष्ठ ३। ४. वही, पृष्ठ १२। ५. वही, पृष्ठ १४। ६. वही, पृष्ठ १८। ७. वही, पृष्ठ २०।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कई कविताओं में लगता है कि यह व्यक्ति टूट जायगा, परन्तु वास्तव में यह व्यक्ति संस्कारों की अनुभूतियों में अकेला लगता है। वह अपना एक सामाजिक स्वरूप भी लिये हुए है। दोनों काव्य-संग्रह विश्वास का स्वर अधिक देते हैं। यदि कुत्सित समाजशास्त्री के दृष्टिकोण से देखा जायगा तो हमें इन काव्यों की निराशा को ही पकड़कर 'क्रान्ति-क्रान्ति' चिल्लाना पड़ेगा, किन्तु वह शक्ति के अपव्यय की बात है, शक्ति को संचित करना नहीं।

'दीप' और 'कल्पना' के छायावादी रूपों पर वास्तव में 'युग' और 'यथार्थ' की विजय अधिक स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि

आज विवशताएँ प्राणों की एक नया तूफ़ान लिये हैं।

विवशताएँ जब पराजित नहीं हैं, बवंडर बनी हैं, तो वह विस्फोट चाहती हैं। विस्फोट के दो रूप हैं, व्यक्तिमूलक अराजकता, या सामाजिक। भट्ट जी में दूसरा पक्ष मान्य है। इस विवेचन से सैद्धान्तिक मानदण्डों को स्पष्ट होना चाहिए कि नये काव्य का विकास किधर हो रहा है और उसके आधार कितने गहरे हो चुके हैं। खेद है कुत्सित समाजशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करेंगे।[1]

गंगाप्रसाद मिश्र

यशपाल की समस्यामूलक कहानियाँ

यशपाल की नई समस्यामूलक कहानियाँ 'चित्र का शीर्षक' नामक कृति में संकलित हैं। इस कहानी-संग्रह की भूमिका में यशपाल जी ने गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक उद्धरण के आधार पर प्रकट किये हुए मन्तव्य की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट किया है कि कहानी लिखने का उद्देश्य क्या है। गुरुदेव के उद्धरण के आधार पर निम्न लिखित मन्तव्य प्रकट किया गया है : "कहानी का उद्देश्य केवल कहानी है; कहानी-लेखक कहानी लिखना या सुनना चाहता है इसलिए कहानी लिखता है। कहानी लिखने या सुनने या पढ़ने से जो सन्तोष होता है, वही कहानी का आद्योपान्त उद्देश्य और लक्ष्य है, अन्य कुछ नहीं।" यशपाल जी ने उपर्युक्त कथन की आलोचना करते हुए लिखा है कि इसका उद्देश्य प्रगतिवादी लेखकों को शिक्षा देना है, जो कहानी को सामाजिक उद्बोधन और समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक समस्याओं के हल का साधन बनाना चाहते हैं। गुरुदेव के समान मानवता से आत्मीयता स्थापित कर सकने वाले कलाकार की गवाही से कहानी का प्रयोजन 'कला के लिए कला' या कहानी से रस लेना ही बता देने के पश्चात् नौसिखिये प्रगतिवादी लेखक की बात का शायद कुछ मूल्य रह ही नहीं जाता। यशपाल जी ने लिखा है—"लेकिन गुरुदेव के वचन सब लोगों के मुख में जाकर एक-सा अर्थ नहीं रखते, क्योंकि वचनों का महत्त्व कहने वाले के व्यक्तित्व पर बहुत-कुछ निर्भर होता है।" यशपाल जी ने लिखा है कि "कहानी से रस मिलने का कारण पाठक का कहानी के

१. 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युगदीप'; लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पात्र के जीवन और व्यवहार के प्रति कौतूहल और उत्सुकता है। कहानीकार की कहानी सुनाने की इच्छा का स्रोत पाठकों या श्रोताओं से सामाजिक सम्बन्ध के आवश्यकतानुकूल काल्पनिक चित्रों द्वारा अनुभूति और विचारों के आदान-प्रदान का अवसर पाना ही है। इस सामाजिक चित्र से कथाकार और श्रोता दोनों की ही अनुभूतिगम्य आत्मीयता होना आवश्यक है। इस प्रकार कहानी मूलतः एक सामाजिक वस्तु हो जाती है और उसे केवल व्यक्तिगत सन्तोष का साधन कहकर छोड़ देना कहानी के मूल तत्त्व से इन्कार कर देना होगा। कहानी से पड़ने वाला प्रभाव ही उसका प्रयोजन और उद्देश्य है।

गुरुदेव और यशपाल के ये वक्तव्य साधारणतया एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं और किसी सीमा तक हैं भी, परन्तु यदि इन दोनों वक्तव्यों की परीक्षा की जाय और हम उदाहरण लेकर देखें तो बात स्पष्ट हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' को स्वान्तः सुखाय रचित बतलाया है, परन्तु लोक-कल्याण और बहुजन-हित की दृष्टि से भी उससे अधिक सफल रचना ढूँढ़ने पर भी मिलना कठिन है। यदि कहानी-लेखन में लेखक का उद्देश्य केवल कहानी कहना रहता है तो उपन्यास भी तो दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन का माध्यम नहीं है, तब गुरुदेव ने अपने उपन्यास 'गोरा' में अपने सिद्धान्त का पालन क्यों नहीं किया। सत्य यह है कि महात्माओं को दूसरों को सुखी और सन्मार्ग पर चलते हुए देखकर सुख होता है, यही कारण है कि इनकी स्वान्तः सुखाय सृष्ट कृतियाँ भी लोक-हित का साधन बन सकती हैं। परन्तु स्वान्तःसुख का यह लाइसेन्स यदि सबको दे दिया गया तो अहित की अधिक सम्भावना है। इसलिए उद्देश्ययुक्त साहित्य का सृजन इस दृष्टि से भी श्रेयस्कर समझा जा सकता है कि लेखक का व्यक्तित्व या मानसिक स्तर यदि बहुत ऊँचा नहीं है तब भी वह जो-कुछ लिखेगा उससे जनता के अहित की सम्भावना बहुत कम रहेगी। प्रश्न यह अवश्य उठता है कि क्या समाज की वेदी पर व्यक्ति का बिलकुल बलिदान कर दिया? क्योंकि सामाजिकता जितनी अधिक ग्रहण की जायगी, व्यक्तित्व का उतना ही अधिक त्याग होगा। फिर भी सफल कलाकार वही कहलायगा जो इन दोनों का सामंजस्य कर सकेगा, क्योंकि ये विरोधी तत्त्व नहीं हैं। व्यक्ति के हित का सामाजिक हित से संघर्ष तभी होगा जब वह स्वार्थ के घेरे के बाहर न निकल सकेगा।

यशपाल जी के इस संग्रह की कहानियाँ समाज की किसी-न-किसी समस्या को लेकर लिखी गई हैं। समाज को उसके दोषों से परिचित कराना और उनका परिष्कार करना लेखक का उद्देश्य है। कहीं-कहीं लेखक ने समाज के उन पहलुओं को हमारे सामने निरावृत किया है जिनके अस्तित्व का यद्यपि हमें ज्ञान है, हम जानते हैं कि वे हमारे समाज को दूषित कर रहे हैं, फिर भी हम उस कटु सत्य को सुनने या देखने का साहस नहीं करते। इन कहानियों में यशपाल जी ने ऐसे बहुत से तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिनके प्रति हम उदासीन हैं। इस प्रकार के दृश्यों का चित्रण करते समय एक यही भय रहता है कि लेखक के वर्णन उनमें इतना रस न लेने लगें कि पाठक के सम्मुख वह चित्रण मुख्य होकर आय और उसका उद्देश्य गौण रूप में। 'पाँव तले की डाल' इसी प्रकार की कहानी है और यह इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानियों में से एक है। जीवन की एकरसता को दूर करने के लिए आजकल बहुत लोगों के मन में कुछ तफ़रीह करने की बात सूझती है। वकील ब्रजनन्दन दूसरे शहर में एक मुकदमे के सिल-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिले में जाता है तो अपने एक मित्र नित्तन को तफ़रीह के लिए कोई सम्मानित और सुशिक्षित लड़की लाने को कह देता है। उसका दूसरा मित्र डॉक्टर इस कार्य-क्रम का विरोध करता है, वह कहता है कि जब मेरे घर की लड़की किसी के मनोरंजन का साधन बनकर जाय तो मुझे अच्छा नहीं लगता है, तब मुझे दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए और उसकी मजबूरी से लाभ न उठाना चाहिए। थोड़ी देर में नित्तन दो लड़कियों को लेकर आ जाता है पर उनमें से एक है ब्रजनन्दन की बहन, जो उसी नगर में लड़कियों के एक स्कूल में अध्यापिका है और होस्टल में रहती है। उसे देखकर ब्रजनन्दन आपे से बाहर हो जाता है और अपनी पिस्तौल उठाने को झपटता है पर डॉक्टर पिस्तौल उठा लेता है, वह किसी तरह परिस्थिति सँभाल लेता है और ब्रजनन्दन की बहन को जाकर होस्टल भेज आता है। लौटकर वह ब्रजनन्दन को समझाता है—सभी औरतें किसी-न-किसी की बहन, बेटी या स्त्री होती हैं। बहन को भी तुम्हारी तफ़रीह पर एतराज़ हो सकता है? भाई होने का मतलब बेशर्मी का अधिकार नहीं है। तुम जनतन्त्र और समानता की बात करते हो? जनतन्त्र और समता के समाज में वही नैतिकता और तफ़रीह चल सकती है जो सबके लिए सम्भव हो···। पाँव तले की डाल काटने का मज़ाक करो तो गिरने पर रोओ मत। इस कहानी को अश्लील कहने वाले बहुत लोग मिल जायँगे, इसे पढ़कर निश्चय ही एक झटका-सा लगता भी है, पर इस कटु सत्य के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारी तफरीह की इस कमजोरी पर लेखक ने बड़ा कर्कश आघात किया है। इससे कुछ मिलती-जुलती एक कहानी पहले यशपाल जी ने ८०/१०० लिखी थी। यही तो लेखक का कार्य है कि वह जानते हुए या अनजाने की जाने वाली हमारी भूलों का हमें ज्ञान करवाय। यशपाल की यह कहानी इस दृष्टि से अत्यन्त सफल है।

'चित्र का शीर्षक' यशपाल जी की अत्यन्त सफल तथा कलात्मक कहानी है। चित्रकार जयराज, जो कि सौन्दर्य को आँकने का कार्य करता है, सौन्दर्य को कितना पहचानता है; यही कहानी की समस्या है। नारी का गर्भ से बोझिल रूप किन आँखों को अच्छा लगता है? परन्तु वह संसार के सृजन का एक-मात्र आधार है। उसमें शाश्वत सौन्दर्य की झलक देख सकने के लिए आँख चाहिए। कहानी के अन्त में मुख्य पात्री 'नीता' जयराज को वह दृष्टि प्रदान करती है। खाली आँख को जो अच्छा लगे वही तो सुन्दर नहीं है, सुन्दर वह है जो शिव भी हो। सौंदर्य कहाँ छिपा है इसको पहचानने वाली दृष्टि चाहिए।

'साहू और चोर' इस संग्रह की तीसरी महत्त्वपूर्ण कहानी है, जिसमें लेखक ने यह चित्रित किया है कि समाज ने अच्छे और बुरे के जो लेबल लगा रखे हैं वह कितने सार-हीन हैं। जो जेब काटता है वह बुरा है, चोर है; परन्तु जो अपनी पूँजी की मार से जनता का पेट काटता है वह साहू है। एक देश अपनी सेना या पूँजी से दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति सब-कुछ अपहरण कर लेता है, क्या उसका कार्य एक बड़े परिमाण में डाकेजनी नहीं है। कहानी में लेखक ने केवल हमारे इन लेबलों की असारता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। समाज की वह व्यवस्था—जिसके कारण व्यक्ति अपने भविष्य के विषय में इतना चिन्तित है कि वह आज अधिक-से-अधिक अर्जन कर लेना चाहता है, कल पता नहीं उसे इसकी सुविधा प्राप्त हो या न हो—भी आलोचना की पात्री है। यदि उस सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो जाय जिसमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबको समान अवसर तथा सुविधाएँ प्राप्त हो सकें, कम-से-कम उनकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तो गलत साधनों का प्रयोग बहुत-कुछ कम हो जायगा।

'इसी सुराज के लिये ?' यशपाल जी की इस संग्रह की राजनीतिक कहानियों में से एक है। उन्हें शिकायत है—स्वराज्य हो गया, सुराज नहीं आया। शासन अँग्रेजों के हाथ से भारत-वासियों के हाथ में आ गया, पर गरीबों की दशा जैसी-की-तैसी है। लेखक की बात इस दृष्टि से तो ठीक है कि—'जंग की तंगी के जमाने में भी रुपये का चार सेर आटा खाते रहे अब सवा दो सेर का खाते हैं', पर देखना यह चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की दशा क्या है ? उसकी बाग-डोर किसके हाथ में है ? हमारे देश की शासन-व्यवस्था इस मँहगाई के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी है ? प्रश्न फिर सामाजिक व्यवस्था का भी हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। उसका परिवर्तन क्या एक दिन की बात है ? तब फिर कांग्रेसी सरकार पर दोषारोपण करके हट जाने से क्या हमारा उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है ? जिस सामाजिक व्यवस्था के कारण सबको समान सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं उसको परिवर्तित करने का लेखक क्या साधन सुझाता है ? यदि यह वह नहीं करता तो बात अधूरी रह जाती है।

इस संग्रह में कई कहानियाँ ऐसी हैं जो कहानी की परिभाषा की दृष्टि से कहानी न कही जायँगी। कथा-वस्तु कुछ में नहीं के बराबर है, कुछ में है, तो अत्यन्त क्षीण। उन्हें मनोरंजक निबन्ध कहा जा सकता है। 'प्रधान मन्त्री से भेंट', 'अनुभव की पुस्तक', 'फूल की चोरी', 'स्थायी नशा' ऐसी ही रचनाएँ हैं। यह ठीक है कि अत्यन्त साधारण घटना को लेकर उसे अपने विचारों को प्रकट करने का सफल माध्यम बनाने की शक्ति यशपाल में है। 'शहनशाह का न्याय' बड़ी साधारण कहानी है। 'एक सिगरेट' में यशपाल ने वही समस्या ली है जो 'मंगला' नामक उनकी कहानी में भी थी। यों एक समस्या पर अनेक कहानियाँ लिखना गुनाह नहीं है, परन्तु इस कहानी-संग्रह को पढ़ते समय कई बार मुझे यशपाल जी की कुछ पिछली कहानियों की याद आई। इसे निश्चय ही मैं कुछ बहुत अच्छी बात नहीं मानता। 'हाय राम ! ये बच्चे !!!' कहानी भी मुझे अच्छी लगी। अपने कार्यों तथा व्यवहार के द्वारा हम किस प्रकार अपने बच्चों के जीवन में विष घोलते रहते हैं, यही इस कहानी की समस्या है। 'आदमी या पैसा' और 'मार का मोल' एक ही चित्र के दो पहलू कहे जा सकते हैं, जिन्हें लेखक ने सफलता पूर्वक चित्रित किया है।

सब प्रकार से विचार करने पर कहानी-संग्रह मुझे मनोरंजक तथा संग्रहणीय प्रतीत हुआ। वर्तमान समस्याओं पर इधर यशपाल जी ने बड़ी सफल कहानियाँ हिन्दी को दी हैं, परन्तु कभी-कभी मुझे ऐसा लगा कि यदि उन्हें इतना न लिखना पड़े तो वे कदाचित् अधिक स्थायी तथा शाश्वत रचनाओं की सृष्टि कर सकें।[1]

---

१. 'चित्र का शीर्षक'; लेखक—यशपाल, प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डा० उदयनारायण तिवारी

हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-भावना का विकास

प्रेम का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है और यह विभिन्न परिस्थितियों में, विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। इसके लिए देश-काल की सीमा कभी भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकी है। यह अवश्य है कि सरिता-प्रवाह की भाँति इसकी अबाध गति में कहीं-कहीं मोड़ और झुकाव तथा उग्र एवं मन्थर गति का हमें दर्शन मिलता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अपने मूल स्रोत से अग्रसर होकर निरन्तर विकास और विस्तार पाता गया है। व्यक्तिगत प्रेम क्रमशः विश्व-प्रेम में परिणत होता जा रहा है। आज के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में लक्षित होने वाला तुमुल नाद और संघर्ष भी उसी भावना की एक कड़ी है। परन्तु प्रेम का जो रूप हमें कला और साहित्य में उपलब्ध होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके प्रमाण हमें हिन्दी-साहित्य की उस लम्बी परम्परा में भी सुलभ हैं जो कई शताब्दियों से हमारी राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती आई है।

हर्ष की बात है कि 'हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' का अध्ययन उपस्थित करने का श्रेय श्री परशुराम चतुर्वेदी-जैसे अध्ययनशील श्रेष्ठ आलोचक को मिला। इस विषय से सम्बन्धित चतुर्वेदी जी की एक अन्य पुस्तक 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' भी है जिसका विवेच्य विषय स्वभावतया प्रेम-लक्षणा भक्ति है।

'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' में·····प्रस्तावना के बाद 'प्रेम-परिचय' से पुस्तक का आरम्भ होता है। इसमें चतुर्वेदी जी ने प्रेम-भावना का तात्त्विक विवेचन उपस्थित किया है। अनेक मतों एवं विचारों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने जहाँ पुराने विचारों की समीक्षा उपस्थित की है वहाँ आधुनिक विचारों की विवेचना भी की है। चतुर्वेदी जी के व्यापक दृष्टिकोण और गहरे अध्ययन ने किसी भी पक्ष को अछूता नहीं रहने दिया है। अन्त में आपने दाम्पत्य-प्रेम को ही चरम विकास ठहराया है। यही नहीं कि आपने प्रेम के विविध रूपों का दर्शन-मात्र करा दिया हो। वस्तुतः जब कभी अवसर आया है वहाँ आप अपना निष्कर्ष भी देते गए हैं। उन परिस्थितिजन्य कारणों का भी उल्लेख करना आप नहीं भूले हैं जिनके अनुसार हमें इस प्रवाह में चढ़ाव-उतार लक्षित होता है। वीरगाथाओं की प्रणय-लीला लोक-जीवन से दूर जा पड़ती है और प्रेम सिमटकर आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। भक्ति-काव्य की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। प्रेम का स्तर यहाँ व्यक्तिगत न होकर विश्वात्मा के प्रति होता है जिसकी अभिव्यक्ति कई रूपों में सामने आती है। चतुर्वेदी जी को दास्य भावना प्रिय नहीं लगी है। रीति-काव्य की समीक्षा करते हुए चतुर्वेदी जी उस युग के स्वच्छन्द कवियों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। आप हिन्दी-काव्य में परकीया भाव का प्रेरणा-स्रोत इस्लामी प्रभाव को बतलाते हैं। दक्खिनी हिन्दी कविता की चर्चा करते हुए चतुर्वेदी जी ने एक मार्के की बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है; वह यह कि उस समय वहाँ भी माशूक को पुल्लिंग लिखने की प्रथा न थी।

आधुनिक युग के साथ ही हिन्दी-काव्य में एक विशेष उल्लेख्य मोड़ आता है और अब प्रेम-भावना का क्षेत्र व्यक्ति से हटकर देश-प्रेम की ओर अग्रसर होता है। इस प्रसंग में चतुर्वेदी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जी की आलोचनात्मक दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है और आपने बड़ी बारीकी से तत्कालीन प्रवृत्तियों की वैज्ञानिक विवेचना उपस्थित की है। अन्त में मानवता-प्रेम से ओत-प्रोत वर्तमान कविताओं का स्वागत करते हुए आपने प्रेम की व्यापक परिणति पर उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की है। भाव-पक्ष के साथ-साथ चतुर्वेदी जी ने कला-पक्ष को भी अपने ध्यान में रखा है और उसका मूल्यांकन उपस्थित किया है।

परशुराम जी की दूसरी पुस्तक 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' वास्तव में एक निबन्ध-संग्रह है जिसका नामकरण पुस्तक के अन्तिम निबन्ध पर हुआ है। इसमें संग्रहीत अन्य निबन्धों का भी सम्बन्ध मूल विषय से है, अतएव विषय की एकरूपता एवं एकरसता आद्योपान्त बनी रहती है। इस पुस्तक के माध्यम से चतुर्वेदी जी ने हिन्दी-पाठकों को नई सामग्री प्रदान करके उनके ज्ञान-वर्द्धन में जो योग दिया है उसके लिए हिन्दी-संसार उनका उपकृत रहेगा। उदाहरणार्थ 'तमिल प्रान्त के आलवार भक्त कवि', 'वैष्णवों का सहजिया सम्प्रदाय' और 'बाउलों की प्रेम-साधना' शीर्षक निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें अब तक की उपलब्ध सामग्रियों का पूरापूर उपयोग किया गया है। प्रेम-साधना के अन्य कवियों में से 'मीराँबाई की प्रेम-साधना', 'मीराँबाई की भक्ति का रूप', 'जायसी और प्रेम-तत्त्व', 'हित हरिवंश के हितचौरासी पद', 'नन्ददास की रूप मंजरी', 'प्रेमी भक्त रसखान' पर अलग-अलग विस्तार पूर्वक लिखा गया है जिससे ज्ञातव्य बातों का सम्यक् परिचय हमें मिल जाता है। निबन्ध-संग्रह होने के नाते हमें इससे प्रेम-साधना का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं प्राप्त होता किन्तु अन्तिम निबन्ध 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' से हमें तत्कालीन विविध प्रवृत्तियों की एक झाँकी अवश्य मिल जाती है। इस कठिन कार्य के लिए जिस योग्यता और क्षमता की अपेक्षा है वह लेखक में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर तृप्ति से अधिक जिज्ञासा और प्रेरणा की भावना ही अधिक जाग्रत होती है।[1]

डा० दशरथ शर्मा

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

अब तक हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कई केवल 'कवि-वृत्त-संग्रह' हैं, कई केवल पिष्ट-पेषण। केवल आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपनी विशेषता रखता है। उसकी आलोचनाएँ मार्मिक हैं। कवि के हृदय तक पहुँचने का उन्होंने अनेकशः सफल प्रयत्न किया है। किन्तु शुक्ल जी जितने अच्छे समालोचक थे, शायद उतने अच्छे हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार नहीं। कम-से-कम हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से सम्बन्ध रखने वाली उनकी अनेक स्थापनाएँ तो अब निर्मूलक सिद्ध होने लगी हैं। इसके लिए दो कारण हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए कुछ सामग्री का उस समय अभाव था जब शुक्ल जी ने अपना कार्य आरम्भ किया। कुछ सामग्री को उन्होंने स्वयं छोड़ दिया। जैन-धर्म-सम्बन्धी वाङ्मय को वे साहित्य का अंग ही नहीं मानते थे। द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ, 'हिन्दी-

१. हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह; लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग। मध्यकालीन प्रेम-साधना; लेखक—वही, प्रकाशक—साहित्यभवन लिमिटेड प्रयाग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य का आदिकाल' में अब तक प्राप्त प्रायः सब सामग्री का उपयोग किया है। उनकी दृष्टि व्यापक है। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, और प्राचीन गुजराती में प्रकाशित और अप्रकाशित सब ग्रन्थ एक बार आपकी दृष्टि से गुजर चुके हैं; धार्मिक और लौकिक के व्यर्थ के भेद को दूर करके द्विवेदी जी ने समस्त उपलब्ध प्राचीन साहित्य-सामग्री का आलोचन किया है। इस पुस्तक में बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा संयोजित और पुरस्कृत भाषण-माला का आलकन प्रस्तुत किया गया है।

द्विवेदी जी ने पहले व्याख्यान में उन अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो हिन्दी-साहित्य के प्राचीन काव्य-रूपों के अनुमान में सहायक हैं। हम द्विवेदी जी की उन सब युक्तियों से सहमत हैं जिनके आधार पर चौदहवीं शताब्दी तक के हिन्दी के आदि-काल के लिए उन्होंने अपभ्रंश-काल नाम ठीक समझा है। जिस समय साहित्य के प्रत्येक अंग पर अपभ्रंश में प्रचुर मात्रा में रचना हुई हो उसके लिए राहुल जी का दिया हुआ 'सिद्ध सामन्त-काल' नाम ठीक नहीं जँचता। शुक्ल जी द्वारा प्रदत्त 'वीरगाथा काल' नाम तो स्पष्टतः अनुपयुक्त ही है। शुक्ल जी ने जिन वीरगाथाओं का विवेचन किया है, उनमें से 'खुम्माण रासो' १८वीं शती की और 'बीसलदेव रासो' सम्भवतः १७वीं शती की कृति हैं। 'जयचन्द प्रकाश' और 'जयमयंकजस चन्द्रिका' नोटिस-मात्र हैं। 'प्राकृतपैङ्गलम्' में कुछ हम्मीर-विषयक श्लोक हैं। राहुल जी ने इन्हें जज्जल कवि-लिखित माना है। द्विवेदी जी शायद हम्मीर को ग़ज़नी का 'अमीर' मानने के पक्ष में हैं। किन्तु वास्तव में यह हम्मीर रण थम्भोर का हठी हमीर है। जजल हम्मीर का सेनापति और उत्तराधिकारी था।[1] यह सम्भव है कि तात्कालिक कवियों ने हम्मीर-विषयक कोई काव्य लिखा हो। किन्तु ऐसी रचना हमें अब तक नहीं मिली है; और जिस तथा-कथित वीरगाथा का शुक्ल जी ने उपयोग किया है वह तो केवल नोटिस-मात्र है।

साथ ही यह ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि इस आदिकाल में वीरगाथाएँ ही नहीं लिखी गईं। सिद्धों की रचनाएँ भी इस समय की हैं। 'सन्देश रासक' शृङ्गार-रस-प्रधान रचना है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त, धनपाल-जैसे कवियों ने अपने धर्मानुप्राणित काव्यों द्वारा इसी समय हमारे साहित्य की श्री वृद्धि की है। अनेक पुराने धार्मिक रासों की भी इसी समय रचना हुई। अतः द्विवेदी जी का यह कहना सर्वथा उचित है कि इस आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' कहना ठीक है।

व्याख्यान के अन्तिम भाग में द्विवेदी जी ने भाषा की एक नवीन प्रवृत्ति का भी निर्देश किया है। चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य में तद्भव शब्दों का प्राधान्य था। इस बीच में धीरे-धीरे तत्सम शब्द प्रयुक्त होने लगे, 'युक्ति-व्यक्ति प्रकरण', 'वर्ण रत्नाकर' 'कीर्ति-लता', 'कुवलय माला' आदि ग्रन्थों से और दमोह के शिला-लेख के उद्धरण से द्विवेदी जी ने यह बात अच्छी तरह सिद्ध की है।

दूसरे व्याख्यान में सबसे पहले द्विवेदी जी ने उन कारणों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिनकी वजह से चौदहवीं शताब्दी में अवधी और ब्रजभाषा के क्षेत्रों में कोई पुस्तक मूल रूप में प्राप्त नहीं होती। पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं, (१) राज्याश्रय पाकर (२) धर्म-सम्प्र-

१. जज्जल की जीवनी के लिए 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली' १९४९ में लेखक का लेख देखें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दाय का आश्रय पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। तीसरे प्रकार की पुस्तकें अधिकतर मूल रूप में नहीं रहतीं। राज्याश्रय पाकर बहुत-सी पुस्तकें बच जातीं; किन्तु द्विवेदी जी के विचार से यह राज्याश्रय मध्यदेश के देशी साहित्य को प्राप्त न था। गाहड़वाल बाहर से आए थे। वे देशी जनता से बहुत समय तक एक न हो पाए। लोगों में प्रतिष्ठा-प्राप्ति की इच्छा से भी उन्होंने केवल संस्कृत को प्रश्रय दिया। इस राज-वंश के अन्तिम दिनों में देशी भाषा को कुछ आश्रय मिला। विद्याधर-जैसे मन्त्रि-कवियों ने उनके दरबार को सुशोभित किया; किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हीं दिनों भारत पर मुसलमानी आक्रमण हुआ और भारत अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा।

उधर अजमेर के चौहान उसी देश के रहने वाले थे। इसलिए वे देशी भाषा की उपेक्षा न करते थे। जैन प्रबन्धों से वीसलदेव के समय की देशी भाषा की रचनाओं का कुछ परिचय भी मिल जाता है। ऐसे ही राजा की राजधानी अजमेर में चन्दबरदाई-जैसे कवि का होना उचित ही है। इसी प्रकार चन्देल राजा परमर्दिन के दरबार में भाषा-काव्य का मान था। मालवा के परमार वैदिक धर्मानुयायी थे, किन्तु उन्होंने देशी भाषा का मान किया। गुजरात में राजाओं के आश्रय के कारण अपभ्रंश और देश्य-भाषा खूब फली-फूली। मान्यखेट में भी अपभ्रंश का मान हुआ। इन पालवंशी राजाओं की कृपा से बौद्ध सिद्धों ने देशी भाषा में अपने गान लिखे। इसकी प्रतिक्रिया विदेशागत सेन राजाओं के समय में हुई।

मध्य देश में देश्य-भाषा के तिरस्कृत होने का कारण शैव-मत का प्राबल्य भी है। शैव-साधकों का देशभाषा के प्रति अनुराग न था, और न संसार को घृणा से देखने वाले ऐसे व्यक्तियों से लोक-मनोहर-साहित्य-सृष्टि की आशा ही की जा सकती है।

मध्य देश में चौदहवीं शताब्दी तक देश्य-साहित्य के अभाव के विषय में उपर्युक्त ऊहापोह शायद ठीक हो; किन्तु जिन भित्तियों पर ये आश्रित हैं, वे कुछ कमज़ोर हैं। हमारे पास अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकें कि गाहड़वाल आरम्भ से मध्यदेशीय न थे। कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। "गौड़वहो" की यहीं रचना हुई। राजशेखर ने अपना 'कर्पूर मंजरी सट्टक' यहाँ लिखा। उसकी निश्चित सम्मति थी कि मध्यदेशीय कवि सब भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। उसके समय में, अर्थात् गाहड़वालों के अभ्युदय से बहुत पूर्व भी अपभ्रंश का मुख्य क्षेत्र मारवाड़, टव्वा और भादाण देश था। गौड़ विदेशागत सेनों से पहले ही संस्कृत के प्रेमी थे।

कन्नौज वाले गाहड़वालों के समय में भी अनेक भाषाओं में रचना करते रहे। जयचन्द्र के मन्त्री विद्याधर की देश्य-कृतियाँ हमें प्राप्त हैं। गोविन्दचन्द्र का सभा-पण्डित दामोदर भट्ट देश्यभाषा का विद्वान् था। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देश्यभाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते हैं कि उसके एक-दो पूर्वजों ने ही देशी-भाषा से विरोध किया था; और उन्होंने विरोध किया भी हो तो तीस-चालीस वर्ष में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं होता। मध्य देश में इस साहित्य के अभाव के अन्य कारण हो सकते हैं। जब तक हमें कुछ अधिक सामग्री न प्राप्त हो तब तक द्विवेदी जी के शब्दों में यही कहना ठीक होगा कि "केवल संयोगवश इधर-उधर से लब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव, और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न बहुत उचित है, और न बहुत हितकर।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक-दो और बातों पर हमारा द्विवेदी जी से कुछ मतभेद है। केवल 'पृथ्वीराज-रासो' या सिष्ठायच दयालदास[1] के कथन के आधार पर किसी ग्रन्थ या लेखक का अस्तित्व स्वीकार करना हमें ठीक नहीं जँचता। दयालदास ने विक्रम की बीसवीं शताब्दी में अपनी पुस्तकें लिखीं। रासो की ऐतिहासिकता और अप्रामाणिकता के बारे में स्वयं द्विवेदी जी ने बहुत-कुछ लिखा है। बीसलदेव चौहान के समय जगद्गू साहु को रखना भी अशुद्ध है। वास्तव में यह बीसल गुजरात का बाघेल राजा बीसलदेव है।

शैव और विशेषतः तान्त्रिक सिद्धान्त के लुप्त होने का कारण सम्भवतः द्विवेदी जी ने ठीक दिया है। समाज में इनके प्रति अश्रद्धा थी। जिन ग्रन्थों को न राज्याश्रय प्राप्त हो और न जनता ही उनका सम्मान करे, वे प्रायः लुप्त हुआ ही करते हैं।

इस व्याख्यान के अन्त में उन प्रवृत्तियों का समीक्षण है जो आगे आने वाली भाषा के प्रधान लक्षण माने जाते हैं।

तृतीय व्याख्यान में द्विवेदी जी ने 'पृथ्वीराज रासो' की चर्चा की है। आपने 'रासो' के चार रूपों का उल्लेख किया है। अभी मेरे सम्मान्य मित्र श्री अगरचन्द्र नाहटा को एक और रूपान्तर मिला है, जो इन चारों से संक्षिप्त है। प्रसंगवश द्विवेदी जी ने कथा और आख्यायिका के भेद, प्राकृत में पद्यबद्ध कथा की सम्भावना और प्राचीन काल से चली आती संस्कृत तथा प्राकृत में श्रोता और वक्ता रखने की परम्परा का भी निर्देश किया है। 'रासो' में इस परम्परा का पालन हुआ है। द्विवेदी जी का तो यहाँ तक खयाल है कि शायद "इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम रासो के मूल रूप का कुछ अन्दाजा लगा सकें।" इन नये सुझाव के आधार पर आपने इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों को 'रासो' का मूल भाग समझा है। इन तीनों में शुक ने शुकी से प्रश्न किया है। शुक 'रासो' की कथा का वक्ता और शुकी सुनने वाली है। द्विवेदी जी का यह नया सुझाव मौलिक ही नहीं, विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। भाषा, छन्द, कथानक, कथा-संगति आदि के साथ-साथ इसका समुचित प्रयोग अवश्य लाभदायी होगा।

'पृथ्वीराज रासो' के विषय और स्वरूप का भी द्विवेदी जी ने उसे 'रसमय सालंकार युद्ध-कथा' कहकर बहुत अच्छा वर्णन किया है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आस-पास 'रासो' का अर्थ विकसित होता हुआ यहाँ तक पहुँच चुका था। 'नायक की प्रेम-लीला, कन्या-हरण और शत्रु-पराजय-ऐसे रासों के मुख्य विषय थे।

चतुर्थ व्याख्यान में द्विवेदी जी ने 'ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है'। आपकी राय है कि ऐतिहासिक काव्य उन उपादानों में से एक है जो भारतीय साहित्य में सातवीं शताब्दी के आस-पास आए हैं। शायद यह बात किसी अंश में ठीक हो; किन्तु इससे प्राचीन अनेक राज-प्रशस्तियों को देखते हुए यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन तो प्रतीत नहीं होती। ईसा के जन्म से पूर्व भी यह भारतीय वाङ्मय में वर्तमान थी। सातवीं-आठवीं शताब्दी के आस-पास यह कुछ विशेष विकसित हुई।

भारतीय साहित्य में अनेक ऐतिहासिक काव्य वर्तमान हैं, या यह कहना अधिक ठीक

---

१. सिष्ठायच दयालदास की प्रामाणिकता के विषय में 'शार्दूल प्राच्य पुस्तकमाला' में प्रकाशित 'दयालदास री ख्यात' की प्रस्तावना देखें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होगा कि भारत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर अनेक काव्य हैं। जैसा श्री द्विवेदी जी ने बताया है इनमें 'कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्यावली का कम।' इनमें 'फैक्ट्स और फिक्शन' का विचित्र सम्मिश्रण है। कल्पना-प्रधान काव्य के प्रेमी होने के कारण भारतीय कवि ने अनेक रूढ़ियों द्वारा इतिहास को भी निजंधरी कथा की ऊँचाई तक ले जाने का प्रयत्न किया है, ऐसी इक्कीस रूढ़ियों की तालिका द्विवेदी जी ने हमारे सम्मुख रखी है। इन्हीं रूढ़ियों का 'पृथ्वीराज-रासो' में भी पालन हुआ है। कहानी कहने वाला सुग्गा है। इस वार्तालाप के रूप में प्रथम विवाह इच्छिनी का है, दूसरा शशिव्रता का, और तीसरा संयोगिता का। शशिव्रता के विवाह में कवि ने अनेक कथानक-रूढ़ियों का आश्रय लिया है। संयोगिता के विवाह को द्विवेदी जी ने विशुद्ध कवि-कल्पना माना है। कुछ वर्ष हुए 'राजस्थान-भारती' के पृष्ठों में प्रस्तुत लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि संयोगिता के अस्तित्व का निराकरण स्वर्गीय गुरुवर श्री ओझा जी की युक्तियों से नहीं किया जा सकता। जिस मनोयोग से कवि ने इसका वर्णन किया है और जिस आनन्द से 'सुर्जनचरित' के रचयिता चन्द्रशेखर ने भी इस कथा को दिया है, उससे एकदम यह विश्वास नहीं होता कि संयोगिता नाम की राजकुमारी कभी थी ही नहीं।[1] किन्तु इतिहास की दृष्टि से हम चाहे उनसे सहमत हों या असहमत, हम द्विवेदी जी के, इस कथा के विश्लेषण की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

ऋतु-वर्णन में कवि ने केवल एक पुरानी प्रथा को अपनाया है इस बात को सिद्ध करते हुए द्विवेदी जी ने रासो के ऋतु-वर्णन का आनन्द पाठकों को दिया है। इच्छिनी के बहुत रोकने पर भी पृथ्वीराज कन्नौज के लिए प्रस्थान करते हैं। कवि ने जिस वैशिष्ट्य से कान्यकुब्ज की राजकुमारी संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम की कथा का आयोजन किया है, प्रायः उतने ही वैशिष्ट्य से द्विवेदी जी ने उसके सौन्दर्य और घुमाव-फिराव को समझाया है। इस प्रेम-कथा की कुछ घटनाएँ तो काफ़ी जन-प्रसिद्ध रही होंगी। उनका वर्णन हमें कवि चन्द्रशेखर के 'सुर्जन चरित' में भी मिलता है। द्विवेदी जी की तरह हमारा भी विश्वास है कि शुरू में इस कथानक में इतना रंग न पुता होगा। युद्ध के प्रसंग में परवर्ती कवियों ने काफी वृद्धि की है। संयोगिता-स्वयंवर किसी समय रासो का प्रधान अंग था, यद्यपि अनेक प्रक्षेपों से अब वह कुछ विकृत हो गया है। इसी प्रसंग से सम्भवतः मूल 'रासो' की समाप्ति थी।

रासो-विषयक द्विवेदी जी के उपसंहार को सम्भवतः सभी स्वीकार करेंगे। "सभी ऐतिहासिक मानी जाने वाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानकगत रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमें भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, सम्भावनाओं पर अधिक ज़ोर दिया गया है; और कल्पना को महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।"

पञ्चम व्याख्यान में द्विवेदी जी ने हिन्दी के आदिकाल के छन्दों और काव्य-रूपों पर विचार किया है। श्लोक संस्कृत का, तो गाथा प्राकृत का प्रतीक था। ईस्वी के आरम्भ में गाथा ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। लौकिक-रस-प्रधान कविता इसमें सजीव हो उठी है।

'दोहा' इसी प्रकार अपभ्रंश के आगमन का सूचक है। पाँचवीं-छठी शताब्दी में अपभ्रंश-साहित्य काफी मात्रा में वर्तमान था। सम्भव है इसका कुछ सम्बन्ध आभीर जाति से रहा हो।

---

१. इस विषय पर अधिक विचार और विमर्श के लिए 'राजस्थान-भारती' में प्रकाशित 'संयोगिता' पर लेख देखें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दोहा ह्रस्वान्त छन्द है। तुक का मिलान अपभ्रंश की विशेषता है। दोहे में पहली बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। विशेषतः मुक्तक काव्य के लिए यह छन्द बहुत उपयुक्त है।

अपभ्रंश के काव्य अनेक सन्धियों (सर्गों) में विभक्त हैं। एक सन्धि में अनेक कड़क होते हैं। पद्धटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में घत्ता या अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इसका विच्छेद किया जाता है। चौपाई और दोहों द्वारा कड़वकों की रचना सिद्ध-साहित्य की देन है। आरम्भ में चौपाई कथानक छन्द था। अनेक दोहों को लिखकर चौपाई द्वारा कथा की योजना ढोला-मारू के दोहों में मिलती है।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े-बड़े छन्दों का उपयोग होने लगा चन्दवरदाई छप्पय के प्रयोग में सिद्धहस्त है। दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी उसने सुन्दर प्रयोग किया है। छन्दों की दृष्टि से द्विवेदीजी का यह अनुमान सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि 'चन्द हिन्दी-परम्परा के आदि कवि की अपेक्षा अपभ्रंश के अन्तिम कवि थे।' चन्द ने 'साटक' या शार्दूल-विक्रीड़ित और गाहा (गाथा) छन्दों में भी कुछ रचना की है। वे संस्कृत को साटक और प्राकृत को गाहा छन्द में लिखते। द्विवेदी जी का यह सुझाव भी मौलिक है कि अपभ्रंश काल में "साटक" या "सट्टक" शब्द के खेल या क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण लोगों ने शार्दूल विक्रीड़ित को शार्दूल साटक कहना शुरू कर दिया।

व्याख्यान के अन्त में गोस्वामी तुलसीदास जी और कबीर ने जिन काव्य-रूपों का प्रयोग किया है उनके आधार पर पुराने हिन्दी के काव्य-रूपों का अनुमान करने में द्विवेदी जी ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

हमें आशा है कि हिन्दी-साहित्य के सम इतिहास को इसी पैमाने पर लिखकर द्विवेदी जी हिन्दी-वाङ्मय की कमी को पूरा करेंगे।[1]

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल; लेखक आचार्य डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिचय

बान्धवी

इस संग्रह की कविताओं को वस्तु की दृष्टि से चार प्रकार के वर्गों में बाँटा जा सकता है। कुछ कविताएँ रहस्यवादी हैं, कुछ विशुद्ध वर्णनात्मक; कई कविताएँ बापू के निधन पर हैं और कई ग्राम-सम्बन्धी। पर सभी कविताएँ गेय हैं। वैसे संगीत का प्राचुर्य तथा वैविध्य चाहे न हो, पर जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है, वह कई कविताओं में यथेष्ट मात्रा में है।

रहस्यवादी गीत विशिष्टाद्वैत के ऐसे परिपोषक हो गए हैं कि कवि ने अपने को जीव की स्थिति में रखकर स्त्रीलिंग तक बना लिया है। वर्णनात्मक कविताएँ प्रवाह रखती हैं; पर गठी हुई नहीं हैं, उनमें शिथिलता है। उन कविताओं को गेय बनाने का मोह अखर जाता है, जैसे : पावस रानी, वसन्त आदि। ऐसे कुछ कविताएँ वस्तु के अभाव में उथली भी पड़ गई हैं। बापू के निधन पर लिखी गईं कविताएँ प्रायः प्रलाप-मात्र हैं या उनकी प्रशस्ति बन गई हैं। इस प्रकार की सबसे अच्छी कविता 'अभागिन संध्या' बन पड़ी है। ग्रामीण वातावरण की कविताएँ प्रायः यथार्थ से परे हैं। कवि के मस्तिष्क में गाँव का अर्थ-जर्जर, रूढ़ जीवन नहीं है। उसका किसान ऐसा है जो कार्य करते हुए ज्वार-बाजरे की स्वर्ण-बालियों से धरती को सजाकर रधिया-राधा से प्रेम करना नहीं भूलता।' (भूमिका पृ० ५) पर कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे उसका किसान प्रेमी अधिक है, कर्म और उसकी रूक्षता से उसका लगाव नहीं। बात यह है कि दूसरे सत्य को कवि भावनाओं द्वारा ग्रहण नहीं कर पाया।

कविताओं से प्रकट होता है कि कवि को समाज और यथार्थ स्वीकार नहीं है, हालाँकि कवि ने भूमिका में सफाई देने की कोशिश की है। १९५३ का पाठक कवि से अधिक व्यापक चेतना, शैली की नवीनता तथा भावाधिक्य की आशा करता है। देश के दुःख-दारिद्र्य और गाँवों की विपन्नता को 'निठुर नियति' से जोड़ते हुए कवि एक बार सोच लेता तो अच्छा था।[1]

---

१. कविता-संग्रह, लेखक—श्री देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'; प्रकाशक—रामयश पांडेय, रसाल-कुञ्ज, बनारस।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सवेरा और साया

'अरुण' 'विभाषी' (पंजाबी) हैं, इसलिए हिन्दी में लिखने का श्रेय तो उनका है ही; और फिर जब अभिव्यंजना पर कुछ अंशों में अधिकार हो तो श्रेय कुछ और बढ़ जाता है। संग्रह की कविताओं में प्रायः गेय हैं, कुछ मुक्त छन्द में हैं। इन कविताओं की भावभूमि तो उसके समर्पण से ही स्पष्ट है; 'युग की अन्तर्दाही पीड़ा और चेतना को'; पर अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनमें सिद्धान्तों की तार्किकता तथा विचारों की शुष्कता है। तार्किकता और बौद्धिकता अपने में या कविता में अमान्य नहीं हैं, पर जब वे भावना-प्रधान आत्मा लेकर आयँ तभी। कवित्व के दर्शन भी वहीं होते हैं। इन कविताओं में उसी कवित्व की कमी है। जहाँ तक कवि के प्रगतिशील दृष्टिकोण का सम्बन्ध है कविता को जन-जीवन से मिलाने, कुण्ठा, निराशा आदि से मुक्त करने का सम्बन्ध है, किसी का मतभेद नहीं हो सकता। संग्रह में 'ओ नींव के पत्थर', 'सिपाही', 'सस्सी का स्वप्न', 'सिगरेट का धुँआ', अच्छी रचनाएँ हैं। भाषा में साधारण शक्ति है, प्रवाह भी कम है।[1]

झपकियाँ

'झपकियाँ' का यह दूसरा संस्करण है पहला '४५ में निकला था। नई सजधज है, दो-एक कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं। इन कहानियों में दो-एक में समस्या है, कुछ का केन्द्र-विन्दु कोई संवेदना है और कुछ केवल कौतूहल पर आधारित हैं। इनमें कार्य की ही प्रधानता है, कहानी के अन्य अंग चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास, मनोवैज्ञानिक गहराइयाँ तथा मोड़ और वातावरण-निर्माण सब दब गए हो हैं। इस प्रकार उनका कला-पक्ष अत्यन्त निर्बल है। क्या विचार और क्या वस्तु, सभी दृष्टियों से यह लेखक की अपरिपक्व कृति है। ये लेखक की प्रारम्भिक कहानियाँ हैं, और टेकनीक, भाषा तथा व्यंजना सभी ओर लेखक इस संग्रह में सीखता-सा जान पड़ता है। वास्तव में इसमें 'शरद्' की आगे की रचनाओं का अंकुरित रूप है जो 'लंका महराजिन' तथा 'आँचल का आसरा' आदि में विकास को प्राप्त हुआ है। पुस्तक की छपाई अच्छी है, कवर आकर्षक है।[2]

---

१. कविता-संग्रह, लेखक—श्री विद्याभास्कर 'अरुण'; प्रकाशक—इंडियन प्रेस, प्रयाग।

२. झपकियाँ—कहानी-संग्रह लेखक—श्री ओंकार शरद्, प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चरित-नायक

यह उपन्यास एम० लरमनतोव के 'ए हीरो ऑव आवर टाइम' का हिन्दी-अनुवाद है—अनुवाद में प्रमुखतः दो बातों पर विचार किया जा सकता है—भाषा और वस्तु। अनुवादक का कार्य बड़े दायित्व का है। उसे दोनों भाषाओं का समान अधिकारी तो होना ही चाहिए, साथ ही मौलिक कृति की आत्मा तक पहुँचने की प्रतिभा भी उसमें अपेक्षित है।

जहाँ तक लरमनतोव के उपन्यास के प्रश्न हैं, यहाँ अधिक कहने की गुञ्जाइश नहीं है, उसके लिए ये शब्द ही पर्याप्त हैं—"अपने चरित-नायक के रूप में महान् लेखक ने जिस व्यक्ति का चित्रण किया है वह पाठकों का प्यार और साथ ही घृणा भी पाने का अधिकारी है.....जो व्यक्ति इस कृति में दिखाई पड़ेगा वह वास्तव में एक चित्र है जिसके माध्यम से लेखक ने कई पीढ़ियों की बुराइयों का चित्रण किया है।"

पर जहाँ तक अनुवाद का प्रश्न है, यह अत्यन्त असफल बन पड़ा है। भाषा की शिथिलता, अस्पष्टता तथा अशुद्ध प्रयोग पुस्तक-भर में हैं। उदाहरण के लिए कोई पृष्ठ खोला जा सकता है, जैसे—"मैंने भेड़ों की कीमित उसके बगल में रख दिया पर उसने उसे छुआ तक नहीं वह तहाँ पर मुर्दों-जैसा पड़ा रहा...।" और भी—"क्या आप मुझे यह बतलाने का कष्ट करेंगे कि आपकी गाड़ी जिस पर इतना अधिक सामान लदा हुआ हैं केवल चार बैलों की मदद से चल रही है और मेरी गाड़ी जो लगभग बिलकुल खाली है छः बैलों और इतने सारे अलसेशियनों की सहायता के बावजूद भी सँभल नहीं पा रही है।"

ऐसा जान पड़ता है कि अनुवादक अपनी भाषा की मूल प्रकृति और अंग्रेजी की प्रकृति के अन्तर को भली-भाँति नहीं समझते। फिर यह अनुवाद भी रूसी के अनुवाद का अनुवाद है। इसलिए इस अनुवाद में मूल कृति के साथ अन्याय हुआ है। हम इस प्रकार के प्रयासों में अधिक सावधानी के पक्षपाती हैं।[1]

१. अनुवादक—श्री ओंकार शरद; प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवलोकन

डा० ब्रजेश्वर वर्मा

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर शोध-कार्य

समय की अवधि, रचनाओं की प्रामाणिकता, भाषा के स्वरूप और प्रकृति तथा साहित्य की प्रवृत्ति आदि सभी दृष्टियों से आदिकाल की अवस्था अत्यन्त अनिश्चित है। फिर भी कबीर के पहले हिन्दी-साहित्य के अस्तित्व-मात्र को अस्वीकार करने का साहस साहित्य के किसी इतिहासकार को नहीं होता। यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी को एक स्वतन्त्र रूप प्राप्त हो गया था, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व उसमें क्या और किस प्रकार का साहित्य रचा गया यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस अनिश्चित साहित्य को 'वीरगाथा काव्य' कहा है और वह नाम इतना प्रचलित हो गया है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास से उसको हटाना असम्भव-प्राय है। 'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले तर्कों की अकाट्यता में विश्वास करते हुए भी उसे किसी-न-किसी रूप में हिन्दी का आदिकाव्य मान लिया जाता है तथा ऐतिहासिक स्रोतों से चन्द के पृथ्वीराज के दरबारी कवि होने की पुष्टि न होते हुए भी उसे हिन्दी का आदिकवि और पृथ्वीराज का चारण-मित्र समझा जाता है। हिन्दी-साहित्य की प्राचीनता को अधिकाधिक पीछे ले जाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप गुरु गोरखनाथ को भी साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दी का आदिकवि मानने का संकेत और उनके अस्तित्व के अनिश्चित समय को ९वीं शताब्दी तक ले जाने का प्रयत्न किया है। इससे भी पीछे सातवीं शताब्दी के किसी पुष्य नामक कवि को राजा भोज का दरबारी और हिन्दी का आदि-कवि बताया गया है। इसी प्रवृत्ति से सिद्ध साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मान-कर उसका इतिहास चौथी शताब्दी तक ले जाने का उद्योग हुआ है। सिद्ध-साहित्य की भाँति अपभ्रंश का जैन-साहित्य भी धार्मिक साहित्य है और उसे भी हिन्दी-साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर आदिकाल के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चरण-साहित्य का उल्लेख किया जाता है तथा इस विस्तीर्ण काल की भाषा को अपभ्रंश, अपभ्रंश का अन्तिम रूप, अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी का मिश्रित रूप तथा पुरानी हिन्दी अनेक कोटियों में रखा जाता है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण साहित्य को एक ही काल में सम्मिलित करना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न तो उचित है और न सम्भव। हिन्दी में सबसे पहले महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस विषय की विस्तृत सामग्री उपस्थित करके तत्सम्बन्धी अध्ययन-अन्वेषण का दिशा-निर्देश किया है। यह सामग्री उनकी 'पुरातत्त्व निबन्धावली' तथा 'हिन्दी-काव्य-धारा' में प्रकाशित हुई है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सिद्ध-साहित्य सम्बन्धी सामग्री का प्रचुर उपयोग किया है। नाथ साहित्य का अध्ययन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इसी नाम के ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। अभी हाल में बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् के तत्त्वावधान में दिये गए उनके व्याख्यान 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' नाम से प्रकाशित हुए हैं। अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी डा० द्विवेदी ने इस सामग्री को सम्मिलित किया है। आदिकाल के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के अन्वेषण और मनन के परिणाम-स्वरूप जिन तथ्यों का निरूपण हुआ है उनसे निःसन्देह साहित्य के इतिहास में नवीन दृष्टि-पथ का निर्देश होगा।

विभिन्न विश्वविद्यालय-केन्द्रों में इस विषय का अनुसत्धान कई रूपों में हुआ है। हिन्दी के आदिकाल में सम्मिलित की जाने वाली अधिकांश सामग्री अपभ्रंश की है। निश्चय ही अपभ्रंश और हिन्दी के बीच का कोई संक्रमणकाल होना चहिए और उस संक्रमण-काल के पूर्व का साहित्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास से बाहर समझा जाना चाहिए। फिर भी, हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए संस्कृत और संस्कृत से भी अधिक प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य के अन्वेषण की अनिवार्य आवश्यकता है। यह विषय इतना विस्तृत है कि किसी एक अध्ययन के अन्तर्गत उसका सम्पूर्ण विवेचन कठिन है। इस दिशा में डा० रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव' शीर्षक प्रबन्ध प्रथम प्रयास है। यह प्रबन्ध सन् १९५१ में प्रयाग-विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। डा० हरिवंश कोचर का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध गत वर्ष पी० एच० डी० के लिए दिल्ली-विश्वविद्यालय से स्वीकृत किया गया। हिन्दी के भक्ति-साहित्य-विशेष रूप से सन्त-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से सिद्ध-साहित्य का महत्त्व असंदिग्ध है। इसी वर्ष प्रयाग-विश्वविद्यालय से डा० धर्मवीर भारती का 'सिद्ध साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध डी० फिल्० के लिए स्वीकृत हुआ है।

हिन्दी के तथाकथित वीरगाथा काल के साहित्य का अनुशीलन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध के रूप में अभी तक केवल डा० उमेशचन्द्र त्रिपाठी का 'वीर-गाथा काल में ऐतिहासिक तथ्य' शीर्षक अध्ययन लखनऊ-विश्वविद्यालय से पी० एच–डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो'-जैसी बृहद् रचना के अध्ययन की अनेक सम्भावनाएँ हैं। किन्तु सन् १८८६ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित कविराज श्यामलदास के 'रासो' की अप्रामाणिकता-सम्बन्धी लेख से एक ऐसा विवाद प्रारम्भ हुआ जिसका आज भी कोई निर्णयात्मक अन्त नहीं हो पाया। इस सम्बन्ध में श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० श्यामसुन्दरदास, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, श्री नरोत्तमदास स्वामी आदि अनेक विद्वानों के महत्त्वपूर्ण तर्क, मत और अनुसंधान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामने आए। किन्तु इस विवाद से सबसे प्रथम इस क्षति के अतिरिक्त कि उक्त सोसाइटी से होने वाला 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन स्थगित हो गया, यह भी हानि हुई कि उसके अध्ययन की बड़ी आसानी से उपेक्षा की जाने लगी। किन्तु 'पृथ्वीराज रासो' का स्वतन्त्र अध्ययन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसकी ओर ध्यान देने का निर्देश डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने एक निबन्ध में किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवर-सिंह के सम्पादकत्व में अभी हाल में एक 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' नामक छोटा-सा ग्रन्थ निकला है। द्विवेदी जी ने संकेत किया है कि हो सकता है रासो का मूल रूप बहुत-कुछ इसी के आकार-प्रकार का हो। लखनऊ-विश्वविद्यालय के डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने पृथ्वीराज रासो का अध्ययन प्रस्तुत करके कलकत्ता-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी और उनका प्रबन्ध हिन्दी के आदिकाल से सम्बन्धित सम्भवतः प्रथम शोध-प्रबन्ध है। व्यक्तिगत कवि तथा ग्रन्थ के अध्ययन के क्रम में डा०टी०एन०वी० आचार्य का 'भारतीय मध्ययुग के सन्धिकाल का मनन—गुरु गोरखनाथ' शीर्षक प्रबन्ध सन् १९४८ में आगरा-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ था।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है हिन्दी के आदिकालीन तथा उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंशकालीन के साहित्य के अध्ययन की अनेक सम्भावनाएँ हैं। साहित्य, समाज और संस्कृति के इतिहास के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान और पाठानुशीलन की दृष्टियों से उसके अन्वेषण में प्रचुर कार्य किया जा सकता है। वस्तुतः इस दिशा में अब तक जो कार्य हुआ है वह अत्यन्त अपर्याप्त है। इस समस्त कार्य की इकाई यदि हम आदिकालीन साहित्य के पाठानुशीलन के साथ ग्रन्थों के वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित संस्करणों का प्रकाशन मानें, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि अभी तक इस काल के अध्ययन की प्रामाणिक सामग्री ही उपलब्ध नहीं है। वस्तुतः यह अभाव अध्ययन की सबसे बड़ी बाधा है। इस दिशा में डा० माताप्रसाद गुप्त ने श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा संकलित 'बीसलदेव रासो' की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठानुशीलन सहित जो संस्करण तैयार किया है वह एक स्तुत्य प्रयत्न कहा जा सकता है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरख बानी' का परिचय तो हिन्दी पाठकों को है ही। आदिकालीन साहित्य की हस्तलिखित सामग्री पुस्तकालयों और भंडारों में भी कम नहीं है, उसके अध्ययन-अनुशीलन की अविलम्ब आवश्यकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुशीलन

डा० माताप्रसाद गुप्त

'बीसलदेव रास' की पाठ-समस्या

'बीसलदेव रास'—जिसे 'बीसलदेव रासो' नाम से प्रायः हिन्दी-पाठक जानते हैं—हिन्दी-साहित्य का एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण काव्य है। इधर राजस्थान के कुछ विद्वानों ने उसकी प्राचीनता के विषय में शंका अवश्य की है, किन्तु वह प्रायः उस रूप के आधार पर की है जो काशी-नागरी-प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित है। सभा का संस्करण एक ऐसी शाखा की पतियों पर आधारित है जिसमें पाठ-वृद्धि बहुत हुई है, और जिसकी परम्परा एक दीर्घकाल तक कदाचित् मौखिक रही है। इसलिए उसमें यदि अपेक्षाकृत आधुनिकता मिलती है, तो वह स्वाभाविक है। किन्तु उसी पाठ के आधार पर मूल रचना की प्राचीनता के सम्बन्ध में अविश्वास करना समीचीन नहीं माना जा सकता है।

'बीसलदेव रास' का प्रचार भी राजस्थान में किसी समय बहुत अधिक रहा है, यही कारण है कि उसकी प्रतियाँ बहुतायत से मिलती हैं। अकेले बीकानेर-निवासी श्री अगरचन्द नाहटा, विभिन्न स्थानों से इसकी पन्द्रह प्रतियाँ इकट्ठी की हैं। प्राचीनता और व्यापक प्रचार ने मिलकर 'बीसलदेव रास' के अनेक रूप-रूपान्तर कर दिए हैं, जिसके परिणामस्वरूप यह छोटी-सी रचना पाठ-समस्या के नाते भी हिन्दी के बड़े-से-बड़े ग्रन्थों से टक्कर लेती है। यह समस्या कितनी विकट है, इसका अनुमान नीचे के कुछ विवरणों से हो जायगा।

आकार-प्रकार के ध्यान से 'बीसलदेव रास' की प्रतियाँ निम्न लिखित वर्गों में रखी जा सकती हैं :

(१) जिनकी छन्द-संख्या—छन्दों और संख्याओं की पुनरावृत्तियाँ निकाल देने पर १६७ है।
(२) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—२४७ या २४६ है।
(३) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—२५८ है।
(४) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—२७४ है।
(५) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—२६४ है।
(६) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—२६४ है, किन्तु जिसका अधिकांश (५) वर्ग से सर्वथा भिन्न है।
(७) जिनकी छन्द-संख्या—इसी प्रकार—३१४ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन वर्गों में से सभी में समान रूप से मिलने वाले छन्द केवल ११८ हैं—जिनमें भी १० ऐसे हैं जो अंशतः ही विभिन्न वर्गों में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त १० छन्द ऐसे हैं जो केवल वर्ग (२), (४), (५), (६), (७) में मिलते हैं; ४३ ऐसे हैं जो केवल वर्ग (१), (२), (४), (५) में मिलते हैं, २१ केवल (१), (४), (५), (६) (७) में मिलते हैं, ६ केवल (१), (५), (६), (७) में मिलते हैं; ३ केवल (१), (६), (७) में मिलते हैं; ५ केवल (१), (४), (५) में मिलते हैं; १ केवल (१), (५) में मिलता है; ७४ केवल (२), (४), (५) में मिलते हैं; ३ केवल (२), (५) में मिलते हैं; १ केवल (२) की एक प्रति तथा (४) में मिलता है; ४ केवल (४), (५) में मिलते हैं; १४१ केवल (६), (७) में मिलते हैं; और इनके अतिरिक्त ३, ६, १, ६, तथा १६ छन्द केवल क्रमशः (२) की एक प्रति, (३), (४), (५) तथा (७) में अलग-अलग मिलते हैं। इस प्रकार समस्त वर्गों की प्रतियों में कुल मिलाकर ४७१ विभिन्न छन्द आते हैं, जिनमें से ११८—अर्थात् केवल एक चौथाई—ऐसे हैं जो समान रूप से समस्त वर्गों में मिलते हैं।

इन वर्गों में कभी-कभी छन्दों की पुनरावृत्तियाँ इस प्रकार की हुई हैं कि एक पाठ उनमें उनकी अपनी शाखा का ज्ञात होता है तो दूसरा किसी अन्य शाखा का : वर्ग (१), (४), (५) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६) (७) के अनुसार ज्ञात होता है, वर्ग (१), (५) एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६), (७) के अनुसार ज्ञात होता है। वर्ग (४), (५) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (२) के अनुसार ज्ञात होता है, और वर्ग (६), (७) में एक छन्द किंचित् पाठ-भेद के साथ तीन बार आया हुआ है।

एक-एक वर्ग में अलग-अलग भी छन्दों की इस प्रकार की आवृत्तियाँ मिलती हैं : (१) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर अपने वर्ग के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (६), (७) के अनुसार ज्ञात होता है; वर्ग (२) में एक छन्द का पाठ एक स्थान पर अपने वर्ग के अनुसार तथा अन्यत्र वर्ग (१) के अनुसार ज्ञात होता है; वर्ग (५) में तीन छन्दों का पाठ एक स्थान पर (१) के अनुसार तथा दूसरे स्थान पर (२) के अनुसार ज्ञात होता है।

विभिन्न वर्गों में छन्दों की ऐसी स्वतन्त्र पुनरावृत्तियाँ भी मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध किसी अन्य वर्ग से नहीं ज्ञात होता है। वर्ग (२) में इस प्रकार की पुनरावृत्ति एक छन्द की तथा वर्ग (५) में भी एक छन्द की हुई है।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि इन वर्गों में एक ही छन्द के दो विभिन्न पाठों की पंक्तियाँ एकत्र मिलती हैं : वर्ग (४), (५) में दो छन्द ऐसे हैं जिनमें वर्ग (१) तथा (२) दोनों के पाठों की कुछ पंक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं, वर्ग (५) में चार छन्द ऐसे हैं जिनमें वर्ग (१) तथा (२) के पाठों की कुछ पंक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं, पुनः वर्ग (५) में एक छन्द ऐसा है जिसमें वर्ग (१) के तथा (४) के पाठों की कुछ पंक्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं।

कुछ पाठ-भेद के साथ कभी-कभी इन वर्गों में केवल पंक्तियों की पुनरावृत्ति भी हुई है : इस प्रकार के तेरह उदाहरण समान रूप से वर्ग (१), (२), (४), (५) में; चार (१), (४), (५), (६), (७) में; तीन (१), (५), (६), (७) में; पाँच (१), (६), (७) में; दो (१), (४), (५) में; चार (१), (५) में; इक्कीस (२), (४), (५) में; तीन (२) (४) में; तथा सात (४) में मिलते हैं। (६), (७) में तो एक पंक्ति की आवृत्ति कम-से-कम छः बार, एक अन्य की पाँच

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बार, दो अन्य की चार बार, दो अन्य की तीन बार, तथा तैंतीस अन्य की दो बार हुई है।

पंक्तियों की ऐसी स्वतन्त्र आवृत्तियाँ भी मिलती हैं, जो विभिन्न वर्गों में उनकी अपनी प्रतियों तक ही सीमित हैं : वर्ग (१) में इस प्रकार की सात तथा (२) में छः हैं।

ये तो कुछ बहुत स्थूल विवरण हुए, और इन्हीं के आधार पर विभिन्न वर्गों में पंक्तियों, शब्दों, व्याकरण-रूपों आदि-आदि के सम्बन्ध में कितना पाठान्तर होगा इसकी कल्पना सुगमता से की जा सकती है। फलतः यह प्रकट हो गया होगा कि 'बीसलदेव रास' की पाठ-समस्या कितनी जटिल है।

प्रश्न यह है कि क्या ये सभी छन्द और पाठ अलग-अलग 'बीसलदेव रास' के रचयिता के ही माने जाने चाहिएँ, या कुछ उसके, और कुछ प्रक्षेपकारों के और यदि पिछली परिस्थिति स्वीकार की जाती है, तो कौन से छन्द और कौन से पाठ मूल रचयिता के माने जा सकते हैं, और कौन से प्रक्षेपकारों के, और यदि इसी दिशा में और आगे बढ़ा जाता है, तो प्रश्न उठता है कि कोई विशेष छन्द अथवा पाठ क्यों मूल रचयिता के माने जायँ और शेष क्यों प्रक्षेपकारों के माने जायँ।

हिन्दी के पाठ-सम्पादक को इस प्रकार की समस्याओं ने पहले कभी उलझन में नहीं डाला है। उसके पास पाठ-निर्णय का एक ब्रह्मास्त्र रहता था—वह था उसकी अपनी सुरुचि। और हिन्दी-पाठक के पास चुपचाप उसके इस ब्रह्मास्त्र के सामने सिर झुकाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। किन्तु आज का पाठ-सम्पादक इन समस्याओं को सुलझाना, और वैज्ञानिक पद्धति पर सुलझाना—पाठ-विकृतियों की समस्त प्रवृत्तियों और प्रणालियों का पूरा ज्ञान प्राप्त करके कृति की पाठ-परम्पराएँ निर्धारित करते हुए उसके मूल रूप तक पहुँचने की चेष्टा करना—अपना कर्तव्य समझता है। वह अपने सभझदार और जिज्ञासु पाठक के सामने अपनी वे समस्त क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ भी स्पष्ट कर देना चाहता है, जिनकी सहायता से उसने अभीष्ट लक्ष्य—मूल रचयिता के पाठ—को प्राप्त करने का प्रयास किया है।

●

परशुराम चतुर्वेदी

मानस की हेतु-कथाएँ

मानस की मूल राम-कथा पर इधर यथेष्ट विचार होता रहा है, किन्तु प्रारम्भ में कुछ कथाएँ ऐसी भी मिलती हैं जो मूल कथा की हेतु-कथाओं के रूप में दी गई हैं। इस कारण वे कथाएँ रावण-चरित की भाँति, रामावतार का प्रादुर्भाव होने के पहले ही आ जाती हैं। रावण-चरित और इनमें इस बात का अन्तर है कि वह जहाँ केवल अधूरा-सा रह जाता है और उसका अन्त राम-कथा में पहुँचकर नहीं होता है वहाँ ये सभी स्वतः पूर्ण हैं और ये वस्तुतः रावणादि के जन्म की-सी पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं। ऐसी हेतु-कथाओं में सबसे बड़ी राजा प्रतापभानु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की कथा है[1] जो रावण-चरित के ठीक पहले आती है और जिसमें 'विप्र-श्राप'-वश, उस राजा को सपरिवार 'निशाचर' होना पड़ता है।[2] यह कथा सम्भवतः 'मंजुल रामायण' से ली गई है जो अगस्त्य मुनि के शिष्य सुतीक्ष्ण द्वारा लिखित एक लाख बीस हजार श्लोकों का ग्रन्थ प्रसिद्ध है।[3] कहते हैं कि स्वयं अगस्त्य मुनि ने भी किसी 'अगस्त्य-रामायण' की रचना की थी जिसमें यह कथा पाई जाती है। पता नहीं दोनों में क्या अन्तर है। मानस की एक दूसरी हेतु-कथा 'नारद-मोह-प्रसंग' के रूप में आती है, जिसमें नारद के शाप का प्रभाव दो 'महेस गन' और स्वयं विष्णु तक पर पड़ता है। दोनों 'महेस गन' विपुल वैभव-सम्पन्न तथा शक्तिशाली 'निसिचर' के रूप में जन्म लेकर विश्व-विजय करते हैं उन्हें युद्ध में मारने के हेतु विष्णु को न केवल मनुज-तनु धारण करना पड़ता है, अपितु उन्हें नारी-विरह के कारण दुःख भी उठाना पड़ता है और वानरों तक से सहायता लेनी पड़ जाती है।[4] कवि ने उस कथा को 'शिव-पुराण' से लिया होगा यद्यपि इसका एक रूप 'अद्भुत रामायण' में भी उपलब्ध है। 'शिव पुराण' के वृत्तान्त से यह अधिक निकट है, इसमें केवल पौराणिक अम्बरीष की पुत्री श्रीमती शीलनिधि की कन्या विश्व-मोहिनी बन गई है।[5] इस प्रकार की अन्य हेतु-कथाओं में से दो अर्थात् जय-विजय एवं जलंधर से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ केवल संक्षिप्त रूप में ही दी गई हैं। विष्णु के द्वारपाल जय और विजय, एक के अनुसार, 'विप्र-श्राप' के कारण पहले हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष होते हैं और वाराह-वतार तथा नृसिंहावतार द्वारा मारे जाते हैं और अन्त में, फिर उनको कुम्भकर्ण एवं रावण के रूपों में भी जन्म लेना पड़ता है।[6] दूसरी कथा के अनुसार जलंधर शिव से संग्राम करके जब उन्हें असफल बना देता है तो विष्णु उनकी सहायता के लिए उसकी पत्नी का पातिव्रत भंग करते हैं। विष्णु को उसकी पत्नी शाप देकर नर-रूप धारण करने को वाध्य करती है और वह स्वयं भी रावण के रूप में जन्म लेता है।[7] जय-विजय की कथा 'आनन्द रामायण' से ली गई जान पड़ती है जहाँ पर उनके तीसरे जन्म में शिशुपाल, दन्तवक्र होने की भी चर्चा की गई है।[8] 'आनन्द रामायण' में जलंधर की भी कथा आती है, जहाँ कहा गया है कि उसकी पत्नी वृन्दा के शापवश विष्णु के सहायक जय-विजय को ही राक्षस-रूप धारण करना पड़ा था और विष्णु के नर-रूप में अवतीर्ण होने पर उनकी पत्नी का अपहरण हुआ था।[9] 'रामचरितमानस' के जय-विजय इस प्रकार राक्षस का जन्म नहीं पाते प्रत्युत यहाँ स्वयं जलंधर ही रावण के रूप में प्रकट हो जाता है।

हेतु—कथाओं का एक दूसरा रूप उन वृत्तान्तों में लक्षित होता है जिनका किन्हीं रावणादि राक्षसों के जन्म-ग्रहण करने के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। ऐसी कथाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय मनु एवं शतरूपा की तपश्चर्या एवं उसके परिणाम-स्वरूप भगवान् की अपने पुत्र-रूप में प्राप्ति की कथा कही जा सकती है। इसके अनुसार 'स्वायम्भुव मनु' बहुत दिनों तक राज्य करके अपने चौथेपन में सस्त्रीक गोमती-तट पर तपस्या करते हैं और उनके

---

१. 'रामचरित मानस' : बाल-काण्ड दोहा १७६, ८४। २. वही, दोहा १५३, ७५।
३. रामदास गौड़ : 'हिन्दुत्व' : काशी : पृ० १३७, ८। ४. 'रामचरितमानस' : बाल काण्ड : दोहा १२५, ३६। ५. 'राम-कथा' : डा० बुल्के : पृ० २७५, ६।
६. 'रामचरितमानस' : बाल-काण्ड : दोहा १२२, ३। ७. वही, दोहा १२३, ४।
८. 'रामकथा' : डा० बुल्के : पृ० ४२०। ९. वही, पृ० २७५।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'अपार' तप द्वारा प्रभावित होकर अन्त में, स्वयं 'विश्ववास भगवान्' प्रकट होते तथा उन्हें उनके यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लेने का वचन देते हैं। उस अवसर पर वे यह भी कह देते हैं कि 'स्वायम्भुव मनु' को उस दशा में 'अवध भुआल' के रूप में रहना पड़ेगा और मैं अपने अंशों के साथ आऊँगा।[१] स्वायम्भुव मनु एवं शतरूपा की यह कथा 'पद्म-पुराण' : उत्तर खण्ड : के २६९वें अध्याय में आती है। किन्तु ये दोनों वहाँ भगवान् को अपने पुत्र-रूप में तीन वार तक पाते हैं और स्वयं भी क्रमशः दशरथ-कौशल्या, वसुदेव-देवकी एवं हरिगुप्त-देवप्रभा के रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं।[२] इस प्रकार की एक अन्य हेतु-कथा का उल्लेख 'मानस' के उस स्थल पर हुआ है जहाँ जय-विजय की उक्त कथा समाप्त कर दी गई है और वतलाया गया है कि उन्हीं दोनों के कारण एक वार विष्णु ने कश्यप और अदिति के घर भी पुत्र-रूप में जन्म ग्रहण किया था।[३] यह बात फिर अन्यत्र भी दुहराई गई जहाँ भयभीत देवतादि को सान्त्वना देते हुए 'गगन-गिरा' द्वारा कहा गया है कि कश्यप एवं अदिति ने बड़ी तपस्या की थी जिस कारण मैंने उन्हें पहले से ही वर दे रखा है और मैं उनके दशरथ-कौशल्या रूप में रहते समय 'कौशलपुरी' में जन्म लूँगा।[४] कश्यप एवं अदिति की कथा का यह रूप 'वाल्मीकीय रामायण' में नहीं पाया जाता। यह संभवतः 'अध्यात्म रामायण' पर निर्भर है।

राहुल सांकृत्यायन

भाषा का प्रश्न

भाषा के प्रश्न की जटिलता इसलिए वढ़ जाती है कि हम भाषा के वोलने वालों से इस प्रश्न का निर्णय करते समय पूछना नहीं चाहते हैं। संक्षेप में इसके वारे में हमें निम्न वातें साफ-साफ दीखती हैं।

(१) हमारा देश वहुभाषिक और वहुजातिक है।

(२) अपने क्षेत्र में वहाँ के अधिकांश लोगों की मातृ-भाषा शिक्षा और सरकारी कारो-वार का माध्यम होनी चाहिए। इस प्रकार वंगाल में वंगला, उड़ीसा में उड़िया, आंध्र में तैलुगु आदि के सर्वेसर्वा होने को हमें मान लेना चाहिए, क्योंकि; लोगों की राय लिये जाने पर यही उनकी इच्छा मालूम होगी। वहाँ के निवासी अपनी भाषा और भाषानुसार प्रान्त स्वीकृत कराने के लिए वहुत कड़ाई के साथ आग्रह करते हैं।

(३) वहुभाषिक होने के कारण भारत में सम्मिलित व्यवहार के लिए, वैदेशिक सम्वन्ध, प्रदेशों के आपसी तथा प्रदेश और केन्द्र के व्यवहार के वास्ते एक सम्मिलित भाषा—संघ भाषा—की आवश्यकता है। ऐसा न करने पर अंग्रेजी से हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता, अंग्रेजी को

---

१. 'रामचरित मानस' : वाल-काण्ड : दोहा १४२, ५२। २. वही दोहा १२३।
३. 'राम-कथा' : डा० वुल्के : पृ० २७३, ४। ४. वही, दोहा १८७।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वीकार करने का मतलब है, जनता को अलग रखना।

(४) संघ-भाषा वही हो सकती है, जिससे देश के बहुसंख्यक लोग परिचित हों, और जिसके शब्द में प्रादेशिक भाषाओं के बहुत अधिक शब्द हों।

(५) ऐसी भाषा हिन्दी ही है, जो प्रायः आधे भारत तक शिक्षा का माध्यम हो चुकी है, और प्रादेशिक भाषाओं की तरह अपने प्रारम्भिक काल से ही संस्कृत से आवश्यक शब्दों के लेने के कारण यह दूसरे प्रदेश वालों के लिए सुगम है। उर्दू इस बात में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं से बिलकुल उलटी दिशा रखते हुए अरबी से अपने शब्द-कोश को समृद्ध करती चली आई है, इसलिए उसको संघ-भाषा मानने पर प्रादेशिक भाषाओं के लिए भारी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

(६) किन्तु, हिन्दी या किसी और भाषा को संघ-भाषा के तौर पर स्वीकार करना प्रादेशिक भाषाओं के प्रतिनिधियों की सहमति से ही होना चाहिए।

(७) 'हिन्दी-क्षेत्र' अब भी (१) बिहार, (२) उत्तर प्रदेश, (३) मध्य प्रदेश, (४) मध्य-भारत, (५) राजस्थान, (६), विन्ध्य प्रदेश, (७-८) पंजाब-पेप्सू के भाग, (९) हिमाचल प्रदेश, (१०) अजमेर, (११) भूपाल के ग्यारह टुकड़ों में मनमानी तौर से बाँट दिया गया है। यदि उसकी जगह भाषानुसार इसे (१) हरियाना, (२) राजस्थान, (३) मालवा, (४) बुन्देलखण्ड, (५) ब्रज, (६) कुरु, (७) हिमाचल, (८) अवध, (९) भोजपुर (काशी-मल्ल), (१०) मिथिला, (११) मगह आदि में बाँट दिया जाय, तो इसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए? आज के ग्यारह प्रदेशों को रखने में शासन-व्यय के खर्च की बात नहीं उठाई जाती, किन्तु भाषानुसार प्रदेशों को पुनर्गठित करने पर खर्च का हौवा क्यों उठाया जाता है? जनता की भाषा शिक्षा और साक्षरता के प्रसार में थोड़े ही दिनों में आशातीत सफलता प्राप्त करा सकती है, और पंचायतों तथा स्थानीय संस्थाओं (जिला-बोर्डों और नगरपालिकाओं) के स्वायत्त-शासन में जनता का सहयोग उसकी भाषा बिना नहीं मिल सकता, यह तो निश्चित है।

(८) जनतान्त्रिक युग में जनता की भाषा की अवहेलना बहुत दिनों तक नहीं की जा सकती, आखिर भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।

(९) 'हिन्दी-क्षेत्र' की भाषाओं में ब्रज, राजस्थानी, अवधी और मैथिली बहुत पुराने समय से साहित्यिक भाषाएँ हैं, और दूसरी भाषाओं का भी पुराना लिखित साहित्य न होने के कारण उन्हें हम बोलियाँ नहीं कह सकते, क्योंकि वह सब तरह के भावों को प्रकट करने में समर्थ हैं, और आजकल उनमें साहित्य तैयार होने भी लगा है।

(१०) हरेक बालक-बालिका को अपनी मातृ-भाषा में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए, और सारे देश में जहाँ भी निर्धारित अल्पमत-संख्या में विद्यार्थी मिलें, वहाँ उनके लिए अपनी भाषा के विशेष स्कूल खोलने चाहिएँ।

(११) उक्त सिद्धान्त के अनुसार उर्दू भाषा-भाषियों को उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए, और यदि कोई छोटे-से-छोटा भी क्षेत्र ऐसा मिले, जहाँ के अधिकांश लोगों की भाषा उर्दू है, वहाँ उर्दू को राज्य-भाषा बनाया जाना चाहिए। लेकिन, 'हिन्दी-क्षेत्र' के ऊपरपरिगणित भाषाओं के प्रदेशों में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ के बहुसंख्यक लोग अपनी भाषा उर्दू मानते हैं, इसलिए वहाँ उर्दू को राज्य-भाषा बनाने का प्रयत्न बहु-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संख्यक जनता की इच्छा के विरुद्ध होगा, जिसका परिणाम उर्दू-भाषियों के लिए भी अच्छा नहीं होगा—नाहक कटुता पैदा होगी, जिसका लाभ सम्प्रदायवादी उठायँगे। उर्दू के लिए अच्छा यही है कि वह अरबी अक्षरों का मोह छोड़कर नागरी को अपना ले, ताकि अधिक-से-अधिक लोग उसे पढ़ सकें। पुराने समय में शासकों की सांस्कृतिक पृथक्करण की नीति ने उर्दू (अरबी-फारसी-मिश्रित हिन्दी) को जन्म दिया। आज पृथक्करण नहीं, सांस्कृतिक समन्वय हमारे देश और दूसरे देशों में भी ध्येय माना जाता है, नागरी लिपि को अपनाकर हम उसमें एक कदम आगे बढ़ते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कल्पना

का

कला अंक

इस अंक के सम्पादक

श्री जगदीश मित्तल, श्री दिनकर कौशिक, श्री के० एस० कुलकर्णी

सलाहकार

सर्वश्री डॉ० क्रेमरिश, डॉ० हरमन ग्वेस्स, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल,
डॉ० मुल्कराज आनन्द, अजित घोष, जी० वेंकटाचलम,
खण्डेलवाल, पृथ्वीश नियोगी, विनोद बिहारी मुखर्जी

विशेषांक का मूल्य—५)

इस अंक का देश-विदेश में खूब प्रचार होगा,
विज्ञापनदाताओं के लिए अच्छा अवसर है।

व्यवस्थापक

कल्पना

८३१ बेगम बाजार हैदराबाद दक्षिण

राष्ट्रभारती

सम्पादक

मोहनलाल भट्ट : : : हृषीकेश शर्मा

(१) यह हिन्दी-पत्रिकाओं में सबसे अधिक सस्ती, एक सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका है। (२) इस पत्रिका को, राष्ट्रभाषा हिन्दी के तथा लगभग सभी भारतीय साहित्य और संस्कृति को बल व प्रेरणा पहुँचाने वाले प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। (३) इसमें ज्ञानपोषक और मनोरंजक श्रेष्ठ लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, नाटक, रेखाचित्र और शब्दचित्र रहते हैं। (४) बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तैलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं। (५) प्रतिमास ह्हली तारीख को प्रकाशित होती है।

वार्षिक चन्दा ६) रुपए। नमूने की प्रति १० आना मात्र।

आज ही ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनाने वालों को विशेष सुविधा दी जायगी।

पत्र-बिक्री (एजेन्सी) तथा विज्ञापन-दर के लिए आज ही लिखिए।

पता : व्यवस्थापक 'राष्ट्रभारती' राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पो० हिन्दी नगर, वर्धा (मध्य प्रदेश)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तार—हिन्दी फ़ोन—५४५०

अजन्ता

(मासिक)

प्रकाशक

हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार-सभा

नामपल्ली, हैदराबाद (दक्षिण)

वार्षिक मूल्य ६-०-०

किसी भी मास से ग्राहक बना जा सकता है।

कुछ विशेषताएँ :

उच्च कोटि का साहित्य : सुन्दर और स्वच्छ छपाई : कलापूर्ण चित्र

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार : श्रीराम शर्मा

साहित्य

बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

और

बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद्

का सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

★ सत्साहित्य के प्रचार में सहयोग दीजिए ★

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

साहित्य

बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्

सम्मेलन भवन, पटना ३

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल (बिक्री-विभाग) से प्राप्य कुछ नये प्रकाशन

आलोचनात्मक

आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त—डॉ० एस० पी० खत्री ११)
व्यक्ति और वाङ्मय—प्रभाकर माचवे ७)
समीक्षा की समीक्षा—प्रभाकर माचवे ५)
छायावाद युग—शम्भूनाथसिंह ६)
प्रसाद जी के उपन्यास तथा कहानियाँ—सुशीला देवी, विमला देवी २)
महाकवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी ६)
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवरसिंह ३॥)
कविवर बिहारी—स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' ६)
साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्रकुमार ७)

साँस्कृतिक, दार्शनिक

हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ६॥)
वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी ३॥)
प्राचीन लोकोत्सव—मन्मथराय २॥)
विश्व धर्म दर्शन—साँवलिया बिहारीलाल वर्मा १३॥)
यूरोपीय दर्शन—रामावतार शर्मा ३।)
शुक्र की राजनीति—डॉ० श्यामलाल पांडेय ८)

उपन्यास

गंगा मैया—भैरवप्रसाद गुप्त १॥।=)
चन्दा—इन्द्र वसावड़ा १॥।=)
मरीचिका—अनीता चट्टोपाध्याय ३)
माया-जाल—गुरुदत्त ५)
चील और चट्टान—कर्तारसिंह दुग्गल ४)
तूफान की कलियाँ—कृष्णचन्द्र ६)
वार्ड नम्बर६—चेखव २)
बलि का बकरा—मन्मथनाथ गुप्त २)
जिप्सी—इलाचन्द्र जोशी ८)
अधूरा स्वप्न (मादाम बावरी)—फ्लाबेयर ६)
एकतारा—प्रभाकर माचवे १॥=)
ससुराल—शौकत थानवी १॥।)
सुखदा—जैनेन्द्रकुमार ४)
विवर्त—जैनेन्द्रकुमार ४।)
व्यतीत—जैनेन्द्रकुमार ३)

कहानी

चिराग तले—ख्वाजा अहमद अब्बास २॥)
रोटियों और लाशों के जुलूस—स्वरूप कुमार गांगेय १॥)
महापुरुषों की प्रेम कथाएँ—इलाचन्द्र जोशी २॥)
पाँच रुपये की आज़ादी—कृष्णचन्द्र २॥)
अफ्रीका का आदमी—सत्यप्रकाश संगर २॥)

नाटक

शिल्पी—सुमित्रानन्दन पन्त ४)
क्रान्तिकारी—उदयशंकर भट्ट १।)
सराय के बाहर—कृष्णचन्द्र ३)
अन्धकार और प्रकाश—उदयशंकर भट्ट १॥।)
पाप और प्रकाश—(लियो टाल्स्टाय) अनु : जैनेन्द्र कुमार २॥)

कोष

परिभाषिक शब्द-कोश—मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव ४)
हिन्दी राष्ट्रभाषा-कोष—विश्वेश्वरनारायण श्रीवास्तव, देवीदयाल चतुर्वेदी १४)
कोष-कला—रामचन्द्र वर्मा १॥)

विविध

हिमालय-परिचय—राहुल सांकृत्यायन २॥)
स्थायी प्रेम—डॉ० मेरी स्टोप्स २॥)
काम, प्रेम और परिवार—जैनेन्द्रकुमार ३)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वार्षिक 'रचना' की सूचना

हिन्दी की समग्र रचनात्मक प्रतिभा के सामने आज जितना गहन दायित्व है, जितनी तेजी से विभिन्न विचार-धाराएँ और प्रवृत्तियाँ उसमें प्रतिबिम्बित होती चल रही हैं, जितनी दिशाओं में आज साहित्यकार जीवन का आकलन, शिल्प का संयोजन और रूप-विधान के अन्वेषण में संलग्न है, उसको देखते हुए एक ऐसे प्रकाशन की बड़ी आवश्यकता अनुभव हो रही थी जो वर्ष-भर में प्रस्तुत समस्त श्रेष्ठ साहित्य (जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है, या पत्र-पत्रिकाओं में छपा है, या उच्च स्तर का होते हुए भी दोनों की सुविधा के अभाव में अप्रकाशित रह गया है) के अंशों को प्रस्तुत कर सके। इसी उद्देश्य से हमने *आलोचना* की सम्पादन-समिति के निरीक्षण, संयोजन और सम्पादन में हिन्दी के समकालीन साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का एक नियमित वार्षिक संकलन *'रचना'* नाम से प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इसकी योजना इस प्रकार रहेगी :

◆हिन्दी की गतिविधि के विकास में 'रचना' के वार्षिक अंक उन चिह्नों की भाँति होंगे जो उसकी निश्चित प्रगति को सूचित करेंगे और आलोचकों, इतिहासकारों और पाठकों की अभिरुचि के लिए उपयोगी होंगे।

◆'रचना' के अंकों में हिन्दी की पुरानी पीढ़ी के साहित्य-निर्माताओं की नवीनतम कृतियों का संकलन होगा, जो पिछली पीढ़ी के व्यक्तित्व और कृतित्व की नवीनतम दिशाओं की सूचना देगा।

◆अपने सक्रिय कृतित्व से साहित्य को सम्पन्न बनाने वाली समकालीन पीढ़ी की वर्ष की श्रेष्ठतम रचनाओं का संकलन होगा, जो हिन्दी की वर्तमान कला-चेतना की जागरूकता का परिमाप बन सकता है।

◆'रचना' में उन प्रतिभाशाली नये और अपरिचित लेखकों की लेखनी का भी परिचय मिलेगा, जो इसी श्रेणी और इसी स्तर के पूर्ववर्ती कलाकारों की सूची में अपने हस्ताक्षर जोड़ेंगे।

◆कविता, कहानी, एकांकी नाटक, उपन्यास, वैयक्तिक निबन्ध, यात्रा-विवरण, पत्र, डायरी, तथा साहित्य के नये-से-नये रूपों में वर्ष-भर के सफल और प्राणवान प्रयोगों को एक व्यवस्था दी जायगी।

◆खड़ी बोली के अतिरिक्त व्रज, अवधी, भोजपुरी तथा अन्य जनपदी बोलियों में रचित गीतों, वार्ताओं, नाटकों तथा कथाओं का संकलन करके समकालीन गतिविधि में उनको उचित स्थान प्रदान किया जायगा।

◆'रचना' की सामग्री के संकलन में सम्पादकों का उद्देश्य किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रश्रय न देकर, यथासमय प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का यथोचित प्रतिनिधित्व करना होगा। किसी भी समकालीन प्रवृत्ति का राजनीतिक, या सामाजिक पूर्वग्रह के आधार पर समर्थन या विरोध न करके प्रत्येक प्रवृत्ति से अनुप्रेरित रचनाओं के साहित्यिक महत्त्व को ही एक-मात्र कसौटी मानना, साहित्य के लिए स्वस्थ तथा श्रेयस्कर है। यही 'रचना' की सम्पादन-नीति होगी।

◆प्रतिवर्ष अप्रैल मास में 'रचना' का वार्षिक अंक प्रकाशित किया जायगा। डिमाई साइज में २०० से अधिक पृष्ठों के इस संकलन का मूल्य ५) वार्षिक (डाक खर्च अतिरिक्त) होगा। यह अंक आलोचना के स्थायी ग्राहकों को तीन-चौथाई मूल्य में प्राप्य होगा।

—राजकमल प्रकाशन

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ पैन बाजार दिल्ली, के लिए
श्री गोपीनाथ सेट द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्पादन डॉ० रघुवंश
समिति डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण
सहकारी सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

आलोचना

साहित्य में गतिरोध — सम्पादकीय
महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या — शम्भूनाथसिंह
'कामायनी' की कथा — पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड — डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी
उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना — डॉक्टर रामरतन भटनागर
प्राकृत अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव — डॉक्टर एजाज़ हुसेन
भविष्यत्-साहित्य — डॉक्टर रामसिंह तोमर
समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि — पॉल वेलरी · आई० ए० एक्स्ट्रॅस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष २ अंक ४ पूर्णांक ८ जुलाई १९५३

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३)

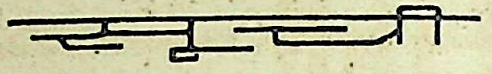

▲सम्पादकीय

—साहित्य में गतिरोध १

▲निबन्ध

महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या :
शम्भूनाथसिंह --- १०

—'कामायनी' की कथा :
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी ... २१

—रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड :
डॉक्टर रामरतन भटनागर -- ३७

—उर्दू कविता में राष्ट्रीय भावना :
डॉक्टर एजाज़ हुसेन --- ४२

▲प्रबन्ध-सार

—प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव :
डॉक्टर रामसिंह तोमर --- ५२

▲अनुशीलन

—हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र :
डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा --- ६७

—जायसी की भूल :
चन्द्रबली पांडे --- ६८

—'रामचरितमानस' का रचना-क्रम :
डॉक्टर कामिल बुल्के --- ७१

▲प्रस्तुत प्रश्न

—भविष्यत्-साहित्य :
पॉल वेलरी --- ७५

—भविष्यत्-काव्य :
अरविन्द --- ७९

मूल्यांकन

—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो :
डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त -- ८८

—महाकवि सूरदास :
डॉक्टर भगीरथ मिश्र --- ९२

—महायान :
प्रभाकर माचवे --- ९५

—कला : एक नवीन दृष्टिकोण :
राय आनन्द कृष्ण --- ९७

—प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन :
बैजनाथसिंह 'विनोद' -- १०१

—व्यक्ति और वाङ्मय :
डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १०२

—विभावरी :
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' -- १०४

—मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह :
अक्षयचन्द्र शर्मा --- १०५

—प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर :
डॉक्टर रघुवंश --- १०७

—नये मोड़ :
डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान -- १११

—प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार :
लक्ष्मीकान्त वर्मा --- ११३

▲प्रादेशिक साहित्य

—तैलुगु प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ :
हेमलता जनस्वामी --- १२१

▲अवलोकन

—समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि :
आई० ए० एक्ट्रॅस --- १२५

▲परिचय
--- १२९

▲प्राप्ति स्वीकार
--- १३५

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

साहित्य में गतिरोध

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य की समकालीन प्रगति में गतिरोध की बात प्रायः विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न निकायों के आलोचकों द्वारा कही जाती रही है। साहित्य में गतिरोध के कई अर्थ हो सकते हैं। यह सम्भव है कि साहित्य-सृजन का एक दौर ऐसा हो जब प्रचुर मात्रा में साहित्य का प्रकाशन हो रहा हो, जनता उसे पढ़ रही हो, किन्तु उस प्रसार और प्रचार के बीच भी साहित्य का स्तर सतही तथा उसकी दृष्टि एकांगी हो गई हो, उसमें मानवीय स्थितियों के गहन आध्यात्मिक संकट और मर्मस्पर्शी पीड़ाओं को छूने की शक्ति न रह गई हो (जैसे टाल्सटाय, डास्टावस्की, चेखव और गोर्की के बाद का रूसी कथा-साहित्य), या साहित्य के सृजन पर व्यावसायिकता का भयानक प्रभाव पड़ रहा हो और फलस्वरूप उच्च स्तर की कृतियों के सृजन की अपेक्षा सस्ती और विकृत जन-रुचि को सन्तुष्ट करने वाला साहित्य आकर्षक ढंग से इस तरह सजा दिया गया हो कि उच्च स्तर के साहित्य की मूल सरस्वती-धारा विलुप्त हो रही हो, (जैसे जेम्स टी० फैरेल, स्टीनबेक, फाकनर, फिट्जजेराल्ड की पीढ़ी के बाद का अधिकांश अमरीकन साहित्य), या शिल्प की सूक्ष्मताओं और पच्चीकारियों से समन्वित किन्तु एक सुस्पष्ट भाव-पथ से विचलित, विक्षुब्ध, चौंकाने वाला, शिल्प और चिन्तन के अस्थायी फैशनों को अधिक महत्त्व देने वाला प्रभावयुक्त किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट साहित्य (जैसे इस शती का बहुत-सा अतियथार्थवादी, अस्तित्ववादी तथा अन्यथा विशृङ्खल फ्रांसीसी साहित्य), ये सभी साहित्य के गतिरोध या गति-विभ्रम के स्पष्ट उदाहरण हैं।

क्या हिन्दी में इस प्रकार के किसी गतिरोध या गति-विभ्रम के कीटाणु दीख रहे हैं? यदि हाँ, तो क्या वे कीटाणु इतने प्रबल हैं कि हमारी जीवनदायिनी परम्परा के सशक्त तत्त्वों को पराजित कर सकने में समर्थ हो गए हैं? या यह गतिरोध का नारा केवल पाश्चात्य साहित्य के विषय में कही जाने वाली उक्तियों का भारतीय अनुकरण-मात्र है; जो भारतीय साहित्य—विशेषतया हिन्दी-साहित्य—की परिस्थिति और गतिविधि पर विचार किये बिना उस पर लाद कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिया जाता है। इस प्रसंग में हमें हिन्दी के आधुनिक साहित्य की अब तक की प्रगति पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी का आधुनिक युग लगभग सौ वर्षों का है। इस छोटी-सी अवधि में हिन्दी ने जितनी मंजिलें तय की हैं और अपने क्षेत्र को जिस तेजी के साथ विकसित किया है, वह अपने में ही एक आश्चर्यजनक वस्तु है। हिन्दी के साहित्यकारों के सामने न केवल नई भावनाओं, विचारों और शैलियों के ही व्यक्त करने की समस्या थी, बल्कि उसके साथ ब्रजभाषा के स्थान पर एक नई साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठा का भी महत्त्वपूर्ण कार्य था, जो प्रवाह, सामर्थ्य और गहराई में सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्जागरण की व्यापक और वेगवती चेतना का वहन कर सके। यह सत्य है कि प्रेरणा और गौरव के लिए हमारे पीछे अवधी तथा ब्रजभाषा के महान् आचार्य और मनीषी थे, परन्तु आज की प्रगति का आकलन करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि (जहाँ तक साहित्य के वर्तमान स्वरूपों का सम्बन्ध है) सौ वर्ष पूर्व हमने लगभग शून्य से ही प्रारम्भ किया था।

इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रगति का बिलकुल दूसरा ही रूप दिखलाई पड़ता है। आज के साहित्यिक वातावरण और साहित्य-सृजन में कहीं-कहीं जो घुमाव और पेंच आ गए हैं, उनसे हताश होने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं दीखता। चौरस भूमि पर फैलने वाले पानी की तरह साहित्य की वे उपधाराएँ भी, जो सीधी रेखा में नहीं बह रही हैं, सम्पूर्ण गति का अंग ही मालूम पड़ती हैं। ऐतिहासिक स्थिति की इस विशिष्ट भिन्नता के कारण 'गतिरोध', 'अन्धकार' अथवा 'अराजकता' की धारणाएँ उस अर्थ में हिन्दी में लागू नहीं की जा सकतीं, जिस प्रकार इनका प्रयोग समकालीन यूरोपीय साहित्य में होता है। यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो विशाल लहर उठी थी वह आज उतार पर है। वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में आज उस लहर की छितरी हुई अन्तिम बूँदें ही झलकती हैं। इसके विपरीत आज भारत ही नहीं, प्रत्युत सारे एशिया के सामने नई चेतना और नई आकांक्षाओं का प्रशस्त पथ है। हमारा झुटपुटा प्रभात का है, संध्या का नहीं।

आधुनिक हिन्दी-भाषा और साहित्य में निस्सन्देह वह नूतन प्रभात की स्फूर्ति और ताजगी निरन्तर प्रतिफलित होती रही है। भारतेन्दु युग, छायावाद का प्रारम्भिक काल और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य में नई कविता के नये उत्थान में हम हिन्दी की अदम्य प्रगति के तीन महत्त्वपूर्ण चरणों का आभास पाते हैं। समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्त्व के उदय से परिचित होते हैं। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रों में शक्तिशाली साहित्यिक गोष्ठियों का उदय। साहित्य के विकास में साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्त्व होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति में इन गोष्ठियों का एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है। किन्तु हिन्दी में इनकी एक और भी विशेषता है। फ्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाएँ राजधानी में केन्द्रित भाषाएँ हैं। इसीलिए पेरिस, बर्लिन और लन्दन का वातावरण इन साहित्यों की गति-विधि को अनुशासित करता रहता है। इसके लाभ भी हैं और हानि भी। केन्द्रित भाषा में विशेषीकरण और परिमार्जन की गति तीव्र होती है। इससे भाषा में निखार अवश्य आ जाता है परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोन्मुख पच्चीकारी का भी खतरा रहता है। उर्दू इसका एक दुःखद उदाहरण है। किन्तु आज हिन्दी का साहित्य-सृजन किसी एक नगर में केन्द्रित नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जबलपुर, हैदराबाद, बम्बई हिन्दी की कितनी ही राजधानियाँ हैं। इनमें से अधिकांश स्थानों में सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों का विकास हुआ है। इनका विशेष महत्त्व इसलिए है कि विभिन्न राजनीतिक उलझावों और दलगत संकीर्णताओं से उबरकर इन्होंने साहित्य के सृजन-पक्ष, उदार चिन्तन और सहानुभूति का आश्रय ग्रहण किया है। नूतन सृजन में प्रवृत्त पुराने साहित्यकार, या पिछले दिनों प्रकाश में आने वाले नूतन साहित्यिक हस्ताक्षरों में से बहुत से शनिवार समाज, नकेन गोष्ठी, लखनऊ लेखक-संघ, परिमल और उसकी शाखाएँ, चेतना, साहित्य-सहकार, सुहृद-संघ, साहित्यिक संघ आदि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे हैं। इन गोष्ठियों का उदय पिछले दशक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। इन्होंने न केवल नई और पुरानी पीढ़ियों के लेखकों को निकट लाने का कार्य सम्पन्न किया, वरन् नये लेखकों को उनके विकास के लिए घातक संकीर्णता से भरे हुए वातावरण से मुक्ति देकर एक ऐसी भावभूमि पर ला खड़ा किया जहाँ वे अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए भी सामाजिकता को आत्मसात् कर सकें। यही नहीं वरन् उन्होंने उनके साहित्य को इस प्रकार आत्मकेन्द्रित और निर्वासित नहीं बनने दिया कि धीरे-धीरे वे अपनी भाषा की प्रेषणीयता भी खो बैठते; जैसा पाश्चात्य लेखकों की महायुद्धों के बीच वाली पीढ़ी के साथ हुआ।

भाषा और साहित्यिक वातावरण के विस्तार के दबाव ने किस प्रकार हमारी गति को प्रभावित किया है यह बात वर्तमान नई कविता के एक पक्ष पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगी। कई क्षेत्रों से गतिरोध का सबसे बड़ा आरोप नई कविता—विशेषतः प्रयोगशील कविता पर लगाया जाता है। प्रयोगशील कविता कई अर्थों में टेकनीक और अभिव्यंजना का आन्दोलन है। अंग्रेजी साहित्य में इसकी सीमा-रेखा एक ओर आस्कर वाइल्ड को छूती है, दूसरी ओर टी० एस० इलियट और डिलान टामस को। इस प्रकार नई कविता की तुलना अंग्रेजी के पतनशील (decadent) और कुण्ठित व्यक्तित्व के साहित्य से की जाती है। परन्तु अंग्रेजी पतनशील साहित्य और बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता ने जहाँ भावभूमि को संकुचित किया वहीं भाषा को भी कुछ अंशों में कृत्रिम और संकुचित बना दिया। इसके साथ ही भावना और शब्दों में एक ऐसा असामंजस्य खड़ा हो गया कि भाषा के तार-तार बिखरते हुए जान पड़ने लगे। आज भी फ्रेञ्च और अंग्रेजी साहित्यकारों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि तमाम पच्चीकारी और नारेबाजी के बाद शब्द अर्थहीन हो गए हैं। कारण यह है कि टेकनीक का यूरोपीय आन्दोलन अधिक-से-अधिक केन्द्रगामी होता गया है। इसकी परिणति रहस्यात्मकता, विशेषीकरण, और व्यक्तिगत शब्दावली (Personal Vocabulary) में हुई। इतने पर भी सन्तोष न हुआ तो टी० एस० इलियट ने अपनी कविता के एक-एक पृष्ठ में पचास पुस्तकों के सन्दर्भ पिरोये, एज़रा पाउण्ड ने अपने सर्गों में दुनिया-भर की भाषाओं की प्रदर्शिनी सजाई और कमिंग्ज ने तो शब्दों का पोस्टमार्टम ही कर डाला। जन-साधारण की वाणी इस अंधेरे कमरे में पहुँचकर स्वगत-भाषण और उसके बाद नींद की बड़बड़ाहट बन गई। इसी प्रकार पतनोन्मुख ब्रजभाषा की कविता और उर्दू में दाग़ की गज़लों की सीमित भाषा भी गतिरोध की एक आवश्यक परिणति की ओर संकेत करती है। इसके विपरीत हिन्दी की युद्धोत्तरकालीन नई कविता की भाषा में लोकजीवन में प्रचलित, जीवन्त तथा समृद्ध शब्दों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियों ने जीवित शब्दावली में वृद्धि नहीं की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकांगी और पक्षपातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेंगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नहीं, क्योंकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदों की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेजी और फ्रेञ्च कवियों के दायरे को सीमित कर दिया उसीने हिन्दी के कवियों को बोलियों की ओर मोड़ा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र में ही हुआ हो ऐसी बात नहीं है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार में भी कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यों न हो किन्तु 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' में भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' में लोक-भाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायणलाल के 'बया का घोंसला और साँप' की भाषा का खेतों की मिट्टी-जैसा सोंधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासों में भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड़ के परिचायक हैं। नये खेवे के व्यंगकारों की कृतियाँ इस बात की परिचायक हैं कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था में ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा सम्बन्धी इस प्रगति के महत्त्व को न स्वीकार करें, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नहीं है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नहीं सँजोता वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्त्वों का भी परीक्षण कर लेता है, जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा में किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने में रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका में वह प्रगतिशील ही कहलायगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फार्मलिज़्म' कहकर वे ही टुकरा सकते है जिन्हें साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध में दी जाने वाली सारी दलीलों का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा में स्वयंसिद्ध नियमों की भाँति प्रचलित हैं, जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते हैं। उदाहरणार्थ एक तर्क यह कि समाज में संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य में भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं संकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दें तो भी यह तर्क बड़ा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क कितना भ्रामक है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मन-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य के सम्बन्ध में एंगेल्स के निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियों और वस्तु-निर्माताओं पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड़ रहा था। सामन्तवर्ग का अनुभव था कि अपने नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारों को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही थी, तेजी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र में इतनी भी शक्ति बाकी नहीं रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानों की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य में दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७५० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचार्यों का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फ़िख़्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष बाद जर्मनी का अन्तिम महान् तत्त्ववेत्ता हीगेल।[1]

एंगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य में गतिरोध के रूप में ही अपने को प्रतिफलित करे। यह तान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं। कई स्थलों पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियों से निर्मित होती है किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध संघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नहीं। साहित्यकार में एक सहज मानवीय संवेदना होती है, जो लोक-जीवन में व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीड़ा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज में चाहे जितना संकट हो किन्तु साहित्य में संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने में असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जड़ें उखड़ जाती हैं और जब वह एक छोटे-से दायरे में सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक हैं जो इस दायरे में आबद्ध हो गए हैं? यदि हाँ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी-साहित्य का नहीं।

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोड़कर दिनों-दिन एक सीमित दायरे में बँधता चला

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्तूबर १८४५

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया।[1] इसका कारण यह था कि वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यों के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य-सृजन का आधार मान बैठा था। जो भी उसके सीमित दायरे में नहीं आ सका, उसका उसने विरोध किया और परिणामस्वरूप हिन्दी के व्यापक जनवादी साहित्यिक वर्ग से विच्छिन्न, अपने ही वृत्त में सीमित वह एक छोटा-सा गुट रह गया, जिसमें ले-देकर सात-आठ लेखक थे बस।[2]

हिन्दी की व्यापक प्रगतिशील निर्माण-परक धारा से इनके कटकर अलग हो जाने के मूल में एक राजनीतिक विरोधाभास है। जिस दल की राजनीति इनकी प्रेरणा रही है उसकी व्याख्या के अनुसार गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातन्त्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातन्त्र्य-संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातन्त्र्य-संग्राम था। उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशों में चलने वाला वास्तविक स्वातन्त्र्य-संग्राम उसी दल के नेतृत्व में लड़ा जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु अगस्त सन् १९४७ में जो कुछ हुआ उसमें इस दल का कहीं नाम-निशान भी न था। अतः तर्क उन्हें यह बताता है कि भारत आज़ाद हुआ ही नहीं। किन्तु उनके इस भ्रमपूर्ण अयथार्थ तर्क ने उन्हें राजनीति से तो अपदस्थ किया ही, चूँकि उनके लेखक भी राजनीति से बँधे थे अतः वे साहित्य से अपदस्थ हो गए: "जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हम देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के अन्दर, जिसका नया दौर १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद शुरू हुआ, अपना राजनीतिक असर नहीं क़ायम कर सके, उसी तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी हम अपने जनवादी, साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी साहित्य-आन्दोलन के अन्दर अपना असर नहीं क़ायम कर सके।"[3]

उन्होंने अपनी यह स्थिति महसूस की। आत्मालोचन के नाम पर उनमें से दो-चार के जो साहसपूर्ण वक्तव्य आये, उनमें उनके दर्द, उनकी निराशा और उनकी अमूल्य प्रतिभा के लगातार दुरुपयोग की बड़ी वेदनापूर्ण झलक मिली। वे एक छलावे में घिर गए थे। वह सारा वातावरण साहित्य-निर्माण के लिए घातक था और महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रतिद्वन्द्विताओं से विषाक्त था। इस सम्बन्ध में श्री पूरनचन्द्र जोशी ने लिखा है: "महत्त्वाकांक्षी या नासमझ लोगों को उत्साहित किया गया, या उनका उपयोग किया गया कि वे इन संस्थाओं के नेताओं और अधिकांश कार्यकर्ताओं को नैतिक रूप से जर्जर करें।"[4] लेकिन केवल नीति बदलना पर्याप्त नहीं था। उनकी नीति का आधार इतिहास के एक बड़े तथ्य का निषेध ही था। वे भारतीय स्वतन्त्रता को सत्य नहीं स्वीकार करना चाहते थे।

---

१. हमारा आधार बिलकुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी-लेखकों से कटकर अलग जा पड़े हैं और महज़ एक गुट बनकर रह गए हैं.....यह हमारी वामपन्थी संकीर्णता ही थी जिसके कारण हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण की मुख्य धारा से कटकर अलग जा पड़े। (अमृतराय—'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'; पृष्ठ ८, ९)

२. आज समूचे हिन्दी-साहित्य के पैमाने पर प्रगतिशील लेखक का मतलब होता है रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पहाड़ी, अमृतराय, नागार्जुन, केदार, शंकर शैलेन्द्र.....और बस! (वही—पृष्ठ ९)

३. वही—पृष्ठ ३५

४. 'फ़ॉर ए मास पीपिल्स'—पृष्ठ १०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे किसी भावी कल्पित क्रान्ति पर अपनी आस्था जमाना चाहते थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उनके नेताओं की विफलता और इतिहास तथा साहित्य से उखड़ती हुई उनकी जड़ें, इन दोनों ने उनके मन में एक भयानक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया था। इस अन्तर्विरोध का शमन करने के लिए भी उनके सामने एक निषेधात्मक धारणा थी—यथार्थ का निषेध, भारतीय जनवादी संग्राम की विजय का निषेध; और केवल निषेध पर आधारित रहकर आज तक कोई भी, कभी भी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर पाया है।

इस निषेधात्मक स्थिति से खिन्न होकर हिन्दी की प्रमुख निर्माणात्मक साहित्य-धारा से सम्बद्ध होने के लिए उन्होंने 'न्यूनतम कार्यक्रम' का सुझाव रखा, जिसके आधार पर वे अन्य बहुसंख्यक जनवादी लेखकों के साथ मिलकर अपने गतिरोध से मुक्त हो सकें। लेकिन साहित्य में 'न्यूनतम कार्यक्रम' को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति में कभी-कभी मिल जाती है। यहाँ 'न्यूनतम कार्यक्रम' के अर्थ हैं दो-चार ऐसे विषय, या दो-चार ऐसी मान्यताएँ, जिन पर सब एकमत हो सकें। लेकिन विराट् मानव को, अगणित दृष्टियों से मापने वाला उच्च स्तर का, विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो-चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिए गए हों। यह धारणा जितनी हास्यास्पद है, यह अवस्था उतनी ही दयनीय। दो वर्षों के आत्मालोचन के बाद भी उनका संकट ज्यों-का-त्यों है। वे एक संकीर्णता से छूटते हैं तो दूसरी में जा उलझते हैं। श्री अमृतराय के कथन से हम सहमत हैं कि वे संख्या में बहुत नहीं हैं, किन्तु उनका संकट शायद सबसे तीखा और दर्दनाक है, और यह स्वाभाविक है कि रह-रहकर उन्हींके बीच से गतिरोध की आवाज उठे!

एक दूसरे प्रकार का गतिरोध उन लेखकों के मन में है जो सिद्धान्त, मान्यता, रचना, कर्म प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी हैं। इनमें से कुछ तो पुनरुत्थानवादी हैं। पुनरुत्थानवाद किसी देश के पुनर्जागरण-युग का पहला चरण होता है। प्रारम्भ में सांस्कृतिक नवजीवन के लिए सहायक होता है, परन्तु बाद में रास्ते की अड़चन बन जाता है। अर्द्धशताब्दी पूर्व जो नई चेतना देश में आई, आज उसमें पाश्चात्य-पूर्वीय सांस्कृतिक धाराएँ पचकर एक हो गई हैं। आज जब इसका अवसर आया है कि हिन्दी का वर्तमान साहित्यकार इस संकुचित भूमि को छोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सन्तुलित दृष्टिकोण के आधार पर निर्माण करे तो निश्चय ही यह निरर्थक विवाद, साहित्य-सृजन की शक्ति को क्षीण करेगा। वस्तुतः यह दृष्टिकोण नये सिरे से साहित्य में नये रास्तों की खोज के विरुद्ध ही है। जाहिर है कि इन्हें न अतीत ही मिल पाता है, न वर्तमान ही; और भविष्य की ओर तो ये आँखें उठाकर देखते भी नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ अति आधुनिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने वास्तविकता के आगे घुटने टेक दिए हैं और व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता को ही सबसे उपादेय सत्य स्वीकार कर चुके हैं। इनमें सोचने की क्षमता तो है, परन्तु इच्छा और साहस नहीं। भँवर की प्रतिक्षण नीचे ले जाने वाली गति ही इनके लिए आकाश की उड़ान है। यही वर्ग है, जो पाश्चात्य पतनशीलता के सबसे निकट है।

परन्तु ये दोनों ही स्वर हिन्दी के प्रमुख स्वर नहीं हैं। इन दोनों के ऊपर विशाल निर्घोष की तरह फैलता हुआ हिन्दी के अधिकाधिक साहित्यकारों का एक तीसरा स्वर है, जिसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामने उचित प्रतिभा होने पर कोई गतिरोध नहीं है। इस स्वर में विविधता है, वैचित्र्य है और अपना-अपना अनुभूत सत्य है। किसी योजना में समन्वित 'म्यूज़िक कन्सर्ट' की तरह उनकी आवाज में प्रत्यक्ष अथवा प्रतिबाधित एक-सूत्रता नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है। फिर भी, कहीं दूर से गुज़रने वाले विशाल जुलूस के विभिन्न स्वरों में जो एक हल्का किन्तु निश्चित सामंजस्य होता है, वही इस व्यापक प्रगतिशील वर्ग की वाणी में है। इस वाणी का आधार किसी भी विशेष दल की चलायमान नीति न होकर भारतीय जनता का सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रति वह महान् अभियान है जो आज एशिया, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका के विशाल महाद्वीपों के समकालीन इतिहास को प्रभावित कर रहा है। इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है जिसने आज दोनों शिविरों के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीड़ा, संकट, दारिद्र्य और दुःख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमें इन नये लेखकों की अटूट आस्था है। वे लोग, जो हिन्दी की इस नई चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभरकर आई है जिसने सन् ४२ में विश्व के महान् साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वही पीढ़ी आज दस वर्ष बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिए अर्पित कर रही है। उसका अदम्य उत्साह निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किंतु रक्त-पात में अन्धी होकर मानव-मूल्यों का विस्मरण नहीं किया है।

वास्तव में आकलन में भूल तब होती है जब हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत् उस रूप में प्रभावित ही हुई जिस रूप में यूरोप प्रभावित हुआ। हमारे लिए ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, भारत का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व और गांधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति और भारतीय जनता का दुःख अधिक निकट के सत्य हैं जिन्होंने नई पीढ़ी की चेतना में जहाँ एक ओर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के प्रति पीड़ा जाग्रत की है, वहीं अपनी जनता के भविष्य के प्रति एक अदम्य आस्था और विश्वास भी जगाया है। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है, वरन् हद दर्जे की निराशावादिता है। साहित्यिक चेतना को इतिहास के मानदण्डों पर कसने वाले को यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि युद्ध के बाद का भारत आजाद, प्रजातान्त्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था, हताशा और भ्रम-विच्छेद के युग से नहीं गुज़र रहे हैं, हमारी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ी नहीं हैं वे और भी गहरी पैठ रही हैं, ऊपर की पुनरुत्थानवादी पर्त को तोड़कर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्त्वों तक पहुँच गई है। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हम फिर वही वाक्य दोहराना चाहेंगे कि हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।

किन्तु इस नई आस्था ने इन लेखकों की आँखों के सामने किसी विभ्रममय, काल्पनिक,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवैज्ञानिक स्वप्न-लोक का सृजन नहीं किया है। इस नई आस्था ने उन्हें एक नूतन यथार्थ के प्रति जागरूक बनाया है। वे अभाव से पीड़ित किन्तु राजनीतिक दासता से मुक्त भारतीय जनता की पीड़ा भी पहचानने का प्रयास कर रहे हैं और साथ ही उसकी प्रगति और उसकी मुक्ति में उनका अदम्य विश्वास भी है। यद्यपि यह भी ठीक है कि उन सब-की प्रतिक्रिया एकरूप नहीं है, क्योंकि वे दलानुशासित नहीं हैं। अभाव और प्रगति की इस मिली-जुली स्थिति से प्रत्येक साहित्य-कार अपने ढंग से, अपनी रुचि से सत्य और सौन्दर्य के तत्त्व ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। किसी में विद्रोह का स्वर तीखा है, किसी में निर्माण का। पर आस्थावान वे सब हैं। यही नहीं, वरन् उनकी आस्था उस क्षण के वर्तमान में भी सजीव है। वे भविष्य की किसी अघटित घटना की प्रतीक्षा में हाथ-पर-हाथ धरे नहीं-बैठे हैं। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय एकता और जनवादी संस्कृति के पुनर्निर्माण की जो नींव पड़ेगी उसका समय आज ही है, किसी परिकल्पित क्रान्ति के बाद नहीं। इन लेखकों का विश्वास है कि जनतन्त्र की स्थापना का जो प्रयोग हमारे देश में किया जा रहा है, तमाम दोषों के बावजूद भी वह शुभ है और सही रास्ता है। नये विकास की शक्तियों को पूरी तरह आगे बढ़ने का पूरा अवसर नहीं मिल पाया है। इसके कई सामाजिक और राजनीतिक कारण हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि वे शक्तियाँ हैं ही नहीं या इतनी शक्तिहीन हैं कि मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी वर्ग कोई ऐसा षड्यन्त्र कर बैठे कि आगे का रास्ता ही रुक जाय। सबसे मुख्य बात यह है कि इन लेखकों को जनता की प्रजातन्त्रवादी निर्णयात्मक शक्ति पर पूरा भरोसा है कि अपनी सामूहिक आवाज से वह अपना पथ-निर्देश कर सकती है। इसके लिए किसी अभिजात्य वर्ग की आवश्यकता नहीं, जो तानाशाही स्थापित करके उसे भेड़ की तरह हाँके। आज के सांस्कृतिक प्रयास का ध्येय जनतन्त्र एवं नवजीवन में सार्थकता लाने का है। इसीलिए साहित्य का स्वर विधेयात्मक होगा, ध्वंसात्मक नहीं। यही नहीं वरन् राज-नीतिक दलों द्वारा विकीर्ण असहिष्णुता का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता, हिन्दी-भाषा के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रश्न पर सभी लेखक एक हों, जो किसी कारण से मुख्य धारा से कट गए हैं उन्हें भी अपने विशाल वृत्त में समेट लिया जाय, यह हमारा गुरुतर दायित्व है। दलानु-शासित लेखकों का भी राजनीतिक पूर्वग्रह कुछ भी हो, उनका अनुभूत सत्य व्यापक प्रगतिशील चेतना से अलग नहीं है। इस विश्वास के यथेष्ट प्रमाण हैं कि अधिकतर साहित्यकार इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे हैं। एक तरफ तो भाषा को अधिक लचीली और शक्तिशाली बनाने का भारी काम है, दूसरी ओर एक आशामय मानवतावाद द्वारा जन-जीवन की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करने का प्रश्न है।

जिन लेखकों के सामने भावभूमि और भाषा का इतना बड़ा अविजित साम्राज्य पड़ा हो उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या? उन्हें तो सब-कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्ध

शम्भूनाथसिंह

महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या

महाकाव्य का उदय मानव-समाज के इतिहास की उस मंजिल पर हुआ जब कि सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और जब मानव मुख्यतया कबीलों और जातियों में विभाजित था। ऐसे समाज की कलात्मक अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में हुआ करती है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत वीरता और साहसपूर्ण कार्यों के लिए स्थान होते हुए भी व्यक्तिवाद का विकास नहीं दिखाई देता। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से समाज के विकास की इस मंजिल को वीर-युग (Heroic age) कहा जाता है। यह युग प्रत्येक जाति के इतिहास में कभी-न-कभी अवश्य आता है। अतः समाज के जीवन की यह युवावस्था होती है, जिसमें बौद्धिक विकास और सामाजिक संगठन तो अधिक नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु भावनाओं की तीव्रता और मानवीय प्रयत्नों का प्रारम्भिक सशक्त प्रयत्न अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है, जिसमें सबल निर्बल के ऊपर और जवान वृद्ध के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समाज में बाहु-बल और शस्त्र-चालन की दक्षता से ही व्यक्ति समाज का नेतृत्व प्राप्त करता है, और अवस्था की प्रौढ़ता अथवा अनुभव-वृद्धता को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। सारांश यह है कि इस समाज में युद्धों में व्यक्तिगत वीरता का ही महत्त्व है, सामूहिक वीरता अथवा सैन्य-शक्ति का नहीं; क्योंकि युवकों की प्रबल शारीरिक शक्ति तथा महान् साहस और उद्योग से ही युद्ध जीते जाते हैं। ये वीर महत्त्वाकांक्षी, विजय के विश्वासी, अभिमानी और ख्याति के इच्छुक होते हैं। सभी प्रारम्भिक महाकाव्यों में वीरता का यही स्वरूप दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए 'महाभारत' को ले सकते हैं। महाभारत की कथा मुख्यतया अर्जुन और कर्ण, भीम और भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि की व्यक्तिगत वीरता की कथा है। इसी प्रकार अन्य महाकाव्यों में भी राष्ट्रीय अथवा जातीय शक्ति और सामूहिक वीरता से अधिक महत्त्व व्यक्तिगत वीरता को दिया गया है। इस प्रकार यह युग व्यक्तिगत वीरता का युग है।

इस युग तक पहुँचने में समाज को विकास की अन्य कई मंजिलें पार करनी पड़ी होंगी। महाकाव्य का जो स्वरूप वीर-युग में दिखलाई पड़ता है, उसका पूर्वरूप पिछले युगों की सामाजिक परिस्थितियों और उनमें विकसित होने वाली कविता में खोजा जा सकता है। वीर-युग के पूर्व प्रत्येक समाज को बर्बरता की अवस्था से गुजरना पड़ा था; उस अवस्था में विचार, भावनाएँ, धर्म और सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त उलझे रूप में होते थे, किन्तु सबका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

था। उस अवस्था में व्यष्टि-भावना का अभाव था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक रूप था, उसे अलग अपनी व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान नहीं था। वह अपने में ही समाज का एक लघु रूप था। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों में दृढ़ व्यक्तित्व का अभाव होना स्वाभाविक था। कबीलों को ऐसे दृढ़ व्यक्तित्व से सदैव खतरा रहता था। अन्य कबीलों अथवा जातियों के हमलों तथा उनसे सम्पर्क होने से वैयक्तिक भावना का विकास हुआ। ऐसा होने पर व्यक्ति की चिरकाल से दबी हुई सत्ता उन्मुक्त हो गई। परिणामस्वरूप समाज अपने विकास की उस मंजिल पर पहुँचा जिसे वीर-युग कहते हैं। इस नये युग की भावनाओं की अभिव्यक्ति वीरगीत और महाकाव्यों के रूप में हुई। किन्तु ये काव्य बिलकुल नवीन और परम्परा से विच्छिन्न नहीं थे, वस्तुतः वे पिछले युगों की कविता के ही विकसित रूप थे। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उक्त पिछले युगों की कविता का स्वरूप क्या था, जिससे महाकाव्य का विकास हुआ।

आदिम काव्य

मनुष्य-जाति ने अपनी आदिम अवस्था में किस प्रकार की काव्यात्मक रचना की थी इसका कोई प्रमाण आज हमारे पास नहीं है, क्योंकि उसका कोई लिखित स्वरूप नहीं था। किन्तु उसको जानने का एक प्रमुख साधन यह है कि आज भी जो जातियाँ अपने विकास की आदिम अवस्था में हैं, उनमें प्रचलित गीतों और उनकी भाषा का अध्ययन किया जाय। उनके गीतों को अच्छी तरह तभी समझा जा सकता है जब कि उनके समाज की कुछ जानकारी हमें हो। उन जातियों में कविता का कोई अलग स्थान नहीं था, वह सामाजिक उत्सवों के अवसर पर अथवा अतिशय प्रसन्नता या दुःख की अभिव्यक्ति के क्षणों में जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, बलिदान, गीत, नृत्य आदि के साथ मिली-जुली रहती थीं। वस्तुतः जादू-टोना और मन्त्र-तन्त्र आदिम मानव की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अचेतन कामना की बाह्य अभिव्यक्ति थे। उनके उत्सवों के मूल में भी यही बात है। कला की उत्पत्ति आदिम मनुष्य की इसी संघर्ष-शक्ति-भावना का परिणाम है। आज भी आदिवासी जातियाँ वर्षा की कामना करती हैं, तो इस प्रकार के नृत्य का आयोजन करती हैं जिसमें उमड़ते-घुमड़ते बादलों और बरसती हुई बूँदों की भावाभिव्यक्ति होती है। खेत बोने के पूर्व अच्छी फसल के लिए जानवरों का बलिदान भी किया जाता है, चिकित्सा की जगह जादू और मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इन जातियों में सामूहिक रूप से शिकार खेलने, कार्य करने, और उत्सव मनाने की भी प्रथा होती है और ऐसे अवसरों पर अपनी भावनाओं की वे सामूहिक कलात्मक अभिव्यक्ति करती हैं।

समाज का कुछ और विकास होने के बाद, जब कि मनुष्य ने उत्पादन के साधनों का कुछ विकास कर लिया था, व्यक्ति अलग-अलग काम करने लगे; किन्तु सामूहिक भावनाएँ अभी भी बनी रहीं और उनकी अभिव्यक्ति कलात्मक या प्रतीकात्मक रूप में होती रही। कार्य करने के पूर्व या उपरान्त नृत्य या गीत आदि का आयोजन इसी अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाई पड़ता है। इन कलाओं में भी जादू-टोने-जैसा ही चमत्कारिक प्रभाव होता है। साधारणतया भाषा में नित्य के व्यवहार की तथा काव्यात्मक यह दो प्रकार की शैली बराबर दिखलाई पड़ती है। इस काव्यात्मक शैली का व्यवहार नृत्य, संगीत, उत्सव, मन्त्र-तन्त्र आदि के अवसरों पर हुआ करता है। तात्पर्य यह कि तीव्र मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए आदिम जातियों का प्रत्येक व्यक्ति काव्यात्मक और विशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है। इसका अर्थ यह है कि काव्य की भाषा (जिसमें संगीतात्मकता,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लय, तुक और कल्पनाशीलता अधिक होती है) नित्य व्यवहार की भाषा से अधिक आदिम है। इसीलिए आदिम जातियों की बोल-चाल की भाषा और काव्यात्मक भाषा में अधिक अन्तर नहीं होता। बहुधा उनकी सामान्य बोल-चाल की भाषा भी लययुक्त, संगीतात्मक और कल्पनायुक्त होती है। उनमें प्रचलित गीत ही उनकी कविता के प्राप्त उदाहरण हैं, जिनमें उनके लिए जादू का ही प्रभाव होता है। इस काव्य में संगीत का उद्देश्य बाह्य जगत् अथवा प्रकृति में परिवर्तन उपस्थित करना होता है। कल्पना में ही आदिम जातियाँ अपने इच्छित सत्य को प्राप्त करना चाहती हैं, जिसका परिणाम उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इन अभिव्यक्तियों से उन्हें मानसिक शक्ति प्राप्त होती है और अन्ततः वे बाह्य जगत् को परिवर्तित करने में सफल होती हैं। इस प्रकार आदिम जातियों की कविता का जन्म जादू-टोने से ही हुआ है। कवि असम्भाव्य की कामना आखिर क्यों करते हैं? इसीलिए तो कि वे असम्भव को भी सम्भव बनाना चाहते हैं। कविता का यही प्रधान कार्य है और यह जादू-टोने का ही प्रभाव है। इससे मनुष्य में मानसिक शक्ति और सन्तुलन उत्पन्न होता है और वह यथार्थ का सामना करने के लिए अधिक सशक्त हो जाता है।

श्रम-विभाजन के बाद

समाज में श्रम-विभाजन प्रारम्भ होने के बाद सामूहिक भावनाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। ऐसे समाज में सरदार, पुरोहित और कुलीन-वर्ग के लोगों का प्राधान्य हो जाता है, अतः भावनाओं की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में न होकर व्यक्तिगत रूप में होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति तब समाज का लघु-रूप नहीं रह जाता, उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कविता जादू-टोने और नृत्य-संगीत से विच्छिन्न होकर कुलीन व्यक्तियों और देवताओं का चित्रण करने लगती है; सामूहिक गीत, वीर गीतों और महाकाव्यों का रूप धारण कर लेते हैं, सामाजिक आख्यान व्यक्तिगत आख्यानों के रूप में बदल जाते हैं; और अन्त में कविता व्यक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति—गीत-काव्य—बन जाती है। किन्तु इस अवस्था में भी परम्परा का सर्वथा त्याग नहीं होता, यद्यपि सामूहिक श्रम से अलग हट-कर कविता विश्राम और एकान्त के क्षणों की वस्तु बन जाती है। फिर भी, सामूहिक संगीतात्मक काव्य का रूप-शिल्प, उसमें बहुत-कुछ पूर्ण-सा ही बना रहता है। उदाहरण-स्वरूप सामूहिक गीतों कुछ विशेष शब्दों और पंक्तियों की आवृत्ति की शैली बाद के वीर-गीतों में भी दिखलाई पड़ती है। प्रारम्भिक सामूहिक गीतों में नृत्य और वाद्य का योग रहता था। वीर-युग के वीर-गीतों में भी नृत्य और संगीत का कुछ सहयोग अवश्य बना रहा और उनके रूप-विधान में तुक, लय-तत्त्व और कल्पनाशीलता भी पूर्ववत् ही दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः वीर-गीत का मूल रूप एक प्रकार का नृत्य ही था। जार्ज टामसन के कथनानुसार यूरोप के कुछ भागों में कुछ वीर-गीत आज भी नृत्य रूप में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में काव्य, संगीत और नृत्य का मूल रूप एक ही था, किन्तु समाज के विकास के साथ-साथ ये तीनों अलग-अलग कलाओं के रूप में विकसित हुए। वीर-गीतों में इन तीनों का एक सीमा तक मिश्रण दिखलाई पड़ता है। गीति-काव्य (lyric) भी प्रारम्भ में वाद्य-यन्त्र (lyre) के साथ ही गाया जाता था, बाद में उसका सम्बन्ध लायर से विच्छिन्न हो गया।

पहले कहा जा चुका है कि आदिम जातियों की भाषा में काव्यात्मकता बहुत अधिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होती है, एक तरह से उसमें प्रत्येक व्यक्ति कवि होता है। समाज के श्रम-विभाजन के बाद ही कवि, गायक अथवा काव्य-पाठ करने वालों का स्थान अलग दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल और मध्य काल में भी कवि अपने समाज से भिन्न नहीं था। श्रोताओं और कवि के बीच में शिक्षा तथा संस्कृति की दीवार नहीं थी, परिणामस्वरूप उसकी भाषा और शैली भी श्रोताओं की भाषा-शैली से भिन्न न थी। उसमें और अन्य लोगों में भिन्नता इतनी ही होती थी कि उसे आशु कविता करने और पुरानी कविता का पाठ करने का अभ्यास अधिक होता था, परिणामस्वरूप प्राचीन लोक-गीतों और लोक-आख्यानों के रचयिता अज्ञात होते थे। ये कविताएँ नित्य-प्रति उद्भूत होतीं और समाज में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक युग से दूसरे युग तक यात्रा करती थीं। इस यात्रा के बीच उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार, शैली तथा विचारों-भावनाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। इस प्रकार उनमें बहुधा कलात्मक उत्कृष्टता नहीं रहती थी। वस्तुतः ये व्यक्ति की नहीं पूरे समाज की रचनाएँ होती थीं और आज भी अपढ़, किसान-मजदूरों और आदिवासी जातियों के बीच इसी रूप में प्रचलित दिखलाई पड़ती हैं। समाज में व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र हो जाने तथा सभ्यता के प्रसार के बाद ही अलग-अलग कवियों की रचनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। आदिम जातियों के कवि सचेत रूप से अलग-अलग काव्य-रचना नहीं करते थे बल्कि प्रत्येक कवि गायक या वाचक होता था और श्रोतागण भी उसके साथ ही काव्य-रचना में सहयोग करते थे। वस्तुतः वह कविता लिखता नहीं गाता था, उसकी रचना नहीं करता था बल्कि अचेतन रूप से उसके मुख से कविता निकलने लगती थी, बिना श्रोताओं और सहयोगियों के वह यह कार्य नहीं कर सकता था। उसके श्रोता और साथी भी अपने 'स्व' से मुक्त होकर उस काव्य लोक में पूर्ण रूप से रम जाते थे। यह परम्परा तब तक चलती रही जब तक वीर-गीतों, लोक-आख्यानों आदि में सामूहिक भावना का योग बना रहा। सभ्यता के विकास के साथ तथा श्रम-विभाजनयुक्त वर्ग-समाज की स्थापना के बाद उच्च शिक्षित वर्ग के बीच से यह परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती गई।

महाकाव्यों का उद्भव इन्हीं लोक-गीतों, लोकाख्यानों और वीर-गीतों से हुआ है। जैसा कहा जा चुका है कि वीर-युग के पूर्व के समाज में कविता गीत-नृत्य आदि से भिन्न नहीं थी और कवि की सत्ता भी समाज से अलग नहीं थी, प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक कवि था। वीर-युग में यह स्थिति बदल गई, सामूहिक गीतों के अगुआ ही इस युग में गायक, व्याख्याता अथवा व्यास बन गए। यूरोप में इन्हीं लोगों से चारणों (bards) की अलग जाति ही बन गई, भारत में भी सूत, मगध, बन्दी, चारण आदि की परम्परा सम्भवतः इसी स्रोत से निकली। वीर-युग की परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ही चारणों और कवियों को उत्पन्न किया। बर्बर-युग में कबीले या जातियाँ अपने सामाजिक संगठन की सतत रक्षा करती रहती थीं फिर भी उन पर तरह-तरह की विपत्ति और संकट उपस्थित होते ही रहते थे। अन्य कबीलों और जातियों से युद्ध होते थे; विजय और पराजय दोनों ही के बाद रक्त का, आचार-विचार आदि का मिश्रण अथवा आदान-प्रदान होता था। मिश्रण से नई जातियाँ बन जाती थीं, बहुधा दैवी विपत्तियों—सूखा, अकाल आदि के कारण या दूसरी जातियों द्वारा अपने मूल स्थान से भगा दिए जाने के कारण ये जातियाँ दूसरे स्थानों पर जातीं और वहाँ की जातियों या कबीलों से संघर्ष करतीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथवा सम्पर्क स्थापित करती थीं और जीने के लिए नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालती थीं। इस सम्पर्क, संघर्ष और मिश्रण का उनकी बर्बर सामाजिक व्यवस्था पर गहरा धक्का लगता था, वह टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती थी और नवीन व्यवस्था को स्थान देती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे आदिम बर्बर-व्यवस्था की जगह वीर-युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें व्यक्ति अपनी अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बन्धनों को तोड़कर सामने आया। इसी युग में सामन्त-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का उदय हुआ और समाज पेशे और कर्म के आधार पर विभिन्न वर्गों, जातियों और उपजातियों में बँटने लगा। पुरोहितों, राजाओं और चारणों या कवियों के वर्ग का उदय इसी काल में हुआ। महाकाव्य के उद्भव से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनके—विशेषकर चारणों के—सम्बन्ध में यहाँ विशेष रूप से विचार कर लेना उचित है।

वीर-युग और चारण

वीर-युग, बर्बर समाज-व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंज़िल है। समाज की रक्षा की भावना और जीने की आवश्यकता ने विवश किया कि इस युग में व्यक्ति अपनी शक्ति और साहस का परिचय औरों से भिन्न रूप में दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार योद्धाओं और वीरों की अलग श्रेणी बन गई और राजतन्त्र या सामन्त-तन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें "वीर भोग्या वसुन्धरा" का नियम स्वभावतः लागू हो गया। युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने वाला और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीलों का नेता या सरदार बना और मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने तथा मिथ्या विश्वासों का विशेषज्ञ पुरोहित या धार्मिक नेता बन गया। पहले कहा जा चुका है कि बर्बर-युग के आचार-विचार, गीत, नृत्य सभी उलझे हुए और परस्पर अविभाज्य थे। इस युग में श्रम-विभाजन के कारण वे अलग-अलग हो गए। इस तरह पुरोहित-वर्ग ने जाति के विश्वासों और मन्त्र-तन्त्र के आधार पर धर्म का विकास किया और गायकों, कवियों तथा चारणों ने उसी स्रोत से संगीत, कविता एवं पुराण-आख्यान का विकास किया। इस प्रकार युद्ध, धार्मिक कृत्य, संगीत, नृत्य, काव्य, कला, प्रारम्भिक विज्ञान आदि का स्वरूप अलग-अलग स्थिर हो गया। किन्तु सभी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। यह अवश्य है कि विभिन्न देशों और जातियों में इन सम्बन्धों का स्वरूप भिन्न-भिन्न था। यूरोपीय देशों में लौकिक कृत्यों पर धर्म का प्रभुत्व अधिक नहीं था, पर भारत में धर्म का प्रभुत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक था। वीर-युग के प्रारम्भिक काल में धर्म का यह प्रभुत्व सम्भवतः उतना अधिक नहीं था पर बाद में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग का महत्त्व निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ गया था। इस तरह राजन्य-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का वीर-युग में सर्वाधिक प्रभाव था और संगीत, नृत्य, कविता आदि को इन्हीं का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। कविता को चारणों और गायकों (सूत-मागध आदि) के माध्यम से सरदार, सामन्त अथवा राजा का आश्रय प्राप्त हुआ और धर्म प्रत्येक कार्य में उसका सहायक बना। राजा-पुरोहित और कवि-गायक का यह सम्बन्ध प्राचीन वीर-गीतों और महाकाव्यों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; वस्तुतः महाकाव्य का प्रारम्भ इन्हीं तीनों वर्गों के समान योगदान द्वारा हुआ; यह अवश्य है कि सामान्य जनता ने (जो अब पुरोहित और चारणों के वर्ग से भिन्न होकर श्रोता या दर्शक बन गई थी) इस प्रकार के काव्य में रस लेकर उसे प्रोत्साहित किया। इसका कारण यही है कि वीर-युग में यद्यपि व्यक्तिगत वीरता और शक्ति का सम्मान बढ़ गया था और महाकाव्य में इन्हींको नायक के रूप में अपनाया गया,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु पौराणिक विश्वासों का स्थान सामान्य जनता के हृदय में बहुत-कुछ पहले-जैसा ही बना रहा और महाकाव्यों में उसकी अभिव्यक्ति भी हुई।

विकसित मूल महाकाव्यों (Authentic epics) का प्रारम्भ और विकास करने वाले अधिकतर चारण (bards) अथवा सूत, मागध, बन्दी आदि ही थे। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। कहा जा चुका है कि बर्बर-युग में ये वर्ग नहीं थे, वीर-युग में ही इनका विकास हुआ। वीर-युग के प्रारम्भ होने के साथ ही इन वर्गों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और न महाकाव्य ही रच डाले गए। व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र होने और उसके बल-वीर्य की महत्ता स्वीकृत होने पर स्वभावतः सामूहिक रूप में ही वीर-गीतों (ballads) का विकास होने लगा। बर्बर-युग के पौराणिक विश्वासों का स्थान इस युग में धर्म ने ले तो लिया किन्तु लोक-गीतों और लोक-विश्वासों में पौराणिक अवस्था पूर्ववत् बनी रही। किसी वीर की ख्याति फैलते ही उसके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति और कल्पना का उपयोग किया जाना स्वाभाविक है, विशेषकर उस काल में, जब कि न तो लिखने की प्रथा प्रचलित थी और न इतिहास का स्वरूप ही बन पाया था। इस तरह वीरों के सम्बन्ध में निजन्धरी (legendary) कथाओं का प्रचलन हो गया। ये सभी (वीर-गीत, पुराण, इतिहास, निजन्धरी कथा) प्रारम्भ में समाज की सामूहिक रचना के रूप में थे, और अधिकतर लोगों को उनकी जानकारी रहती थी; किन्तु जब उनकी मात्रा और संख्या बढ़ने लगी और श्रम-विभाजन के कारण, सबके लिए सब बातों का जानना सम्भव और आवश्यक नहीं रह गया तो कुछ लोगों ने ही इसमें अभ्यास द्वारा विशेषज्ञता प्राप्त की। प्रधानतया ये लोग उस श्रेणी के थे जो बर्बर-युग में समवेत गीतों के अगुआ या मन्त्र-तन्त्र के विशेष अभ्यासी होते थे। समवेत गीतों का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया और अगुआ ही अकेला गाने लगा। बहुधा वह किसी वाद्य-यन्त्र के साथ गाता था। वाद्य-यन्त्र (जैसे लायर, वीणा, ढोल आदि) के साथ गाने की प्रथा भी बहुत दिनों तक चलती रही, पर बाद में वाद्य-यन्त्र की संगत संगीत के लिए ही मान्य हो गई और वाद्य-यन्त्र से रहित शुद्ध मौखिक गीत ही कविता के रूप में बदल गए। आज भी लोक-गीतों में कविता और वाद्य-यन्त्र का साथ बराबर दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में 'आल्हा' एक वीर-गीत है, जो हमेशा ढोलक पर गाया जाता था। यूरोप में चारण लोग लायर (वीणा) के साथ वीर-गीतों का गान या पाठ करते थे। भारत में प्रसिद्ध पौराणिक गायक नारद ऋषि की वीणा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन चारणों और गायकों, व्यासों और कथावाचकों ('कथकाः') ने वीर-गीतों, पुराण-इतिहासों, आख्यानों और निजन्धरी कथाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाया। कालान्तर में उनके वंशजों का अलग वर्ग या जाति ही बन गई और उनके द्वारा विकसित आख्यानक काव्य महाकाव्य के रूप में बदल गए।

वीर-युग सामन्त-तन्त्र का युग था, जिसमें शासन करने वाला ही सबसे योग्य समझा जाता था। यद्यपि इस युग में सक्रियता बहुत थी, और वीरों को युद्ध करके अपनी योग्यता सिद्ध करना आवश्यक था फिर भी इस युग में कुछ वर्गों—विशेषकर पुरोहित और गायक वर्ग के पास अवकाश भी बहुत था। इस वर्ग के लोग अपने अवकाश के समय में अपने युग अथवा अपने वीरों की कीर्ति-कथा का गान करते थे। इस प्रकार वीर-गीतों की रचना होने लगी। ये वीर-गीत इतिहास नहीं होते थे, उनमें कल्पना और पौराणिकता का पर्याप्त योग रहता था। राज-दरबारों में इन गीतों और उनके गायकों का सम्मान होता था। धीरे-धीरे ये गायक और चारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दरबारों के लिए आवश्यक हो गए और प्रत्येक सरदार या राजा के आश्रय में कोई-न-कोई चारण-कवि रहने लगा, जिसका काम अपने आश्रयदाता की विजय और वीरता की प्रशंसा में काव्य-रचना करना और इस तरह उसका सम्मान बढ़ाना था। इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा चारण-कवियों द्वारा आगे बढ़ाई जाने लगी। जब युद्धों के कारण ये दरबार समाप्त हो जाते थे तो चारण कवि अपने समकालीन राजाओं की प्रशंसा न करके पुराने राजाओं की कीर्ति के आधार पर निजन्धरी-कथाओं का निर्माण करके उनको गाते थे।

उन राजाओं के वंशज अपने पूर्वजों से सम्बन्धित आख्यानक-गीतों का बहुत सम्मान करते थे और इस तरह चारण-कवियों को आश्रय मिलता रहता था। ये चारण-कवि बहुधा पुराने गीतों का गान करते और आशु काव्य-शक्ति द्वारा आवश्यकतानुसार पुराने गीतों में कुछ-न-कुछ अपनी नई रचना भी मिलाते रहते थे। इस प्रकार वीर-गीतों के अनेक चक्र बनते गए। सम्भवतः एक चक्र की अनेक गाथाओं के मिश्रण और संश्लेषण से महाकाव्यों का रूप निर्मित हुआ। ये वीर-गीत न तो कोरे शुष्क इतिहास होते थे और न अलंकृत काव्य। उनमें वीरों की कीर्ति का छन्दोबद्ध वर्णन होता था जिससे ये गीत श्रोताओं को सहज ही में याद हो जाते थे और उनमें गेयता भी आ जाती थी। चारणों द्वारा मौखिक रूप से इनका प्रचार होता रहता था। किन्तु सभी लोगों का उन पर सहज अधिकार नहीं रहता था। चारणों के वंशजों को ये गीत और गीत-रचना की प्रतिभा उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होती थी। नई पीढ़ी के चारण अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त गीतों को अपने श्रोताओं और आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप नया रूप-रंग प्रदान किया करते थे यद्यपि गीतों की मूल सामग्री बहुत-कुछ पुरानी ही रहती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे ये गीत अधिकाधिक अतिशयोक्तिपूर्ण और आश्चर्य-चकित करने वाले होते गए, क्योंकि इससे श्रोताओं का ध्यान आकर्षित होता था। लिखने की प्रथा न होने से इन गीतों का मूल प्राचीन रूप सुरक्षित नहीं रह सकता था; अगर लिखने की कला ज्ञात होती तो भी चारण इस कला को रहस्यमय बनाकर ही लिखते, क्योंकि इसी पर उनके जीवन-यापन की समस्या निर्भर करती थी। कुछ पीढ़ियों के बाद ही उन गीतों का स्वरूप बहुत-कुछ बदल जाता था, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के चारण अपने बाप-दादों से ही उन्हें प्राप्त करते थे, उससे पूर्व उन गीतों का क्या रूप था इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता था।

इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही और किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। हिन्दी में जगनिक का 'आल्हखण्ड' ऐसा ही वीर-गीत है जो अपने मूल रूप को बहुत-कुछ खो चुका है। उसे गाने वाले अब चारण-कवि नहीं बल्कि सामान्य जनता के गायक होते हैं जो ढोलक पर उसे गाते हैं और उसमें कल्पित आख्यान जोड़ा करते हैं। मैं स्वयं एक ऐसे आल्हा गाने वाले को जानता हूँ जिन्होंने मुझे बताया था कि जैसे आजकल कहानी-उपन्यास लिखे जाते हैं उसी प्रकार वे मूल कथा के आधार पर नई घटनाओं और उप-कथाओं का वर्णन आशु रूप से गाते समय करते जाते हैं। यही बात पुराने चारणों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। अतः इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि किसी वीर की छोटी-सी और कम महत्त्व की कथा भी कुछ पीढ़ियों बाद चारणों की आशु काव्य-प्रतिभा के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, आश्चर्यजनक और जातीय महाकाव्य का रूप धारण कर ले, सभी पुराने विकसित महाकाव्यों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। इलियड और महाभारत की बात छोड़ दें, मध्य काल की रचना 'पृथ्वीराज-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रासो' ही को लें तो उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। इतना तो सर्वमान्य है कि सूतों, मागधों के इतिहास का पुराण-इतिहास-आख्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती वैदिक साहित्य में कई जगह इतिहास-पुराण को वेद के बराबर महत्त्व दिया गया है और उसे पंचम वेद तक कहा गया है, और अथर्ववेद के बाद ही उसकी गणना हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संहिताओं की तरह इतिहास-पुराण की संहिता भी रही होगी, जो बाद में पुराणों और महाकाव्यों के रूप में विकसित हुई। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी ऐतिहासिक और पौराणिक थे, जिन्हें 'वायु पुराण' और 'पद्म पुराण' ने सूत कहा है। विण्टरनित्स का मत है कि बौद्ध-काल तक गद्य और छन्द में रचित इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओं का असीम भण्डार था, जो बौद्ध जातकों, थेरी गाथाओं जैन-पुराणों तथा गाथाओं और संस्कृत-महाकाव्यों के रूप में आज भी किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित हैं। सूत, मागध इनमें पारंगत थे, जो राज-दरबारों में रहते और राजाओं की मर्यादा और ख्याति बढ़ाने के लिए पुरानी गाथाओं के साथ अपने आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों की प्रशंसा में भी आख्यान रचते और गाते थे। राजाओं के साथ वे युद्धों में भी जाते और स्वयं उनकी वीरता देखकर उसका वर्णन करते या उन्हें प्रोत्साहित करते थे। 'महाभारत' के संजय सूत ही थे, जिन्होंने धृतराष्ट्र को भारत-युद्ध की कथा सुनाई थी। उसी तरह नैमिषारण्य में 'महाभारत' को तीसरी बार गाकर सुनाने वाले लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा भी सूत ही थे। सूतों ने इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाओं की परम्परा को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि वे उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्तरोत्तर समृद्ध भी करते रहे। इस प्रकार एक चक्र की अनेक कथाओं के संश्लिष्ट विकास से महाकाव्यों—विशेषकर 'महाभारत' का स्वरूप निर्मित हुआ। सूतों के अतिरिक्त कुशीलव नामक एक जाति भी थी, जो जनता के बीच वाद्य-यन्त्र पर गीत गाती थी और उन्हींके कारण वीर-गीतों और आख्यानों का प्रचार जनता में होता था। इस प्रकार सूत राज-दरबारों के और कुशीलव जनता के बीच के गायक थे। 'रामायण' में कुश और लव को वाल्मीकि से सीखे गए 'रामाख्यान' को जनता के बीच घूम-घूमकर सुनाते दिखाया गया है। रामायण में कुश-लव की यह कथा चाहे बाद में ही क्यों न जोड़ी गई हो, किन्तु इससे पता चलता है कि रामाख्यान को गानेवाली कोई जाति अवश्य थी, जिसने कुश और लव से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अपना सम्मान बढ़ाने के लिए अपना नाम कुशीलव रख लिया था। होल्ट्ज़मैन ने अपनी पुस्तक 'डास महाभारत' और जैकोबी ने 'डास रामायण' में कुशीलवों के सम्बन्ध में अपना यही मत व्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत, मागध, बन्दी, वैतालिक और गायकों का इतिहास सुदूर अतीत से ही मिलने लगता है। अनेक देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से राज-दरबारों में उन्हें अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता रहा है। उनका काम देवताओं, ऋषियों और ख्यात राजाओं का वंशानुक्रम सुरक्षित रखना और वीरों की कीर्ति-कथा का गान करना था। इसीलिए सूतों को 'पौराणिक' और 'वंशकुशल' भी कहा गया है। इन लोगों के वंश-परम्परा द्वारा पम्परागत वंशावली, इतिहास, आख्यान आदि को स्मृति में सुरक्षित रखने और गाते रहने का ही यह परिणाम था कि बाद में पुराणों और महाकाव्यों का रूप सामने आया।

यूरोप के महाकाव्य

यूरोप में भी महाकाव्यों का विकास वीर-गीतों से ही हुआ, जिन्हें चारण लायर या तान-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूरे के साथ गाते थे; होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्यों में इसका उदाहरण मिलता है। 'इलियड' का नायक आचिलेस स्वयं लायर बजाता और वीरों का आख्यान गाता था। 'ओडेसी' में पेशेवर चारणों की चर्चा कई जगहों पर आई है। उनसे यह भी पता चलता है कि उस काल के चारणों की कला को देवताओं या सरस्वती का वरदान माना जाता था। होमर के बाद ऐतिहासिक काल में आशुकवियों या गायकों (Rhapsodes) का उदाहरण मिलता है जो साधारण जनता के बीच काव्य-गान करते थे। वे प्रायः स्वरचित या परम्परागत काव्यों को गाते थे। ६०० ईसा पूर्व में यूनान में होमर के काव्यों का गान जनता के बीच में होता था और उसके पहले भी अवश्य होता रहा होगा। चियास द्वीप में 'होमराइड' नामक एक जाति पहली शताब्दी में थी, जो अपने को होमर का वंशज बताती थी और जो सम्भवतः पेशेवर चारणों की जाति थी। होमर की कविताएँ गाई नहीं जाती थीं, बल्कि उनका पाठ होता था, किन्तु गाने वाले अपने हाथ में एक विशेष प्रकार की लकड़ी या सोटा लिये रहते थे। सम्भवतः वह पूर्ववर्ती गाने वालों के लायर की जगह रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता था। इससे पता चलता है कि 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य किसी समय लायर के साथ गाए जाते थे। इनके गाने वाले चारणों के पूर्वज शुरू में यूनान के सरदारों और राजाओं के दरबारों में रहते और उनकी वीरता तथा यश का गान करते थे। इस प्रकार तत्सम्बन्धी वीर-गीतों की परम्परा चल पड़ी थी। ट्राजन-युद्ध के बाद के यूनान की सामन्ती व्यवस्था की विशेषताओं, विशेषकर तत्कालीन शासक-वर्ग के शारीरिक बल और व्यक्तिपरक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति उन वीर-गीतों में होती थी। बाद में जब यूनानी शासक लगातार आक्रमणों से छिन्न-भिन्न होकर एशिया माइनर में चले गए तो वहाँ उनके दरबारों में 'इलियड' और 'ओडेसी' से सम्बन्धित वीर-गीतों का गान होने लगा। उन्हीं बिखरे-गीतों का धीरे-धीरे संश्लेषण होकर 'इलियड' और 'ओडेसी' का स्वरूप विकसित हुआ।

चाडविक ने अपनी पुस्तक 'वीर-युग' (Heroic Age) में ट्यूटानिक जातियों में वीर-गीतों और महाकाव्यों के विकास का पूर्ण रूप से विचार किया है। उनके मतानुसार जर्मनी में वीर-काल या अन्धकार-युग के बहुत पहले ही टेसिटस ने लिखा था कि जर्मनी में बहुत-से प्राचीन गीत प्रचलित थे। सीडानियस और वेनाण्टियस फार्डिनेट्स की कविताओं से भी ट्यूटानिक जाति के चारण-कवियों का प्रमाण मिलता है। एंग्लो सैक्सन जाति की कविताओं से भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वहाँ चारण-कवि दरबारों में वीर-गीत गाया करते थे। रूसी वीर-गीतों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। उन गीतों के कुछ वीर तो स्वयं चारण थे। मिस हैपगुड ने अपनी पुस्तक 'एपिक सांग्स ऑफ रशिया' में लिखा है कि रूस में चारण-कवि बाद में दरबारों से हटकर जनता के बीच चले गए और आज भी वे घूम-घूमकर धार्मिक गीत गाते हैं। मध्ययुग में रूस में क्रिश्चियन चर्च के कारण वीर-गीतों और महाकाव्यों का प्रचार दरबारों से उठ गया और किसानों के बीच उनकी रक्षा हुई।

विकास की तीन मंज़िलें

सभी देशों में महाकाव्य के विकास की तीन मंजिलें दिखाई पड़ती हैं। पहली मंजिल वीर-युग में होती है, जब कि उसी युग के चारण-कवि वीरों के दरबारों में रहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। मूल 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना सम्भवतः इसी युग में हुई थी। 'इलियड' और 'ओडेसी' के मूल रूपों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। बीयोउल्फ के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहसपूर्ण कार्यों का वीर-गीत के रूप में प्रारम्भ वीर-युग में ही हो गया था। वीरों के मरने के बाद भी उनकी गाथा गाई जाती थी, धीरे-धीरे एक वीर से सम्बन्धित अनेक गीत कुछ पीढ़ियों के बाद मिलकर एक हो जाते थे। यही महाकाव्य कहलाने लगते थे। यह महाकाव्य के विकास की दूसरी मंज़िल है। इस मंज़िल पर महाकाव्य का रूप लचीला होता है अर्थात् उसे गाने या पाठ करने में चारणों को स्वतन्त्रता होती है कि वे अपनी रुचि के अनुसार उसमें कुछ जोड़ें या घटाएँ, क्योंकि अतीत की कथा के श्रोताओं को निश्चित जानकारी नहीं रहती। तीसरी मंज़िल में प्राचीन वीरों के आख्यान का सामान्य जनता अपने ढंग से रूप बदलती रहती है; वे निजन्धरी कथा का रूप धारण कर लेते हैं, उनमें मूल कथा का ढाँचा तो बना रहता है किन्तु उसमें नवीन मांस-रक्त भरकर पहले की कई असम्बद्ध गाथाओं के मिश्रण द्वारा उसे नवीन रूप दे दिया जाता है। 'महाभारत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यूनान के हिसियड का काव्य इसी मंज़िल का है। रूस में १९वीं शताब्दी में किसानों के यहाँ से प्राप्त महाकाव्यों को भी इसी मंज़िल का समझना चाहिए। इस प्रकार इस मंज़िल में वीर-गीत दरबारों से निकलकर जनता की वस्तु बन जाते हैं। हिन्दी में 'आल्हखण्ड' इसी प्रकार का वीर-काव्य है। भारतीय महाकाव्यों के विकास के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर एन० के० सिद्धान्त का मत है कि पहली मंज़िल के वीर-गीत वे हैं जिनकी रचना महाभारत-युद्ध के काल में हुई थी। उस काल के राजाओं के चारण पुरोहित-वर्ग के नहीं क्षत्रिय या वीरों के वर्ग के होते थे, उनका सम्मान कम नहीं था। पुरुरवा, नहुष और ययाति की कथाएँ इसी मंज़िल की हैं। दूसरी मंज़िल में प्राचीन दरबारी वीर-गीतों के आधार पर महाकाव्य का मूल रूप निर्मित हो गया। मूल 'भारती-कथा' उसी मंज़िल की रचना रही होगी जिसमें पुरानी वीर-गाथाएँ उपाख्यान के रूप में सम्मिलित कर ली गई थीं। तीसरी मंज़िल पर राजनीतिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन आ गया था। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े साम्राज्य स्थापित हो गए थे जिनमें उन दरबारों में सूत-मागधों की संख्या भी कम ही रही होगी; अतः अधिकांश सूत-मागध जनता के बीच काव्य-गान करने लगे। ब्राह्मणों के प्रभाव से भी सूत-मागधों का महत्त्व कम हो गया और धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने पुराण-आख्यान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य भी धार्मिक रंग में रंग गए, उनकी मूल कथा के वीर पात्रों का महत्त्व कम हो गया और धार्मिक आख्यान और उपदेश ही प्रधान हो गए। 'महाभारत' के पंचम वेद माने जाने का यही कारण है। इस काल में पुरोहित ही पौराणिक बन गए, पर वे सूत-मागध नहीं थे और दरबारों से उनका आश्रित रूप में ही सम्बन्ध रह गया; क्योंकि उनकी धार्मिक कथाओं का राजा और सामान्य जनता सभी धार्मिक भावना के कारण सामान्य रूप आस्वादन करते थे।

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगों की धारा में बहने वाले वीर-गीतों, आख्यानों, निजन्धरी कथाओं और ऐतिहासिक पुरुषों के विकास की कहानी है, जिन्हें निर्मित करने वाला कोई एक या कुछ व्यक्ति नहीं हैं; बल्कि युग-युग के मानव-समाज ने मिलकर अपने-अपने देश में अपने-अपने ढंग से इनका निर्माण किया है। प्रारम्भिक विकसित महाकाव्यों की तुलना हम प्रवाल-द्वीपों से कर सकते हैं। ये महाकाव्य न जाने कितने युगों में कितने कण्ठों से निस्सृत होकर और कितनी प्रतिभाओं की शक्ति से रूप ग्रहण करके आज अपना वर्तमान स्थिर रूप प्राप्त कर सके हैं। लिखने की प्रथा प्रारम्भ होने बाद उनके स्वरूप में कुछ स्थिरता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवश्य आई, किन्तु 'महाभारत', 'रामायण' या 'रासो' आदि महाकाव्यों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी परस्पर बहुत भिन्नता दिखलाई पड़ती है; सम्भवतः लिखने वालों की अपनी रुचि, अज्ञान और साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के कारण प्राचीन पाण्डुलिपियों में इतना अन्तर पाया जाता है। किन्तु छपाई का आविष्कार हो जाने के बाद अब महाकाव्यों के विकसित होने की सम्भावना नहीं रह गई है, अपढ़ जनता में प्रचलित वीर-गीत भी अब बहुत-कुछ लिपिबद्ध करके प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे उनके भी विकसित होने की सम्भावना अब कम हो गई है। सारांश यह है कि महाकाव्यों का उद्भव वीर-युग में होता है, सामन्त-युग उन्हें विकसित करता है और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनका विकास रुक जाता है। विकसित सभ्य-समाज में महाकाव्यों का विकास नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी

'कामायनी' की कथा

[क] ऐतिहासिकता

: १ :

प्रसाद की 'कामायनी' की कथा इतिहास है या रूपक, इसका निर्णय करने के लिए बहुत अधिक शोध या तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रसाद ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही अपना मत अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिख दिया है। परन्तु साधारणतः इतिहास के सम्बन्ध में लोगों की जो धारणा बँधी हुई है, प्रसाद की दृष्टि उससे कहीं अधिक व्यापक है; जिसके कारण वह इतिहास को लेकर मनोविज्ञान और अध्यात्म से भी उलझी हुई प्रतीत होती है। अतः उनके स्पष्ट कथनों की भी किंचित् व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

अपने 'कामायनी-दर्शन'[१] शीर्षक लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रधान विचार-धारा (दृष्टि, दर्शन) को अपने अध्ययन, मनन और अनुभव से जिस रूप में समझा था उस रूप में जीवन की ही सत्य वस्तु समझकर उन्होंने 'कामायनी' की कथा में उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। 'कामायनी' की कथा में पिरोए हुए दार्शनिक तत्त्वों को देखने से स्वभावतः यह धारणा होने लगती है कि वह एक दार्शनिक, आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक रूपक है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के ऐतिहासिक विवेचन और कथन उसी प्रकार इस धारणा को भी पुष्ट करते हैं कि उनकी दृष्टि जितनी दार्शनिक या आध्यात्मिक थी उससे किसी प्रकार कम ऐतिहासिक न थी। स्वयं उन्हीं के कथनानुसार यद्यपि 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए उन्होंने थोड़ी-बहुत कल्पना से भी काम लिया है, तथापि कथा का आधार ऐतिहासिक ही है। उसकी मुख्य घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक हैं। यथा :

१. 'इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।'

२. 'जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है।'

३. 'मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं।'[२]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', केशव-स्मृति-अंक, सं० २००८।

२. 'कामायनी', भूमिका।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसी प्रकार 'कामायनी' की भूमिका से यह भी स्पष्ट है कि देवगण, उनका उच्छृङ्खल स्वभाव, जल प्लावन से उनका विनाश, उसके बाद मनु और श्रद्धा की उजड़ी सृष्टि को फिर से बसाने का प्रयत्न, किलाताकुली की सहायता से पशु-बलि, फिर इड़ा के मिलने पर बुद्धिवाद का विकास इत्यादि को भी प्रसाद ऐतिहासिक तथ्य ही मानते हैं। इस इतिहास के अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसमें रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है, इसीलिए वे कहते हैं :

'श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'[1]

तात्पर्य यह कि 'कामायनी' की कथा को रूपक मानना-न-मानना आपकी इच्छा पर है, परन्तु इतिहास तो वह अवश्य है। साथ ही प्रसाद भली भाँति जानते थे कि आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि उस कथा को इतिहास मानने में अवश्य ननु-नच करेगी। उन्होंने मूल कथा 'ऋग्वेद' और 'शतपथ' से ली है; जिनके समय और ऐतिहासिकता का विषय निर्विवाद नहीं है। अतः वे अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

'प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है·····घटनाएँ कहाँ-कहीं अतिरंजित भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है, किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।'[2]

वैदिक साहित्य, जहाँ से प्रसाद ने अपनी मूल-कथा ली है, उनकी दृष्टि से इतिवृत्त ही है,[3] भले ही वह 'भावपूर्ण' हो और घटनाएँ कहीं-कहीं 'अतिरंजित' हों। यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को इतिहास न मानें, तो भी 'कामायनी' की मूल कथा तो उसका 'घटना से सम्बद्ध सत्यांश' ही है। परन्तु यदि कोई उसे रूपक मानने का ही आग्रह करे, तो बिना किसी विवाद में उलझे हुए प्रसाद कहेंगे :

'हो सकता है। यदि वह रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं, तब भी हम घटना-मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उसके मूल में कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य ही ढूँढते हैं।' अर्थात् रूपक मानने पर वह रूपक भी इतिहास ही होगा। स्थूल, घटना-सम्बद्ध इतिहास न सही, फिर भी वह अत्यन्त भव्य इतिहास होगा—सूक्ष्म,

---

१. 'कामायनी' भूमिका।

२. वही।

३. वेद को इतिहास मानें या रूपक, इस प्रश्न पर विवाद आधुनिक नहीं, बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल में भी कुछ लोग उसे इतिहास मानते थे—वे 'ऐतिहासिक' कहलाते थे, और कुछ उसका 'निरुक्त' से बुद्धिपरक संगत अर्थ लगाकर उसे रूपक मानते थे—वे 'नैरुक्त' कहलाते थे। प्रसाद ने अपने को ऐतिहासिकों के वर्ग में रखा है।

—'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना० प्र० सभा, बनारस), पृष्ठ १७६।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मनोवैज्ञानिक।

परन्तु इतने से भी प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि का पूरा रूप सामने नहीं आता। वह तब पूरा होता है जब वे 'घटना' का मूल रहस्य स्वयं बतलाते हैं :

'.....उस घटना के मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।'

इस प्रकार वे स्थूल घटनाओं के इतिहास तथा मनोविज्ञान से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाते हैं, जो उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह का कारण उपस्थित करता है। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो इस सन्देह का कोई वास्तविक आधार नहीं है। बिलकुल स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि में भाव चिरन्तन सत्य है, घटना क्षणिक। एक सूक्ष्म है, दूसरा उसी का स्थूल रूप। सत्य दोनों हैं। स्थूल और क्षणिक होने के कारण दूसरा कम सत्य, अथवा उपेक्षणीय नहीं। इस प्रकार प्रसाद की आध्यात्मिक दृष्टि उनके ऐतिहासिक शोध और विवेचन के विरुद्ध न जाकर उसे एक दृढ़तर भूमिका ही प्रदान करती है।

: २ :

उक्त प्रकार से प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि को समझ लेने के बाद, 'कामायनी' का ऐतिहासिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देव-निवास स्वर्ग, देवराज इन्द्र तथा देव-संस्कृति की भौमिक स्थिति और सत्यता के सम्बन्ध में प्रसाद के विचारों से अवगत होते हैं। प्रसाद ने जिन देवों की उच्छृङ्खल और विलासी प्रकृति तथा शक्ति का वर्णन किया है वे उनके मत से किसी आकाशस्थ स्वर्ग के कल्पित निवासी न थे। उनकी वास्तविक भौमिक सत्ता थी। उनकी निवास-भूमि स्वर्ग अवश्य थी, पर वह स्वर्ग इसी धरती पर मेरु-पर्वत पर स्थित था। वे देव और कोई नहीं, आर्यों के अग्रजन्मा[1] थे। देवराज इन्द्र प्रथम चक्रवर्ती आर्य सम्राट् थे।

यह सब प्रसाद ने केवल कल्पना की उड़ान पर नहीं कहा। तिलक, अविनाशचन्द्र दास, सत्यव्रत सामाश्रमी, पार्जीटर, मैकडानल्ड, मार्शल-जैसे धुरन्धर विद्वानों ने आर्यों की निवास-भूमि के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किये हैं उनका तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन-मनन करके उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इस विषय में अपना मत स्थिर किया। एतत्सम्बन्धी अपने विचार उन्होंने विस्तृत रूप से अपने 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'[2] शीर्षक लेख में प्रकट किये हैं। अपनी ऐतिहासिक रचनाओं की भूमिका वे अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर ही स्थिर करते थे, यह उनके नाटकों से भी विदित होता है। यहाँ हम उनके आर्यावर्त-सम्बन्धी उक्त लेख से उनके आवश्यक निष्कर्ष उद्धृत करेंगे, जिनसे 'कामायनी' की ऐतिहासिक और भौगोलिक भूमिका समझने में सहायता मिलेगी।

आर्यों की सभ्यता को पाश्चात्य इतिहासविदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर पहले

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु)

२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना. प्र. सभा, काशी), पृष्ठ १५५-१६४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अधिक-से-अधिक ईसा से २००० वर्ष पूर्व की माना था। तिलक ने ज्योतिष के आधार पर प्रमाणित किया कि ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र ई० पू० ६००० के बाद नहीं हो सकते। प्रसाद ने आर्य-सभ्यता को इससे भी पहले की ही माना है। उनके मत से 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय के आधार पर आर्य-सभ्यता का काल ई० पू० २००० के भीतर स्थिर करना (जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है) भ्रमात्मक है। 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय की घटना ऋग्वेद से पीछे की है। आगे वे लिखते हैं :

'अब हमें पहले उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए थे। आर्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता हमारे साहित्य में "मेरु" नाम से लगता है।'[1]

यह मेरु 'महाभारत' तथा 'बृहत्संहिता' आदि ग्रन्थों में उत्तरकुरु के पास बताया गया है। उत्तरकुरु हिन्दूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी कश्मीर तक का प्रदेश था। इसकी प्रधान नगरी सिकन्दर के समय में निकाय नाम से विख्यात थी। इसीके पास के पर्वत को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इसी मेरोस या मेरु को अब 'कोह मोर' कहते हैं। ग्रीकों ने इसे 'त्रिशृङ्ग' कहा है और ऋग्वेद में इसे 'त्रिककुद' तथा पुराणों में 'त्रिकूट' लिखा है। यह शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु-परिवार-रूप से आर्य साहित्य में अत्यन्त पवित्र मानी गई है। इसीके आस-पास की—अफगानिस्तान, कश्मीर तथा बलख के बीच की—रमणीय भूमि देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana vaijo) थी।

निशाय और मेरु को मेगस्थनीज ने भारत की सीमा के भीतर लिखा है। यह आर्यों के अग्रजन्मा देवों की मूल भूमि थी। इसका पूर्ण विस्तृत रूप पीछे आर्यावर्त या भारत कहलाया। पर आर्यावर्त का वैदिक विस्तार केवल हिमालय और विन्ध्य के बीच सीमित न था।

अनेक विद्वानों ने सप्तसिन्धु प्रदेश—सिन्धु समेत सात नदियों के देश—को वैदिककालीन आर्यावर्त माना है। परन्तु प्रसाद ने ऋग्वेद में 'प्रसप्त सप्त मेधानू···' आदि मन्त्रों का भिन्न अर्थ करके सात-सात नदियों वाले तीन सप्तक—गंगा, सिन्धु और सरस्वती के माने हैं और इसी त्रिसप्तक प्रदेश को वैदिककालीन आर्यावर्त स्थिर किया है। इनमें गंगा-सप्तक की पूर्वी सीमा सदानीरा थी। सिन्धु-सप्तक प्रसिद्ध ही है। तीसरा प्रसाद के अनुमान से सरस्वती-सप्तक है। यह सरस्वती सिन्धु-सप्तक वाली सरस्वती से भिन्न है। 'अवेस्ता' में इसका नाम 'हर हैवती' मिलता है। हारूत से कन्दहार तक की नदियों के सप्तक की यह प्रधान नदी थी। इस सप्तक का प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में था। तीनों सप्तकों की विस्तृत भूमि आर्यों का लीला-निकेतन थी।

त्रिसप्तक वाले सम्पूर्ण आर्यावर्त की सीमा उत्तर में वाल्हीक से दक्षिण में ऋक्कालीन राजपूताना समुद्र तक और पश्चिम में हेलमन्द से पूर्व में गंगा की घाटी तक थी। मगध, अंग, मीडिया और मेसोपोटामिया भी आर्य प्रदेश ही थे, पर इनमें आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलम्बी लोगों—असुरों—से संघर्ष-रत रहना पड़ता था। सरस्वती की घाटी में भी उस समय आर्यों और असुरों—वरुण के उपासक आर्यों—का संघर्ष चल रहा था। इसीसे

---

१. प्रसाद जी का लेख, 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' ('कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित), पृष्ठ १६१।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सरस्वती को वृत्रघ्नी भी कहा गया है।

उस समय द्रविड़ों से आर्यों का संघर्ष सम्भव न था, क्योंकि जिस दक्षिण महाद्वीप में द्रविड़ों की जन्मभूमि थी वह आर्यावर्त से राजपूताना समुद्र द्वारा पृथक् थी।

प्रसाद के मत से उस समय के आर्यावर्त की स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी जैसी मानचित्र में दिखाई गई है।

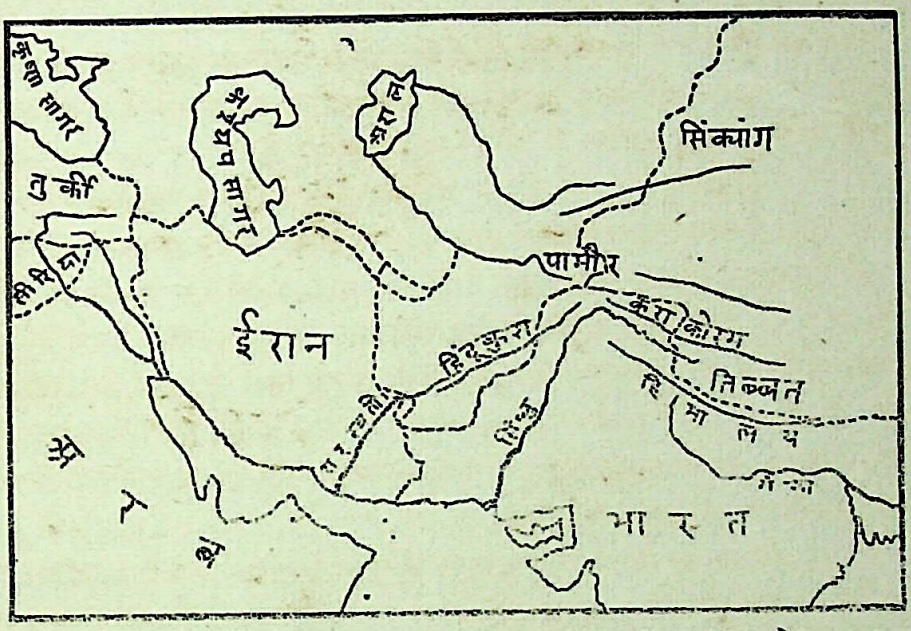

उस समय के आर्यों में आकाशी देवों की उपासना प्रचलित थी। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य-बुद्धि थी। इन आकाशी देवताओं के राजा वरुण माने जाते थे। वरुण की उपासना चन्द्रमा की उपासना से सम्बद्ध थी। वेदों में वरुण को प्रायः असुर कहा गया है। आर्यों के अग्रजन्मा देवों में जब कालान्तर में विचार-परिवर्तन हुआ तो उनके दो प्रधान भेद हो गए—एक वरुणोपासक, दूसरा इन्द्र का अनुयायी। असुर-नेता त्वष्टा से इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में इन्द्र की विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त के त्रिसप्तक प्रदेश से असुर-उपासक आर्यों को हटना पड़ा। यह घटना ७५०० ई० पू० से भी पहले की है। वह आर्य-सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भिक अध्याय है, जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित किया।

: ३ :

आर्यावर्त और आर्यों—अथवा स्वर्ग और उसके निवासी देवों—के सम्बन्ध में प्रसाद के उपर्युक्त विचारों से मतभेद होना और बात है, शोध और गवेषणा के निष्कर्ष कभी मतभेदों से शून्य रहते ही नहीं। फिर भी यह निश्चित है कि जिस प्रकार 'जनमेजय' से 'राज्यश्री' तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न चित्र प्रसाद ने अपने नाटकों में उपस्थित करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन ऋक्कालीन देव-संस्कृति की उन्नति और विनाश तथा उनके बाद नवीन मानव-संस्कृति के उदय का भी चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया। इन सभी चित्रों को उन्होंने शोधों और प्रमाणों से पुष्ट तथा दृढ़ ऐतिहासिक आधार पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे प्राचीन ऋक्कालीन आर्य (देव) ही जब भौतिक शक्तियों पर अधिकार करके उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए तो उनमें अहंकार, उच्छृङ्खलता और विलासिता ने घर कर लिया। जल-प्रलय में उनका नाश हो गया तब अकेले मनु उनके प्रतिनिधि रूप बच रहे थे। पीछे भटकते-भटकते काम-बाला श्रद्धा भी आ मिली। मनु भी देव-प्रकृति के ही थे। प्रलय से त्रस्त हुए थे, पर पीछे उनकी देव-प्रकृति जागने लगी थी। असुर-पुरोहितों ने पशु-बलि करके उन्हें और भड़काया। फलस्वरूप उनकी अतृप्त वासनाओं ने उन्हें श्रद्धा से दूर कर दिया। फिर उन्हें इड़ा मिली, जिसकी सहायता से उन्होंने नगर बसाए और शासन-तन्त्र संगठित किया। परन्तु स्वाभाविक अतृप्ति और असन्तोष ने उन्हें वहाँ भी ठोकर खिलाई। अन्त में श्रद्धा पुनः पुत्र सहित उनसे आ मिली। सबके अन्त में एक परिवार के रूप में सबका सुखद मिलन हुआ। यही वह समय था जब प्रथम बार देव-संस्कृति से भिन्न नवीन मानव-संस्कृति का उदय हुआ।

[ख] जल-प्लावन

सृष्टि के नवविधान का आरम्भ 'कामायनी' में जल-प्लावन से होता है। 'हिमालय के उच्च शिखर पर शिला की शीतल छाया में एक पुरुष भीगे नयनों से प्रलय का प्रवाह देख रहा है। नीचे तरल जल है, ऊपर सघन हिम; किन्तु दोनों में एक ही तत्त्व की प्रधानता है.....'

'कामायनी' की जल-प्लावन-कथा की मूल प्रेरणा यद्यपि भारतीय साहित्य—विशेषतया 'शतपथ ब्राह्मण' है, तथापि अनेक ग्रन्थों में बाढ़ का वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण, पुराण, बाइबिल तथा अवेस्ता, ग्रीक, बेबीलोनिया, चीन आदि के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। एण्ड्री का कथन है कि संसार के ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ पर इस जल-प्लावन-कथा का कोई निर्देश नहीं प्राप्त हो सका। मिस्र, जापान आदि ऐसे ही देश हैं। अफ्रीका में भी इस कथा का प्रचलन नगण्य-सा है। इस कारण एक सार्वभौमिक जल-प्लावन को नहीं स्वीकार किया जा सकता।[1] यह मत केवल अठारहवीं शताब्दी तक ही प्रचलित था कि जल-प्लावन का रूप विश्व-व्यापी है।

जल-प्लावन-कथा का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। यह कथा धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित होने के कारण अत्यधिक दैवी रूप में चित्रित की गई है। उसे प्रायः एक ईश्वरीय प्रकोप के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी सूचना पूर्व ही किसी प्रकार संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को मिल जाती थी। उस प्रलय-दशा में वही शेष रह जाता था, जो आगे चलकर पुनः सृष्टि का नवनिर्माण करता था। इसी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण सत्य घटना को भी गाथा का रूप दे दिया गया है। अन्यथा भूगर्भ-शास्त्र के विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं कि :

'समय-समय पर भू-भाग में सागर भर जाते हैं, सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है। ये पर्याप्त समय तक रहते हैं। इस स्थिति में पृथ्वी का ऊँचा भाग जल में विनष्ट हो जाता है। अन्त में जल कुछ नीचे उतरने लगता है और कुछ भाग पर्वत-श्रेणियों में परिवर्तित हो जाता है। इस अवसर पर ज्वालामुखी विस्फोट भी सम्भव है। जल में अनेक वस्तुएँ एकत्र होकर

१. Encyclopedia of Religion and Ethics—Article on Flood—by R. Andree Die flutsagen.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति बदल देती हैं।'[1]

इस भाँति पृथ्वी पर सागर और उसके अनन्तर पर्वत का उदय होता है। इस क्रिया के कारणों के विषय में यद्यपि भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों में मतभेद है तथापि उसके अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं। होम्स, वेगर आदि कई विद्वानों ने इस वैज्ञानिक क्रिया का समर्थन किया है।

भारतीय जल-प्लावन की कथा का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद ने डॉ० ट्रिंकलर, होर्नसा आदि विद्वान् वैज्ञानिकों का मत उद्धृत किया है।[2] डॉ० ट्रिंकलर का अनुमान है कि बालुका में दबे हुए प्राचीन ध्वंसावशेषों के चिह्न स्वयं इसका प्रमाण हैं कि हिमालय और उसके प्रान्त में भी जल-प्लावन अथवा ओघ अवश्य हुआ होगा।[3] उसीकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए डॉ० वाडिया लिखते हैं :

'परमियन-काल से ही हिमालय और तिब्बत के समीप समुद्र की गन्दगी जमा हो रही थी। वह समुद्र-तल के ऊपर उठने से ऊँची हो गई। क्रमशः सागर विलीन हो गया और उसके स्थान पर संसार का महान् हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर होने लगा।'[4]

इस भूगर्भ-क्रिया का समय जाइनर चार करोड़ वर्ष पूर्व मानता है।[5] उस समय मानव का अस्तित्व भी नहीं था। इस तिथि के अनुसार जल-प्लावन का वर्णन कालान्तर में किया गया। उसके पूर्व केवल जातक-कथाओं के रूप में उसका प्रचलन रहा होगा। मानव-शास्त्र के विशेषज्ञ भी मानव की उत्पत्ति जल-प्लावन के काफी बाद मानते हैं। निस्सन्देह यह वर्णन कालान्तर का ही है, क्योंकि प्रस्तर-युग में मनुष्य इतना सभ्य नहीं था कि वह नौका आदि का निर्माण कर सकता। विज्ञान और इस कथा में कवि-साम्य स्थापित करना सम्भव नहीं।

इतिहास, गाथा और विज्ञान में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास समय-समय पर किया गया है। भारतीय दर्शन की पौराणिक गाथाओं के अनेक चित्र आलंकारिक विधि से चित्रित किये गए हैं। जल से ही आदि-सृष्टि की कथा के विषय में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में श्लोक इस प्रकार हैं :

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म
ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् ते देवाः सत्यमेवोपासते।[6]

आरम्भ में केवल जल-ही-जल था। जल से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता की उत्पति हुई। ये देवता सत्य की उपासना करते हैं। इसी प्रकार थेल्स भी जल से ही समस्त सृजन मानते हैं। इसके लिए वे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। विश्व-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त से भारतीय जल-प्लावन का ऐतिहासिक एवं पौराणिक स्वरूप किंचित्

---

१. Radioactivity and Surface History of Earth—by J. Jolly.
२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह'—प्रसाद का लेख–'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' पृष्ठ १६०
३. 'पायनियर'—१६ अक्तूबर १६२८.
४. 'Geology of India'—D. N. Wadia (1949) page 224.
५. 'Dating the past—Zeuner.'
६. 'बृहदारण्यक उपनिषद्' ५-५-१।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साम्य रखता है। विश्वकर्मन् की कथा भी इसके निकट है। उन्होंने वृति का विनाश करके एक नवीन जाति को जन्म दिया था। विश्वकर्मन् ज्वालामुखी के देवता-रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसीके पश्चात् उन्होंने कश्यप को धरणी दान दी थी।[१] तिलक जी भी जल-प्लावन का प्रमुख कारण भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार ही मानते हैं। उनकी धारणा है कि कथा की प्रेरणा सम्भवतः सभीने एक ही स्थान से ग्रहण की।[२]

जल-प्लावन-कथा को धार्मिक ग्रन्थों के साथ ही काव्य में भी स्थान प्राप्त हुआ। प्राचीन काल में जीवन, धर्म और साहित्य में अधिक अन्तर नहीं था। भारत का समस्त वैदिक साहित्य, पौराणिक गाथा, उपनिषद् आदि जीवन की समस्या को सुलझाने के एक भावात्मक प्रयास हैं। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त जल-प्लावन की कथा अन्यान्य प्राचीन साहित्यों में भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से वर्णित है। होमर ने एक स्थान पर कहा है : 'सूर्य सागर के प्रवाह की ओर भागा जा रहा है। सागर, निर्झर, बावली सभी महासागर से निकले हैं, जो पृथ्वी को घेरे हुए हैं। हेलोइस अथवा सूर्य स्वर्ण-नौका में पश्चिम से पूर्व की ओर भागा जा रहा है।' इसका तात्पर्य डाक्टर वारेन ने यही निकाला कि संसार जल से भरा हुआ है।[३]

भारतीय साहित्य में जल-प्लावन की कथा 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण', 'महाभारत' आदि अनेक स्थलों पर बिखरी हुई मिलती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार—'प्रातःकाल मनु के पास जल लाया गया। उसीमें एक मत्स्य भी था। वह बोला—"मनु, मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। जल-प्लावन में सभी-कुछ नष्ट हो जायगा, तब मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। मनु ने उससे उसकी रक्षा का उपाय पूछा। मत्स्य बोला—"जब तक हम शिशु रहते हैं, बड़े मत्स्य हमें खा जाते हैं। तुम क्रमशः पात्र, गढ़ा, नदी आदि में रखकर अन्त में मुझे सागर में फेंक देना।" यथासमय जल-प्लावन आया। मनु ने नौका को मत्स्य के सींग से बाँध दिया। तदनन्तर उसे एक वृक्ष से अटका दिया। जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वे 'मनोरवसर्पण' स्थान में उतरे।[४] इस कथा की सत्यता पर विचार करते हुए तिलक ने स्पष्टीकरण किया है।[५]

'महाभारत' के वन पर्व में 'मत्स्योपाख्यान' की कथा मिलती है। विवस्वान् के पुत्र मनु ने विशाल पर्वत पर दस हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की। एक दिन चारिणी के तट पर एक मत्स्य ने आकर जीवन-रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे जल-पात्र, झील, महासरोवर आदि में रखकर अन्त में सागर में फेंक दिया। मत्स्य उसी समय बोला—'मनु! एक भीषण, प्रचंड प्रलय आने वाला है। इसमें चराचर सभी-कुछ नष्ट हो जायगा। तुम एक नौका में सप्तर्षियों के साथ रहकर मेरी प्रतीक्षा करना।' जल-प्लावन के समय धरणी पर जल-ही-जल हो गया। मत्स्य मनु की नौका को हिमालय पर्वत में 'नौबन्धन' तक ले गया।[६] 'महाभारत' के आगामी

---

१. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy—R. D. Ranade (1926) page 77.

२. 'Arctic Home in Vedas'—B.G. Tilak (1925)—Glacial period.

३. 'Paradise Found'—Dr. Warren (1893) Part V, Chapter V. page 250

४. 'शतपथ ब्राह्मण' (काण्वीय) भाग २, पृष्ठ १५०-१५१।

५. 'Arctic Home in Vedas'—B. G. Tilak (1925) Page 387.

६. 'महाभारत' वनपर्व; मत्स्योपाख्यान।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खंड में भी इसका सविस्तर वर्णन है।

'मत्स्य पुराण' का प्रारम्भ ही आदि-सृष्टि से होता है। 'मनु की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि वे प्रलय-काल में सम्पूर्ण जगत् की रक्षा कर सकेंगे। ..... एक दिन जब मनु पितरों को अर्घ्य दे रहे थे, कमण्डलु के जल से एक शफरी गिर पड़ी। राजा ने उसे अनेक स्थलों पर रखा पर उसका आकार बढ़ता ही चला गया।' शेष कथा 'शतपथ' की ही भाँति है। यहाँ मत्स्य प्रलय का कारण बताता हुआ संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत्पताका, शोण आदि सात प्रलयकालीन मेघों का वर्णन करता है।[1]

इसके अतिरिक्त 'आग्नेय पुराण' (प्रथम अध्याय), 'पद्म पुराण' (३६वाँ अध्याय), 'विष्णु पुराण' (५-१०; ६-३), 'भागवत पुराण' (८-२४; १२-८,६), 'स्कन्द पुराण' (वैष्णव-खण्ड—पुरुषोत्तम-माहात्म्य खण्ड दो), 'भविष्य पुराण' (प्रतिसर्ग पर्व-अध्याय ४), 'कालिका पुराण' (अध्याय २५,३४), 'वायु पुराण' (अध्याय ६, सृष्टि-प्रकरण) आदि में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। इनका संग्रह डॉ० सूर्यकान्त ने किया है। प्रायः इन सभी में 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा की छाया है। पौराणिक गाथा होने के कारण उनमें किसी प्रकार के वैज्ञानिक सत्य का निरूपण सम्भव नहीं। कल्पना के आधार पर धार्मिक अभ्युत्थान का प्रतिपादन ही इनका लक्ष्य है।

वेदों में प्रत्यक्ष रूप से जल-प्लावन का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु 'अपान्नपात्', 'अर्णव', 'शरद्: शतम्', 'शतम् हियाः', 'ओघ' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है।[2] यहाँ तक कि मण्डल दो का ३५वाँ सूक्त जल के देवता अपान्नपात् को ही समर्पित है। अथर्ववेद (१६-३६-७, ८) में 'नावप्रमशनम्' का प्रयोग हुआ है। 'रामायण' (काण्ड ४, अध्याय ४३, पद ३२) में भी इसी कथा का आभास प्राप्त होता है। इस प्रकार जल-प्लावन की घटना परोक्ष रूप से कई स्थलों पर चित्रित है। इसके अतिरिक्त 'ऋग्वेद' में 'अंधकारमय रजनी' का भी वर्णन है। उसका विस्तृत विवेचन तिलक जी की पुस्तक में मिलता है।[3] भारत की अनेक आदिम जातियों में भी इस कथा का प्रचलन है। वेदों में जल-प्लावन-कथा के प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने से कई विदेशी विद्वान् इस कथा को सेमेटिक भावना से अनुप्राणित और प्रभावित कहते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, मैकडानल ने भी इसे असत्य प्रमाणित किया है।[4]

ग्रीक-जल-प्लावन-कथा के दो रूप हैं। Dgygian deluge में Attica जलमय हो गया था। Deukalion flood का वर्णन एक सौ चालीस ईसवी वर्ष पूर्व Appollodorms ने अपनी पुस्तक Bibliotheca...I...VII—२ में किया है। उसके अनुसार Zeus ने अपने पिता की इच्छा-पूर्ति के लिए ताम्र-युग के व्यक्ति Deukalion का विनाश करना चाहा। अपनी रक्षा के हेतु deukalion ने एक कवच का निर्माण किया। उसीमें वह अपनी पत्नी Pyrrha को लेकर

---

१. 'मत्स्यपुराण'—प्रथम व द्वितीय अध्याय।

२. Original Sanskrit Texts—3rd Edition—Muir I Vol—Page 181-220
II Vol—Page 322-329.
ऋग्वेद—१-६४-१४, २-२७-१०, २-३३-२, २-३५,५-५४-१५, ६-४८-८, ७-३६-१६।

३. Arctic Home in Vedas—Tilak.

४. Vedic Mythology—Macdonell, page 139.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बैठ गया। Zeus ने भीषण जल-वृष्टि से समस्त पृथ्वी को डुबो दिया। सभी-कुछ नष्ट हो गया। वे दोनों अपने कवच में ही नौ दिन के पश्चात् Parnassus नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय जल-प्लावन कुछ कम हो रहा था। यहाँ उन्होंने देवताओं के लिए अपने अंगरक्षक की बलि दी। प्रसन्न होकर Zeus ने उनकी इच्छा जानने का प्रयास किया। Deukalion बोला कि मुझे सन्तान की कामना है। इस पर पत्थर फेंके गए। जो Deukalion ने फेंके वे पुरुष और जो Pyrrha ने फेंके वे स्त्री हुए।[1]

'बाइबिल' में नूह जल का देवता है। अनायास ही एक दिन उसे सूचना मिलती है कि जीवन का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर जल-प्लावन होगा। प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जायगी। (जेनेसिस, ६-१७) इसीके बाद पृथ्वी पर अपार जलराशि छा गई। समस्त पर्वत आदि उसी में विलीन हो गए। (जेनेसिस, ७-१६) सभी चराचर समाप्त हो गए। केवल नूह और उसके साथी नौका में बच रहे। (जेनेसिस, ७-२३) वह नौका अराकन पर्वत पर टिक जाती है। धीरे-धीरे दसवें मास के प्रथम दिवस में जल कम हो गया। पर्वत-श्रेणियाँ दिखाई देने लगीं। (जेनेसिस, ८-५) नूह ही जल-प्लावन-कथा का नायक है। उससे ही मानवता का विकास हुआ।[2] इसी कथा से अन्य कथाओं का भी सम्बन्ध है।[3]

बेबीलोनिया के साहित्य में जल-प्लावन की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उन सबका संग्रह परसी हैण्डकाक ने 'बेबीलोनिया की जल-प्लावन-कथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत लगभग १६२१ में किया था। प्रमुख कथा के अनुसार 'Berossus बेबीलोनिया में तीन सौ ईसवी पूर्व बेल का पुरोहित था। उसने प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर जल-प्लावन का वर्णन किया है।' उसने लिखा है कि 'Ardates की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र Xisuthros ने लगभग अठारह सर (१८×३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी समय एक भीषण बाढ़ आई। राजा को स्वप्न में ही इसका आभास मिल गया था। समस्त भू-भाग के जलमय हो जाने पर भी वह अपनी नौका में ही बना रहा। जल का वेग कम होने पर उसने तीन बार पंछी उड़ाए। अन्तिम बार पंछी लौटकर नहीं आया, तभी Xisuthros ने समझ लिया कि अब जल-प्लावन कम हो चुका है और वह बाहर निकला। उसने तत्काल देवताओं को बलि दी तथा बेबीलोनिया का नव-निर्माण किया।'

इसके अतिरिक्त 'गिलगमेश' महाकाव्य में भी जल-प्लावन का सजीव चित्रण हुआ है। गिलगमेश ने उपनपीश्तम से बातें कीं। उसने रहस्यमय घटना का उल्लेख करते हुए बताया कि शूरिपाक (Shurippak) नामक नगर यूफ्रेटस (Euphrates) के किनारे स्थित है। वहीं भीषण जल-प्लावन हुआ। Muir kukki ने जल-वृष्टि की। Adad ने विद्युत् को दौड़ा दिया। सातवें दिन वातावरण कुछ शान्त हुआ। तभी मानवता का विकास हुआ।[4] बेबीलोनिया और 'बाइबिल' की कथाओं में अनेक साम्य मिलते हैं।

---

१. Bibliotheca—Applodorms—I—VII—2

२. Bible of the World—Robert O. Bellon (1946) page 649.

३. The Riks—T. Paramsiva Iyer (1911) page 152.

४. Epic of Gilgamesh—Canto XI.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहलवी ग्रंथों के अनुसार सृष्टि-सृजन के पूर्व एक पारस्परिक विवाह हो गया। आकाश, जल, वायु आदि से दानवों का संघर्ष हुआ।[१] फारसी के धार्मिक ग्रंथों में देवताओं ने विचार-विमर्श के अनन्तर यह निर्णय किया कि अपार शीत के साथ हिम-पात से एक भीषण बाढ़ लाई जाय। यीमा को संकेत कर दिया गया कि वह अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर ले। उसने यही किया।[२] सुमेरियन ग्रन्थों में Zi-u-Suddu ने स्वप्न में ही जल-प्लावन का संकेत पा लिया था। वही जल-प्लावन सात दिन तक रहा। परिनिपीश्तम् जल के बीच रहने वाले देवता थे। चीन में भी Shih राजा के समय में zu की बुद्धिमत्ता का वर्णन है।[३]

इस प्रकार जल-प्लावन की कथा प्राचीन जातियों के पुरातन ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। इनमें से सभी की वास्तविकता अथवा वैज्ञानिक आधार की पुष्टि सम्भव नहीं। धार्मिक आधार होने के कारण ये कथाएँ प्रायः इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखी गईं। इनका लक्ष्य मानव का आध्यात्मिक विकास है।[४]

'कामायनी' की भूमिका से स्पष्ट है कि प्रसाद ने कथावस्तु का ग्रहण भारतीय ग्रन्थों से किया है। कल्पना का अधिकाधिक आश्रय उन्होंने लिया, क्योंकि वे 'कामायनी' को एक गाथा अथवा धार्मिक ग्रन्थ नहीं बना देना चाहते थे। मानवता का मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक चित्र प्रस्तुत करना ही उनका प्रतिपाद्य विषय था। 'डिवाइन कामेडी' के पौराणिक दोष 'कामायनी' में नहीं हैं। ऐतिहासिक आधार होते हुए भी कवि ने कल्पना के द्वारा नवीनतम विषयों को ग्रहण किया है।

'कामायनी' का आरम्भ ही जलमय पृथ्वी के वर्णन से होता है। इसके पूर्व की घटना छोड़ दी गई है। इसी अवसर पर 'एक पुरुष' के अस्तित्व का परिचय दिया गया है। हिमगिरि उतुङ्ग शिखर का वर्णन तो सभी में मिलता है। जिस 'एक तत्त्व की प्रधानता' का उल्लेख कवि ने किया है, वह जल और हिम के समीप है। जल और हिम दोनों में एक ही तत्त्व प्रमुख था। जड़ अथवा चेतन! जिस तपस्या का वर्णन 'मत्स्य पुराण' आदि में है, उसीका एक आभास 'तरुण तपस्वी' की साधना में मिल जाता है।[५] कवि ने इसी स्थल पर प्रथम पुरुष के पौरुष-मय स्वरूप का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। पौराणिक गाथाओं ने जिस दिव्य शक्ति और तेज से मनु को विभूषित किया है, उसे यहाँ स्थान नहीं दिया गया। 'कामायनी' का मनु पूर्ण मानव के रूप में सम्मुख आता है। मानव की सार्थकता इसी स्वतन्त्र चित्रण के कारण है। मनु जीवन की स्वाभाविक दुर्बलताओं से युद्ध करता हुआ ही परम लक्ष्य तक जाता है।

---

१. 'The sacred conflict was waged with water.....'
—The Bible of the World (1938) Page 628

२. Song Venidad—given by Ushar, translated by Geldner, Page 208.

३. Sacred book of China—Texts of Confucianism—Part 1st.

४. 'But the story of such a flood can neither be verified nor disproved historically. And consequently its value must lie in the moral and spiritual lessons it is designed to teach.'
—A New Standard Bible Dictionary (1926) Page 269.

५. 'कामायनी,'—'चिंता' सर्ग का आरंभिक अंश।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यद्यपि आज भी उसे देवत्व के मधुर स्वप्न याद आते हैं, किन्तु उसे बोध हो गया है कि वह अपूर्ण था। वह कहता है :

'भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में,'

जलप्लावन के उतरने के साथ ही पृथ्वी बाहर निकलने लगी। 'एक पुरुष' की नौका महावट से बँधी है। आगे चलकर वह उत्तरगिरि के सिर से टकराती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी मनु की नौका 'उत्तरगिरेर्मनोरवसर्पण' में एक वृक्ष से बाँध दी गई थी।[1] यह उत्तरगिरि स्थान हिमालय में ही है। आगे चलकर 'इड़ा' सर्ग में वृत्रघ्नी (सरस्वती) का भी वर्णन आया है। इस जल-प्लावन-स्थान और मनु के नौकावरोहण के विषय में प्रसाद जी का विचार है कि—'मेरु और उसके पास ही उत्तरकुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रथों में मेरु के साथ ही उत्तरकुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों ही एक-दूसरे के निकट हैं। उत्तरकुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पूर्वजों का पवित्र देश कहा गया है। 'भीष्म पर्व' में भी इसका विस्तृत वर्णन है। वहाँ के व्यक्ति शुक्ल वर्ण (गौर) अभिजातसम्पन्न, नीरोग और दीर्घजीवी होते थे।'[2] 'बृहत्संहिता' में भी कहा है :—

'उत्तरतः कैलासो हिमवान वसुमान गिरिर्धनुष्माँश्च
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥ १४-२४ ॥

इस विषय में अविनाशचन्द्र दास जी का भी मत है कि—'सप्तसिन्धु उत्तर-पश्चिम की ओर गान्धार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया अथवा एशिया माइनर से मिला हुआ था।'[3] इतिहास स्वयं इस सत्य का प्रमाण है कि प्राचीन आर्यावर्त की सीमा बड़ी दूर तक थी।

जल-प्लावन के समय चराचर का कोई भी चिह्न शेष नहीं रह गया था। इसे 'कामायनी' में 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी, पहचानी-सी' कहकर स्पष्ट किया गया है। इसी विकराल स्थिति के वर्णन के पश्चात् मनु के हृदय का झंझावात दिखाया गया है। यह मनोवैज्ञानिक है। साथ ही भारतीय दर्शन में मनु से मन का भी अर्थ लिया जाता है। इस स्थिति द्वारा ही प्रसाद जी देव-दानव की अपूर्णता बताकर मानव को सर्वोपरि बताते हैं। मनु की चिन्ता के मूल में 'एकोऽहम् बहु स्याम' का बीज निहित है। 'शतपथ' के इड़ा अंश को यहाँ छोड़ दिया गया है। किन्तु वही इड़ा अन्त में जाकर मनु से मिलती है।

मानसिक झंझावात के समाप्त होते ही 'एक पुरुष' प्रलय अथवा जल-प्लावन का दृश्य प्रथम बार अपनी आँखों से देखता है :

दिग्दाहों से धूम उठे या, जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

---

१. अमीवरम् वैस्वावृत्तेनावं प्रति वंदनीय
'—शतपथ ब्राह्मण' (माध्वीय) ८-०

२. प्रसाद जी का लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और इसका प्रथम सम्राट्'
—कोशोत्सव स्मारक संग्रह (सं० १८८५) पृष्ठ १६२

३. Avinash Chandra Das—Rigvedic India—Page 560.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास॥

'कामायनी' के इस जल-प्लावन-दृश्य का समर्थन तद्विषयक प्रायः सभी भारतीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'बाइबिल' के वर्णन में भी प्रकृति की यही स्थिति थी—'अन्धकार के स्वामी ने सन्ध्या-काल भीषण जल-वृष्टि की थी। सन-सन पवन, जल, झंझावात आदि पृथ्वी पर छा गए थे।'[1] 'गिलगमेश' महाकाव्य का चित्र यही है। 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है, 'सारी पृथ्वी जल से आप्लावित होकर समुद्र में डूब जायगी।' वाडव ज्वाला, जलधि और झंझा का प्रयोग प्रसाद जी ने किया है। इस प्रकार 'कामायनी' का जल-प्लावन चित्र ऐतिहासिक तथा पौराणिक दृष्टि से सार्थक है।[2] इसी स्थल पर कवि ने मानवीय भावनाओं का भी निर्देश किया है। 'एक पुरुष' के 'भीगे नयन' थे, भीषण रव से धरती काँप रही थी, मानों आलिंगन के हेतु नील व्योम उतरा हो। उदधि अखिल धरा को डुबाकर 'मर्यादाहीन' हो गया था।

जिस नौका का वर्णन अन्य पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है, वह अमानवीय थी। उसे देवताओं ने दान दिया था, अथवा उस पर प्रलय का कोई प्रभाव न पड़ सकता था। 'कामायनी' की नाव में भी डाँड अथवा पतवार नहीं लगते। वह तरल तरंगों से उठ-गिरकर 'पगली' बारम्बार बहती है।

मनु की इस नौका को 'कामायनी' में महामत्स्य का एक चपेटा उत्तर-गिरि के सिरे से लाकर टकरा देता है। यह 'चपेटा' शब्द कवि की स्वतन्त्र कल्पना है। अन्यथा प्राचीन आख्यानों में वह मत्स्य के पंख में बँधकर हिमवान प्रदेश पर पहुँचती है।[3] इसी के पश्चात् 'एक पुरुष' पुनः जीवन की मरुमरीचिका पर विचार करने लगता है। आरम्भ का आन्तरिक झंझावात पुनः आरम्भ हो जाता है। यह एक स्वाभाविक क्रम है कि किसी घटना अथवा दृश्य से मानव की स्मृति और विचारणा सजीव हो उठती है। उसीके पश्चात् उसी स्थिति का वर्णन आता है :

पवन पी रहा था शब्दों को, निर्जनता की उखड़ी सांस।
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि, बनी हिमशिलाओं के पास॥

यहीं एक स्थान पर 'तिमिंगिल' का प्रयोग हुआ है। तिमिंगिल बड़ा मत्स्य है, जो छोटों को खा जाता है। मनु से शफरी ने इसी से रक्षा करने की प्रार्थना की थी।[4]

इस प्रकार 'चिन्ता' सर्ग में जल-प्लावन का वर्णन हुआ है। एक पुरुष, हिमगिरि, नौका, प्रलय, प्रकृति आदि का चित्र 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण' आदि भारतीय ग्रन्थों के समीप है।

जल-प्लावन के पश्चात् ही 'आशा' में सृष्टि के नव-विकास का उदय होता है :

---

१. The appointed time arrived. The ruler of darkness at eventide sent a heavy rain.....The wind blew, the Flood, the tempest overwhelmed the land—Epic of gilgamesh, canto XI.

२. 'कामायनी' की भूमिका—"इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा सृष्टि हुई है।"

३. .....तस्य नावः पाशं शृङ्गे प्रतिमुमोच तेन हैतमुत्तरं गिरिमभिदुद्राव शतपथ ब्राह्मण ८-१-३।

४. शतपथ, महाभारत वन-पर्व—मत्स्योपाख्यान आदि।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उषा सुनहले तीर बरसती, जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।

यही पुनरुत्थान सभी जल-प्लावन-कथाओं में मिलता है। प्रलय शान्त हो जाती है और नवीन मानवता जन्म लेती है। यहीं पर मनु को जीवन के प्रति मोह उत्पन्न होता है। वे नभ के गानों में शाश्वत रहना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के मनु को भी इड़ा प्रलय के पश्चात् ही मिल जाती है। क्या उन्हींसे मानवता का जन्म होता है।[1] 'बाइबिल' में भी नूह को भावी सृष्टि के विकास का वरदान मिला था। इस विषय में सभी कथाएँ एकमत हैं कि शेष व्यक्ति ही से मानवता का विकास होता है। प्रसाद ने 'आशा' में ही भावी मानवता के प्रति एक सूक्ष्म संकेत कर दिया है। यहीं पर प्रथम बार वे 'एक पुरुष' को मनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं :

'देखा मनु ने वह अति रंजित, विजन विश्व का नव एकान्त'

'प्रहर दिवस कितने बीते' से प्रलय-काल का निर्णय प्रसादजी ने कर दिया है।

'कामायनी' के आरम्भिक मनु केवल इसी कारण यज्ञ करते हैं कि 'क्या आश्चर्य है, और कोई जीवन-लीला रचे हुए हो।' वे अवशिष्ट अन्न कहीं कुछ दूर पर रख आते थे। उन्हें इसमें सहज सुख मिलता था कि इससे कोई अपरिचित तृप्त होगा। यह कामना 'शतपथ ब्राह्मण' के इड़ा-उत्पत्ति-कारण से सम्बन्ध रखती है। अन्त में 'श्रद्धा' सर्ग में सृष्टि का यह विधान पूर्ण हो जाता है।

प्राचीन आलेखों के अनुसार प्रलय के दो स्वरूप हैं—प्रलय और महाप्रलय। शैव-दर्शन के अनुसार महाप्रलय की दशा में आणव, कर्म आदि नष्ट हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। यहाँ कर्म का प्रयोग अतिशय व्यापक अर्थ में किया गया है। नैयायिक और वेदान्तवादी इसे नहीं मानते।[2] प्रलय में आत्मा कर्मानुसार एक निद्रा (सुषुप्ति) में निमग्न हो जाती है। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस्, तमस् गुण समान स्थिति में आ जाते हैं। किन्तु वैशेषिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु परमाणु में परिवर्तित हो जाती है।[3] प्रलय की दशा में जो कर्म सो जाता है, वही जागृति में सृष्टि का सृजन करता है। किन्तु महाप्रलय के पश्चात् निर्माण सम्भव नहीं। इस दृष्टि से 'कामायनी' की जल-प्रलय साधारण प्रलय है। तभी कर्म से नवीन मानवता का विकास हो सका।

'कामायनी' के प्लावन-वर्णन में आये हुए मनु प्राचीन आलेखों में वर्णित मनु के प्रतिरूप हैं, यह प्रश्न भी विचारणीय है। प्रलय के पश्चात् बच रहने वाले और नये सिरे से सृष्टि का विकास करने वाले मनु के भारतीय जनश्रुति में कई रूप मिलते हैं। वेद मनु को कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में स्वीकार करते हैं। वे यज्ञ करते हैं तथा प्रथम अग्निहोत्र को प्रज्वलित करते हैं।[4] वे 'विश्वदेव' हैं। ऋग्वेद में कहा गया है :

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १०-६३-७

---

१. तद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान्—शतपथ-८-१-७
२. 'वेदान्त सूत्र'—शांकर-भाष्य—४०७
३. K. C. Pande—Abhinavagupta, 1935, Page 231.
४. ऋग्वेद—१-४४-११; ३-३४-३; १०-६३-१५.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ये 'श्राद्धदेव' मनु मानवता के जन्मदाता भी हैं। पुराणों में वैवस्वत मनु का आख्यान मिलता है। 'शिव', 'हरिवंश', 'श्रीमद्भागवत', 'देवी भागवत' आदि में इनकी चर्चा है। 'मनुस्मृति' के मनु ऋषि, जन्मदाता और नियामक भी हैं। 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग तांड्य, ब्राह्मण आदि में भी मिलता है। 'महाभारत' के मनु भी प्रजा का पथ-प्रदर्शन करते हैं। मनु का वर्णन प्रायः सभी भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में किसी-न-किसी रूप में मिलता है। उनके समन्वय से हम जन्मदाता, पालनकर्ता, रक्षक और आदि पुरुष का रूप सहज ही पा सकते हैं। प्रलयकालीन मनु का इन सभी से साम्य स्थापित हो जाता है, क्योंकि वे ही सृष्टि का नव-सृजन करते हैं।[1]

'कामायनी' में मनु के चरित्र के कई रूप मिलते हैं। प्रलयकालीन मनु का स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों में प्राप्त हो जाता है। इसीके अनन्तर वे कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। मनु का यह रूप वैदिक कर्मकाण्डी मनु के अधिक समीप है। वे आदि-पुरुष हैं और ज्वलित अग्नि के पास बैठकर मनन किया करते थे। उनकी साधना तपस्वी की भाँति है।

इसीके पश्चात् मनु और श्रद्धा का मिलन होता है। श्रद्धा मनु को भावी मानवता के लिए कर्म में नियोजित करती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के 'श्रद्धादेवौ वै मनुः' सातवें मन्वन्तर ही हैं, इसकी कोई पुष्टि नहीं। 'भागवत पुराण' में वर्णन आता है :

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञयापयामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् सआत्मवान॥

यद्यपि एक-दो स्थलों पर अपवाद भी हैं, तथापि मनु प्रायः श्रद्धा के पति रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। इड़ा के साथ उनके सम्बन्ध की पुष्टि करने के लिए 'कामायनी' के मनु को 'शतपथ' के निकट ही रखना होगा। श्रद्धा और इड़ा वहाँ लगभग बहनें ही हैं।[2]

'कर्म' सर्ग में मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति जाग उठती है। किलात-आकुलि के साथ वे पशु-बलि करते हैं। अन्य पौराणिक गाथाओं में मनु को इतना नीचे नहीं गिराया गया जितना 'कामायनी' में। 'शतपथ ब्राह्मण' में अवश्य वे इड़ा के साथ व्यभिचार करना चाहते हैं। 'कामायनी' के मनु सोम का प्रयोग करते हैं। उनके कर्म का क्षेत्र ही परिवर्तित हो जाता है। 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु मृगया में व्यस्त पुत्र से ही ईर्ष्या करने लगते हैं। अन्त में श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं। यह कवि की कल्पना है। उसने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को अंकित करने के लिए ही ऐसा किया है। प्राचीन ग्रन्थों की भाँति ही 'कामायनी' के मनु से सृष्टि का विकास होता है।[3]

मनु 'इड़ा' सर्ग में पश्चात्ताप करते हैं। उनका आन्तरिक झंझावात प्रबल हो उठता है। यहीं काम के शाप में कवि ने आधुनिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इड़ा का मिलन मनु को प्रजापति बना देता है। मनु का यह स्वरूप मनुस्मृति की भाँति है। 'शतपथ' और 'ऋग्वेद' दोनों की इड़ा इस स्थल पर आकर उपस्थित हुई हैं। 'ऋग्वेद' के अनुसार इड़ा मनुष्यों पर शासन करती है।[4] यहाँ भी मनु उसके बुद्धिवाद के सम्मुख समर्पण करते हैं। 'स्वप्न' सर्ग में मनु

---

१. P. Thomos—Epics, Myths and Legends of India—Ist chapter.

२. शतपथ ब्राह्मण ११-२७-२०

३. The human race was renewed through Manu. M. Winternitz—A History of Indian Literature (1927) Vol. I, Page 210.

४. ऋग्वेद—१-३१-११।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नियमों का उल्लंघन करके इड़ा का आलिंगन करना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में तो इस अपराध के लिए देवताओं ने केवल शाप दिया था, किन्तु यहाँ समस्त प्रजा ही विद्रोह कर उठती है।

मनु का अन्तिम रूप श्रद्धा की सहायता से आनन्द का सृजन है। इस स्थल पर वे श्रद्धादेव, श्राद्धदेव तथा सफल प्रजापति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यही नहीं प्रसादजी ने उन्हें वेदों के ऋषि के रूप में चित्रित कर दिया है, जिनके दर्शन से मानवता का सारा श्रम दूर हो जाता है। 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' के मनु आत्मवादी, आनन्दवादी इन्द्र की भाँति हैं। इस प्रकार 'कामायनी' के मनु भारतीय ग्रन्थों से अनुप्राणित कवि की कल्पना के सफल मानव हैं। उनका सम्बन्ध जल-प्लावन से लेकर मानवता के विकास तक है।

'कामायनी' का जल-प्लावन भारतीय आधार पर होते हुए भी सार्वभौमिक हो गया है। पौराणिक पक्ष का परित्याग कर देने से वह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सार्थक है। जल-प्लावन के इन मूल स्रोतों से कवि का परिचय अनुमित होता है। भारतीय कथानक को लेकर प्रसादजी ने 'कामायनी' में भावी मानवता का निरूपण किया है। यही कारण है कि 'चिन्ता' का विक्षुब्ध प्रलयकालीन मनु आनन्दवाद तक चला जाता है—और यही जीवन का चरम लक्ष्य है।[1]

१. इस लेख के 'क' भाग के लेखक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव तथा 'ख' भाग के लेखक डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड

काव्य-सृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं और सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्णतया समझने के लिए इन दोनों के गम्भीरतम स्रोतों को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रसानुभव अथवा रस-ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय श्रोता अथवा रसज्ञ को एक केन्द्र-विन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सहृदय अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर रस का मानस – आस्वादन करता है। वह अपनी दैनन्दिन अनुभूतियों को पीछे छोड़ देता है और भावना तथा अनुभूति की एक असामान्य, उदात्त और तटस्थ स्थिति को ग्रहण कर लेता है। रस के अलौकिकत्व को हमें इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में ढूँढ़ना होगा। रसानुभूति मन की आनन्दमयी प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में पाठक ऐसे भाव-लोक में पहुँच जाता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी भौतिक स्थिति को भूलकर एक अतीन्द्रिय स्वप्न में विचरण करने लगता है। जिस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे अनुभव होता है उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। उसका अपना वैयक्तिक अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है और वह चेतना के ऐसे स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ उसकी अपनी चेतना सार्वभौम चेतना का अंश बन जाती है। व्यंजना के द्वारा इस व्यापक रसानुभूति की कल्पना भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे ऊँची उड़ान है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि काव्य का पाठक या श्रोता सहृदय हो, उसमें ऐसे संस्कार हों जिनसे वह कला-कृति से पूर्ण रूप से संयोजित हो सके और उसकी अभिरुचि परिमार्जित हो।

परन्तु हमारे काव्य-शास्त्री 'रस' पर रुक जाते हैं। वह काव्य-सृजन की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरों की खोज नहीं करते। भारतीय साहित्य में कवि-प्रतिभा और कवि-व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है; परन्तु रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र और इन विभिन्न काव्यांगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिखा गया है। पश्चिम में काव्य-सृजन की प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व को कृति से संयोजित करके काव्य-विवेचन के लिए एक नया मार्ग ही अन्वेषित हो गया है।

पण्डितों ने काव्य-सृजन का मूल स्रोत प्रतिभा को माना है। प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना-शक्ति, वह अन्तर्दृष्टि, जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु-स्थिति और संयोजना में अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप में मूर्तिमान होती है। उसकी स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। वास्तव में उसे शब्दों में पूर्णतया बाँधना कठिन है, इसीसे पूर्वजों ने उसे लोकोत्तर अथवा वरदान के रूप में माना है। अपने यहाँ वाग्देवी की कल्पना की गई है और काव्य-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य को उसीका प्रसार बतलाया है। कवि-प्रतिभा के इस लोकोत्तर रूप के समर्थक कवि को माध्यम-मात्र मानते हैं।

परन्तु क्या कवि-प्रतिभा सचमुच लोकोत्तर है? क्या कहीं कवि के बाहर उसका अस्तित्व है? सृजन के क्षण इतने स्फूर्ति-प्राण, केन्द्रीभूत और आनन्दमय होते हैं, उस समय कवि नाम के प्राणी में भौतिक (शारीरिक) और स्नायविक चेतना कुछ इतनी नवीन और वैयक्तिक होती है और उन सृजन के क्षणों का फल कवि की कृति ऐसी अद्भुत है कि उसे और कुछ न कहकर लोकोत्तर कह दिया जाता है। काव्य-सृजन साधारण पाठक के लिए विस्मय की ही वस्तु है, अतः रूपक-रूप में उसे लोकोत्तर कहें तो कुछ भी अनुचित नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतिक्षण की काम-काजी अनुभूति से यह इतनी भिन्न है कि उसे विचक्षण ही कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान की नई खोजों से यह स्पष्ट है कि इस अनुभूति में दैवी कुछ भी नहीं है।

काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है; जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्त्व भी मिले होते हैं। अभिव्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है। काव्य-प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उसकी निर्मात्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अन्तर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना-शक्ति दुःसाहसी बन जाती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्रकृति-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। कवि की अन्तश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते हैं और उसकी पूर्व स्मृतियाँ और पूर्वानुभूतियाँ उसके मन को नई मूर्तियों, नये अप्रस्तुत विधानों, नये नाद-स्वरों, नये अर्थों, नई लयों और नये संकेतों से भर देती हैं। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन तत्त्वों ने भाग लिया है, वे सब—उसके घृणा-द्वेष, उसका सूक्ष्म चिन्तन और उसकी चुहलें—एक ऐसी कला-कृति को जन्म देते हैं, जो कवि को भी अपने व्यक्तित्व से भिन्न एकदम नई लगती है। संक्षेप में, कवि के मन का सौन्दर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, सृजनात्मक और व्यवहारात्मक अर्थात् टेकनिकल है। इसका आरम्भ, मध्य और अन्त सुनिश्चित है। आरम्भ को हम प्रेरणा कह सकते हैं। इस अवस्था में कवि—कलाकार किसी माध्यम के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है। दूसरी अवस्था में वह अभिव्यंजना-कला की ओर विशेष जागरूक रहता है और अन्त में वह निश्चित कला-कृति के निर्माण में समर्थ हो जाता है। यह सारी सृजनात्मक प्रक्रिया एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। परन्तु कला-कृति पूर्ण होने पर भी अपने बाहर प्रसारित होती है। कलाकार भी मनुष्य है, साधारण प्राणी है और वह भी अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसका माध्यम हैं शब्द, जिनके पीछे अर्थों, भावनात्मक सम्बन्धों, ऐतिहासिक प्रकरणों, सन्दर्भों और भंगिमाओं एवं दृष्टि-कोणों की एक विस्तृत भूमि है। फलस्वरूप जिन शब्दों का प्रयोग कवि अपनी अनुभूति की पूर्णतम व्यंजना के लिए करता है, वही दूसरे के लिए विशेष अर्थ देने में भी समर्थ होते हैं। इस प्रकार सृजन के द्वारा कवि आत्माभिव्यंजना में ही समर्थ नहीं होता, वह पर-बोधक भी बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि का पूरा व्यक्तित्व सृजन में डूब जाता है, माध्यम का उपयोग और उसकी सम्भावनाएँ उसे अद्भुत आनन्द से भर देती हैं और जब वह इस प्रक्रिया में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सफल होता है तो उसकी सारी अनुभूति ही कला-कृति का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता। परंतु फिर भी उस कला-कृति को एक ओर उसके मूल स्रोत, उसकी पृष्ठभूमि और उसकी सर्जन-प्रक्रिया से और दूसरी ओर उसके साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित किया जा सकता है। हम उसे परम्परा से आबद्ध कर सकते हैं, अथवा परम्परा की दी हुई उसकी चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। या तो हम उस रचना से आनन्द ग्रहण कर सकते हैं, या उसके गुण-दोषों को उन्मुक्त कर सकते हैं। इस तरह कला-कृति के एक ओर कवि है, दूसरी ओर जागरूक सहृदय पाठक या आलोचक।

कला-कृति का विश्लेषण करते हुए भी हमें पहले कवि की प्रतिभा, उसके रूप, उसकी स्फूर्ति के सम्बन्ध में विचार करना होता है। क्यों प्रतिभा विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है, क्यों वह सदैव क्रियाशील नहीं रहती, क्यों विशेष कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व सदैव प्रवहमान रहता है, जड़ीभूत नहीं हो जाता—ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आज कुछ कठिन है। हमारे देश में प्रतिभा को संस्कार अथवा वासना की उपज माना गया है और उसको पूर्व जन्मों से सम्बन्धित किया गया है। परन्तु क्या हम आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इस सृजनात्मक प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर सकते? प्रत्येक प्राणी में सर्जनात्मक स्फूर्ति का निवास है। इसका एक रूप प्रजनन है। क्या रस इसी प्रकार की कोई सर्जनात्मक स्फूर्ति नहीं है? सामान्य मनुष्य को कला-कृति से जो रसानुभूति मिलती है, वह क्या इससे नितान्त भिन्न है?

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है—चेतन और अवचेतन। फ्राइड का कहना है कि चेतन मन अक्रियाशील है, अवचेतन मन विशेष क्रियाशील है। मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। प्रतिभाशाली कवि और कलाकार भी सामान्य मनुष्य है यद्यपि उसे विशेष सर्जन-शक्ति प्राप्त है। उसके परिवेष्टन के तत्त्व अर्थात् उसकी आवश्यकताएँ, स्फूर्तियाँ, सीमाएँ, परिस्थितियाँ इत्यादि उसकी अभिरुचि के निर्माण में भाग लेते हैं। उसका अपना परिवार रहता है और इस परिवार की जातिगत अथवा वर्गगत एवं स्थानीय कुछ विशेषताएँ रहती हैं। उसकी प्रतिक्रिया, उसका ज्ञान, उसका विशेषत्व, उसका व्यवहार और जीवन-दर्शन सब निश्चित रहता है। इसमें से अधिकांश के पीछे उसका वैयक्तिक अथवा समाजगत इतिहास रहता है। यह परिवेष्टन ही उसके मन को गढ़ता है। फिर उसकी शिक्षा दीक्षा, उसका अध्ययन, उसके ज्ञात-अज्ञात निरोध उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। कवि-कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी कला-कृति को विशिष्टता प्रदान करता है।

परन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ है, जो कलाकार अपने परिवेष्टन से ग्रहण करता है। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अथवा उसके उपचेतन और अवचेतन मन पर अज्ञान, स्मृति, करण-कारण-सम्बन्ध, भाव-भंगिमा (दृष्टिकोण), व्यवहार और अनुभूति की अनेकानेक छापें छिपी या उभरी रहती हैं। ये कवि की अन्तःप्रेरणा के अदृश्य स्रोत हैं। ये जातिगत या सार्वभौमिक तत्त्व एक अव्यक्त सत्त्व के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व में सदैव अन्तर्हित रहते हैं। कवि के अन्तर्जगत् का यह भाग साधारणतः सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, परन्तु जब वह एक बार जाग्रत हो जाता है तो वह कवि को अदमनीय स्फूर्ति से भर देता है और उसकी कल्पना में ऐसे तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं, जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यतः

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसके ज्ञान, व्यवहार और चिन्तन के विषय नहीं होते। सर्जन के क्षणों में कवि–कलाकार इन्हीं अदृश्य स्रोतों में डुबकी लगाता है। इससे वह अपने व्यक्तिगत बन्धनों से मुक्ति पा जाता है और निर्बन्ध, उन्मुक्त जीवन-चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने से समर्थ होती है। उसकी कल्पना निर्बाध गति से बहने लगती है। 'निर्झरेर स्वप्नभंग' नाम की कविता में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस स्वच्छन्द, निर्द्वन्द जागृति का चित्रण किया है कुछ उसी प्रकार की जागरण-स्फूर्ति कवि को पकड़ लेती है। यही अद्भुत विस्फोट कवि की अशरीरी सर्जन-प्रतिभा को काव्य-शरीर देता है। इन क्षणों में कवि का पुनर्जन्म होता है—उसकी चारित्रिक परिसीमा टूट जाती है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही क्रियमाण हो उठता है। इस अवस्था में कल्पना, तथ्य, गीति, लक्षणा के तत्त्व एक परिपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र में बँधकर नई कला-कृति के अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। सर्जन के अन्त में संसार को जो नई भेंट मिलती है, वह कवि का मानस-पुत्र होने पर भी उसके अपने व्यक्तित्व से बहुत-कुछ भिन्न होती है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था में यह सर्जन-प्रक्रिया गतिमान रहती है उसे परिपूर्ण समाधि की अवस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में ध्येता और ध्येय में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। यदि समाधि शिथिल है तो रचना में आत्मचेतन, शैथिल्य और असन्तुलन रहता है। निस्सन्देह सर्जन के क्षणों में कवि भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में तटस्थ बन जाता है। उसकी इसी स्थिति को हम 'लोकोत्तर' कह सकते हैं।

यह सर्जन कला-कृति का एक छोर है। दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कला-कृति के अर्थों की व्याख्या और उसका मूल्य-निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए शिक्षा, अनुभूति, सहवेदन, कला-निष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति और नये मूल्य-निर्धारण का साहस अपेक्षित हैं। समीक्षक की स्थापनाएँ उसकी अभिरुचि की उच्चता और विशिष्टता पर निर्भर रहती हैं और उसके निर्माण में वे कलागत मूल्य सहायक होते हैं जिन्हें वह मापदण्ड बनाकर चलता है। श्रेष्ठ समीक्षक जब किसी कला-कृति की विवेचना करता है तब वह कला-कृति सामाजिक तत्त्व बन जाती है। उसे उस कला-कृति तक अनेक प्रकार से पहुँचना होता है। कला-कृति के पीछे जो जीवन-सन्देश या तथ्य-स्थापना है, उसमें कलाकार का जो स्वप्न मूर्तिमान हुआ है, उसमें अभिव्यंजना के जिन नये साधनों का उसने प्रयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणों में वह जिस प्रकार सन्तुलन स्थापित करने में समर्थ हुआ है—ये समीक्षक के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इसके अतिरिक्त वह विशेष कृति की अन्य समान कृतियों से तुलना करता है, उसे नये-पुराने मूल्यों पर परखता है, उसे वर्गनिष्ठ करता है अथवा युग और परम्परा से सम्बन्धित करता है। कला-कृति का रसास्वादन यदि महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो उसका मूल्य-निर्धारण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि समीक्षक अपने क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी हो, वह पक्षपात-रहित हो, कला-कृति में वह अपने अर्थों की स्थापना न करे। ऐसे निष्पक्ष अधिकारी समीक्षक ही कला-कृति को नया संवेदन देने में समर्थ हो सकते हैं।

कला के मानों और समीक्षक के मूल्य-निर्धारण में सार्वभौमिकता हो, यह आवश्यक नहीं है। यह सम्भव भी नहीं है। प्रत्येक युग अपने साहित्यिक दाय के परखने के लिए नये मानों का निर्माण करता है। प्रत्येक नये युग का अपना दृष्टिकोण, अपना स्वप्न, अपना पहलू होता है। फलतः किसी एक श्रेष्ठ कला-कृति के चारों ओर समीक्षा के अनेक परत जम जाते हैं। यही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं, सैद्धान्तिक समीक्षा भी सदैव अपरिवर्तनशील नहीं रहती। कला के जन्म, उसकी प्रकृति, उसके प्रकार, उसके माध्यम और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति आदि के सम्बन्ध में भी विचार बदलते रहते हैं। परन्तु बदलते हुए मानों और विचारों से श्रेष्ठ कला-कृतियों को हानि नहीं पहुँचती। श्रेष्ठ कला-कृतियाँ जड़ नहीं होतीं। वह जीवन और चेतना से ओत-प्रोत रहती हैं। उनका अपना इतिहास बन जाता है। प्रत्येक युग में उनका सौन्दर्य वृद्धिमान हो जाता है और प्रत्येक नया युग उनमें नया जीवन-सन्देश ढूँढ़ लेता है। काव्य-समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह कला-कृति के इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी दे। कलाकार के मन की प्रारम्भिक अस्पष्ट रसानुभूति से लेकर परिपूर्ण कला-कृति तक का वृहद् क्षेत्र उसके लिए दर्पण की तरह उज्ज्वल होना चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि कला-कृति का सौन्दर्यात्मक, रचनात्मक, कलात्मक और समीक्षात्मक मूल्यांकन वस्तुतः उसके अर्थ, सौन्दर्य और रूप का प्रसार-मात्र है।

वस्तुतः कला-कृति को कई कोणों से देखा जा सकता है। कलाकार के लिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन का एक अंश, उसका एक अविभाज्य अनुभव, उसके मानस का एक अखण्डित अंग है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को उसमें मन की विभिन्न प्रक्रियाओं का संयोजन महत्त्वपूर्ण जान पड़ेगा। साहित्यिक, सहृदय या समीक्षक के लिए वह वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है और उसकी सफलता-असफलता को वह रस, अलंकार, छन्द, गुण, वृत्ति और ध्वनि की कसौटी पर आँकता है। समाज-विज्ञानी उसमें सामाजिक चेतना देखता है अथवा उसे समसामयिक जीवन से सम्बन्धित करता है। वह वर्ग-प्रेरणा को साहित्य-प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्व देता है। उसके लिए कलाकार और उसकी कला-कृति परिवेष्टन से बाहर की उपज नहीं है और इस परिवेष्टन में कमी-कमी मानव-जाति का सारा विकास सिमट आता है। समीक्षक की दृष्टि से वह ऐसा केन्द्र विन्दु है, जो उसे नये तथ्यों की ओर उन्मुख करता है अथवा पुराने तथ्यों और अभिरुचियों के लिए कंचन-कसौटी का काम करता है। इन सब दृष्टिकोणों से स्वतन्त्र भी कलाकृति का अस्तित्व है। उसमें एक अति भावुक, प्रबुद्ध, जागरूक आत्मा का संवेदन आलेखित है। वह स्वयं एक विशिष्ट इकाई है।

फलतः काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वांछनीय नहीं है। उसमें काव्य-सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व, रचना के साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक परिवेष्टन, उसकी ऐतिहासिक और मूल्यगत विशेषता और उसकी युग-निष्ठा तक सब-कुछ ग्राह्य है। एक तरह से वह कवि के मन का पुनर्निर्माण है। साहित्य-समीक्षा में रचना के विविध शास्त्रीय उपकरणों को विश्लेषित और संश्लेषित किया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः कृति के आलोचन का एक अंग-मात्र है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जायँ और रचना में साहित्यकार की मनःप्रवृत्ति, उसकी वर्ग-चेतना और युग-धर्म का प्रतिबिम्ब खोजें और उसे परम्परा और परिवेष्टन से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमें कवि की स्वतन्त्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करें। परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम नये-नये 'वादों' में कृति के साहित्यिक सौन्दर्य को खो न दें और हमारे लिए कवि का भौतिक परिवेष्टन ही सब-कुछ न हो जाय। प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर एजाज़हुसेन

उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना

उर्दू के जन्म के पूर्व और शताब्दियों बाद भी हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का वह दृष्टिकोण नहीं था जिसको आज दुनिया राष्ट्रीय जीवन समझती है। स्वयं यूरोप में राष्ट्रीयता की आधुनिक कल्पना १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। इसकी नींव कुछ पहले पड़ चुकी थी, लेकिन राष्ट्रीयता की इस नई कल्पना को फ्रान्सीसी क्रान्ति से शक्तिशाली सहारा मिला। उसके स्वरूप के लिए किसी देश की जनता का, एक उद्देश्य के साथ एक केन्द्र पर एकत्र होकर शासन-प्रबन्ध के लिए सक्रिय कदम उठाना आवश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त और दूसरी शर्तें भी राष्ट्रीय कल्पना के लिए आवश्यक समझी गईं, जिनसे सम्प्रति हमारा कोई प्रयोजन नहीं। कहना तो केवल यह है कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता की वर्तमान कल्पना उस समय प्रस्तुत न थी, जब उर्दू-साहित्य की उत्पत्ति हुई। उस समय राष्ट्रीय भावना के लिए स्वदेश-प्रेम बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। एक हिन्दुस्तानी के लिए हिन्दुस्तान से प्रेम रखना, यहाँ की ऋतुओं, दृश्यों, फल-फूलों आदि में दिलचस्पी लेना, यहाँ के लोगों को प्यार करना, यहाँ की भाषाओं को अपनाना और इसी प्रकार की कुछ दूसरी मान्यताएँ थीं, जिन्हें हम उस समय की राष्ट्रीयता के तत्त्व मानकर उर्दू की जाँच-पड़ताल करना चाहते हैं।

उर्दू की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए यह अनुभव होता है कि जब बाहर से आने वाले मुसलमान यहाँ आये और आकर बस गए तो उनको लोगों से मिलने-जुलने और बातचीत करने की आवश्यकता पड़ी। यहाँ के लोगों को भी उनकी भाषा समझने की आवश्यकता पड़ी। कालान्तर में बाहर से आने वालों की भाषा और शब्दों से मिलकर हिन्दुस्तान में एक नई बोली का रूप बनने लगा, जिसकी नींव हिन्दुस्तान ही के बनाये हुए व्याकरण पर रखी गई। धीरे-धीरे एक मुद्दत के बाद भाषा तैयार हो गई। चूँकि भारत में बाहर से आने वालों का प्राधान्य उत्तर की ओर था इसलिए इस बोली का प्रारम्भ उत्तर भारत से हुआ, परन्तु कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि एक अरसे के बाद उत्तर के स्थान पर यह बोली दक्षिण में फलने-फूलने लगी। दक्षिण में इस बोली को फैलाने वाले ऐसे सूफ़ी बुज़ुर्ग और उदार हृदय बादशाह थे जिनके विचार बड़े व्यापक थे। सूफ़ी अपने सिद्धान्तों के कारण धर्म के पाश में ऐसे नहीं बँधे थे जैसे ग़ैर सूफ़ी। वे सदा से स्वतन्त्र विचार वाले और मिलनसार थे। अपने विचारों को फैलाने के लिए उन्होंने दक्षिण की भाषाओं में फारसी शब्द मिलाकर तेजी के साथ दक्षिणी भाषाओं में अपने सिद्धान्तों का वर्णन प्रारम्भ किया। वे सिद्धान्त क्या थे इसका वर्णन करना बेकार है। अभीष्ट केवल यह बताना है कि उन्होंने और बातों के अतिरिक्त धर्म में रूढ़ियों से विद्रोह किया। दूसरे धर्मों की भी सराहना की। उनके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की। उनके यहाँ से भी विचारों का अवगाहन किया और उनकी विशेषताओं पर अपने यहाँ मान्यताएँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थापित कीं। बादशाहों की भी यही दशा थी। वे सचमुच बादशाह थे, विशेषतः सुल्तान मुहम्मद अली कुतुबशाह शाहनशाह, जो अकबर का समकालीन था और उर्दू का पहला ग्रन्थकार कवि। इस वंश के बादशाह भारतीय थे। वे बाहर से नहीं आये थे। इसलिए भी उन लोगों को अपने देश से प्रेम, उसके प्राकृतिक दृश्यों से प्यार और उसमें बसने वालों के प्रति आकर्षण था। अतः कवि-बादशाह के काव्य-संग्रह में भारत के फलों—खजूर, नारियल, जामुन आदि—का उल्लेख बड़े जोर-शोर से किया गया है। ऋतुओं में वसंत और ग्रीष्म पर विशिष्ट कविताएँ मिलती हैं। भारत की विशेष स्त्रियों का भी मनोरंजक उल्लेख है। इसी भाँति उसके समकालीन और परवर्ती सूफ़ी कवियों ने कट्टर धार्मिक मुसलमानों के विरुद्ध बहुत-कुछ आवाज उठाई। भारत के दूसरे धर्मों का भी सम्मान किया और उनको समझाने की कोशिश की कि वे अन्य धर्मों को भी समझें। तात्पर्य यह कि कविता और गद्य दोनों का ही पोषण इसी वातावरण में हुआ। प्रारम्भ से ही उर्दू भाषा भारत के विभिन्न तत्त्वों के प्रति आकर्षित होने लगी थी। सूफियों ने अपनी मिलनसारी और उदारता से इस वृत्ति को बहुत विस्तृत कर लिया था। जब इस भाँति नींव पड़ी तो यह कैसे सम्भव था कि उर्दू अपनी इस उत्तम परम्परा को भी न आगे बढ़ाती? परन्तु इन परम्पराओं को अधिक विकसित करने का अवसर इसलिए न मिला कि यहाँ के लोग किसी विशेष राष्ट्रीय दृष्टिकोण या आन्दोलन के साथ उस समय नहीं चल रहे थे; फिर उर्दू कविता में गज़ल का दौर इस प्रकार चलता गया कि साहित्य की अन्य प्रवृत्तियाँ उसके प्रकाश में धुँधली पड़ गईं। गज़ल का विशिष्ट विषय सौन्दर्य और प्रेम था। उसको राष्ट्रीयता अथवा राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध न था। परन्तु प्रेम के ही सिलसिले में अथवा अन्य कारणों से प्रभावित गज़लों में ऐसे तत्त्व मिल जाते हैं जिनमें देश-प्रेम, जन-साधारण के प्रति आकर्षण, मानवता का सम्मान अत्यन्त गौरवपूर्ण हैं। पुराने कवियों के कुछ उदाहरण निम्न हैं:

१. मुफ़लिसी सब बहार खोती है।
मर्द का एतबार खोती है। (वली)

२. मत सहल हमें समझो फिरता है फ़लक बरसों,
तब खाक के परदे से इन्सान निकलते हैं। (मीर)

३. मीर के दीनो मजहब को अब पूछते क्या हो, इनने तो
क़शक़ा खींचा, दैर में बैठा, कब का तर्क-इस्लाम किया। (मीर)

४. दुनियाँ तमाम गर्दिश इफ़लाक से बनी।
माटी हज़ार रंग की इस चाक से बनी। (सौदा)

५. मदरसा या दैर था या काबा या बुतखाना था।
हम सभी मेंहमाँ थे वाँ एक तू ही साहेबखाना था॥

उत्तर भारत में जब उर्दू के फलने-फूलने का समय आया तो राजनीतिक उत्पातों ने सारे देश की शान्ति ही नष्ट कर दी। औरंगजेब के पश्चात् सन् १७०७ से इस देश में वह राजनीतिक घुड़दौड़ रही कि सारा वातावरण अन्धकारमय हो गया। कभी भारत की सल्तनत के लिए शहज़ादों का आपस में युद्ध करना, एक भाई का दूसरे भाई को मार डालना, कभी राजपूतों से हाथापाई, कभी सिखों से लड़ाई, कभी मराठों का आक्रमण—ये सब आये दिन की घटनाएँ ऐसी हो गई थीं कि सारे देश में लपटें उठ रही थीं। अमीर-गरीब, मर्द-औरत सभी की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिन्दगी दूभर हो गई थी। केन्द्रीय सत्ता का इस प्रकार बिखर जाना कोई साधारण बात न थी। और सबसे बड़ा वज्रपात तो नादिरशाह का आक्रमण था, जो सन् १७३९ ई० में प्रलय बनकर भारत में आया। उसकी लूट-मार, हत्या और विध्वंस ने दिल्ली की जो दुर्दशा की वह सबको ज्ञात है। उत्तरी भारत के अधिकतर भाग और विशेषतः दिल्ली तक के लिए तो नादिरशाह एटम-बम से कम न था। उसके आने से राज्य और देश की तबाही कई प्रकार से अपनी सीमा को पहुँच गई। इस पृष्ठभूमि में दिल्ली का साहित्यिक-समाज क्या रह गया होगा और साहित्य किस प्रकार फूला-फला होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। परन्तु इस वातावरण में भी उर्दू-साहित्य बढ़ता रहा, तूफानों में पलता रहा। जीवन की करवटें क्रान्ति के झूले में उसे लोरियाँ देती रहीं। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में खुदा के अतिरिक्त और कौन याद आया होगा? देश के विनाश ने लोगों की आँखें खोल दी थीं। कितना भी पाषाण-हृदय व्यक्ति क्यों न होता अपने देश की बरबादी पर अफ़सोस किये बगैर न रह सकता। और कवि तो अत्यन्त कोमल हृदय वाला और अनुभूतिशील होता है। वह आठ-आठ आँसू रोने से कब रुक सकता था। इस परेशानी में शायद कविता ही अधिकतर लोगों का दर्द भुला सकती थी। अतः लोग कवियों से सान्त्वना प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ निकट आते जा रहे थे और हमारे कवि भी समयानुसार देश की दुर्दशा पर कविताएँ लिखते रहे। इन कविताओं में केवल देश का मर्सिया नहीं था; बल्कि लोगों की अवनति, चरित्र के पतन, शासन की दुर्बलता हर बात पर इन कविताओं में आलोचना प्रस्तुत रहती थी। यह नहीं कि किसी एक कवि ने काम किया, बल्कि हर उल्लेखनीय कवि ने इस प्रकार कविताएँ लिखीं। इन कविताओं को उन्होंने 'शहर आशोब' कहा, जिसमें अपने शहर के परदे में सारे देश की दुर्दशा का दुःख मौजूद है। हातिम, मीर, सौदा, नजीर, जुरअत आदि हर एक के यहाँ ऐसी कविताएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए सौदा की प्रसिद्ध कविता के कुछ शैर देखिए तो अन्दाज़ हो कि इन लोगों ने उस ज़माने में, जब राष्ट्रीयता का कोई संगठित विचार भी न था, क्या क्या कहा है। इस कविता में उन्होंने बताया है कि शरीफों और बुद्धिमानों की क़द्र खत्म हो गई है। लोगों का स्वाभिमान नष्ट हो चुका है। प्रेम और सौहार्द्र का पता नहीं, स्वार्थ और षड्यन्त्रों का दौर है। चैन ज़माने से उठ गया है। इस कविता को उन्होंने इस प्रकार प्रारम्भ किया है :

कहा मैं आज ये सौदा से क्यों तू डावाँडोल।
फिरे है, जा कहीं नौकर हो ले के घोड़ा मोल।
लगा वो कहने वे उसके जवाब में दो बोल।
जो मैं कहूँगा तो समझेगा तू कि है ठिठोल।
बता कि नौकरी बिकती है ढेरियों या तोल॥
.....

कवी है मुल्क में मुफ़सिद, अमीर हैं सो जईफ,
टके कहाँ जो हमें दे के हों उन्होंके हरीफ,
न कुछ रबीअ में हासिल न दरमियाने खरीफ,
जो आंमिल अब हैं मुहालात पर सो यों हैं जईफ,
कि जिस तरह किसी हाकिम के घर गँवार हो ओल।

इसी तरह तबाही बयान करते-करते अमीरों का उल्लेख करते हैं तो कहते हैं :

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो कोई मिलने को गाहे उन्हींके घर आया,
मिले ये उससे गर अपना दिमाग खुश पाया,
जो जिक्रे सल्तनत उसमें को दरमियाँ लाया,
उन्होंने फेर के अधर से मुँह ये फ़रमाया,
खुदा के वास्ते भाई कुछ और बातें बोल।

कुछ आगे चलकर सेना की दुर्दशा का वर्णन वे यों करते हैं :

पड़े जो काम उन्हें तब निकल के खाई से,
रखें वो फौज जो मोटी फिरे लड़ाई से,
पियादा है सो डरे सर मुड़ाते नाई से,
सवार गिर पड़े सोते में चारपाई से,
करे जो ख्वाब में घोड़ा किसी के नीचे अलोल।

न सर्फे खास में आमद न खालसा जारी,
सिपाही जा मुतसद्दी सभों को बेकारी,
अब आगे दफ्तरे तन की में क्या कहूँ ख्वारी,
सवाले दस्तखती फाड़ करके पंसारी—
किसी को आँवले दे बाँधकर किसी को कटोल।

सो क्या वो नौकरी, कटती है जिसमे यों औकात,
मिले है पेट को रोटी सो रो-रो आधी रात,
जो चाहें तन ढपे इसमें सिर आगे पीछे हात,
और उसपे यह कि वो तब ठहरे रोजे मौजूदात,
जो पाँचों बाँधे हैं हथियार और छठी पिस्तौल॥

किसी के याँ न रहा आसिया से ताब उजाग,
हजार घर में से एक घर में अब जले हैं चिराग,
सो क्या चिराग वो घर है घरों के ग़म से दाग़,
और उन मकानों पे हर सिम्त रेंगते हैं उलाँग,
जहाँ बहार में सुनते थे बैठकर हिंडोल।

खराब है वो इमारत क्या कहूँ तुझ पास,
कि जिनके देखे से जाती रही थी भूख और प्यास,
और अब जो देखो तो दिल होवे जिन्दगी से उदास,
बजाये गुल, चमनों में कमर कमर है घास,
कहीं सतून पड़ा है कहीं पड़े मिरग़ोल।

ये बाग खा गई किसकी नज़र नहीं मालूम,
न जाने किनने किया इस जमी पै मक़दमें शूम,
जहाँ थे सबो सनोबर अब उस जगह है जकूम,
मची है जाग जगन सेते अब चमन में धूम,
गुलों के साथ जहाँ बुलबुलें करें थी किलोल।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जहानाबाद तू कब इस सितम के काबिल था,
मगर कभू किस आशिक़ का यह नगर दिल था,
कि यों उठा दिया गोया कि नक्शे बातिल था,
अजब तरह का ये बहरे जहाँ पै साहिल था,
कि जिसकी खाक से लेती थी खल्क मोती रोल।

स्थानाभाव के कारण यहाँ पूरी कविता नहीं दी जा सकती, इधर-उधर के कुछ टुकड़े आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। इससे आपको अन्दाज हो सकता है कि उस समय के कवियों ने भी देश के हर वर्ग को दृष्टि के सामने रखा था। अन्तिम बन्द में जहानाबाद के जिस स्तर का उल्लेख है उसके महत्त्व को कोई भुला नहीं सकता। सम्भवतः यह प्रश्न उठे कि जहानाबाद अर्थात् दिल्ली का ही उल्लेख क्यों किया गया। उत्तर यह है कि उस समय दिल्ली की तबाही सारे देश की बरबादी का चित्र प्रस्तुत कर रही थी। जहाँ केन्द्रीय शासन था, जहाँ अधिक-से-अधिक शान्ति होनी चाहिए थी जब वहाँ की दशा यह हो तो दूसरे भागों का अनुमान इससे कर लीजिए। सौदा। (जिनके ये शेर हैं।) संयोगवश शाही सेना में भी नौकर रह चुके थे। इसलिए उनको सेना आदि की दशा भली भाँति ज्ञात थी। इन काव्यों के अतिरिक्त उर्दू के अन्य साहित्यिक रूपों में भी स्थान-स्थान पर समय की दशा का परिचय मिलता है। और कवियों के स्वतन्त्र विचारों का पता चलता है। उदाहरणतः वली ने सूरतनगर पर एक कसीदा कहा। नजीर अकबराबादी ने हिन्दुओं के त्यौहारों पर उसी जोर के साथ कविताएँ रचीं जैसे मुसलमानों की ईद आदि पर। होली, वसन्त और इसके अतिरिक्त मेले-ठेले पर, जिनका जनता से सम्बन्ध है, बराबर कुछ-न-कुछ कहते रहे। कृष्णजी की प्रशंसा में उन्होंने बड़ी लम्बी और अच्छी कविता लिखी है। इनके अतिरिक्त समाज की दूसरी विशेषताओं को भी उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में उत्पातों के साथ उर्दू अपना रंग बनाये हुए आगे बढ़ती रही रही। साथ ही इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे तत्त्व भी आते रहे जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीयता से नहीं बल्कि व्यक्तित्व से है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा ऐसी विचार-धाराएँ किसी संगठित रूप में भारत में प्रचलित थीं। अपने-अपने ढंग से लोग सोच और लिख रहे थे। साहित्य में भी इसी तरह की झलक मिलती है।

इस युग के कवियों का देश-प्रेम इस सीमा तक था कि जब तक सम्भव हुआ राजाओं को भी यह अवसर न दिया कि मात्र रुपये के कारण अपनी भूमि छोड़कर चले जाने के लिए उन्हें आकृष्ट कर सकें। सौदा ने उजड़ी हुई दिल्ली को वैभवशाली लखनऊ से श्रेयस्कर माना, बादशाह के बुलाने पर भी काफी अरसे तक दिल्ली में पड़े रहे। नजीर अकबराबादी को आगरा से कहीं जाना जिन्दगी-भर पसन्द न हुआ। हैदराबाद के दरबार से बुलावा आया पर वह न गये। अपनी फकीरी में मस्त रहे। मीर ने जब विवश होकर दिल्ली छोड़ी और लखनऊ की राह ली तो उनकी भावनाओं की कल्पना इस छोटी-सी कविता से की जा सकती है, जिसको कहा जाता है कि लखनऊ पहुँचने पर उन्होंने मुशायरे में पढ़ा था। लखनऊ वालों की छेड़-छाड़ पर उन्होंने सबको सम्बोधित करके कहा :

क्या बूदोबाश पूछो हो, पूरब के साकिनों।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमको गरीब जान के हँस-हँस पुकार के।
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तिखाब,
रहते थे मुन्तखिब ही जहाँ रोजगार के।
जिसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया,
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के।

स्वदेश-पूजा का यह दृष्टिकोण पुराने समय में कुछ विचित्र-सा था। जो जिस जगह रहता था उतने ही को अपना देश समझता था; जिस शहर में, और कभी-कभी जिस कस्बे में लोग रहते थे उसीको अपनी मातृभूमि मानते थे। उसके साथ स्वदेश में रहकर भूखों मरना, देश छोड़कर दूसरे नगर में खाने-कमाने के लिए जाने से अच्छा समझते थे। अतः मीर, नजीर, सौदा आदि (जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया) जहाँ अपनी मातृभूमि समझते थे वहाँ से हिलना अनुचित मानते थे। इस दृष्टिकोण को आज संकुचित समझें या उसका मजाक उड़ाएँ, किन्तु बात कुछ इसी प्रकार की थी। आधुनिक युग में हाली ने इस बुराई को दूर करने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी मसनवी 'हुब्बे वतन' में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है कि देश-प्रेम इसे नहीं कहते कि अपने घर में बेकार पड़े रहिए और दूसरी जगह जाने की न सोचिए। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति विभिन्न रीतियों से हो सकती है। हाली के बाद इकबाल ने प्रारम्भ में इस दृष्टि को बनाये रखने की चेष्टा की, बाद में उन्होंने इसका अत्यन्त विरोध किया और कहने लगे कि स्वदेश कोई विशिष्ट स्थान नहीं, दुनिया का प्रत्येक भाग स्वदेश है। वे पुकारने लगे कि "मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।" मैं यहाँ स्वदेश-पूजा के दृष्टिकोण पर बहस नहीं करना चाहता। बताना केवल यह है कि पुराने समय में विचार-धारा क्या थी और अब क्या है। जिस युग में जिस कवि ने स्वदेश-प्रेम की अभिव्यक्ति की है वह अपने समय के अनुसार सही हो सकता है और हमारे पुराने कवियों ने जो कुछ लिखा है वह देश-प्रेम के दृष्टिकोण के विवाद से अलग अपने स्थान पर सराहनीय वस्तु थी। वे अपनी मातृभूमि की रीतियों, उसके दृश्यों आदि से प्रभावित थे और दिल खोलकर उस पर कविताएँ लिखते थे तथा किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय से आक्रान्त होकर चुप न हो जाते थे।

प्राचीन एवं आधुनिक युग की सीमान्त-रेखा भारत की एक जबरदस्त ऐतिहासिक घटना है, जो सन् १८५७ में विदेशी राज्य के विरुद्ध हुई। इस विद्रोह में सदा से अधिक भारत की जनता ने विदेशी राज्य के विरुद्ध एकदिल होकर आवाज या तलवार उठाई थी। बिना किसी विवाद के हम इसे राष्ट्रीय आन्दोलन मानते हैं और समझते हैं कि जो प्रयास किया गया था वह राष्ट्र-व्यापी था। जन-साधारण एवं विशिष्ट वर्ग दोनों ही समान रूप से इसमें भाग ले रहे थे। परिणाम जो-कुछ हुआ वह सब जानते हैं। पर यह भी समझते हैं कि पराजय के बावजूद भी भारतवासियों को एक केन्द्र पर किसी राष्ट्र-व्यापी कार्य के लिए इकट्ठा करने का रास्ता खुल गया। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया उर्दू-साहित्य में कहाँ तक मिलती है इसको आँकना यहाँ तो सम्भव नहीं परन्तु विहंगम दृष्टि से हमें यह अवश्य देखना है कि उर्दू की राष्ट्रीयता ने कहाँ तक अपनी भुजाओं को इस आन्दोलन से सशक्त किया और इस सिलसिले में उर्दू-साहित्य को क्या लाभ हुआ।

सन् १८५७ या उसके आस-पास के काल का प्रभाव उर्दू-साहित्य पर न पड़ना असम्भव था, क्योंकि उर्दू की प्रकृति और वृत्ति के अतिरिक्त ऐसे शासक भी थे, जो उर्दू के कवि और भारत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के लोकप्रिय बादशाह थे। उनके जीवन पर सीधे इस घटना का प्रभाव पड़ा। दिल्ली में बहादुरशाह 'ज़फ़र' और लखनऊ में वाजिदअलीशाह विदेशी राज्य के साथ जिस तरह तबाह हुए उसके बताने की आवश्यकता नहीं। उनका राज्य गया, स्वतन्त्रता गई, देश छूटा, घर से बेघर हो गए। इन दुर्घटनाओं के बाद भी इन कवि-बादशाहों की वाणी बन्द कैसे हो सकती थी। इन लोगों ने अपनी विपत्ति का वर्णन किया और अपनी प्रजा तथा अपने देश का भी दर्दनाक हाल सुनाया। उनके शेरों के अतिरिक्त भी हमको उर्दू-साहित्य में ऐसा काव्य मिलता है जो १८५७ के हत्याकाण्ड, लूट-मार और तबाही का चित्र उपस्थित करता है। इसी ज़माने में मुन्शी मुनीर शिकोहाबादी बड़े प्रसिद्ध कवि हुए। उनको भी राज-द्रोह में अंग्रेजों ने काला पानी भेज दिया था। उनकी जबान से कुछ उस समय की दशा की कल्पना कीजिए कि हमारे कवियों का सोचने का ढंग क्या था :

अमीरों से बलायें ग़ज़ब पहुँची उन ग़रीबों तक,
कि बेदरदी व ज़ोफ़ेहाल में जिनका नहीं सानी।
अदालत इन दिनों ऐसी बढ़ाई है ज़माने ने,
कि शमशीरों गुलू पीते हैं एक ही घाट पर पानी।
बनाई बेड़ियाँ तलवार को तुड़वा के गर्दू ने,
किया अरबावे जौहर को हरेक हीले से ज़िन्दानी।
बहादुर नौहागर है मातमें मरगे शुजाअत में,
बजाये नारये शेराना सीखे मरसिया ख़ानी।
जहाँ देखो सड़क पर मजमये वहशत की कसरत है,
नज़र आता है हर मेले में अंबोहे परेशानी।
अदालत से मिली है चुग़ दो, बूमो जाग़ की डिगरी,
हुई है ज़ब्त मिलके बुलबुलो ताऊसे बुस्तानी।
गुलिस्ताने अरम में धूम है मरघट की दावत की,
तकल्लुफ से हैं कैसरबाग में घूरे की मेहमानी।

इसके बाद वह चित्र खींचते हैं कि सारे भारत में मौत नज़र आती है, जहाँ देखो लोगों को फाँसी दी जा रही है। खून बहने का यह हाल है कि :

कुटी सुरखी सड़क पर जानते हैं देखने वाले,
हुआ है खूने नाहक से यह फ़रशे ख़ाक अफ़शानी।

आगे चलकर बताते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे किस तरह मौत की नींद सुलाये गए। औरतों को गेहूँ क्या भूसी भी न मिल सकी। इस प्रकार के वर्णन उर्दू-साहित्य में भरे पड़े हैं। स्थाना-भाव के कारण हम अधिक उदाहरण नहीं दे सकते।

सन् १८५७ तक उर्दू में गज़लों का प्राधान्य था, और वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम हैं। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और गज़ल की विषय-वस्तु पर विचार किया जाय तो साहित्य में राष्ट्रीयता के तत्त्व काव्य के इस रूप में अन्य रूपों से कम नहीं। गज़ल का विशिष्ट विषय प्रेम था और प्रेम भी वह जो प्रकाशमान हो, जिसके द्वारा मनुष्य संकुचित दृष्टि की परिधि से छूट जाता है। मानव-मात्र के प्रति अनुरिक्त होती है और धर्म एवं सम्प्रदाय की रुकावटें दूर हो जाती हैं। प्रेम का अंश इतना बढ़ जाता है कि वह हर वस्तु को प्रेम की ही दृष्टि से देखने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगता है। सामाजिक रूढ़ियाँ, जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देतीं, उनसे वह विद्रोह करता है। इसके अतिरिक्त गज़ल की टेकनीक और विषय-वस्तु दोनों ऐसी थीं कि वे अपनी परिधि में अधिक-से-अधिक मानवता को समेटती रहीं। विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एक जगह होकर इस घाट पर पानी पीते रहे। उर्दू का सबसे बड़ा केन्द्र गज़ल ही था, जहाँ अधिक-से-अधिक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई एक होकर काव्य का रसास्वादन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह से गज़ल भी बिखरे हुए दानों को एक माला में गूँथती रही और राष्ट्रीय तत्त्वों का एक बड़ा मोर्चा बनकर राष्ट्रीयता की रक्षा करती रही।

सन् १८५७ के बाद से भारत में राजनीतिक पद्धतियाँ तेजी से जागने लगीं। लोग अपने को सावधान और संगठित करने के लिए तैयार हो गए। परन्तु काम करने का ढंग अच्छा न था। अधिकतर धर्म के ही ढाँचे पर राष्ट्रीयता का निर्माण होता रहा। सुधारवादी आन्दोलन को लोग राजनीतिक आन्दोलन मानने लगे। साहित्य में भी इस प्रकार के आन्दोलन परिलक्षित हुए। अपने-अपने वर्ग को उभारने के लिए हर नेता ने अपने ढंग से काम करना और सोचना आरम्भ कर दिया। उर्दू-काव्य में मुहम्मद हुसैन आज़ाद, इक़बाल और हाली ऐसी कविताएँ लिखने लगे जो लोगों को क्रियाशीलता की ओर प्रेरित करें अर्थात् ये लोग धारणाओं एवं वृत्ति में परिवर्तन करना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ पाश्चात्य प्रभावों से तथा कुछ इन लोगों के विचारों से प्रभावित होकर धारणाएँ प्रतिदिन बदलती रहीं। विदेशी राज्य की उपस्थिति और अपनी दासता की अनुभूति ने भारतीयों को राष्ट्रीय बनने की चिन्ता में व्यस्त कर दिया। राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्व विभिन्न रीतियों और दिशाओं से एकत्र होने लगे। उर्दू-साहित्य में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त स्वदेश के महत्त्व और प्रेम पर अधिक और उत्तम कविताएँ आने लगीं। हाली, आज़ाद, इक़बाल सबने बढ़कर देश-भक्ति का नारा उठाया। हाली ने पूरी एक किताब 'हुब्बे वतन' के नाम से लिख डाली। आज़ाद ने कई कविताएँ देश-प्रेम पर लिखीं और इसी परदे में समस्त भारतवासियों को एक स्थान पर एकत्र होने का निमन्त्रण देने लगे। उदाहरणार्थ इक़बाल का वह शेर लीजिए जो अपने काव्यारम्भ में उन्होंने कहा था :

सच कह दूँ ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने
तेरे सनमकदे के बुत हो गए पुराने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा
जंगो जदल सिखाया वाइज़ को भी खुदा ने।
तंग आके उसने आखिर दैरो हरम को छोड़ा
वाइज़ का बाज़ छोड़ा, छोड़े तेरे फसाने।
आ ग़ैरियत के पर्दे एक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें नक्शेदुई मिटा दें।

सन् १८५७ के बाद जैसे-जैसे हिन्दुस्तान का राजनीतिक वातावरण बदलता गया वैसे ही उर्दू-साहित्य में भी बदली हुई प्रवृत्तियों की झलक दिखलाई पड़ने लगी। हाली, आज़ाद, अकबर, इक़बाल, चकबस्त, आदि सबका मानसिक झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर होने लगा। हर-एक ने आवश्यकता और अपनी समझ के अनुसार राजनीतिक आन्दोलन पर सम्मति दी और उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में समय के साथ बढ़ती गई। कांग्रेस की स्वायत्त शासन की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

माँग के साथ, जो सन् १६०६ में उठी थी, उर्दू-कविता पूर्णतः घुल-मिल गई थी। अतः १६१६ से जब होमरूल का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उर्दू-कविता ने बड़े जोश, उत्साह और सचाई के साथ इसमें भाग लिया। इससे पहले के राजनीतिक आन्दोलन न तो इतने व्यापक थे, न उनमें इतना ज़ोर ही था। इस कारण उर्दू-कविता में अब सदा से अधिक जोश-खरोश आया। चारों ओर वातावरण में स्वतन्त्रता की भावना देखकर उर्दू ने भी राष्ट्रीय भाषा होने की हैसियत से इस आन्दोलन के प्रसार में भाग लेना अपना कर्तव्य समझा। पं० बृजनारायण 'चकबस्त' इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त नज़र आए। उनको उर्दू-कविता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर होमरूल के राजनीतिक आन्दोलन में उतार दिया। 'चकबस्त' ने भी अपना कर्तव्य इस खूबी से निबाहा कि समाज के सभी वर्गों में उनकी कविता फैल गई। उनकी नज़्में हर राजनीतिक अथवा अर्धराजनीतिक अधिवेशन के लिए आवश्यक हो गईं। सत्य तो यह है कि वह इस सचाई और कलात्मकता के साथ अपना काव्य प्रस्तुत करते रहे कि हर समझने वाले के दिल में आग लग जाती थी। इनके कुछ शेर नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :

ये खाके हिन्द से पैदा हैं जोश के आसार, हिमालिया से उठे जैसे अब्र दरिया बार
लहू रंगों में दिखाता है बर्क की रफ़्तार, हुई हैं खाक के पर्दे में हड्डियाँ बेदार
जमीं से अर्श तलक शोर होमरूल का है
शबाब कौम का है ज़ोर होमरूल का है

है आजकल की हवा में वफ़ा की बरबादी, सुने जो कोई तो सारा चमन है फरियादी
कफस में बन्द हैं जो आसमाँ के थे आदी, उड़ा है बाग़ से बू होके रंगे आज़ादी
हवाये शौक में गुन्चे विकस नहीं सकते
हमारे फूल भी चाहें तो हँस नहीं सकते।

इस आन्दोलन के साथ सारा भारत जाग उठा। उर्दू वाले भी जोर-शोर से इसमें भाग लेते रहे। 'चकबस्त' के पहले से ही 'इकबाल' ने उर्दू-कविता में राष्ट्रीय तत्त्वों को बड़े चातुर्य से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके काव्य में दार्शनिक रंग था। उन्होंने अपने ढंग से बताना प्रारम्भ किया कि गिरे हुए राष्ट्र कैसे उभर सकते हैं, व्यक्ति को क्या करना चाहिए, शासक और शासित का सम्बन्ध क्या और क्यों होता है, यूरोप क्यों तबाह हो रहा है, स्वदेश क्या वस्तु है; तात्पर्य यह कि ये सभी बातें विद्वत्तापूर्ण ढंग से राष्ट्रीय आवरण में 'इकबाल' कहते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीयता का साधारण दर्शन शीघ्रता से उर्दू में व्यक्त होने लगा। इन लोगों से सहमति अथवा असहमति का विवाद छोड़कर हम यह देखते हैं कि उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता और राजनीति का मूल्यवान कोष इकट्ठा होता रहा।

१६१४ से १६१८ तक का काल दुनिया के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। पहले विश्व-युद्ध के फलस्वरूप दुनिया के राष्ट्र बन-बिगड़ रहे थे। युद्ध समाप्त होते-होते भारत भी बिलकुल बदलने लगा। १६१८ से भारत के क्रान्तिकारी जीवन की शृङ्खला प्रारम्भ हो जाती है। एक ओर सत्याग्रह, रौलट-बिल, खिलाफ़त आदि के आन्दोलन हुए दूसरी ओर महात्मा गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। हवा में 'गांधीजी की जय' के नारे गूँजने लगे। १६ अप्रैल १६१६ का दिवस पहली बार भारत-व्यापी हड़ताल और सत्याग्रह के लिए चुना गया। एक नया ही वातावरण देश में छा गया। चारों ओर से लोगों के साथ उर्दू-कविता भी बढ़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लेने लगी। असहयोग के साथ लोगों को जेल जाने का भी डर न रह गया। इसीलिए पूरी स्वच्छन्दता से उर्दू-कवि अंग्रेजी राज्य की बुराई करने और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेने लगे। उर्दू-कविता की वृत्ति इतनी शीघ्रता से बदली कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेने लगी। कार्लमार्क्स के दर्शन और रूस के व्यावहारिक जीवन से प्रभावित होकर समाजवाद की ओर भी झुकाव पैदा हुआ। इस काल में विदेशी राज्य का विरोध करते-करते उर्दू में कई ऐसे कवि आगे आये जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों के आधार पर उर्दू में ऐसे तत्त्व प्रस्तुत किये जिनमें समाजवाद की झलक थी। इन लोगों में 'जोश मलीहाबादी' का नाम सर्वोच्च और उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कला और निर्भीकता से ऐसी कविता प्रारम्भ की, जो युग की पुकार बन गई। प्रगति और स्वतन्त्रता के सिलसिले में उन्होंने हर ऐसी रीति और प्रवृत्ति से विद्रोह की घोषणा की, जो रास्ते में रुकावट पैदा करे—चाहे उसका सम्बन्ध धर्म से हो या सामाजिक रीतियों या शासन से। उन्होंने पूरे ओज से राजनीतिक आन्दोलन के साथ अपनी कविता के स्वर को मिला दिया। उनकी कला में इतना चमत्कार था कि बड़े-से-बड़े और छोटे-से छोटे आदमी उनकी कविता की ओर आकृष्ट हो गए। उनके प्रभाव से हर ओर के लोग इसी प्रकार की कविता लिखने लगे। 'जोश' ने पूरी-पूरी कविता की प्रवृत्ति ही बदल दी। आवश्यकता और महत्त्व के विचार से आज उर्दू का हर उल्लेखनीय कवि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर कुछ-न-कुछ लिख रहा है। अतः १९४७ के विभाजन के बाद जिस हत्या-काण्ड और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई उसके विरुद्ध आवाज उठाने में उर्दू से अधिक शायद ही भारत की किसी भाषा ने प्रयास किया हो। परिणाम यह है कि आज हमारे साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्वों का वह भाग एकत्र हो गया है जिस पर किसी भी बड़ी भाषा को गर्व हो सकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रबन्ध-सार

डॉक्टर रामसिंह तोमर

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

प्राकृतों का भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की संस्कृति का माध्यम प्राकृतें बहुत समय तक रही हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति या मूल आधार संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न है वह प्राकृत है। कुछ अन्य के अनुसार 'प्राक्-कृत' अर्थात् जो पूर्व में हुई, वह प्राकृत है। कहना न होगा कि प्रथम मत अपूर्ण है तो दूसरा निराधार।

आज का उपलब्ध प्राकृत-साहित्य ६०० ई० पू० से आरम्भ होकर १८०० ई० तक आता है, जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१. धार्मिक प्राकृत-साहित्य—
   (अ) विशुद्ध धार्मिक, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन, पालि में रचित बौद्ध-साहित्य तथा अर्ध मागधी एवं शौरसेनी में रचित जैन-धार्मिक साहित्य।
   (आ) धार्मिक, साहित्यिक पालि कथा-साहित्य, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में रचित साहित्य एवं जैनों द्वारा रचित अपभ्रंश-साहित्य।
२. साहित्यिक (ललित) प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश-साहित्य।
   (अ) स्वतन्त्र कृतियों के रूप में, तथा
   (आ) अन्य ग्रन्थों में उद्धरणों के रूप में प्राप्य प्राकृत-साहित्य।
३. नाटकों में प्राप्त प्राकृत-साहित्य।
४. भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेशों में प्राप्त साहित्य—प्राकृत धम्मपद, निय प्राकृत तथा खोतान एवं मध्य एशिया आदि में प्राकृत-साहित्य।
५. शिला-लेखों का प्राकृत
६. मिश्र संस्कृत—'गाथा डायलेक्ट'

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही एक रूप है, पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है, अतः यहाँ पालि-साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है। अर्ध मागधी और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है।

जैन-प्राकृत साहित्य

जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा गया है। दिगम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत में लिखा है तो श्वेताम्बरों ने महाराष्ट्री में। जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रधान कवियों एवं लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय संक्षेप में निम्न है—

विमल सूरि—इस क्षेत्र में प्रथम कृति विमलसूरि की 'पउमचरिय' है। इसमें राम-कथा को जैन रूप दिया गया है। बालि का विरक्त होना तथा रावण का लक्ष्मण के हाथों मारा जाना आदि इसकी नवीनताएँ हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहयुक्त महाराष्ट्री है। इसमें गाथा छन्द विशेषतः प्रयुक्त हुआ है। इसके लेखक विमलसूरि के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना चौथी सदी से पूर्व की नहीं हो सकती।

पादलिप्ताचार्य—इनका रचित 'तरंगवती' एक कथा-ग्रन्थ कहा जाता है। यह ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण 'तरंगलीला' नाम का प्राप्त हुआ है। इसके संक्षिप्त-कर्ता नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि मूल कृति बड़ी भारी, सुन्दर और कठिन थी। विद्वानों का अनुमान है कि पादलिप्ताचार्य का समय ५ वीं सदी से कुछ पूर्व होगा।

संघदास गणि—इन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में 'वसुदेव हिंडि' नाम की गद्य-पुस्तक लिखी है। इसमें वसुदेव के भ्रमण की कथा है। इसका आधार 'महाभारत' और 'हरिवंश' हैं। इसे धर्मदास और संघदास ने पूरा किया है। रचना-काल सातवीं सदी से कुछ पूर्व ज्ञात होता है।

हरिभद्र—'समराइच्च कहा' इनकी गद्य-कृति है, जिसमें नायक गुणसेन और प्रतिनायक अग्निशर्मा के ९ जन्म की कथाएँ वर्णित हैं। इनकी भी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बीच-बीच में इसमें पद्य भी हैं। हरिभद्र की दूसरी कृति 'धूतरिन्यान' है, जो ब्राह्मणों पर एक कटु व्यंग्य-काव्य है। हरिभद्र की और भी कई कृतियाँ कही जाती हैं। इनका समय ७०० से ७८० ई० माना जाता है।

उद्योतनसूरि—इनकी प्रसिद्ध कथा-कृति 'कुवलयमाला कथा' जैन महाराष्ट्री में रचित एक धर्म-कथा है। कृति का रचना-काल कवि ने शक सं० ७०० दिया है।

लौकिक कथा-कृतियों के प्रधान ग्रन्थ और उनके रचयिताओं के परिचय के बाद हम लोग धर्मोपदेश-प्रधान कथाएँ ले सकते हैं, जिनमें साहित्यिक सरसता उपर्युक्त ग्रन्थों की भाँति नहीं है।

जयसिंह सूरि—उपदेशों से युक्त मूल गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए अनेक कथाएँ लिखी गईं। सूरि ने भी १५६ कथाओं की गद्य-पद्य-मिश्रित रचना की, जिसका नाम 'धर्मोपदेश माला-विवरण' है। इसका रचना-काल सं० ९१५ है।

शीलाचार्य—इनका एक नाम शीलांक सूरि भी था। इन्होंने जैन-सम्प्रदाय के ६३ महा-पुरुषों के चरित्रों का वर्णन अपनी विशाल कृति 'महापुरुष चरित' में किया है। ग्रन्थ का रचना-काल ८६८ ई० है।

विजयसिंह सूरि—सन् ९१७ में इन्होंने 'भुवन सुन्दरी कथा' नाम के चम्पू-ग्रन्थ की रचना की।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दसवीं सदी के आस-पास की एक अज्ञात कवि की रचना 'कालकाचार्य कथानक' मिलती है, जिसमें उज्जैन के एक राजा की पराजय वर्णित है।

धनेश्वर मुनि—इन्होंने 'सुरसुन्दरी चरिय' नाम का एक सुन्दर प्रेमाख्यान लिखा है। इसका रचना-काल सं० १०९५ वि० है।

महेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञान पंचमी कथा' है, जिसमें २००० गाथाओं में दस कथाएँ हैं। इनके समय का ठीक पता नहीं है।

जिनेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथा कोशप्रकरण' है, जिसमें श्रावकों के लिए उपदेश हैं। इनकी दूसरी रचना 'लीलावती कथा' कही जाती है, पर अभी तक यह कहीं मिल नहीं सकी है। इनका रचना-काल सम्वत् की १२वीं सदी का प्रथम चरण है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ऊपर के अन्य लेखकों और कवियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुमारपाल चरित' है, जिसका आरम्भ का दो तिहाई भाग संस्कृत में और शेष प्राकृत एवं अपभ्रंश में है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि कुमारपाल के चरित के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपों के प्रयोग भी इसमें हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन-सिद्धान्त, काव्य-समीक्षा, व्याकरण, छन्द, पुराण और कोष आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृत से सम्बन्धित उनकी दो कृतियाँ—'देशीनाममाला और' 'छन्दानुशासन' हैं। पहला शब्द-संग्रह है और दूसरा छन्द-ग्रन्थ। इनका समय सं० ११४५–१२२९ तक है।

लक्ष्मण मणि—इन्होंने ८७०० गाथाओं में 'सुपार्श्वनाथ चरित' की रचना की, जिसमें सातवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र है। कृति का रचना-काल संवत् ११९९ वि० है।

सोमप्रभाचार्य—इनके दो प्राकृत-ग्रन्थ 'सुमतिनाथ चरित्र' और 'कुमारपाल प्रतिबोध' उपलब्ध हैं। पहली कृति पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ से सम्बद्ध है और दूसरी कुमारपाल से। इनका रचना-काल विक्रम की १३ वीं सदी का मध्यकाल है।

जिन हर्षणगणि—पौषध व्रत के दृष्टान्त के रूप में कथित 'रयणसेहरी कहा' इनका एक प्रेमाख्यान है, जिसमें जायसी के रत्नसेन की भाँति रत्नशेखर रत्नवती का रूप-वर्णन सुन मुग्ध होकर सिंहल द्वीप पहुँचता है और कठिनाइयों के बाद परिणय होता है। जिनहर्षगणि का समय विक्रम की १५वीं शती का अन्तिम चरण है।

अनन्तहंस—इनकी 'कुर्मा पुत्र कथा' प्राकृत-गाथाओं की छोटी-सी कृति है, जिसमें भाव-शुद्धि की महिमा वर्णित है।

यह जैन प्राकृत-साहित्य के कुछ थोड़े-से लेखकों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय है। अभी इस प्रकार की बहुत अधिक सामग्री है, पर प्रकाश में न आने से इतने से ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं, साथ ही धार्मिक, लौकिक, स्वतन्त्र तथा अवान्तर कथाएँ एकसूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ भी मिलती हैं। धार्मिकता और उपदेशात्मकता के साथ-साथ कल्पना आदि साहित्यिक तत्त्व तथा सामाजिक चित्र भी पर्याप्त मात्रा में इन ग्रन्थों में मिलते हैं।

साहित्यिक प्राकृत

प्राकृत में विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी हुई हैं। रूपकों-उपरूपकों में तो सभी प्राकृतों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का प्रयोग मिलता है पर मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त साहित्य १. मुक्तक और २. प्रबन्धात्मक, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

मुक्तक साहित्य-संग्रह और अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पद्य इन दो रूपों में मिलता है। संग्रह अभी तक केवल दो प्राप्त हुए हैं—१. 'गाथा सप्तशती' और २. 'वज्जालग्ग'।

गाथा सप्तशती—इसमें ७०० प्राकृत-गाथाएँ हैं, जो अलग-अलग अपने-आपमें पूर्ण हैं। इसमें कहीं तो शृङ्गार से ओत-प्रोत स्त्रियों के चित्र हैं और कहीं प्रकृति के। नीति, सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। शृङ्गार-रस की गाथाएँ इसमें अधिक हैं, जिनमें अनेक प्रकार की नायिकाओं के कार्य-कलाप या उनके हृदय के भाव वर्णित हैं। इसके संग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। इसका संग्रह-काल बड़ा विवादग्रस्त है। यदि आन्ध्र देश के सातवाहन को संग्रहकर्ता माना जाय तो ६९ ई० के आस-पास ग्रन्थ का संग्रह-काल माना जा सकता है।

वज्जालग्ग—इसमें ७०४ प्राकृत-गाथाएँ हैं। इसमें सुभाषितों की भाँति विभिन्न विषयों की गाथाएँ शीर्षकों में बाँटकर रखी गई हैं। यहाँ भी शृङ्गार का अभिरूप है; पर साथ ही नीति, सज्जन-दुर्जन-निन्दा, तथा प्रकृति-चित्र भी हैं। यह भी गाथा सप्तशती' की भाँति संग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्ता जयवल्लभ के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इसका संग्रह सं० १३९३ वि० के पूर्व हुआ माना जाता है।

बहुत-से प्राकृत-छन्द संस्कृत और प्राकृत के विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इस दृष्टि से भरत के 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० २०० से २०० ई० के बीच) के ध्रुव-गीत, आनन्दवर्धन (९०० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ४५ प्राकृत-छन्द, भोज (११वीं शती ई०) के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के ३५० छन्द तथा हेमचन्द्र (११४५-१२२९ वि०) के 'काव्यानुशासन' एवं उसकी वृत्ति के ८० छन्द प्रधान हैं। इसी प्रकार 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रस-गंगाधर' आदि में भी बहुत-से प्राकृत के छन्द मिलते हैं।

इन प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राकृत-छन्दों के उद्धृत किये जाने से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि प्राकृत का महत्त्व संस्कृत के पण्डितों द्वारा भी उस युग तक स्वीकार कर लिया गया था।

प्राकृत में मुक्तक-साहित्य की भाँति ही प्रबन्ध-काव्यों की धारा भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। आज इसके बहुत-से प्रबन्ध-काव्य लुप्त हो गए हैं, फिर भी जो आज हैं, बहुत उत्कृष्ट हैं और अपनी धारा की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। यहाँ कुछ प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों और उनके लेखकों का संक्षिप्त परिचय देखा जा सकता है—

प्रवरसेन—इनका प्रसिद्ध महाकाव्य 'सेतु-बन्ध' या 'रावण-वध' १५ आश्वासों में विभक्त १२९१ छन्दों का है। इसमें सीता-हरण के आगे से आरम्भ होकर रावण-वध के बाद राम-लक्ष्मण के अयोध्या लौटने तक की कथा संक्षेप में दी गई है। कृति का अधिक भाग सेतुबन्ध से सम्बन्धित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। साहित्यिक दृष्टि से कृति सुन्दर है। इसके रचयिता प्रवरसेन के सम्बन्ध में काफी विवाद है। अधिक प्रामाणिक मत यही ज्ञात होता है कि वे काश्मीर के राजा थे और उनका समय सन् १२३ से १८३ तक था। सम्भवतः 'गौड वध' या 'शिशुपाल वध' आदि बाद के काव्यों के नाम भी इसीके अनुकरण पर रखे गए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाक्पतिराज—इनका प्रबन्ध-काव्य 'गौडवध' महाराष्ट्री प्राकृत में रचा गया है। इसमें कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय-यात्रा तथा गौड़-नृप का वध वर्णित है। १२९० छन्दों की यह कृति अध्यायों में विभक्त नहीं है। विभिन्न वर्णन कहीं-कहीं कुलकों में विभक्त है। वाक्-पतिराज यशोवर्मा के मित्र और कवि थे। इनका समय यशोवर्मन के आधार पर ७वीं सदी के अन्तिम चरण और आठवीं के प्रथम चरण के बीच में है।

श्रीकृष्ण लीला शुक—इनका प्रबन्ध-काव्य 'चिह्न काव्य' है। इसमें बारह सर्गों में श्रीकृष्ण की लीला-वर्णन के साथ-साथ त्रिविक्रम देव के प्राकृत-सूत्रों की व्याख्या की गई है। इसी कारण इसकी प्रबन्धात्मकता त्रुटिपूर्ण हो गई है। रचयिता का समय १३वीं शती ई० है।

कौतूहल—इनकी रचना 'लीलावती-कथा' एक प्रेम-काव्य है। इसमें सातवाहन और लीलावती का प्रेम वर्णित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है किन्तु कुछ छन्दों में 'कौतूहल' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही कवि का नाम ज्ञात होता है। कवि का समय १००० ई० के पूर्व माना जा सकता है।

नाटकीय प्राकृत

नाट्य-शास्त्र के विशारदों ने रूपकों में भी प्राकृतों के प्रयोग का विधान किया है। प्रायः स्त्रियाँ और सेवक आदि संस्कृत-नाटकों में भी स्वाभाविकता के लिए प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं। ये प्राकृतें प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री हैं। रूपकों में प्राकृतों के आंशिक प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ सट्टक भी मिलते हैं, जो आद्यन्त प्राकृत में हैं। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर (८८०-९२० ई०) की 'कर्पूर मंजरी' है। इसमें शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। इस श्रेणी की कुछ अन्य रचनाएँ नयचन्द्र की 'रंभा मंजरी' (१५वीं सदी ई०), रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा सट्टक' (१७वीं सदी ई०), विश्वेश्वर की 'शृङ्गार मंजरी सट्टक' (१८वीं सदी) तथा घनश्याम की 'आनन्द सुन्दरी सट्टक' (१८वीं सदी) आदि हैं। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से ये सभी सट्टक 'कर्पूर मंजरी' से प्रभावित हैं।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की प्राकृत

सन् १८९२ ई० खोतान में खरोष्ठी लिपि में लिखित एक 'धम्मपद' मिला है, जो प्राकृत में है। इस प्राकृत धम्मपद की भाषा को विद्वानों ने उत्तरी-पश्चिमी देश की बोली कहा है। इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान में भी कुछ लेख मिले हैं। इनकी भाषा भी यही है। निय स्थान पर विशेष रूप से मिलने के कारण कुछ लोगों ने इसे निय प्राकृत कहा है। इस प्राकृत का विशेष महत्त्व भाषा की दृष्टि से है। साहित्यिकता इसमें प्रायः नहीं के बराबर है।

शिला-लेखों की प्राकृत

प्राकृत में प्राप्त प्राचीनतम शिला-लेख अशोक के हैं। उसके बाद के भी बहुत से शिला-लेख विभिन्न प्रान्तों में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में मिलते हैं। देश के अनुसार इनकी भाषा भिन्न है। इनमें भी साहित्यिकता नहीं के बराबर है।

प्राकृत-साहित्य की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। प्राकृतों का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती से लेकर १८वीं शती तक विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूपों में होता रहा है। गद्य, पद्य, कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध तथा नाटक आदि सभी इसमें मिलते हैं, जो साहित्यिकता की दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर और प्रौढ़ हैं तथा जिन्होंने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नहीं एवं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बहुत अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ एवं छन्द आदि इसके अपने हैं।

अपभ्रंश-साहित्य

संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त शब्द-रूपों को पतंजलि ने अपशब्द या अपभ्रंश (=पतित) कहा है। पर इन शब्दों से 'अपभ्रंश' का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख करने वाले प्रथम व्यक्ति भामह हैं। आगे फिर दंडी ने भी इसका उल्लेख किया है और इसे आभीरों से सम्बद्ध बतलाया है। इसका अर्थ यह है उस समय अपभ्रंश में रचना होने लगी थी। देश-भेदों के अनुसार पहले-पहल रुद्रट ने अपभ्रंशों के भेदों का उल्लेख किया है। राजशेखर (८८०-९२०) के समय तक अपभ्रंश पतित भाषा न समझी जाकर राज-दरबारों में सम्मान पाने लगी थी। आभीरों और गुर्जरों का अपभ्रंश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये अनार्य थे, अतः इनके संसर्ग में यहाँ की भाषा नई दिशा में चली गई। बाद में इन लोगों ने इसमें रचना आरम्भ की तथा इसे साहित्यिक महत्त्व दिलाया।

अपभ्रंश के लोगों ने तरह-तरह से भेद किये हैं। किसी ने ३ भेद तो किसी ने ११, और किसी ने २७। 'अपभ्रंश' के 'अपभ्रंश' के अतिरिक्त अवहट्ट, अवहंस तथा पटमंजरी आदि और भी कई नाम मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ विक्रम की ८वीं शती के पहले तक जाता है, यों इसकी क्षीण रेखा ईसा की तीसरी शती तक भी मिल जाती है। इधर १६वीं-१७वीं तक इसकी सीमा-रेखा है।

इस पूरे साहित्य को जैन, बौद्ध, सिद्ध, शैव और ऐहिकतापरक इन चार धाराओं में देखा जा सकता है।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य

इसकी धारा वि० की ८वीं सदी से १६वीं सदी तक मिलती है। इसमें भी प्राकृत की भाँति मुक्तक और प्रबन्ध दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं।

मुक्तक शाखा की एक उपशाखा 'रहस्यवादी धारा' कही जा सकती है। योगीन्द्र, रामसिंह तथा सुप्रभाचार्य इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

योगीन्द्र—योगीन्द्र की 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' दो कृतियाँ मिलती हैं। इनमें ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं तथा कहीं-कहीं नैतिक उपदेश हैं। इनके कुछ और भी ग्रन्थ कहे जाते हैं पर उनकी भाव-धारा इन ग्रन्थों से नहीं मिलती। योगीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

रामसिंह मुनि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाहुड़-दोहा' है। इसमें गुरु, आत्मसुख, आत्मा और देह, समरसी भाव तथा मोक्ष आदि का विवेचन है। स्त्रियों की निन्दा तथा कुछ नीति की अन्य बातें भी इसमें मिलती हैं। विद्वानों का मत है कि इनका समय १००० ई० के लगभग है। 'पाहुड़-दोहा' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। इसमें कुछ छन्द संस्कृत तथा प्राकृत के भी हैं।

सुप्रभाचार्य—इनकी एक छोटी-सी रचना 'वैराग्य सार' मिलती है। इसमें संसार के सुखों से बचकर और मन मारकर वैराग्य भाव अपनाने का आदेश है। माया, ममता आदि से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दूर रहने को भी कहा गया है। कवि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। भाषा के आधार पर उनका समय १००० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

इस धारा के अन्य ग्रन्थों में महाणंदि (१००० ई० से १४०० ई० के बीच) का 'आनन्दा' तथा महचन्द (१६०२ के लगभग) का 'दोहा पाहुड़' आदि प्रधान हैं। इन दोनों का विषय भी प्रायः वही है।

इस धारा में और भी बहुत-सा साहित्य होगा पर आज या तो वह नष्ट हो गया है या भंडारों में पड़ा है। इस धारा की प्रधान विशेषताएँ साम्प्रदायिक साहित्य होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदारता, मन्दिर, मूर्ति तथा तीर्थ-सम्बन्धी रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध तथा चारित्रिक शुद्धता पर जोर आदि हैं।

मुक्तक काव्य की दूसरी उपशाखा 'उपदेशात्मक धारा' की है। इसके प्रधान कवि और उनकी रचनाएँ निम्न हैं—

देवसेन—इनका ग्रन्थ 'सावयधम्म दोहा' इस धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। आरम्भ में 'गुरु-वन्दना' तथा 'दुर्जन-स्मरण' आदि भूमिका के बाद श्रावक-धर्म के ११ भेदों का विवेचन है। इसमें प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा धर्म का पालन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव मानी गई है। देवसेन का समय संवत् ९९० के आस-पास है।

जिनदत्त सूरि—इनके तीन ग्रन्थ 'चर्चरी', 'उपदेश रसायन' और 'कालस्वरूप कुलक' हैं। प्रथम का सम्बन्ध गुरु-प्रशंसा आदि से, दूसरे का मनुष्य-जन्म, आत्मोद्धार से तथा कुछ लौकिक-पारलौकिक शिक्षाओं से एवं तीसरी का गुरु-महिमा तथा कुटुम्ब-संगठन से है। इन्होंने परलोक पर विशेष ध्यान न देकर लोक पर दिया है। कवि का समय संवत् ११३२ से १२१० तक है।

महेश्वर सूरि—इन्होंने एक छोटी-सी रचना 'संयम-मञ्जरी' लिखी है, जिसमें संयम को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। इसमें साहित्यिकता कम है। इनका समय संवत् १५६१ के पहले होना चाहिए।

इस धारा की अन्य प्रधान रचनाएँ जयदेव मुनि (संवत् १०५४ के आस-पास) की 'भावना-सन्धि-प्रकरण' तथा विनयचन्द्र मुनि की 'कल्याणकरासु' एवं 'चूनड़ी' आदि हैं।

इस धारा की विशेषताएँ नीतिपूर्ण उपदेश, कुटुम्ब का ध्यान तथा संसार में रहते हुए निर्लिप्तता आदि हैं।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य में प्रबन्धात्मक रचनाओं का भी अभाव नहीं है। इनका प्रधान स्वर तो धार्मिक है पर साहित्यिक छटा भी इनमें कम नहीं है। इस धारा के प्रमुख कवि ये हैं—

स्वयंभू—इनके अभी तक तीन ग्रन्थ मिले हैं—'पउम चरिउ', 'रिट्ठणो मिचरिउ' और 'स्वयंभू छन्द'। 'पउम-चरिउ' में राम की कथा है। उसमें ५ काण्ड हैं। आरम्भ में गुरु की प्रार्थना आदि के बाद कथा आरम्भ होती है। इसमें सभी पात्र जिन-भक्त हैं। दूसरी कृति का सम्बन्ध 'हरिवंश' तथा 'महाभारत' की कथा से है। तीसरी कृति छन्दों पर है। इनका समय ८०० और ९०० ई० के बीच में है।

पुष्पदन्त—इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों की कथाएँ हैं। 'महापुराण' की भाषा और साहित्यिकता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बड़ी सुन्दर है। कवि की दूसरी कृति 'णायकुमार चरिउ' में मगधराज जलंधर-पुत्र की कथा है। तीसरी कृति 'जरुहर चरित्र' का सम्बन्ध यशोधरा से है। इसमें काव्यात्मकता कम है। पुष्पदन्त के वर्णन बड़े सजीव हैं। इनका समय संवत् १०४४ से कुछ पूर्व है।

पद्मकीर्ति—इनकी प्रसिद्ध रचना 'पासचरिउ' है, जिसमें पार्श्वनाथ का पूरा चरित्र वर्णित है। इनका समय संवत् ९९२ के आस-पास है।

धवल—धवल की विशाल कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' है। कवि का समय १०वीं या ११वीं सदी ई० ज्ञात होता है।

धनपाल—इनकी कृति 'भविदत्त कहा' है। इसमें सज्जन-दुर्जन-स्मरण तथा श्रुतपंचमी-फल की व्याख्या करते हुए कथा आरम्भ की गई है। यह एक साहसी किन्तु धार्मिक बनिए की प्रेम-कथा है। इसमें धार्मिक पात्रों का उत्तरोत्तर अभ्युदय दिखाया गया है। कवि के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। याकोबी का मत है इसका समय १०वीं सदी ई० होना चाहिए।

हरिषेण—इसकी कृति 'धर्म-परीक्षा' ब्राह्मण-धर्म पर एक व्यंग्य है। पुराणों की कथाओं पर इसमें प्रहार किया गया है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि का समय वि० सं० १०४० के आस-पास है।

वीरकवि—जैन-सम्प्रदाय के अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के जीवन को लेकर इन्होंने 'जम्बू स्वामी चरित' लिखा है। इनका समय सं० १०७६ वि० के आस-पास है।

नयनन्द—इन्होंने 'सुदर्शन-चरित' में पंच नमस्कार फल के दृष्टान्त रूप में सुदर्शन की कथा प्रस्तुत की है। इसके कथानक में कसाव नहीं है। इनकी दूसरी कृति 'सकल विधि विधान' काव्य है। नयनन्द का समय ११०० वि० के लगभग है।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ—कनकामर (१०५० वि० के लगभग) का 'करकंडुचरिउ', धाहिल (सं० ११९१ से पूर्व) का 'पंउमसिरिचरिउ', श्रीचन्द (११-१२ सदी) के 'कथाकोश' तथा 'रत्नकरंडशास्त्र', देवसेनगणि (१२वीं या १४वीं सदी वि०) की 'सुलोचना चरित', हरिभद्र (सं० १२१६ के आस-पास) का 'सनत्कुमार चरित', लक्खण (सं० १३१३ के लगभग) का 'अणुवयर यणपईउ', लक्खमदेव (सं० १५१० के आस-पास) का 'नेमिनाथ चरित', रयधू (१५ वीं सदी के आस-पास) के 'आदि पुराण', 'यशोधरचरित' तथा 'सिद्ध चक्कचरित' आदि २३ ग्रन्थ, जयमित्रहल (सं० १५४५ के पूर्व) का 'वर्द्धमान चरित्र' तथा हरिदेव (सं० १५७६ के पूर्व) का 'मदन पराजय' आदि हैं।

संक्षेप में, जैन-अपभ्रंश-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा अपभ्रंश-साहित्य की बाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार की विशेषताएँ इसमें हैं। इसके विशेषतः कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्म-प्रधान काव्य होते हुए भी चरित्रों को अतिमानवीय रूप कहीं भी नहीं प्रदान किया गया है। शुभ कर्म करने वालों को शुभ फल मिलता है। यही इनका सबसे बड़ा सन्देश है। इनका जगत् और जीवन के प्रति बड़ा स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण है। इनमें परलोक से कम लोक का ध्यान नहीं है।

रूप की दृष्टि से इन प्रबन्ध-काव्यों में खण्ड और महाकाव्य दोनों हैं। कडवक-बद्ध शैली का सभीमें प्रयोग किया गया है। अलंकार की दृष्टि से परम्परा अपनाने के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन जीवन से नये उपमान भी खोजे हैं। समकालीन इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुछ कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

धार्मिक अपभ्रंश : बौद्ध-सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाएँ

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान, सहजयान तन्त्रयान आदि के रूप में हुई। आचार्यों ने इनके सिद्धान्तों के विवेचन के लिए अपभ्रंश को ही माध्यम बनाया। इनके प्राप्त ग्रन्थों का विद्वानों ने बड़े उत्साह के साथ अध्ययन किया है। हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित कराया है। डॉ० चटर्जी ने इनकी भाषा पर विचार किया है। डॉ०शहीदुल्ला, डॉ० बागची और सुकुमार-सेन ने भी इस पर कार्य किया है और पुस्तकें भी लिखी हैं।

सिद्धों की इन रचनाओं में दो प्रकार की भाव-धारा मिलती है। एक तो सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन की तथा दूसरी उपदेश और खण्डन-मण्डन की। वज्रयान का प्रमुख तत्त्व शून्यवाद है। उनकी दूसरी विशेषता सर्ववाद की भावना है। बाद में इनमें और भी आचार आ गए, जिनमें पंच मकार (मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्र और मैथुन) प्रधान हैं।

अब तक इनका जितना साहित्य मिला है। काद्रूपाद, भुसुकपाद तथा सरकपाद आदि २३ सिद्धों की रचनाएँ हैं। यों इनकी संख्या ८४ बताई गई है। सभी रचनाओं में प्रायः मिलती-जुलती बातें व्यक्त की गई हैं। अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहने वाले सहजानन्द की प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है। अन्य मार्गों को टेढ़ा बतलाकर सहज मार्ग को सीधा कहा गया है। कुछ ने गुरु की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया है।

सिद्धों के छन्दों में विविधता नहीं है। 'चर्यागीत' में गेय पद हैं। 'दोहा-कोष' में प्रधान छन्द दोहा है। कुछ सोरठे तथा और छन्द भी हैं। सिद्धों की भाषा के दो रूप हैं। एक तो पूर्वी अपभ्रंश, जिसमें पार्श्व भी अपभ्रंश के रूप हैं और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश। इनका समय सन् ८०० से १००० तक ज्ञात होता है।

तन्त्र-शास्त्र से सम्बन्धित दूसरी अपभ्रंश-कृति 'डाकार्णव तन्त्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धान्तों का विवेचन है। इसमें गुरु का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वी से प्रभावित अपभ्रंश है। इसमें चौपाई आदि प्रमुख छन्द हैं। इनका रचना-काल ११ वीं सदी ई० के आस-पास है।

धार्मिक अपभ्रंश : शैवों की अपभ्रंश-रचनाएँ

कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएँ अंशतः अपभ्रंश में मिलती हैं। अभिनव गुप्त के 'तन्त्र सार' का इनमें प्रमुख स्थान है। इसमें शैव-मत की व्याख्या है। इसमें व्यक्ति ही परम शिव माना गया है। वह अशुद्धि के कारण अपने-आपको नहीं देख पाता। 'तन्त्र सार' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राकृत अपभ्रंश में पूरे अध्याय का सार दिया गया है। यों यह ग्रन्थ संस्कृत में हैं। इसका रचना-काल १०१४ ई० के आस-पास है।

दूसरी उल्लेख्य कृति भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य की 'जन्म-मरण-विचार' है। इसमें परम शिव की शक्ति और उनके प्रसार का विवेचन है। इसमें एक दोहा अपभ्रंश में है। इसका रचना-काल ११ वीं शती ई० का अन्तिम भाग ज्ञात होता है।

गोरखनाथ के 'अमरोधशासन' में भी एक अपभ्रंश-पद्य मिलता है। कश्मीरी भाषा का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबसे प्राचीन नमूना लल्ला के 'लल्ला वाक्पानि' में मिलता है। इसे लिखित रूप पीछे दिया गया, अतः भाषा की प्राचीनता अब ज्यों-की-त्यों नहीं मिल सकती। शिति कण्ठाचार्य की कृति 'महानय प्रकाश' में ६४ अपभ्रंश-पद्य हैं। इसका रचना-काल १५ वीं सदी ई० उत्तरार्द्ध है।

शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है। केवल भाषा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। साथ ही इनकी भाव-धारा भी महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुगीन साधकों की भाव-धारा की पृष्ठभूमि उन्हींकी सहायता से स्पष्ट हो सकती है।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश-साहित्य

इस श्रेणी का साहित्य दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में तो वे पद्य आते हैं, जो अलंकार, छन्द या व्याकरण आदि के ग्रन्थों में उद्धृत हुए मिलते हैं। इनमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत अधिक है। दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियाँ रखी जा सकती हैं।

प्रथम वर्ग के लिए कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश-पद्य, जिनमें प्रकृति-वर्णन आदि बड़े सुन्दर और सजीव हैं। चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के १८ अपभ्रंश पद्य। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण' में उद्धृत नीति, शृङ्गार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन आदि अनेक विषयों के छन्द, प्राकृत पैंगल के कुछ पद्य तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त छन्द देखे जा सकते हैं। ये मुक्तक छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं पर शृङ्गार, प्रेम, वैराग्य, नीति, सूक्ति आदि की विविधता एवं आलंकारिक छटा से ये अपूर्ण हैं। यही मुक्तक धारा रीति-काल तक आई और आध्यात्मिक स्वर मन्द हो जाने पर केवल शृङ्गारपूर्ण रह गई।

दूसरे वर्ग—प्रबन्धात्मक कृतियों—में आज केवल दो-तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। 'सन्देश रासक' 'मेघदूत' की तरह २२३ पद्यों में समाप्त एक सन्देश-काव्य है। विजयपुर की एक विरहिणी नायिका एक पथिक द्वारा अपना सन्देश भेजती है। इसमें ऋतु-वर्णन आदि बड़ा सुन्दर है। विरहिणी के भावों का भी चित्रण बड़ा आकर्षक हुआ है। इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। इसका रचयिता अब्दुल रहमान था। इसकी रचना सं० १४६५ के पूर्व की गई होगी। विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरित-काव्य है। इसमें कीर्तिसिंह के वंश तथा वीरता, और विजय तथा अभिषेक आदि का वर्णन है। 'कीर्तिलता' में काव्य-वैभव बहुत कम है। इसकी भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। विद्यापति का समय ई० १४वीं १५वीं सदी है। इनकी दूसरी पुस्तक 'कीर्ति पताका' में भी कुछ अपभ्रंश के पद्य निकले हैं।

हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काव्य-रूपों पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश-काव्यों की रचना प्रधान रूप से हिन्दी के प्रारम्भ काल तक होती रही, या यों कहिए कि अपभ्रंश की ही काव्य-धाराएँ धीरे-धीरे परिवर्तित होकर हिन्दी में भी प्रवाहित हो रही हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन प्राचीन साहित्य में जो साहित्यिक रूप और शैलियाँ मिलती हैं उनका अनायास आरम्भ नहीं हुआ। उस समय तक साहित्य के क्षेत्र में प्रवाहित रूप ही पुष्ट होकर इस रूप में आए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-रूप संक्षेप में इस प्रकार थे—

प्राकृत

(१) प्रबन्ध काव्य

(१) साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबन्धादि

(२) जैनों के धार्मिक प्रबन्ध-काव्य—महावीर चरित आदि

(३) गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-कृतियाँ—वसुदेव हिण्डी आदि

(२) मुक्तक

(१) गाथा सप्तशती आदि मुक्तक

(२) अन्य कृतियों में उद्धृत छन्द

(३) रूपकों में प्रयुक्त पद्य तथा सट्टक रचनाएँ

अपभ्रंश

(१) प्रबन्धात्मक काव्य

(अ) विशाल चरित-काव्य—महापुराण आदि

आखण्ड काव्य— (क) कल्पना-प्रधान—सन्देश रासक आदि

(ख) ऐतिहासिक—कीर्तिलता

(ग) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएँ

(२) मुक्तक (१) दोहाबद्ध उपदेश-प्रधान धारा

(२) दोहाबद्ध शृङ्गार-प्रधान धारा

(३) पद-शैली के गीति

अपभ्रंश के विविध काव्य-रूपों में कुछ का सम्बन्ध सीधा जनता से था। समयानुसार उन्हींके लिए परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा। यह परिवर्तित भाषा ही हिन्दी थी। भाव-धारा के लिए बहुत-से लोगों ने संस्कृत की ओर देखा, पर बाह्य रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके।

उत्तर मध्यकालीन तक के हिन्दी-काव्य-रूपों की प्रधान धाराएँ इस प्रकार हैं—

(क) प्रबन्धात्मक रूप

(१) चारण काव्य—रासो ग्रन्थ तथा राजाओं के चरित-काव्य

(२) धार्मिक साहित्यिक चरित काव्य—रामचरित मानस आदि

धार्मिक साहित्यिक शिथिल प्रबन्धात्मक काव्य—सूरसागर आदि

(३) आध्यात्मिक झलक की प्रेम-गाथाएँ—पद्मावत आदि

(४) ऐहिकतामूलक प्रेम-कथाएँ—ढोला मारू का दूहा आदि

(५) साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य—रामचन्द्रिका आदि

(ख) मुक्तक रूप

(१) विषय-प्रधान मुक्तक पद-शैली—गोरख, कबीर आदि के पद

विषय-प्रधान मुक्तक दोहा-शैली—बिहारी आदिक दोहे

विषय-प्रधान मुक्त विविध छन्दबद्ध काव्य—सवैया आदि

(२) उपदेश, नीति, शृङ्गार, सुभाषित आदि—रहीम, मतिराम आदि के दोहे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(३) गीति-काव्य—विद्यापति, सूर, मीरा आदि के पद

अपभ्रंश में दृश्य-काव्य नहीं था, अतः मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में भी यह धारा नहीं मिलती।

चारण-साहित्य की परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवताओं की स्तुतियों तक ले जाई जा सकती है। एक देव और ईश्वर का यश गाते थे तो दूसरे वीरों का। हिन्दी-चारण-साहित्य के पिंगल और डिंगल भाषा में लिखे होने से दो रूप हो जाते हैं। पिंगल रचनाओं की फिर दो उपशाखाएँ (१. अजैन और २. जैन) की जा सकती हैं।

अजैन के भी स्वाभाविक और साहित्यिकता से लदे हुए दो भेद किये जा सकते हैं। पहले का सुन्दर उदाहरण 'बीसलदेव रासो' तथा दूसरे के 'पृथ्वीराज रासो', 'वीरसिंह देव चरित', 'जंगनामा' तथा 'शयमरासा' आदि हैं। ये सभी ऐतिहासिक-पुरुषों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हैं। सभी का रूप भी प्रायः एक है।

जैन-रचनाओं में रास नाम से बहुत-सी रचनाएँ ब्रज में मिलती हैं। धर्म सूरि की 'जम्बू-स्वामी रास', श्वेताम्बर साधु की 'गोतम रासा' तथा पृथ्वीपाल की 'श्रुतपंचमी रास' आदि उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं। इन सबमें एक अपूर्व समानता है। अपभ्रंश में पाए जाने वाले जैन-काव्यों से ये सभी मिलते-जुलते हैं। इनमें चौपाई, दोहा तथा छप्पय आदि के अतिरिक्त लोक-प्रचलित गेय पदों का प्रयोग हुआ है यह प्रवृत्ति भी प्राकृत तथा अपभ्रंश के भी इस श्रेणी के काव्यों में मिलती है। 'बीसलदेव रासो' भी इसी परम्परा में आता है। अन्य 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ उसी परम्परा के कृत्रिम साहित्यिक रूप हैं।

डिंगल में रचित इस प्रकार के काव्य 'छन्दराउ जलसीरउ', 'वचनिका रतन सिंघरी' तथा 'राणा रासो' आदि हैं। ये भी रूप तथा विषय आदि में उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही हैं। गुजराती रास भी भाव-धारा आदि में इसी प्रकार हैं। इस तरह क्या गुजराती, क्या हिन्दी सभी अपभ्रंश और प्राकृत की अनुरूप धारा की ही परम्परा में है।

रास या रासो नामक काव्य-रूप का प्रथम स्पष्ट उल्लेख बाण (८वीं शती वि०) ने 'हर्ष-चरित' में किया है। वहाँ इसका अर्थ मंडलाकार नृत्य तथा अश्लील पद है। उद्योतन सूरि ने भी 'कुवलय माला कथा' में प्रायः इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। आगे चलकर इसका अर्थ जन-मन को आनन्द देने वाला हो गया। जैन-कवियों द्वारा रचित रास धर्म के समीप होने से ऐहिकता से कुछ अलग होते भी पर्याप्त सरस है। इसका आरम्भ में मूल आधार लोक-प्रचलित रास या नृत्य रहा होगा। अपभ्रंश में कुछ रास-कृतियों के तो केवल नाम मिलते हैं पर दो—'उपदेश-रसायन रास' तथा 'सन्देश रासक' उपलब्ध भी हैं। प्रथम कृति तो गुरु-निन्दा या स्तुति आदि से सम्बन्धित है, पर दूसरी 'बीसलदेव रासो' की भाँति एक वियुक्ता नायिका का सन्देश है। आगे यही हिन्दी तथा गुजराती आदि में शृङ्गारपूर्ण जीवन-चरित्र या वीर और शृङ्गार से मिश्रित हो गया।

प्रेमाख्यानक-काव्यों के दो वर्ग किये जा सकते हैं। एक वर्ग तो उन रचनाओं का है, जिनमें प्रेमाख्यान के साथ जीवन के गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान है और आध्यात्मिकता का भी पुट है। दूसरे वर्ग में प्रेम की परीक्षा कराते हुए प्रेमी-प्रेमिका का संयोग-मात्र है पहले वर्ग में 'पद्मावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' तथा 'पुहुपावती' आदि हैं। दूसरे वर्ग में चतुर्भुजदास निगम कायस्थ की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'मधुमालती' गणपति की 'कामकन्दला' तथा 'ढोलामारू' आदि हैं। 'ऊषा-अनिरुद्ध' आदि पौराणिक प्रेमाख्यान भी इसीमें आते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाएँ प्रेम-कथाएँ तो हैं ही, साथ ही अध्यात्म भी उनके साथ है; पर दूसरी कोरी ऐहिकतामूलक हैं और प्राकृत-अपभ्रंश के इस प्रकार के काव्यों की परम्परा में हैं। जैन-लेखकों की 'वसुदेव हिण्डी' आदि इसी प्रकार की हैं। वहाँ इन्हें धर्म का पतला आवरण अवश्य पहनाया गया है। जैनेतर पद्यबद्ध कथा-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं, पर जैन-कृतियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी-प्रेमाख्यानकों की दोहा-चौथाई-शैली का पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश में रहा होगा।

अपभ्रंश-चरित-काव्यों का जैसा बाह्य रूप मिलता है वही 'रामचरित मानस' आदि का भी है। अपभ्रंश में स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' भी राम-कथा है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में भी यह कथा है। नहीं कहा जा सकता कि तुलसी को इन रचनाओं का पता था या नहीं। स्वयम्भू ने राम-कथा को नदी की समता दी है, विनय के साथ अपनी अयोग्यता प्रकट की है, सज्जनों-दुर्जनों के बारे में लिखा है और तुलसी ने उसे सरोवर कहा है तथा और बातें प्रायः स्वयम्भू की भाँति लिखी हैं। तुलसी के मानस की छन्दों की रूप-रेखा अपभ्रंश के चरित-काव्यों के समान है।

हिन्दी में विशुद्ध महाकाव्य लिखने का प्रयास 'रामचन्द्रिका' में है। नयनन्दि का 'सुदशन-चरिउ' तथा लालू का 'जिनदत्त चरिउ' भी प्रायः ऐसे ही हैं। 'रामचन्द्रिका' की छन्द-विविधता इन दोनों में मिलती है।

सूर के 'सूरसागर' का भी हल्का सूत्र मिलता है। बौद्ध-सिद्धों के गानों का यही रूप है। वे भी रागबद्ध हैं। हाँ, उनमें कथा अवश्य नहीं है। सम्भव है कोई वैसी भी कृति रही हो, जो आज उपलब्ध नहीं है।

मुक्तक पद गोरख, विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, आदि में हैं। सिद्धों के गीतों में और इनमें इतना ही अन्तर है कि उनमें गीति-तत्त्व कम और विषय का विवेचन अधिक है। गोरख और कबीर के नाद, बिन्दु, रवि, शशि तो 'दोहा-कोष' से ही हैं। इनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः वहीं से आती दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में दोहों का प्रयोग शृङ्गार, नीति, मत-विवेचन आदि में भी बहुत हुआ है। सन्त तुलसी, बिहारी आदि इसके प्रमाण हैं। प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' और 'वज्जालग्ग' इन्हीं विषयों के संग्रह हैं। 'गाथा सप्तशती' और बिहारी में तो भावसाम्य भी खूब है। सन्तों की साखियों का रूप योगीन्द्र तथा रामसिंह आदि के छन्दों में मिलता है।

सवैया-कवित्त की धारा प्राचीन अपभ्रंश-साहित्य में नहीं मिलती। सम्भव है भविष्य में अपभ्रंश का विस्तृत अध्ययन इस कमी को पूरा कर दे।

रचना-शैली और छन्दों का प्रभाव

प्राकृत और अपभ्रंश की रचना-शैलियों में अन्तर है। साहित्यिक के प्राकृत की कुछ कृतियों में संस्कृत-काव्यों की शैली का अनुकरण किया गया है, जैसे 'सेतुबन्ध' में। किन्तु 'गौडव्य'-जैसी कृतियों में मौलिकता भी मिलती है। हिन्दी की कुछ काव्य-धाराओं की रचना-शैली और जैन-अपभ्रंश के चरित-काव्यों में रचना-शैली में कुछ-कुछ साम्य आरम्भ में वन्दना, सज्जन-दुर्जन स्मरण तथा विनम्रता आदि—मिलता है। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा तुलसी के 'मानस' या जायसी के 'पद्मावत' में यह समानताएँ देखी जा सकती हैं। जायसी ने देशादि तथा ऋतुओं के जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्णन किये हैं वे भी अपभ्रंश के चरित-काव्यों में हैं। जायसी का वियोग-वर्णन 'सन्देशरासक' के वियोग-वर्णन के बहुत समीप है।

हिन्दी-काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश-छन्दों का पड़ा है। प्राकृत-अपभ्रंश में विशेष रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, पर साथ ही वर्ण-वृत्तों के भी कुछ सफल प्रयोग हैं। प्राकृत के प्रिय छन्द गाथा तथा उसके अनेक भेद हैं। अपभ्रंश के चरित या आख्यान-काव्यों में कडवक-बद्ध छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कुछ अपवाद भी अवश्य मिलते हैं। कुछ ने केशव की भाँति अनेक छन्दों के भी प्रयोग किये हैं। अपभ्रंश में पुराने छन्दों को मिलाकर नवीन छन्द बनाने की भी प्रवृत्ति है। छप्पय, वस्तुरड्डा तथा कुण्डलिया आदि इसी प्रकार के छन्द हैं। अपभ्रंश की एक प्रवृत्ति यह भी है कि कवियों ने चतुष्पदी तथा षट्पदी के द्विपदी की भाँति प्रयोग किये हैं। कुछ संस्कृत के छन्द भी नवीन विशेषताओं के साथ प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में गेय छन्द भी हैं। हिन्दी में अपभ्रंश-छन्दों की सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। यहाँ भी चरितकाव्यों 'पद्मावत' तथा 'मानस' आदि में अपभ्रंश की भाँति कडवक शैली का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'सुजान-चरित' आदि में प्राकृत छन्द 'गाहा' के प्रयोग मिलते हैं। यह छन्द 'सन्देशरासक' आदि अपभ्रंश-ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है।

समद्विपदी के अपभ्रंश में पुष्पदन्त आदि ने सुन्दर प्रयोग किये हैं। हिन्दी में सूदन ने इसका प्रयोग किया है। २८ मात्रा की द्विपदी के उल्लाला, धत्ता आदि प्रमुख भेद हैं। उल्लाला का हिन्दी में बहुत प्रयोग हुआ है। सम चतुष्पदी छन्दों में मधुभार, विजोहा, दीपक, चौपाई, आभीर, मालती, विज्जुमाला, अरिल्ल, पादाकुलक तथा हरीदुरद आदि छन्दों का अपभ्रंश में प्रयोग हुआ है। इनमें कइयों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो', 'सुजान-चरित', 'हम्मीर रासो' आदि कृतियों में मिलता है। कुछ अपभ्रंश-छन्दों के नाम बदलने की प्रवृत्ति हिन्दी में रही है। अपभ्रंश में भी कुछ प्राकृत छन्दों के नाम परिवर्तित मिलते हैं। अर्द्ध सम चतुष्पदी छन्दों में दोहा, सोरठा तथा हरिपद आदि हैं। दोहा अपभ्रंश का प्रिय और प्राचीन छन्द है। 'कीर्तिलता', 'सन्देश रासक' तथा अन्य बहुत-सी स्फुट रचनाओं में दोहे का प्रयोग हुआ है। हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों तथा मुक्तक (नीति तथा शृङ्गार आदि) में दोहे का अपना विशिष्ट स्थान है। सोरठे का प्रयोग अपभ्रंश की 'परमात्म प्रकाश' आदि कृतियों में मिलता है। हिन्दी में भी भक्ति और रीतिकाल में इसके प्रयोग हुए हैं। हरिपद प्रचलित न होने पर भी अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में प्रयुक्त हुआ है। मिश्र छन्दों में प्रधानता छप्पय तथा कुण्डलिया को दी जा सकती है। कुण्डलिया प्राचीन अपभ्रंश-ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं है, पर 'छन्दकोश' आदि में इसके उदाहरण मिलते हैं। छप्पय का प्रयोग कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश-अंश में मिलता है। कहना न होगा कि हिन्दी में ये दोनों पर्याप्त प्रचलित छन्द रहे हैं।

वर्णवृत्तों का प्रयोग अपभ्रंश के चरित-काव्यों में विशेष रूप में मिलता है। फिर भी पूरे अपभ्रंश-साहित्य को देखने पर मात्रिकों की तुलना में इनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। हिन्दी में भी आधुनिक प्रयोगों को छोड़ दिया जाय तो रासो-ग्रन्थ तथा 'रामचन्द्रिका' आदि कुछ ग्रन्थों में ही वर्ण वृत्तों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मानस में केवल ३ या ४ ही वर्णवृत्त मिलते हैं। अधिक विस्तार में न जाकर कुछ हिन्दी-छन्दों के नाम दिये जा सकते हैं, जो प्राकृत विशेषतः अपभ्रंश की परम्परा से आए हैं—चौपाई, पादाकुलक, दोहा, सार, ताटंक, रूपमाला तथा सोरठा, भुजंगप्रयात, सवैया, छप्पय, वीर, रोला, गीतिका, तथा मनहरण आदि।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी के पदों का यही रूप अपभ्रंशादि में नहीं मिलता। अपभ्रंश में दो छन्दों के मेल से निर्मित मित्रबन्ध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही अपभ्रंश में कडवकों के पश्चात् लघु रचनाओं को गाते समय ध्रुवक को दुहराने की पद्धति रही होगी। इन्हीं तत्त्वों का विकसित या मिश्रित रूप पद ज्ञात होता है। पद रागों के अनुसार विभक्त होते हैं। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इससे मिलती-जुलती परम्परा अपभ्रंश में भी रही है। अलंकारों के क्षेत्र में प्राकृत-अपभ्रंश-कवियों ने परम्परा से प्राप्त अप्रस्तुत विधान को तो अपनाया ही, साथ ही अपने चारोंओर के जीवन सेन बीन सामग्री भी ली। यह प्रवत्ति हिन्दी-कवियों में भी रही है। कबीर के जुलाहे आदि के रूपक इसी प्रकार की नवीनताओं की श्रेणी में आते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति सर्वप्रथम अपभ्रंश में मिलती है। भौंरों की गुञ्जार, संगीत की ध्वनि तथा वर्षा-वर्णन के लिए प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी युद्ध, वायु, वर्षा आदि के वर्णनों में इन शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है।

कथानकों का प्रभाव

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त कथानकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक तो पौराणिक (जैसे राम, कृष्ण आदि) और दूसरा लोक-प्रचलित (जैसे सूफी कवियों की पद्मावती, मृगावती आदि)। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही दो प्रधान भेद मिलते हैं। जहाँ तक हिन्दी में इन कथानकों को लेने का प्रश्न है पौराणिक कथानक तो विशेष रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से न लिये जाकर संस्कृत से लिये गए हैं, पर लोक-कथानक अवश्य अपभ्रंश से विशेष रूप से प्रभावित हैं। सूफी-काव्यों में सिंहल द्वीप की सुन्दरियों का वर्णन आया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'भविष्यदत्त कथा', 'करकण्डुचरिउ', 'जिनदत्त चरित', 'रत्नशेखर नरपति कथा' तथा 'श्रीपाल-चरित' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख आए हैं। जायसी के जोगी-खंड का जोगी-वर्णन भी बहुत अंशों में 'जसहरचरिउ' तथा शैलाचार्यों के वर्णनों से मिलता-जुलता है। कृष्ण-काव्य की राधा को पढ़कर कभी-कभी 'गाथा सप्तशती' के कुछ छन्द याद आ जाते हैं। कृष्ण के भी कुछ चित्र पुष्पदन्त आदि में मिल जाते हैं। हिन्दी की जैन-काव्य-धारा के कथानक तो अधिकांशतः प्राकृत तथा अपभ्रंश जैन-काव्य के कथानकों से प्रभावित हैं। इस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश-कथानकों का हिन्दी के कथानकों पर पर्याप्त प्रभाव है।

इन समानताओं के अतिरिक्त भाव-धारा की समानताएँ भी कुछ हिन्दी तथा अपभ्रंश-साहित्य में मिल जाती हैं। जैन, बौद्ध तथा शैव-साधकों का स्वर बाद में नाथ-पंथ तथा सन्तों में दिखाई पड़ता है। ये सभी जप, तप, पूजा, अर्चना, तीर्थ, वर्ण, अवतार तथा शास्त्र के विरोधी थे। विद्वानों का कहना है कि वैदिक युग से ही इस प्रकार के विरोधी लोग यहाँ थे और वही परम्परा अब तक किसी-न-किसी रूप में आ रही है। 'गुरु' के विषय में भी हिन्दी-साहित्य प्राकृत-अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है। बिहारी आदि की शृङ्गार-धारा के भाव भी 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' तथा हेमचन्द्र में मिल जाते हैं। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य बाह्य और आन्तरिक सभी रूपों में प्राकृत, विशेषतः अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है।[1]

---

१. लेखक के डी० फिल० के अप्रकाशित थीसिस का संक्षिप्त रूप, श्री भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तुत।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुशीलन

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र

हिन्दी में इस समय काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक तो रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थ; जैसे केशवदास-कृत 'कविप्रिया', भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय' आदि तथा दूसरे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के आधार पर लिखे गए आधुनिक ग्रन्थ; जैसे बा० श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन'। प्रश्न यह है कि क्या इन दो श्रेणियों के ग्रन्थों में से किन्हीं को भी हम हिन्दी काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ मान सकते हैं।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के परिभाषा के भाग प्रायः इस विषय के संस्कृत-ग्रन्थों के इन अंशों के स्वतन्त्र अनुवाद हैं अथवा उन्हें आदर्शस्वरूप सामने रखकर लिखे गए हैं। उदाहरण के अंशों में भी हिन्दी के प्रसिद्ध पूर्ववर्ती भक्तिकालीन कवि—जैसे तुलसीदास, सूरदास आदि के ग्रन्थों से उपयुक्त उद्धरण संकलित करने का प्रयास नहीं किया गया बल्कि कल्पित उदाहरण गढ़ कर दिये गए हैं। कहीं-कहीं संस्कृत उदाहरणों का ही छायानुवाद दे दिया गया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थों का सार है; न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित-साहित्य से ही। उदाहरण के लिए इन हिन्दी-ग्रन्थों में नाट्यकला-सम्बन्धी अध्याय में हडसन अथवा इसी श्रेणी के किसी अंग्रेजी लेखक के विचारों का अनुवाद अथवा भावार्थ मिल जायगा। हिन्दी-लेखक न इस रूप के सिद्धान्तों का परिचय देने का यत्न करेगा और न हिन्दी नाटकों के आधार पर किन्हीं मौलिक सिद्धान्तों के निर्माण का ही यत्न करेगा।

इस प्रकार हम उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के ग्रन्थों को हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र अथवा आलोचना-शास्त्र नहीं मान सकते। इसका निर्माण अभी होना है। इस टिप्पणी में मैं इसी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रश्न यह किया जा सकता है कि हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र कैसे निर्मित हो। उत्तर सीधा है। इसका निर्माण हिन्दी-साहित्य के आधार पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए सूरदास अथवा तुलसीदास आदि के ग्रन्थों में प्रयुक्त समस्त अलंकारों के वास्तविक संकलन तथा विश्लेषण के आधार पर हिन्दी-अलंकार-शास्त्र की नींव डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान रखना आवश्यक होगा कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'सूरसागर' अथवा 'मानस' के अलंकारों को संस्कृत अथवा रीतिकालीन अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों में पाई जाने वाली परिभाषाओं की कसौटी पर न कसा जाय बल्कि उन्हें मौलिक प्रयोग मानकर उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। इसी प्रकार से हिन्दी में रस, नायिका-भेद, गुण-दोष, छन्द-शास्त्र आदि के ग्रन्थ तैयार होने चाहिएँ।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का भी इसी प्रकार विश्लेषण करने की आवश्यकता होगी। प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर ही हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र की नींव पड़ सकेगी और इसी नींव पर इस विषय के भवन का निर्माण करना होगा। प्रेमचन्द की कहानियों का शास्त्रीय अध्ययन हमें अपनी कहानी-कला के सिद्धान्तों की मौलिक सामग्री दे सकेगा। थोड़ी देर के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भुलाकर हमें यह कार्य करना होगा।

हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के निर्माण के कार्य को हमें दो भागों में बाँटना होगा। व्यक्तिगत हिन्दी कवियों तथा लेखकों की कृतियों का शास्त्रीय विश्लेषण करना, क्रमबद्ध करना तथा उससे निष्कर्ष निकालना। इसमें खोज-कार्य में दिलचस्पी रखने वाले सैकड़ों विद्यार्थियों को लगाया जा सकता है। यह कार्य पूरा हो जाने पर इस सामग्री के आधार पर हिन्दी के विद्वान् हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ लिख सकेंगे जो हिन्दी-साहित्य से संकलित उदाहरणों से पूर्ण रहेंगे—एक प्रकार से उन्हीं का निचोड़ होंगे। यह हिन्दी का काव्य-शास्त्र संस्कृत अथवा अंग्रेजी काव्य-शास्त्र से किस अंश में प्रभावित है तथा किस अंश में मौलिक है यह कार्य अन्त में तीसरी खेप के विद्वानों के लिए छोड़ देना चाहिए। हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र के निर्माण की वास्तविक सीढ़ियाँ तो पहली और दूसरी हैं जिनमें हिन्दी आलोचना-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा विद्वानों को शीघ्र कदम उठाना है।

चन्द्रबली पांडे

जायसी की भूल

'जायसी-ग्रन्थावली' में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त का कहना है—

"यद्यपि मार्गशीर्ष-पौष मास हेमन्त के माने गए हैं, किन्तु 'हेम' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

साथ ही यहाँ इतना और भी समझ लें कि इसके ठीक पश्चात् अगले ही 'छन्द' में फिर आपकी ही टिप्पणी है—

"माघ-फाल्गुन मास शिशिर के ही माने गए हैं, किन्तु 'सिसिर' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ठहरते हैं, इसलिए यहाँ पर भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

बात ठीक ही कही गई है। विरोध इसका कोई क्योंकर कर सकता है? परन्तु क्या सम्पादक का यही कहना पर्याप्त समझा जायगा? प्र० १, २, द्वि० ७ का पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अप्रामाणिक ही होगा, इसका प्रमाण क्या? यहाँ तो 'प्रामाणिक' है न? यदि नहीं तो कृपाकर अपने इस 'प्रामाणिक पाठ' पर ध्यान दें। यहाँ 'सिसिर' की स्थिति क्या है? पूर्वराग की दशा में—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ।
पदुमावति सब सखीं हँकारीं। जाँवत सिंघल दीप की बारीं।
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचिमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ।
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते।
अवधि आइ सो पूजी जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव गढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह॥१८३॥

प्रश्न उठता है कि कवि की दृष्टि में 'सिसिर' के बाद 'वसन्त' का आगमन होता है अथवा 'हेमन्त' के बाद। समाधान के पहले ही इतना और भी जान लें कि कवि का कथन है 'सिरी पंचमी' के विषय में ही इस 'संस्करण' में स्पष्ट, स्फुट और निर्विवाद

माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू।
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा।
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजैं आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस॥१६२॥

अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कवि को 'सिरी पंचमी' और 'वसन्त' का यथार्थ बोध है और फलतः वह 'वसन्त पंचमी' का ठीक निर्देश करता है। परन्तु ऋतु के विचार से तो अभी 'वसन्त' ऋतु है नहीं। माघ-फाल्गुन की गणना तो 'शिशर' ऋतु में है न? फिर यह प्रमाद कैसा? क्या हम इसे जायसी की भूल कह सकते हैं? जायसी कहते हैं, किस ठिकाने से, ठीक अवसर पर—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो जायसी का अर्थ क्या है? स्मरण रहे 'प्रामाणिक' संस्करणानुसार जायसी की दृष्टि में 'शिशिर' का भोग है अगहन और पूस। कहते हैं, रत्नसेन और पद्मावती के सम्भोग को लक्ष्य कर

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिली लागा।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।
दुई घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।
हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर कुंदहि कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै दाद भा जस चकई क बिछोउ ॥३३९॥

और 'हेमन्त' की स्थिति है ठीक इसके पश्चात् ही—

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ-फागुन सुख सीउ सियाला।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहुँ दुख कर खोजू।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा।
जाइ इन्द्र सौं कीन्हु पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा।
भएउ इन्द्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता कबहुँ काहु कै होइ ॥३४०॥

जायसी ने ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त कर दिया है, कारण कि उसका आरम्भ हुआ था—

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई। सुरितु चैत बैसाख सुहाई।
चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कविलासू।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुख बासी।
पिउ संजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होइ सब चूरू।
जेहि घर कंता रितु भली आउ वसंता नित्तु।
सुख बहरावहिं देवहरै दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥३३५॥

जायसी ने 'हेमन्त' के बाद 'शिशिर' को नहीं माना ऐसा यहाँ सिद्ध होता है। यह कवि की भूल कही गई है। किन्तु यह भूल कैसी और क्यों है? इसके पहले ही तो कवि ने १८३ में ही कह दिया था—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो फिर इसका अर्थ क्या? क्या कवि यहाँ भी 'सिसिर' का अर्थ अगहन-पूस ही समझता है? और फिर 'सिसिर' का पाठ क्यों? प्रामाणिक संस्करण का पाठान्तर है न—

"द्वि० १, २, ३, ६, ७, तृ० ३, च० १ सो रितु, द्वि० ४, ५, पं० १ सुरितु।"

तो हम जानना चाहते हैं कि वास्तव में 'सो रितु' क्यों ठीक नहीं और इसके स्थान पर 'सिसिर' क्यों ठीक है। और यदि यह ठीक है तो इस पर कोई टिप्पणी क्यों नहीं? क्या 'सिसिर' के बाद 'सिरी पंचमी' का आगमन होता है?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉक्टर कामिल बुल्के

'रामचरितमानस' का रचना-क्रम

'रामचरितमानस' की कथावस्तु तथा उसके विभिन्न अंगों के आधार-ग्रन्थों का पूरा विश्लेषण करने के बाद सुश्री सी० वोदवील[1] उसके रचना-क्रम के ये तीन सोपान निर्धारित करती है—१. रामचरित; २. शिवरामायण; ३. भुशुण्डी रामायण।

१. *'रामचरित'*.: प्रथम पाण्डुलिपि के विषय में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का मत स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार इसमें बालकाण्ड का उतरार्द्ध (१८४ ३६१) तथा सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड था।[2] सुश्री वोदवील का विचार है कि उस सामग्री के अतिरिक्त 'रामचरित' में अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ (१-६) तथा बालकाण्ड की प्रस्तावना का पूर्वार्द्ध (१-२६) भी रहा होगा। प्रस्तावना के पूर्वार्द्ध में 'रामचरितमानस' नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, और न किसी संवाद का। कवि ही वक्ता हैं; यद्यपि शिव का नाम कई बार आया किन्तु रामकथा के वक्ता अथवा रचयिता के रूप में नहीं।

बालकाण्ड (१८४-२०५) के कई स्थलों पर शिव वक्ता के रूप में आते हैं। उसके विषय में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के अनुसार माना गया है कि द्वितीय पांडुलिपि तैयार करते समय कवि ने इस अंश में कुछ परिवर्तन किया होगा। यह अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ पर भी लागू है, क्योंकि इसमें शिव तथा कवि[3], दोनों ही वक्ता हैं।

सम्भव है गोस्वामी तुलसीदास के अयोध्या से चले जाने के कारण रामचरित की रचना स्थगित कर दी गई हो।

२. *'शिवरामायण'* : रामचरितमानस के शेष अंगों से स्पष्ट है कि रामचरित के स्थगित करने के बाद कवि का दृष्टिकोण बदल गया है। अब वे अपनी रचना को शिव-पार्वती-संवाद के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। काव्य-ग्रन्थ (रामचरित) मात्र न रहकर, एक साम्प्रदायिक रामायण (शिवरामायण) का रूप धारण कर लेता है। सम्पूर्ण प्रथम पाण्डुलिपि के अतिरिक्त, इस रामायण में निम्नलिखित सामग्री थी—बालकाण्ड १०५–१८४, अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक, उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध (१-५२)।

'शिवरामायण' में भुशुण्डी का बहुत से स्थलों पर उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त[4] का मत है कि जब कवि ने अन्त में काक भुशुण्डी को रामायण के वक्ता के रूप में रखा तब उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अन्य काण्डों में भी वक्ता के रूप में भुशुण्डी की चर्चा कर दी जाय। सुश्री वोदवील का विचार है कि 'शिवरामायण' प्रारम्भ करते समय कवि

---

१. आपका अध्ययन पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है और वहाँ छप रहा है।
२. देखिए, 'तुलसीदास' पृष्ठ २६४।
३. देखिए, 'पर नर भरत प्रीति मैं भाई'।
४. देखिए, 'तुलसीदास', पृष्ठ २६५।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के मन में भुशुण्डी को वक्ता के रूप में रखने की बात नहीं आई। अतः बालकाण्ड पूर्वार्द्ध[1] तथा बालचरित में भुशुण्डी अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है।[2] द्वितीय पाण्डुलिपि के अन्य काण्डों में वक्ता के रूप में जो भुशुण्डी के उल्लेख मिलते हैं इसका कारण यह होगा कि तुलसीदास के पास 'भुशुण्डी रामायण' था ही। ये उल्लेख सम्भवतः उस भुशुण्डी रामायण की सामग्री की ओर निर्देश करते हैं और कवि पर भुशुण्डी रामायण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रमाणित करते हैं; यहाँ तक कि उत्तर काण्ड में उस रामायण का एक विस्तृत उद्धरण भी दिया गया है।[3] उस अंश में शिव अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित हैं।

३. *'भुशुण्डी रामायण'* : शिव रामायण सात काण्डों में विभक्त था और स्वतःपूर्ण भी था। लेकिन भुशुण्डी रामायण का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने बाद में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को भी अपनी रचना में जोड़ दिया है। उस संवाद में भुशुण्डी शिव से स्वतन्त्र वक्ता है। शिव स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मैंने रामकथा काक भुशुण्डी से सुनी थी।[4] फिर भी अपने काव्य की एकता सुरक्षित रखने के लिए तुलसीदास ने अन्त में शिव को प्रधान वक्ता के रूप में माना है[5] तथा प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में भी लिखा है कि शिव ही रामचरितमानस के रचयिता हैं और उन्होंने काक भुशुण्डी को अधिकारी समझकर उसे रामकथा सुनाई थी।

बहुत सम्भव है कि मूल भुशुण्डी रामायण का नाम 'रामचरितमानस' ही था। अतः भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को अपनी रचना में जोड़ देने के बाद ही तुलसीदास ने उसे 'रामचरितमानस' का नाम दिया है। यह नाम विभिन्न काण्डों की पुष्पिका तथा बालकाण्ड के प्रक्षिप्त तीन सोरठों (१२०) को छोड़कर, केवल प्रस्तावना उत्तरार्द्ध तथा उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध में आया है; ये अंश तृतीय पाण्डुलिपि के ही हैं। सुश्री सी० वोदवील के अनुसार तृतीय पाण्डुलिपि का रचना-क्रम इस प्रकार है—(अ) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०, (आ) शिवचरित, बाल काण्ड ४४-१०४; (इ) प्रस्तावना उत्तरार्ध, ३०-४३।

'शिवचरित' पहले नहीं रखा गया था, इसका प्रमाण यह है कि रामचरितमानस की कथावस्तु का जो सिंहावलोकन उत्तर काण्ड में दिया गया है[6], उसमें शिवचरित का उल्लेख नहीं है।

समालोचना

रामचरितमानस के रचना-क्रम के उपर्युक्त तीन सोपान स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मेरी समझ में इस प्रकार का विभाजन सुश्री वोदवील के अध्ययन का एक बहुमूल्य परिणाम है। फिर भी अन्तिम दो की सामग्री में कुछ परिवर्तन अपेक्षणीय हैं, तथा विकास के तीसरे रूप का नाम 'रामचरितमानस' रखना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार उत्तरकाण्ड में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद की भूमिका के रूप

---

१. देखिए, पृष्ठ १४६।

२. बालकाण्ड के तीन सोरठे १२० क ख ग स्पष्टतया बाद में जोड़ दिये गए हैं।

३. देखिए, पृष्ठ १२-२२।

४. देखिए, 'उत्तरकाण्ड' पृष्ठ ५२-५७।

५. देखिए, पृष्ठ १२६-१३०।

६. देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में शिव-पार्वती-संवाद रखा है।[1] इस प्रकार बालकाण्ड में भी शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका स्वरूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पाण्डुलिपि में प्रारम्भ से ही विद्यमान था।[2] सुश्री वोदवील के रचना-क्रम के अनुसार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद बिलकुल अन्त में, प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध के पहले जोड़ दिया गया है। द्वितीय पाण्डुलिपि में[3] याज्ञवल्क्य के जितने उल्लेख मिलते हैं, वे सब-के-सब बाद के प्रक्षेप हैं। अवतार-हेतु की विभिन्न कथाओं में सम्बद्धता का अभाव था, अतः तुलसीदास ने बाद में याज्ञवल्क्य को उनका वक्ता बनाकर उन्हें एक सूत्र में ग्रथित किया है। यह तर्क बहुत चिन्त्य है, और अनावश्यक भी; यदि मान लिया जाय कि याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पांडुलिपि का अंश था, तो सारी समस्या हल हो जाती है।

'शिवचरित'[4] के विषय में मेरा अपना विचार है कि यह एक स्वतन्त्र रचना है; उसकी शैली, भाषा और छन्द-योजना यह अनुमान दृढ़ करती है कि वह प्रथम पाण्डुलिपि के समय ही लिखा गया था। 'सिय-रघुवीर विवाह'[5] तथा भरत-चरित[6] के समान ही उसकी अपनी फलस्तुति है। उत्तरकाण्ड में जो 'रामचरितमानस' का सिंहावलोकन है, उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख नहीं है। अतः तुलसीदास ने उसे बाद में, प्रस्तावना उत्तरार्द्ध (उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख है) के पहले अपने काव्य में जोड़ दिया है।

एक बात और विचारणीय है। उत्तर काण्ड में 'रामचरितमानस' के सिंहावलोकन में[7] मानस-रूपक का उल्लेख है। अतः बहुत सम्भव है कि प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का एक पूर्वरूप उत्तरकाण्ड से पहले लिखा था। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड के दोहे ३१-३२, जिनमें राम-चरित का उल्लेख है, सम्भवतः प्रथम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत थे। इस प्रकार 'रामचरितमानस' की निम्न लिखित रचना अधिक समीचीन प्रतीत होती है—

क. *रामचरित* : (१) बालकाण्ड १-२६, ३१-३२ प्रस्तावना पूर्वार्द्ध
(२) बालकाण्ड १८४-२०५ का पूर्वरूप, २०६-३६१
(३) अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण

ख. *शिव रामायण* : (१) बालकाण्ड ४४-४७, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ
(२) बालकाण्ड १०५-१८३, शिव-पार्वती-संवाद, अवतार-हेतु
(३) बालकाण्ड १८४-२०५ का प्रस्तुत रूप
(४) अरण्यकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक
(५) उत्तरकाण्ड उतरार्द्ध १-५२

---

१. देखिए, पृष्ठ ६२

२. प्रस्तुत विवेचन के दृष्टिकोण से बालकाण्ड की कथा-वस्तु का निम्नलिखित विभाजन सुविधाजनक है : (१) १-४३ प्रस्तावना; (२) ४४-४७ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ; (३) ४८-१०३ शिवचरित; (४) १०४-१२० शिव-पार्वती-संवाद का प्रारम्भ; (५) १२१-१८३ अवतार-हेतु की कथाएँ; (६) १८४-३६१ रामचरित।

३. देखिए, पृष्ठ १०५-१७६।

४. बालकाण्ड, ४८-१०३। ५. देखिए, बालकाण्ड, ३६१। ६. देखिए, अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ३२६

७. देखिए, पृष्ठ ६४

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग. रामचरितमानस : (१) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का पूर्वरूप—मानसरूपक
(२) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०
(३) पूर्वरचित 'शिवचरित' ज्यों का त्यों कालकाण्ड में (४८-१०३) जोड़ दिया जाता है।
(४) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का प्रस्तुत रूप। बालकाण्ड, ३३-४३।
(५) गौण प्रक्षेप—जैसे बालकाण्ड के सोरठे १२० (ख, ग, घ) तथा प्रस्तावना का विविध संवादों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न।[१]

१. देखिए, चौ० दो० ३०।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

पॉल वेलरी

भविष्यत्-साहित्य[1]

: १ :

मानव-चेतना ने भौतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की और आज भौतिक परिस्थितियाँ अपनी पराजय का मूल्य पाई-पाई अदा कर देने पर उतारू हैं। भौतिक परिस्थितियाँ हमको ऐसे स्थल पर ले जा रही हैं, जहाँ पहुँचकर हम होश खो बैठे हैं। हम अपनी आदिम परिस्थितियों से प्रतिक्षण दूर होते जा रहे हैं। भयानक गति से हम ऐसी भौतिक व्यवस्था में प्रवेश करते जा रहे हैं जिनका उलझाव, अस्थायित्व, और अद्भुत विशृङ्खलता हमको स्तब्ध कर रही है, जिसने हमसे हमारी भविष्य को देख पाने वाली दृष्टि छीन ली है, जिसने हमें भविष्य के विषय में कोई भी निश्चित धारणा न बना पाने के लिए मजबूर कर दिया है।

इस सबका प्रभाव मन पर पड़ना अनिवार्य है। मानव-चेतना ने जिस दृश्यमान् जगत् को इतना बदल दिया है, स्वाभाविक है कि वह दृश्यमान् जगत् मानव-चेतना का दृष्टिकोण बदल दे। अतीत की परम्पराओं से सर्वथा पृथक्, बिलकुल नई समस्याएँ और अबूझ पहेलियों से हमें

---

१. आलोचना के इस अंक में भविष्यत् साहित्य के सम्भावित स्वरूप के विषय में हम दो मनीषियों के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति चेतना को जिस रहस्यमय देश की सीमा तक ले गई है उसने हमारी आज की समस्त मान्यताओं के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि और विचारक पॉल वेलरी की फ्रेन्च गद्य-कृति 'आधुनिक विश्वचिन्तन' के एक अंश पर आधारित जिन विचारों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें भौतिक विज्ञान के चमत्कारों ने उसे भयाकुल कर दिया है। भविष्य के प्रति उसके अनुमानों में एक निराशा और त्रास की भावना है जिससे वह उबरने का प्रयास करता है। उसके बाद श्री अरविन्द का अत्यन्त विचारोत्तेजक लेख है, जिसमें आशा का अदम्य स्वर है। उनके दर्शन से सभी सहमत हों यह आवश्यक नहीं, किन्तु काव्य के प्रति उनका मौलिक दृष्टिकोण हम गम्भीर विचार-विनिमय के लिए हिन्दी के कृतिकारों और पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। इस लेख को रूपान्तरित करने में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सुझाव और सहयोग के लिए हम आभारी हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चमत्कृत कर दे।

इस स्थिति ने निस्सन्देह अपने भविष्य के प्रति हमें चिन्तित कर दिया है। जहाँ एक ओर हम अपने इस अभियान की आगामी मंजिल को पंजों के बल खड़े होकर, गरदन उठाकर देखने के लिए उत्सुक हैं, हम अपने आने वाले कल की शक्लें जान लेना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर हम यह महसूस करते हैं कि हमारी जीवन-दृष्टि दिन-प्रतिदिन दूर देख पाने में असमर्थ होती जा रही है। हमारी चेतना का जीवन केवल एक दिन की आयु का होता है। हर दूसरे दिन उसका नवीन जन्म होता है। युद्ध, भूकम्प, महामारी या इसी प्रकार के अप्रत्याशित संकट के दिनों में मनुष्य की भविष्यत्-चेतना जितनी संशयपूर्ण हो जाती है, वैसी ही संशयग्रस्त और केवल तात्कालिकता में केन्द्रित हमारी आधुनिक चेतना है। न केवल काल, प्रत्युत दिशा की दृष्टि से भी हम इसी प्रकार संशयग्रस्त होते जा रहे हैं। हमारे शास्त्र, हमारी आकांक्षाएँ हमारी, राजनीति, सब-कुछ स्थानीय भावनाओं से अनुप्राणित होते रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिष्ठान इस आधार पर बने हैं कि राष्ट्रों और व्यक्तियों का क्षेत्र तथा सीमाएँ न्यूनाधिक यही रहेंगी।·····लेकिन आज अकस्मात् स्थानान्तरण की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी है, आधुनिक जीवन यायावर हो उठा है, चिर-चलायमान; यात्रा की जो सुविधाएँ और जो साधन भौतिक विज्ञान ने हमें दिये हैं उसने इस प्रवृत्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

इस प्रकार हमारी चेतना का वर्तमान संकट यह है कि उन्मूलित और यायावर मानव आज प्रश्न-चिह्न बनकर स्थायी और परम्परावद्ध मानव के सम्मुख खड़ा है। हम आज एक प्राचीन परम्परागत-व्यवस्था और अपनी धुरी से विचलित हो जाने वाली विकासमान सत्ता के बीच का तुमुल संघर्ष देख रहे हैं। एक ओर ये नये ढंग के खानावदोश लोग सीमाओं को लाँघते हुए, चहारदीवारियों को तोड़ते हुए भटक रहे हैं, दूसरी ओर बार-बार किलों के परकोटों की मरम्मत कराई जा रही है, शहरपनाह की दीवारें और ऊँची कराई जा रही हैं, राष्ट्रीय सीमाओं पर कँटीले तारों का वाड़ा और घना किया जा रहा है।

मैंने अक्सर यह कहा है कि हम भविष्य के फाटकों में प्रवेश तो कर रहे हैं, लेकिन उल्टे पैरों चलकर। भविष्य की ओर हमारी पीठ ही है। इस गति से भी जीवन-संग्राम में कभी-कभी सहायता मिलती है, किन्तु बाद में कुछ विशेष जाति की मछलियों को भी इस गति का परित्याग कर देना पड़ा है। क्या आज भी हम वही गति कायम रख सकते हैं? यानी हम सोचें, जियें, और लिखें; मगर इस धारणा के साथ जो-कुछ अनागत है उसे हम अतीत की शब्दावली में बाँध नहीं सकते और जो-कुछ घटित हो चुका है उसकी पृष्ठभूमि में अघटित की व्याख्या नहीं कर सकते।

मेरी प्रार्थना है कि आप इस प्रश्न के महत्त्व को समझें। आज यह अनिवार्य है कि लेखक के मन में अदृश्य भविष्य के लिए एक त्रस्त जिज्ञासा हो।

: २ :

बीते हुए कल की स्थिति कुछ और थी। हम भविष्य के प्रति इतने आशंकित नहीं थे। आशंका के बजाय एक क्रीड़ा-भावना मन में थी, जिससे प्रेरित होकर हम अपरिचित, आकस्मिक घटनाओं का भी साहस और धैर्य से सामना करते हैं। पुनश्च हमारे जीवन की पिछली रीति-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नीति—विवाह, सामाजिक नियम, बीमा, बैंक, लेन-देन, ये सब इसके परिचायक हैं कि मनुष्य अपने भविष्य के प्रति बहुत-कुछ आश्वस्त था, वह जानता था कि आने वाला कल आज से बहुत भिन्न नहीं होगा। पुनश्च, अगर कोई कवि हुआ, कलाकार हुआ, लेखक हुआ तो उसकी आस्था भविष्य पर और भी अधिक होती थी। वह अपनी कृतियों का लक्ष्य आगे आने वाली पीढ़ियों को मानता था इससे उसकी कृतियों में स्थायित्व, परिपक्वता और ठोसता भी आती थी। उसका समस्त जीवन तात्कालिकता की माँग के बजाय शाश्वत मूल्यों का अनुगमन करता था। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही और इसकी कोई आशा नहीं कि हमारे अस्थि-शेषों से भी अब कभी वही स्थिति पुनः वापस आये।

यह भी अब स्पष्ट होने लगा है कि विभिन्न देशों में भावी समाज-व्यवस्था की जो रूप-रेखाएँ बनाई जा रही हैं, उनमें साहित्य के संरक्षण को एक अनावश्यक बुद्धि-विलास मानकर महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा रहा है। केवल कुछ अल्पसंख्यक बुद्धिजीवियों का विकास, मुट्ठी-भर व्यक्तियों को प्रश्रय, उनका पालन-पोषण (जो भौतिक अर्थ में बहुसंख्यक लोगों को कुछ भी नहीं दे सकते) शासन-सत्ता के लिए भला क्या महत्त्व रख सकता है। इसलिए लेखकों के सम्मुख साहित्य की जीवन-व्यापी साधना, एक-एक कृति को अपनी सम्पूर्ण संचित अनुभूति से सिक्त करने की कल्पना जो गोएटे के समय सम्भव थी आज केवल अतीत की मधुर कल्पना ही प्रतीत होती है। आखिर कवि, दार्शनिक, कलाकार अभी तक कैसे जीविका उपार्जित करते रहे। उन्होंने मानव-जाति के लिए उन कृतियों का सृजन किया है जो मानव-संस्कृति के गौरव-चिह्न हैं, किन्तु किस आधार पर? सच तो यह है कि वे किसी प्रकार अस्तित्व धारण किये रहे। आर्थिक व्यवस्था में कुछ इतनी अनियमितता रही है कि कुछ भी निश्चित नहीं था। किसी को ऐश्वर्य, तो किसी को सूखी रोटी। वर्ले किसी तरह दान-दया के सहारे जिया, तो विक्टर ह्यूगो लखपती होकर मरा। कुछ ने महल खड़े कर लिये तो कुछ दीवालिये हो गए। किन्तु अब जो स्थिति है उसमें लेखन का आर्थिक भविष्य कुछ बहुत उज्ज्वल नहीं दीख पड़ता। शासन-सत्ता का यन्त्र उन पर अपने शिकञ्जे बुरी तरह कस रहा है और चाहे कोई कहे कि उन पर अनुशासन नहीं रखा जा रहा है, किन्तु फिर भी उस पर इस बात की विवशता दिन-प्रतिदिन आरोपित हो रही है कि शासन-सत्ता कोई भी हो किन्तु वह यही कहता रहे कि यही शासन-सत्ता सर्वोत्तम है, और इसीकी अधीनता में समाज का सर्वश्रेष्ठ निर्माण सम्भव है।

: ३ :

आर्थिक स्थिति के बाद अब दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है भाषा के माध्यमों का। साहित्य की वाहिनी 'भाषा' है। मनुष्य ने अभी तक भाषा के रूप को सुरक्षित रखने के लिए लेखन-प्रणाली और लिपि का प्रयोग किया है। किन्तु इस वैज्ञानिक युग में बहुत-से महत्त्वपूर्ण साधन ऐसे विकसित हो रहे हैं जो भाषा के स्वरूप को, उसके प्रभाव को, उसके वृत्त को नये रूप देंगे, नई प्रणाली से आयोजित करेंगे। यदि अन्य साधनों को छोड़ दें तो ग्रामोफ़ोन और रेडियो, दो साधन ऐसे हैं जो स्पष्ट हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इनकी लोकप्रियता जिस प्रकार बढ़ रही है, और लिखित वाणी के स्थान पर बोली हुई वाणी को सुरक्षित रखने के जितने सरल माध्यम इन प्रणालियों ने खोज निकाले हैं उनसे अभी से यह सम्भावना उत्पन्न होने लगी है कि कहीं धीरे-धीरे पाठ्य-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य विलुप्त न हो जाय और केवल श्रव्य-साहित्य ही भाषा के प्रयोग की मुख्य दिशा न बन जाय।

लेखन-पद्धति का विलोप निस्सन्देह हमें मानव-संस्कृति की आदिम अवस्था की ओर वापस ले जायगा और साहित्य के शिल्प की दृष्टि से आश्चर्यजनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावनाएँ हैं। इससे यह लाभ तो अवश्य है कि काव्य-रूपों के विधान में पुनः श्रवण का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित हो जायगा। ध्वनि और ध्वनि-ग्रहण के बीच से लिखित अक्षर का माध्यम हट जायगा। साहित्य का रूप-विधान और उसकी प्रेषणीयता पर इसका तत्काल प्रभाव होगा। कुछ कवियों में जो दुरूहता मिलती है, वह उनके मुख से सुने जाने पर कम हो जायगी, लेकिन पाठक (जो श्रोता में बदल जायँगे) अक्सर किसी भी पद्यांश या गद्यांश को दुहरा-दुहराकर उस तरह न पढ़ पायँगे, जैसा अभी उन्हें सुलभ है।

श्रव्य के अतिरिक्त दृश्य तत्त्व में भी नवीनताएँ आयँगी। यदि टेलीविज़न का विकास हुआ तो उपन्यासों और कविताओं के तमाम प्राकृतिक दृश्य-वर्णनों की कोई भी आवश्यकता न रहेगी। उनको प्रस्तुत करने के लिए दूसरे अधिक सशक्त साधन सुलभ हो जायँगे। उनके उद्दीपन-स्वभाव का क्या होगा, यह कहना कठिन है। इसी प्रकार अरूप-चिन्तन-प्रधान साहित्य के भावी रूप का भी अभी अनुमान नहीं किया जा सकता।

: ४ :

लेकिन हमारे अभी तक के अनुमान अपनी तात्कालिक भौतिक शक्तियों पर ही आधारित रहे हैं। यह सम्भवतः एकांगी दृष्टिकोण है। साहित्य का भविष्यत्-रूप सोचने के अर्थ यह भी हैं कि हम पूर्ण मानवीय चेतना के भविष्यत्-रूप पर विचार करें। भविष्यत्-साहित्य में भविष्यत्-चेतना को ही तो अभिव्यक्त होना है। चिन्तन का यह स्थल अत्यन्त जटिल है। क्योंकि भविष्यत् स्वयं अभी रूप ग्रहण कर रहा है और हमारी आज की भविष्यत्-कल्पना हमारी चेतना की आज की सीमाओं से बँधी हुई है। पहले हम भाग्य से दाँव लगाते समय सभी पासों को पहचानते थे, लेकिन आज स्थिति यह है कि पासे बिलकुल अपरिचित हैं और हर बाज़ी को लगाते समय निर्णय के नियम एकाएक बदल जाते हैं। वास्तव में हम जिस युग में जी रहे हैं वह बौद्धिक संकटों का युग है। नूतनता आज के युग में एक स्वतःसिद्ध गुण बनती जा रही है। यह नूतनता सांस्कृतिक परम्परा के विकास में सदैव सहायक ही हो, यह बात नहीं है। वह घातक भी सिद्ध हो सकती है, पुराने मूल्यों को निर्ममता से उखाड़ फेंक सकती है। किन्तु एक दूसरी सम्भावना भी है।

मैं आपको यह चेतावनी इस स्थल पर दे दूँ कि अब हम एक मानसिक दिवा-स्वप्न-शृङ्खला में डूबने जा रहे हैं; जो एडगर एलन पो, वेल्स या बर्न के लिए भी सम्भव नहीं थी। सच तो यह है कि विज्ञान की कई शताब्दियों की प्रगति के बाद सभी आज इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि वे न चेतना के विषय में कुछ जानते हैं और न संवेदनाओं के विषय में। भौतिक तत्त्व वेत्ताओं से बात करने पर अक्सर यही पता चला है कि वे भौतिक जगत् का रहस्य सुलझा पाने में असमर्थ हैं। तत्त्व, शक्ति, विकास—सभी अर्थहीन से होते जा रहे हैं।

स्मृति तथा वे अन्य मानसिक शक्तियाँ, जिनके समवेत पुञ्ज को सम्भवतः हम 'चित्त'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहते हैं, और भी अधिक अज्ञात हैं। सम्भव है कि जैसे पिछले ४० वर्षों में भौतिक जगत् के विषय में हमारे सारे विचार बदल गए हैं, चित्त के विषय में भी हम सर्वथा नई भूमि पर जा पहुँचें। विज्ञान की प्रगति ने आज भौतिकता और मानसिकता का भेद मिटा दिया है। वे केवल एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, विज्ञान में उनका कोई अलग अर्थ नहीं रह गया है।

अन्ततोगत्वा होगा क्या ?

मेरे एक महान् वैज्ञानिक घनिष्ठ मित्र का, जिनका विश्वास अभी विकासवाद में है, यह कथन है कि अन्त में मनुष्य की परिणति यह होगी कि उसे बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी जिनसे उसके वर्तमान अन्तर्विरोधों का शमन हो सकेगा; फिर दो-तीन हज़ार वर्षों में मानवीय चेतना बिलकुल एक नये जगत् को देख सकेगी जिसमें दिशा और काल के नये तत्त्व होंगे, आज जो केवल गणित के प्रतीक समाधान-मात्र हैं वे कल के यथार्थ होंगे। आज जो अत्यन्त दुरूह कल्पनाएँ हैं वे कल (अर्थात् हज़ारों वर्ष बाद) मानव की सहज प्रेरणाएँ बन जायंगी। भविष्यत्-साहित्य भी इसीके अनुरूप होगा।

अरविन्द

भविष्यत्-काव्य

: १ :

युग-परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से पहली बात यह समझ में आती है कि सम्भवतः अभी भी नये युग का पदार्पण नहीं हुआ है, किन्तु मानवता के इतिहास का एक नया युग हमारे द्वार खट-खटा रहा है, यह काल प्रतीक्षा और तैयारियों का काल है, संक्रान्ति-काल है। हर जगह, हर दिशा में लोग कुछ-न-कुछ नया खोजने की चिन्ता में हैं। पिछले ढाँचे, पिछले आदर्श, पिछली शक्तियाँ आज सन्तोष नहीं दे पातीं; आविष्कार और अन्वेषण की प्यास; भाषा, छन्द, रूप-विधान की अन्तर्निहित अनजानी शक्तियों को खोज निकालने की कामना आज सभी में जाग उठी है; क्योंकि एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट् जीवन-चेतना जन्म ले रही है; अभी बहुत-सी ऐसी गूढ़ और अर्थमयी बातें कही जानी शेष हैं जो अभी तक नहीं कही गईं—और भाषा की उच्चतम वाहिका कविता को उस भविष्यत्-वस्तु-तत्त्व के लिए उपयुक्त वाणी खोजनी है।

लय (rhythm) की एक नई शक्ति खोज निकालने का अथक प्रयास—यह इस आगामी क्रान्ति का प्रथम संकेत प्रतीत होता है। समग्र मानव जाति अपने चिन्तन में एक नये दर्शन की ओर प्रगति कर रही है और यह अनिवार्य है कि कविता में इस आन्तरिक प्रगति की व्याख्या और प्रतिध्वनि मिले। निकट भविष्य में आने वाली इस नवीन जीवन-चेतना की आतुर और अधीर प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक सम्पूर्णतः नवीन लय-विधान ढूँढ़ रही है और इसीलिए चारों ओर हमें कई व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित आन्दोलन मिलते हैं, जो काव्यात्मक लय-विधान की मूलभूत पद्धति में एक सर्वव्यापी, अकल्पनीय क्रान्ति के लिए अथक प्रयास करने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में लगे हुए हैं।

यह स्वाभाविक भी है, मनुष्य की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति कविता भी चिरविकासशील है। काव्य एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है और काव्य-प्रेरणा मनुष्य के मानस और आत्मा की अतुल शक्तिमयी अभिव्यक्ति पिपासा है। चूँकि काव्य-प्रेरणा आत्मा की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति-पिपासा है, अतः अन्तर्जीवन के विकास के साथ-साथ काव्य-प्रेरणा का भी विकसित होना आवश्यक है। इस विकास की कई क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

पहली अवस्था में मनुष्य बाह्य भौतिक संसार पर दृष्टिपात करता है और उसकी जीवन-प्रक्रिया भी बाह्य महत्कार्यों में अभिव्यक्त होती है—जैसे युद्ध, अभियान, अपहरण, आखेट। इस प्रकार के जीवन में भी उसकी काव्य-प्रेरणा चरमोत्कर्ष तक पहुँच सकती है। इस अवस्था की झलक हमें होमर आदि के वीर-काव्य में मिलती है।

जीवन के अधिक गहरे स्तर पर पहुँचकर उसके काम-मानस (desire Soul) में अधिक क्रियाशीलता आती है, जो प्रथम बार उसे अन्तर्विश्लेषण के लिए विवश करती है और वह अन्तर्मुख होकर अपने आन्तरिक जीवन में पैठने लगता है। इसीके साथ-साथ काव्य भी नये मोड़ लेता है, एक नई महत्ता को आत्मसात् करने के लिए वह अपने आयाम विस्तृत और गहरे करने लगता है। इन नई ऊँचाइयों का उत्तुङ्ग शिखर शेक्सपीयर है।

किन्तु मानस-पुरुष की अपेक्षाकृत व्यापक क्रियाशीलता को दर्शन और सृजन की यह प्रणाली बहुत काल तक नहीं उलझा सकती। वह जीवन के उन आवेगों, भाव-स्थितियों और चिन्तन-संकेतों में सदैव आबद्ध नहीं रह सकता; क्योंकि उसे मुक्त होकर, इनसे परे होकर यह समझना आवश्यक है कि 'वह' क्या है, और 'ये' क्या हैं—अपने शान्त विवेक-चक्षुओं से उसे इनमें पैठकर इनका विश्लेषण करना रहता है। इस गति का अनुगमन करते हुए काव्य भी संयमित, आवेशहीन, जटिलतर सूक्ष्मताओं से मुक्त 'क्लासिक' काव्य का रूप ग्रहण करता है, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट होता है और एक आत्म-तुष्ट बौद्धिक दृष्टि को स्वीकार कर लेता है। ग्रीक और लैटिन कवियों की सफलता का यही मूलाधार है। लेकिन बाद में वह बौद्धिकता आत्म-तुष्ट न रहकर अधिक जटिल और सर्वग्राही हो जाती है, अधिक व्यापक और विस्तृत ढंग से प्रभाव डालने लगती है; और सत्य की हर प्रकार की सम्भावित विधियों को ग्रहण करने का प्रयास करती है। आधुनिक युग की बौद्धिकता इसी प्रकार की है।

इस नई मानसिकता से उद्भूत होने वाली कविता बहुपक्षी काव्यात्मक भाव-प्रक्रियाओं से सम्पन्न होती है, वह कई प्रकार के योगों (Combinations) और प्रयोगों (Experiments) के क्रम से गुजरती है। जो युग स्वतः बहुमुखी हो, उसकी कविता भी निस्सन्देह बिना बहुमुखी हुए जीवित नहीं रह सकती। कवि की पश्यन्ती, चिन्तनमती, विश्लेषिका प्रतिभा अपने सौन्दर्य-सृजन की प्रक्रिया को ऐसी प्रत्येक वस्तु पर लागू करने में नहीं हिचकती जो उसके वृत्त में आती है।

: २ :

किन्तु इस सांस्कृतिक विकास के सम्मुख इसी स्थल पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-चिह्न लग जाता है—आखिरकार इस बौद्धिकता की परिणति कहाँ होगी? बौद्धिकता सदैव दो अतिवादों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की ओर उन्मुख होती है। या तो वह तर्क के विश्लेषणात्मक समाधानों का आश्रय ग्रहण करके जटिलतम चिन्तन की अरूप सूक्ष्मता में बदल जाती है या व्यावहारिक तथ्यात्मकता में आश्रय खोजती है; बौद्धिकता की परिणति या तो दार्शनिकता के अतिरेक में होती है या वैज्ञानिक की संकीर्णता में। यूनान में बौद्धिकता के चरम विकास ने काव्य की हत्या कर डाली और उसके स्थान पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक मानस चूँकि अधिक जटिल और अधिक सम्पन्न है, अतः यह परिणति इतनी शीघ्रता और सरलता से नहीं आ सकी। किन्तु इस युग में काव्य की मूलभूत भावभूमि और युग की मूल भावना में कहीं-न-कहीं विषमता होने के कारण कविता की शक्ति, प्रेषणीयता, प्रभाव और महत्त्व में थोड़ा ह्रास अवश्य अनुभव होता है।

इस ह्रास का अनुभव पाश्चात्य देशों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही होने लगा था जब कि सौन्दर्य-चेतना में एक ह्रास के विषय में दबे-दबे कुछ उल्लेख होने लगे थे और बहुत से आचार्य कला और काव्य के नवीन प्रयोगों और प्रवृत्तियों को इसीका लक्षण मानने लगे थे। एक समय तो ऐसा था जब यह बड़ी शक्ति से घोषित किया गया था कि अब धीरे-धीरे विज्ञान कविता का स्थानापन्न बन जायगा। दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जिनका यह अनुमान था कि वैज्ञानिक वस्तु-तत्त्वों से समन्वित होकर कविता जीवन की काव्यात्मक आलोचना बन जायगी और धीरे-धीरे उसे वही महत्त्व मिल जायगा जो विगत युगों में दर्शन और धर्म को प्राप्त था।

इस तमाम अशान्त और विक्षुब्ध चिन्तन की पृष्ठभूमि में यह चेतना आवश्यक रूप से वर्तमान थी कि वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक बौद्धिकता से प्रभावित युग सम्भवतः उच्च स्तर के काव्य-सृजन के लिए सामान्यतया सहायक नहीं होता। खरी बौद्धिकता काव्य-सृजन नहीं कर सकती।

किन्तु इस विषमता-मात्र के उल्लेख से हम युग का सही चित्र हृदयंगम नहीं कर सकते। कविता जिस सत्य को अभिव्यक्त करती है उसके दो रूप हैं—जीवन की वास्तविकता अर्थात् वस्तु-सत्य और जीवन का आन्तरिक क्रियाशील सत्य अर्थात् भाव सत्य, जो जीवन-विकास को प्रेरित करता रहता है। काव्य में जहाँ वस्तु-सत्य का चित्रण है वहां भी अक्सर प्रेय तत्त्व की झलक मिल जाती है। किन्तु दूसरी सम्भावना इस बात की है कि काव्य भाव-सत्य की ओर उन्मुख हो जाय। आज की काव्य-धारा की सबसे अनोखी, प्रभावपूर्ण और सुन्दर कृतियों में इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, जहां कविता का प्रवाह आन्तरिकता की ओर है। ह्विटमैन और कार्पेण्टर, टैगोर तथा यीट्स, कुछ आधुनिक फ्रेञ्च-कवि सभी इसी धारा से प्रभावित हैं। किन्तु जब तक सम्पूर्ण युग-मानस उस दिशा को नहीं अपनाता तब तक इस प्रवृत्ति का पूर्णतम विकास नहीं हो सकता। किन्तु इस बात के संकेत स्पष्ट हैं कि आधुनिक मानस ने जो नया मोड़ लिया है वह उसे इसी लक्ष्य की ओर ले चलेगा। लगता है कि आज मानव प्रज्ञा, बुद्धि के माध्यम से उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक प्रेरणामयी भावात्मक मनोभूमि तक पहुँचने की सीमा पर है, यद्यपि इसके अर्थ यह नहीं हैं कि अभी तक बुद्धि और विज्ञान ने हमें जो विरासत दी है उसका हम निषेध करेंगे। जैसा कहा जा चुका है कि यह यात्रा इन्हीं पथों को पार करते हुए होगी।

कुछ ऐसे आलोचक हैं जो इस प्रवृत्ति को केवल ह्रासोन्मुखता (डिकैडेन्स) का ही एक लक्षण मानते हैं। लेकिन उनकी विचार-धारा को प्रश्रय देने के अर्थ यह हैं कि हम यह मान लेते हैं कि जो-कुछ सफलता अतीत में उपलब्ध की जा चुकी है, आज की कविता केवल उसे दुहरा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सकती है, वह बहिर्मुख रहकर ही सफल हो सकती है, वही उसकी स्वस्थ दिशा है। इसमें सन्देह नहीं कि इधर की कविता में बहुत-कुछ कुण्ठित, विकृत और अस्वस्थ रहा है; किन्तु वह संक्रान्ति-काल की एक ऐसी मानसिक विशृङ्खलता का परिणाम है जिसके मूलभूत कारण समाप्त हो चुके हैं, किन्तु जिनका प्रभाव अभी तक चला आ रहा है या जो किसी कारण से अस्थायी तौर पर अत्यधिक तीव्र हो गया है। एक ऐसा युग जो, विराट्, नये शक्तिशाली आध्यात्मिक सत्यों को प्रकट कर रहा है, कवि की दृष्टि और कल्पना के लिए सर्वथा नये और अनजान लोकों का द्वार खोल रहा है—ऐसा युग ह्रास का युग नहीं हो सकता और न ऐसी कविता ह्रास की कविता हो सकती है।

भविष्यत्-काल—जब वह अपनी वर्तमान संक्रान्ति से सफलता पूर्वक परिपक्व होकर उदित होगा तब मानव के भौतिक अस्तित्व से, असम्पृक्त, अस्पष्टताओं में उलझा हुआ रहस्यवादी दुरूहता का काव्य नहीं होगा। रहस्यवाद जिन अर्थों में बदनाम है, उनमें वह अस्पष्टता और दुरूहता का समानार्थी बन गया है। किन्तु वैसा रहस्यवाद तभी अवतरित होता है जब हमें सत्य की झलक-मात्र मिलती है, उसका निकटतम साक्षात्कार नहीं मिलता, जब हमें इलहाम होता है, स्वतः प्रेरणा नहीं; और वह जीवन से विच्छिन्न इसलिए प्रतीत होता है कि चैतन्य और जीवन का हम भली भाँति परिणय नहीं करा पाते। लेकिन भविष्यत्-युग प्रकाश की झलक-मात्र का युग नहीं होगा; किन्तु एक प्रकाशमान सम्पूर्णता का युग होगा। सौन्दर्य-मानस चाहे वह कवि की वाणी में रूपान्तरित हो या अनुप्रेरित, चिन्तक या पैगम्बर या द्रष्टा की वाणी में, वह सत्य के प्रमुख द्वारों में से एक होगा। चूँकि भविष्यत्-युग का लक्ष्य सत् की सामंजस्यमयी सम्पूर्णता होगी, अतः कोई भी विषय काव्य के क्षेत्र से बाहर न समझा जायगा। ऐसा नहीं है कि भविष्य की ओर ले जाने वाले काव्य की यह पगडंडी किसी भी मेड़ पर जाकर समाप्त हो जाती है या किसी बहुत बड़े खेत में ले जाकर छोड़ देती है—यह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर के नये विकास-क्रम की ओर ले जाती है—मनुष्य की शक्ति, उसके अस्तित्व, उसकी कार्य-प्रणाली और उसकी सृजन-प्रक्रिया के एक नूतन पुनर्जन्म की ओर ले जाती है।

: ३ :

अब प्रश्न यह है कि इस नये मानस द्वारा उद्भूत नई कविता की आदर्श प्रकृति क्या होगी? पुरुष और प्रकृति के कुछ गूढ़तम सत्यों के साक्षात्कार से समन्वित प्रेरणा, अवतरण और दर्शन (विज्ञान) से युक्त चिन्तन की वाणी को मन्त्र कहा गया है। भविष्यत्-काव्य की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति होगी। सम्भव है यह परिभाषा अत्यधिक रहस्यवादी प्रतीत हो, किंतु आत्मोद्भूत और सत्य की द्रष्टा वाणी के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं है और यद्यपि वैदिक ऋषियों ने इस शब्द का प्रयोग और भी ऊँचे अर्थों में किया है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि वास्तविक रूप में महान् काव्य की अभिव्यक्ति जहाँ कहीं भी मिलती है, जिस भाषा में भी मिलती है, वह भाषा की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है।

इस नये मन्त्र-काव्य की नई काव्य-दृष्टि अतीत की भाँति जीवन से दूर, रहस्यमयी अस्पष्टता से युक्त, अन्तर्मुखी और हमारे ऐन्द्रिक अस्तित्व से विमुख न होगी, वरन् दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट खींच लाने का प्रयास करेगी। फिर धरती माता से हमारे किसी प्रकार के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैराग्यवादी नकारात्मक संघर्ष शेष न रहेंगे। एक चेतना, (जिसमें समग्र जीवन आश्रय पायगा क्योंकि वह समग्र जीवन से अधिक व्यापक होगी) इस नई कविता का नया काव्य-सत्य बनेगी जिसमें अपनी समग्र शक्ति से अस्तित्व धारण करेंगे। और यदि ऐसा होता है या युग-मानस इसकी ओर प्रबल वेग से प्रवृत्त भी होता है, तब इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि कविता अपनी खोई हुई पवित्र प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ले। बहुत-सा ऐसा काव्य-सृजन होता रहेगा जो पुरानी लीक पीटता रहेगा, और यह स्वाभाविक भी है; किन्तु ऐसा भी कवि अवतरित हो सकता है जो ऋषि हो, द्रष्टा हो, सत्य साम का गायक हो और दिव्य सत्य तथा विश्व-सौन्दर्य का स्वर-साधक हो।

किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि काव्य-सत्य से हमारा क्या तात्पर्य है और हम काव्य से किस प्रकार के सत्य की उपलब्धि की कामना करते हैं? हम सभी की 'सत्य' के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं, इसीलिए यह प्रश्न इतना जटिल प्रतीत होता है। एक ओर तो वे लोग हैं जो स्पष्ट कहते हैं कि हमें किसी प्रकार के सत्य से कोई लेना-देना नहीं है, वे केवल सौन्दर्य के उपासक हैं और सत्य नहीं वरन् कल्पना ही उनकी पंखमयी दूतिका है, कल्पना-हंस ही उनकी सरस्वती का वाहन है। इसके सर्वथा विरुद्ध दूसरी कल्पना यह है कि वाह्य जीवन का सशक्त संघर्षमय सत्य ही काव्य का उपयुक्त वस्तु-तत्त्व हो सकता है। यही नहीं, वरन् ऐसे चिन्तकों का यह भी विचार है कि कविता को अपनी लय का संस्कार भी इस तरह करना चाहिए कि वह जीवन की गति के साथ ही रेंगे या कूदे या दौड़े, जीवन के हर सशक्त कदम की थाप और धमक को प्रतिध्वनित करे। वे काव्य से सौन्दर्य की नहीं, वरन् शक्ति की कामना करते हैं।

जिस काव्य-सत्य की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह इन सीमाओं से घिरा हुआ सत्य नहीं है। वह सत्य, जो अन्त में काव्य से उपलब्ध होता है, सीमाहीन शिव (कल्याण) है। वह कल्पना का विरोधी नहीं है, कल्पना तो उसका वर्ण-विशेष है। इसी सीमाहीन सत्य को काव्य अपने सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अपनी रस-रीति से प्रदान करता है। किन्तु कवि का सत्य दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान के सत्य से पृथक् है। कवि किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का हो सकता है, किसी भी दार्शनिक प्रणाली का अनुगमन कर सकता है; किन्तु जहाँ वह अपनी विशेष प्रणाली को बौद्धिक ढंग से पद्य में प्रस्तुत करता है या छन्दबद्ध विज्ञान लिखने लगता है या पद्यात्मक उपदेश या धार्मिक विवाद हम पर लादने लगता है, वहीं वह काव्य के नियमों का अतिक्रमण करने लगता है। (यद्यपि अक्सर यह भी किया गया है और इसमें आंशिक या कभी-कभी पूरी सफलता भी मिली है।) फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान के सभी अंगों का अन्तर्व्यापी सत्य अलग नहीं है; दर्शन, धर्म और विज्ञान आदि के प्राथमिक नियम, प्रणाली और क्षेत्र अलग हैं; किन्तु अपने गहनतम स्तरों में उतरकर वे एक-दूसरे के निकट पहुँचकर एक-दूसरे को स्पर्श करने लगते हैं; और इसी नैकट्य के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति में दर्शन, अध्यात्म-विज्ञान और धर्म आदि एक अनिवार्य एकता में अन्तर्ग्रथित थे और जब कभी वे अपने अन्तर्सत्य को प्रकट करना चाहते थे तो काव्यात्मक वाणी का आश्रय ग्रहण करते थे। किन्तु फिर भी मानव-चेतना एक विराट् शिखर है और इन विभिन्न क्षेत्रों और पगडण्डियों का मिलन-स्थल नीचे की घाटी में नहीं वरन् ऊपर शिखर पर है। उन्हींमें एक ओर कविता की भी अपनी सीढ़ियाँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं और अपना चढ़ाव है जो नीचे सबसे पृथक् और ऊपर सबसे मिला हुआ है। वेदों में एक स्थान पर प्रतीकमयी शैली में इसी असीम सत्य की धारा का वर्णन किया गया है, जिसके चारों ओर चिन्तन और जीवन की ज्योतिर्मय शक्तियाँ स्थित हैं। वहाँ उनका दिव्य नृत्य होता है। उस मण्डल में अपने जाग्रत मानस के साथ प्रवेश पाने वाला ही द्रष्टा कवि है और उसीको 'प्रेरित-वाक्' या 'मन्त्र-शक्ति की उपलब्धि होती है।

मन्त्र-शक्ति से समन्वित यह काव्य जीवन का लयात्मक उद्घोष है, किन्तु वह उद्घोष ऊपरी सतह की छोटी लहरों का नहीं है, अतल गहराई की सशक्त अन्तर्धाराओं का है। देश-विदेश की समस्त नई कविता में जो कुछ महत्त्वपूर्ण और स्थायी है, उसकी प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है; वही स्थायी है, शेष क्षणिक है।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसी कविता का बहुत सा अंश अत्यन्त दुरूह है, मानव के दैनिक अस्तित्व की निकटतम सामयिक यथार्थताओं से निरपेक्ष, निस्संग और असम्पृक्त है। लेकिन इस आक्षेप को प्रश्रय देने का अर्थ है कि हम इस कविता की मुख्य उपयोगिता नहीं समझ रहे हैं। निरन्तर विस्तृत होते हुए युग-मानस के प्रति जीवन-चेतना जिस प्रकार अपने को निवेदित करना चाहती है, उसकी सूक्ष्मता को भी हम हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। यह ठीक है कि इन नये कवियों ने अपना कार्य पूर्णतः सम्पन्न नहीं कर लिया है और न अभी विराट काव्यात्मक समन्वय तक ही पहुँचे हैं। उनका यह कार्य है कि वे एक नवीन और गहनतर जीवन-दृष्टि का विकास करें, मनुष्य के मानस, आत्मा और प्राण तथा अनन्त और शाश्वत सत्य के मध्य युगदर्शी प्रकाश और लय के सबल सेतुओं का निर्माण करें। भविष्यत्-काव्य अपने इन प्रारम्भिक प्रयासों से उबरकर नई और अधिक विस्तृत घाटियों में पहुँचेगा, उन अथाह गहराइयों को मापेगा जिनको अभी तक नहीं मापा गया। यह महत्कार्य आज ही, तुरन्त नहीं सम्पन्न हो सकता, लेकिन यदि आज की कविता इस कार्य का श्रीगणेश भी कर देती है, तो एक पूरे युग को महत्ता प्रदान करने के लिए इतना ही यथेष्ट है।

इस काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और दो-एक बातों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वे आलोचक, जो कविता से जीवन के प्रत्यक्ष, स्पष्ट और यथार्थ यथातथ्य चित्रण की माँग करते हैं, एक भ्रमपूर्ण धारणा के शिकार हैं। न केवल काव्य वरन् मानव-मन की किसी भी चिन्तना—यहाँ तक कि विश्लेषण और वैज्ञानिक विचार को भी दृश्य जगत् की बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण करके उन्हें मानसिक दृष्टि के अनुशासन में लाना पड़ता है। किन्तु कवि की सृजन-शक्ति इससे भी आगे है। वह न केवल नई सृष्टि करती है 'प्रत्युत वर्तमान वस्तुओं को भी एक नया रूप और नये गुण प्रदान कर सकती है।

भविष्यत्-काव्य अपने को उन बाह्य यथार्थताओं से पूर्णतया आबद्ध नहीं कर सकता जिन्हें हम भ्रम से जीवन की सम्पूर्णता मान बैठे हैं। बाह्य यथार्थ और दृश्यमान जगत् बहुत दिनों तक हमारे अनुभव में पृथक् सत्ता नहीं बनाये रख सकते, क्योंकि आध्यात्मिक और मानसिक जगत् से उन्हें पृथक् करने वाली दीवारें धीरे-धीरे टूट रही हैं। बाह्य और अन्तर का अधिक व्यापक क्षेत्र, जो हमारी अनुभूति में सर्वथा वास्तविक होगा, भविष्यत्-काव्य का वस्तु-तत्त्व रहेगा। भविष्यत्-काव्य हमारी भविष्यत्-अनुभूति की वाणी होगा और भविष्यत्-अनुभूति विराट् की व्यापकतर और सम्पूर्णतर जीवन की अनुभूति होगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु जब तक यह नूतन सत्यान्वेषी दृष्टि आनन्द और सौन्दर्य की चेतना से अभिषिक्त नहीं होगी तब तक काव्य-दृष्टि में सम्पूर्णता नहीं आयगी। कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का देवता चन्द्रमा, सत्य के देवता सूर्य से अधिक आवश्यक है। वेदों में चन्द्रमा का प्रतीक देवता सोम ही रस का अधिष्ठाता है—इस मधुमती सोमलता को चाँदनी से नहाये हुए अनुभूति के निर्जन शिखरों पर ही पाया जा सकता है। इसीसे निःसृत द्रव मादक मधु और जीवनदायी अमृत या रस होता है और इस सोम रस के बिना देवताओं को भी अमरता नहीं मिली थी। आज का युग बौद्धिक संघर्षों से ध्वस्त युग है, किन्तु इसमें आनन्द की उपलब्धि असम्भव नहीं। हमारी ऊपरी स्तर की चेतना को विभिन्न वस्तुएँ और अनुभूतियाँ चाहे-जैसी लगें पर प्रत्येक वस्तु और अनुभूति अन्तर्निहित एक गहन आनन्द-भावना और सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। यही गूढ़ आध्यात्मिक आनन्द की भावना काव्यानन्द और काव्य-सौन्दर्य की मूल पीठिका है।

इस आनन्द को कवि जहाँ चाहे, जब चाहे, यथार्थ जीवन और अनुभूतियों से योंही ग्रहण नहीं कर सकता। कवि का व्यक्तित्व द्विविध होता है। जीवन और अस्तित्व के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ भी दोहरी होती हैं। उसमें एक वह व्यक्ति होता है जो जीवन-प्रक्रिया में निमग्न होता है, जो अन्य लोगों की ही भाँति सोचता है, अनुभव करता है, कर्म करता है—और दूसरी ओर उसमें अन्तर्द्रष्टा होता है जो असाधारण मानव होता है, आनन्द पुरुष होता है, जो सौन्दर्य और आनन्द के मूल स्रोतों से संयुक्त रहता है और विशेष रासायनिक प्रक्रिया से समस्त अनुभवों का आनन्द-प्राण कर देता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में काव्य के इसी सत्व को रस कहा गया था। न केवल भारतीय किन्तु जिन इतर-देशीय संस्कृतियों ने इस रस की उपलब्धि की थी, उनमें सौन्दर्य के प्रति वह गुह्य किन्तु साधारणीकृत पिपासा थी जो परवर्ती युग-मानस से धीरे-धीरे लुप्त हो गई। किन्तु हमें एक बार पुनः उस गंगा को भगीरथ प्रयत्नों द्वारा अवतरित करके सामान्य जन-मानस को उस आनन्द से अभिसिंचित करना है। भविष्यत्-काव्य का एक पावन कर्तव्य यह भी होगा।

: ४ :

काव्य के प्राणों में अन्तर आते ही उसकी देह में भी अन्तर आयगा। उसका रूप बदलेगा, शिल्प-विधान में परिवर्तन होगा। किन्तु जब काव्य-मानस एक नई आत्मा—भूमि में प्रवेश करेगा तो यह आवश्यक नहीं कि पुराने काव्य-रूपों को पूर्णतया परित्यक्त करके सर्वथा नये और अपरिचित रूप ग्रहण किये जायँ। अधिक सम्भव यह है कि पुराने रूपों में नई सम्भावनाएँ प्रतिष्ठित की जायँ और उन्हींकी प्रकृति में आन्तरिक परिवर्तन लाया जाय। काव्य-सृजन के प्रमुख क्षेत्रों में—गीतों में, नाटकों में, प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में एक नई परम्परा का सूत्रपात होना अनिवार्य है।

भविष्यत् गीति-काव्य का रूप हृदयंगम करने के लिए गीति-काव्य की परम्परा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। गीति-प्रेरणा सम्भवतः काव्य-सृजन की मौलिक प्रेरणा रही है। आदिम साहित्य में जब जीवन-शक्ति की प्रत्यक्ष गति भावपूर्ण काव्याभिव्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा थी तब ताजे आत्म-प्रेरित गीतों की अधिकता थी। बुद्धि-प्रधान युगों में गीतों की धारा मन्द पड़ जाती है। अत्यधिक विकसित बुद्धि या चिन्ता जीवन की आदिम निश्चिन्तता को नहीं आत्मसात्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर पाती और न अपनी चिन्ता-ग्रस्त वाणी में उसकी स्मृति को ही लौटा पाती है। प्राचीन क्लासिकल युग में यही स्थिति मिलती है। गीतों के पुनरावर्तन के लिए पुनः रोमाण्टिक युग और रोमाण्टिक भावना की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस समय कवि अपनी कल्पना द्वारा पुराने गीति-रूपों और सरल जीवन-गति की ओर लौटने का प्रयास करता है। किन्तु उस समय तक काव्य-मानस बौद्धिकता के कई युगों से गुजर चुकता है। गीतों की सहजता भी एक विकसित बुद्धियुक्त काव्य-मानस की आरोपित सहजता होती है। परिणामस्वरूप ऐसी कृतियाँ सम्मुख आती हैं जिनमें सौन्दर्य-चेतना को सन्तोषजनक सफलता मिली है, किन्तु फिर भी आदिम काल की मौलिक गीति-प्रतिभा की उससे तुलना नहीं की जा सकती। भविष्यत्-काव्य में बुद्धि से परे आत्मा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति एक नये प्रकार की मनोभूमि का सृजन करेगी जिसमें न ऊपरी स्तर की भावभूमि की गीति-प्रेरणा होगी और न चिन्तन-मानस का गीति-विरोधी विक्षोभ। भविष्यत्-काव्य का एक आवश्यक और निर्णयात्मक चरण यह भी होगा कि उसे इस सत्य की उपलब्धि हो चुकेगी कि काव्य-रूप वस्तु-तत्त्व का निर्णय नहीं करता वरन् वस्तु-तत्त्व अपने लिए ऊर्णनाभ की भाँति रूप-विधान और 'शब्द' का निर्माण अपने अन्दर से करता है। कवि-चेतना में यह स्थिर होने के उपरान्त जो गीतात्मक स्फोट होगा वह अवर्णनीय है।

इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में भी यह कायाकल्प होना अनिवार्य है। साधारण विवरण, या जीवन का यथार्थ चित्रण, या किसी एक मानसिक या नैतिक भाव-धारा का विकास-मात्र उसके लिए यथेष्ट नहीं होगा, उसका तत्त्व वास्तविक होगा और अर्थों का स्तर आत्मा की गहनता में आश्रित होगा। उसकी कार्य-शृङ्खला केवल बाह्यार्थक न होगी, वातावरण भी उनके आन्तरिक अर्थ को व्यक्त करने के लिए ही गुम्फित होगा। महाकाव्य भी प्रबन्ध-परम्परा की व्यापक पृष्ठभूमि और उच्च स्तर की कृति है। अक्सर उसे आदिम काल से सम्बद्ध माना जाता है, किन्तु यह केवल बाह्यस्थिति को आन्तरिक प्रकृति का स्थानापन्न मान लेने की भ्रमात्मक धारणा है। भविष्य के स्वर में आत्मिक जीवन के महाकाव्य गुञ्जरित होंगे।

जिस प्रकार के युग-परिवर्तन की आशा है वह न केवल काव्य-रूपों में नूतन विकास उपस्थित करेगा, वरन् भाषा-शैली और लय-विधान में भी सूक्ष्म परिवर्तन प्रस्तुत करेगा। भाषा के पुराने अभ्यास नये प्राणों को नहीं समेट सकते। या तो वे अपने को विस्तार दें या और गहन बनाएँ, या पूर्णतया कायाकल्प कर लें, अन्यथा वे टूट-फूट जायँगे और उनके स्थान पर नये तत्त्वों की प्रतिष्ठा होगी। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मा ने 'शब्द' से लोकों की सृष्टि की। कवि की सृष्टि भी शब्द-सृष्टि है। बाह्य दृष्टि से शब्द केवल शरीरोद्भूत ध्वनि-मात्र हैं, जिन्हें प्रज्ञा द्वारा अधिक अर्थवान् बना लिया गया है। किन्तु यदि हम आन्तरिक विश्लेषण करें तो पायँगे कि कोई चैतन्य-शक्ति शब्दों को प्राण, मार्मिकता, अर्थ और अस्तित्व प्रदान करती है। यही शक्ति है जिसे वैदिक ऋषियों ने 'वाक्' की संज्ञा प्रदान की थी। तान्त्रिकों का कहना था कि मेरुदण्ड के विभिन्न चक्रों में वाक् का विकास होता है और कवि की वाणी को चतुर्थ स्थिति अर्थात् पश्यन्ती तक पहुँचना है—पश्यन्ती अर्थात् वह शब्द, जिसमें दृष्टि भी है, वह गिरा, जिसके नयन भी हैं।

: ५ :

अतः भविष्यत्-काव्य को काव्य-भाषा की एक सर्वथा नवीन समस्या सुलझानी है। उसे अत्यन्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गहनतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए नये प्रतीक ढूँढ़ने हैं। हम नई कविता का जो आन्दोलन देख रहे हैं वह एक बहुत महान् आन्दोलन की भूमिका-मात्र है। वह आन्दोलन—जो समस्त मानव-जीवनकी एक नवीन व्याख्या देने की ओर प्रयासशील है। युग-मानस में जो परिवर्तन हो रहे हैं, अन्तर्दृष्टि जिस प्रकार विकसित हो रही है, मनुष्य के 'स्व' और वस्तुओं के 'स्व' में, पुरुष और प्रकृति में जो तादात्म्य स्थापित हो रहा है—कवि को इन समस्त नवीनतम अनुभूतियों के लिए भाषा का निर्माण करना है, उसे नये उपमान और नये प्रतीक खोजने हैं—उनका प्रयोग भी एक नये ढंग से करना है, जिनमें वे प्रतीक मूल प्रेषणीय सत्यों के आवरण न बन जायँ वरन् काव्यानुभूति और श्रोता की ग्रहण-शक्ति के मध्य नये सेतु बन सकें।

इसी प्रकार दिक् और काल के आकलन में भविष्यत्-काव्य का एक नया स्वभाव होगा। जब तक वह गूढ़ शाश्वत सत्यों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार न करता हो तब तक अधिकतर उसकी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित होगी और भविष्य उसका लक्ष्य होगा। मानव-जाति की वर्तमान अवस्था और भावी भाग्य-निर्णय उसकी प्रमुख समस्या होगी। उसके लिए अतीत और वर्तमान दोनों ही भविष्यत् के अर्द्ध विकसित, अपरिपक्व प्राथमिक रूप-मात्र होंगे और भविष्य मनुष्य के अन्तर्निहित दैवत्व के विकास का स्वर्ण-युग होगा।

वास्तव में भविष्यत्-काव्य मानवता पर अवतरित होने वाला एक नूतन विराट् दर्शन है। वे जातियाँ, जो इस दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करेंगी, अपनी जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को इसकी ज्योति से आलोकित करेंगी वे ही भावी-युग की महा शक्तियाँ बन जायँगी और जिस किसी भी भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और इसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे वे ही भविष्यत्-युग के अमर स्वरकार होंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। किन्तु अपने आकार की विशालता तथा भाषा की दुरूहता के कारण इसका यथोचित रीति से प्रचार नहीं हो सका है। यद्यपि यह हिन्दी की उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में देश के प्रायः समस्त विश्वविद्यालयों में रखा हुआ है, किन्तु आंशिक रूप में ही—कहीं पर कोई समय निर्धारित है तो कहीं पर कोई। प्रकट है कि ६९ समयों के ग्रन्थ का यह आंशिक अध्ययन उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, वह उसका गलत परिचय भी दे सकता है यदि वह ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों में का हो—और ग्रन्थ के समस्त अंश प्रामाणिक हैं यह अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है। ऐसी दशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवरसिंह का 'पृथ्वीराज रासो' का एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास निस्सन्देह श्लाघ्य है। आरम्भ में द्विवेदी जी द्वारा लिखित एक संक्षिप्त भूमिका है, और अन्त में दो परिशिष्ट हैं, जिनमें से प्रथम परिशिष्ट में श्री नामवरसिंह जी द्वारा 'रासो-काव्य की परम्परा', 'पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपान्तर', 'पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता', 'पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव', 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'भाषा-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ' शीर्षकों के अन्तर्गत ग्रन्थ के विषय में संक्षिप्त ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचन है, और दूसरे परिशिष्ट में 'शब्दार्थ' हैं। ये अंश संक्षिप्त होने पर भी विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के लिए उपयोगी हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धी परिशिष्ट कुछ और पूर्ण होता तो अच्छा था, क्योंकि ग्रन्थ के अनेकानेक कठिन और आवश्यक शब्द उसमें आने से रह गए हैं। किन्तु हो सकता है कि इनमें से कुछ इसलिए रह गए हों कि उन्हें सम्पादकों ने सरल समझा हो, और कुछ इसलिए रह गए हों कि उनका अर्थ स्पष्ट न हुआ हो, अथवा उनका पाठ सन्दिग्ध हो। इस पिछली परिस्थिति में जबरदस्ती कोई अर्थ देने की अपेक्षा यह अच्छा ही होता है कि मौन रहा जाय।

किन्तु इतना ही नहीं, यह संक्षिप्त संस्करण इस विश्वास के साथ भी प्रस्तुत किया गया है कि चन्द की मूल रचना कुछ इसीके आस-पास होगी।[1] और इसीलिए संकलन निम्न लिखित स्थापनाओं के आधार पर किया गया है :

१. 'भूमिका' में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

१. "उन दिनों कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद के रूप में लिखा था।"

२. "चन्द बरदाई का यह काव्य 'रासक' भी है, जो गेय-काव्य हुआ करता था, जिसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे।"

३. "'सन्देश रासक' की एक उक्ति तथा एक-दो प्राकृत गाथाएँ भी रासो में पाई जाती हैं।"

४. "'सन्देश रासक' में बीच-बीच में कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द में अपनी बात कही। उसी प्रकार रासो में भी बीच-बीच में कर दिया गया है।"

५. "वीर रस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का प्रयोग अधिक किया था, इस दृष्टि से निम्न लिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—(१) आरम्भिक अंश, (२) इच्छिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता। इन अंशों में भाषा में उस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है।"

६. "इन अंशों में चन्द केवल कल्पना-विलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं।"

७. "साधारण भारतीय कथाओं में, कथाओं को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए कुछ (जो बताई गई हैं) कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है। लगभग इन सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' में किया गया है।"

८. "शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा-प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है।"

९. "अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है।"

१०. "छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है, पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२वीं-१३वीं शती के अपभ्रंश-साहित्य में छन्दों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था।"

११. "वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है और शहाबुद्दीन तो इसमें हर मौके-बेमौके अनायास आ पड़ता है। अधिकतर भट्ट भणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसंग में ही आता है। ऐसा करने में कुछ भी संकोच नहीं मालूम पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कर्मधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूँस-ठाँस हैं।"

१२. "इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पण्डितों में यह जल्पना-कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूल रूप है या नहीं। अभी तक इन संस्करणों का जो-कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः रासो के मूल पाठ-निर्धारण की दृष्टि से इन स्थापनाओं पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा।

कथाओं का संवादों के रूप में होना इस विषय में कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता, इसकी पुष्टि में इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि पैंतालीसवें समय में संयोगिता के अवतार ग्रहण करने की जो कथा है वह भी इसी प्रकार शुक-शुकी संवाद के रूप में है, किन्तु उसे द्विवेदी जी ने स्वतः प्रक्षिप्त माना है[1] और इस संस्करण में स्थान नहीं दिया है। पुनः 'रासो-परम्परा' में यह संवाद-रूढ़ि व्यापक रूप से मान्य भी नहीं थी, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' के निकट समसामयिक 'बीसलदेव रासो' में ही यह रूढ़ि हमें नहीं मिलती।

जहाँ तक रासक-काव्यों के गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोगयुक्त होने का प्रश्न है, वह अंश भी, जो इस संस्करण में नहीं सम्मिलित किया गया है, गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोग-युक्त है।

'संदेश रासक' की कोई उक्ति यदि रूप बदलकर आ गई है तो आश्चर्य न होना चाहिए—यह तो बहुधा हुआ करता है, किन्तु उसकी जो दो प्राकृत गाथाएँ रासो में आ गई हैं वे तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त होंगी, क्योंकि कोई भी— साधारण-से-साधारण प्रतिभा का कवि भी— ऐसा न करेगा कि अपने हजारों छन्दों के काव्य में दो-चार छन्द किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना से ज्यों-का-त्यों लाकर रख दे। इस प्रकार की बातें प्रायः पाठकों के द्वारा होती हैं यदि प्रसंगोपयोगी अथवा मिलती-जुलती उक्ति वाले कोई छन्द उन्हें स्मरण रहते हैं, तो वे प्रायः उन्हें हाशियों में लिख लेते हैं और इसके अनन्तर प्रतिलिपिकार प्रायः उन्हें मूल पाठ में सम्मिलित करके उतार लेते हैं।

छन्दों और उनके लक्षणों के उल्लेख उन अंशों में भी मिलते हैं जो इस संस्करण में सम्मिलित नहीं किये गए हैं—यथा 'रेवा-तट समय' में।

छप्पय निस्संदेह इन अंशों में प्रमुख हैं, किन्तु अन्य अंशों में भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, और सम्पादकों ने इन अंशों के अतिरिक्त भी कुछ अंशों को संस्करण में सम्मिलित किया है—यथाः बड़ी लड़ाई समय और बान बेध समय। और वही बात, जो ऊपर छन्दों के सम्बन्ध में कही गई है, भाषा-शैली के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जहाँ तक चन्द के निपुण मन्त्रदाता होने का प्रश्न है, वह भी केवल संकलित अंश में नहीं, शेष अंश में भी उसी प्रकार और लगभग उतनी ही मात्रा में पाया जाता है।

कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग तो अभिन्न रूप में और कदाचित् कुछ अधिक मात्रा में ही उस अंश में भी पाया जाता है जिसे सम्पादकों ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक यही बात काव्य-रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन रूढ़ियों का आधार कितना कच्चा है, यह स्वतः द्विवेदी जी के इन शब्दों से प्रकट होगा : "परवर्ती-काल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है, वे चन्द की इस प्रवृत्ति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे, इसीलिए प्रक्षेप करने वालों ने चुन-चुन करके कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश किया है।"[2]

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम उतने ही उज्ज्वल रूप में उस अंश में

---

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' पृष्ठ ६४-६५।

२. 'भूमिका' में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी प्रकट हुए हैं जितने उज्ज्वल रूप में वे गृहीत अंश में प्रकट हुए हैं।

छन्द-परिवर्तन की शैली के सम्बन्ध में भी वही बात लागू होती है और इस सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है : "अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी 'पृथ्वीराज रासो' में यह (छन्दो बहुला) प्रथा सजीव रूप में वर्तमान है। अनुकरण करने वालों ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप में पकड़ा है और वर्तमान रूप में भी रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"[1]

द्विवेदी जी का यह कथन अवश्य ठीक जँचता है कि वर्तमान रासो में युद्धों का आधिक्य, विशेषतः शहाबुद्दीन का मौके-बेमौके अनायास आ पड़ना, प्रक्षेप-जनित ही ज्ञात होता है। युद्धों का अनावश्यक विस्तार और उनमें आई हुई सामन्तों की नामावली आदि तो प्रकट ही भट्ट-भणन्त प्रतीत होते हैं।

किन्तु सबसे अधिक विचारणीय बात अन्तिम है—क्या प्रकाशित बृहत् पाठ के अतिरिक्त पाये गए 'पृथ्वीराज रासो' के मध्यम, लघु, और लघुतम पाठ क्रमशः अथवा स्वतन्त्र रूप से उसके संक्षेप-मात्र हैं। निस्संदेह कुछ विद्वानों ने यह विचार उपस्थित किया है, किन्तु वास्तव में इस विचार का कोई दृढ़ आधार नहीं है, यह केवल एक अटकल है और ऐसी अटकल; जिस पर किसी भी समझदार आदमी को सहसा विश्वास न कर लेना चाहिए।

इस अटकल का आधार, जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है, इतना ही है कि इन छोटे-से छोटे पाठों में भी कुछ-न-कुछ अनैतिहासिक बातें मिलती ही हैं। किन्तु किसी रचना में अनैतिहासिक बातें मिलना ही उसको अप्रामाणिक भी नहीं बना देता। कोई भी रचना अपने मूल रूप में सुरक्षित हो सकती है और उसमें भी अनैतिहासिक बातें मिल सकती हैं। प्रस्तुत लेखक की समझ में 'पृथ्वीराज रासो' का सबसे बड़ा अपकार इस विचार ने किया है कि यह पृथ्वीराज के समकालीन किसी व्यक्ति की रचना है। इस संस्करण के सम्पादकों का भी यही विचार है। द्विवेदीजी इसमें पाई जाने वाली काल्पनिक बातों के समावेश का कारण काव्य की आवश्यकताओं को मानते हैं।[2] किन्तु सोचने की बात है कि किसी भी समसामयिक—विशेष रूप से आश्रित कवि को क्या पड़ी थी कि वह नायक की माता तक का नाम बदल देता। कर्पूरदेवी नाम में—जो सभी प्रकार से इतिहास से प्रमाणित है—ऐसी कौन-सी खराबी थी कि कोई भी समकालीन और जिम्मेदार कवि उसके स्थान पर 'कमला' कर देता? किसी भी ऐसे कवि का काव्य का ऐसा कौनसा उद्देश्य सिद्ध हो सकता था नितान्त अनर्गल तिथियाँ और विस्तार देने में? यह सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में कुछ छन्द इस ग्रंथ के मिल जाते हैं। किन्तु इतने से ही यह प्रमाणित नहीं होता कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का आश्रित अथवा उनका समसामयिक था। जैसा कि सम्पादकों ने माना है?[3] स्वतः सम्पादकों ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के उन तीन छन्दों में से, जो 'पृथ्वीराज रासो' में भी पाए जाते हैं, केवल एक को 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' में स्थान दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि शेष दो को वे कदाचित् प्रामाणिक नहीं मानते हैं। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि 'पुरातन प्रबन्ध-

१. 'भूमिका' में।
२. वही।
३. भूमिका तथा परिशिष्ट।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संग्रह' में उद्धृत छन्दयुक्त पृथ्वीराज और चन्द-सम्बन्धी कोई रचना पन्द्रहवीं शताब्दी तक बन चुकी थी।

वस्तुतः यह सारा-का-सारा प्रश्न पाठ-विज्ञान का है। विभिन्न पाठों की प्रतियाँ मिलने पर पाठ-विज्ञान के सिद्धान्त की सहायता से यह सर्वमान्य रूप से निश्चय पूर्वक बतलाया जा सकता है कि ग्रन्थ के जो चार विभिन्न पाठ मिलते हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है कौन किसका पूर्वज है और वह पूर्वज मूल पाठ के कितना निकट माना जा सकता है, अथवा कोई किसी का पूर्वज नहीं है—सभी एक सामान्य पूर्वज की सन्तानें हैं और वह सामान्य पूर्वज कवि का मूल पाठ हो सकता है या नहीं। किन्तु यहीं पर हिन्दी के सम्पादन-कार्य की सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। जिनके पास आवश्यक प्रतियाँ हैं, वे इस कार्य के लिए उन्हें देना नहीं चाहते, विशेष रूप से उस समय जब कि उस सामग्री के आधार पर स्वतः कभी फ़ुरसत से आगे-पीछे कुछ करना चाहते हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत के समान प्रयासों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए कोई चारा नहीं रह जाता और प्रतियों का आधार लिये बिना एक से अधिक पाठों वाले किसी भी ग्रन्थ के निर्धारित पाठ के विषय में उपर्युक्त प्रकार की शंकाएँ बनी रह जाना स्वाभाविक है। फलतः हम 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के रूप में इस प्रयास का हृदय से स्वागत करते हैं। यह प्रयास सम्पूर्ण रासक-परम्परा के गहरे अध्ययन का परिणाम है और इस कारण इसके सम्पादकगण हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

●

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

महाकवि सूरदास

'महाकवि सूरदास' में महात्मा सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन है। इस दिशा में अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, पर उन सबसे भिन्न इसकी विशेषताएँ हैं और इसमें कोई ऐसी पुनरुक्ति नहीं जो इस ग्रन्थ के मूल्य या महत्त्व को कम करने वाली हो। लेखक ने प्रायः सूर के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री का स्वमत-पुष्टि या वैषम्य के स्थलों में बराबर उल्लेख किया है। परन्तु एक यह बात खटकती है कि इस दिशा में लिखे गए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का कहीं भी किसी रूप में इसमें उल्लेख नहीं; वे हैं—'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'[2] और 'सूरदास'[3]। जान पड़ता है कि वाजपेयी जी ने इन्हें देखा नहीं, अन्यथा अपने 'जीवनी और व्यक्तित्व', 'काव्य-सौन्दर्य', 'दार्शनिक पीठिका'-जैसे प्रसंगों में वे इनका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि इन विषयों पर इनमें विस्तृत विवेचनाएँ हैं। मेरी दृष्टि में उनका उपयोग आवश्यक था। इतना होते हुए भी इस पुस्तक

---

१. लेखक—डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

२. लेखक डॉक्टर दीनदयाल गुप्त

३. लेखक डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में विश्लेषणात्मक अध्ययन और तथ्य-उद्घाटन का प्रयत्न इतना गम्भीर है कि महाकवि सूरदास के अध्ययन में यह एक ठोस पृष्ठभूमि ही नहीं, वरन् एक आलोकपूर्ण दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का नाम है 'महाकवि सूरदास'। सूरदास के महाकवि होने में शायद किसी को शंका न हो, पर 'सूर सागर' को 'महाकाव्य' कहना विवाद से शून्य नहीं। प्रबन्धात्मक न होने पर भी 'सूर सागर' में महाकाव्य-सुलभ क्षेत्र, भावभूमि, चित्रण, विशाल दृष्टि आदि की कमी नहीं है। और इसका कहीं भी संकेत न होना केवल इस बात का ही द्योतक सिद्ध होता है कि लेखक इस पक्ष में किसी प्रकार की शंका या मत-वैषम्य की आशा नहीं रखता। इतना ही नहीं समस्त पुस्तक पर दृष्टिपात करने से पुस्तक में महाकवित्व-प्रधान दृष्टि नहीं, वरन् इस महाकवि के काव्य के अध्ययन के लिए उपयोगी पृष्ठभूमि और दृष्टि प्रदान की गई है। अतएव शीर्षक को देखते हुए यह कमी भी इसमें खटकती है।

प्रथम अध्याय में भक्ति के विकास का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत लेखक ने भक्ति-सम्बन्धी विशाल भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उसके विकास को स्पष्ट किया है। वेदों में भक्ति-सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण, ब्राह्मण-काल में भक्ति का स्वरूप, उपनिषदों में भक्ति और उपासना का स्वरूप तथा विष्णु को मनुष्य के अधिक सान्निध्य में लाकर भक्तों के परम दैवत की स्थापना के प्रसंग बड़े ही रोचक हैं। विस्तार-भय के कारण ही सम्भवतः उपनिषदों की रहस्यात्मक भक्ति-भावना पर अधिक नहीं लिखा गया है। इस प्रकार महाकाव्य और गीता-काल में भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण है, जिसमें लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि वेदव्यास ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषद्-शास्त्र-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय-प्रधान भक्ति को समान स्थान प्राप्त हुआ, जो भागवत धर्म है। इस प्रसंग का विश्लेषण विस्तृत रूप से लेखक ने किया है कि गीता और भागवत द्वारा भक्ति का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इनमें कर्म-फल-त्याग के साथ-साथ ईश्वर को सब-कुछ समर्पण की भावना की परिपुष्टि हुई है, जो सभी साधनों से श्रेष्ठ है और प्रेमाभक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती है, जिसकी व्याख्या ही विशेष रूप से नारद और शाडिल्य भक्ति-सूत्रों में हुई है तथा इसी स्वरूप का प्रतिपादन अनेक रूपों में पौराणिक युग में हुआ। भागवत भक्ति के पूर्ण विकास को स्पष्ट करने वाला ग्रन्थ है, जिसका आधार लेकर आगे आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की।

भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख द्वितीय अध्याय में है। पृष्ठभूमि के रूप में हिन्दी-भक्ति-काव्य के अध्ययन के हेतु यह प्रसंग बड़ा ही उपादेय है। इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विश्लेषण है और शंकराचार्य के मत से इसकी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसंग में इस परम्परा में आने वाले स्वामी रामानन्द की उपासना-पद्धति की भी चर्चा है। श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की भी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यह सब हमें सूरदास ही नहीं अष्टछाप के अन्य कवियों के विचार और भाव-धारा को समझने में सहायक हैं। यह अध्याय हिन्दी के भक्ति-काव्य को हृदयंगम करने के लिए बड़ा उपयोगी है।

तीसरा अध्याय सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व पर है। इस प्रसंग में 'सूर सागर' के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतिरिक्त 'सूर सौरभ', 'हिन्दी-नवरत्न', 'अष्टछाप'[1], 'सूरदास'[2], 'सूर-निर्णय' आदि ग्रन्थों का उल्लेख है; परन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व की दिशा में सबसे अधिक विस्तृत विवेचन और प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करने वाले ग्रन्थ 'अष्ट-छाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का कोई उल्लेख नहीं और न 'सूरदास' ग्रन्थ का ही। डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा के 'सूरदास' में जीवन-सम्बन्धी बातें अत्यन्त विस्तार के साथ दी गई हैं। हो सकता था कि वाजपेयी जी उनसे सहमत होकर उन्हें पुष्ट करते अथवा सहमत न होकर अपना कोई दूसरा दृष्टिकोण सामने रखते। अतएव इन दो पुस्तकों का उपयोग न करने से अब तक के अध्ययन में इस प्रसंग द्वारा विकास प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इनके उपयोग से कतिपय मत-वैषम्य के स्थल भी साफ हो जाते—उदाहरणार्थ डॉ० गुप्तजी सूरदास जी का जन्म-संवत् वल्लभाचार्य जी के जन्म-संवत् के आधार पर सं० १५३५ मानते हैं, परन्तु वाजपेयी जी ने उन्हीं तर्कों को देते हुए सं० १५३० माना है। इसी प्रकार के अन्य कई स्थल हैं जिन पर वाजपेयी जी के अध्ययन द्वारा प्रकाश पड़ना आवश्यक था।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय 'आत्मपरक भावभूमि' अत्यन्त महत्त्व का है। यह हमें सूर-साहित्य को ही नहीं, वरन् समस्त कृष्ण-भक्ति-काव्य को समझने के लिए एक मापदंड प्रदान करता है। यह रीतिकालीन शृङ्गारी कृष्ण-काव्य से सूर-जैसे भक्त कवियों के कृष्ण-काव्य का अन्तर स्पष्ट करता है। वल्लभाचार्य का उद्देश्य दर्शन और भक्ति का समन्वय था। हिन्दी के भक्त कवियों ने भक्ति और काव्य का समन्वय कर दिया। इस बात को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है : "ज्ञान की इस मौन समाधि के समकक्ष (भक्तों के लिए तो उससे भी बढ़कर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनन्दमयी है।"[3] यह भक्ति की मुखर समाधि, भक्तिकाव्यामृत का प्रवाह ही है। इतना ही नहीं, दिव्य जन्म-कर्म वाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरान्त जो कृष्ण का नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन है उसके द्वारा "कलाओं का शृंगार पवित्र हो उठा।" लेखक का निष्कर्ष है कि कृष्ण दूसरे कवियों के हाथ में नायिकाओं के आमोद-प्रमोद, अष्टयाम और विलासमयी चेष्टाओं और वासना-मयी भावनाओं के प्रेरक बन गए, किन्तु सूर के हाथ में वे सर्वत्र पूत—सर्वत्र पावन—बने हुए हैं। भक्तिकालीन कवियों का महत्त्व सचमुच इस बात में है कि उन्होंने मानव की समस्त भावनाओं का विस्तार करके उन्हें राम-कृष्णमय बना दिया।

'दार्शनिक पीठिका' में सूर-काव्य के आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। यहाँ लेखक ने 'सूर सागर' के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट किया है। इसमें प्रमुख मन्तव्य, यह सिद्ध करना है कि सूर की भक्ति भावुकता-मात्र से प्रेरित नहीं; वरन् ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है। उनका भक्ति-मार्ग, दार्शनिक चिन्तनों के उपरान्त निश्चित किया हुआ जीवन-पथ है। प्रेमा-भक्ति का लक्ष्य, ज्ञानियों की मुक्ति नहीं; वरन् मुक्ति तो इन भक्तों के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। उनके लिए तो साधन और साध्य सब-कुछ भक्ति ही है।

'सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष' नामक अध्याय में कतिपय आक्षेपों के उत्तर हैं। लेखक ने

---

१. डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित।

२. लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

३. 'महाकवि सूरदास' पृष्ठ ८४।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह सिद्ध किया है कि गीता और भागवत दोनों में ही कृष्ण की तटस्थ भावना प्रधान है। दोनों में वर्णित कृत्य उनकी लीला हैं, केवल स्वरूप-भेद है। कृष्ण दोनों ही में निस्संग और निर्लेप हैं और इस दृष्टि से देखने पर ही कृष्ण-चरित्र के सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष को समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण तो सराहनीय है; परन्तु आक्षेपों के उत्तर में उनकी व्यक्तिगत आलोचना, ऐसी गम्भीर पुस्तक में अधिक शोभनीय नहीं जान पड़ती।

जिस प्रकार उपर्युक्त अध्याय में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उठी हुई शंकाओं का निवारण है उसी प्रकार 'प्रतीक-योजना' नामक अध्याय में सूर-काव्य-सम्बन्धी कुछ साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया गया है। लेखक ने इसके भीतर कतिपय प्रतीकों (जैसे—होली, रास भँवरगीत, चोलीबन्द तोड़ना, वेणु-गीत आदि के भीतर का सौन्दर्य) को केवल लौकिक या केवल आध्यात्मिक रूप में एकांगी दृष्टि से नहीं, वरन् समन्वित दृष्टि से स्पष्ट किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एकाध स्थलों पर वर्णन को न्यायोचित ठहराने का अधिक आग्रह आवश्यक नहीं दीखता।

'काव्य-सौन्दर्य' के प्रसंग में सर्वप्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओं का संकेत है जिनमें उन्होंने केवल रूढ़ि-पालन किया है और कोई भावात्मक सौन्दर्य उनमें नहीं आ पाया। इसके पश्चात् इसमें सूर-काव्य में आये कुछ वर्णनों के सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है और उनके भीतर के चित्रणों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा है। परन्तु सूर के काव्य-सौन्दर्य का व्यापक और पूर्ण उद्घाटन इसमें नहीं हो पाया और इस दृष्टि से यह अन्य प्रसंगों से हीन है।

यह सब होते हुए भी 'महाकवि सूरदास' पुस्तक में जिन प्रसंगों को लिया गया है उनमें लेखक का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन पूर्णतया प्रकट है। बहुत-से ऐसे प्रसंग हैं जिनके अधिक विस्तार से विवेचन की आवश्यकता, इतनी पृष्ठभूमि देने के बाद अपेक्षित थी और जिनके अभाव में यह सूर-साहित्य के अध्ययन की भूमिका-रूप जान पड़ती है। परन्तु उनके न होने का कारण विस्तार-भय ही समझ पड़ता है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा सूर-साहित्य के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।[1]

प्रभाकर माचवे

महायान

चीन-भवन के भदन्त शान्तिभिक्षु द्वारा लिखित और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका से समन्वित इस ग्रन्थ में ३० पृष्ठों की प्रस्तावना है, जिसमें बौद्ध धर्म का स्वाभाविक विकास तथा बौद्धों के अलग-अलग सम्प्रदाय और उनके साहित्य की चर्चा है। उपनिषद्कालीन आदर्शवाद और बौद्ध मत की विद्रोही प्रतिक्रिया की समाज-वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है, जो बहुत मूलगामी है। उदाहरणार्थ पृष्ठ १११ पर बुद्ध-मार्ग और ब्रह्म-मार्ग की यह तुलना देखिए :

१. लेखक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय;	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय;
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मों के विषय में कहानियों की सृष्टि द्वारा	ख—ब्रह्म के सगुण रूपों के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त;
ग—बुद्धत्व-प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिए पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना;	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिए लोगों के उद्धार के लिए स्वयं ब्रह्म का अवतार धारण करना;
घ—बुद्ध और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद, अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एवं अधर्मियों के प्रति अवतार की अक्षमता तथा उनका संहार।

इस प्रस्तावना में आगम के मूल रूप और इतिहास पर बहुत अच्छी तरह विमर्श किया गया है। बाद में चौदहवीं शती के संगो-पा ने जाकर सूत्र और तन्त्र को एकात्म कर दिया ऐसा तिब्बती आधारों से पता चलता है, परन्तु वहाँ तक पुस्तक-लेखक नहीं गया है। वह केवल महायान के आठवीं शती के साहित्यिक प्रकारों तक ही प्रस्तावना में अपने को सीमित करता है। परन्तु अन्तिम अध्याय उपसंहार में जहाँ चौरासी सिद्धों के बाद निर्गुण-सगुण मतावली की चर्चा है, कबीर और तुलसी के रामों के रामत्व के भेद पर विचार है, वहाँ यदि सहजयान और वज्रयान के अद्वय और निर्गुण की, जिन्हें तिब्बती में 'नि-मेय्' और 'येत्तेन्ट्येल्वा' कहते हैं, चर्चा हो जाती तो उत्तम होता। तिब्बत में इसीलिए तो बुद्ध को 'संघे' कहते हैं।

इस ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'महायान-दर्शन'। इसमें महायान के जो आचार्य हैं उनके उपलब्ध मूलग्रन्थों की पूरी खोज-बीन और उनका पूरा निचोड़ विद्वान् लेखक ने उपस्थित किया है।

उन सन्दर्भ-ग्रंथों की छान-बीन से पता चलेगा कि भारत में राहुल जी, कृष्णमाचार्य, ध्रुव, विधुशेखर भट्टाचार्य, वैद्य आदि को छोड़ें तो फ्रांसीसी, रूसी और इतालवी विद्वानों ने ही इस दिशा में अधिक काम किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस विद्वत्तापूर्ण कार्य का सारांश हिन्दी में प्रस्तुत करता है। दर्शन-चर्चा में शून्य का प्राचीनतम उल्लेख, जो हीनयान निकायों में मिलता है और बाद में उसकी परिभाषा में सब सिद्धान्तों के चरम खण्डनकार नागार्जुन द्वारा जो सूक्ष्म तर्क-प्रमाण प्रयुक्त किया गया, विचारणीय था। शून्य केवल किसी गुणावशेष का अभाव नहीं, परन्तु किसीगुण के आरोप की अपर्यवेक्षणीयता है, अप्रमेयता है। यों वास्तव विज्ञान से परे हो जाता है और ग्राह्य ग्राहक से भी परे। राइस डेविस ने इसकी चर्चा की है। परन्तु शान्तिभिक्षु उन विवरणों में शायद जान-बूझकर नहीं गये हैं, अन्यथा पुस्तक बोझिल हो जाती। शून्य को तिब्बती 'तोम्पानी' मानते हैं, जो अद्वैत का पर्यायवाची है। माध्यमिकों या 'उ-मा-पा' में इसका अधिक प्रचार था। यों, तिब्बत में जाकर बौद्ध-धर्म अपने निराशावादी रूप में जरा भी नहीं मिलता। वह दुःख-पूजा शेष नहीं रहती और तृष्णा एक चमत्कारिक अपार शक्ति बन जाती है।

उपसंहार में तुलसी के सगुणवाद की कुछ निर्भय आलोचना है। उस प्रसंग में मुझे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचार्य वरान्निकोव के तुलसी के समचौपाई रूसी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखे एक तर्क की याद दिलाने की इच्छा होती है : 'इस ईश्वर-तत्त्व को तुलसीदास ने कहीं सच्चिदानन्द कहा है और कहीं 'अगुण', इसीकी वेद 'नेति' परिभाषा करते हैं, संसार में शरीर धारण करके आता है।[1] और आगे सबसे मजेदार कारण वे देते हैं : "अगुण के सगुण होने का, अवतार की प्रेरणा का कारण है इन दीन-दुखियों के प्रति उसका प्रेम। और ईश्वर-तत्त्व का यह मानवी रूप अपने-आप चलता है।" इस विचार-धारा की रोशनी में शान्तिभिक्षु के इस मत से सहमत हो जाना कठिन है : "राम आदि पौराणिक परम्परा के नामों के बल पर निर्गुनियाँ सन्तों को वेद और पुराणों का अनुयायी नहीं बताया जा सकता, जबकि उनके राम आदि सर्वथा वेद और पुराण-सम्मत नहीं हैं। इन निर्गुनियाँ सन्तों का प्रभाव सगुनियाँ सन्तों पर बहुत पड़ा। वर्ण-श्रेष्ठता के पक्षपाती होने पर भी इन्होंने धार्मिक साधना का द्वार सबके लिए खुला रखने की कोशिश की है।...सगुनियाँ मत के सन्त राम को सब नामों पर तरजीह देते हैं वह अकारण नहीं है।"[2] इस प्रकार से कहीं-कहीं पर लेखक के बौद्ध-प्रचारक होने के कारण ऐतिह्य विवेचन में विवेक का स्थान भावुकता ने ले लिया है; फिर भी सर्वत्र बुद्धिवादी, विचिकित्सक सन्तुलन को लेखक खोता नहीं है। इतर मत-खंडन भी सौम्य और अहिंसक शब्दावली में है।

संक्षेप में, यह ग्रन्थ हिन्दी को गौरव प्रदान करता है और अन्य भाषाओं की दृष्टि में हिन्दी को उठाता है। शान्तिभिक्षु जी का कार्य इस विषय में बहुत ही मूल्यवान है।

हिन्दी के अन्य सभी प्रकाशनों की भाँति इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर भी प्रकाशन-तिथि, वर्ष आदि कहीं भी नहीं दिये हैं।[3]

राय आनन्दकृष्ण

कला : एक नवीन दृष्टिकोण

कला के प्रति हमारे समाज की जो उदासीनता है, वह उससे सम्बन्धित साहित्य के दुर्लभ होने से स्पष्ट है। जिन देशों में, हमारे प्राचीन समाज की भाँति समाज की कला के प्रति आँखें बन्द नहीं हैं, उनमें कला की तात्विक चर्चा बहुत लोकप्रिय हुई है और अँग्रेजी एवं अन्य पाश्चात्य भाषाओं का प्रकाशन इस दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा है। अपने देश का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि एक ओर अपनी कलाओं का समुचित अध्ययन नहीं, दूसरे उनके इतिहास अथवा उनकी व्याख्याएँ संकुचित पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुईं, जिनके द्वारा उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन ही नहीं हो सका एवं अन्ततः उन सबका प्रकाशन विदेशी भाषाओं में होने से वह चर्चा अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही। समुचित साहित्य का अभाव भी हमारे लोक में कला-चेतना के ह्रास का एक कारण रहा है; कला की चर्चा गुलदस्तों की भाँति भले ही उच्च वर्ग के

१. यथा लंकाकांड १३६, ३-४।
२. देखिए पुस्तक का पृष्ठ १३४।
३. लेखक—शान्तिभिक्षु, प्रकाशक—विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गोल कमरों की शोभा बढ़ाने लगी हो, पर धरती से वह बिलकुल विच्छिन्न होती जा रही है।

दूसरी ओर कला की तत्त्व-चर्चा पाश्चात्य देशों में कला की नवीन-से-नवीनतम दिशाओं की खोज करने एवं उसमें उसे प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो रही है। लेखनी का सहारा पाकर वहाँ शैलियों ने कुछ ऐसे मोड़ लिये हैं, जिन्हें हमारे कलाकार आँख मूँदकर आत्मसात करते जा रहे हैं। उनमें अनेक के सम्बन्ध में समाज को विचार करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक एक बहुपठित लेखक की रचना है, जिसने उपनिषद्-साहित्य से लेकर रवीन्द्रनाथ-ठाकुर तक के उद्धरणों द्वारा हमारे चिन्तन की न जाने कितनी श्रेणियों को पार करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके विशद प्रतिपादनों के कुछ सुन्दर स्थल पृष्ठ ३-४, पृष्ठ २०, पृष्ठ ३३, पृष्ठ ५०-५१, पृष्ठ ५२, पृष्ठ ११६-१२०, पृष्ठ १२१-१२२ आदि हैं, कहीं-कहीं पृष्ठ ३, पृष्ठ ११६-१२० आदि पर वे बहुत काव्यात्मक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों, साहित्य-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के उद्धरणों में उसने कितनी सतर्कता रखी है, यह उन शास्त्रों में पारंगत ही बता सकते हैं, परन्तु उसके प्रतिपादन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पहलुओं पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है।

विद्वान् लेखक ने पहले निबन्ध में कला शब्द के अर्थ, प्रयोग एवं भारतीय प्राचीन जीवन से उसके सम्बन्धों पर विचार किया है। 'कामसूत्र' की भाँति अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कलाओं की सूची मिलती है। जातकों में भी शिल्पों की सूची है, जिनमें कुछ शिल्प (यथा हजामत बनाना !) हीन शिल्प के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न कालों में कला शब्द के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं एवं कहीं-कहीं उसका प्रयोग कौशलों (क्रैफ़्ट्स्) के अर्थ में हुआ है। समय-समय पर होने वाले इन अन्तरों को ध्यान में न रखने से भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्वभावतः मध्यकालीन साहित्य-शास्त्रकारों ने इस शब्द का जो अर्थ किया है उससे गुप्त-काल में या उससे भी पूर्व, उसका अर्थ कुछ और ही था। कम-से-कम ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि कला को कौशल से भिन्न स्तर पर पूर्वों ने प्रतिष्ठित किया है। प्रारम्भ में लेखक ने कहीं-कहीं इस दृष्टिकोण को छोड़ दिया है, यद्यपि पृष्ठ ६६ पर उसने स्वयं इसे स्वीकार किया है। आचार्य डॉक्टर कुमारस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ट्रान्सफ़ार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट' में इस विषय को बहुत विशदता से समझाया है। उपनिषदों में प्रयुक्त चित्त-संज्ञा शब्द से ही स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति में लोक-वृत्ति अनुकरण होने पर भी कलाकार के मन पर पड़ी लोक की छाया का व्यक्तीकरण है। चित्र-कला के सन्दर्भ में प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सु-सदृश, अनु-रूप, अनु-कृति आदि शब्द इसी बात को स्पष्ट करते हैं।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी इससे भिन्न नहीं। विद्वान् लेखक ने अनेक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों के प्रमाणों द्वारा साहित्य-सृजन में इस प्रक्रिया को स्वीकारा है। पृष्ठ १३ पर पाद-टिप्पणी में हर्बर्ट रीड की उक्ति में इमेजेज़ शब्द इसी चित्त-संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः 'बाइबिल' का विज़न (पृष्ठ १४) शब्द इससे भिन्न नहीं। लेखक ने साहित्य में इस प्रक्रिया को जिस रूप में देखा है, कला में उसकी प्रतिष्ठा है। आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे निबन्ध 'कला की परिभाषा' में उसने अरस्तू से लेकर रवीन्द्रनाथ तक के चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बहुत प्रबलता के साथ हमारे सामने रखा है। पृष्ठ १२५ पर प्राचीन चीनी चित्रकार कुओसी की उक्ति भी इसकी पुष्टि करती है। चित्र-सूत्र में भी यही बात मिलती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। पृष्ठ ४५ और पृष्ठ ६३ पर विद्वान् लेखक ने स्वयं स्वीकारा है : "प्रत्येक कला···एक ही लक्ष्य की साधना करती है।" पर न जाने क्यों स्वयं उसे इस बात पर निष्ठा नहीं। इसी प्रकार "संगीत···ही है," (पृष्ठ ५७) वाला उसका निष्कर्ष किसी तर्क पर आधारित नहीं।

अतः साहित्य अर्थात् काव्य एवं कला में साधन-मात्र की भिन्नता मानी जाती है। जिस प्रकार साहित्य में ही अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार हैं; यथा छन्दों द्वारा, कथाओं द्वारा, गद्य-काव्यों द्वारा, निबन्धों द्वारा एक ही भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है उसी प्रकार साहित्य और कला अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग-मात्र हैं। तालस्ताय के कथन (पृष्ठ १६), "कला वही मर्मवाणी है जो साहित्य की है," पर ध्यान न देकर लेखक ने कहा है : "कला और काव्य को एक कर देने में कोई अशुभ सम्भावना नहीं होनी चाहिए।" इस प्रकार लेखक ने दोनों में जो तात्विक अन्तर पाया है वह वस्तुतः है ही नहीं और ऊपर यही बात तालस्ताय के शब्दों में भली भाँति व्यक्त हुई है। लेखक ने इस दृष्टिकोण को अमान्य ठहराकर कहा है : "हम इसे काव्य नहीं कहेंगे, यह काव्य की कला हो सकती है।" (पृष्ठ ८)। मानो सबसे हीन रूप कला का है। अपने देश में कला के प्रति ऐसी भावना कभी न थी। प्राचीन उल्लेखों में तो कुछ और ही मिलता है :

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्ययैर्ह्यमी। (भामह)

अथवा 'साहित्य-संगीत-कला-विहीनः' वाले प्रसिद्ध वाक्यांश में कला की प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से मिलती है। इस पक्ष के इतने उद्धरण मिल सकते हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। तब ऐसा भ्रम क्यों उत्पन्न होता है? वस्तुतः चित्र आदि को कहीं-कहीं कलाओं के ऐसे वर्गों में रखा गया है जिनमें नागरों के लिए अनेक कौशलों के नाम हैं; जैसे माला गूँथना, बुझौवल, समस्या-पूर्ति आदि। ध्यान देने की बात है कि ये सूचियाँ नागरिकों के लिए है, कलाकारों अथवा आचार्यों के लिए नहीं। जन-साधारण के लिए कला की सूची वस्तुतः उनके दैनिक जीवन में काम आने वाले गुणों की सूची है, आजकल के शब्दों में 'सोसायटी मैन' बनने के लिए गुणों की सूची है। इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट है कि वेश्याएँ कलाओं में प्रवीणता इसलिए प्राप्त नहीं करती थीं कि उससे उन्हें 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस' की उपलब्धि हो, वरन् उन्हें वे अपनी 'वैदग्ध-ख्याति' के लिए प्राप्त करती थीं। कलाकार की साधना इन सबसे भिन्न ही होती है।

इन सब वर्गों से ऊपर कलाकार था, जिसे समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा अपने दरबार में उसे 'अत्रभवान' कहकर सम्बोधित करते थे। वह आचार्य कहलाता था। वह जिस साधना में लगा रहता उसके फलस्वरूप हमारे प्राचीन काल की लोकोत्तर कला की सृष्टि हुई है जिसके उदाहरण सारे देश में महावराह की भाँति अतीत के महा समुद्र से प्रायः निकल पड़ते हैं। जिस समाज ने अजन्ता के कलाकारों को जन्म दिया, जिस समाज में सारनाथ के बुद्धदेव की मूर्ति गढ़ने वाला पैदा हुआ, उसमें कला के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा होगा इसे बताने की आवश्यकता नहीं। जीवन से वह कला कितनी सम्पृक्त रही होगी इसकी वकालत करना भी अनपेक्षित है। यदि और विस्तार में जाना चाहें तो तत्कालीन साहित्य में कला-कृतियों के प्रति सहसा निर्गत श्लाघा वा उसकी आलोचना को देखें, जिनसे सारा संस्कृत-साहित्य भरा पड़ा है। ऐसी दशा में विद्वान् लेखक की उक्ति, "जो भी हो, मानव ने कला की यह मान्यता इसके (नई विचार-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धारा के) पहले कभी नहीं" दी (पृष्ठ ८), भारत के पास प्रतिमा बनाने का कौशल कला तो था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का अभिषिक्त मन्त्र उसके पास नहीं था" (पृष्ठ ११), न्याय-पूर्ण नहीं। ऐसी अनेक उक्तियों के पीछे विद्वान् लेखक को कौनसी प्रेरणा थी, यह पता नहीं।

अन्य निबन्धों में लेखक ने कला की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई परिभाषाओं का अच्छा संग्रह किया है, जो इस विषय में उसके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है। कला-सम्बन्धी प्राच्य वा पाश्चात्य उक्तियों का ऐसा बृहद् एवं सुन्दर संग्रह दुर्लभ है। उन उक्तियों का प्रतिपादन भी लेखक ने बड़े ही सामर्थ्य के साथ किया है। इसमें भी कई बार ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें देशी वा विदेशी चिन्तकों ने कला की प्रतिष्ठा साहित्य से कम नहीं की है। आश्चर्य है स्वयं उससे भिन्न-मति होते, लेखक ने इनके पक्ष का इतना अच्छा प्रतिपादन कैसे किया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि अनेक देश-काल के भिन्न-भिन्न विचार-धारा वाले मनीषी कला के सम्बन्ध में प्रायः एकमत हैं। वस्तुतः उनके इस मतैक्य को देखकर आश्चर्य होता है। यही बात कला के प्रयोजनों के सम्बन्ध में आती है। सौन्दर्य शब्द एवं उसके विभिन्न अर्थों में भी कुछ कम बखेड़ा नहीं है। इस 'खंडनखंडखाद्य' से बेचारी कला का सिर चकरा गया होगा। इसके बाद यह निष्कर्ष उचित है : "जो कला की दृष्टि से अच्छा सुन्दर है, वह सुनीतिमूलक, जो नहीं वह नहीं अथवा विपर्यय करके, जो सुनीतिमूलक है वही अच्छा, जो नहीं वह नहीं।" सारे ऊहापोह के बाद यहीं ठौर मिलता है। कला जीवन का संस्कार करती है या नहीं, यह भी बहुत-कुछ इसी सूत्र पर हल होता है। कला की तीनों दृष्टियों अर्थात् कलाकार का दृष्टिकोण, कृति का दृष्टिकोण एवं रस-ग्राहक के दृष्टिकोणों का अलग-अलग अच्छा विवेचन हुआ है, जिसमें अनेक उद्धरण उपयोगी एवं मननीय हैं। इन तीनों दृष्टिकोणों को अलग-अलग, एक-दूसरे से भिन्न, एक-दूसरे से परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः ये तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टिकोण के बिना कला की परिभाषा एकांगी होगी।

पर लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने-आपको तटस्थ रखकर सामग्री प्रस्तुत की है और उस पर विचार-विमर्श किया है। किसी वाद में पड़कर प्रत्येक सिद्धान्त को तोड़ने-मरोड़ने की चेष्टा उसने नहीं की है। विशेष रूप से प्रत्येक सिद्धान्त वा वाद को प्रतिपादित करने में उसने अपनी गहराई का परिचय दिया है यथा पृष्ठ ३२-३३ पर 'स्वान्तःसुखाय' और 'बहुजन हिताय' वाला प्रसंग अथवा पृष्ठ ५०-५१ पर 'अभिव्यक्ति की शक्ति' या पृष्ठ ५२ पर 'उपयोगिता वनाम सौन्दर्य-भावना' आदि उदाहरण के लिए काफी होंगे।

इस प्रकार पुस्तक अपनी उपादेयता के देखते विशिष्ट वर्ग में आती है, जिसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।

१. लेखक—हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक—मानसरोवर, गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन

भारतीय प्राचीन लोकोत्सव ऐसा विषय है, जिस पर बहुत कम अध्ययन हुआ है। पर "..... प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल ऐसे ही उत्सवों का वर्णन हुआ है, जिनका कुछ ऐतिहासिक महत्व है।" इस प्रकार विषय जरा सीमित पर गठित हो गया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में अनेक लोकोत्सवों को छोड़ भी दिया गया है। विषय-प्रवेश में उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में लेखक ने पाकिस्तान बनाने वाली मुसलिम मनोवृत्ति की चर्चा के साथ ही यह भी कहा है कि हमारे देश में 'फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीका वालों का स्वातन्त्र्य-संग्राम या रूसी क्रान्ति-जैसी अनियन्त्रित जनता की उद्दण्डता का उदाहरण नहीं मिलता।' एक तो इन बातों का विषय-वस्तु से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है; दूसरे फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीकी स्वातन्त्र्य-संग्राम और रूसी क्रान्ति का सम्बन्ध समाज के उस विकास से है, जिसे अर्थनीतिक परिभाषा में औद्योगिक और सामाजिक क्रान्ति कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ भारतवर्ष में अंग्रेजों के माध्यम से हुआ। इसीलिए यहाँ क्रान्ति नहीं, अंग्रेजों की छाया में औद्योगिक विकास हुआ। इस विकास के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में अंग्रेजों की छाया में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति हुई। भारतीय समाज के श्रेणी-सम्बन्धों, ऐतिहासिक काल-क्रम और अंग्रेजी कूटनीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति पहले हुई और मुसलमानों में बाद को। इस अर्थ-नीतिक भेद ने सामाजिक परिपार्श्व के अन्दर अंग्रेजी कूटनीति द्वारा साम्प्रदायिक रूप लिया, जिसका परिणाम पाकिस्तान हुआ। अतः यह (पाकिस्तान) कोरे सामूहिक मनोविज्ञान का विषय नहीं है। सामाजिक यथार्थ का कुछ सीमा तक अपरिपक्व, विकृत और कुछ सीमा तक विदेशी कूटनीतिक परिणाम है। फ्रांसीसी और रूसी क्रान्ति में समाज का विकास न देखकर उद्दण्डता देखना, समाजतात्त्विक यथार्थ की अवहेलना करना है। किन्तु उदाहरण की अप्रासंगिकता और इन गलतियों को निकाल दिया जाय तो उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण सुन्दर है।

ऐतिहासिकता का बन्धन लेखक ने ऐसा बाँधा है कि बहुत-से अपेक्षित उत्सवों के विधानों की उपेक्षा हो गई है। 'दीपावली' के बाद 'यम द्वितीया' के उत्सव के वर्णन में शहरों में होने वाले कृत्यों का भी वर्णन नहीं किया गया है। जैसे बहन द्वारा भँडेहर भरना, गोधना कूटना, भाई को गाली और मृत्यु का श्राप देना और फिर भाई की आयु जोड़ना। भोजपुरी-भाषी देहातों में इस उत्सव में जमीन पर गोबर की पुरुष आकृति बनाना, उसमें चना रखना, कुमारी कन्याओं द्वारा उसे मूसल से मारना, गालियाँ बकना, वृद्धाओं द्वारा कहानियाँ कहना और गीत गाना तथा फिर उसी चने का खाना आदि बहुत विधान हैं। पर लेखक ने किसी का जिक्र नहीं किया है। ऐसा लगता है कि लेखक ने प्राचीन साहित्यिक रेकार्डों को ही इतिहास मान लिया है। जीवित परम्पराओं की ओर ध्यान कम दिया गया है। प्राचीन रेकार्डों में भी उससे गलतियाँ हो गई हैं। जैसे वृहद्रथ को आर्येतर योद्धा मानना। वृहद्रथ वसु का पुत्र है और उसने मगध में बार्हद्रथ-वंश की स्थापना की थी, जिसमें आगे चलकर जरासन्ध नामक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इस वंश ने व्रात्यों से ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध रखा। इसीलिए बाद के ब्राह्मण-मत वाले साहित्यकारों ने इस वंश को हीन रूप में चित्रित किया, पर आधुनिक लेखकों को इन तथ्यों को समझना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोकोत्सवों के उत्सवोचित विधानों का वर्णन तो प्रायः नहीं-सा ही है। शुष्क शैली में सार-मात्र दिया हुआ है। इससे प्राचीन लोकोत्सवों की झाँकी नहीं मिलती। सिर्फ इंगित होता है कि अमुक उत्सव ऐसा होता था। अच्छा होता यदि प्राचीन साहित्य से उत्सवों के सजीव वर्णनों को और उत्सवों के लोक-प्रचलित रूपों को भी ले लिया गया होता। उत्सवों की विधि को ही न देकर यदि उसके कलात्मक रूपों को भी दे दिया गया होता तो न केवल ग्रन्थ की कमजोरियाँ दूर दो जातीं, बल्कि उसकी उपयोगिता भी बढ़ गई होती।

'प्राचीन लोकोत्सव' में लोकोत्सवों की अपेक्षा, जिन मान्य देवी-देवताओं के नाम पर उत्सव होते हैं, उन देवी-देवताओं के विकास और इतिहास का अच्छा परिचय दिया हुआ है। नवरात्रि-उत्सव के प्रसंग में देवियों का परिचय विस्तृत और प्रमाण-पुष्ट है। विभिन्न देवियों के सम्बन्ध में, उनकी पूजा के सम्बन्ध में, प्रारम्भ में उनका किन जन-जातियों से सम्बन्ध था और बाद में उनका कैसे आर्यीकरण हुआ, इन सभी पहलुओं पर सूक्ष्म और सारग्राही विवरण इस ग्रन्थ में है। वस्तुतः इसमें इतना ही सर्वोत्तम है। यदि कुछ उत्सवों को हटाकर इसका नाम 'भारतीय लोक देवी-देवता' कर दिया जाय तो ग्रन्थ गठित हो जायगा और ऐसा न करने पर लोकोत्सवों का सजीव चित्र देना परमावश्यक होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में विषय-प्रतिपादन की दृष्टि व्यापक है। भारतीय देवी-देवताओं और लोकोत्सवों से मिलते-जुलते विश्व में जहाँ जो देवी-देवता और लोकोत्सव हैं, उन सबों का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है। इस शैली से विश्व में मानव-मन की एकता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित होता है। विभिन्न देवी-देवताओं और विश्लेषणों के अन्त में लेखक ने अपने परिणाम भी निकाले हैं। लेखक के परिणामों से पूर्णतः कोई सहमत हो अथवा न हो; पर लेखक की इस वैज्ञानिक शैली का पाठक के मन पर शुभ परिणाम पड़ना चाहिए। इस शैली द्वारा लेखक पाठकों को सोचने के लिए बाध्य भी कर देता है और एक परिणाम भी सामने रख देता है, जिसके पीछे तर्क और प्रमाण दोनों होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी में इस विषय का यह अच्छा ग्रन्थ है। इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, इसकी भाषा में भी कुछ दोष हैं—पुनश्च का प्रयोग बड़ा बेढंगा है—पर लेखक की दिशा ठीक है।[1]

डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

व्यक्ति और वाङ्मय

श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के सुविख्यात कवि और आलोचक हैं। उनकी प्रस्तुत कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय' में सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए उनके लेखों का संग्रह है। इन लेखों में उन्होंने आदि काल से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया है। ऐसे कवियों में वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, राजशेखर, कबीर, विद्यापति, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, महादेवी, 'दिनकर',

१. लेखक—श्री मन्मथ राय, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भारतभूषण अग्रवाल आदि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मराठी के ताँबे, बी. यशवन्त आदि, दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्य भारती (तमिल), वल्लथोल (मलयालम), दे० कृष्ण शास्त्री (तैलुगु), द० रा० बेन्द्रे (कन्नड़), गुजराती के नान्हामल, जोशी आदि और पंजाबी के नानक से लेकर आज तक कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया गया है। कुछ लोगों का यह कहना रहा है कि माचवे जी केवल हिन्दी की बात मराठी में और मराठी की बात हिन्दी में कहते हैं। 'व्यक्ति और वाङ्मय' से यह सिद्ध हो जाता है कि वे मराठी की बात ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की बात भी हिन्दी में कहते हैं—हाँ, यह पता नहीं कि वे हिन्दी की बात भी उन सब भाषाओं में कहते हैं या नहीं। इतना ही नहीं, माचवे जी को रूसी, जर्मन, फ्रेंच, ग्रीक, लेटिन, इटैलियन, अंग्रेजी, पोलिश आदि यूरोपीय भाषाओं का भी ज्ञान है, जिनसे वे स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं और यूरोपीय ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख करते हैं। ऐसे बहु-भाषाविद् कवि और लेखक को पाकर हिन्दी-भाषा आज धन्य है! प्रारम्भ में लेखक ने लिखा है: 'लेखक व्यक्ति की वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तैयार नहीं। हाँ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है।' माचवे जी व्यक्ति और उसके साहित्य को अलग-अलग देखना नहीं चाहते। किन्तु जब हम इस कृति को पढ़ते हैं तो लेखक के इस कथन की पुष्टि नहीं होती। हमें 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन' अत्यन्त क्षीण रूप में। मिलता है या फिर मिलता ही नहीं। वाल्मीकि, व्यास आदि से सम्बन्धित प्रारम्भिक लेखों में तो इस प्रकार का अध्ययन बिलकुल नहीं है—शायद यह सम्भव भी नहीं था। लेखक ने संस्कृत और प्राकृत-कवियों से सम्बन्धित लेखों को खोजपूर्ण बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें 'फ़िफ़्थ हैंड सोर्सेज' से ली गई सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों से सम्बन्धित लेखों में संस्मरण और कवियों की कुछ रचनाओं की समीक्षाएँ हैं या उनकी रचनाओं से सम्बन्धित कुछ पक्षों पर ही संक्षेप में विचार किया गया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के अन्तर्गत 'अन्तर-मानस का अध्ययन' हमें नहीं मिलता। लेखों में प्रायः विषयान्तर मिल जाता है। पाठक लेखक के विचारों से सहमत भले ही न हों, किन्तु उसके लेखों में रोचक सामग्री का अभाव नहीं है। लेखक की जर्नलिस्टिक शैली में पाठकों का मन रमता है, मनोरंजन होता है और अनेक दिलचस्प बातें पढ़ने को मिलती हैं; किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ लेने के बाद पाठकों का बौद्धिक Status quo बना रहेगा। वास्तव में माचवे जी के ये लेख उन चित्रों की भाँति हैं जिनमें विविध प्रकार के रंगों की कूचियाँ तो मारी गई हैं, किन्तु चित्र या तो अस्पष्ट हैं या केवल आंशिक रूप में ही उभर पाए हैं। कहीं-कहीं तो रंग फीके भी हैं।[1]

१. लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

विभावरी

'विभावरी' श्री नीरज की ४० कविताओं का संग्रह है, जिसमें ३८ गीत हैं और २ गद्य-काव्य। कविताओं में कवि का सबसे प्रबल स्वर संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निराशा का है। इसी-लिए अधिकांश कविताओं में कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से यही बात कही है कि संसार में स्थायी और सुखद वस्तु कुछ नहीं है, धरती, आकाश और समुद्र सब नाश की गोद में विश्राम कर रहे हैं और ज़िन्दगी एक विवशता है। नीरज जी की कविता में बड़े वेग से जो यह नाश का चित्रण हुआ है यह क्यों? नाश-भावना से प्रेरित काव्य-सौन्दर्य जहाँ उनके लिए गौरव की वस्तु है वहाँ हमारी समझ में युग के दायित्व से भागने की भी वस्तु है। हो सकता है कि नीरज जी युग की माँग को महत्त्व न देकर युग-युग की भावना को ही वाणी के माध्यम से प्रचारित करना चाहते हों, पर तब भी हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'मृत्युवाद' ही युग-युग की भावना नहीं है, 'जीवन' भी युग-युग की भावना है; और आज, जब कि राष्ट्र जीवन मरण के संकट में है, एक सशक्त स्वर के कवि से अधिकार पूर्वक यह माँग करना अनुचित नहीं है कि वह पिष्टपेषण के दोष को अपनाकर नाश का गीत न गाए।

यह हम इसलिए और भी कहते हैं कि नीरज जी की लेखनी में शक्ति है और वे प्रेरक और गतिवान कविताएँ भी लिख सकते हैं। हमें विश्वास है, नीरज जी अपने 'जनपद की धूल' गद्य-गीत की भावना को अपना लक्ष्य बनायेंगे। **'स्वर्ग तो केवल कल्पना-लोक है, उसे यदि तू चाहे तो पृथ्वी पर ही बना सकता है, पर शासन यदि चाहता है तो जा, जनपद की धूल मस्तक पर धारण कर, तुझे त्रिलोक का राज्य प्राप्त हो जायगा।'** उन्हीं के शब्दों को लेकर हम उनसे यह सब इसलिए कहना चाहते हैं कि, **'करने को निर्माण मगर जग में वीरान अभी बाकी है।'**

नीरज जी की कविताओं में दृष्टिकोण की असामयिकता भले ही हो, पर उनकी अनुभूति की सचाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर सबसे बड़ी विशेषता भाषा-शैली की है। उर्दू-मिश्रित सरल भाषा में अपनी गहरी-से-गहरी बात को व्यक्त कर देने में सम्भवतः नीरज जी आधुनिक तरुण कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। ऐसा लगता है कि अनायास उनकी अनुभूति इस भाषा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर गई है।

उनके संग्रह पर आदर्श वाक्य की भाँति ये पंक्तियाँ अंकित हैं: **'आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।'** हम उनके इस मनुष्य-प्रेम का आदर करते हैं, पर यह मनुष्य-प्रेम केवल नारी तक ही सीमित होकर न रह जाय, इस ओर कवि को सतर्क रहना है और पीड़ित मानवता का गीत भी गाना है। अशा है कवि इस ओर गहराई से सोचेगा।[1]

●

१. लेखक—नीरज, प्रकाशक—साधना प्रकाशन, कानपुर।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अक्षयचन्द्र शर्मा

मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह

'मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह' निःसन्देह मीराँ के पदों का बृहत् संग्रह है; इसका सम्पादन श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने अत्यन्त श्रम पूर्वक किया है। यदि सम्पादिका में श्रम और लगन के समान भाव-विषयक तल-स्पर्शी अन्तर्दृष्टि और भाषा-विवेचिनी विद्वत्ता होती तो यह कार्य मीराँ-साहित्य-परम्परा में शीर्ष-स्थानीय होता। इस संग्रह का महत्त्व एक-मात्र संग्रह की दृष्टि से ज्यादा है और विवेचन की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम। सम्पादिका ने मीराँ-काव्य-जिज्ञासुओं के सम्मुख बहुत-सी कच्ची-पक्की सामग्री जुटा दी है, जिसको आधार बनाकर मीराँ के अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सम्पादिका ने भाव को स्पष्ट करने के लिए फुटनोट में कुछ शब्दों का अर्थ दिया है। भूमिका-लेखक श्री श्रीकृष्णलाल के कथनानुसार इससे मीराँ के भाव स्पष्ट हो गए हैं। पर यह सही नहीं। सम्पादिका शब्दों का अर्थ स्वयं कम समझती हैं, इससे भावों की अस्पष्टता ही बढ़ी है। स्थान-स्थान पर जो शब्दार्थ दिये गए हैं, वे प्रायः अशुद्ध हैं।

'शबनम' ने पहला शब्दार्थ 'बिस्वा बीस' का लिखा है, पर बिस्मिल्लाह ही गलत। 'बिस्वा बीस' का अर्थ 'शुभ' कहाँ से आया; राजस्थानी भाषा में आज भी इसका अर्थ 'एकदम-सही' प्रचलित है : 'सुपण-बिस्वा बीस।'

चोरी करूँ न मारगी (पृष्ठ ६) 'मारगी' का अर्थ कुमार्गी होना नहीं, बटमारी करना है।

'कांकड़ करहा झुकाय पिया म्हारो गिरधारी।' (पृष्ठ ७) इसके सीधे-से अर्थ में सम्पादिका उलझ गई। करहा का अर्थ मालूम न होने से सारी गड़बड़ हुई। इस पंक्ति का अजीब अर्थ लिखा है : 'सरहद ने अपने शिखर झुका दिए।' लिखने को तो लिख गईं, पर भाव कुछ बैठा नहीं, तो फिर घींगा-धींगी से दूसरा अर्थ (?) निकाला गया : 'अर्थात् सरहद के लोगों ने बारात सजाकर आते हुए राणा का विशेष स्वागत किया।' उक्त पंक्ति का सीधा-सा अर्थ है—'हे सखी! राणा का ऊँट गाँव की सीमा पर आ पहुँचा, पर मेरे तो पति गिरिधर हैं।' यह पद विवाह-प्रसंग का है। सखी से मीराँ की बातचीत हो रही है। राजस्थान में दूल्हा ऊँट पर सवार होकर जाता है। बस, यही इसमें निर्देशित है। 'करहा' का अर्थ ऊँट होता है, यह शब्द आज भी राजस्थान में प्रचलित है। विवाह की शुभ वेला में 'करला' (ऊँट का गीत) गाया जाता है। संस्कृत के 'क्रमेलक' से बिगड़कर 'करला' या 'करहा' शब्द बना है, यही अंग्रेजी में 'केमल' बन गया है। वीर-काव्यों व लोक-गीतों में यह शब्द भरा पड़ा है :

'एकर स्यां मारूजी करला पाछा जी मोड़
ओल्यूं घणीं आवै म्हारे बाबा सारी।'

[हे प्रिय! एक बार, केवल एक बार, ऊँट को वापस मोड़ लो। मुझे मेरे पिता की मधुर याद आ रही है।]

कामिण कलस सँवारि (पृष्ठ ८) में कामिण का अर्थ दिया है घर में काम करने वाले नौकर। यह अर्थ एकदम अशुद्ध है। सही अर्थ है—सुन्दरियाँ (मंगल) कलश सजा रही हैं। विवाह के समय सुन्दरियाँ मंगल-कलश सजाकर सूण (शकुन) दिया करती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्पादिका ने 'ओलमा' का अर्थ जगह-जगह 'शिकायत' लिखा है, इसका अर्थ उपालम्भ या उलहना है। शिकायत और उलहना पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'आई मिल्यो मोहि सागी रे' (पृ० ५८) इसमें 'सागी' का अर्थ 'स्वयं' लिखा है, जबकि इसका अर्थ है; वही (सेम)। 'मेरे भांवे' (पृ० ६८) में 'भांवे' का अर्थ 'लगती है' किसी तरह नहीं लगता; 'मेरी बला से' इसका अर्थ है, जो आज भी इसी अर्थ में राजस्थानी में व्यवहृत होता है। 'पातलियो साँवरियो लोभी' (पृ० ६६) में 'पातलियो' का अर्थ सुगठित शरीर वाला नहीं, 'पतले शरीर वाला' है। गीतों में नायक के सुन्दर विशेषणों में यह भी एक विशेषण है।

सम्पादिका ने 'गिरधर म्हारो मोड़' (पृ० ६५) में मोड़ के तीन अर्थ लिखने का व्यर्थ कष्ट उठाया, मोड़ का असली अर्थ 'मौर' (सिरमौर) न जाने कैसे छूट गया। 'राणाजी ओठी भेज्या' (पृ० ६७) में 'ओटी' का अर्थ 'पत्र' लिखा है। ओठी का अर्थ है—ऊँट-सवार। यह शब्द लोक-गीतों में राशि-राशि भरा पड़ा है। 'पणिहारी ऐ लोय' गीत में भी यह शब्द आया है : 'होज्या ओठीड़ै रै लार।'

'ढोल्यो' शब्द मीराँ के पदों में बार-बार आया है :

'(१) जाजम दीनी बैसणो कोई ढोल्यो दीनो ढाल (पृ० १०१)

(२) आवण री बिरियाँ भई जी, अब महलां ढोल्यो ढाल' (पृ० १३७)

सम्पादिका ने 'ढोल्यो' का अर्थ किया है 'मूँज के बनाये हुए छोटे पलंग, मचिया' तथा दूसरे स्थान पर अर्थ दिया है 'अतिथि अभ्यागत के लिए बनाये गए छोटे पलंग।' ढोलिया मूँज का नहीं, सुरंगी नीवार से बनाया जाता है। यह अभ्यागत के लिए नहीं, प्रिय के लिए बनाया जाता है। महल में ढोलिया ढाला जाता है। यह छोटा नहीं, बड़ा होता है। ढोलिया तो केलि-पर्यंक है। ढोला (प्रिय) जिस पर पोढ़े—वह ढोलिया। लोक-गीतों में भी प्रोषित-पतिकाएँ इसी 'ढोलियो' को सजाकर प्रतीक्षा करने की बात कहती हैं :

'बादल वर्णी सेज बिछाय
चन्दा के च्यानणिये ढालूँ ढोलियो जी म्हारा राज।'

मीराँ के पदों में 'कालर' शब्द दो-तीन जगह आया है, पर इसका सही अर्थ कम ही समझा गया है :

'देखि विराणो निवाण कूँ हे क्यूँ उपजावे खीज
कालर आपणो ही भलो हे जामे निपज्यै चीज' (पृ० २०६)

प्रसंग से स्पष्ट है कि 'कालर' शब्द नीवाण का विलोम शब्द है। नीवाण का खेत सबसे ज्यादा उपजाऊ होता है। कालर ताल की चिकनी मिट्टी को कहते हैं, यह अनुर्वर-प्राय होती है। दूसरे का उपजाऊ खेत किस काम का, अपना कम उपजाने वाला खेत भी अच्छा। इसके द्वारा एकनिष्ठ प्रेम की दृढ़ता व्यंजित की गई है।

इस प्रकार और भी बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, इनसे स्पष्ट है कि सम्पादिका राजस्थानी भाषा और जीवन से पूर्ण परिचित नहीं हैं, इसलिए यह सम्पादन-कार्य इतना सफल न बन पड़ा।

मीराँ के पदों को विभिन्न शीर्षकों में बाँटकर सम्पादिका ने अपनी सूझ-बूझ का पूरा परिचय दिया है। इस प्रकार के वर्गीकरण से मीराँ के भिन्न-भिन्न प्रभाव-स्रोतों का सम्यक् रूप से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अध्ययन किया जा सकता है। पदों के पाठान्तरों की विवेचना गहराई से करने का प्रयत्न है। पदों के भाव-वैषम्य व असंगतियों की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है, जो इस बात की सूचना है कि सम्पादिका ने अपने बूते के अनुसार पूरा प्रयत्न किया है।

पर यह कार्य राजस्थानी इतिहास, जीवन व भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् की अपेक्षा रखता है—तभी मीराँ-विषयक अध्ययन आगे बढ़ाया जा सकेगा। 'म्हारो दरद न जाणै कोय' को गीतों में गाने वाली मीराँ की चर्चा जितनी है, समझने का प्रयत्न उतना ही कम। मुंशी देवीप्रसाद जी ने १९५५ में मीराँबाई की जीवनी प्रकाशित की थी, यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अनुसन्धान के साथ लिखी गई है। राजस्थानी भाषा के गम्भीर विवेचक श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'मीराँ-मन्दाकिनी' में मीराँ के पदों को अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध रूप में उपस्थित किया था, यह लघु प्रयत्न मात्र था। आशा थी कि पुरोहित हरनारायण जी इस कार्य को पूरा करेंगे, पर उनके स्वर्गवास से यह कार्य अधूरा रह गया। इस स्थिति में चिर-प्रतीक्षित कार्य को श्रीमती पद्मावती ने आगे बढ़ाने का जो शुभ संकल्प किया है, वह सब प्रकार से श्लाघ्य है। इससे विद्वान् प्रेरणा पा सकें तो उनका यह प्रयत्न अभिनन्दनीय ही रहेगा।[1]

डॉक्टर रघुवंश

प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर

इधर हिन्दी-साहित्य में लघु उपन्यासों का प्रचलन कुछ अधिक हो गया है। इसका एक कारण तो यह भी है कि आज हजार–बारह सौ पेज के उपन्यास पढ़ने का समय और धैर्य अधिक पाठकों में नहीं है। परन्तु एक बात यह भी है कि बड़े उपन्यास में जीवन का जितना बड़ा कैनवेस लेना होता है, उसका निभाना उतना ही कठिन है। उसके लिए जीवन का व्यापक अनुभव अपेक्षित है। इस दृष्टि से नवीन उपन्यासकारों ने लघु उपन्यासों से प्रारम्भ किया है, यह उनके विकास-क्रम की दृष्टि से अच्छा रहेगा। नवीन का अर्थ यह नहीं कि अभी इन लेखकों की प्रथम कृतियाँ ही हमारे सामने हैं, वरन् इस अर्थ में कि अभी इन्होंने प्रारम्भ किया है और इनसे हमारे साहित्य को बहुत अधिक आशा है। यहाँ मैं पिछले और नवीन लेखकों का तुलनात्मक लेखा-जोखा लेने नहीं बैठा हूँ, परन्तु इतना कह देना चाहता हूँ कि इन नवीन उपन्यासकारों में नवीन सम्भावनाएँ हैं। ये अपने दृष्टिकोण में कथा-शिल्प, सामाजिक आदर्श तथा भाषा, सभी प्रकार से पिछले लेखकों से भिन्न हैं और इनमें नई शक्ति है, जो अवसर पाकर साहित्य में नवीन स्तर स्थापित कर सकेगी।

यहाँ मैं तीन लघु उपन्यासों को ले रहा हूँ; जनार्दन मुक्तिदूत का 'अधूरा-उपन्यास', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' और लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप'। तीनोंही लघु उपन्यास हैं, जिनमें उपन्यासों के नवीन युग का स्तर पहचाना जा सकता है।

---

१. सम्पादिका—पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक—लोक-सेवक प्रकाशन, काशी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन तीनों उपन्यासों को यहाँ एक साथ समीक्षा के लिए लेने का अर्थ यह नहीं है कि इनमें अत्यधिक समानता है। लेकिन समानता न हो ऐसी बात भी नहीं है। इन तीनों में कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने में नवीन शिल्प-विधि अपनाने की कोशिश की गई है। मुक्तिदूत के उपन्यास में एक नया प्रयोग है। प्रमुख पात्र पद्मकान्त अपने जीवन के उपन्यास का स्वयं लेखक है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह उपन्यास आत्म-कथा के रूप में लिखा गया है। पद्मकान्त का चरित्र उपन्यासों की प्रेरणा से गठित है और वह अपने जीवन को उपन्यास के रूप में ग्रहण करता है। उसका जीवन अपनी कठोर—विषम परिस्थितियों में गुज़र रहा है और वह उन्हीं में से अपने उपन्यास का कथानक चुनता है, घटना-क्रम उपस्थित करता है। उसका उपन्यास केवल समस्याएँ प्रस्तुत करता है—व्याख्या तथा समाधान उसके अपने जीवन में मिलता है। इस प्रकार लेखक के शब्दों में ही "**'अधूरा उपन्यास' नाम-भर है, वास्तव में है यह पूरा उपन्यास।**" पद्मकान्त की औपन्यासिक वृत्ति जहाँ उसे अधूरेपन में छोड़ देती है, वहीं मूल उपन्यासकार ने अनुराधा के माध्यम से अपने उपन्यास को पूरा किया है। इस उपन्यास में अनुराधा के चरित्र का उपयोग, क्या शिल्प की दृष्टि से और क्या कथानक की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

'रुद्र' जी का उपन्यास 'बहती गंगा' अपने ढंग का नवीन प्रयोग है। शायद बँधी-बँधाई परम्परा पर चलने वाले लोग इसे उपन्यास स्वीकार न भी करें। पर लेखक के ही शब्दों में "**प्रस्तुत 'बहती गंगा' की सत्रह तरंगें हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई हैं**" वैसे देखने पर सचमुच इसमें अलग-अलग कहानियों तथा रेखा-चित्रों का संग्रह जान पड़ता है। पर बात इतनी ही नहीं है। इन सभी कहानियों में आने वाले चरित्रों तथा घटनाओं में काल और घटना-क्रम का सम्बन्ध भले ही न हो, पर एक अद्भुत भाव-संयोग है। इस लघु उपन्यास में प्रधानता काशी नगरी की है—वही जैसे प्रधान पात्री है। भिन्न-भिन्न पात्र-पात्रियाँ और समय-समय पर होने वाली घटनाएँ तो उसीके जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ-भर हैं। विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पड़ता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है। कहीं भी इस बात का आभास नहीं होता कि कोई अध्याय भिन्न कथा के रूप में है, यद्यपि दो भिन्न अध्यायों में चरित्रों की आवृत्ति कम ही हुई है और घटनाओं में शृङ्खला-क्रम भी नहीं है। पर जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोड़ता है, दूसरा अध्याय उसीकी भूमिका पर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे अध्याय में लेखक ने काशी के दो शताब्दियों के जीवन को प्रत्यक्ष और सजीव किया है। इसमें क्या इतिहास, क्या जनश्रुति और क्या कल्पना, सभी ने एकरस सहयोग दिया है। कहानियों में इस प्रकार के प्रयोग पहले भी किये गए हैं, पर उपन्यास के रूप में यह पहला सफल प्रयास है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में यद्यपि कथा कहने की शैली सहज है, पर उसके क्रम को कुछ बदलकर शिल्प-विधान में अधिक उत्कर्ष उत्पन्न किया गया है। कहानी को अन्त से आरम्भ करना नया शिल्प नहीं है, पर इस लघु उपन्यास में इसका प्रयोग सफलता की दृष्टि से बहुत अच्छा बन पड़ा है। जिस तीव्र संवेदना को लेखक इस छोटे-से उपन्यास में उभारना चाहता था, वह इस प्रयोग में और भी सघन और तीखी हो गई है। कथानक को उत्तर भाग में संवेदनात्मक चरम तक ले जाकर छोड़ दिया गया है, और उसी तीव्र भावात्मक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूमिका पर सम्पूर्ण कहानी प्रतिघटित होकर फिर उसी चरम पर आ जाती है। उत्कर्ष भाग में तो कथानक का समाहार-भर है। कथानक में शिल्प-विधि-सम्बन्धी प्रयोग के लिए सम्भवतः लघु उपन्यास अधिक उपयुक्त हैं। प्रयोग और सफलता की दृष्टि से ये लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।

कथानक और चरित्रों की दृष्टि से इन उपन्यासों में स्वभावतः विस्तार नहीं है। 'बहती गंगा' के विषय में यह बात उचित नहीं जान पड़ेगी, क्योंकि इसमें घटनाओं की योजना लम्बे काल में फैली हुई है और उसी प्रकार पात्रों की संख्या भी कम नहीं है। परन्तु यदि इस उपन्यास पर उसी आधार पर विचार किया जाय, जिस पर इसे उपन्यास कहा जाता है, तो यह बात अधिक असंगत नहीं लगेगी। कहा गया है कि इस उपन्यास में काशी नगरी के चरित्र को भावात्मक प्रभाव की दृष्टि से चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से जिस प्रकार काल का विस्तार नष्ट हो जाता है, घटनाओं का क्रम महत्त्वहीन हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न पात्र काशी के जीवन की अद्भुत मस्ती, साहसिकता, और स्वतन्त्रता-प्रियता को व्यक्त करने के माध्यम-मात्र रह जाते हैं। चाहे १८वीं शती के दाताराम नागर, भंगड़ भिक्षुक हों, या १६वीं शती के रामदयाल चित्रकार झालर ठाकुर और शिवनाथबहादुरसिंह हों और चाहे वर्तमान युग के टिन्नू, शहाबुद्दीन, बेनी या पद्मानन्द आदि हों, सभी में काशी के अनुरूप मस्ती, वीरता तथा प्रेम है। इसी प्रकार सभी-नारियाँ वीरता और प्रेम के लिए उत्सर्ग करने वाली हैं, चाहे रानी पन्ना, सुन्दर गौनहारी और गोरी हों, चाहे अमीरन, रखिया और गोदावरी हों, अथवा चाहे दुलारी, तारा या गंगा हों, सभी में एक तेज है, स्वाभिमान है और मर-मिटने की चाह है। कथानक में अनेक बार पात्रों से एक-सूत्रता भी कायम रखी गई है, पर विच्छिन्न होकर भी कथा अपने वेग में एकधार बहती गई है। काशी की उन्मुक्त मस्ती का वातावरण प्रस्तुत करने में लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है।

व्यक्ति-प्रधान तथा मनोविश्लेषण-परक उपन्यासों में जिस प्रकार दो-तीन पात्रों को ही प्रधानता मिलती है और अन्य पात्र उपस्थित होकर भी तटस्थ रहते हैं, वह बात इन लघु-उपन्यासों में नहीं है। इनमें कम पात्र उपस्थित हुए हैं या कम घटनाएँ चुनी गई हैं, तो केवल इस दृष्टि से कि उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत नहीं था। वैसे ये सभी उपन्यास व्यक्ति-प्रधान नहीं कहे जा सकते, इनमें समाज की पूर्ण भूमिका है। यही कारण है कि इनमें छोटे और साधारण पात्र भी नगण्य नहीं जान पड़ते, वे कथानक में अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करते हैं। 'अधूरा उपन्यास' में पद्मकान्त, राजो तथा अनुराधा प्रधान पात्र जान पड़ते हैं, क्योंकि कहानी का मूल ढाँचा इन्हीं को घेरे हुए है। पर कथानक के विस्तार में अनेक पात्र आये हैं और उनका भी समान महत्त्व है। इस दृष्टि से तो प्रधान पात्रों को कोई विशेष विस्तार भी नहीं मिला है। पद्मकान्त के मामा रमाचरण, उनके मित्र रामलाल तथा रामेश्वरी के पति ने कथानक के विकास में योग दिया है, साथ ही सामाजिक ढाँचा भी इनके माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मामी, छुटंकी की माँ, राजो की माँ तथा रामेश्वरी आदि नारी-पात्रों का सहयोग कथा में आवश्यक है और वे सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करने में भी सहायक हुई हैं। इन समस्त पात्रों से लेखक ने सफलता पूर्वक सामाजिक ढाँचे को चित्रित किया है, उसे कहीं अपनी ओर से व्याख्या करने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की जरूरत नहीं हुई। चरित्रों के माध्यम से कथानक सहज भाव से आगे बढ़ता गया है, लेखक ने घटनाओं को अपनी ओर से गढ़ने या उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया, यही उसकी सफलता है।

श्री लक्ष्मीनारायणलाल अपने उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में अधिक सामाजिक अन्तर्दृष्टि के साथ हमारे सामने आये हैं। उनके पिछले उपन्यास 'धरती की आँखें' में ग्रामीण जीवन का चित्र था, पर वह कल्पना के रंगों से अतिरंजित तथा भावुकता से उद्वेलित था। उसमें लेखक की शक्ति और प्रतिभा के अंकुर अवश्य थे, पर संयम तथा अन्तर्दृष्टि की कमी थी। इस उपन्यास में देहात और कस्बे के जीवन का सच्चा नक्शा है—बिना अतिरंजना और कल्पना के योग के। लेखक की भावुक प्रकृति इसमें भी परिलक्षित हुई है, पर वह कथा को संवेदक बनाने में सहयोगी हुई है। इस लघु उपन्यास की आधार-भूमि सामाजिक है, इसमें देहाती प्रकृति तथा समाज का बहुत ही सूक्ष्म वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें आनन्द, सुभागी, रामानन्द तथा कामताप्रसाद तहसीलदार प्रमुख पात्र अवश्य हैं, पर सामाजिक आधार-भूमि पर जमुना, वंती जीजी, रत्ती, पारो, बुआ, सरजू आदि का कम महत्त्व नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों को अधिक स्पष्ट करने तथा समस्याओं को उपस्थित करने की दृष्टि से पदारथ काका, जग्गी पण्डित से लेकर मुन्शी रामरखलाल तथा गिरजादयाल तक का महत्त्व है। इस उपन्यास में सिकन्दरपुर तथा पुरैना के माध्यम से उत्तर प्रदेश के गाँवों और रामनगर के माध्यम से यहाँ के कस्बों के विषाक्त जीवन को बहुत निकट से स्पर्श किया गया है। कथानक की गति जितनी तीव्र है, पात्रों का विश्लेषण भी उतना ही गहरा है, यद्यपि अनेक स्थलों पर ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने जल्दबाजी की है और चरित्र के विषय में उसकी दृष्टि तल तक नहीं पहुँच सकी है।

साहित्यिक के लिए सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न है ही, पर आज के युग में वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भुला नहीं सकता। इस दृष्टि से हमारे इन लेखकों ने प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर अंकित किये हैं। यह व्यक्ति-परक उपन्यासकारों की परम्परा से भिन्न है। जो केवल मतवादों की व्याख्या तथा स्थापना को ही सामाजिक तथा स्वस्थ परम्परा मानते हैं, संयोग से मेरा मत उनसे भिन्न है। मैं सब मिलाकर साहित्यिक कृति की अपील पर बल देने वालों के वर्ग का हूँ। और इस दृष्टि से ये तीनों लघु उपन्यास स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। 'बहती गंगा' का स्वर बहुत-कुछ ऐतिहासिक-सा जान पड़ता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग में जिन नये मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं की ओर इसमें संकेत किया गया है वे सामाजिक चेतना के परिणाम हैं। 'अधूरा उपन्यास' का नायक पद्मकान्त तथा 'बया का घोंसला और साँप' का नायक आनन्द बहुत-कुछ सामाजिक परिस्थितियों में निष्क्रिय-से हैं, वास्तव में आज के ये प्रतिनिधि पात्र हैं। अगर ऐसा न दिखाया जाता तो ये पात्र अस्वाभाविक ही अधिक बन पड़ते। पर 'अधूरा उपन्यास' में परिस्थितियाँ स्वयं पद्मकान्त के मन को बदल रही हैं, श्रीराम तथा अनुराधा का सहयोग भी एक सीमा तक माना जा सकता है। आनन्द के मन में तीव्र आघात से लेखक ने स्वतः विद्रोह उत्पन्न किया है। यह विद्रोही भावना सामाजिक सन्तुलन का संकेत भी छिपाये हुए है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। यह बात दूसरी है कि आनन्द ने अपने मानसिक संघर्ष के इस अवसर पर आघात-पर-आघात सहकर भी वर्ग-संघर्ष पर कोई भाषण नहीं दिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रेमचन्द की परम्परा का उल्लेख मैंने अभी किया है। भाषा की दृष्टि से भी ये लेखक इसी परम्परा में आते हैं। तीनों लेखकों ने अपने-अपने ढंग से भाषा का व्यावहारिक गतिशील रूप अपनाया है। इस भाषा में सहज अभिव्यक्ति की शक्ति है। हिन्दी का अपनापन इन रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं कोई अनगढ़ रूप या प्रयोग भी मिल सकता है, पर यह जीवित भाषा का लक्षण है। इन रचनाओं को देखकर हिन्दी के लेखकों से आशा बँधती है कि वे आगे आने वाले अपने उत्तरदायित्व के योग्य अपने को सिद्ध करेंगे।[1]

●

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

नये मोड़

'नये मोड़' उदयशंकर भट्ट का दूसरा उपन्यास है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से 'नये मोड़' एक सफल रचना है। भट्टजी ने वास्तव में अपने साहित्यिक जीवन में एक नया मोड़ लिया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे यदि इस नवीन पथ पर चलते रहे तो कहीं-न-कहीं अवश्य पहुँच जायँगे।

'नये मोड़' एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें लेडी-डॉक्टर शेफाली के चरित्र को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। एक बार शेफाली का विवाह हो चुका है। पति से परित्यक्ता नारी रोगियों की सेवा में इतनी लीन हो जाती है कि वह यौवन को कुछ समय के लिए भूल-सी जाती है। परन्तु अपने हृदय के स्पन्दन को वह कब तक अनसुना कर सकती है! प्राणनाथ बैरिस्टर से प्रेम हो जाने पर भी शेफाली उससे प्रेम नहीं कर सकती। उसका पहला पति, जिसने दूसरा विवाह कर लिया है, कानून की शरण लेकर उसके विवाह को रोक सकता है। शेफाली सब-कुछ जानती थी, फिर भी उसने प्राणनाथ से विवाह करना स्वीकार कर लिया। समाज में एक भूचाल आने वाला था। 'क्या कभी ऐसा हुआ है कि एक विवाहिता नारी पति के रहते दूसरे को पति-रूप में वरण करे।' इस समस्या को लेखक ने पाठकों के सामने रखा है। यह समस्या शेफाली के समूचे चरित्र को समेट लेती है। इसी उधेड़-बुन में उसका समस्त जीवन बीत जाता है। डॉक्टरी का काम जीवन के विषाद को क्षण-भर के लिए भुलाने का उपाय है। उपन्यास में अन्य पात्र शेफाली के चारों ओर घूमते रहते हैं और उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। साधना अपने नाम को सार्थक करने वाली जीवन को साधना के रूप में अपनाती है। शुभदा में यौवन की चंचलता, मादकता और भावुकता है। हीरादेई पीड़ित और सिसकती हुई भारतीय नारी का प्रतीक है। वह जीवन-पथ पर चलते-चलते थक जाती है।

---

१. अधूरा उपन्यास : लेखक—जनार्दन मुक्तिदूत, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई। बहती गंगा : लेखक—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। बया का घोंसला और साँप : लेखक—डॉक्टर लक्ष्मीनारायणलाल, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राममोहन और प्राणनाथ के चरित्र सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता को लिये हुए हैं। चरित्र-चित्रण में प्रायः दो शैलियों का अवलम्बन लिया जाता है—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। लेखक शेफाली, शुभदा, हीरादेई, प्राणनाथ, राममोहन आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक शैली को अपनाकर स्वयं अपने शब्दों में करते हैं। वे कवि हैं, नाटककार होते हुए भी पहले कवि हैं, इसलिए उनके लिए तटस्थ रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

उपन्यास का कथानक कटा-छटा और सम्बद्ध है। कहीं-कहीं विस्तृत वाद-विवाद उसे क्षीण बना देते हैं, परन्तु उसमें अव्यवस्था नहीं आने देते। लेखक ने आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक समस्याओं पर पात्रों के द्वारा लम्बे-लम्बे परिसंवाद करवाए हैं, जिनसे घटना-क्रम की गति में बाधा पड़ जाती है। मनोविश्लेषण भी जहाँ जीवन की छाप को गहरा बनाता है वहाँ कथानक के वेग को रोकता है। शेफाली प्राणनाथ के चले जाने पर सोचती है : "क्या यह सेक्स नहीं है जो मुझे उत्साहित करता हैं, फिर क्या मेरे हृदय में ऐसी भावना नहीं उठती, क्या उसे छिपाकर एक प्रकार का आडम्बर मैं नहीं करती, फिर यही मैं कब भूलती हूँ कि मैं स्त्री हूँ·····सेक्स-वृत्ति स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रहते जा ही नहीं सकती। जिन महापुरुषों, साधु-सन्तों को हम इस भाव से ऊपर पाते हैं वे निस्पृह वीतराग होते हैं। वे समाज में नहीं रहते, किन्तु कौन कह सकता है कि उन्हें सेक्स कभी सताता ही नहीं है।" इस तरह की उधेड़-बुन शेफाली के चरित्र को तो गम्भीर बना देती है, परन्तु साथ ही कथानक का ह्रास भी करती है। 'नये मोड़' में लेखक मनोविज्ञान और दर्शन का सहारा लेता है। शिक्षित पात्र जीवन की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह इस युग की देन और पुकार है। उपन्यास में बौद्धिक दृष्टिकोण और विचारों का प्राधान्य कथानक को दबोच लेते हैं और उसे दबाकर रखते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हुए भी समस्या-मूलक है। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धान्त आप-से-आप आ जाते हैं, परन्तु 'नये मोड़' में एक निश्चित उद्देश्य है। क्या एक विवाहिता नारी, जिसका पति जीवित है और जिसने उसका परित्याग कर दूसरा विवाह कर लिया है, दूसरी शादी कर सकती है। भारतीय समाज में कानून इसकी आज्ञा नहीं देता। सामाजिक बन्धन बड़े कड़े और कठोर हैं। उपन्यास के अन्त तक पहुँचकर यह भय लगने लगता है कि लेखक शेफाली का विवाह करवा देगा, शहनाई बजकर रहेगी; परन्तु कठोर यथार्थ लेखक के हाथ पकड़ लेता है और इस सुखद परिणाम से रोक लेता है। दुःखान्त नाटकों का रचयिता इस उपन्यास को कैसे सुखान्त बना सकता था? शेफाली और शुभदा अँधेरी रात को अस्पताल से निकल पड़ीं : 'लैम्प की रोशनी में, बीच-बीच में कहीं अंधकार और कहीं प्रकाश में, वे दोनों आशा-निराशा के दोनों कदमों से डामर की सड़क पार करती जा रही थीं—दूर, बहुत दूर, किसी नये लक्ष्य को पाने के लिए, किसी 'नये मोड़' की तलाश में, जहाँ यह सब-कुछ न हो। समय के पंखों पर जहाँ विवेक नई ज़िन्दगी लिये उड़ रहा हो। वे जा रही थीं अपने चारों कदमों से रूढ़ियों को कुचलती, पुराना छोड़ती, नया नापती—हर 'नये मोड़' पर।' यह आशावाद की दृष्टि से तो सराहनीय है, पर लेखक इस पलायनवाद की धारा में बहकर यह नहीं सोचते कि केवल चार कदम किस तरह परम्परागत रूढ़ियों को कुचल सकते हैं। चार कदम, जब वे चारों ही कोमल और सुकुमार हों? फिर भी उपन्यासकार ने समस्या का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समाधान न करके अपनी रचना के स्तर को कलात्मक दृष्टि से ऊपर उठा दिया है और जीवन के समीप ला दिया है। यह इसकी विशेषता है। उपन्यास की भाषा-शैली सरस और सरल है। अंग्रेजी शब्दों की भरमार होते हुए भी भाषा का प्रयोग शिक्षित समाज के अनुकूल है। अन्त में प्रेमचन्द के शब्दों में मैं इस उपन्यास को मानव-जीवन का एक सफल चित्र समझता हूँ। मानव-चित्र पर भट्ट जी ने पूरा प्रकाश डाला है और उसके रहस्यों को खोलने का पर्याप्त प्रयत्न किया है।[1]

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार ?

कला का वास्तविक उद्देश्य स्वानुभूत सत्य की अभिव्यंजना है और यह अभिव्यंजना कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी धारणा-शक्ति तथा व्यापक दृष्टि से समादृत होकर उसकी कृति में अवतरित होती है। व्यक्तित्व—उसकी सामाजिक चेतना, मानसिक स्थितियों और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सम्बद्ध रहता है, इसीके अनुसार उसकी रुचि तथा अरुचि का भी पता चलता है, इसीमें उसकी धारणा-शक्ति और व्यापक दृष्टि का लक्ष्य और साधन भी निहित रहता है। कोई घोर व्यक्ति-वादी जीवन-व्यवस्था अपनाकर भी समाज को व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता रख सकता है और कोई समाज का सेवक होकर भी विकृत कुण्ठाओं का ग्रास बन सकता है। इसीलिए कला के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में अक्सर बहुत से नारे अथवा बहुत से 'वाद' अपना सफल प्रचारात्मक महत्त्व रखते हुए भी उन सभी विकृतियों के ग्रास हो जाते हैं।[2]

कृष्णचन्द्र प्रगतिवादी विचार-धारा के प्रमुख समर्थकों में से हैं और उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वह फ्रायड की उन बहुत-सी सेक्स-सम्बन्धी धारणाओं के कट्टर विरोधी होंगे जो तथाकथित प्रगतिशील तथ्यों को तिरस्कृत करके जीवन का सर्वथा भिन्न अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। शायद वह यह भी जानते होंगे कि 'डिकेडेण्ट' बूर्जुआ सोसाइटी के विरोध में कुछ-न-कुछ शक्तियाँ ऐसी होंगी जो सर्वदा जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगी। किन्तु जहाँ तक उनकी कृतियों का सम्बन्ध है खासकर—'तूफान की कलियाँ', 'सराय के बाहर' और 'पाँच रुपये की आज़ादी'—इन तीनों में उनकी अन्तर्मुखी चेतना सेक्स की ऐसी विषम ग्रन्थियों में उलझी हुई है कि इनको न तो वस्तु-सत्य-चित्रण के आधार पर उचित कहा जा सकता है, न ही उनकी व्याख्या को किसी वैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्थान-विशेष की परम्परा कहकर

---

१. लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली।

2. "Whatever feelings, art proposes to excite in us, they ought always to be restrained and governed by the feeling of beauty. If it produces only pity or terror, beyond a certain limit, above all physical pity or terror, it revolts, it ceases to charm, it nurses its proper effect, for an effect which is foreign to it and vulgar."

—Victor Cousin.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

टाला जा सकता है। निश्चय ही इन कृतियों में एक विशेष प्रकार की विकृति है जो स्वस्थ साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध है। वे जीवन-तत्त्व, जो एक उच्च कलाकृति[1] से अपेक्षित हैं, उनमें से एक भी उचित रूप में नहीं हैं और अगर हैं भी तो इतने कमज़ोर कि वासना की भूख में वे सभी पथ-भ्रष्ट, लक्ष्य-भ्रष्ट और अन्धे हैं।

इस प्रकार कृष्णचन्द्र की तीन पुस्तकें—'तूफ़ान की कलियाँ' (उपन्यास), 'सराय के बाहर' (एकांकी रेडियो नाटक) और 'पाँच रुपये की आज़ादी' (कहानी-संग्रह)) उर्दू-लेखकों और कथाकारों के उस प्रयास की प्रतीक हैं जो मुन्शी प्रेमचन्द की सफल और सजीव परम्परा का विकृत और असफल अनुकरण-मात्र बनकर रह गया है। पिछले कुछ दिनों से उर्दू के लेखकों द्वारा यह परम्परा बड़ी तेज़ी से अपनाई जा रही है और काफी उर्दू का साहित्य नागरी लिपि में मौलिक हिन्दी-कृति के नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रयास में इस बात की चेष्टा की जा रही है कि उर्दू-कथा-साहित्य को नागरी लिपि और यहाँ-वहाँ हिन्दी के वातावरण में ढालकर प्रस्तुत किया जाय और उस सफल प्रवृत्ति को फिर से प्रचलित किया जाय, जो प्रेमचन्द जी की स्वानुभूति और आत्म-प्रेरणा के फलस्वरूप जागरूक हुई थी। कृष्णचन्द्र उर्दू के सफल कथाकारों में से माने जाते हैं और कुछ आलोचक तो उन्हें प्रेमचन्द जी के बराबर भी कहने लगें हैं, किन्तु अनुकरण और स्वानुभूति में मौलिक अन्तर होना स्वाभाविक है। कृष्णचन्द्र और प्रेमचन्द की शैली, शिल्प-विधान, कथावस्तु, दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन में वही अन्तर है जो एक आत्म-प्रेरित और स्व-स्थापित कलाकार में होता है। यही कारण है कि उर्दू की बहुत-सी सफल कहानियाँ हिन्दी में अनूदित होने पर वातावरण की भिन्नता के कारण और भाषा तथा भाव-शिल्प में पृथक् होने के कारण उतनी सफल नहीं होतीं। क्योंकि :

● प्रेमचन्द भारतीय जीवन और संस्कार के मर्मज्ञ थे। उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भारतीय और व्यापक मानववादी था। वह एक साधारण भारतीय जीवन और उसके विभिन्न अंगों को गहराई की दृष्टि से देखते थे, मानवीय संवेदनाओं के प्रति ईमानदार थे। कृष्णचन्द्र के दृष्टिकोण में उस व्यापक मानववाद का अभाव है। 'अन्नदाता' के बाद का युग उनकी कला की उस कठोर प्रतिक्रिया का परिचायक है जिसमें कृष्णचन्द्र कथा-साहित्य की अपेक्षा 'वाद' विशेष को महत्त्व देने लगे। फलस्वरूप उनकी तीखी शैली वास्तविक जिज्ञासु और स्वानुभूत शैली से पृथक् अतिवादी संकीर्णता की दलदल में फँसकर लचर और पोली हो गई। दृष्टिकोण में परिवर्तन आने से 'वस्तु-सत्य' की उपेक्षा और असन्तुलित भावनाओं का प्रतिपादन भी स्वाभाविक हो गया। आज का उनका साहित्य कुछ बेढंगे चित्रों, खुरदरे, अनगढ़, अव्यवस्थित और असंयमित पात्रों; भूख, रोटी, सेक्स, घृणा और वासना की रुग्ण ग्रन्थियों में डूबता-उतराता-सा प्रतीत होता है और उनकी कला एक प्रेत-काया की-सी आत्मा की खोज में भटकती-सी मालूम होती है।

● प्रेमचन्द की समस्याएँ वास्तविक जीवन की समस्याएँ थीं। न तो वह उस

---

1. "For a work which has no correspondence with the facts of life or which violates any of the universal or fundamental beliefs of mankind is useless, however graet its purely artistic qualites may be."

—Worsfold.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीवन से हटकर केवल कल्पना-लोक में भटकते थे और न वह उस समस्या को खींचकर इतना बढ़ाते थे कि वह बीच ही से टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाय। अपनी कृतियों में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों को इतनी सजगता और कर्मठता दी है कि वह लेखक का केवल सहारा-मात्र लेते हैं, उसकी उँगली पंकड़कर या स्वयं उसके कन्धों पर निर्जीव शव के समान नहीं चलते। यही कारण है कि कट्टर आर्यसमाजी और गांधीवादी होते हुए भी प्रेमचन्द ने अपनी कला-कृतियों में अपना व्यक्ति उसी अंश तक आने दिया है जिस अंश तक वह अनिवार्य था। इसके विपरीत कृष्णचन्द्र, चाहे वह काश्मीर की कहानी का वर्णन अखरोट या चनार के वृक्षों तले करें, चाहे बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में प्रवेश करके उसका रहस्योद्घाटन करें, उनकी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ प्रत्येक जगह स्पष्ट उभर आती हैं। कृष्णचन्द्र के पात्रों को देखकर ऐसा लगता है जैसे उनका स्वाभाविक रूप कुछ और है और जैसे वह स्वयं पाठकों से चीख-चीखकर यह कह रहे हों कि उनका वास्तविक रूप कृष्णचन्द्र ने कुत्सित कर दिया है। वैसे उस कुरूपता से यदि कुछ भी झलक मिल सके तो वही उनका वास्तविक रूप है।

प्रेमचन्द जी जीवन-सत्य के पोषक थे, इसलिए वह वस्तु-सत्य का निर्वाह भी बड़े सरल स्वाभाविक ढंग से करते थे। कृष्णचन्द्र वस्तु-सत्य के दृग्-भ्रम में जीवन-सत्य की अनुभूति से शून्य हो जाते हैं। वह हर चेहरे पर अपना रोगन लगाना चाहते हैं, अपने नियन्त्रण में रखकर उसे अपाहिज और लँगड़ा बना देते हैं। उनके प्रत्येक पात्र में सस्ते और भद्दे 'सेक्स आबसेशन्स' हैं। यों तो प्रेमचन्द भी विद्रोही थे। कृष्णचन्द्र के विद्रोहियों की भाँति वह 'लाइसेन्स' नहीं लेते थे और न ही वह कायर या भीरु थे, इसीलिए प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र को एक साथ बैठाकर समान तुलना करने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रेमचन्द की आँखों पर न तो कोई चश्मा था, न हृदय में कोई कुण्ठा ही थी। उनके अन्दर एक पैनी दृष्टि थी, जो जीवन के विशाल फलक से प्रेरणा ग्रहण करती थी और यह अन्तर एक उच्च कोटि के कलाकार और एक मध्यम श्रेणी के कलाकार में सदैव रहा है।

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समय स्वयं उर्दू के कथा-साहित्य में बड़े नये परिवर्तन आ चुके हैं और उर्दू कथा-साहित्य में कुछ ऐसे कथाकार भी हैं जो किसी भी भाषा के उच्च कथाकारों के समक्ष बैठाये जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से अहमद नदीम क़ासमी, सआदत हसन मण्टो, कन्हैयालाल कपूर, राजेन्द्रसिंह बेदी, इस्मत चुगताई तथा बलवन्तसिंह उल्लेखनीय हैं। ऐसा लगता है कि कृष्णचन्द्र जी पिछले दस सालों में केवल एक ही धुरी पर बैठकर एक ही दिशा में देखते रहे हैं। उनकी दृष्टि सर्वग्राही न होकर एकांगी और कुछ अंशों में Colour Blind सी हो गई है।

पुस्तकों के शिल्प और रचना-विधान पर विचार करने के पूर्व दो-तीन बातें विशेष रूप से कहना आवश्यक है—पहली तो यह कि जिस प्रकार की भाषा इन पुस्तकों में प्रयोग की गई है उसमें और मौलिक हिन्दी-शैली में बड़ा अन्तर है। किसी भी लेखक का यह दावा सदैव ग़लत सिद्ध होगा यदि वह इस बात की सजग चेष्टा (Conscious Effort) करेगा कि वह हिन्दी भाषा-भाषी साहित्यिकों को एक नई भाषा देने के लक्ष्य से कुछ कर रहा है। 'पाँच रुपये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की आजादी' नामक पुस्तक की भूमिका में प्रस्तावित वाक्य "यदि संस्कृत के विकृत रूप को हिन्दी मानकर चलेंगे तो वह चलाये तो चल लेगी पर स्वयम् चलकर बढ़ेगी नहीं" इस बात को प्रमाणित करता है कि कृष्णचन्द्र जी ने जान-बूझकर कुछ नया भाषा-प्रयोग करना चाहा है और निश्चय ही वह इस प्रयास में भी सफल नहीं हुए हैं।

हिन्दी-कथा-शैली के जो सशक्त प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी', 'त्याग-पत्र', 'मुर्दों का टीला', 'संन्यासी', 'बहती गंगा', 'बया का घोंसला और साँप', गिरती दीवारें' आदि में हो चुके हैं, उनको पढ़ना तो दूर शायद उन्होंने उसके विषय में सुना भी नहीं है। इसके बावजूद अपनी २० साल पिछड़ी हुई शैली लेकर जब वे हिन्दी को शिक्षा देने चलते हैं तो निःसन्देह इस सादगी पर मर जाने की तबियत होती है। हिन्दी-उपन्यास अकृतज्ञ नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं से उसने बहुत-कुछ लिया है। शरत् और मुन्शी का उसने मुक्त हृदय से स्वागत किया है। आज भी मण्टो और बलवन्तसिंह, अमृता प्रीतम, ताराशंकर और बनफूल की गति-विधि को उत्सुकता से देखा जा रहा है। लेकिन कृष्णचन्द्र ?

एक तीसरी बात भी है; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्रगतिशील लेखक हैं इसलिए प्रगतिशील भाव-धारा से भी उनकी कृतियों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि रूप-विधान का कायल होना गुनाह है तो निश्चय ही विषय-वस्तु का विश्लेषण करके स्वस्थ, प्रगतिशील तत्त्वों की परख लेखक द्वारा अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में एक बहुत ही मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है और वह यह कि क्या 'रोटी-रोटी' चिल्लाना ही प्रगतिशीलता है, या रोटी के लिए संघर्षयुक्त प्रयत्न करना ? जहाँ तक तथाकथित प्रगतिशील भाव-धारा के माध्यम से देखने का प्रश्न है निश्चय ही ये पुस्तकें उस परम्परा को भी आगे नहीं बढ़ातीं, न तो इनमें वर्ग-संघर्ष का वैज्ञानिक विश्लेषण है और न ही सामन्तवादी, बूर्ज़ुआ, फासिस्ट शक्तियों के विरोध में उठता हुआ एक भी सशक्त स्वर। न तो इसमें किसी ऐसे समाज की चीर-फाड़ ही है जो सड़-गल रहा है और न ही उसमें एक नये निर्माण की कल्पना।

जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है उसका घटना-काल "नाईलान और प्लास्टिक का ज़माना है", फिर भी उस उपन्यास को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि कोई बीसवीं शताब्दी के युग की कहानी पढ़ रहा है। यद्यपि कहानी काश्मीर की वादियों में अंकुरित, विकसित और समाप्त होती है फिर भी काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण को छोड़कर उसमें कितना अंश वहाँ के वास्तविक जीवन का है तथा वहाँ की जनता का है यह विवादास्पद हो सकता है। सारे उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सारा काश्मीर एक 'कामरू-कमच्छा' का देश है, जहाँ केवल वासना की भूख, देह की भूख और 'पेरिडमोनियम' के सिवा और कुछ नहीं है। न तो काश्मीरियों में कोई आस्था है न विश्वास, न तो कोई सामाजिक व्यवस्था है न शासन, न वहाँ मनुष्यत्व है न ईमान। जैसे सारे-का-सारा काश्मीर अनास्थावान, निराश, दुर्बल और बिना कमर के मनुष्यों का देश है जहाँ कोई भी व्यक्ति कभी भी अपने आदर्शों से फिसल सकता है। इस प्रसंग में मैं केवल 'जहाँ फरिश्ते अण्डे बेचते हैं' शीर्षक एक छोटी-सी मराठी कहानी का संकेत करना चाहता हूँ जो 'नेहरू अभिनन्दन-ग्रन्थ' में छपी है। इस छोटी-सी कथा में एक छोटे-से काश्मीरी बच्चे के अदम्य साहस का चित्रण है, जो भारतीय फौजों को अण्डे बेचता था। कथा अत्यन्त मर्मस्पर्शी है और काश्मीर ने जिस अदम्य साहस से विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लड़ाई की थी इसका एक अद्भुत उदाहरण है। मैं सोचता हूँ यदि कृष्णचन्द्र उस कथा को फिर से लिखें तो वे अवश्यमेव उस बच्चे की कोई बहन ढूँढ़ निकालेंगे और फिर उसके गोरे जिस्म को उनकी क़लम उघाड़ना शुरू कर देगी। इस तरह प्रेमचन्द्र की परम्परा का उद्धार हो जायगा।

संक्षेप में, इस उपन्यास में यही है। शहर से गाँव जाते हुए एक नवयुवक एक पहाड़ी नवयुवती से मिलता है लेकिन बिना कुछ जाने-बूझे दोनों की 'मूक संवेदनाएँ' टकराती हैं और यंत्रवत् दोनों ही अप्रस्तावित रूप से इस स्थिति में पाये जाते हैं :

"···इस चाँदी के गुबार के हल्के-हल्के प्रकाश में अब्दुल धीरे से उठा और उसने झोंपड़ी के सामने लेटी हुई बानो की धड़कती हुई छाती पर अपने हाथ रख दिए···बानो ने कुछ नहीं कहा—उसने उस समय भी कुछ नहीं कहा जब अब्दुल ने उसे अपनी मजबूत बाँहों में उठाकर अपनी काँपती हुई छाती से लगा लिया। बानो उस समय भी चुप रही जब अब्दुल ने उसे यों उठाकर लकड़ी के बुरादे के ढेर पर पटक दिया, बानो उस समय भी चुप रही जब वह भी उसके निकट ही बुरादे पर लेट गया। अब्दुल ने हौले-हौले अपनी उँगलियों से बानो के चेहरे को अपनी ओर फेर लिया, अब्दुल ने अपने होठ बानो के होठों पर रख दिए····"

यही अब्दुल एक तरह से उपन्यास का नायक है जो एक दूसरी स्थिति में गाँव के बनिये की बीवी को अपने निकट पाकर :

"···उठकर बैठ गया। बैठकर खड़ा हो गया। खड़ा होकर उस मूरत की तरफ बढ़ने लगा। और हल्के उजाले में उसे गोमती के रहस्यपूर्ण होंठ और जादू-भरी आँखों की वहशी चमक एक अजीब-सा पैग़ाम देती हुई मालूम हुई। अब्दुल का दिल काँपने लगा—और नूराँ (बानो) बहुत दूर थी और गोमती के शरीर की पुकार बहुत निकट थी और स्वयं उसका दिल बहुत जोर-जोर से धक्-धक् कर रहा था—उसे इस जवानी में भी भय आने लगा—वह सरकते हुए सूखी घास पर बैठ गया एक दूसरे के पास-पास उसने दोनों हाथों में अपना मुँह छिपा लिया—अब्दुल ने उसे अपनी छाती से लगा लिया—'मुझे मत छुओ' गोमती ने उसे धक्का देकर कहा। अब्दुल हैरान रह गया।"

एक तीसरी स्थिति में वही अब्दुल, जो विद्रोही है, जनता का नेता बनता है, किसानों का नेता बनता है, अपनी बहन और प्रेमिका का बदला लेना चाहता है, एक अपरिचित लड़की के केवल इतना पूछने पर कि—"पहले तुम बताओ, तुमने हमारे फूलों को क्यों चूमा ?" उत्तर देता है कि—"मैं तुम्हें भी चूमने को तैयार हूँ"—और इन सबकी पराकाष्ठा तो तब पहुँचती है जब वह अपना सारा जनवादी नारा छोड़कर रजाकार-पार्टी में शामिल हो जाता है और हिन्दुओं के बारे में कहता है : "तो क्या तुम हिन्दुओं को मुसलमान देखकर खुश नहीं होते·····अगर-मगर कुछ नहीं, मैं साफ़-साफ़ पूछना चाहता हूँ·····क्या तुम इस हालत में शकुन्तला की अगवानी करते·····"

उपन्यास में केवल अब्दुल ही इन भावनाओं से पीड़ित नहीं है, उसके सभी पात्र चाहे वे ऊँचा-से-ऊँचा दर्शन ही क्यों न सोचते हों सब अब्दुल की भाँति वासना-प्रिय, बलात्कार तथा अपहरण के पक्ष में और लूट-खसोट के समर्थन में चित्रित किये गए हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि सभी पात्रों का अध्ययन निम्न लिखित रूप से किया जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास की एकरूपता केवल विकृत सेक्स के प्रदर्शन में ही है। जैसे :

इसी उपन्यास का एक दूसरा पात्र नौनिहालसिंह कहता है : "शादी में क्या धरा है ? जब तक औरत से ज़बरदस्ती न की जाय ज़िन्दगी में धरा क्या है···"[1]

राजकुमार संग्रामसिंह अंग्रेज रेजिडेण्ट की लड़की मौली के बारे में सोचता है : "इस मख़मली आरामकुरसी के सीने में अगर कोई कमी थी तो बस मौली की नाजुक बाँहों की। उसकी छाती का वह भाग, जो नंगा था···वहाँ कितनी उज्ज्वल सफ़ेदी थी···जैसे उस सफ़ेदी के नीचे से प्रभात झाँक रहा हो।"[2]

फ़ज़लू ने, जो साम्प्रदायिक विद्रोह में अञ्जुमने-मुसलमीन का नेता है, एक हिन्दू लड़की भाँगा को पकड़कर···"खींच-खींचकर अपनी गोद में लिया। और उसने पहले तो उसकी भीगी-भीगी पलकें चूम लीं, फिर उसने अपने होंठ उसके होंठों से मिला दिए। भाँगा के होंठ शहद की तरह उसके होंठों में घुल गए और यह मधु चुम्बन उसके होंठों में ऐसा रचता गया जैसे समुद्र की लहर प्यासे रेत के अन्दर धँसती चली जाती है।"[3]

मीराँ शाह, जो काश्मीर के सारे अफ़सरों की मेहमानदारी अपनी पत्नी गोमती के शरीर के माध्यम से करता है, स्वयं एक नौजवान लड़की 'गुल' के बारे में सोचते-सोचते : "गुल इन्कार करती गई। ज्यों-ज्यों कोठरी नज़दीक आती गई लाला (मीराँ शाह) का आग्रह बढ़ता गया और गुल का प्रतिरोध बढ़ता गया···अब लाला बिलकुल अपने-आपे में न रहा था। अब उसका दम फूल रहा था और चेहरा क्रोध से काला पड़ रहा था····"[4]

और उसी उपन्यास के एक अन्य पात्र डोगरा-राज्य के बड़े अफ़सर कहानसिंह का यह हाल है कि :

"और यह तो सचमुच बड़ी जवान है"—कहानसिंह ने गुल को देखकर कहा।

"मुझे जाने दो।"—गुल चिल्लाई।

"भादों तो बहुत दूर है और रात आज जवान है और मेरे हाथ बहुत मज़बूत हैं।"[5]

उपन्यास के दो पात्र राजा करमअली और जहमतअली दो विस्थापित हिन्दुओं की लड़कियों के साथ व्यभिचार करने के लिए कहते हैं :

"नहीं, बड़ी तुम ले लो, छोटी मुझे दे दो, मंजूर···" "अरे बड़ी लड़की उससे कहीं ज्यादा खूबसूरत है"···"खूबसूरत है तो उसे तुम ले लो"···"मैं एक तरकीब बताता हूँ"···"क्या"····"लाटरी डाल लो।"[6]

और उपन्यास का कथानक उतना ही विशृङ्खल, टूटा हुआ, अव्यवस्थित और असन्तुलित कूड़ा-कर्कट (Trash) है, जितनी कि सेक्स-प्रधान विकृतियाँ! जिस प्रकार के रोमांस, प्रणय अथवा प्रेम की स्थापना इसमें की गई है शायद उतना कुत्सित और वीभत्स रूप हिन्दी के किसी भी और उपन्यास में नहीं मिलेगा। सारे उपन्यास में यह भी पता नहीं चलता कि नायक कौन है, नायिका कौन है, कथा-सूत्र का केन्द्र-विन्दु कहाँ है, लेखक का लक्ष्य क्या है। अब्दुल्ला, बानो, फ़ज़ल, रज्जी, गंगा, सरस्वती, हशमत, शौकत, संग्रामसिंह, मौली, मीराँ शाह और गोमती

१. पृष्ठ २४७; २. पृष्ठ २५८, ३. पृष्ठ ३०५, ४. पृष्ठ १२१, ५. पृष्ठ १२२, ६. पृष्ठ ४८

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की रचना किसलिए की गई है ? लगता है लेखक को कुछ गालियाँ डोगरा-सरकार को देनी थीं, कुछ काश्मीर के हिन्दुओं को, कुछ मुसलमानों को और कुछ अंग्रेजों को। इन सबके अतिरिक्त उसकी मन्शा कुछ घुटती हुई सेक्स-भावनाओं को लिखना था, तन की गर्म आँच में वासना की उद्दीप्त भावनाओं को जगाकर एक सनसनी पैदा करना था और इन सबको एक डोरी में बाँधकर उपन्यास का नाम देना था और इन सबको मिलाकर एक उपन्यास का नाम दे भी दिया गया है। वैसे यह उपन्यास विशुद्ध साहित्यिक उपन्यास न होकर एक अच्छा जासूसी उपन्यास हो सकता था, किन्तु साहित्यिक उपन्यास बनाने के मोह में इसका वह गुण समाप्त हो गया है।

यद्यपि कृष्णचन्द्र की दूसरी पुस्तक 'पाँच रुपये की आज़ादी' में भी वही विकृत सेक्स-प्रधान तत्त्व मौजूद हैं, लेकिन फिर भी उसमें कहानी-कला के कुछ तत्त्वों को उपन्यास की अपेक्षा अधिक सफलता से निभाया गया है। इस दृष्टिकोण से संग्रह की प्रथम कहानी 'गीत और पत्थर' उल्लेखनीय है। इसमें सेक्स-कुण्ठा की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैदी-जैसे पात्र की रचना और उसका निर्वाह कुशलता से किया गया है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'सौ रुपये' भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और कहानियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई है। श्रमजीवी मोहम्मद शफ़ी अपने वर्ग के उन सैकड़ों-हज़ारों व्यक्तियों की भाँति यथार्थ और जीवन के स्वप्नों से टकराता हुआ संसार में सभी वस्तुओं के होते हुए भी सबसे वंचित रह जाता है। उसके पास पैसा भी है, इच्छा भी है लेकिन जीवन का यथार्थ सत्य, अनिश्चित भविष्य और भूखे परिवार के कारण सारे बाज़ार का मोल-भाव करके लौट आता है। कहानी का कथानक, घटनाओं का क्रम और समस्याओं को प्रस्तुत करने का ढंग भी अच्छा है। इस प्रकार वह अनुभव करता है कि सारी दुनिया बहुत बूढ़ी हो चली है और उसको बच्चों-जैसी मुस्कराती हुई दुनिया चाहिए जिसमें स्वप्नों के टूटने की आशंका न हो।

'पानी का पेड़' शीर्षक कहानी का कथानक सुन्दर होते हुए भी उसमें बड़े विचित्र ढंग से कुछ अतिवादी राजनीतिक विचारों की ओर संकेत किया गया है, जिसके कारण कहानी का वास्तविक महत्त्व कम हो जाता है। कहानी का प्रारम्भ बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है, लेकिन उसका अन्त अनावश्यक अतिवादी राजनीति में फँसकर उलझ गया है। 'पानी का पेड़' प्रेम और मानवीय संवेदनाओं का प्रतीक बनते-बनते एक सरल 'लाल सपना' बनकर रह गया है, जिसकी चर्चा करने पर 'पुलिस का भय' आतंकित कर देता है। वैसे कहानी कई दृष्टियों से अच्छी है। कहानी-कला की दृष्टि से भी कुछ कहानियों में शिल्पगत मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और कुछ में तो कृष्णचन्द्र की प्रौढ़ शैली का परिचय भी मिलता है।

अन्त में फिर भी यही कहना पड़ता है कि लेखक की जड़वादी सेक्स-भावनाएँ ही हैं, जो कुछ कहानियों को छोड़कर बाकी सबको एक स्थिति पर लाकर खड़ा कर देती हैं। 'अंजीर' और 'ख़लल है दिमाग़ का' कहानियाँ इतनी अस्वाभाविक और असंगत परिस्थितियों पर आधारित हैं कि सिवाय एक असफल फार्स के उनका महत्त्व कुछ नहीं है। 'लाला घसीटाराम' शीर्षक कहानी और 'पाँच रुपये की आज़ादी' शीर्षक कहानी एक अच्छे कथानक की टूटी-फूटी, अव्यवस्थित प्रतिलिपि हैं। संग्रह में कुछ प्रचारात्मक कहानियाँ भी हैं, जैसे 'अमरीका से आने वाला हिन्दुस्तानी'। 'गोपाल कृष्ण गोखले' शीर्षक कहानी विकृत शैली और निम्न स्तर की सेक्स-भावना की परिचायक है। फिर भी यह कहानी-संग्रह उनके उपन्यास से कहीं अधिक सफल है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'सराय के बाहर' रेडियो-नाटकों का संग्रह है, जिसमें एक कथाकार नाटककार की वह सभी असफलताएँ पर्याप्त मात्रा में हैं जो समस्त संग्रह की कथावस्तु, शिल्प और शैली के अतिरिक्त कथोपकथन, हास्य-व्यंग तथा स्वाभाविकता की हत्या करके उनकी साहित्यिक विशेषता को नष्ट कर देती हैं। संग्रह को पढ़ने से वह सभी विकृतियाँ और अधिक उभरकर सामने आती हैं, जो उपन्यास और कहानी-संग्रह में दबी हुई थीं। 'सराय के बाहर' नाटक में न जाने कैसे-कैसे पात्रों को चुन-चुनकर रखा गया है कि सारा नाटक एक विभिन्न सेक्स-ग्रन्थि बनकर रह जाता है। 'काहिरा की शाम' में भी वही औरतों के शरीर से खेलने की भूख, वही मार-पीट झगड़ा-टंटा—जैसे लेखक को जीवन में और कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता। जीवन के अनेक पक्ष हैं, अनेक स्थितियाँ हैं, अनेक भावनाएँ हैं और इनकी अनेकता ही में कला का सौन्दर्य है। रोमांस, सेक्स और अन्य प्रणय-सम्बन्धी भावनाओं पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है लेकिन जिस कथा-वस्तु और कथानक को लेकर कृष्णचन्द्र चलते हैं उससे तो यह पता चलता है कि संसार में कहीं भी सत्य रक्षित नहीं है, किसी भी व्यक्ति अथवा पात्र में सत्य की रक्षा के लिए विरोधी तत्वों से लड़ने की क्षमता नहीं। सारी दुनिया केवल दो बातें सोचती है—पहली है उसकी सेक्स-भूख और दूसरी है पैसे की भूख। लेकिन इन दोनों भूखों के अतिरिक्त भी मनुष्य सोचता है, विचारता है, कला का सृजन करता है, चिन्तन के सूत्र देता है, मानवता की भावना को रक्षित रखता है। आँख में बँधी हुई पट्टी वाले बैल की भाँति मनुष्य केवल एक दायरे में ही नहीं घूम रहा है—वह लड़ाई भी लड़ता है, सन्धि भी करता है, अपने से भी लड़ता है और परिस्थितियों से समझौता भी करता है; लेकिन वह उस तरह की निर्जीव कठपुतली की भाँति नहीं है जैसा कि कृष्णचन्द्र समझते हैं। समस्त नाटकों को पढ़ने के बाद केवल यही पता लगता है कि लेखक की अर्द्ध-विक्षिप्त भावना एक ऐसे वृत्त में बँधी हुई है कि उसमें न तो कल्पना है, न आशा; उसका न तो कोई भविष्य के प्रति आग्रह है, न किसी भी मनुष्य के प्रति विश्वास है—वह किसी भी व्यक्ति को अपने ढंग से अनाचारी (Hardened Criminal) के रूप में चित्रित कर सकता है।

नाटकीय शिल्प के दृष्टिकोण से प्रस्तुत नाटक न तो रंगमंच के योग्य हैं और न ही इनमें कोई रेडियो-टेकनीक ही असाधारण रूप में है; न तो कथावस्तु में प्रौढ़ता है न शिल्पगत निपुणता, और न परम्परागत सांस्कृतिक चेतना। पार्वती और शंकर उर्दू की गज़ल भी गा सकते हैं और ओछे और छिछले ढंग से प्रेम-प्रलाप भी कर सकते हैं। कहीं-कहीं स्वगत-भाषण सोलोलोकी है तो कहानी-की-कहानी पृष्ठों में वर्णित है (जैसे 'बेकारी नाटक') जहाँ कहीं नाटकीय औत्सुक्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है (जैसे 'हजामत') तो उसमें भी लचर और दुर्बल शिल्प-ज्ञान का परिचय मिलता है। देश-काल तथा वातावरण के परे कृष्णचन्द्र की सृजन-शक्ति ने अपने चारों ओर मकड़ी का जाला बुन लिया है जिसमें प्रत्येक पात्र उलझकर एक ही भाँति मरता है, एक ही भाँति प्रस्तुत होता है और लेखक भी उसी सीमा में बँधकर अपनी स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टि को खो चुका है। यह और कुछ भी हो, किन्तु प्रेमचन्द्र की परम्परा तो नहीं ही है।[1]

●

१. लेखक—कृष्णचन्द्र, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रादेशिक साहित्य

हेमलता जनस्वामी

तैलुगु-प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ

वर्षों के अथक परिश्रम और प्रयत्नों के बाद तथा पिछले वर्ष पोट्टि श्रीरामुलुजी के अनशन के बाद अब यह निश्चय हो गया है कि आन्ध्र देश एक स्वतन्त्र राज्य बनेगा। इस राज्य की सीमा में उत्तर-दक्षिण वैज़ाग़, पूर्व-पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, नेल्लूरु, गुण्टूर, बेल्लारी (सिर्फ तीन ज़िले), अनन्तपुरम्, कडप और करनूलु जिले समाविष्ट होंगे। यहाँ के क़रीब १ करोड़ ८० लाख निवासियों की बोली तैलुगु ही है। हैदराबाद और मद्रास में भी तैलुगु-भाषी हैं, पर वे इस नये राज्य की सीमा में नहीं हैं। आज इस नये प्रदेश की जो भी समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, वही कल के नवनिर्माण की पृष्ठभूमि और आधार बनेंगी।

तीन ओर से यह प्रदेश उड़िया, हिन्दी, मराठी, कन्नड और तमिल-भाषी क्षेत्रों से घिरा है। फलतः सीमा के प्रदेशों में इन भाषाओं की झलक हमें मिलती है। जिस प्रकार दिल्ली, आगरा, झाँसी, जबलपुर, नागपुर, विलासपुर, पटना, छपरा आदि स्थानों की हिन्दी में हम अन्तर पाते हैं, उसी प्रकार विशाखपट्टनम्, करनूलु, रायलसीमा, तिरुपति, नेल्लूरु आदि क्षेत्रों की तैलुगु में हमें अन्तर मिलता है। हिन्दी में यह अन्तर कुछ अधिक मात्रा में है। तैलुगु की प्राचीन और आधुनिक भाषा-शैली में अन्तर पड़ गया है। मुसलमानी, मुगल और अँग्रेज़ी सल्तनत के प्रभाव से भाषा में कई उर्दू, अरबी, फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्द आ गए हैं। अँग्रेज़ी के शब्दों को तो प्रायः उसी रूप में ले लिया गया है। उर्दू, फ़ारसी, अरबी के शब्दों को हम निज़ाम हैदराबाद के तैलुगु-भाषा-भाषियों में काफी पाते हैं। ऐसे ही कुछ शब्द भद्राद्रि रामदास की रचनाओं में हमें मिलते हैं। फिर भी तैलुगु भाषा की अपनी एक स्वतन्त्र विशेषता है। उसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त है। संस्कृत समासयुक्त पदावली से प्रभावित होने के कारण तैलुगु में पद-लालित्य और स्वरान्त होने तथा न, ल, म, मु, वु, ड्र-सरीखे शब्दों के अधिक प्रयुक्त होने से भाषा में संगीतात्मकता आ गई है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-क्षेत्रों में तैलुगु को Italian of the East कहा जाता है।

तैलुगु-साहित्य का प्रारम्भ और विकास देश की ऐतिहासिक घटनाओं से अत्यधिक सम्बद्ध रहा है। अब तक के प्राप्त सूत्रों से यही ज्ञात होता है कि ई० स० १०१८ में महाराज विक्रमादित्य के पुत्र ने गद्दी ग्रहण की। इन्हींके समय से वाङ्मय का विकास हुआ। तैलुगु के प्रथम कवि नन्नय्या थे। इसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाद समुद्र की लहरों के घात-प्रतिघात के समान राज्यों का उत्थान-पतन हुआ और इन्हीं-के थपेड़े झेलती साहित्य की नौका आगे बढ़ी। १५०६ (ई० स०) में विजयनगर की गद्दी पर कृष्णदेव राय आये। इनके राज्य-काल में साहित्य, वाङ्मय, कला, विज्ञान, धर्म—सभी की अभिवृद्धि हुई। १६वीं शताब्दी हिन्दी या तैलुगु की ही नहीं वरन् समस्त विश्व-मानवता की चरम उत्कर्ष की वेला तो थी ही। इन दिनों तैलुगु में धार्मिक साहित्य, संकीर्तन-साहित्य, नीति और लक्षण-ग्रन्थ, प्रशस्ति-ग्रन्थ, शतक-काव्य तथा यक्षमानों का सृजन हुआ।

ई० स० १८०१ से तैलुगु का नवयुग प्रारम्भ होता है। पद्य और गद्य दोनों में ही रचनाएँ होने लगीं। नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, प्रहसन, व्यंग्य-साहित्य, बाल-साहित्य, चलचित्र-साहित्य, रेडियो-रूपक और पत्रिकाओं के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। बालकों के लिए 'बाल'-सरीखी पत्रिकाओं, 'आन्ध्र-पत्रिका' आदि में आधे से अधिक स्थान में बालोपयोगी साहित्य, गत वर्ष के 'आन्ध्र-पत्रिका' के दशहरे के विशेषांक को तथा अन्य प्रकाशित पत्रिकाओं को देखने पर पता चलता है कि बाल-साहित्य का तैलुगु में विकास हुआ है।

प्रथम महायुद्ध के बाद तैलुग-साहित्य में काफी परिवर्तन हमें दृष्टिगत होता है। छायावाद और रहस्यवाद तथा अब प्रगतिवाद ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। छायावाद और रहस्यवाद के साहित्य में आने पर कई कवि इस ओर स्वागतार्थ बढ़े। गीति-काव्यों का निर्माण हुआ। सबसे प्रमुख गीतिकार इस समय कृष्णशास्त्री हैं। प्रगतिवादी भावना के साथ ही हिन्दी-कविता की तरह तैलुगु-कविता में भाव, भाषा और छन्दों में अन्तर आ गया। आजकल तैलुगु की साहित्यिक भाषा को व्यावहारिक रूप देने का काफी प्रयत्न हो रहा है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी से हुआ। गुरजाड अप्पाराव और रायप्रोलु सुब्बाराव जी ने कविता के लिए व्यावहारिक भाषा को अधिक उपयुक्त सिद्ध किया। श्रीरंगम श्रीनिवासराव (श्री० श्री०) जी ने कविता में भाषा, भाव, अलंकार आदि के बन्धनों को तोड़ दिया। अब तो रचनाएँ मुक्त छन्द में भी होती हैं। श्री० श्री० ने विश्व-मानवता के दुःख को अपनी पीड़ा माना, पर कृष्ण शास्त्री के गीतों में हम कवि की अपनी पीड़ा को विश्व-पीड़ा में विस्तृत पाते हैं। प्रगतिशील लेखकों में आरुद्र, अन्नसेट्टि सुब्बाराव, रमणारेड्डि और नारायण बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। वरमपुरम्, काकिनाडा, विशाखपट्टनम् और मद्रास इनके प्रमुख कार्य-क्षेत्र हैं। काकिनाडा में 'नव्य साहित्य-परिषद्' की स्थापना की गई और 'उदयिनि' मासिक पत्रिका का सम्पादन करके नये साहित्य का प्रसार यह कर रहे हैं।

कहानी, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में भी हिन्दी के समान चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रधान कथानकों की ही रचना हो रही है। पर तैलुगु के कथा-साहित्य में हम perverted psychology वाले पात्र, डाइवोर्स और तत्पश्चात् जीवन की विषाक्त अनुभूतियों का चित्रण, सेक्स आदि का वर्णन हिन्दी के नवीन कथानकों की तुलना में उतना नहीं पाते। वहाँ के कथानकों में आज के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण—जैसे दुर्भिक्ष, बेकारी, आन्ध्र-तमिल भाषावार विभिन्नताएँ, विवाह-पक्ष और दहेज की विभीषिका आदि वर्णित हैं। यह अन्तर इसलिए कि वहाँ के लोगों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में ही फर्क है। अभी भी वहाँ परम्परागत भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन और सीधे-सादे जीविका के ढंग पर जीवन की विचार-धारा बह रही है। आधुनिक जीवन की उच्छृङ्खलता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अभी हम देख नहीं पाते। दो वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में पद्मराजु की कहानी 'गालि वान' (तूफ़ान) को तृतीय पुरस्कार मिला है। मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव का स्थान कथा-साहित्य में उल्लेखनीय है।

इधर प्रकाशन और पत्रकारिता का कार्य भी जोरों पर है। वाविल्ला प्रेस ने तैलुगु के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन करके सस्ते दामों में अच्छे संस्करण निकालकर साहित्य को जनता के समीप पहुँचाने का प्रयत्न किया है। स्व० काशीनाथ नागेश्वरराव ने पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी की भाँति 'आन्ध्र-पत्रिका' का सम्पादन करके साहित्य के विभिन्न अंगों को परिमार्जित कर पत्रकारिता को उच्च स्थान दिलवाया। साहित्य को इनकी बड़ी देन है।

आजकल अन्ध्र-विश्वविद्यालय में तो शोध-कार्य हो ही रहा है, पर तिरुपति तिरुमलइ देवस्थानम् और ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, तिरुपति में वेंकटेश्वर साहित्य का प्रकाशन तथा प्राचीन तालपत्र और ताँबे के पत्रों पर लिखी गई हस्तलिपियों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन हो रहा है। आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने हस्तलिपि-संकलन और उनकी प्रतिलिपियों को मँगवाने का कार्य प्रारम्भ किया है। यहाँ सरस्वती महल हस्तलिपि लाइब्रेरी तंजौर की काफी हस्तलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं तथा कई मूल प्रतिलिपियाँ भी हैं।

साहित्य और भाषा के इस पहलू के साथ-ही-साथ तैलुगु का संगीत-पक्ष भी उन्नति करता रहा। समस्त दक्षिण का संगीत १७वीं शताब्दी के भक्तशिरोमणि त्यागराजु की रचनाओं में एक प्रकार से निहित है, जो प्रत्येक घर में तुलसी, सूर और मीरा के गीतों के समान जन-मन का कण्ठ-हार बन गया है। इनकी स्वर-लिपि रवीन्द्र-संगीत के समान निश्चित है। अब विशाखपट्टनम् के श्री विस्सा अप्पाराव जी के सम्पादन में एक ही पुस्तक में इन गीतों की स्वर-लिपि तथा तैलुगु, तमिल और कन्नड़ लिपि में गीतों के बीच देकर त्यागराजु की समस्त रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। (तमिल संगीत में दीक्षितार और श्याम शास्त्री की रचनाएँ भी प्रचलित हैं।) अप्पाराव जी ने क्षेत्रय के गीतों का भी संकलन किया है। इसमें सिर्फ राग-संकेत हैं। ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में १५वीं शताब्दी के गायक भक्त-शिरोमणि अन्नमाचार्य की हस्तलिखित रचनाओं का सम्पादन करके स्वरबद्ध करने का कार्य श्री राल्ल-पल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा कर रहे हैं। वैसे संगीत का प्रसार, गायन, वीणा और वायलिन-वादन प्रायः घर-घर में होता है।

स्थापत्य और चित्र-कला में यहाँ के जीवन का अपना स्वतन्त्र प्रतिरूप है। अमरावती में प्राप्त शिला-लेखों और स्थापत्य की अन्य वस्तुओं से बौद्ध प्रभाव झलकता है। कृष्णदेव राय के ज़माने में इस ओर भी श्री-वृद्धि हुई। इसके प्रमाण हमें तिरुपति के वेंकटेश्वर देवालय, सिंहाचलम् के सिंहाद्रि नरसिंह राय के मन्दिर तथा कई मन्दिरों के गोपुरम्, प्राकार और मंटपों में मिलते हैं। गोपुरम्, मंटप, प्राकार यहाँ की स्थापत्य-कला के अनुपम प्रतीक हैं। इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल हैं अमरावती का बौद्ध-स्तूप, कोंडवीडू का क़िला, धान्यकटक और विजयवाडा में कनकदुर्गा का मंदिर। वैसे विशाखपट्टनम् का हारबर अपने नैसर्गिक सौंदर्य के लिए अनुपम है।

तैलुगु-भाषी क्षेत्रों में बौद्ध, जैन, अद्वैतवाद, शैव, वीर शैव और वैष्णव धर्मों ने अपनी-अपनी बारी में अपना-अपना प्रभाव दिखाया, पर आज धार्मिक कट्टरता नहीं रही। शिक्षा ने इस ओर काफी हाथ बटाया। पर आज भी उत्सवों पर देवालयों के उपदेवताओं को खूब अलंकृत करके बाजे-गाजे के साथ उनकी नगर-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिक्रमा कराई जाती है।

इतने धर्मों का प्रभाव पड़ने पर भी यहाँ का सामाजिक जीवन बहुत अधिक प्रभावित न हो सका और न उच्छृङ्खलता ही आ सकी। आज की अधिक-से-अधिक शिक्षित और संस्कृत आन्ध्र-परिवार के आँगन में मुग्गु (अल्पना-बंगाला से भिन्न), हल्दी और कुङ्कुम से सजाई चौखट आम्र तोरण (विशेष अवसरों पर) अवश्य ही हम पायँगे। लहंगा-ओढ़नी पहने किशोरियाँ, जन-गीत गातीं श्रमिक वधुएँ, लम्बी चोटी डाले बालों में फूलों की माला खोंसे गृह-कार्य में लगी आन्ध्र नारियाँ यहाँ का गौरव हैं। त्रावनकोर, कुर्ग और मैसूर की स्त्रियों के अनुपात में स्त्री-शिक्षा यहाँ काफी कम है। पर अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पिछले २०-२५ वर्षों में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

ऐसी पृष्ठभूमि लेकर तैलुगु-प्रदेश आज कुछ अवधि के लिए करनूलु में राजधानी बनाने, रायल सीमा की समस्या को सुलझाने और भाषा-मिवृद्धि के लिए अधिकारी ढंग से साहित्य के इतिहास लिखवाने आदि अनेकों प्रश्नों में उलझा है। उसके सामने राष्ट्रभाषा का भी एक बड़ा प्रश्न है। लोगों में उत्साह है, राष्ट्रभाषा के प्रति गौरव है; आवश्यकता है योग्य शिक्षकों और प्रचारकों की। यह इसलिए कि उनकी नई भाषा के अंकुर लगेंगे। ठीक-ठीक उच्चारण और सही दृष्टिकोण बन जाने से आगे कठिनाई न होगी। आज तैलुगु-साहित्य में भारतीय और पश्चिमी साहित्य-ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। पाश्चात्य आलोचना पद्धति के अनुरूप आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रमुख हैं—भारती, शारदा, वीणा, कुछ समय पूर्व तक प्रकाशित 'कृष्णपत्रिका' और 'आन्ध्र पत्रिका' के विशेषांक और वार्षिक अंक। यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोगों में उत्साह है।

तैलुगु-प्रदेश के नवयुवक और नवयुवतियों के सामने प्रदेश की समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाना और सुलझाकर आगे बढ़ना उनका कर्तव्य है। उन्हें यहाँ के जन-गीतों ने लोरियाँ सुनाई हैं, राजनीतिक और सांस्कृतिक हलचल ने दृष्टि दी है और पोट्टि श्रीरामुलु-सरीखे देश-सेवी ने लगन दी है तथा सागर की उठ-उठ गिर-गिर पड़ने वाली लहरों ने प्रगति का सन्देश दिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवलोकन

आई० ए० एक्स्ट्रेस

समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि

: १ :

विगत वर्षों में पश्चिम के मानववादी साहित्य की प्रवृत्तियों में एक भारी परिवर्तन के दर्शन हमें हुए हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए हैं, वह आशा और विश्वास, जो कभी वेल्स के साहित्य में परिव्याप्त थे, नैराश्य और पराजय को अपना स्थान देते गए हैं।

बीसवीं शती के आरम्भ में वेल्स-जैसे लेखकों में अद्भुत उमंग और उत्साहपूर्ण विश्वास था कि मनुष्य में पूर्णता प्राप्त करने तथा बिना किसी की सहायता लिये जीवन को सुन्दर बनाने की अपार क्षमता निहित है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हैम्लेट के उन उद्गारों को अपनी मूल आस्था बनाकर साहित्य-निर्माण किया, जो उसने एक बार मानव की स्तुति और प्रशंसा के रूप में प्रकट किये थे :—

"कितनी अपूर्व कलाकृति है मानव !
विवेक और बुद्धि में महान्, शक्ति और सामर्थ्य में अनन्त·····
सृष्टि में सुन्दरतम ! प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम !"

मनुष्य के भयमूलक स्वभाव ने निष्प्रयोजन और निरर्थक ही ईश्वर की सृष्टि की थी, अतः ईश्वर तथा धर्म दोनों का बहिष्कार हुआ। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए और अपना भगवान् स्वयं होना चाहिए; उसे संसार की सीमाओं से परे, कहीं उस पार न देखकर अपने रचना-विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के मानववादियों की यही मूलभूत धारणा रही है, जिसे वास्तव में 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' कह सकते हैं।

इस शताब्दी के मध्य में, जहाँ मानव-जाति की वर्तमान प्रगति और उन्नति के सम्बन्ध में हमारा स्वप्न भंग हुआ है, वहाँ से पीछे मुड़कर देखने पर हमें आश्चर्य होता है कि कैसे आज से पचास वर्ष पूर्व मनुष्य के इस भाग्य-विषयक दृष्टिकोण ने उसे आशावाद, उन्मुक्त उत्साह एवं साहस का प्रकाश दिया था। आज हम उस हेतुवादी किन्तु वास्तव में विवेचना-हीन युग के मतों और सिद्धान्तों पर पूर्णतया सन्देह करने लगे हैं। उस समय 'प्रगति' के एक भाग्यवादी सिद्धान्त में एक व्यापक विश्वास था, जिसे हम आज अवैज्ञानिक कल्पना कहते हैं; अन्य कितनी ही सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक मान्यताओं में उलट-पलट हो चुकी है। किन्तु सबसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऊपर हमने यह समझा है कि ऐसे 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' का अर्थ है—व्यावहारिक जीवन में उपद्रव तथा विपर्यय; और हम यह भी समझने लगे हैं कि मानवीय कार्यों की महत्ता की दृष्टि से आस्था से अनिवार्य विद्रोह निरर्थक है। आल्डुअस हक्सले के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड', रसेल के 'डिफ़ाएण्ट पेसिमिज़्म' और सार्त्र के अस्तित्व के लिए 'अरुचि और अनाशा' का यही अभिप्राय है। नास्तिकों का नाटक, जो गौरवमय साहसिक कार्यों तथा वीरत्वपूर्ण विजयों का इतिहास बन जाने का दम भरता था, "किसी मूर्ख द्वारा गढ़ी हुई कहानी-मात्र रह गया है, जिसमें केवल चिल्लाहट और आक्रोश है और जिसका कोई अभिप्राय नहीं है।" दास्तावस्की की अन्त-र्भेदिनी दृष्टि ने सौ वर्ष पहले ही यह बता दिया था कि 'नास्तिक मानववाद' मनुष्य को पतन और पराधीनता की ओर ले जायगा। 'नास्तिक मानववाद' के आधुनिक महारथी भी अपने कड़वे अनुभवों से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दास्तावस्की ठीक कहता था।

: २ :

'नास्तिक मानववाद' के दिवालिएपन से दो प्रकार की मनोरञ्जक और अवश्यम्भावी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। पहले प्रकार की प्रतिक्रिया की भूमि पर वे लोग हैं जो अब भी मूल रूप से नास्तिकवाद से चिपके रहना चाहते हैं, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व एवं उसके अपने भाग्य का कोई अर्थ न खोज पाने से निराश होकर, समूह अथवा वर्ग के अनुशासन पर व्यक्ति की बलि चढ़ाकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का मूल्य उसके व्यक्तित्व को न लेकर, उसके राजनीतिक कार्यों को लेकर है; उनके अनुसार आज के मनुष्य को भावी पीढ़ियों के वर्ग-हितों अथवा वर्तमान सरकार के राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। भविष्य से सम्बद्ध होने पर भी वर्तमान का अर्थ है। यह निर्विवाद है कि मार्क्सवाद एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो आधुनिक युग के दिवालिएपन के लिए आकर्षण की वस्तु है—ऐसा युग, जिसकी न कोई विशिष्टता है, न जो सुरक्षित है और न जिसका कोई निश्चित उद्देश्य है। किन्तु फिर भी यान्त्रिक मार्क्सवाद से किसी भी ईमानदार मानववादी को सन्तोष नहीं हो सकता। केस्लर, सायलोने तथा जीद-जैसे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यान्त्रिक मार्क्सवाद उतना ही अमानवीय है जितना कि नग्न शून्यवाद, जो मानव के व्यक्ति को उसके आत्माभिमान, उसके मूल्य तथा उसके स्वातन्त्र्य से वंचित रखता है।

दूसरी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वे लोग हैं जो मानव-स्वातन्त्र्य की धारणा को असत्य और निरर्थक कहकर अस्वीकृत करते हैं तथा मानवीय कार्य-व्यापारों की धार्मिक रहस्यवादी व्याख्या स्वीकृत करते हैं। अपनी नई कृतियों के साथ आल्डुअस हक्सले, टी० एस० इलियट तथा सी० ई० एम० जोड इसी श्रेणी में आते हैं। भारतवर्ष में मानव-जीवन के प्रति अधिकतर धार्मिक अथवा रहस्यवादी दृष्टि रखने की ही प्रवृत्ति व्यापक रूप से वर्तमान है। दुर्भाग्य से भारत के चिन्तकों द्वारा यह दृष्टि उस शैली में प्रस्तुत नहीं का जाती जो सबको सन्तुष्ट और सहमत करके इसे स्वीकृत करा सके। नया मनुष्य उस अध्यात्म को ग्रहण नहीं कर सकता जो उसकी सम्पूर्ण मानवता को मान्यता न दे सके। मनुष्य का रूप सूक्ष्म ही नहीं है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों है—उसे आत्मा और शरीर दोनों मिले हैं, अतः मानव-जीवन-सम्बन्धी किसी भी विचार-विमर्श के समय इन दोनों के औचित्य और अधिकार को स्वीकार करना होगा। आत्मिक एवं शारीरिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं के सम्यक् समन्वय का ही आदर्श अपनाना होगा, यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक मानव-प्राणी अपने को एक प्रकार के असन्तुलन, द्वन्द्व तथा संघर्ष की स्थिति में पाता है।

आधुनिक युग में भारत तथा विदेशों की अतिरहस्यवादी विचार-धाराएँ शरीर तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं के यथार्थ उत्सर्ग पर जोर देती हैं। उनके अनुसार मनुष्य केवल आत्मा है—वह है तो सब-कुछ है और नहीं है तो कुछ भी नहीं! शरीर और उसकी माँगों को वह निरर्थक तथा आत्मा की दिव्यत्व-प्राप्ति के मार्ग में बाधा-स्वरूप समझती हैं, अतः शरीर एवं उससे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रवृत्तियों को भ्रम समझकर उनका त्याग कर देना चाहिए। इन अति-रंजनापूर्ण रहस्यवादी विचार-धाराओं के अनुसार मानव को पूर्णता और मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए—सांसारिक उन्नति द्वारा नहीं, बल्कि इसकी उपेक्षा करके, इससे पलायन करके। यह भी एक अतिवादी, प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है।

: ३ :

इस प्रकार का धार्मिक समाधान आज के मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि वह ऐसे अध्यात्म को जीवन की वास्तविकताओं से मूर्खतापूर्ण एवं अशोभनीय पलायन समझता है। इस प्रकार का अध्यात्म मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं और उनके साथ-साथ चलने वाले विज्ञान, कला एवं शिल्प के मिश्रित विकास और प्रगति को असंगत बताकर हवा में उड़ा देता है। इसके अतिरिक्त ऐसा अध्यात्म मानवीय सम्बन्धों एवं सफलताओं पर भी वास्तविक और महत्त्वपूर्ण प्रकाश नहीं डालता।

परिणामतः आज का मानव ऐसे धर्म के प्रति अवहेलना की भावना रखता है, उसे अपनी प्रकृति के विरुद्ध समझता है तथा अपनी चेतना के जागरूक स्फुरण को सुला देने वाला समझकर उसे अस्वीकृत करता है। कुछ हद तक वह उचित ही करता है। वास्तव में यह कह देने से कि आर्थिक समस्या का अस्तित्व ही नहीं है और यदि है भी तो उससे माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं, इस समस्या का कोई हल नहीं प्रस्तुत होता।

: ४ :

यदि धर्म आज के मानव-प्राणी को प्रेरित करना चाहता है तो उसे मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक सभी प्रकार की प्रगति को अंगीकृत करना होगा। आज मनुष्य अपनी प्रकृति के किसी भी अंग को असम्बद्ध और अनावश्यक समझकर उसका दमन करने से इन्कार करता है। उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों की अपनी वास्तविक समस्याएँ हैं और कठोर सत्य के रूप में उसके सामने हैं; यदि धर्म इन समस्याओं को हल करने में उसकी सहायता नहीं करता तो वह धर्म की एक न सुनेगा। वह एक ऐसा धर्म चाहता है जो आत्मा और शरीर के द्वन्द्व को हल कर सके, उसकी आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सके और संयुक्त इकाई के रूप में उसे पूर्णत्व प्रदान कर सके। केस्लर ने कुछ ऐसी ही बातें ध्यान में रखकर अपने 'योगी एण्ड कमिसार' में योगी के आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा कमिसार के भौतिक सामर्थ्य और वैभव के परिणाम पर बल दिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसका अर्थ यह है कि धार्मिक सत्यों के चिन्तन द्वारा विकसित आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं नैतिक मूल्यों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मानव-व्यापारों के प्रत्येक क्षेत्र में होनी चाहिए। चिन्तन को कार्य-रूप में अवश्य ही परिणत होना चाहिए, तभी ऐसे कार्यों का महत्त्व, उपयोग, औचित्य और गौरव है।

इतना ही नहीं, आज का मनुष्य एक ऐसा धर्म चाहता है जो उसे समाज से दूर व्यक्तित्व के रूप में पूर्णता न देकर समाज के ऐसे सदस्य के रूप में पूर्णता प्रदान करे, जो साधारण सामाजिक हितों की अभिवृद्धि में योग दे सके। मानव की मुक्ति का रूप सामाजिक होना चाहिए, केवल वैयक्तिक नहीं।

अन्ततः आज के मनुष्य के लिए वही अध्यात्म आवश्यक है जो इने-गिने बौद्धिकों अथवा अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित सार-तत्त्व के रूप में न होकर, जन-साधारण के लिए भी प्राप्य तथा स्वीकार्य हो और उसके पालन में व्यक्ति की जाति, संस्कृति तथा जीविकोपार्जन के साधनों के आधार पर कोई भेद-भाव न रखा जाय।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का अध्यात्म तथा उससे प्रेरित नव-मानववादी साहित्य हृदय की वेदनाओं तथा स्वाभाविक रूप से सताने वाली सहस्रों व्याधियों को एकदम दूर नहीं कर पायगा, किन्तु वह निरर्थक नैराश्य को छिन्न-भिन्न और मानव की कार्य-शक्ति को महान्, दिव्य एवं सुन्दर की ओर प्रवृत्त करेगा।

ग्रीन, मारियाक, क्लाडेल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टी० एस० इलियट, बर्नैनो और दास्तावस्की-जैसे लेखकों की जड़ें ऐसी ही आस्तिकता की गहराई तक पहुँची हैं। वे प्रचारक नहीं, कलाकार हैं। उनके नायक तथा नायिकाएँ जन-साधारण में से लिये गए हैं और उनकी जीवन-लीला भी सर्वसाधारण के बीच चित्रित की गई है, जिसका आधार सर्वोत्तम और पूर्णतम अर्थों में यही मानववादी नई आस्तिकता है, जिसका केन्द्र-विन्दु विश्वात्म से संयुक्त सम्पूर्ण मानव है।

—प्रस्तुतकर्ता : श्रीहरि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिचय

हिमालय-परिचय(१) गढ़वाल

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, राहुल जी की इस पुस्तक में हिमालय के गढ़वाल-प्रदेश का विस्तृत तथा सर्वांगीण परिचय है। यह पुस्तक इस प्रदेश के लिए विश्व-कोष के समान है। कोई भी सम्भव बात इस प्रदेश के विषय में इस पुस्तक में छूटने नहीं पाई है। विभिन्न अध्यायों में इस प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति, इसके इतिहास, निवासी तथा समाज, आजीविका, यातायात और संचार, स्वास्थ्य और शिक्षा, यात्राओं की तैयारी, यात्राओं तथा यहाँ के जन-साहित्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। चित्रों तथा नक्शों की सहायता से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विवरणात्मक होने के कारण इसमें वह रोचक शैली नहीं मिलती जो लेखक की अन्य यात्रा-पुस्तकों में है। भूमिका में लेखक ने हिमालय के अन्य प्रदेशों के विषय में पुस्तक के अन्य भागों के तैयार होने की सूचना दी है। इस समस्त योजना के लिए लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

शिशुपाल-वध

श्री माघ के महाकाव्य का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद के साथ मूल भी दिया गया है। इस काव्य का एक अनुवाद साहित्य-सम्मेलन से पहले भी निकल चुका है। प्रकाशन की ओर से कहा गया है, पहले अनुवाद को संस्कृत के विद्वानों ने विशेष पसन्द नहीं किया। प्रस्तुत अनुवाद तथा पहले अनुवाद में दृष्टिकोण का अन्तर है, अन्यथा पहला अनुवाद भी अच्छा था। इसमें भाषा पर अधिक ध्यान दिया गया है, उसमें अर्थ का। प्रस्तुत अनुवाद की भाषा अधिक गठी हुई तथा हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल है। प्रारम्भ की भूमिका भी उपयोगी है।

पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जब हिन्दी के सामने ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति का जबरदस्त उत्तरदायित्व है, उस समय इस प्रकार एक ही कृति का दूसरा अनुवाद प्रस्तुत करना एक संस्था के लिए कहाँ तक उचित हो सकता है। हमारी समझ में हिन्दी-साहित्य-सम्मे-

---

१. लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लन को इस समय 'मत्स्यमहापुराण' तथा 'वायु-पुराण' के अनुवादों से कुछ समय के लिए विरत होकर ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। यही समय की माँग है।[1]

पहेली

'पहेली' श्री राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखित वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की विकृतियों को चित्रित करने वाला व्यंग्य-प्रधान एकांकी है। इस एकांकी के प्रायः सभी पात्र निम्न-मध्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं और सब-के-सब यथार्थ के कटु सत्यों से पलायन करने में जीवन का सन्तुलन खो चुके हैं।

नाटकीय तत्त्व नाटक में काफी हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से उनका विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पहली बात तो यह है कि एकांकी नाटक में समय, देश और काल का ऐक्य बड़े गठित रूप में होना चाहिए। प्रथम दृश्य और दूसरे दृश्य के कालान्तर में दो साल का समय खटकता है। यदि कथानक को दूसरे दृश्य से प्रारम्भ किया जाता और प्रथम दृश्य उसके अन्तराल में होता तो शिल्प के दृष्टिकोण से यह दोष न रह पाता। दूसरी बात यह है कि चरमोत्कर्ष का विकास क्रमिक न होकर सहसा हो उठा है, जो अनुचित है। नाटक के अन्त में शर्मा द्वारा कहलाया गया व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत वाक्यांश नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज के जीवन में संघर्ष अधिक तीव्र और कटु रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं। फिर भी उस संघर्ष का चित्रण नाटक में बहुत ही क्षेपक रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिन संघर्षों को नाटककार ने चित्रित करना चाहा है वे केवल 'धोबी' और 'क्रासवर्ड' के प्रतीकों तक ही सीमित रहने के कारण नाटक में सब-कुछ होते हुए भी कथा-अंश का अभाव रह गया है। हम आशा करते हैं कि नाटककार अपने अन्य नाटकों में कथा का अंश और स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में—"इस पहेली में चाँदी के जूतों से पिटे हुए मिडिल क्लास का उमदा खाका खींचा गया है।"—इस सचाई और ईमानदारी की पकड़ लेखक की प्रतिभा का परिचय देती है। हमें 'पहेली' के लेखक से भविष्य में उच्चकोटि की कृतियों की आशा करनी चाहिए।[2]

---

१. अनुवादक—श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

२. लेखक—राजेन्द्र रघुवंशी, प्रकाशक—विश्व-साहित्य, आगरा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवान् भला करे

श्री रमेश चौधरी के इस संग्रह की सभी कहानियाँ प्रायः एक ही टेक्नीक की हैं। उनमें एक पात्र 'मैं' अवश्य होता है कभी वह नायक होता है कभी साधारण पात्र-वही कहानी कहता अथवा कहलाता चलता है पर कहानी कभी आत्म-कथा का प्रलापात्मक रूप नहीं धारण करने पाती; दूसरे पात्र कहानी की कार्य-शृङ्खला से प्रायः जुड़ते-मुड़ते जाते हैं।

लेखक का यह कहना—"मेरे पात्र घटनाओं के पुतले हैं, घटनाएँ उन्हें बनाती-बिगाड़ती हैं वे घटनाओं को बना या बदल नहीं पाते। वे मनुष्य हैं, अपूर्ण हैं, निर्बल और असहाय हैं।" हो सकता है कुछ अंशों तक सही हो। पर यदि वे अपूर्ण, निर्बल और असहाय हैं तो सिर्फ इसी-लिए कि संघर्ष उन्हें खा रहा है।

इतनी सैद्धान्तिक पीठिका के बावजूद भी कहानियाँ अप्रौढ़ लगती हैं। बीच-बीच में कई अंश निष्प्रयोजन लगते हैं, उनमें कुछ ही थोड़ा-बहुत वातावरण के निर्माण में योग देते हैं। कुछ भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ भी हैं, फिर भी रमेश चौधरी श्रेय के अधिकारी हैं। तैलुगु-भाषी होते हुए हिन्दी में लिखते हैं। भविष्य में उनकी कला में परिपक्वता तथा निखार आयगा ऐसी आशा है।[1]

लोकमान्य

श्री भालचन्द्र आपटे शास्त्री की यह पुस्तक १३१ पृष्ठों में संक्षेप में लिखी हुई लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की जीवनी है। जीवनियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—एक, जिनमें जीवन की घटनाओं की प्रधानता रहती है दूसरी, जिनमें व्यक्ति के सिद्धान्तों पर बल रहता है। पर उचित यही है कि किसी भी जीवनी में दोनों का समान समावेश हो। इसके अतिरिक्त लेखक अपने को बिलकुल तटस्थ रखे। इस कसौटी के आधार पर यह जीवनी पर्याप्त सफल कही जा सकती है।

पुस्तक की सादगी, छपाई की मनोरमता और कवर की वैष्णवता सब एक साथ पाठक पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।[2]

---

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।

२. प्रकाशक—वही।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी शीघ्र लिपि

श्री मुरलीधर सबनीस की यह पुस्तक वर्धा-प्रणाली-शीघ्रलिपि के आधार पर तैयार की गई है। इसमें केवल सिद्धान्त पक्ष को लिया गया है। वर्णों के संकेत आदि अपने वर्गों के अनुरूप होने के कारण उनमें कोई विशेष उलझन नहीं है। फिर संयुक्त रूपों तथा मात्राओं आदि की भी समस्या को बहुत वैज्ञानिक ढंग से लिया गया है। तमाम क्रियाओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, सर्वनामों आदि के संकेत निश्चित भी कर दिये गए हैं।

इस प्रकार की पुस्तकों का सम्बन्ध हिन्दी-सम्बन्धी नीति से है। जब तक हिन्दी के मान्य विद्वान् तथा सरकारें कुछ निश्चित नहीं करतीं तब तक इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर लेखक का प्रयास सराहनीय है।[1]

सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति-अंक)

'देर आयद, दुरुस्त आयद' की कहावत सम्मेलन-पत्रिका के 'लोक-संस्कृति'-विशेषाङ्क के विषय में केवल अंशतया ही चरितार्थ होती है। इसके अभावों का प्रमुख कारण यह है कि सम्पादन-श्रम के पीछे एक सुनिश्चित योजना, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और एक शास्त्रीय पद्धति का अस्तित्व नहीं प्रतिभासित होता। सम्पादकीय का प्रथम वाक्य है 'संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है!' इस वक्तव्य से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित है कि सम्पादक किसी भी ऐसी प्रणाली का व्यवहार नहीं कर रहा है जिससे 'संस्कृति' और विशेषतया 'लोक-संस्कृति' का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। शायद वह यह भी नहीं स्वीकार करता कि समाज-विज्ञान ने अब संस्कृति को ब्रह्म की तरह अवर्णनीय नहीं रहने दिया है।

फिर भी मैटर के संकलन में बहुत व्यापक क्षेत्रों को मापा गया है और लगभग आधाँ अनावश्यक मैटर हटाने पर लोक-संस्कृति के सम्बन्ध में अब तक हिन्दी में प्रस्तुत कुछ श्रेष्ठ लेखन और भी गठित रूप में सम्मुख आता, ऐसी सम्भावना थी। ऐसे अधिकांश लेखों में या तो विशुद्ध पत्रकारिता है या लोक-गीतों के प्रति एक अर्द्ध-रोमाण्टिक आग्रह, जो आजकल हिन्दी-साहित्य का नया फैशन है। जिस तरह सजे हुए विशाल राजसी कक्षों में आजकल गाँव की टोकरियाँ दीवारों पर शोभा के लिए चक्र की भाँति टाँगी जाती हैं, उसी प्रकार लोक-जीवन, लोक-कला, लोक-गीतों का उल्लेख नागरी मध्यवर्गीय लेखकों का एक फैशन हो गया है, जो स्वाद बदलने के लिए बुरा नहीं माना जाता। लोक-जीवन के प्रति इस रोमाण्टिक बूर्ज्वा-प्रेम से पृथक् अगर भारतीय लोक-परम्परा के अध्ययन की वैज्ञानिक दिशाओं का संकेत इस अंक से मिल सकता तो

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामग्री-संकलन के अथक श्रम और उत्कृष्ट मुद्रण की परिष्कृत अभिरुचि को अधिक सार्थकता मिल सकती थी।[1]

आजकल (कविता-अंक)

बहुत दिनों से किसी ऐसे प्रयास का अभाव अनुभव हो रहा था कि जिसमें समस्त भारतीय भाषाओं के समकालीन साहित्य की झलक एक ही बिन्दु से प्राप्त हो सके। यदि साहित्य के अन्य क्षेत्र नहीं, तो कम-से-कम काव्य-क्षेत्र में 'आजकल' का 'कविता-अंक' इस कमी की थोड़ी-सी पूर्ति करता है। योजना, चयन और प्रस्तुतीकरण में सत्यार्थी जी अत्यधिक सफल हैं और उनका सम्पादकीय भी विषय-प्रवेश का सुन्दर स्थानापन्न है। परिचयात्मक लेखों में सर्वश्री उमाशंकर जोशी, मन्मथनाथ गुप्त और दीवानचन्द्र शर्मा के लेखों में अपने विषय पर अधिकार होने का परिचय मिलता है। प्रभाकर माचवे का लेख प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बजाय नाम और तिथि के विवरण में भटक गया है। उनसे इससे अधिक की आशा की जाती थी।

हिन्दी-कविता का परिचय श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दिया है। पिछले दिनों सूर, तुलसी आदि पर प्रकाशित उनके लेखों में हिन्दी की पुरानी कविता से उनका जितना परिचय आभासित होता है, उतना ही हिन्दी की नई कविता से भी वे परिचित प्रतीत होते हैं। यह आश्चर्यजनक है। लेख के अन्त में नई कविता के प्रसंग में 'अज्ञेय' का एक बार उल्लेख करना उन्होंने उचित माना है, यह उनके सौजन्य और उदार-दृष्टि का परिचायक है। हिन्दी-कविताओं के चयन में नये हस्ताक्षरों को आमन्त्रित किया गया है। यह वास्तव में स्वस्थ प्रवृत्ति है। केदारनाथसिंह के गीत में अद्भुत गीति-प्रतिभा का संकेत मिलता है। उसीके बाद एक दिलचस्प कविता रामदरश मिश्र की है जिसमें 'हुए दो लाल दशरथ के, मुबारक हो—मुबारक हो!' से प्रभावित 'नये इस साल की विश्वास-रोशनी से भरी पहली साँस पर बधाई है, बधाई है!' की टेक कई बार आती है। आशा है इस कृति से कवि के शब्दों में 'खोखले साहित्य के महन्तों का हृदय हलर-हलर हिल गया' होगा। त्रिलोचन की सॉनेट में हीन-भावना (Inferiority Complex) और काव्य में डींग के द्वारा उसकी क्षति-पूर्ति का रोचक उदाहरण मिलता है।

आंग्ल-भारतीय काव्य के साथ एक परिचयात्मक लेख की कमी बहुत खटकती है। उर्दू में राशिद, फैज, अली, जाफ़री, वामिक़—इन तमाम नये कवियों की कृतियाँ गायब हैं। परिणामस्वरूप उर्दू की नई कविता का बिलकुल प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया है।[2]

---

१. सम्पादक—श्री रामनाथ 'सुमन', प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

२. आजकल—सम्पादक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पांचजन्य (राजनीति-अंक)

इस अंक के प्रारम्भ में ही घोषित किया गया है कि यह विशेषांक किसी भी राजनीति के पिष्टपेषण-मात्र के लिए नहीं वरन् राजनीतिक सिद्धान्तों का विचार करते समय भारतीय चिन्तना के नवीन मूल्यांकन को प्रश्रय देने की दृष्टि से आयोजित किया गया है। निस्सन्देह यह अपने ढंग का नवीन प्रयास है और इस प्रकार के प्रयास हिन्दी को सम्पन्न ही बनायँगे, किन्तु इस तमाम अंक में समस्याएँ उठाई ही गई हैं, उनका निदान बहुत अल्प मात्रा में है। राजनीतिक वाद और इतिहास-शास्त्र आज साहित्य-दर्शन को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता की भारतीय धारणा पर कुन्हन राजा का लेख तथा भारतीय इतिहास-सिद्धान्तों पर गणपतिसिंह का लेख महत्वपूर्ण है, किन्तु भारतीय चतुर्युगी कल्पना पर विदेशी इतिहासकारों और दार्शनिकों के मतों का परीक्षण नहीं किया गया है। स्पेंगलर से लेकर सोरोकिन तक ने उस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने का कहीं भी प्रयास नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि हम उसका वही विश्लेषण दें जो संकीर्ण मार्क्सवादी देते हैं, किन्तु उस मानदण्ड की सर्वथा उपेक्षा करना नितान्त अवैज्ञानिक है। कविताएँ और एकांकी अंक की गम्भीरता नष्ट करते हैं।[1]

---

१. सम्पादक—गिरीशचन्द्र मिश्र : महेन्द्रप्रताप कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक—राष्ट्र-धर्म प्रकाशन, लखनऊ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'आलोचना' के आगामी अंकों में
समीक्षा के लिए प्राप्त कृतियाँ

सुखदा	श्री जैनेन्द्र कुमार	प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
विवर्त	,,	,, ,,
व्यतीत	,,	,, ,,
पाप और प्रकाश	,,	,, ,,
काम, प्रेम और परिवार	,,	,, ,,
साहित्य का श्रेय और प्रेय	,,	,, ,,
सुबह के भूले	श्री इलाचन्द्र जोशी	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ	,,	लहर प्रकाशन, प्रयाग
शिल्पी	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	सेण्ट्रल बुकडिपो, ,,
लहर और चट्टान	,, विश्वम्भर 'मानव'	किताब महल, ,,
एक था राजा	,, मुल्कराज आनन्द	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
दशकुमार चरित	(अनु०) निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	,, ,,
पंचतन्त्र	(अनु०) डॉ० मोतीचन्द्र	,, ,,
रात, चोर और चाँद	श्री बलवन्तसिंह	प्रगति प्रकाशन, ,,
पिंजर	श्रीमती अमृता प्रीतम	,, ,,
चील और चट्टान	श्री करतारसिंह दुग्गल	,, ,,
पाँच रुपये की आजादी	कृष्णचन्द्र	,, ,,
सराय के बाहर	,,	,, ,,
तूफ़ान की कलियाँ	,,	राजपाल एण्ड सन्स, ,,
रथ के पहिये	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
राधा और राजन	,, बलभद्र ठाकुर	ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया
कच-देवयानी	,, गुलाब	कला कुञ्ज, गया
अलका	श्रीमती शान्ति सिंहल	भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली
शुक्र की राजनीति	डॉ० श्यामलाल पाण्डेय	प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ
साहित्य-विवेचन	श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'	
	,, योगेन्द्र कुमार मल्लिक	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कला और संस्कृति	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
भारतवर्ष में जातिभेद	आचार्य क्षितिमोहन सेन	,, ,,
सौन्दर्य-शास्त्र	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा	,, ,,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हिन्दी नाटककार	श्री जयनाथ 'नलिन'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कवि आरसी की काव्य-साधना	,, प्रताप साहित्यालंकार	तारा मण्डल, कलकत्ता
समीक्षा की समीक्षा	श्री प्रभाकर माचवे	साहनी प्रकाशन, दिल्ली
हमारे साहित्य में हास्यरस	,, कृष्णकुमार श्रीवास्तव	कृष्ण कुञ्ज, फैजाबाद
जीवन और शिक्षण	,, विनोबा भावे	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
सन्त-सुधा-सार	,, वियोगी हरि	,, ,,
सुहागिन	श्रीमती विद्यावती 'कोकिल'	ज्योति प्रकाशन, प्रयाग
क्वासि	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
हिन्दी-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली
कबीर की विचार-धारा	डॉ० त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर
देखा, सोचा, समझा	श्री यशपाल	विप्लव प्रकाशन, लखनऊ
वैष्णव धर्म	" परशुराम चतुर्वेदी	विवेक प्रकाशन, प्रयाग
आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त	डॉ० एस० पी० खन्नी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
एकाकी	सीताराम गोयल	प्राची प्रकाशन, कलकत्ता
Psychological studies in Rasa:	डॉ० राकेश गुप्त	(स्वतः लेखक द्वारा प्रकाशित)
ठण्डा लोहा	डॉ० धर्मवीर भारती	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
नव-निबन्ध	श्री परशुराम चतुर्वेदी	लोक-सेवक प्रकाशन, काशी
राख का स्तूप	,, लक्ष्मीकान्त वर्मा	सावी प्रकाशन, प्रयाग
सन्त-काव्य	सम्पादक-परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल, ,,
चाँदनी रात और अजगर	श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन-गृह, ,,
बदलता युग	श्री महेन्द्र भटनागर	दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजकमल (बिक्री विभाग) से प्राप्य कुछ नये प्रकाशन

आलोचनात्मक

हिन्दी साहित्य का इतिहास	—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
वेलिकृसन रुकमणी री	—आनन्दप्रकाश दीक्षित	५)

सांस्कृतिक : दार्शनिक : इतिहास

इन्सान की कहानी	—मुल्कराज आनन्द	२॥)
कला	—हंसकुमार तिवारी	५)
सौन्दर्य शास्त्र	—हरद्वारीलाल शर्मा	३)
खण्डहरों का वैभव	—मुनिकान्त सागर	६)
आधुनिक यूरोप का इतिहास	—शेविल	१०॥)

उपन्यास

देश की हत्या	—गुरुदत्त	५॥)
नीलम की अँगूठी	—विभूतिभूषण मुखोपाध्याय	४)
दो दुनिया	—मन्मथनाथ गुप्त	५॥)
निशा गीत	—अनन्त गोपाल शेवड़े	३)

नाटक

अमरबेलि	—हरिश्चन्द्र खन्ना	३)
श्री चन्द्रावली नाटिका	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
भारत-दुर्दशा	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)

कहानियाँ

मेरा बेटा : मेरा दुश्मन	—ख्वाजा अहमद अब्बास	३॥)
अपने राज : अपने आदमी	—रामकृष्ण	२)
नीली चिंगारियाँ	—रूसी कहानियाँ	२)
मलयानिल	—मलयालम की कहानियाँ	२)
कुछ पैसे	—रामसरन शर्मा	१॥)

कविता

बदलता युग	—महेन्द्र भटनागर	१॥)

दर्शन

नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय	—ह्वीलराइट	५)
भारतीय धर्म और दर्शन	—मिश्रबन्धु	१॥)

यात्रा-विवरण

अरे यायावर : रहेगा याद	—अज्ञेय	६)
आखिरी चट्टान तक	—मोहन राकेश	२॥)
लोहे की दीवार के दोनों ओर	—यशपाल	७)

कोष

आंगल हिन्दी पर्याय शब्द-कोष	—गोपीनाथ श्रीवास्तव	५)

विविध

भारतीय व्यापार का इतिहास	—कृष्णदत्त वाजपेयी	७)
अन्तिम यात्रा	—गुरुदत्त	१)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आलोचना-अंक की रूप-रेखा

प्रस्तुत अंक से 'आलोचना' अपना दूसरा वर्ष समाप्त कर रही है। अगला अंक हमारे तीसरे वर्ष का प्रवेशांक होगा। पूर्व घोषणा के अनुसार यह अंक 'आलोचना-विशेषांक' होगा। इस अंक की योजना बनाते समय सम्पादकों के सामने यह सिद्धान्त स्पष्ट रहा है कि समीक्षा-शास्त्र अपने में निस्संग और निरपेक्ष न होकर समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, सौन्दर्य-शास्त्र, दर्शन, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है, अतः सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन में उसकी सापेक्ष स्थिति का विचार किये बिना उसे अपने में सम्पूर्ण मान लेना या ज्ञान की किसी एक ही शाखा से उसे पूर्णतया नत्थी कर देना अवैज्ञानिक और एकांगी है। साथ ही भारतीय समीक्षा ने मध्यकाल में विकसित होने वाली यूरोपीय तथा एशियायी समीक्षा-पद्धतियों से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है, यह भी उपेक्षणीय नहीं। इस अंक में निम्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे :

१. दार्शनिक-चिन्तन और समीक्षा-पद्धतियों का मूलाधार। साहित्य-समीक्षा का समाज-शास्त्रीय पक्ष। इतिहास की व्याख्याएँ और समाज-दर्शन। मनोविज्ञान की प्रगति का समीक्षा-पद्धति पर प्रभाव। सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र। अभिरुचि, प्रभाव और समीक्षा। साहित्य के इतिहास-निर्माण के सिद्धान्त। पाठालोचन के सिद्धान्त।

२. यूनानी समीक्षा-पद्धति और उसकी परम्परा। पाश्चात्य यूरोप के समीक्षा-निकाय। आधुनिक अँग्रेजी समीक्षा। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी आन्दोलन। चीनी परम्परा और माओ का साहित्य-दर्शन। ईरानी साहित्य-शास्त्र और उसका भारतीय साहित्य पर प्रभाव।

३-क. भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार और आदर्श। भारतीय समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों का क्रमिक विकास। रस-सिद्धान्त का दार्शनिक आधार। ध्वनि-सिद्धान्त और उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण। काव्य-शिक्षा-ग्रन्थों की परम्परा। संस्कृत-व्याख्या-पद्धति का क्रम-विकास। साहित्य-शास्त्र पर शैव, बौद्ध और वैष्णव प्रभाव। शास्त्रीय पद्धति के अतिरिक्त लोक-परम्परा। लोक-साहित्य के काव्य-रूप और काव्य-सिद्धान्त।

३-ख. हिन्दी की मध्यकालीन आचार्य-परम्परा और रीति-ग्रन्थ। हिन्दी रीति-शास्त्र और उसकी पृष्ठभूमि। संक्रान्ति-काल : नये मूल्यों का प्रवेश और पुरानी सीमाएँ। द्विवेदी-युग के समीक्षात्मक मानदण्ड। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का समीक्षात्मक दृष्टिकोण। शुक्लजी की परम्परा। गुलाबराय और उनका वृत्त। हजारीप्रसाद द्विवेदी : एक अध्ययन। छायावादी साहित्य-दर्शन। प्रगतिवादी नीति और समीक्षात्मक गतिविधि। प्रयोगवाद का वाद। उर्दू-आलोचना की रूप-रेखा। मराठी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की नई दिशा। बंगला के समीक्षा-निकाय और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ।

४. प्रतीक-पद्धति और प्रतीकवाद। अति-यथार्थवाद के साहित्यिक सिद्धान्त। 'अस्तित्व' की समस्या और साहित्य-चिन्तन। टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त। आई० ए० रिचार्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त। मार्क्सवाद और काडवेल। अरविन्द-साहित्य-दर्शन।

५. पाश्चात्य मनोविज्ञान और रस-शास्त्र। रस-सिद्धान्त और मार्क्सीय समीक्षा-दृष्टि। रस-सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन। सौन्दर्य-शास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र। भविष्यत्-साहित्य-दर्शन।

—प्रकाशक, आलोचना

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाजार दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri